

ISSN 2321-1288

# RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

RAJHISCO



PROCEEDING VOLUME XXVIII

CENTRE FOR RAJASTHAN STUDIES,  
UNIVERSITY OF RAJASTHAN, JAIPUR

NOVEMBER - 2014

1

Editorial Board takes no responsibility for inaccurate misleading data, opinion and statement appeared in the articles published in this Proceeding. It is the sole responsibility of the contributors. No part of this Proceeding can be reproduced without the written permission of the Secretary, who also holds the copyright © of the 'Proceeding Rajasthan History Congress'.

- ❑ *Published by :*  
**Prof. S.P. Vyas**  
Secretary, Rajasthan History Congress  
Department of History  
J.N.V. University, Jodhpur
  
- ❑ *To be had from :*  
**Sh. P.M. Mohnot**  
Hony. Treasurer, Rajasthan History Congress  
67, Mahaveer Nagar, Pali
  
- ❑ ISSN 2321-1288
  
- ❑ Price :  
Rs. 250/- only
  
- ❑ *Printed at :*  
**Jangid Computers, Jodhpur**

## Preface

I feel honoured and proud, to present before the readers and scholars, the proceedings of 28th session, organized by Centre for Rajasthan Studies, University of Rajasthan, Jaipur on 15-16 December 2012. In placing the learned, scholarly papers, chronology has been adhered to, as far as possible. A number of papers of outstanding merit were presented in this session, breaking new ground and adding new research areas and elements to the history and culture of Rajasthan.

I extend my thanks to all those who have made the publication of this proceeding possible. I humbly acknowledge the guidance of Prof. P.R. Arya. I appreciate the hard-work and sincere efforts of Dr. Tejendra Vallabh Vyas, Dr. Anil Purohit, Dr. Mahendra Purohit, Dr. Jyotsana Vyas, Dr. Ravindra Tailor, Nayana Acharya in the publication of the proceeding. Thanks are also due to Mr. Bhanwarlal Suthar and Mr. Sunil of Mss. Jangid Computers for the printing of the proceedings.

**(Prof. S.P. Vyas)**

Secretary

Rajasthan History Congress

## सचिव प्रतिवेदन

भारत के विभिन्न क्षेत्रों से पधारे इतिहास विषेशज्ञ, इतिहास के अध्येता, देवियों एवं सज्जनों। हम सभी के लिये यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि राजस्थान इतिहास कांग्रेस, वर्ष-प्रतिवर्ष विकास को प्राप्त करता हुआ, आज अपने 28वें सोपान पर आ पहुँचा है। कच्छवाहा शासकों की राजधानी आमेर में आप सभी का स्वागत करते हुए अत्यधिक हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व 27वाँ अधिवेशन अजमेर में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। मैं आप सभी के समक्ष 28वें अधिवेशन को का प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की अनुमति चाहता हूँ।

दिनांक 15 दिसम्बर 2014 को प्रातः 10:00 बजे आयोजित 28वें अधिवेशन के मुख्य अतिथि के रूप में प्रो. जयनारायण आसोपा ने राजस्थान के इतिहास में सांस्कृतिक लेखन पर बल देते हुए कहा कि इतिहास लेखन की बदलती हुई पद्धतियों में संस्कृति एक महत्वपूर्ण शोध क्षेत्र बनकर उभरी है। इससे पूर्व 27वें अधिवेशन की अध्यक्ष प्रो. सुनिता जैदी ने अध्यक्ष पद प्रो. एस.एन. दुबे को सुपुर्द किया। अध्यक्षीय उद्बोधन में प्रो. दुबे ने राजस्थान के इतिहास के स्रोतों पर विस्तार से चर्चा करते हुए, विशेषतः मौर्य काल के स्रोतों को चिह्नित किया।

यह मेरे लिये अत्यन्त गर्व का विषय है कि इस भारत भर के विभिन्न क्षेत्रों से लगभग 300 से अधिक प्रतिभागी उपस्थित है। प्रथम-दिवस तकनीकी सत्रों के प्रारंभ से पूर्व प्रो. वी.एस. भटनागर द्वारा 'प्रो. गोपीनाथ स्मृति व्याख्यान' प्रस्तुत किया गया। दिनांक 15 दिसम्बर 2014 को नौ तकनीकी सत्र आयोजित किये गये जिनमें राजस्थान इतिहास एवं संस्कृति के विविध आयामों, स्रोतों तथा नवीन क्षेत्रों पर गहनता से चर्चा की गई।

दिनांक 16/12/2012 को आयोजित कार्यकारिणी समिति की बैठक में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये:-

1. सर्वप्रथम 27वें अधिवेशन (अजमेर) के कार्यकारिणी के प्रस्तावों का सर्वसम्मति से अनुमोदन किया गया।
2. 27वें अधिवेशन की अध्यक्ष प्रो. सुनिता अली जैदी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया गया और 28वें अधिवेशन के अध्यक्ष प्रो. एस.एन. दुबे का स्वागत किया गया।

3. डॉ. अनिला पुरोहित द्वारा राजस्थान इतिहास कांग्रेस के स्थायी कोष हेतु रु. 21,000/- की अनुदान राशि प्रदान करने पर कार्यकारिणी ने उनका आभार व्यक्त किया।
4. डॉ. शशि देवड़ा द्वारा राजस्थान इतिहास कांग्रेस के स्थायी कोष हेतु रु. 11,000/- की अनुदान राशि देने के प्रस्ताव का स्वागत किया गया।
5. 28वें अधिवेशन के सफल आयोजन के लिये कार्यकारिणी में प्रो. के.जी. शर्मा, निदेशक राजस्थान स्टडी सेन्टर, प्रो. विभा उपाध्याय, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर एवं सहभागियों को धन्यवाद प्रेषित किया।
6. डॉ. सुरेश अग्रवाल ने यह प्रस्ताव रखा कि, विश्वविद्यालयों में स्नातक स्तर पर सभी संकायों में “हेरिटेज ऑफ इंडिया विद् सोशल रेफरेन्स टू राजस्थान” नामक प्रश्न-पत्र अनिवार्य प्रश्न-पत्र के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने हेतु राजस्थान इतिहास कांग्रेस को प्रयास करना चाहिये। इस हेतु कांग्रेस, मुख्यमंत्री, कुलाधिपति एवं समस्त विश्वविद्यालयों के कुलपतियों को प्रस्ताव भेजे एवं इस हेतु कांग्रेस का एक शिष्ट-मण्डल कुलाधिपति से मिले ताकि इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करवाया जा सके।
7. प्रो. एस.एन. दुबे ने कहा कि, राजस्थान के प्राच्य ग्रंथ एवं पुरा सम्पदा के संरक्षण हेतु राजस्थान इतिहास कांग्रेस विशेष प्रयास करें।
8. प्रो. एस.एन. दुबे एवं प्रो. विनीता परिहार ने यह प्रस्ताव रखा कि ‘बेस्ट पेपर अवार्ड’ हेतु प्रतिभागियों को प्रोत्साहित किया जाये एवं परिपत्र में ही यह सूचित कर दिया जाये कि इस हेतु शोध-पत्र 30 नवम्बर तक सचिव को भेज दिया जाये।
9. प्रो. एस.एन. दुबे ने राजस्थान इतिहास कांग्रेस के बढ़ते हुए आयामों एवं सफलताओं हेतु सचिव, प्रो. एस.पी. व्यास एवं कार्यकारिणी के समस्त सदस्यों के प्रयासों की सराहना की। इस संबंध में डॉ. तेजेन्द्र वल्लभ व्यास एवं डॉ. अनिल पुरोहित के योगदान की भी प्रशंसा की गयी।
10. 29वें अधिवेशन के आयोजन स्थल के निर्णय के संबंध में कुछ प्रस्ताव आये हैं, जिनकी अनुकूलता का निर्णय लेने के लिये कार्यकारिणी, सचिव एवं अध्यक्ष को अधिकृत करती है।
11. प्रो. एस.पी. व्यास एवं डॉ. अनिला पुरोहित ने यह प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस की ओर से आजीवन सदस्यों को परिचय-पत्र एवं प्रमाण-पत्र प्रदान किया जायें।

12. 29वें अधिवेशन के अध्यक्ष हेतु प्रो. एस.एन. दुबे ने - प्रो. डी.सी. शुक्ल, पूर्व प्रो. एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के नाम का प्रस्ताव रखा, जिसका अनुमोदन डॉ. बी.एल. उपमन्यु ने किया। कार्यकारिणी ने इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार किया।
13. प्रो. मीना गौड़ एवं प्रो. एस.पी. व्यास ने राजस्थान में नवस्थापित विश्वविद्यालय, महाराजा गंगासिंह विश्वविद्यालय, बीकानेर के इतिहास विभाग के अध्यक्ष को कार्यकारिणी के पदेन सदस्य (Ex. Offi.) के रूप में जोड़ने का प्रस्ताव रखा जिसे कार्यकारिणी ने संविधानानुसार स्वीकार किया।
14. डॉ. अनिला पुरोहित एवं डॉ. बी.एल. उपमन्यु ने राजस्थान इतिहास कांग्रेस की आजीवन सदस्य राशि को रु. 3000/- से बढ़कार रु. 5000/- करने का प्रस्ताव रखा, जिसे कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया। प्रो. विनीता परिहार एवं डॉ. शशि देवड़ा ने सत्र की प्रतिभागी शुल्क राशि रु. 300/- से बढ़ाकर रु. 400/- का प्रस्ताव रखा, जो कार्यकारिणी ने स्वीकार कर लिया। अन्त में समस्त कार्यकारिणी ने उपरोक्त प्रस्तावों को सर्वसम्मति से अनुमोदित किया। सभा, अध्यक्ष एवं सचिव को धन्यवाद के साथ समाप्त हुई।

दिनांक 16 दिसम्बर 2012 को आयोजित हो रहे समापन समारोह के मुख्य अतिथि प्रो. आर.एस. बारहठ साहब का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ कि आपने पधार कर इस कार्यक्रम की शोभा बढ़ाई। अधिवेशन अध्यक्ष प्रो. एस.एन. दुबे का भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैं प्रो. कृष्ण गोपाल शर्मा को एक अत्यधिक सफल आयोजन हेतु हार्दिक बधाई देता हूँ। उनकी टीम के सदस्य डॉ. संगीता शर्मा, डॉ. राखी यादव, डॉ. अंजु सुथार, डॉ. अम्बिका ढाका, डॉ. निक्की चतुर्वेदी तथा सेन्टर फॉर राजस्थान स्टडीज, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के सभी सदस्यगणों को हार्दिक बधाई देता हूँ कि आप सभी के अथक प्रयत्नों के ही परिणामस्वरूप इस 28वें अधिवेशन में 300 से अधिक प्रतिभागी सम्मिलित हुए हैं। इस प्रकार राजस्थान इतिहास कांग्रेस का 28वां अधिवेशन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

**प्रो. एस.पी. व्यास**  
सचिव,  
राजस्थान इतिहास कांग्रेस

## अनुक्रमणिका

1.	Presidential Address by Professor S. N. Dube	...	1	15.	Shahjahani Mosques in Nagaur District (Rajasthan) : A Historical Profile	...	138
2.	Professor Gopinath Sharma Memorial Lecture -V.S. Bhatnagar	...	33	16.	Qazi Hamiduddin Nagauri : An Eminent Suhrawardi Sufi from Nagaur	...	144
3.	Exploring the mind of Ancient Man : Reflection on the Palaeolithic Culture of Rajasthan	...	53	17.	Mobile Temple : Kawad of Bassi	...	151
4.	Spatio-Temporal Analyses of Archaeological Cultures: A Case Study of Bharatpur District (Rajasthan)	...	61	18.	Love in Bundi Painting	...	156
5.	Smelting Activities in Ancient Times with special reference to Mewar	...	68	19.	Application of Tools in the Making of Jaipur City	...	161
6.	Some Unpublished Surya-Images from Chandravati	...	72	20.	The Verse Specific Visualization in Mewar Paintings	...	169
7.	Significance of Devices and Symbols on Tribal Coins From Rajasthan	...	76	21.	Study of cesses on cattle and their population during the 18th century Bikaner	...	174
8.	<i>Rajputra</i> : A Feudal Lord in Early Medieval Rajasthan	...	82	22.	Socio-Economic Structure of the Jaipur City and estimate of its Population in the Mid-Eighteenth Century	...	181
9.	<i>Ahichhatragarh Qila of Qasba</i> Nagaur: A Specimen of Cultural Heritage	...	90	23.	Bahis as a Source of Economic History of Rajputana: A Case Study of the Sawa-Bahis of Bikamer State and Its Economic Significance-17th to 19th Century	...	186
9.	Bayana Fort : An Archaeological Survey	...	99	24.	Peasant Migration to South Eastern Rajasthan (C. 1700-1950)	...	192
10.	Glorious Stepwells of Udaipur	...	111	25.	Socio-Economic Impact of British Control over Salt Production and Trade (with reference to Sambhar Lake)	...	201
11.	Mughal Hamam in Eastern Rajasthan : A Study in Medieval Archaeology and Hydraulic Technology	...	116	26.	Development of Modern Education for Muslim Community in Rajasthan in 20 <sup>th</sup> Century : A Case Study of All India Muslim Educational Conference	...	210
12.	Contribution & Influence of Jain Statesmen in History of Rajasthan-with special Reference to Vimalshah, Udayana, Vastupal & Tejpal	...	122	27.	Role of Muhammadan Educational Conference in the Educational and Cultural Upliftment of Rajasthan	...	219
13.	Abu : A Centre of Jaina Heritage	...	127	28.	Untouchability in Rajasthan with Special Reference to the Upliftment of Harijans in Mewar	...	224
14.	Career and Achievements of a Muizzi Noble Malik Bahauddin Tughril	...	133	29.	Quit India Movement in Jaipur Sate	...	231
	-Fazeela Shah Nawaz	...		30.	History Writing on Mass Movements and Freedom Struggle in Rajasthan (1818-1949)	...	235
					-Prof. (Dr.) Brij Kishore Sharma		

31. Gleaning of Ecological Information in Alwar Records from 1920's onwards : A Report -Nitin Goyal	...	239	47. हाड़ौती क्षेत्र में शैव धर्म परम्परा का कलात्मक दृष्टि से अध्ययन -डॉ. (श्रीमती) रजनी शर्मा	...	325
32. British Relations with Rajput States- A Case Study of Jaipur (1920-1947) -Tariq Ahmad Sheikh	...	243	48. उपमिति- भव-प्रपंच कथा से ज्ञात राजस्थान की प्रशासन व्यवस्था -डॉ. मोहन लाल शर्मा	...	329
33. Bhil-Grassia Struggle against the Feudo-Colonial Polices (Sirohi Massacre, 1922) -Dr. Rajesh Kumar	...	253	49. पूर्व मध्यकाल में जैन मन्दिरों के निर्माण में राजस्थान के शासकों का योगदान -डॉ. रवीन्द्र टेलर	...	332
34. Role of R. N. Chaudhary in the Freedom Struggle as Journalist -Dr. Suresh Agrawal	...	261	50. मारवाड़ के अभिलेखों में कृषि सम्बन्धी तथ्य : एक वैज्ञानिक अध्ययन -राकेश रामावत	...	338
35. Marwari Merchant Family in Gujarat : A Case Study of Shantidas Zaveri -Monika Sharma	...	266	51. हर्षनाथ का सांस्कृतिक वैभव -डॉ. सतीशकुमार त्रिगुणायत	...	339
36. Battle of Haifa : A Tribute to Forgotten Heroes and Patriots -Dr. Veenu Pant	...	271	52. तिजारा के वैभव की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचना -डॉ. फूलसिंह सहारिया	...	353
37. Heritage Tourism : Legacy of History & Culture of Rajasthan -Dr. Harit Kumar Meena	...	279	53. निंबार्काचार्य सलेमाबादपीठ का ऐतिहासिक अध्ययन -डॉ. अविनाश पारीक	...	359
38. Ramsnehi Sampraday and Jodhpur-with Special Reference to Bada Ramdwara, Sursagar -Prof. Vinita Parihar	...	284	54. राजस्थान में सूफीवाद -डॉ. संगीता कु. नागरवाल	...	365
39. पूर्वी राजस्थान से प्राप्त शैलचित्र : एक अध्ययन -डॉ. गोविन्दसिंह मीणा	...	291	55. सामाजिक समरसता के पुरोधा लोकदेवता पाबूजी -भंवरसिंह भाटी	...	374
40. बरड़ के शैलाश्रयों में चित्रित नृत्य चित्रण -डॉ. विजयसिंह मावई एवं डॉ. तेजसिंह मावई	...	295	56. बून्दी के भित्ति चित्र : एक सांस्कृतिक मूल्यांकन -वीरेन्द्र शर्मा	...	382
41. मौखरियों के वैदिक धर्म में विश्वास का प्रतीक : बडवा यूप लेख -अदिति शर्मा	...	300	58. देवलिया (देवगढ़) का स्थापत्य -आसिफ हुसैन	...	386
42. अभिलेखों के आधार पर राजस्थान में सूर्य उपासना (प्राचीन काल से पूर्व मध्यकाल तक) -डॉ. वीरेन्द्रसिंह चौधरी	...	302	59. सिरोही का ऐतिहासिक दुर्ग महल उदयसिंह देवड़ा	...	390
43. जगत अम्बिका मंदिर 'अप्सराएं' -ललिता	...	307	60. 16वीं शताब्दी के नागौर से प्राप्त फारसी शिलालेख का अध्ययन- मस्जिद, दरगाह व खानकाह के विशेष संदर्भ में -अलताफ खान	...	394
44. राजस्थान की मूर्ति कला में समुद्रमंथन-मेवाड़ का शिल्प वैशिष्ट्य -डॉ. शिल्पी गुप्ता	...	312	61. स्थापत्य कला की प्रतिनिधि : चौपड़ा हवेली -कविता दाधीच	...	399
45. मथुरा कला का मत्स्य क्षेत्र में अतिव्यापन -डॉ. कोमलकान्त शर्मा	...	318	62. डींग के भवन: उत्तर भारत की 18वीं शताब्दी की ऐतिहासिक धरोहर का पुरातात्विक अध्ययन -डॉ. अशोक कुमार	...	403
46. राजस्थान के भरतपुर क्षेत्रीय प्रमुख मृण्मूर्ति शिल्पकला के आधार डॉ. तनूजा सिंह	...	322			

63. एकलिंगजी और मेवाड़ राजवंश सम्बन्ध -डॉ. दिग्विजय भटनागर	...	406
64. मेवाड़ के महाराणा राजसिंह प्रथम के काल में साहित्य का विकास एवं प्रमुख साहित्यकार -दीपक चौधरी	...	412
65. जोधपुर राजवंश की विवाह परम्पराएं (महाराजा अजीतसिंह एवं महाराजा मानसिंहजी के विशेष सन्दर्भ में) -वन्दना बिस्सा	...	418
66. सूरज कंवर बाईसा के ब्याह की बही का विवेचनात्मक अध्ययन -डॉ. किरण शेखावत	...	428
67. ओहदादारी का स्वरूप (मारवाड़ के सन्दर्भ में) -डॉ. संजय कुमार	...	432
68. जैसलमेर रियासत में पालीवालों की महत्ता-एक अध्ययन -अशोक गाड़ी	...	437
69. अन्तःपुर तंत्र व ड्योढ़ी वाले 'मेहताजी' की भूमिका -डॉ. सुशीला शक्तावत	...	440
70. जीनगर समाज का मारवाड़ राजघराने के प्रति योगदान -डॉ. सन्तोष आसेरी	...	446
71. 18वीं सदी में मारवाड़ में बैंकिंग पद्धति - एक पुरातात्विक अध्ययन -डॉ. टी.सी. बैरवा	...	450
72. 'पाणी पीछ' - एक जल प्रबन्धन : बीकानेर राज्य के विशेष संदर्भ में -डॉ. राजेन्द्र कुमार	...	454
73. मुगलोत्तर काल में बीकानेर राज्य की डाक-व्यवस्था (1750-1950 ई.) -सुश्री कनिका भनोत	...	458
74. 18वीं सदी के आरम्भ में मारवाड़ में भण्डारियों व राजपूत दरबारियों के मध्य प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा (महाराजा अभयसिंह के शासन काल के संदर्भ में) -डॉ. दिनेश राठी	...	463
75. डूंगरपुर राज्य की स्थापत्यकला में नागर ब्राह्मणों तथा खड़ायतों का योगदान -डॉ. मलिका बोहरा	...	468
76. राजस्थान के संग्रहालयों में संग्रहीत 'भक्तामर स्तोत्र' की सचित्र पोथियां -श्री धर्मपाल मीणा	...	477

77. बीकानेर संग्रहालय : एक ऐतिहासिक अध्ययन -डॉ. मुकेश हर्ष	...	480
78. रंगों के आधार पर वस्त्रों की सांस्कृतिक पहचान -डॉ. कल्पना शर्मा	...	484
79. महाराजा मानसिंह की भटियाणी रानियों का सांस्कृतिक योगदान (महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन में संग्रहीत बहियों के विशेष संदर्भ में) -डॉ. ज्योत्सना व्यास	...	487
80. जयपुर रियासत के सांस्कृतिक एवं कलात्मक उन्नयन में सवाई जयसिंह द्वितीय (1699-1743 ई.) द्वारा स्थापित 36 कारखानों का योगदान -डॉ. ममता रोकना	...	492
81. हाड़ौती के आदिवासी राज्य -डॉ. याकूब अली खान	...	499
82. जयपुर के मीनाकरों का मीनाकारी हस्तकला को योगदान (1800 ई. से वर्तमान तक) -पूजा नेगी	...	506
83. पश्चिमी राजस्थान में विधवा पुनर्विवाह व विधवाओं की स्थिति में सुधार हेतु संस्थागत व निजी प्रयास -सुमेस्ता	...	510
84. जयपुर राज्य में ईसाई मिशनरी और स्त्री शिक्षा अभिलाषा	...	517
85. अलवर रियासत में आधुनिक शिक्षा-एक अध्ययन (ब्रिटिश प्रभाव के संदर्भ में) -श्रीमती मीना अम्बेश	...	522
86. बीकानेर रियासत में शिक्षा का विकास (1887-1942 ई.) -डॉ. बिन्दु भसीन	...	528
87. ईसाई मिशनरियों की कोटा रियासत के पिपलोदा ग्राम के संदर्भ में गतिविधियां -डॉ. हुकमचन्द जैन	...	536
88. स्वतंत्रता आंदोलन युगीन राजस्थान की प्रेरक एवं चेतनापूर्ण काव्य रचनाएं एवं उनका प्रभाव -डॉ. आशा बागोटिया	...	543
89. पूर्वी राजस्थान में गांधी युगीन चेतना तथा महिलाओं की सहभागिता -डॉ. स्मिता मिश्रा	...	547

90. अलवर राज्य की स्वाधीनता आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका सोनल मीणा	...	553
91. महिला सशक्तीकरण -डॉ. उर्मिला शर्मा	...	559
92. राष्ट्रीय आंदोलन में मेहतर जाति की भूमिका -डॉ. कमलेश कुमार सारसर	...	564
93. दूंदार जनता के शान्त आक्रोश का साक्षी-अल्बर्ट हॉल -डॉ. कनुप्रिया कुमावत	...	570
94. राजपूताना रियासत की जन-चेतना के विकास में प्रेस की भूमिका -डॉ. राधाकिशन एवं नीलम	...	574
95. स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान की देशी रियासतों में राजनैतिक चेतना (जयपुर राज्य के विशेष सन्दर्भ में) -ललिता भीमवाल	...	578
96. ठाकुर केसरीसिंह बारहठ : 1914 का अभियोग और हजारीबाग सेन्ट्रल जेल का बंदी जीवन (1914-19) -प्रमोद कुमार	...	593
97. 19वीं सदी में मारवाड़ राज्य की व्यापार एवं वाणिज्य के प्रति नीति -सुखाराम	...	597
98. बीकानेर में प्रचलित व्यापार एवं वाणिज्य के विविध रूप (महाराजा सूरतसिंह के कार्यकाल के विशेष सन्दर्भ में) -डॉ. राजशेखर पुरोहित	...	604
99. बीकानेर राज्य में छोटे साहूकार वर्ग का उदय एवं विकास (1750 ई. से 1850 ई.) -डॉ. कुलवन्तसिंह शेखावत	...	608
100. बीकानेर राज्य में कृषक वर्ग एवं कृषि जनित अन्य जातियाँ (18-19 वीं शताब्दी) -डॉ. कैलाश चन्द गुर्जर	...	613
101. बीकानेर राज्य में भूस्वामित्व अधिकारों की प्रकृति (1887 ई.-1947 ई.) -डॉ. मयंक गुप्ता	...	626
102. अलवर रियासत काल में कृषि के सिंचित साधनों का विकास -डॉ. बाबूलाल खटीक	...	632
103. महाराजा गंगासिंह का आपदा प्रबन्धन : बीकानेर राज्य में 'छप्पनिया काल' के विशेष संदर्भ में -डॉ. चन्द्रशेखर कच्छवा	...	640

104. अलवर राज्य में पंचायत प्रशासन के विकास में महाराजा जयसिंह का योगदान -डॉ. रमेश चन्द्र खण्डूडी एवं डॉ. जगत सिंह मीणा	...	647
105. राजस्थान की पेशेवर गायक जातियाँ -डॉ. (श्रीमती) अनिला पुरोहित एवं डॉ. (श्रीमती) इन्द्रा विशनोई	...	651
107. मेवाड़ के लोक कलाओं में बदलते सामाजिक मूल्य -डॉ. मीनाक्षी बोहरा (शर्मा)	...	663

**SUMMARY / सारांश**

1. Life Among the Sahariya of Rajasthan (Socio-Economic Aspects) -Dr. Kumud Sharma	...	674
2. Governance of Traditional Rainwater Harvesting Technology : A Study of Common Property Resource Management in Alwar, Rajasthan -Anushree Singh	...	675
3. Violence against Women - Prohibition of Widow Remarriage in Rajasthan -Dr. Sambodh Goswami	...	678
4. Social and Cultural Role of Ancient town Pushkar -Sobhagya Gopyal & Lata Agarwal	...	681
5. Advertising and Rajasthan -Dr. Ankan Garg	...	684
6. Development of Rajasthani Art and Culture: Through a Specific Glance over Blue Pottery -Dr. Geeta Singh	...	685
7. Showcasing History - Tourism in Rajasthan : Some Aspects -Dr. Dinesh Bhargava & Sourabh Sharma	...	687
8. Depiction of Muslims as 'Others' in Medieval India: Comparative Analysis of Two Rajasthani Texts -Anoop Singh	...	689
9. Influence of Sufism on the Mughal Princesses in the Reign of Shah Jahan -Dr. Shahanshah	...	691
10. Festive Jaipur in Foreign Travelogues of 19th Century -Nidhi Sharma	...	692
11. Mughals and Rajputs: Integration of Heterogeneous Nobility -Dr. Tarun Pratap Yadav	...	693
12. Social Evils during the British Rule and Contemporary Letters, Journals of Arya Samaj Advocating Feminist Reforms : A Retrospect -Dr. Meghna Sharma	...	694
13. Kalibangan and the Indus Valley Civilization: A Visit to the Hoary -Vikram Singh Deol	...	697

14. Thus Speaketh the Stones : Philosophical Underpinnings of Buddhist Architecture in Rajasthan -Dr. Neekee Chaturvedi	...	698	30. राजस्थान के रियासत कालीन आर्थिक प्रबन्धन में जनानी ड्योढ़ी की भूमिका -दौलत सिंह नरूका	...	731
15. प्राचीन राजवंश, सूर्यवंश के पौराणिक संदर्भ (वंशावलियों के संदर्भ से) -डॉ. सूरजमल राव	...	701	31. सीकर ठिकाने में किसान आन्दोलन (1922-1938) -मीना भास्कर	...	733
16. आमेर नरेश सवाई जयसिंह के समय की वकील रिपोर्ट -डॉ. इन्दु आसोपा	...	703	32. महर्षि दयानन्द के पत्रों में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक चिन्तन -सुनीता स्वामी	...	736
17. राजस्थान में नाथ योगियों का प्रभाव -डॉ. रमाकान्त मिश्र	...	706	33. राजस्थान का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पर्यटक स्थल-भटनेर दुर्ग -डॉ. रतन कुमार स्वामी एवं डॉ. तौफिक हुसैन	...	737
18. पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में सिंचाई व्यवस्था : एक समीक्षात्मक अध्ययन -डॉ. राकेश कुमार यादव	...	707	34. राजगढ़ क्षेत्र का चित्रांकन परिवेश -डॉ. डी.सी. चौबे	...	742
19. ज्योतिष और तंत्रकला का भारतीय कला इतिहास में योगदान एवं महत्व -डॉ. सविता शर्मा	...	708	35. राजस्थान के संग्रहालयों में संग्रहीत 'भक्तामर स्तोत्र' की सचित्र पोथियां -श्री धर्मपाल मीणा	...	743
20. मध्यकालीन राजपुताना एवं मीरां से सम्बन्धित पुरातात्विक स्रोत सामग्री -डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत	...	710	36. राजस्थान की लोक संस्कृति में लोक देवताओं का योगदान (रामदेवजी के विशेष संदर्भ में) -डॉ. सुमन ढाका एवं आर.एल. सहरिया	...	745
22. आम्बेर-जयपुर की मंदिर स्थापत्य कला के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक निहितार्थ : श्री गोविन्द देव जी मंदिर -योगेश कुमार मिश्रा	...	714	37. कोटा में केसर खां और डोकर खां के मकबरों की ऐतिहासिकता -ज़ाहिदा शबनम	...	747
23. राजस्थान की मूर्तिकला में प्रदर्शित सुर-सुन्दरियां -डॉ. शिखा	...	716	38. पश्चिमी राजस्थानी चित्रण परम्परा के प्रारम्भिक आधार -डॉ. (श्रीमती) माधुरी शर्मा पंचोली	...	751
24. जटवाड़ा-काठेढ प्रांत का भरतपुर जाट राज्य के अभ्युदय की पृष्ठभूमि में सामाजिक विशेष कारणों का अवलोकन -गौरवदीप करौला	...	718	39. क्या 1615 की मेवाड़-मुगल संधि महाराणा अमरसिंह की भूल थी ? -डॉ. दिनेश मांडोट	...	753
25. राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा और मूर्तिकला -मुकेश कुमार शर्मा	...	719	40. राजतंत्र व ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध बीकानेर के छात्र आन्दोलन - 19वीं सदी के संदर्भ में -जगदीश नारायण ओझा	...	755
26. जाट शासक सूरजमल द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य -देवेन्द्र सिंह सोलंकी एवं पुष्पलता सोलंकी	...	720	41. राजपुताना में मरहटों का एक अल्पज्ञात युद्ध -डॉ. राघवेन्द्रसिंह मनोहर	...	757
27. खेतड़ी ठिकाणा और स्वामी विवेकानन्द : एक अध्ययन -नरेन्द्र कुमार सैनी	...	722	List of Members	...	759
28. राजस्थान में सूफी परम्परा का विकास -डॉ. शैहला वाजिद	...	726			
29. भील मीणा जाति का इतिहास राजस्थान के संदर्भ में -गोपाल लाल मीना एवं ज्ञानेश्वर मीना	...	729			



## Presidential Address by Professor S. N. Dube

Fellow delegates, ladies and gentlemen,

At the outset I express my profound sense of gratitude to the Executive Committee of the Rajasthan History Congress for asking me to preside over this session and address so august an assembly like yours. I am well aware of the great but wholly undeserved honour they have done me. I am emboldened to accept this task because I have before me a path trodden over and broadened by my eminent predecessors in this office. My own connections with the Rajasthan History Congress are from its very inceptions. As a young lecturer of History and Indian Culture at the University of Rajasthan I was present as a participant in the Inaugural Session at Jodhpur in 1967. To keep my credentials perfectly clean, let me hasten to add that my interest in the history of Rajasthan is based on my long association with the teaching of Ancient Rajasthan introduced in the mid sixties in our University as an optional paper at the P.G. and Honours levels. My association with this area-study helped me supervise several students to supplicate successfully for the Ph.D. degree.

For this address I have chosen the theme entitled "A Century and Half of Archaeology in Rajasthan". The year 2012 marks the completion of 150 years of archaeological endeavours, since an official department of Archaeological Survey was established in India towards the end of 1861. I, therefore, felt prompted to take stock of the archaeological work done in this region during the stipulated period. Let me begin by entreating your indulgence for my shortcomings.

Rajasthan, presently the largest of the Indian states, is a gift of India's independence. Roughly rhomboidal in shape it was formed out of the amalgamation of nineteen princely states and two chiefdoms of Rajputana between 1948 and 1950 with the further addition of tracts like Ajmer-Merwara and a few others in 1956. Located between latitudes 23 3'N to 30 12'N and longitudes 69 30'E to 78 17'E it is bounded on the west and northwest by Pakistan, on

the north and northeast by the states of Punjab, Haryana and Uttar Pradesh, on the southeast by Madhya Pradesh and on the southwest by Gujarat. The name Rajasthan, given to the new formation, is not very old. The popular notion that it was coined by Col. James Tod to title his monumental work on the annals and antiquities of the region needs to be revised in the light of the evidence provided by the Arzi Bahis of Jodhpur<sup>1</sup> where it was used much before Tod. In early times the region comprised of such geo-political units as Maru, Jangala, Matsya, Surasena, Sibi, Gurjaratra, Medapata, Vagada etc.

Geographically, Rajasthan is divisible into two parts separated by the Aravalli ranges. The term Aravalli is derived from a Rajasthani word Ada-vala meaning 'a beam lying across'. The area to the west and north-west of the Aravallis measuring about sixty percent of the total area of this state, is arid or semi-arid. The Thar desert, the Pat, the Ghaggar area and the Steppe desert comprise the physiographic divisions of the vast expanse of land which has been a cul-de-sac for eons. It is believed to have been once fertile with perennial rivers like the Sarasvati, but perhaps in an extreme stage of desiccation now stretches with apparent indefiniteness over the heart of the Indo-Pakistan sub-continent. The foremost river of this part of Rajasthan is the Luni with several tributaries like Lirli, Guhiya, Bandi, Sukri, Jawai, Jojri etc. The rivers have long dried up rendering the area (Jaisalmer, Barmer, Bikaner, major portion of Jodhpur and a part of Jaipur) a formidable barrier to be overcome before the arrival of machine age. It is pertinent to observe, however, that the desert is not a barren or dead land devoid of either life or human activities. Living beings as also other organisms have learnt to live in the difficult conditions and make the best use of the scarce resources. Geological studies curiously added that a considerable portion of this tract was initially covered by a wing of the Arabian Sea. This was indicated by the presence of salt in the deserts of Rajasthan which evaporated due to the rains and accumulated in the depressions as could be seen in the lakes of Sambhar, Didwana and Pachapadra. Shell oysters and cowries are found mixed largely with sand which again is a pointer to the same fact.<sup>2</sup>

The other part of Rajasthan lying to the east and south-east of the Aravallis differs materially from Rajasthan of the desert land. It is a comparatively more humid and fertile area comprised of such regions as Udaipur (Mewar), Kota (Haroti) and Jaipur excluding

Shekhawati. There flow seasonal rivers, mightiest of which is the Chambal. The others are Banas, Berach, Gambhiri, Khari, Kothari, Morel etc. The area is blessed with wide valleys, fertile table-lands and great breadths of excellent soil. Till about the middle of the last century the area had some wide stretches of forest where food and fodder would be available in abundance. The geographical outline of modern Rajasthan did not always conform with the political and cultural realities of the past, as is evident from the fact that Mathura, Gwalior, Ujjain, Mandasor, Gurjaratra (part of Gujarat), etc. were at times considered contiguous with Rajasthan than with their present formations. It is particularly true in respect of western Malwa which was politically and culturally very much a part of southern Rajasthan in early times.

That political and cultural developments in the dry and desolate deserts of Rajputana must have started late, probably with the advent of the Rajputs on the scene, is a common notion widely shared in India. It is superficially augmented by (a) geographical conditions of the area and (b) historical background of adjacent regions. This is a gross misconception that needs to be corrected. The flood of light thrown by the spade of archaeologists during the last one and a half centuries or so not only dissipates such mist of haziness but brings into sharp focus the cultural and historical antecedents of the region. It would, therefore, come as a happy surprise to many that Rajasthan, with all its natural barriers and geographical impediments, has the distinction to claim greater antiquity for its past as compared to other regions of the country.

Some places and areas of present-day Rajasthan find mention in early Sanskrit literature. Pushkar near Ajmer, for example, is said to have been selected by Brahma for his famous yajna. Considered to be one of the oldest and most sacred Hindu tirthas, its references occur both in the Ramayana and the *Mahabharata*.<sup>3</sup> Similarly, during the 'Mahabharata Age' the northern and eastern parts of Rajasthan were known respectively as Jangaladesha<sup>4</sup> and Matsyadesha.<sup>5</sup> Among some other places, which became centres of importance, mention may be made of Nagari or Madhyamika, Sapadalaksha, Sakambhari, Bayana, Ananta etc. Going further back, multi-disciplinary studies of the last few decades, such as archaeology, geology, geomorphology, palaeontology, etc. have projected a general picture sketching the overall cultural sequence

of the pre and proto-historic Rajasthan, i.e. from the Palaeolithic age down to the dawn of historical times.<sup>6</sup>

Archaeology, in the last hundred fifty years and more, has shown that the Indian seers had a point. They had seen the 'truth', although it was not on Indian soil that man had taken the first step towards a more civilized life, but outside. Nonetheless archaeology has been able to acquire for modern India a significance which is at the same time deeper and subtler than a strict definition of the term as a scientific discipline would imply. The reason is evident. For what archaeology has accomplished so far is nothing short of a revolution. It has enabled her to establish the lost links with a great past whose grandeur was beyond her distant dreams. It has provided her with a vast and varied background extending back to the dimly lit dawn of prehistory and exquisitely befitting her lately gained stature as a valuable member of the comity of nations. It is history in general and archaeology in particular which, more than anything else, has helped India to rediscover, so to say, her long-lost identity. By being proudly conscious of a past marked by great achievements makes a society modestly hopeful of a future worthy of that past.

The beginnings of systematic scholarly inquisition about ancient Indian monuments and antiquities can be placed in the middle of the eighteenth century. The attention of men like Anquetil-Duperron, Carsten Niebuhr, Le Gentil de Galasiere was drawn to some of the monuments, especially the caves of western ghats and the temples of south India.<sup>7</sup> This was also the time which saw the first forays into the historical geography of ancient India. Graeco-Roman writers, such as Pliny, Ptolemy, the anonymous author of the *Periplus of the Erythrean Sea* provided reference points for seeking the identification of ancient Indian sites. The closing decades of the 18th Century ushered in a new era in the sphere of historical and antiquarian researches in India. An enthusiastic band of antiquarians, ably guided by William Jones, a judge of the Supreme Court of Calcutta, formed on the 15th January 1784 'Asiatic Society' an institution for enquiring among other things 'into the History .... the Antiquities, Arts, Sciences and Literature of Asia'. Jones made multifarious contributions to Indological studies. His identification of 'Sandrocottus' in the Greek and Latin accounts with Chandragupta Maurya of the indigenous sources established an important chronological reference point in Indian history. Equally important was his identification of the classical

Palibothra at the confluence of the Ganga and Son, providing a starting point from which investigation of ancient Indian geography could move forward. *Asiatic Researches*, the journal of the Asiatic Society started in 1788, was the first of its kind in India. Charles Wilkins, Francis Wilford, Samuel Davis, H.T. Colebrooke, H.H. Wilson and a host of others carried the work of the society forward, though largely confining their endeavours to antiquarian interests.

The 1830s marked a turning point for indological studies in India with the appointment of James Prinsep (Assay Master, Calcutta Mint from 1832 to 1840) as the Secretary of the Asiatic Society. It was his genius and labours that helped Indian archaeology to free itself from antiquarian and literary affiliations. By training and inclination Prinsep was essentially a man of science and he brought to his task a scientific approach of orderliness and precision. He had a particular interest in ancient coins, something not unusual for one working within a mint. He died at the young age of forty (1840), as if born only to unfold the enigma of the forgotten Brahmi and Kharosthi scripts between 1834 and 1837, i.e. within the incredible brief space of three years. The decipherment of the inscriptions of Piyadasi, leading to his identification with the Mauryan emperor Asoka, and the establishment of his contemporaneity with Hellenistic kings Antiochus II Theos of Syria, Ptolemy II Philadelphos of Egypt and Magas of Cyrene helped to place Indian archaeology, for the first time, on a secure chronological basis. Prinsep's contribution to Indological studies was not confined to his personal achievements. He was always willing both to acknowledge his debt to others and to help these others in their own researches. Among his immediate successors the most important were Alexander Cunningham, Markham Kittoe and Edward Thomas in North India, Walter Elliot in South India, J. Stevenson and Bhau Daji in Western India. James Fergusson, another associate of Prinsep, conducted an extensive survey of the different types of ancient buildings in India between 1820 and 1847. In his survey he covered certain monuments of Rajasthan also. Though an indigo merchant by vocation, he not only compiled the first illustrated history of Indian architecture but evolved a system of classification of buildings, which for many years remained the only tool for architectural surveys for his successors in the field.<sup>8</sup> *Archaeology in India with Especial Reference to the works of Babu Rajendra Lal Mitra* (1884) and *History of*

Indian and Eastern Architecture (1876) are his better known books among the many works that he wrote. It is also true that the remarkable discoveries of the European scholars may not have been possible without the active cooperation of traditional Indian scholars and linguists, such as Pandit Ramlochan, Jones's Sanskrit teacher and others like Rajendra Lal Mitra, Iswarchandra Vidyasagara, Ramamaya Tarkaratna, Hara Chandra Vidyabhusana and Vishvanatha Sastri.<sup>9</sup>

The story of Indian archaeology truly begins in 1861 with the assumption by the British government of their moral responsibility regarding the monuments in India. Alexander Cunningham who had as far ago as 1848 presented, without success, a plan for an Indian Archaeological Survey, placed before Lord Canning, the then Viceroy, a memorandum emphasising the desirability of systematic and complete investigation into the country's archaeological resources. He noted with regret that 'everything that hitherto have been done..... has been done by private persons, imperfectly and without system'. Cunningham's arguments had the desired effect and the Governor-General felt convinced that 'it will not be to our credit..... if we continue to allow such fields of investigation to remain without more examination than they have hitherto received.' He, therefore, decided to sanction a scheme of survey in northern India, the aims of which were defined to be 'an accurate description' illustrated by plans, measurements and drawings or photographs and by copies of inscriptions of such remains as deserve notice, with the history of them as far as it may be traceable, and a record of the traditions that are retained regarding them.'<sup>10</sup> He also proposed that 'the work be entrusted to colonel Cunningham, 'who has more than any other officer on this side of India, made the antiquities of the country his study'. By passing an act in 1863 the British Government took the momentous steps to invest themselves with the authority to 'prevent injury to and preserve buildings remarkable for their antiquity or for their historical or architectural value.'

Cunningham, an engineer and soldier by profession, after obtaining the regimental rank of a colonel at the end of 1861 resigned from military service at the age of 47 to work as Archaeological Surveyor, a designation given to him by the Governor-General Canning. He served in his position from December 1861 to February 1866. Four years later, Cunningham returned to India in 1870 to

accept Lord Mayo's offer of the post of Director General of the newly created Archaeological Survey of India, a position that he held till 1885, i.e. for a period of over fourteen years.

In his tenure as the Archaeological Surveyor, his mind was essentially preoccupied with topographical problems, particularly tracing and identifying the sites mentioned in the accounts of Chinese travellers Faxian (Fa Hian A.D. 404-414) and Xuan Zang (Husan Tsang A.D. 630-644).<sup>11</sup> Within the short space from November 1861 to January 1865 Cunningham covered a vast area stretching from Gaya in the east to the Indus in the north-west and from Kalsi in the north to the Dhamnar caves in the south. In the process, he carefully explored and reported about every significant monument on all the historical sites visited by him. He travelled widely in Rajasthan and explored such sites as Bairat, Bayana, Kaman, Kholvi (Kolvi), Dhamnar etc (1864-65). The results of Cunningham's operations are published in the *Archaeological Survey of India Reports* in twenty-three parts. A brief account of his explorations is available in his *Ancient Geography of India*. Cunningham explored the ancient remains of Bairat in 1864-65. Tradition identifies this town with Viratapura, the capital of Virata, king of the Matsya country, at whose capital the five Pandava heroes and their spouse the Draupadi passed in concealment the 13 year of their exile. In his accounts of Rajasthan, Cunningham, on several occasions, refers to the *Annals and Antiquities of Rajasthan* by James Tod, sometimes expressing his disagreement with him. According to the traditional accounts, there were once 108 temples at Jhalra Patan or Chandravati on the banks of river Chandrabhaga. One of the temples had been described by Fergusson and by Tod. Cunningham described the other monuments at the site. Some years later, the temples of Chandravati were destroyed by railway contractors with a view to using the beautiful sculptured stones as ballasts. Cunningham's description is the only comprehensive account of the lost glory of Chandravati. He has also given a ground plan and view of the Buddhist caves at Kholvi (Kolvi). As Cunningham moved from one site to another, he reconstructed the history of settlements, examining the traditions connected with them. Apart from consulting medieval chronicles, e.g. *Tarikh-i-Firishta*, he referred to Rajasthani epic the *Prithviraja-Raso*. He also consulted histories compiled by *bhats* and *charnas*.

As mentioned above, Cunningham's useful labours came to an abrupt termination with the abolition of the Archaeological Survey in February 1866. After an interruption of five years the government realised the necessity of a central organisation of that kind. The Archaeological Survey of India was revived as a distinct department of the Government of India and Alexander Cunningham joined in February 1871 as its First Director General. To begin with Cunningham was given a staff of two Assistants, J.D. Beglar and A.C. Carlleyle and a third H.B.W Garrick joined later. The government expressed a desire that as far as possible intelligent 'natives' should be employed and trained. The aim of the new department was envisaged as to undertake 'a complete search over the whole country, and a systematic record and description of all architectural and other remains that are either remarkable for their antiquity or their beauty or their historical interest'.<sup>12</sup> It reflected a clear understanding and positive approach to the archaeological needs of the country.

The rich historical and archaeological treasure underlying the fascinating land of Rajasthan had already attracted Cunningham during his early career in the Army and the stint as Archaeological Surveyor. Soon after joining as the Director General of A.S.I he paid attention to Rajasthan and spent considerable time in exploring the area extensively with the help of Carlleyle and Garrick. Carlleyle made exhaustive tour of eastern Rajasthan between 1871 to 73. In the process of his tours, he covered the area from Fatehpur Sikri to Chittor and recorded details of twenty-two sites.<sup>13</sup> Beside documenting his own surmises, he frequently cited James Tod's observations on them, contradicting him on several issues. One of the significant finds of Carlleyle's explorations was his identification and excavation of a number of cairn or megalithic burials in Rajasthan at places like Macheri, Satmas and Dausa. The excavation of the Dausa cairns revealed human remains in some and prehistoric stone implements in others. The Rajasthan tours of Carlleyle also resulted in the discovery and documentation of a number of sites of the historical period, such as Rupabas Chatsu, Nagar, Nagari etc.

An important epigraphic discovery made by him in this tour was a Minor Rock edict of Asoka at Bairat inscribed on a large rock on the foot of an incline known as Pandu's Hill. He took impressions of the edict and his report contains the text and

translation as given by Buhler. Although Cunningham had visited the site previously and reported about some of the remains there, he had missed the rock edict. Carlleyle collected about 600 ancient coins from Nagar, a site near Uniyara in District Tonk. A number of these coins bear the name of Malava tribe. Carlleyle has dated the coins between the fourth century BC. to the late fourth and early fifth century A.D.

In 1882-83 Cunningham toured eastern Rajasthan, from where he proceeded to Meerut, Gurgaon and Delhi.<sup>14</sup> The focus of this tour was mainly on medieval forts, mosques and inscriptions. Some of the forts that he visited and described included (Tahangarh) or Tavangarh (Tribhuvanagiri) built by the Yadva King Tahanpala in the 11th century A.D. It is situated amidst the tangled hills and rugged forests and had been hitherto unnoticed. Another fort that he describes is the Vijayamandiragarh of Bayana, again of pre-medieval period. He also recorded remains of old temples, Sanskrit inscriptions and Sati pillars wherever they occurred. Garrick also explored Rajasthan during 1883-84. The results of these expeditions carried out between 1871 to 1884 by Carlleyle, Garrick and Cunningham himself were published along with the plans and plates of architectural remains, sculptures, inscriptions, coins, etc. bringing to light a rich harvest of archaeological and antiquarian material, historical and artistic monuments, beside many ancient sites.<sup>15</sup>

In the course of early archaeological surveys of Rajasthan as noted above, attention was drawn to a large number of forts, temples, inscriptions, coins, etc. by colonel Tod captain Burt, Alexander Cunningham, Carlleyle, Mewar's historian Shyamaldas and others. Tod has referred to several inscriptions in his *Annals and Antiquities of Rajasthan* (1829-32). G.E. Rankin and E. Dean noted in 1834 the Harshantha temple inscription dated v.s. 1030 of the time of Vigrharaja II, the Chahamanas. Dean's account of the epigraph appeared in the *JASB*, Vol. VI and Lassen evaluated its contents and published his comments in the *Indische Alterthumskunde*. Captain Burt discovered in 1837 the famous Bhabru or Bairat-Calcutta rock inscription, which was found at Bairat but was transferred to the Museum of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta. Epigraphic studies received a new fillip with the publication of Indian Antiquary by Burgess in 1872 and the appointment of J.F. Fleet as Government Epigraphist in 1883. The first volume of *Corpus*

*Inscriptionum Indicarum* on the inscription of Asoka, edited by Cunningham, was published in 1877, which included the Bairat-Calcutta edict of Asoka.<sup>16</sup> Fleet published in 1888 the third volume of the *Corpus* on the inscriptions of the early Gupta rulers in which he included the Vijaygarh Yupa Pillar inscription from Bayana dated Krita/v.s. 428 (A.D. 371-72) and the Gangadhara Inscription of Maharaja Vishvavarman belonging to Malva v.s. 480 (A.D. 423). Similarly, in the early volumes of Indian Antiquary certain inscriptions of Rajasthan were published, such as the Shitalleshwar Mahadeva Temple inscription from Jhalawar dated V.S. 746, edited by Buhler in 1876 and the Kansua Temple inscription dated v.s. 795, edited by Kielhorn. Kaviraja Shyamaldas edited the Ghosundi inscription from Madhyamika (Chittor) highlighting the prevalence of the worship of Krishna and Balarama and the erection of structures for their propitiation. W.H. Mill, the then Principal of Bishop's College, presented a paper before the Asiatic Society in August 1935 on the 'Restitution and Translation of Harsha inscription of v.s. 1030'. Beside the above, numerous other inscriptions have been recovered, time to time, from different places in Rajasthan, e.g. Barli inscription, a copy of Asoka's Minor Rock Edict, fragmentary Nagari inscription, Yupa Pillar inscriptions from Badva, Nandsa, Barnala and Bichpuri and the Gupta records from Pindwara, Charchoma etc. An inscription from the Bhramara Mata Temple near Chhoti Sadari (Udaipur) dated v.s. 547 (A.D. 490) reveals the existence of a royal family called Manavyani. We also have numerous inscriptions of the early medieval period belonging to the Pratiharas, Chahamanas etc. Excavations undertaken at Kalibangan, during the post-independence period, have revealed that the Harappan script was written from right to left.

The numismatic wealth of Rajasthan also received due attention of early explorers as a result of which thousands of coins have been recovered from different sites of the region. Apart from the 6000 Malava coins, found from ancient town Nagar, two very important hoards of early coins are those of the punchmarked coins from Rairh and that of the Gupta gold coins from Bayana, the largest of the dynasty containing as many as 1821 gold coins. The hoard revealed certain new coins-types, not known so far, such as Chakravikrama type of Chandragupta II, Chhatra, Elephant rider - lion slayer, Rhinoceros-slayer, Lyrist and King Queen type of Kumaragupta I and Chhatra type of Kramaditya. Several smaller

hoards have also been recovered from Rajasthan containing the coins of the Indo-Greeks (Bairat), Kushanas (Naliasar-Sambhar), Saka-kshatrapas (Sarvania, Banswara and Nagari), Malava (Rairh), Sivi (Nagari), Yaudheya (Sambhar) and those of the Mitras and late Indo-Sassanians. After the sixth century A.D. we find lesser numismatic activity. Still whatever coins have been found serve as an important source of the early history of Rajasthan. For example, the Pratihara coins have the suggestive figure of Adviaraha which throws welcome light on their aspirations as also on their religious beliefs. Captain William Wilfred Web, a surgeon of the Bengal army, who in his official capacity had occasion to serve the princely states of Udaipur and Bikaner studied the coins of Rajput states and published in 1893 from Westminster his interesting book titled *The Currencies of the Hindu States of Rajputana*. In the following year was published Cunningham's *Coins of Medieval India* which includes his studies of the Rajputana coins as well. Later on, the coins of the princely states were also dealt with by E. Thomas (*The Chronicles of the Pathan Kings of Delhi*, 1871), E.J. Rapson (*Indian Coins* (1897) and V.A Smith (*Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta*, 1906). B.N. Reu published in 1946 his *Coins of Marwar*, which includes accounts of coins ranging in time from pre-Christian era to modern times. The hoard of thirty small silver coins, recovered from the excavation of Mandor (Jodhpur) gardens, was identified by him to belong to the Arab invaders of Sind. He also notices a similar hoard of Arab coins from Chohatan (Barmer) which also is datable to 8th - 9th Century A.D.

In respect of historical monuments Rajasthan occupies a unique position. It has a rich tradition of beautiful temples, colossal step-wells (*baoris*), serene cenotaphs, imposing forts, splendid palaces, exquisite mansions (*havelis*) and so on. The artistically carved temples, embellished with finely chiselled sculptures of Rajasthan rightly fascinated scholars like Tod, Fergusson, Cunningham, Carlleyle, Garrick, Cousens, H.H. Cole, Burgess, Bhandarkar et al. Some of the monuments of Rajasthan were discovered by them. James Tod was the first to bring to notice a series of important temple groups like those of Baroli, Mukundara, Bijolia, Menal, Jahazpur, Mandalgarh, Jhalrapatan, Chittor, Kumbhalgarh, Ahar, Udaipur, Chandravati, etc. James Fergusson examined many of these temples and his pioneer work on *The History*

*of Indian and Eastern Architecture* (1876) and its second revised edition (1910) by Burgess include the accounts and illustrations of these temples. The first dated temple in Rajasthan, i.e. the Sitalshiver Temple v.s. 746 or A.D. 689) at Chandrabhaga (Jhalawar) was discovered by Tod<sup>17</sup> and described along with illustrations by Fergusson in *Picturesque Illustrations of Ancient Architecture in Hindustan* (London 1848) and *History of Indian and Eastern Architecture* (London, 1876). Cunningham, while working as the Archaeological Surveyor, had come across a few monuments of Rajasthan as early as 1861-65, but his report on them could be revised and published only in 1872. Cunningham's associate Carlleyle toured in eastern Rajasthan during 1871-73 and reported about the monuments situated at Rupabas, Satmas, Bayana, Bairat, Chatsu, Bisalpur, Nagar, Baghera, Nagari, Bijolia, etc. The circular temple at Bairat (Bijak ki Pahari) is believed to be one of the earliest specimens of temple architecture in India. The remains of Buddhist monasteries all around and the discovery of the Bhabru edict in their close vicinity give us an idea of the existence of a strong Buddhist establishment at Bairat during the age of Asoka. The other associate of Cunningham, viz. Garrick, in the course of his tours of 1883-84, inspected the monuments of Bairat and Amber in Jaipur, Adhai-dinka-Jhopara, Dargah Sarif, Magazine and Taragarh in Ajmer, Jodhpur, Mandor, Nagaur, Pali, Nadol, Juna Khera, etc. in Marwar, Chittor, Nathadwara etc. in Mewar and Bhimganj, Mukundara, Jhalrapatan in Haroti.

These archaeologists were, however, keen like draughtsmen to highlight the plan of the monuments, recording their number of pillars, mandapas, their dimensions and sizes etc. Obviously, their observations and classification of the monuments were dominated by the western notions of architecture. Their accounts lacked in appreciation of the architectural peculiarities and iconographic niceties of the sculptured friezes. It was left to D.R. Bhandarkar, who was probably the first to examine the monuments of Rajasthan with the critical eye of an art connoisseur, to analyse them in their totality. He did not miss either the sketchy epigraphic engravings in the temples or the legends and anecdotes associated with them. Bhandarkar's learned paper on the Temples of Osia published in *Archaeological Survey of India Reports* (1908-09) is perhaps the first systematic study of a temple of Rajasthan. His studies of various

other temples are contained in the *Progress Report, Archaeological Survey, Western Circle*. Amongst some of the remarkable temples of Rajasthan belonging to the Gupta, later Gupta and early medieval periods, now standing in ruinous or renovated form, mention may be made of the temples of Mukundara pass, Charchoma and Krishna Vilas in Kota, the Harsat Mata temple at Abaneri, the Dilwara Jain temples at Abu, Barod Jain temple at Sanganer, the Sun temple at Varman, the temples at Osia, Kiradu, Nilakanthan, etc.

In the sphere of plastic art Rajasthan has yielded noteworthy material. A seven feet high yaksha image recovered from Noh near Bharatpur is taken to be the earliest evidence of plastic art in India. Of the important terracotta figurines, one may mention the mother goddess image and a lady with turban found from Rairh, both belonging perhaps to pre-Christian era. Nothing gives a better picture of religious practices of the people of Rajasthan than its sculptures and bronzes. As a matter of fact, sculptures form a characterizing feature of the temple architecture and no image can be fully appreciated in its artistic form without its context. Almost all sacred monuments are embellished with decorative motifs. Sweltered panels and friezes adorn the exterior and the interior of temples with both secular as well as sacred themes. The imagery and carvings done on the temples are full of meaning and tend to convey a message. The study of temple styles and their affinities as also the analysis of iconographic features of the sculptures associated with the temples of Rajasthan and Gujarat have received special attention during the last half a century or so at the hands of a band of art historians, such as Hermann Goetz, U.P. Shah, M.A. Dhaky, Karl Khandalavala, Krishna Deva, K.V. Soundrajan, Satya Prakash, R.C. Agrawala, B.N. Sharma, V.S. Srivastava, Michael W. Meister, Neelima Vashishtha et al. Credit goes to A.K. Coomaraswamy for starting a systematic study of Rajput paintings. His articles on Rajput paintings published in the *Burlington Magazine* in 1912 stirred the academic fraternity of the west. The publication of his *Rajput Paintings* in two volumes from Oxford in 1916 and *Catalogue of Indian Collection in the Museum of Fine Arts, Boston* (6 Vols.) from Cambridge in 1926 earned him worldwide acclamation for masterly treatment of these paintings. He propounded the theory that the Rajput style was totally different from the Mughal style and rooted in the native traditions. O.C. Gangoly's *Masterpieces of*

*Rajput Painting* (Calcutta 1927) and *Ragas and Raginis* in 2 Volumes (Calcutta, 1934) furthered the understanding of the paintings. Hermann Goetz, N.C. Mehta, Moti Chandra, Rai Krishnadasa enhanced the appreciation of Rajput paintings.

The Study of Pre-history of Rajasthan in a scientific way started in the last quarter of the nineteenth century, i.e. in the age of Cunningham, the father of archaeology in India. Beside Cunningham, Carlleyle and Garrick, a geologist like C.A. Hackett the key figure involved in exploring and discovering pre-historic tools. Hackett recovered Madras (acheulian) handaxes, cleavers etc. belonging to the Early Stone Age or Lower Palaeolithic age, from places like Indragarh (Bundi), Jaipur and Tonk. The tools of hand axe tradition have been found from several places in eastern Rajasthan, such as Bhangarh, Ghigaria, Bairat etc. Carlleyle had also noted these implements at Dausa, Kheda, Rupabas, and Satmas. In fact, the main concentration of Lower Palaeolithic tools is in the east of Aravallis, specially on the banks of major rivers of the region, e.g. Chambal, Banas, Berach, Gambhiri, Wagan, Khari, Kothari, etc. During the exploration and excavations in the last century considerable number of Palaeolithic tools were gathered from the valley of the above rivers at sites like Mandapia, Bigod, Deoli, Nathdwara, Bichore, Sonita, Bhainsarorgarh etc.<sup>18</sup> The sites like Sonita and Bhainsarorgarh were excavated by S.R. Rao in 1956-57. At Sonita the existence of Sohan choppers and Madras (acheulian) bifaces with clacton flakes was clearly established. In the later deposits flakes and flake tools, such as levallois and blade scrapers suggest a late date. At Bainsarorgarh the excavator came across a small number of Sohan choppers in comparison to the large number of Madras bifaces.<sup>19</sup> Among the other findspots of Palaeolithic tools, we may mention the river-beds of Ruparel, Wagan, Luni and its tributaries, Sawan and several nullas, such as Dodha, Parsoli and others near Bichore. In the recent past archaeologists like V.N. Misra, D.P. Agrawal and S.N. Rajaguru have reported the recovery of Lower Palaeolithic tools from Jayal and Didwana. Mainly from the Luni and its tributaries like Jojri, Reria, Bandi, Sukri, Lirli and Guhiya have been found the tools of the Middle Palaeolithic period just as they have been found in the region east of Aravallis. It is interesting to observe that Middle Palaeolithic sites are in profusion in the Luni basim and parts of western Rajasthan. Recent

archaeological and geomorphological studies seem to suggest that the climate of western Rajasthan underwent a more humid and wetter phase during the Middle Palaeolithic period. Some Upper Palaeolithic tools, made on blade tradition, are said to have been recovered from Budha Pushkar basin in Ajmer.<sup>20</sup>

The analysis of Palaeolithic material from Rajasthan leads us to some significant surmises : (a) Early or Lower Palaeolithic Culture had its concentration in the region east of Aravallis. (b) South Rajasthan seems to be the pivotal region where both the Sohan culture of Punjab and the handaxe culture of Madras met. (c) Typologically there is no break between the Early and Middle Stone Age tools. The only notable difference is that the Middle Palaeolithic tools are smaller in size. (d) Handaxes and cleavers, which were made of quartzite earlier, continued to be made in chert, jasper and agate in addition to quartzite. Chronologically what succeeded the Palaeolithic or Old Stone Age is called the Mesolithic Age witnessed in different parts of India, including Rajasthan. It marks the transition from the palaeoliths to the neoliths. In Rajasthan, like some other regions, the Neolithic Age has not been recognised so far. Instead, towards the end of the Palaeolithic Age people began to manufacture smaller stone tools called 'microliths'. Till date a large number of microliths, comprised of backed blades, parallel-sided blades, lunates, fluted cores, scrapers, etc. have been noted. Once again the bulk of microlith using 'Mesolithic' sites have been found in the regions east of the Aravallis.

Among these sites, Bagor about 25 miles west of Bhilwara, situated on the left bank of Kothari a tributary of Banas, is an outstanding site, which was extensively excavated by Deccan College, Pune and the State Department of Archaeology and Museums, Rajasthan under the direction of V.N. Misra for several sessions between 1960 and 1970.<sup>21</sup> This is, in fact, the largest excavated microlithic site in India. The Phase I of period I at Bagor has yielded a rich quantity of microliths and animal bone remains of both domesticated and wild variety. A human burial with the body laid out in an east-west orientation, with the head to the west was also found. Phase II of Period I is characterised by a marked decline in the quantity of microliths, as well as animal bones. We also get some copper objects and a few pot sherds. Three human burials were also excavated. The two C-14 dates recorded for this phase

of Bagor indicate a time span of C. 2800 BC. to C. 2100 B.C. which is broadly cotemporaneous with the mature Harappan period, as well as the chalcolithic Ahar culture.<sup>22</sup> The new cultural traits as seen at Phase II of Bagor, like the prevalence of copper objects, grave goods, etc. and the use of pottery together with the fact that there was some decrease in animal bones and microlithic tools, tend to suggest that the people had probably started taking to a lifestyle involving some pastoralism or even incipient agriculture, beside retaining earlier ways of life based on hunting and food gathering. Phase III at Bagor, also called Period II is characterised by the presence of iron objects and is assigned to the first millennium B.C.<sup>23</sup> Mesolithic sites with people using microlithic tools have been identified in western Rajasthan at different places in Pali, Barmer, Nagaur, Jodhpur etc. Tilwara, situated in the old flood plain of the Luni, some twenty kilometers west of Balotra in Barmer, is an important Mesolithic site of western Rajasthan. Like Bagor, Tilwara has also been excavated revealing two cultural phases. Animal bone remains recovered from Tilwara Phase II have been identified as those of cattle, goat, sheep, pig, jackal or dog, spotted deer and hog deer, which suggest a mixed economy based on stock-raising and hunting-gathering.<sup>24</sup>

After serving the cause of Indian archaeology for more than a quarter century, Alexander Cunningham relinquished the charge on 1st October 1885. He was succeeded by James Burgess (March 1886 to June 1889) with whose retirement ended the era of what he himself used to call 'architectural archaeology'. Before his retirement Burgess had submitted a plan for future arrangement of archaeological work in the country. He had proposed the organisation of the country into certain zones in which Rajputana was linked to Sind for archaeological expeditions. However, the period immediately following his retirement was one of almost complete lull and inactivity in many respects. With the arrival of Lord Curzon as the next Governor-General of India (1899-1905) a new era dawned for Indian archaeology. He was shocked to see the prevailing state of affairs and observed, 'I cannot conceive any obligation more strictly appertaining to a Supreme Government than the conservation of the most beautiful and perfect collection of monuments in the world...' His initiative and efforts bore fruit and John Marshall was appointed Director General of Archaeology in India for five years. Marshall



reached India on 22nd February 1902 to take up the new assignment. He served the Department from 1902 to 1934, a period which is called the age of Marshall in Indian archaeology, just as Cunningham impersonates for us an earlier age in archaeological history.

The period of twenty-three years following Lord Curzon's departure, during which Marshall was practically in the sole command of archaeology in India forms one of the most fascinating and fruitful epochs for the early history and culture of India. He restructured the administrative set-up of the department and laid down well-defined policies and definite principles to enthuse greater vigour and confidence among the staff of the organisation. In 1904 Ancient Monument Preservation Act came into effect which facilitated greater attention and scientific care of monuments. Marshall was able to induct some dedicated and efficient officers in the organisation, such as Henry Cousens, Alexander Rea, T. Bloch, Vogel et al. The department was further strengthened by the addition of an Architectural Surveyor for the United Provinces and D.R. Bhandarkar as an Assistant Superintendent for Bombay. Another important acquisition of the period was Aurel Stein, entrusted with the duties of Archaeological Superintendent in the North-West Frontier and Baluchistan along with that of Inspector General of Education. Marshall also sought the assistance of Indian scholars interested in archaeological works. He was, thus, able to attract the services of men like D.R. Sahni, K.N. Dikshit and M.S. Vats, all of whom subsequently rose to occupy the supreme position in the Survey, which owing to the efforts of Marshall had become a permanent department of the Government of India in 1906. The department was further strengthened by the arrival of Sten Konow, A.H. Longhurst and D.B. Spooner, all eminent scholars in their own right.

It was emphasised during Marshall's tenure that Native States of India are full of important historical monuments, yet until then no effective machinery had been evolved for the conservation of those relics. The archaeological circles of the country were reorganised. In the new set-up Rajasthan was placed under the Superintendent of the western circle with its headquarters at Poona having jurisdiction over Bombay, Sind, Hyderabad, Central India and Rajasthan. However, Ajmer was tagged with the northern circle. On the request of Henry Cousens, the Superintendent of the western

circle, D.R. Bhandarkar was appointed on 20th June 1904 as Assistant Archaeological Surveyor to cater specially to the needs of Rajasthan and Central Provinces. Cousens was very clear in his plans as he said at the outset, 'I would take up Rajputana before Central India for the reason that the greater part of it has not been explored and its remains are less known than those in central India.'<sup>25</sup> The beginning of the last century proved to be immensely ominous for the retrieval of the historical wealth of Rajasthan as S.R. Bhandarkar and D.R. Bhandarkar, two brilliant sons of the celebrated scholar R.G. Bhandarkar were drawn to its studies. S.R. Bhandarkar, interested essentially in manuscripts and old scripts, conducted a survey during 1905-06 of various 'Gyanbhandaras' in Jaisalmer, Bikaner, Nagaur, Jaipur, Alwar, Ajmer, Udaipur, etc. and discovered valuable manuscripts and published his report on them in 1907. He also unearthed the epigraphic wealth of Jaisalmer and published some important inscriptions of the Bhati rulers of the area in his report of 1907.

D.R. Bhandarkar the younger son of R.G. Bhandarkar in his stint as the Assistant of Cousens and later as Superintendent of the Western circle worked hard to explore and analyse the archaeological material, such as epigraphs, coins, monuments along with historical traditions available in different parts of Rajasthan. He published detailed reports of his finds in the volumes of the *Progress Report of Archaeological Survey, Western Circle, Poona*. He discovered and published several inscriptions of the Chahamanas of Nadol-Jalor and sketched their history mainly on the basis of those inscriptions.<sup>26</sup> He, later, incorporated all the known and published epigraphs from Rajasthan in his work *A List of the Inscriptions of Northern India in Brahmi and its derivative Scripts, from about 200 A.C.* He also published details of the Saravania (Banswara) hoard comprised of 2407 Western Kshatrapa coins in the *Annual Report of the A.S.I.*<sup>27</sup> Credit goes to him also for undertaking the first systematic excavation in Rajasthan, i.e. at the site of Nagari (ancient Madhyamika) some 14 kilometers north of Chittorgarh during November 1915 to January 1916. The excavation yielded the evidence of the earliest Vaishnava temple in Rajasthan datable to the Sunga period (2nd Cen. B.C.)<sup>28</sup> Epigraphs, coins, architectural and sculptural remains, terracottas, etc. established clearly that the site was no other than Madhyamika the

capital of the ancient Sibi Janapada.<sup>29</sup>

Marshall carried very good impression of the archaeological wealth of this area. He personally inspected the monuments of Mt. Abu, Ajmer and Chittorgarh and prepared notes for their conservation. He was deeply impressed with the scholarship of G.H. Ojha and B.N. Reu. Ojha, well-known by then in and outside the country as a historian and an epigraphist, was taken in 1908 in the Central Government service and given the responsibility of establishing the Rajputana Museum, Ajmer. On the recommendation of Marshall, the Sardar Museum at Jodhpur, headed by Reu, was given recognition by the Government of India in 1916. Marshall personally undertook the excavation of Mandor Gardens at Jodhpur in 1933-34 bringing to light Gupta and post-Gupta relics and some tiny coins of Arab invaders.<sup>30</sup> He was convinced that the Harappans received their supply of copper and copper objects from the mines of Rajasthan. He even pointed to the use of fine grained yellow Jaisalmer stone both at Harappa and Mohenjodaro.<sup>31</sup> He inspired the rulers of native principalities of the region to take necessary steps for the preservation and maintenance of historical edifices in their respective states. As early as 1903 he stimulated the Maharao of Kota to undertake repair work of some of the important monuments in his area, such as the Shiva temple at Kansua, Mataji temple at Ramgarh and the mosque at Shahabad. He also presented an exhaustive report to the Jaipur rulers on the conservation of the Amber Palace in 1926. Marshall's contribution to the cause of Indian archaeology was immense and, as a result, the foundations laid by Alexander Cunningham turned into a grand edifice. So far as Rajasthan is concerned his contribution can probably be rated as the highest of all the Directors-General. After retiring as D.G. in 1928 he continued to work for another six years on a special assignment to compile his monographs on Mohenjodaro, Taxila, Sanchi, Mandu, etc. and finally left India in 1934.

Marshall's successor H. Hargreaves in the office of the D.G. of A.S.I. conducted in collaboration with S.F. Markham in 1935 a survey of the museums and art galleries in India on behalf of the Museums Association of the United Kingdom and published a directory entitled *Museums of India* in 1936. The document contained important museums of Rajasthan, like Jaipur, Udaipur, Ajmer and Jodhpur. Hargreaves was succeeded in 1931 by Daya

Ram Sahni the first Indian to become the Director General of A.S.I. When he retired in 1935, he was invited by the Jaipur state to head its Department of Archaeology and strengthen historical research. At the central level Sahni was followed as Director General by J.F. Blakiston (1935-1937). K.N. Dikshit (1937-1944) was the second Indian to become the D.G. of the A.S.I. The services rendered by Daya Ram Sahni to the cause of archaeology in Jaipur state brought Rajasthan prominently on the Indian map. Taking a cue from Cunningham's earlier survey of Rajasthan, Sahni took up the excavation of Bairat (1935-36 A.D.) and brought to light the remains of a Buddhist Chaitya as well as pieces of polished and unpolished Chunar sandstone.<sup>32</sup> He concluded that the Buddhist structure may have been built by Asoka whose Bhabru edict, found in the close vicinity, bears further testimony. The excavations yielded the evidence of Northern Black Polished Ware, as also silver punch-marked coins and those of the Indo-Greeks. The site was later excavated by N.R. Banerji (1962-63) who found remains of PGW sherds. After Bairat, Sahni took up the excavation of Sambhar (A.D. 1936-37 and 1937-38), another site belonging to the historic period. He published his brief reports on the excavations of Bairat and Sambhar<sup>33</sup> throwing new light on the important monuments, epigraphs and other antiquarian remains. The excavation of Rairh, yet another historical period site, was also begun by Sahni in 1938-39. Due to his sudden demise, the excavation was completed in 1939-40 by K.N. Puri, Superintendent of Archaeology, Jaipur State. The excavations revealed that it was a flourishing industrial town, specially in metallurgy and manufacture of iron tools, lead, bronze, silver and gold. K.N. Dikshit, during his tenure as the D.G. of A.S.I., also contributed to the development of archaeology in Rajasthan. He allocated not only funds for the Rajputana Museum, Ajmer but also spared antiquities for its enrichment. Besides, he published 'A Note on Some Important Coins and Seals found from Rairh'.<sup>34</sup>

Robert Eric Mortimer Wheeler (1944-48) the new D.G. of A.S.I. was a strong exponent of scientific methods in archaeology. He revitalised the excavation branch with the addition of senior technical staff and streamlined the conservation of monuments by centralising the work. He took keen interest in training A.S.I. officials, as also young University students with advanced scientific methods of digging and stratification. R.C. Agrawala, who has been

serving in great measure the archaeological studies in Rajasthan, has the distinction of being one of the trainees of Wheeler, initiated during the excavations at Harappa. Credit must also go to Wheeler for conceiving the idea of a National Museum of India, which ultimately got inaugurated in the Rashtrapati Bhawan, New Delhi on 15th August 1949. N.P. Chakravarti took over as D.G., A.S.I. from Wheeler in 1948 and was himself succeeded by Madho Swaroop Vats in 1950.

With the promulgation of the constitution of India on 26th January 1950 archaeology became a concurrent subject. Lists of monuments were drawn afresh and those of national importance came under the care of the Central Government and others not covered under the above category became the responsibility of the State Governments. Lists of monuments and sites of national importance in both categories were finalised and declared protected under the provisions of Ancient and Historical Monuments and Archaeological Sites and Remains (Declaration of National Importance) Act 1951. About four hundred and fifty monuments and sites of the princely states, of which the major bulk belonged to Rajasthan, were included in the national list over which the Government of India did not earlier have any control. Finally, the Ancient Monuments and Archaeological Sites and Remains Act 1958 was passed in the Parliament, which applied to all monuments, i.e. monuments already protected under the Act of 1951, as well as important monuments of the erstwhile princely states. Consequently, some of the important monuments from Rajasthan, such as the forts of Chittorgarh, Kumbalgarh, Ranthambor, Jaisalmer and important sites like Nagari, Abaneri, Harshanatha, Bijolia, etc. came under the direct control of the Central Government. The State Governments could also have their own legislation for their monuments and thus came into force the Rajasthan Monuments, Archaeological Sites and Antiquities Act 1961 with effect from 30th July 1964. Madho Swaroop Vats as D.G. of the Archaeological Survey of India between 1950 to 1953 also made noteworthy contribution in unravelling the protohistoric personality of India. On Vats' retirement on 2nd March 1953 the office devolved on Amalanand Ghosh.

A number of copper using Chalcolithic sites have been discovered in Rajasthan from its different parts, the most significant being those which are located in the north-western region, where

we get the evidence of Pre-Harappan (or Early Harappan, as some scholars prefer to call), Mature Harappan and Post-Harappan cultures along the banks of ancient Sarasvati and Drishadvati, identified with the dry beds of Ghaggar-Hakra rivers. L.P. Tessitori was the first scholar to survey the dry bed of Ghaggar in 1916-17 and report about the existence of several mounds. But he associated them with ancient Yaudheyas. About two decades later, Aurel Stein also surveyed the region and noted the remains of Harappan culture. A. Ghosh, who explored the area in 1951, beside confirming Stein's views, brought to light the remnants of Pre-Harappan culture, particularly in the region of Drishadvati and described it as 'Sothi Culture'.<sup>35</sup> In the Rajasthan part of Ghaggar valley, Early Harappan remains have been found so far at eight sites and Mature Harappan remains at twenty-nine sites. Excavations at the most noteworthy site, i.e. Kalibangan, located on the left bank of Ghaggar in district Hanumangarh, was undertaken by B.B. Lal and B.K. Thapar of the Archaeological Survey of India in 1959-60 and continued for a decade. The pottery recovered from the lowest levels of Kalibangan, in fairly large quantity, became gradually extinct in the upper levels. This pottery bears resemblance with that of pre-defence levels at Harappa and those from the lower levels of Kot-Diji. Both the latter potteries are considered to be Proto-Harappan or Pre-Harappan. A remarkable discovery of the Pre-Harappan phase at Kalibangan was the recovery of a ploughed field showing a grid of furrows running in the east-west and north-south directions. The Pre-Harappan<sup>36</sup> phase was followed by the Mature Harappan of which the arrival is marked by the construction of a massive mud-brick wall on the western mound, presumably to serve the purpose of a citadel.

The result of the prolonged field-work led the excavators to describe it as 'a Harappan Metropolis beyond the Indus Valley'. The radiocarbon (C14) dates recorded at Kalibangan assign the Pre-Harappan period to 2920 B.C. to 2550 B.C.<sup>37</sup> and the beginnings of Mature Harappan to 2550 B.C. to 2440 B.C. Later explorations by A. Ghosh and others laid bare in the area, as well as in adjoining parts of Pakistan and Haryana some more sites datable to Pre-Harappan, Mature Harappan and Post-Harappan periods, e.g. Tarakhanawala Dera, Sothi, Karoti, Sherpura, Nohar, Anupgarh, Badopal, Baror, Bhagwanpura, Rang Mahal, Pilibangan, etc. Under

the 'Sarasvati Heritage Project' of the Ministry of Culture, Government of India (1904), the excavation of Tarakhanawala Dera, Chak 86 and Baror was taken up by the ASI. While Tarakhanawala Dera was found to be a Mature Harappan site, Chak 86, separated from the former only by 500 meters, came out to be a Painted Grey Ware (PGW) site. Baror was excavated in two seasons between 2003 to 2005, revealing three cultural periods, viz. I Pre-Harappan, II Early Harappan and III Mature Harappan. The Harappan culture in the Ghaggar valley was followed by the PGW people and then by the early historical (Kushana - early Gupta) period. It is interesting to note that the Harappan and PGW cultures never came into contact with each other in this area. As regards the early historical period, Rang Mahal, near Suratgarh in Bikaner, the type-site after which the 'Rang Mahal' culture is named was excavated by the Royal Swedish Expedition.<sup>38</sup> It brought to light a red ware, with designs in black, resembling Harappan motifs. But they may be regional products with little dispersal outside Rajasthan. Tessitory, in his survey in the early twentieth century, had recovered from Rang Mahal terracotta plaques in early Gupta tradition.

In the south of Aravallis in the riverine valleys of south-east Rajasthan we come across the remains of a white-painted Black and Red ware (and associated potteries) using Ahar or Banas culture group of sites numbering about one hundred or so, e.g. Ahar, Gilund, Bansen, Keli, Balathal, Alod, Palod, Pind, Khor, Arnoda, Aguncha, Ojiyana, etc. These sites are concentrated in the valleys of Banas and its tributaries, especially in the districts of Udaipur, Chittorgarh, Dungarpur, Banswara, Ajmer, Tonk and Bhilwara. Some sites, similar in traits with Ahar culture, are also known from adjacent regions in Madhya Pradesh, such as Jawad, Mandisor, Kayatha and Dangwada. Two, of the key Ahar culture sites, viz. Ahar and Gilund were partially excavated during the late 1950s and early 1960s. Small scale earlier excavation of Ahar by R.C. Agrawala was followed by a more extensive one under the direction of H.D. Sankalia of the Deccan College, Pune.<sup>39</sup> Gilund was excavated by B.B. Lal in 1959-60. In the 1980s R.C. Agrawala undertook preliminary excavations at Ojiyana. Similarly, the excavations at Balathal commenced in 1994. Subsequently, the Archaeological Survey of India carried out limited excavation at Ojiyana and a team from the Deccan College, Pune and the University of Pennsylvania (U.S.A.) excavated Gilund.

On the basis of excavations conducted at various sites of the Banas valley, a general picture that has emerged about the Chalcolithic phase of south-eastern Rajasthan may be summarised as below. Ahar, the type-site of Banas or Ahar culture, has yielded the characteristic pottery, viz. painted Black and Red or cream, which had a long life as found all along the twenty feet deposit of Period I. Fifteen structural periods have been noted in Period I with stone and mud brick as the building material. Other antiquities include large sized hearth, terracotta spindle whorls or beads and stone grinding tools. Some copper implements and a few microliths were also found. Copper objects from Ahar include flat axes or 'celts', rings, bangles, kohl sticks and thin sheets of copper along with copper wire and tube. In addition to the above, a circular pit, measuring 1.5 meter in width and 0.6 meter in depth, containing copper slag and ash, was also excavated. It is taken to provide an evidence of coppersmelting. The people seem to have settled there to exploit rich copper deposits in the region. Period I of Ahar has been dated between 2580 B.C. to 1500 B.C. on the basis of C-14 dates available from the site. Thereafter there is a break followed by iron-using early historical phase, i.e. Ahar Period II, dated from about 1000 B.C. onwards. Gilund, situated about 45 miles north-east of Udaipur has also yielded Black and Red ware, the characteristic Aharian pottery, beside some other ceramics. Microliths and copper objects constitute the other finds. A wall of kiln-burnt bricks and a large parallel mud-brick wall, probably devised as a measure of defense, are some new features found here. 'Recent excavations at Gilund have produced much interesting evidence for life in southern Rajasthan during the Bronze Age. A large public building with massive parallel walls of high quality mud brick has been found. Within the walls of this building a bin, which contained over 100 seal impressions of unbaked clay, was found. Some of these seal impressions are very much like the seals of the Jhukhar culture of Sind, as documented by the excavators at Chanhu-daro. The Gilund seal impressions would seem to date to the early second millennium B.C.'<sup>40</sup>

Recent excavations (1994-2000) at Balathal by V.N. Misra, V.S. Shinde and R.K. Mohanty of Deccan College, Pune and Lalit Pandey and J.S. Kharakwal of Rajasthan Vidyapeeth, Janardan Rai Nagar University, Udaipur have also revealed a twofold cultural

sequence, i.e. Chalcolithic period followed by Iron age. C-14 dates assign the former to a time bracket between C. 2350 to 1800 B.C. and the latter to 5th Century B.C. to 3rd Century A.D. A unique feature of the Chalcolithic phase at Balathal is a massive fortified enclosure, filled in with burnt cow dung and ash. It has not been possible to locate an entrance to this structure and it is difficult to hazard a guess about its use. The pottery used by the people is comprised of a variety of fine and coarse ceramics. As regards their economy, it was based mainly on agriculture and animal husbandry along with occasional hunting-fishing-fowling. The characterising feature of the Iron age culture at Balathal is a rich repertoire of iron objects. The site seems to have been mainly an iron working site which, perhaps, supplied iron objects to the settlements in the region.<sup>41</sup> The site of Ojijana in Bhilwara district was excavated by B.R. Meena and Alok Tripathi of the A.S.I. for two seasons during 1999-2001. It has provided rich evidence of ceramics, terracotta figurines and other materials of the Ahar (Banas) culture.<sup>42</sup> Lachhura, another Chalcolithic site in district Bhilwara was excavated by B.R. Meena during 1998-99. The excavations revealed that the site was first occupied during the late Ahar culture and continued to be under occupation till about A.D. 200 (IAR, 1998-99). The excavation at a new Ahar culture site, viz. Maharaj-ki-Khedi, in the vicinity of Udaipur, is proposed to be taken up by Jaipur circle of the A.S.I. in the near future.

The third group of Chalcolithic sites, belonging to Ganeshwar-Jodhpura copper complex, occurs in central and northeastern Rajasthan. Here the stratigraphic sequence indicates a succession of 'Cultures' using the so-called Ochre Coloured Pottery (OCP), an unpainted black-and-red pottery (different from Aharian Black and Red) and Painted Grey Ware, followed by early historical period remains. OCP has been found from surface levels at various places. The site of Noh in district Bharatpur was excavated by R.C. Agrawala and Vijay Kumar of the Directorate Archaeology and Museums, Government of Rajasthan for six sessions between 1963 to 1972. The excavations have revealed the evidence of continuous occupation at the site from OCP culture to the Sunga-Kushana period.<sup>43</sup> The black-and-red and PGW sequence as found at Noh and Jodhpura has been noted at several other sites in Jaipur, Ajmer, Tonk and Bharatpur. Donder Khera, a site in the nearby district of

Dhaulpur, was excavated by Ram Saran of the ASI for one reason in 1993-94 showing its occupation from the late Chalcolithic period to the Gupta period (IAR, 1993-94). The site of Ganeshwar, situated near the source of the river Kantli in district Sikar, was excavated by R.C. Agrawala and Vijay Kumar for four reasons. It has provided a sequence of cultures from the Mesolithic to Iron age. Ganeshwar is located in the Aravalli belt, which abounds in copper deposits. The Khetri copper mines, known for mining and smelting activities since long, are situated a mere sixty kilometers from Ganeshwar. Kalibangan also is not very far from Ganeshwar. It is presumed that the river Kantli may have provided access from Ganeshwar to Kalibangan and the rest of the Indus system for the supply of copper and copper implements during the Harappan times.<sup>44</sup> The dates for Ganeshwar are supposed to range between 2800 and 2000 B.C. The site of Jodhpura, located on the bank of river Sabi in district Jaipur was excavated by Vijay Kumar during the 1970s. The excavations laid bare the stratigraphical position of the site starting from OCP cultural phase, followed consecutively by unpainted black-and-red pottery and PGW. Similar sequence was also found at Noh in Bharatpur and Atranjikhera in the neighbourhood (Uttar Pradesh).

A survey of Ganeshwar-Jodhpura region has yielded the evidence about two hundred Chalcolithic sites, which may have comprised the larger Ganeshwar-Jodhpura cultural complex. Beside Ganeshwar, some other such sites are Chithwari, Medha, Nandalapura in district Jaipur, Karera Bujarg and Sakatpura in Tonk, Kota Maholi in Sawai Madhopur, Mallaha in Bharatpur, Balambasai and Dantia in Alwar and so on. It is probable that the Ganeshwar-Jodhpura culture evolved contemporaneously with Harappan settlements of the Sarasvati-Drishadvati valley and that the latter had trade contacts, both with their counterparts of the Indus civilization in the east and the north, as well as with the Ganeshwar-Jodhpura group of cultures. The contacts of Ganeshwar-Jodhpura culture with the areas to the east, i.e. the Ganga valley is indicated by similarities in archaeological finds. The question of contact with Ahar culture sites and with sites further south, e.g. Madhya Pradesh, should await further study for a satisfactory answer. However, the Ahar culture definitely had cultural affinities with the Chalcolithic sites of Madhya Pradesh, such as Kayatha, Malwa, Jorwe, etc. It is also interesting to note that, with the exception of the Sarasvati-

Drishadvati valley Harappan culture, till date there appears to be no evidence for agriculture based settlements of the Chalcolithic period from the entire semi-arid and arid areas of western Rajasthan. There is, infact, no evidence of such settlements even during the late first millennium B.C. when Iron age had already commenced in northern and eastern Rajasthan as also in the Indo-Gangetic plain.

The introduction of iron technology heralds a new era in human history. In the northern part of the subcontinent, this development seems to have taken place sometime towards the end of the second or the beginning of the first millennium B.C. In northern and eastern Rajasthan, as also in the Indo-Gangetic plain, the introduction of iron technology coincides with the prevalence of a distinct pottery style called the Painted Gray Ware. In Rajasthan the PGW sites are known mainly from two areas, i.e. Sarasvati-Drishadvati valley in the north and the northeastern part of the state. As regards, northern Rajasthan, it is a remarkable feature to note that the authors of PGW did not occupy the abandoned settlements of the Harappans as they did in the Punjab (Rupar and Bara), but instead selected new sites for their settlements. Another noteworthy fact about the PGW settlements of northern Rajasthan is that they are not succeeded by Northern Black Polished ware sites, as is the case with sites like Noh and Jodhpura. The second area yielding PGW sites is the northeastern and eastern part of the State, especially the districts of Bharatpur, Jaipur and Ajmer. Bairat, Jodhpura and Noh, Sunari in Jhunjhunu and Bilwa in Alwar are some of the important PGW sites. Further south the PGW sites extend up to Tonk and Bundi. Like the Ganges valley, Painted Grey Ware was replaced in some areas of Rajasthan by the Northern Black Polished ware. The introduction of iron technology and circulation of coins th th are the other features of the age, i.e. 6 -5 Cen. B.C. marking the advent of early historical period in Rajasthan.

Professional bodies like the Archaeological Survey of India and the Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan have, no doubt, done commendable work to serve the cause of archaeology in Rajasthan, but the role and contribution of academic institutions in promoting interest in archaeological studies is also notable. We have already referred to the significant fieldwork at various sites done by the Deccan College, Pune. In the mid sixties, Department of History and Indian Culture, University of Rajasthan

Jaipur, in its revised syllabi, provided for the teaching of such papers as Indian Archaeology, Epigraphy, Numismatics, Art and Ancient Rajasthan. I was called upon to shoulder the challenging responsibility of initiating the teaching of almost all the papers except Indian Art. With the addition of new faculty over the years the onerous responsibility was shared by other eminent colleagues in the Department, such as R.S. Mishra, S.K. Gupta, Vibha Upadhyay, K.G. Sharma<sup>45</sup> et al. Our labour was suitably rewarded with the growing popularity of these papers amongst students. Many of them, inclined towards academics, opted for pursuing research in different fields. With a view to tapping the rich archaeological sources several of my Ph.D. students were assigned research topics which could throw new light on some facets of Rajasthan's cultural past. Those, who thus earned their Ph.D. degree include Madan Lal Sharma (Shaktism in Rajasthan), Satish Kumar Trigunayat (Vaishnavism in Rajasthan), Ramesh Mishra (Saivism in Rajasthan), K.M. Joshi (India Reflected in Prakrit Inscriptions), Mahendra Sharma (Buddhism in Rajasthan), Anita Surana (Solar Worship in Rajasthan), Meeta Joshi (Minor Religious Cults of Rajasthan), Vijay Kumari (Inter-State Relations in the Rajput Period), Madhukanta Sharma (Cultural History of Jaipur from 1778 to 1803 A.D.) S.D. Mishra (Socio-Economic Life in Ancient Rajasthan as Depicted in Art and Archaeology), Meeta Garg (Temples of Neelakantha), Mahendra Choudhary (Kiradu Group of Temples- Architectural and Sculptural Study). Most of them are now senior members of the Faculty of History in the State. A number of the above mentioned theses are already published. Several students of our Department joined services in the Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan.

The Department of History of J.N.V. University, Jodhpur has also contributed in significant measure to promote the study of early Rajasthan and its culture. The prominent names that may be mentioned in this context are Dasharatha Sharma, S.R. Goyal, D.C. Shukla, S.K. Purohit, S.P. Vyas et al. Similarly, Lalit Pandey and J.S. Kharakwal of Janardan Rai Nagar University, Udaipur have been doing useful work in the sphere of field - archaeology of Rajasthan, some of which has been noted in the preceding pages. Among others from the region of Udaipur, who have researched aspects of the archaeology of Rajasthan in general and Mewar in

particular, mention may be made of G.N. Sharma, Jagdish Chandra Joshi, Raj Shekhar Vyas, Ram Ballabh Somani, Ratanlal Mishra, Chandra Shekhar Purohit et al. It is, indeed, a happy augury that some young faculty members of the Colleges, spread over the vast State, are taking keen interest in exploring and discovering new mounds, monuments, antiquities, caves, etc. and thus making valuable contribution to our understanding of the subject.

Undoubtedly, a lot of work has been done since the publication of James Tod's *Annals and Antiquities of Rajasthan*, in two volumes (1829-32), to bring out the personality of this region, but what has been achieved so far is, probably, only a part of the legacy of this land, the cradle of Indian civilization and culture. It would not be out of place, at this juncture, to make a note of the areas and problems which need to be addressed by those interested in the history and archaeology of Rajasthan:

Despite some important excavations here and there, large part of the state is still a *terra incognita* for archaeologists. In particular, problem oriented excavations are over-due in Rajasthan. For example, in regard to the genesis of the Harappan civilization, we have so far been looking to Mehargarh only, but the recent excavations at Farmana in Haryana, providing new evidence about the Pre-Harappan phase open a fresh avenue for a relook on the enigmatic issue. More intensive work in the Sothi culture sites of northern Rajasthan may prove to be a promising and fruitful exercise. Similarly, we know that the Banas-Ahar culture is not simply a Post-Harappan development with its characteristic white painted Black and Red ware. It is much more than that, as is testified by the recent excavations at Balathal. Archaeologically, the Kushana phase seems to be quite rich in Rajasthan, right from Bharatpur to Nagar in Tonk. What is urgently needed is to identify, explore and excavate the potential Kushana sites.

Extensive explorations and field-work may help us find new epigraphs, as well as coins and coin-hoards. Specially, in the field of epigraphical studies, there is wide scope for further work. Inscriptions of the minor or feudatory dynasties have not been documented fully. Similarly, inscriptions discovered after 1920 have not been enlisted scientifically. Though the more important ones have been published in *Epigraphia Indica* and others, but many inscriptions, published in journals like *Varda*, *Shodh Patrika* or *Maru*

*Bharati*, remain unillustrated. The study of Memorial Stone Inscriptions, found in large numbers, is another promising field for research.

As mentioned above, Rajasthan is known for the rich array of its ancient and medieval monuments and art objects such as temples, sculptures paintings, forts, palaces, havelis, cenotaphs, waterbody structures like baoris, tanks, wells etc. Proper documentation and preliminary study of these monuments is the urgent need of the hour. Moreover, the monumental heritage needs to be protected, preserved and saved from robbing and vandalism at the hands of greedy and unscrupulous people. With increasing pressure on land, even protected sites are not spared of encroachments. Sometimes, historical sites and mounds are cut or demolished for public buildings, leaving scope for private structures to come-up later. The Jaipur circle of the Archaeological Survey of India has, in the recent past, surveyed extensively certain areas, such as the Sirohi District, regions adjacent to Brajamandala Chaurasikosa, Parikrama, etc. Other important sites, like Vasantagarh in Sirohi, need to be brought under the jurisdiction of protected monuments. Similarly, Haroti and Dhundhar regions, known for their art heritage, are areas which require special attention. So also, the numerous Pre-historic rock shelters in Rajasthan await intensive analysis and protection. Without the people at large being conscious, effort at the governmental level alone would not suffice to preserve the valuable archaeological and cultural heritage of the State. The Departments of History in the Colleges and the Universities can be the suitable carriers of the message to save the legacy and the easy way would be to assign relevant subjects for study to prospective M. Phil and Ph.D. Students. There is much work to be done, and I trust I have aroused the inquisitiveness of young scholars in this Congress to some of the important issues.

In the end let me apologise for taking liberty with your precious time and patience by inflicting this lengthy speech.

I thank you all.

### References:

1. Sharma, Dashratha ed. Rajasthan Through the Ages, , Vol I, Bikaner, 1966 p.1 n; cf. Shukla, D.C. Early History of Rajasthan, Delhi, 1978, p.3
2. Sankalia, H.D. Indian Archaeology Today, Bombay, 1962, p. 68.
3. See Kane, P.V. History of the Dharmasastras, Vol. IV, Poona, 1953, pp. 793-94.

4. Mahabharata, VI. 10-37.
5. Ibid, VI. 10-38.
6. For palaeo-climate during the Pre and Proto-historic Rajasthan See Hooja, Rima A History of Rajasthan, New Delhi, 2006, pp. 34-37.
7. Singh Upinder, The Discovery of Ancient India, Delhi 2004. p.7 (1784-1902)
8. Roy, Sourindranath 'Indian Archaeology from Jones to Marshall' (1784-1902) Ancient India No. 9, 1953, Silver Jubilee Number, p.9
9. For a detailed account of the contribution of Indian scholars see Singh, Upinder, op.cit, Chap. IX.
10. Archaeological Survey of India Reports, (ASIR), I, pp. i-iii.
11. Cf. Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. XVII & XVIII.
12. Srivastava, V.S. 'The Story of Archaeological, Historical and Antiquarian Researches in Rajasthan before Independence; Cultural Contours of India, ed. Srivastava, V.S. p. 20.
13. Cf. Archaeological Survey of India, Reports Vol. VI.
14. Reports of a Tour in Eastern Rajasthan ASIR Vol. XX.
15. Cf. ASIR Vols. VI, XX, XXII
16. Another revised and enlarged edition of Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. I, containing the inscriptions of Asoka, was edited by Hultsch, E. in 1925.
17. Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II, London, 1932, p. 734.
18. For a list of Stone Age sites explored till the first half of the twentieth century see Researcher, Bulletin of the Rajasthan State Department of Archaeology and Museums, Vol. V-VI (1964-65) pp. 59-62
19. Indian Archaeology- A Review, 1956-57. p.5.
20. Allchin. B. et al, 'Prehistory and Environmental Change in Western India: A note on Budha Pushkar basin, Rajasthan', Man and Environment, 7, pp. 541-64.
21. Misra, V.N. Pre and Protohistory of Berach Basin, South Rajasthan, Poona, 1967, pp. 204-206.
22. See Hooja, Rima The Ahar Culture and Beyond : Settlements and Frontiers of 'Mesolithic'and Early Agricultural Sites in South-Eastern Rajasthan C.3rd-2nd Millennia B.C, Oxford, 1988.
23. Misra, V.N. 'Two Microlithic sites in Rajasthan-A preliminary investigation' The Eastern Anthropologist, 24(3) 1971. See also, Researcher, Bulletin of the Rajasthan State Department of Archaeology and Museums Vol.VII-IX, (1966-68).
24. Hooja, Rima. A History of Rajasthan, New Delhi, 2006, p. 50.
25. Progress Report, Western Circle, for the year ending 30 June 1903, p. 8
26. Cf. Epigraphia Indica, Vol. IX, XIX-XXIII.
27. ARASI, 1913-14, pp. 227-45.
28. Dube, S.N. 'Early Foot-prints of Bhagvatism in Rajasthan', Dube, S.N. ed. Religious Movements in Rajasthan : Ideas and Antiquities, Jaipur, 1996 pp. 21-22.
29. Dube, S.N. Ancient Madhyamika, Proceedings of the Rajasthan History Congress, Jodhpur Session, 1967, pp. 29-30.
30. ARASI, 1934-35, p. 50.
31. Marshall, John, Mohenjodaro and Indus Civilization, Reprint, Delhi, 1973, p. 31.
32. Sahni, Daya Ram, Archaeological Remains and Excavations at Bairat, Indian Reprint, Jaipur, 1999.
33. Sahni, Daya Ram, Archaeological Remains and Excavations at Sambhar, Indian Reprint, Jaipur, 1999.

34. JNSI, Vol. III, pt. I.
35. Ghosh, A. 'The Rajputana desert - its archaeological aspect', Bulletin of the National Institute of Sciences, No. 1, (1952), pp. 37-42, 'Indus Civilization : Its Origins, Authors, Extent and Chronology', Misra, V.N. and Mate, M.S. eds. Indian Prehistory : 1964, Poona, 1965, pp. 113-156; Dalal, Katy F. 'A Short History of Archaeological Explorations in Bikaner and Bahawalpur along the 'lost' Saraswati river', Indica XVII (1) 1980, pp. 1-40.
36. Indian Archaeology - A Review, 1960-61, p. 31.
37. Allchin, B. and Allchin, F.R. The Rise of Civilization in India and Pakistan, Cambridge, 1982, p. 159 f.
38. Rydh, Hanna 'The Swedish archaeological expedition to India', Antiquary, XXVII, No. 107 (1953), pp. 169 ff.
39. Sankalia, H.D., Deo, S.B. and Ansari, Z.D. Excavations at Ahar (Tambavati), 1961-62, Poona, 1969; Sankalia, H.D. Prehistory and Protohistory of India and Pakistan, Poona, 1974.
40. Hooja, Rima A History of Rajasthan, p. 59
41. Indian Archaeology - A Review, 1993-94, 1995-96, 1996-97, 1997-98, 1998-99.
42. Cf. Puratattva, 30, pp. 67-73, 31, pp. 73-78.
43. Indian Archaeology - A Review, 1963-64, 1964-65, 1965-66, 1966-67, 1970-71, 1971-72.
44. Agrawala, R.C. and Kumar, Vijay 'Ganeshwar - Jodhpura Culture : New Traits in Indian Archaeology', Possehl, G.L. Harappan Civilization, 1982, pp. 125-34; cf. IAR, 1981-82, 1983-84, 1987-88, 1988-89.
45. K.G. Sharma did his Ph.D. research work on Early Jain Inscriptions of Rajasthan under the guidance of late G.S.P. Misra and published it in 1993.



## Professor Gopinath Sharma Memorial Lecture

V.S. Bhatnagar

Distinguished Delegates to the Rajasthan History Congress and the Members of the Executive Committee, I consider it as a great honour to have been asked to deliver Professor Gopinath Sharma Memorial Lecture.

It is not usual in a Memorial Lecture in honour of some great scholar to describe at some length his life and works and the speaker generally comes to his topic after speaking a few words about the departed one, but I feel that Prof. G.N. Sharma's life's struggle to reach the heights of scholarship is more important and instructive than what I will be saying about my own topic of discourse today viz. 'The Historical importance of the Jaipur Records of the Medieval Period in the Rajasthan State Archive, Bikaner'.

Late Professor Gopinath Sharma was born on the 3rd May 1909 at Udaipur. The future Emeritus Professor of the University of Rajasthan and the renowned historian had a happy but short lived childhood. His father, an erudite Sanskrit scholar, passed away at an early age. As a result of this unexpected tragedy, Gopinathji passed his early years under great pecuniary hardships. He would be invited to recite kathas by respectable people, who knew his family, and offered him a token amount. As he grew up, he passed matriculation examination and continued his studies while earning to meet the expenses of his family and higher education. During 1932-34, he served as Head Master of a Middle School in Mewar, and though only twenty-five years old, was appointed as Inspector of Schools in 1934. In this capacity, he would ride on horseback to inspect schools situated in remote villages and towns of Mewar. Like Col. James Tod about a hundred years ago, he would always be in lookout for unknown inscriptions, almost forgotten dilapidated temples, copper plate grants in possession of families residing in villages, gathering surviving oral traditions about events and places - a defile, a lonely fortified structure on some hill-top, some temple

covered all around by inaccessible jungle, a forgotten chhatri, sati stones lighted by sun and washed by the rain water, and anecdotes about the rulers and the chiefs revealing their native wisdom and their manner of solving a vexed problem in a few cryptic words. It was a great experience listening to Prof. Sharma when sometimes he narrated their dialogues in Mewari. Being well versed in Sanskrit, Dingal, Gujarati, Mewari and Bhili dialect, and gifted with an excellent memory, a pleasing simple personality and a naturally modest nature which no honours or accolades were able to affect, he had cultivated the habit of industry and retained a healthy sparse constitution which hardly changed over the years. Thus Gopinathji Sharma acquired a thorough acquaintance with the original sources quite early in his career so much so that his knowledge about the history of Mewar from the earliest times (7th century A.D.) till its merger in Rajasthan in 1948 was considered as the final word.

During 1937-52, Gopinathji served as Senior Lecturer in Maharana Bhupal College, Udaipur. From 1952-54, he was the Head and Professor of History and Political Science in Maharaj Kumar College, Jodhpur. Here he made full use of the Mehrangarh Fort Library which is known for its rich collection of manuscripts. In 1955, Dr. Sharma again joined Maharana Bhupal College, Udaipur as Professor and Head of the Department of History. By this time many of his research papers had appeared in various prestigious journals like Indian History Quarterly, Adyar Library Bulletin, Proceedings of Indian History Congress, Proceedings of Indian Historical Records Commission, Modern Review etc. These papers, many of which form a landmark in historical research in Rajasthan made his name familiar to other renowned historians of India. To give only one instance, his discovery of the Ms. of Prashasti Sangrah in Saraswati Bhawan Library, Udaipur, enabled him to give the entire text of the missing slabs of Kumbhalgarh inscription about which he had mentioned in his paper "The Fragmentary Second Slab of Kumbhalgarh Inscription, V.S. 1517 and the origin of the Guhilots".

It was typical of Dr. Sharma that while ever engaged in serious research, he maintained highest standards as a teacher. He frequently took his students to various historical sites of Mewar and made them familiar with his investigative methods and examination of source materials which included records, copper plates, manuscripts and inscriptions, use of philological and other methods of document

evaluation. In course of time, through his efforts, M.B. College, Udaipur became a proud possessor of a rich museum of its own containing inscriptions, statues, coins, sculptured panels, etc., found by him and his students, lying scattered amidst the ruins of temples and deserted sites in thickly wooded jungles and ravines of Mewar. As we know, there is no other state like Mewar in India which had a continuous history from the 7th century and it was natural that Mewar should be exceptionally rich in historical source material scattered all over its uneven plateau.

In 1963, Prof. G.N. Sharma joined the Department of History and Indian Culture, University of Rajasthan where the impact of his gentle personality, unassuming nature and vast learning was immediately felt. In 1975, he was appointed as the first Honorary Director of the newly established Centre for Rajasthan Studies of the University of Rajasthan, which he continued to look after, except for a brief period, till 1992. During 1974-77, he served as Professor Emeritus in the Department. He had traversed a long distance from being Head Master of a Middle School to be Professor Emeritus in a prestigious University, a journey honourably covered solely by dint of honest labour and engrossing application to his fond subject to which he had made remarkable contribution.

Along with his teaching work and other duties which he had to carry out as members for various committees of the University, Dr. Sharma could find time to complete his D.Litt. thesis "Social Life in Medieval Rajasthan" in 1967. It was a voluminous work published in the following year and as in the case of "Mewar and the Mughal Emperors" he brought to light numerous hitherto unknown literary works, archival records, copper plate grants, judicial records etc. He made extensive use of sculptured images, carved panels and illustrated manuscripts to describe ornaments, dresses, hair styles, tastes and fashions, religious beliefs, customs and festivals of the common people during the medieval times in Rajasthan. The work was so comprehensive in its coverage and utilization of sources that a separate thesis could be written on each of the chapters in the work. In this work he made good use of the Judicial records to throw light on the social life and economic conditions of the people. By drawing liberally from the contemporary literary sources, he showed how these could be utilized in reconstructing the fabric of social life in Medieval Rajasthan in all its diversity and variegated

hues. Like most of his other research works, one notices profuse use of original sources and surprisingly rich bibliography in his work. In fact the bibliography of "The Social Life" was so detailed that after some additions, it was published as a separate work entitled "Bibliography of Medieval Rajasthan".

Prof. G.N. Sharma maintained definite writing hours for more than fifty years while enriching continuously his primary sources, which partly explains remarkable output of his published works. Like Sarkar, he continued to write even after crossing the age of eighty and one scholarly work after another followed in rapid succession. Here we may mention some of these works along with the year of their publication, the prolific aspect of which would appear unusual in Indian conditions: "Mewar and the Mughal Emperors (1952); A Bibliography of Medieval Rajasthan (1965); Social Life in Medieval Rajasthan (1968); Rajasthan Studies (1970); Aitahasik Nibandha, Rajasthan (1970); The Mughal Influence in Mewar (1973); Rajasthan ke Itihas ke Srota Vol.I (1973); Glories of Mewar (1974); Mewar-Mughal Smbandha (1976); Rajasthan Ka Itihas, Vol.I 4th Edn. (1981); History of Freedom Movement in Rajasthan (1985); Rajasthan ki Swatantrata ke Sopan (1987); Kaviraja Shyamaldas and Vir Vinod (1987); Banswara ki Swatantrata ka Itihas (1990); Haqiat Bahidas (ed.). vol.I-III (1993-95); Adhunik Rajasthan (1994); Rajasthan Through the Ages, Vol.II (1994)". In between he contributed two detailed chapters on Rajasthan's History to the Comprehensive History of India, Vol.V, which were so much appreciated by its editor late Prof. Muhammad Habib of Aligarh Muslim University that as a rare gesture he wrote a detailed article on Professor G.N. Sharma and his contribution to the History of Rajasthan. One may note from the list of his works that Prof. Sharma had no problem in writing on ancient and modern history of Rajasthan with as much authority as his works on the medieval history of Rajasthan. This was a rare accomplishment and indicated his complete mastery over the original sources of the entire history of Rajasthan from the earliest times. He had also the advantage of being an eye witness to the beginning and growth of different movements in Rajasthan, such as Bijolia and Praja Mandal movements.

As Hon. Director of the Centre for Rajasthan Studies of the University of Rajasthan, Prof. Sharma edited five volumes

cataloguing the Doctoral theses on Rajasthan submitted by the research scholars of different disciplines from Geography and Botany to History, Anthropology, Economics, etc. approved by the Universities in Rajasthan and also by the Universities of other provinces. During his tenure as the Hon. Director of the Centre, a number of proceedings of the Seminars held under the auspices of the Centre were brought out dealing with different aspects of Rajasthan's History and Culture, Jainism, Folk Literature, social and political awakening among the tribals of Rajasthan, Freedom Struggle in Rajasthan, the condition of peasantry from the earliest times etc. He was also the founder member of Rajasthan History Congress and was twice elected as General President in its sessions held in 1980 and 1994.

The Mewar Foundation appointed Prof. Sharma as the Director of Maharana Mewar Research Institute in January 1991. In a short span of four years, Dr. Gopinathji, now 87 years old, brought out three well edited volumes of Haqiqat Bahida documents. These important records contain valuable information about the daily activities of the Maharanas of Mewar, visits of important dignitaries including the Viceroys and Senior British officers, the protocol observed on these occasions, the participation of the Maharanas in the public festivals and the manner in which these were celebrated, the dress worn by the Maharanas and other varied type of information. The volumes are very useful from the point of view of chronology and social history.

It was natural that to a scholar to Prof. Sharma's eminence and in view of his exceptional contribution to the history of Rajasthan, awards, visiting fellowships, prashasti patras and other honours should come in rapid succession. Recognizing his abilities early, the Government of Rajasthan requested him to prepare defence of Sirohi, Jalor, Dugnarpur, Banswara and Bhil areas of Udaipur for the States Re-organization Commission (1953-54) and to collect material for the History of Freedom Movement in Rajasthan (1954-56). The Government appointed him Secretary Historical Survey Committee, Udaipur Division (1954-55), Chairman of the Committee for writing the life of Freedom Fighters in Rajasthan (1967-68), Chairman of the Advisory Board for the History of Freedom Struggle in Rajasthan (1979-84); Chairman of the Review Committee of the State Gazetteers of Rajasthan (1981-87) and member of the Committee

for Restoration of temples of Devasthan Department, Government of Rajasthan (since June 1995). Today his name is a bye-word in Udaipur and whenever any dignitaries such as Heads of States or a historian of Arnold Toynbee's stature visited Udaipur, he was especially requested by the authorities to accompany them and each one of them had the privilege to relive the glorious history of Rajasthan in his company.

As one of the most outstanding historians of Rajasthan's history and culture, Professor Gopinathji Sharma's place is assured for a long time to come. He saw Rajasthan's history and culture having an inner continuity which remained almost untouched by the political turmoil after 1192 A.D. It is this inner continuity as seen by him which enabled him to write on the ancient and modern history of Rajasthan with as much felicity and grace using original authorities which characterize his works on the Medieval period of Rajasthan's history, which was his area of specialization. There is no doubt that as one of the most distinguished historian of Rajasthan's history and culture, Professor Gopinath Sharma's place is assured for a long time to come.

After paying my humble tribute to late Prof. Sharma, learned fellow delegates, now kindly permit me to dwell at some length on the Jaipur Records with which I am comparatively better acquainted than the ones concerning the post 1818 period.

My introduction to the Jaipur Records began in 1956 when after post-graduation, I began work on my Doctoral thesis entitled History of Rajputana during the Eighteenth Century - First Phase (1700-1743). At that time the Jaipur records were housed in the rooms of the right wing above the main entrance to the City Palace. At that time there were no Xerox machines and common students like us were not permitted, at least in the Jaipur Archives, to copy an important document. One could note in brief only a gist of what the document contained. For quite some time only a part of the Records was classified, the rest being kept in large bundles, all kinds of records mixed up, something like the heap of clothes bound in a sheet carried by washer-men in old days. Yet it was great excitement every day to hold in hand a letter of Chhatrasal Bundela, or a letter of the mother of Jai Singh (later the well known Sawai Jai Singh, the great astronomer and town-planner) advising her 4-year old son to be careful about his hand-writing, or to find a seven page letter

written at midnight by the great Mirza Raja Jai Singh to his senior-most wife, giving the details of the battle of Bahadurpur (14th February, 1658) in which the Mirza Raja and Sulaiman Shukoh had routed the army of Shuja, or to read some of the letters of the Paturs, in which the young ladies expressed their longing to meet the Maharaja and conveyed that feelings in a few beautiful couplets. In brief no day passed without excitement and without getting something valuable. It was like children finding ever new shining shells on a seashore. In midst of records all around one felt a peculiar nearness to the records and to the historical figures which found place in them. Later, in 1963 the Jaipur Records were transferred to Bikaner on the ground that the dry climate of Bikaner was conducive to their better preservation and also because there was a large building suitable for the Archival Records there. Needless to say Jaipur was impoverished of its most valuable historical records. No doubt what Jaipur lost Bikaner gained and to speak the truth, the lovers of history at Jaipur even now feel envious of those in Bikaner and neither the beauty of that town nor the endearing qualities of its people and its culinary delicacies can adequately eradicate this feeling of loss.

### **Kharitas**

Coming to the Jaipur Records, I will first take up the Kharitas. These are the letters received by the rulers of Amber-Jaipur from the rulers of other States such as Mewar, Jodhpur, Bikaner, Kota, Bundi, Karoli, etc., as well from the rulers of States outside Rajputana, such as Narwar, Orcha, Datia, Satara etc. While some of the Kharitas are formal letters, others throw important light on contemporary developments. These Kharitas are especially useful in understanding inter-state relations. As Mirza Raja Jai Singh (1622-66) and Sawai Jai Singh (1699-1743) were very important rulers in their time and wielded great influence at the Mughal Court, other chiefs often sought their help to get their work done and sought their intervention in their favour when in trouble. Even those Kharitas which are congratulatory in nature tell us the dates of important events, such as the dates relating to the performance of Asvamedha in 1741 A.D. by Sawai Jai Singh. The Mewar Kharitas are distinguished by clear bold letters with Sahi mark on the top by the Pancholi ministers to indicate the final approval of the contents of the letter by the Maharana. The Kharitas from the Bundelkhand States have generally beautiful border.

Although some of the Kharitas give the impression of being too formal in nature, those exchanged during times of crises give very important information. In 1708, when Jodhpur and Amber, were in Khalisa and there was serious threat to their very existence, the Maharana, Ajit Singh and Jai Singh offered united opposition to the Mughal Emperor Aurangzeb's successor Bahadur Shah. The changing strategy of these three chiefs of the premier States of Rajputana becomes clear only through a study of their Kharitas. By the beginning of the 18th century, the attitude of the Rajput rulers towards the Mughal Government had undergone considerable change and this is amply reflected in the Kharitas of this period. Some of the Kharitas, for instance those of Maharaja Ajit Singh, who in league with the Saiyyad brothers had become very influential after the deposition of Emperor Farrukhsiyar in 1719, reveal his proud nature, especially after getting the Jaziya abolished.

The Kharitas also provide enough opportunity for research in the technique by which paper and ink of such superior quality were made in those times that neither the former has become brittle even after three hundred years or so nor the latter has faded a bit. Nowadays the ink we generally use gets faded in four or five years. Some of the Kharitas were of a very confidential nature, such as, the one by Maharaja Ajit Singh describing the secret understanding between Ghazi-ud-Din Khan Firuz Jang, the head of the Turani Party at the Mughal Court, and the Rajputs, who were then at war with the Mughal government. Such information was meant to be shared only at the personal level between the two rulers.

On the whole the Kharitas are very useful, easily readable, impressive in appearance, always carrying a line or two in the handwriting of the ruler sending it and are models of polite culture in the matter of addressing one another. These are without doubt valuable for researchers working in diverse fields - social, political, historical, philological and those working on protocol or social etiquette or the technique of paper making. This source is also most easy to deal with though to connect various events mentioned in different Kharitas requires some skill and patient study.

No less valuable are the Draft Kharitas i.e. the final drafts of the letters sent to different rulers, including Chhatrapati Shahu and the rulers of various principalities of Malwa, Bundelkhand etc. In many cases the drafts preserved in the Jaipur Archives can be tallied

with the original letters written on the basis of these drafts in the Archives of other States, such as Mewar. However, in some cases, for instance the original letter sent to Shahu in 1708 emphasizing gross injustice done to the Hindus by Aurangzeb and need of all the Hindu powers to unite, as their interests were not different, is not traceable. But one need not doubt their being reliable evidence in the reconstruction of history as it is an accepted practice in writing History. Thus Kaviraj Shyamal Das has used in Vir Vinod drafts of some of the most important letters sent from Udaipur. The credibility of the original drafts preserved in the Jaipur Archives should be accepted on the same analogy which justifies acceptance of the draft letters in such epistolary collections as Insha-i-Haft Anjuman, Balmukundnama, Ajaib-ul-Afaq etc. These drafts of the letters, therefore, should be used presuming, quite reasonably, that the letters written on the basis of these drafts reached their respective destinations.

### **Akhbarat**

Then we may consider the Akhbarat which are the much prized collection of documents in the Jaipur Records. These escaped the ravages of time, turmoil and negligence only at Jaipur. It is another matter that out of about 6000 of these News Letters, Col. Tod took away 3300 of these precious records to England where these are safely kept in the Royal Asiatic Society, London. This no doubt speaks high of Col. Tod's sense of judgment that he realized their importance even at that time. Their microfilm can be seen at Bharat Itihas Samshodhak Mandal, Pune. The eminent Maratha historian G.H. Khare compiled extracts relating mainly to Maratha history from these Akhbarat in London as well as from the Jaipur Collection.

Akhbar is the plural of the Arabic word khabar or news. These were daily record of events communicated to the Mughal Emperor, requests of officers about their promotion, information sent by them about developments in the places they were posted, orders of the Emperor, such as to send a hasbul hukm on 1st June 1681, to the Governor of Bengal to destroy the temple of Jagannath, reports from officers about conversions made by them and grant of khillat and money to the converts, reports about the temples destroyed by them. For instance, Husain Ali Khan sent a report about the destruction of the temple (Mathuradhish) 'at Islamabad urf Mathura' (Mathuraji for the Hindus in all their letters) and founding of a village

Hasanpur near Mathura and a request that the Emperor might issue a farman confirming his action, a request that was accepted immediately, records the Akhbrat (June 1, 1681).

The Akhbarat are particularly useful for the account of the Rajput war against the Mughal government for the restoration of Jodhpur and Amber which had been taken into Khalis, and also for the account of Shivaji's escape (18th August 1666), how the news was first conveyed to the Emperor about it, how instructions continued to be issued for days to capture Siva, how Kunwar Ram Singh was blamed for the escape and orders to Mirza Raja to proceed to Kabul forthwith etc., and information about Aurangzeb's son Akbar, who had revolted and aligned with the Rajputs, and about his movements and his arrival in the South to join Shambaji and how he managed to get ships to sail to Persia despite all attempts to prevent him for getting ships.

Akhbarat give very candid information about Aurangzeb's policy towards the Hindus, specially his temple breaking activity and ostentatiously provocative misuse of position as an Emperor for converting Hindus and denying them certain rights and freedom. These acts were done with an openness and sense of pride and pious satisfaction, very demonstratively in fact. Thus, in an order issued (21st September 1681) by the Emperor who was on his way to the Deccan it was ordered that all the temples on his way (from Rajputana to the Deccan) be demolished. When he ordered the stone railing of Mathuradhish temple at Mathura, a gift from his elder brother Dara Shukoh to the temple, he says, records the Umurat-i-Hazur Kishwar Kashai of October 13, 1666, that for a Musalman, even to behold a temple in a sin and "this bi-Shikuh had presented a railing to a temple!" The observations have been candidly recorded, and as the Akhbarat were copied by the Vakils of different rulers and by the agents of important Mansabdars, the acts and observations of the Emperor received wide publicity enabling everyone to know that an Emperor devoted to Islam was performing the pious duty by following the Shariat. There was no trace of apology, no feeling that he was doing something wrong but only proud assertiveness. The Akhbarat also faithfully convey the spirit and culture of those times. If a son has revolted, as Aurangzeb's son Akbar did, he should no longer be referred to with any respect but as Akbar baghi, and Crown Prince Dara Shukoh as bi-Shikuh

even in the official communications like Akhbarat which were open to public eye. Surely self-interest of those in power blinded them to the minimum requirements of kinship ties.

Besides informing about appointments, transfers, posting of officers, the Akhbarat throw useful light on some other matters also, such as the amount of Jaziya collected from a certain place, the fact that the collection of chauth by the Marathas from various parts of the Mughal Deccan Suba had begun as early as 1684, or discovery of a diamond from a certain mine, etc.

However, the Akhbarat are not easy to use, not only being difficult to read, but also on account of a variety of information, completely unrelated to one another, being recorded on a single sheet. Also, since these were "published" only after being approved by the Emperor himself, one has to be cautious in accepting every news as absolutely true. The Akhbarat about the Mughal operations in Marwar after Maharaja Jaswant Singh's death (1676 A.D.), as well as in the Deccan suba against the Marathas often contain news which seem to be meant only to please the Emperor. Yet a comprehensive study of these documents will no doubt bring to light many hitherto unknown information about the medieval period of India's history.

### **Farmans, Nishans, Manshurs and Hasbul Hukm**

Along with the Akhbarat, we may consider a few other types of documents which came from the Mughal Court and are now preserved in the Jaipur Reords Section at Bikaner viz., Farmans, Nishans and Manshurs. The Farmans, or letters were orders from the Emperor to the rulers of Amber-Jaipur. These are very formal, pompous and patronizing in address and only a few lines are of relevance informing about increase in mansab or grant of a jagir, conferment of some privilege or honour, grant of Governorship of a province or Faujdari of an important Sarkar, assurance of reward for rendering some service, or a word of praise for some victory or performing a difficult task, news of some victory or rebellion or of a serious threat to the position of the Emperor, such as the Farmans of Emperor Muhammad Shah (1720-48) shortly before his battle against Saiyyid Abdulla Khan asking the Rajput rulers to come to his assistance, or reasons for taking some unpleasant step, such as Emperor Farrukshsiyar's Farman giving reasons for the removal of

Maharaja Ajit Singh from the Governorship of Gujarat or for re-imposing Jazia. It may here be mentioned that a number of very important Farmans are at present preserved in the Kapad Dwara, City Palace, Jaipur.

But how so much Farmans might appear to be carrying great authority and claiming unquestionable obedience, their real importance and compliance depended upon the position of the Emperor. A Farman of an Emperor, say Jahandar Shah, whose stability and success in the struggle for power was uncertain, was met with evasive assurances or by carrying out the orders partly or as a mere token. Even Shah Jahan's Farmans to Mirza Raja Jai Singh to come post-haste from the east after concluding a treaty with Shuja and join Dara Shukoh before the crucial battle of Samugarh (29th May 1658), or those of Emperor Muhammad Shah to Sawai Jai Singh to come to his aid against Saiyyid Abdullah Khan after the murder of Saiyyid Hussasin Ali in 1718 come in this category. The Farmans which informed grant of a pargana as jagir or increase in mansab were important and kept with great care in Kapad Dwara, as these confirmed the title of the Jaipur rulers to these lands. The Farmans were written in set good hand with seal of the Emperor and, as mentioned, were formal in address.

In comparison to the Farmans of the Emperors, the Nishans sent by the Mughal princes are more informative. Among these may be mentioned those sent by the Crown Prince Dara Shukoh to Mirza Raja Jai Singh during the course of the great War of Succession (1658-59) which flared up towards the end of 1657 following Shah Jahan's illness. Indeed these Nishans preserved among the Jaipur records are very important and the information which they give cannot be had from any other source. We may also recollect the Nishans of Prince Aurangzeb sent to Maharana Raj Singh with the sole intent to secure Mewar's neutrality in the War of Succession. These are preserved in the Mewar records and provide an example of cool astuteness and trickery of Aurangzeb in view of his subsequent attitude towards Mewar. Prince Jahandar Shah's Nishans show how self-interest made some of these Princes completely oblivious to the interests of the Empire. What is more, these Nishans, which were of a confidential nature, contain information not shared by any third person and are therefore

important. Besides the Nishans, there are Manshurs or Royal mandates but different from Farmans. Of these, those by Aurangzeb, sent before his formal coronation throw important light on the manner he tried to woo the support of Mirza Raja Jai Singh, the final outcome of the War of Succession being then uncertain.

In the category of documents originating from the Mughal court are Hasbul Hukm, which are orders of the high Imperial officers "By Order" of the Emperor and sent on his instructions, to the rulers, or to Chaudharis and Qanungos etc., informing about grant of Faujdari to the Jaipur rulers or some other rights.

### **Vakil Reports**

Then we can take up the Vakil Reports in Rajasthani and also in Persian sent by the Vakils of the Amber-Jaipur rulers from the Mughal Court. It was the task of the Vakil, who was the Raja's representative at the Mughal Court, to keep his master fully informed about the developments there and to guard as well as to advance the interests of his master in every way possible. This included tasks like avoiding a bad posting, such as in Assam or Kabul or later in the war-torn Deccan, to keep the important officers at the Court, Vakil and Diwan specially, and the influential nobles, and even the Royal ladies, such as Jahanara and Roshanara Begums during the time of Shah Jahan and post-Shah Jahan's period, in good humour. They were expected to try to secure a higher mansab or a particular maratib, such as the Fish insignia, more jagirs in tankwah or on ijara, the latter especially during the time of Sawai Jai Singh and which led to enormous growth in the size of the Jaipur State. In brief, the Vakil was expected to guard and advance the interest of his master and that of his watan in every way possible, including even by giving bribery which was rampant at all levels in the Mughal Empire. He was also expected to counter machinations of other Vakils who tried to thwart Amber Vakils' efforts in order to remain in good books of their masters in case they were hostile to the rapid rise of the Jaipur State. The Vakil Reports thus provide much more information about the political developments and policies of the Mughal government and its state of affairs in those times than most other sources. At the same time one has to be careful against the tendency of some Vakils to give more importance to their own role. The rivalry between the Jodhpur Vakils and those of Jaipur is noticed

in a number of Vakil Reports. If, for any reason, his master, the Maharaja, or his Kunwar, for instance, Kanwar Ram Singh, incurred severe displeasure of the Emperor, the Vakil did everything possible to placate the authorities, by persuading the influential grantees to soften the frayed tempers of the Emperor by stressing the long and loyal record of the family.

As the rulers were away from their own States for a major part of the year, in Assam, Afghanistan or in the Deccan, for instance, the Vakils kept them informed about all important developments at the Court and in the empire as a whole. Some of the finest and most important Rajasthani Reports are of the period when Shivaji visited Agra and the deep impression his bearing, conduct and conversation exercised on one and all, including the common people, who felt that the renowned Maratha was a greater man they had heard of. These are indeed pride possessions of the Jaipur records, unrivalled in candidness and in presenting a faithful picture of that historic visit which can neither be had from the Persian nor the Marathi sources. The Reports sent by Jagjivandas Pancholi about the developments soon after Emperor Bahadur Shah's death in 1712 are fine examples of the crucial role of a loyal Vakil who served as eyes and ears of his master.

### **Dastur Komwar**

Another category of very important, useful and interesting documents are Dastur Komwar which provide more varied type of information - social, cultural, economic and political- than is probably provided by any other category of records. A major part of these records which cover the period 1715-1915 A.D. were as Tauzi but have since been transcribed for convenience in thirty-two volumes by the staff of the Diwan-in-Hazuri, Jaipur. As the name implies, these papers record the dastur or protocol, customs or mode observed in case of persons of different castes, communities and social status who met the Jaipur rulers or whom the rulers paid a visit. Thus these papers record the details of Sawai Jai Singh's first and subsequent meetings with and the presents given to the Mughal Emperors, the Imperial officers like Khan Dauran, Muhammad Amin Khan and others, important Maratha personages, like Radha Bai (Peshwa Baji Rao's mother), Peshwa Baji Rao, Holkar, Sindhia etc., the Rajput rulers and the chiefs like Badan Singh Jat, and the State

officials like Vidyadhar, Raja Ayamal Khatri, Jagjivandas Pancholi and Bakshi Zorawar Singh etc., and the gifts given to members of the ruler's family. The entries are arranged caste-wise and in alphabetical order. Thus, the entries about the Kachawahas, Kumbhanis, Kavishvaras, Kayasthas, Kanungos etc., are in one volume. Similarly, entries about the Musalmans, whether an Emperor or nobles like Khan Dauran, Saiyid Abdulla Khan, or a humble mace-bearer (gurzbardar) who had received some gift, are in Vols. XVIII and XIX.

These entries give valuable information, such as the career of Vidyadhar Bhattacharya, the chief planner of the Jaipur City, in the State service, his parentage and the inams given to him on various occasions for good services which are mentioned in these papers. My own excitement was indescribable when I found in several pages an account of Peshwa Baji Rao's meeting with Sawai Jai Singh, an account of their first meeting (25th February 1736) when the all conquering Brahmin Peshwa mounted on his horse came in front of the Maharaja, the famed astronomer, statesman and premier grandee of the Empire, conscious of his lineage from sun, each one waiting for the other to pay obeisance till they simultaneously raised their hands touched their foreheads, alighted from their mounts and embraced each other. In subsequent meetings, the two developed very friendly ties, even brotherly relations which are referred to in the Marathi records after the untimely death of the greatest of the Peshwas in 1739. The detailed entries in these papers concerning their several meetings during Baji Rao's five weeks long stay, during which he found time to visit the Pushkar lake for a holy dip, correct from a to z the account of the usually reliable Suryamal Mishran on whose version Sir Jadunath Sarkar too had based his account of the meeting, both portraying Baji Rao deficient in polite manners.

The point is that one can get a variety of information from the Dastur Komwar records which if used imaginatively yield precious information not be found anywhere else. These Dasturs are indeed unique feature of the Jaipur records in which a skilled mason or a devoted farrash finds a place along with the scholars and mathematicians like Samrat Jagannath or a Firangi astronomer like De Silva or the Maharanas of Mewar or a noble like Khan Dauran or even the Mughal Emperors.

### **Khatut Ahalkaran**

Among the useful records giving information about matters related to internal affairs of the State as well as matters concerning the interest of the ruler are Khatut Ahalkaran i.e. letters or reports sent by one official to another, usually superior to him but not necessarily so. These are useful not only in such matters as the prices, rainfall, peace and order threatened by some rebellious elements, but also about important political negotiations, such as Deep Singh's letter to Chhatrapati Shahu (1730 A.D.), or Hem Raj's letter to Zorawar Singh (August 3, 1735 A.D.), giving details of the negotiations between Sindhia and Holkar on the one side and Sawai Jai Singh and Khan Dauran on the other.

In brief one finds very useful information in these letters and a patient study of these documents provides stray information of different types which can be used in the larger pattern covering the study of a particular period or problem.

### **Siyaha Hazur**

Coming to the Siyaha Hazur papers, these record the daily activity related to the Jaipur rulers, such as their visits to different places in the capital and outside the State - visits to temples, or to the havelis of respected scholars like Ratnakar Paundarika in the Brahmapuri locality of Jaipur or visit to the mathematician and astronomer Samrat Jagannath, or to a newly built palace or a temple, or to a lake like Mansagar, now called Jalmahal. The entries in the Siyaha Hazur from 1727 to 1740 A.D. are very helpful in tracing the gradual emergence of a new town from the blueprint, Sawai Jaipur, as the records mention the visits of the ruler to Kishanpol, Ramganj, Chandpol etc. What makes Siyaha Hazur records very useful is the fact that all entries are dated. Thus when Jai Singh visits Udaipur in 1728 A.D. to find a solution to the vexed problem of succession, the records mention the dates and the protocol observed as they do of the visits of Imperial officers, important people, such as Maharaj Bakht Singh, Badan Singh Jat. Rao Raja Dalel Singh of Bundi and others to meet Sawai Jai Singh, which throws light on the relations of the Jaipur State with others. These records are like Haqiqat Bahida papers published in a series of volumes by Maharana Mewar Research Institute, Udaipur and edited by Professor G.N. Sharma, the last important contribution of that



great scholar. Dastur Komwar papers are undoubtedly very useful for the social history, chronology and in providing material for studying the under-currents of policies and political relations under the veil of social etiquette and polite courtesies.

### **Parwanas**

These are the letters from the Jaipur rulers to senior officials of the State or of some other States. To explain their nature and contents, we may consider a few Parwanas of Sawai Jai Singh. The Parwanas contain his own assessment of a particular situation, for instance, the situation which developed after Emperor Bahadur Shah's decision to resume the Kachchwaha State in 1708, or the situation which developed soon after Emperor Farrukhsiyar's deposition in 1719, his specific instructions to the officials and nobles to carry out a particular task in the manner suggested by him; his own view of an offer of a transfer or posting made formally or informally by the Emperor, his suggestions to counter a hostile move, such as of the Sayyid brothers, Saadat Khan, or Maharaja Abhai Singh or some other person, or his polite direction to some senior official of a friendly state to arrange escort for some one, such as for an European astronomer, or Radhai Bai, the mother of Peshwa Baji Rao, then on a pilgrimage to the holy places in the northern India. The Parwanas often give important and useful information as they were from the Jaipur rulers to their officials and officers and deal only with matters of consequences.

Besides, these Parwanas of the Jaipur rulers to their officials, there are two other types of Parwanas. These are formal official letters from the Wazir, Vakil or some very senior officer in the Mughal government to the Jaipur rulers either informing about grant of jagir or puras or conveying orders of the Emperor to carry out without delay some posting order or forbidding some act or advising upon some matter which concerns the Empire directly or indirectly. A large number of these Parwanas are preserved in the Kapad Dwara. The Parwanas from a senior Amber official to his junior comes in another category, and are most informative about administrative and judicial matters.

### **Waqi'a Records**

These papers give an account of the official activities of the ruler, such as his movements, meetings with the Emperor and other

Rajput rulers, or nobles like Raja Girdhar Bahadur, Saiyid Husain Ali Khan, the Nizam and others, the Maratha officers and Vakils, and other dignitaries, the place of encampment of the ruler when going to Delhi or Udaipur or some other place, the visits paid by the Imperial officers and nobles, and Pandits, Purohits etc., of other Sates who brought formal letters and proposals from their masters. The records are very useful for the chronology of the period as the account of the Waqia or occurrence are dated, the account of each day being on separate small sheets.

### **Iqrarnama and Mahzarnama**

Also important though very few in number are Iqrarnama and Mahzarnama, the former being agreements, such as the one which Jai Singh signed with Mewar in 1708 promising succession of the son, if born to his newly-wedded Mewari queen and promising for her the status of patrani along with various other privileges which went with the status of a chief queen, or the agreement which Dalel Singh concluded when marrying Sawai Jai Singh's daughter in 1732, or the one which Jaipur State concluded with the Marathas in 1730 A.D. In some cases, only copies of the agreement are available, Mahzarnama, on the other hand, are reports of enquiry such as the one Jai Singh instituted to ascertain the fact about adoption of a son by Maharao Budh Singh of Bundi in violation of the promise he had made to Jai Singh.

### **Documents concerning the Administration**

We may now take up in brief a variety of documents concerning the administration of the Jaipur State. The Arhsattas are the most informative of all administrative documents regarding the parganas in which the Jaipur State was divided. It provides most comprehensive information about a pargana, such as its size, the number of villages (mauzas) in it held in khalisa, jagir and bhom, the jama of each mauza, the hasil figures and the details of the cultivated area under different crops, the rate of payment per bigha, the total revenue realized in the form of jinsi, the cash demand of the State, the area held as ijara etc. It is obvious that these papers are very important for a study of the revenue administration of Jaipur State.

Besides these there are other documents such as Dastur- ul-Amal, which record the zabti rates per bigha of nearly all kinds of produce - san, indigo, mehndi, gur, sugar, vegetables (kakdi, tinde,

karela, sakarkandi, methi, muli, turai, etc.), wheat, jowar, bajra, makka, oil, ghee, capsicum or mirch, cotton-yarn, etc., in the kasbas of the different parganas. These documents are preserved year wise in Tauzi form. Then there are Yaddashti Pardakhti, orders to the amils of the different parganas, the arzis of junior officials, all of which give useful information about the land-revenue administration in the State.

For the pargana administration, Tankhadar Parganawati give the salary figures of various officials in the pargana - potdar, amil etc., Yadadashti of the parganas record disputes in respect of claims reported by the amils and other officials, Siyaha Khufia provided reports about the conditions in the Parganas. The general orders of the Diwan to the Amils also give useful information about pargana administration. For taxes and duties Dastur-ul-amal, Safayat Khazana, Roznamchas of Chotri Deodhi Bazar, Jama Kharch Deodhi Bazar etc., yield useful information.

For the jagir system in the Jaipur State, one can consult Nuskha, Udak, Inam papers, Arhsatta Bhomi, Awarija and Baqiat and Mawazna papers, and for a comprehensive account of the jagirs received by the ruler from the Emperor as tankhwah, inam or ijara, the Parwanas, Farmans and Wakil Reports prove very helpful. Thus, Parwanas of Asad Khan and Zulfiqar Khan of 1708 A.D. inform young Jai Singh about the restoration of jagirs in parganas Moninabad (Amber), Dausa and Phagi and the Persian Arzdasht of Pankshit Rai, a senior Amber official, addressed to Jai Singh, provides information about the matter concerning restoration of jagirs which had been resumed by the new Emperor Bahadur Shah.

For the judicial system, Nyaya Sabha papers, chitthis to the Amils, general orders of the Diwans, such as of Diwan Naraindas Kripa Ram to Vidyadhar, Desh Diwan, and to the Amils of the parganas provide useful information. For the confidential reports, Siyaha Khufia, Khabar Juwani Khabardar, Arzdashts of important officials to the ruler are useful. And for the army organization and administration, Roznamcha Daftar Bakshi, Jama Kharch Khazana, Qilajat papers, Jama Kharch Dag Ghora Mulazim and a few other documents are useful.

The above brief account of the papers relating to administration gives only a glimpse of the sources preserved in the

Jaipur records for studying different aspects of the administration. The list is not exhaustive and on more intensive survey we are likely to find a few other types of records also.

The Jaipur records provide an unending source of information for studying different aspects of social life and economic conditions, institutions and politics, customs and protocol, justice and punishments, crops and prices, variety of cloth, ornaments and food stuffs, religion and literary activity etc. What pays a research student is to use a document imaginatively, for often a document gives a variety of information. Importance of Jaipur records also lies in the fact that no history of medieval India could be complete or fully understandable, specially from seventeenth to the nineteenth century, without their use, and also because no other Archives of this period in India have such a mass and variety of historical records, so well preserved, without any attempt by the farsighted and enlightened rulers of this State to hide anything from posterity.

## **Exploring the mind of Ancient Man : Reflection on the Palaeolithic Culture of Rajasthan**

**Dr. Vineet Godhal**

Now it has been well established that Rajasthan had been a centre of human's activities since prehistoric period as evidenced by the collection of lower palaeolithic tools from all over the parts of the state, also implies that the area was inhabited by the primitive man. The region of study encompasses the administrative units of Sikar, Jhunjhunu and Churu districts with some parts of Nagaur district. Some of the scholars also considered Kotputli of Jaipur district in Shekhawati region. In recent surveys of the study region, we had located 8 lower palaeolithic, 3 middle palaeolithic and one upper palaeolithic site which throw light on the culture of prehistoric man in the specified area.

### **Introduction**

Shekhawati has a semi-arid environmental condition located in the northeast part of Rajasthan, bounded on the northwest by *Jangaldesh* region, on the northeast by Haryana, on the east by *Mewat*, on the southeast by *Dhundhar*, on the south by Ajmer, on the southwest by *Marwar* regions, covers the area of 13,784 square kilometers. This region is also known as Scotland of India because of its brave, sacrificing and painstaking Rajput people. This paper deals with the settlement pattern of palaeolithic man in Shekhawati region. The site belongs to the lower palaeolithic tools are Sohanpura, Bheetaro, Reedh Ka Tila, Peer Baba Ki Bani (Badalwas), Udaipurwati (Kot), Salahadipura, Shobh (Chaneja Ki Dhani) and Gopalpura while middle palaeolithic artifacts are collected from Bageshwar, Burja Ki Dhani, Laloda and from Udaipurwati (Kot) also. Upper palaeolithic artifacts in a limited number are recovered from only one site called as Deoli Ki Dhani.

### **Lower Palaeolithic**

The village of Sohanpura is located 30 kilometres away from Kotputli in western direction, which is located 165 kilometres from

Delhi and 105 kilometres from Jaipur on national highway number eight. Sohanpura village is 5 kilometres away from Patan, located on Kotputli-Dabla road. The nearest railway station is Dabla (10 kilometres away from Sohanpura) and Neem Ka Thana (25 kilometres from Sohanpura). Sohanpura is an important site from the archaeological point of view (Sharma 1997, Sharma *et al.* 2006, 2009), a type rock art site of Ganeshwar-Jodhpura Culture. The hill located in north-east of the village, called as "Payga", situated one kilometre away from the village; is a single hill in this area formed of sand stone, consist 14 rock shelters of different sizes and depth. Only 5 shelters bear rock paintings. In recent surveys, Palaeolithic artifacts made on quartzite have been collected from this archaeological site.

The village of Bheetaro is located about 15 kilometres away from Sohanpura on Neem Ka Thana road. The site is 4 kilometres away in north-west direction of Dokan village on the road of Sohanpura-Patan-Neem Ka Thana, in the vicinity of Ganeshwar, having scattered copper slag in all over area. Actually the site is located between the hills and inside area so it is called as "Bheetaro" means situated in inner area. The river of Kansawati flows in the eastern side of the village. There are four shelters in this group in which only one bears painting. Three handxes made on quartzite stone are collected from Bheetaro.

The villages of Tyonda and Rampura are located approximately 25 kilometers away from the Khetri subdivision in the east of the same, in the district of Jhunjhunu. Between both of the villages ancient mound called as "Reedh Ka Teeela" by local people, is located. The mound is spread approximately in the area of one square kilometer. Iron and copper slag is distributed on the mound which reflects the smelting activities of ancient past. In the north-west part of the mound, a palaeolithic artifact is collected, may be called in secondary context. This handaxe tool is prepared on quartzite sandstone, but due to the flow in water, it has been rolled.

The site of the Badalwas or Peer Baba Ki Bani is located approximately 20 kilometers away from office headquarter of the Khetri subdivision. The village is located 0.5 km away from Tyonda and at same distance from Badalwas in opposite direction. During

the exploration total 5 tools have been recovered consisted one handaxe and four cleavers. These tools may be placed in the developed Acheulian culture.

The village of Kot is located approximately 5 km away from Udaipurwati tehsil headquarter. A dam called as Kot Bandh is also located here. A fortified structure is located in the outside hilly area of the village. Most of the artifacts made on quartzite stone are collected from here, consisted the three series of the Paleolithic industry. Total four palaeolithic tools (Plate 9 & 10) and three middle palaeolithic tools have been recovered from here. Lower palaeolithic tool comprised three cleavers while one belongs to scraper.

The village of Salhadipura is located in the district of Sikar. The name of the village is based on the name of Salhadi Singh, who constructed a dam on the origin of the source of river Kantli at here. From the foothill of the region, most of the cleaver, scraper and flake based tools are collected. One kilometer away from Salhadipura in the western direction, the temple of Omal-Somal is located. On the basis of the architectural specialties this temple may be placed in the period of 9<sup>th</sup>-10<sup>th</sup> century AD. No image of deity is placed inside the Garbhgriha. Total three tools were picked from here in which one is discoid while two are handaxes.

The village of Shobh is located 25 km north-east of the district headquarter of Sikar. From the hilly and sandy area of the region, palaeolithic artifacts made on quartzite stone are collected. These tools are comparatively larger than other tools recovered from the sites of the same region. Scraper, handaxes and discoid tools are collected from here. Total nine tools are picked in which two scrapers, five handaxes and two discoid tools are consisted.

Balaji Ka Dungar (Gopalpura) is located in the district of Churu, the first palaeolithic site in the same district, approximately 13 km away from headquarter of Surajgarh tehsil. A temple of Bhairun Baba is located one kilometer away from Balaji Ki Dungari. Some lower palaeolithic handaxes and cleavers also collected during the exploratory work. Blades and flakes made on chert are also collected from nearby field. Finding of a hammer stone has its importance also. The village of Deedwana is located 23 kilometers away from here where Dr. V.N. Misra did a pioneer work on prehistory of Rajasthan. More than 15 lower palaeolithic artifacts are collected from here.

### **Middle Palaeolithic**

The village of Bageshwar is located in the Tehsil of Neem Ka Thana of Sikar district; 15 km north of same tehsil headquarter on Neem Ka Thana-Patan road. Three small size handaxes are collected from here.

Burja Ki Dhani is located 40 kilometers away from Srimadhapur tehsil headquarter in the district of Sikar. Two specimens of one handaxe and one scraper are describing here.

The site of Laloda is located on Khetri-Neem Ka Thana road, approximately 15 km away from Khetri. The local people called this village as Maid. The hill located in the village, comparatively small sized two handaxes are recovered. These tools are prepared on quartzite stone. On the basis of technique of prepare and typology, these tools may be placed in middle palaeolithic period.

### **Upper palaeolithic**

The village of Deoli Ki Dhani is located 20 km away from Khandela, a subdivision in Sikar district. The region is disturbed by the seasonal rivulets. Till recent survey, only from this place upper palaeolithic artifacts are recovered.

### **Discussion**

It was the first time in Rajputana during the course of exploration in 1871-72 when some stone cairns, blades of quartzite near the village Dausa (now district headquarter) and some flakes of the same material were collected from another mound at Ghar, a village which is located about thirty miles north from Deoli in Tonk district, by Carlleyle, an assistant of General Alexander Cunningham. Subsequently in the decade of 1920s, C.A. Hackett of the Geological Survey of India picked up a few Acheulian tool and cleavers from Indragarh (now in Mandsaur), Jaipur and Tonk regions which are still preserved in the Indian Museum, Kolkata. However, the exact provenance of these implements as also the context of their discovery is not known (Brown 1917). Further in 1928, Seton Karr reported a small number of Acheulian tools from Jhalawar. Two flakes and fragments of cores of chert were collected by Daya Ram Sahani during the excavation at Bairath. In 1953-54 palaeolithic artefacts were discovered in the valleys of the Berach and its tributaries, Gambhiri near Chittaurgarh of the Banani, a tributary of the Chambal at Singoli and of the Chambal itself at Sonita by M.N. Deshpande,

then superintendent of the western circle of the Archaeological Survey of India (*IAR* 1953-54:37). Choppers, Handaxes, Cleavers, flakes etc. tools were collected from these sites. S.R. Rao also explored this area and more palaeolithic and microlithic sites were discovered by him (*IAR* 1954-55: 58). In 1956-57, trial excavation was conducted by S.R. Rao at Sonita and found acheulian and Sohanian tools in the conglomerate and flake tools in the overlying gravel (*IAR* 1956-57: 7). The first planned exploration was carried out in the Banas basin in Mewar from 1956-57 to 1958-59 by the exploration branch of ASI under the direction of K.N. Puri. The team made discoveries of the different cultures on a number of sites (*IAR* 1956-57:5-8; 1957-58:43-45; 1958-59: 43-46). N. M. Ganam of the ASI discovered middle palaeolithic tools from a dried bed stream bed at Barka and Juna in Barmer district (*IAR* 1958-59: 74) and in later years several microlithic sites were discovered in the districts of Jalor and Nagaur (*IAR* 1964-65: 76; 1965-66: 83; 1967-68: 68). V.N. Misra started his exploration work in 1959 for find out its prehistoric potential in western Rajasthan (Misra 1967, 1978, 2007). He explored the valleys of the Luni and its tributaries namely Bandi, Guhiya, Lilri and Jojri in Barmer, Jodhpur, Pali and Ajmer districts and discovered late acheulian and middle palaeolithic artifacts from 12 sites. The valleys of Jawai, Mitri and Sukri rivers were also explored by him. Six middle palaeolithic sites and one mesolithic site in Jodhpur district were discovered by him. In 1966-67, L.S. Leshnik of Heidelberg University, Germany and V.N. Misra carried out extensive explorations in Gujarat and Rajasthan for locating Stone Age sites and protohistoric sites. The discovery at Tilwara in Barmer district and Bagor in Bhilwara district was the most important achievement of this exploration work. Both these sites were excavated later by V.N. Misra. From 1977 to 1985, a detailed field work was done by V.N. Misra, S.N. Rajguru (Deccan College, Pune), D.P. Agrawal, R.V. Krishnamurthy, R.K. Pant, Ashok Singhvi (Physical Research Laboratory, Ahmedabad), R.P. Dhir (Central Arid Zone Research Institute, jodhpur), Subrato Sinha and his colleagues (Geological Survey of India, Jaipur ) and Gurdeep Singh and R. G. Wasson (Australian National University, Canberra) etc. P.K. Thomas, D.R. Raju, S.C. Nanda, Zahid Hussain, Makkhan Lal, Zahir Cooper and Hema Raghwan also participated in this work (Gaillard *et al* 1983, Gaillard *et al* 1985, Gaillard *et al* 1986). It was

an extensive survey and mappings of colluvial, alluvial, aeolin and lacustrine deposits as well as of weathered sediments like calcretes and ferrecretres in the districts of Sirohi, Jalor, Pali, Ajmer, Nagaur, Jodhpur, Churu, Barmer, Jaisalmer and Bikaner. Around 50 mesolithic and palaeolithic sites and a few historical mounds were located by this team. In the early 70s, Bridget Allchin of Cambridge University, A.S. Goudie of Oxford University and K.T.M. Hegde of M.S. University, Baroda (Allchin *et al* 1978) carried out a joined field work in Gujarat, Western Rajasthan and Pakistan. They surveyed quaternary geological deposits and carried out sedimentological and pedological analyse.

The study of the archaeological materials in the above pages reveals an interesting image of the primitive man in Shekhawati region. It shows that during the prehistoric period, the region was also inhabited by primitive man. We may now try to see how the prehistoric culture was developed through the lower to upper palaeolithic in the specified region and also in nearby area. While doing so we shall constantly keep in mind Graham Clark's caution about "Conclusion being drawn from distribution patterns which reflect no more than the contemporary state of prehistoric research" (Clark 1960).

The early Stone Age represented by the early Acheulian culture is known from the district of Sikar, Jhunjhunu and Churu. Total 33 Lower Palaeolithic tools are collected from the region of Shekhawati in which 17 handaxe, 9 cleavers, 4 disoids and 3 scrapers. Maximum tools in number of 27 are collected from Shobh have the percentage of 27.27 and minimum one tool was recovered from Reedh Ka Tila. The lack of palaeontological evidences from any of the sites precludes the establishment of a relative chronology on the basis of the comparative study of the tools recovered from the different parts of the country. Typologically, there is homogeneity among the tools of the all of the sites. Even we did not picked more than 15 tools from any of the site but on the basis of the recovered material we can assume that this area was also suitable region for primate man in ancient period. We have not seen any of the river section in the area. Spatially the Acheulian culture is better known in the eastern part of the Berach basin. The main concentration of tools lies near Hajiakheri in the Wagan and near Chittorgarh in the case of the Berach and Gambhiri. Most of the lower palaeolithic

tools have been recovered from the district of Sikar and Jhunjhunu. The territory lying to the north of the Kantli river basin has yielded very little evidence of the early Stone Age.

All the artifacts are made of quartzite of which two varieties are discerned. Those from the Sikar and Jhunjhunu districts are of a good conchoidal fracture, compare to Churu district. The artifacts of both of these districts have deep flake scars. It produces good conchoidal fracture and is suited for tool manufacture. The artifacts recovered from Churu district have flattish scars. Evidences of three techniques can be observed in the Shekhawati industry called as, stone hammer, wood hammer and Levallois. The stone hammer technique is seen in the manufacture of a small number of handaxes, a majority of cleavers and in core scrapers and large flakes. All these exhibits deep, large scars, irregular outlines and uneven surfaces. The use of cylinder hammer technique is seen in a majority of handaxes, some cleavers and in secondary work on flakes. It has produced small, shallow scars, regular outlines, thin section and even surfaces.

There is no evidence of the use of heavy stone hammer seen in the large, thick flakes of the early Stone Age. In the preparation of tools in upper palaeolithic period, all the flakes were detached either by a light stone hammer or a wood or bone hammer. The same technique was mostly employed in the preparation of core tools. Prepared core technique is more common in this culture than in the lower and middle palaeolithic period. Flake scrapers and points bear very fine retouch on their margins. This could have been produced by the use of a sharp, pointed instrument, possibly of bone or tooth.

Raw material has its own importance in the life of human being. Quartzite stone was the first priority of lower palaeolithic man for making the tools. Scrapers, handaxes and cleavers are the main tool of the primitive man. In the middle palaeolithic period, the continuity of handaxes may be observed with the variation in sizes on the same raw material. Small sized handaxes are of middle palaeolithic period. The lower palaeolithic industry was based on core tools while middle palaeolithic tools are made on flakes. Upper palaeolithic industry is totally based on flakes. Upper palaeolithic tools consisted flake choppers, burins, flake blades etc. All of the upper palaeolithic tools are made on quartzite stone in Shekhawati region while in southern Rajasthan most of the upper palaeolithic

tools are based upon chert stone.

On the basis of the comparative survey with Banas-Berach basin, it may be said that although we have no more sites belonging to palaeolithic period in the Shekhawati region as compare to southern Rajasthan; it seems that the Acheulian man did not avoid the hilly and thickly forested country of the foothills and the Aravallis proper.

## References

1. Allchin, B., A.S. Goudie and K.T. M. Hegde. 1978. *The Prehistory and Palaeogeography of the Great Indian Desert*. London: Academic Press.
2. Clark, J.G.D. 1960. Comments on J.G.D. Clark's article "Human Ecology during Pleistocene and Later times in Africa South of Sahara", *Current Anthropology*, Vol. I, No. 4: 321.
3. Gaillard, C., D.R. Raju, V.N. Misra and S.N. Rajguru. 1983. 'Acheulian Occupation at Singhi Talav in the Thar Desert: A Preliminary Report on 1982 Excavation', *Man and Environment* VII: 112-130.
4. Gaillard, C., V.N. Misra, S.N. Rajguru, D.R. Raju and H. Raghwan. 1985. 'Acheulian Occupation at Singhi Talav in the Thar Desert: a Preliminary Report on 1981 Excavation', *Bulletin of the Deccan College Research Institute* 44 : 141-152.
5. Gaillard, C., D.R. Raju, V.N. Misra and S.N. Rajguru. 1986. 'Handaxe Assemblage from Didwana Region, Thar Desert, India: A Metrical Analysis', *proceedings of the Prehistoric Society* 52:189-214.
6. *IAR* 1953-54:37
7. *IAR* 1954-55: 58
8. *IAR* 1956-57: 7
9. *IAR* 1956-57:5-8; 1957-58:43-45; 1958-59: 43-46
10. *IAR* 1958-59: 74
11. *IAR* 1964-65: 76; 1965-66: 83; 1967-68: 68
12. Misra, V.N. 1967. *Pre and Proto-History of the Berach Basin South Rajasthan*. Poona: Deccan College P.G. and Research Institute.
13. Misra, V.N. 1978. 'Explorations in Ajmer and Jaipur Districts, Rajasthan', *Man and Environment*, II: 74.
14. Misra, V.N. 1989. 'Stone Age India: An Ecological Perspective', *Man and Environment*, Vol. XIV, No. 1: 17-64.
15. Misra, V.N. 2007. '*Rajasthan: Prehistoric and Early Historic Foundations*', Delhi: Aryan Books International.
16. Sharma, Murari Lal. 1997. Rock Art of Northern Rajasthan. *Purakala* 8 (1-2):25-35.
17. Sharma, Murari Lal, Madan Lal Meena, Krishna Gopal Sharma and Vineet Godhal. 2006. Copper age Remains from Sohanpura Rock Art Site and nearby (North-East Rajasthan). *Nucleus* VI (2): 53-62.
18. Sharma, Murari Lal, Madan Lal Meena, Krishna Gopal Sharma and Vineet Godhal. 2009. Chalcolithic Antiquities from Sohanpura and nearby Region in North-East Rajasthan. *Puratattva* 39: 58-67

## **Spatio-Temporal Analyses of Archaeological Cultures: A Case Study of Bharatpur District (Rajasthan)**

**Dr. S.K. Bhagat**

More than Four decades ago the site of Noh was excavated by the Directorate of Archaeology and Museum, Govt. of Rajasthan. Nothing substantial has been done afterwards to know the archaeological potentiality of Bharatpur region except some exploratory soundings by Archaeological Survey of India and State Archaeology Department. A Number of sites ranging from prehistoric period to medieval period, large number of monuments and sculptures datable to different periods, several epigraphical records and many other remains have been discovered and recorded from Bharatpur but no systematic study has ever been made so far to bring forth the significance of all above artifacts. The present paper is based upon the observations of my research on Archaeology of Bharatpur.<sup>1</sup>

Bharatpur district lies between 26°30' to 27°50' N latitudes and 76°53' to 77°45'30" E longitudes covering an area of about 5066 sq.km. It is called the eastern gateway of Rajasthan, as it situates in north eastern corner of the state. It is bounded in the north by Haryana, in the south by Dhaulpur and Karauli districts of Rajasthan, in the east by Utter Pradesh and in west by Alwar district of Rajasthan. In shape Bharatpur is an irregular quadrilateral, narrowing from south to north, with spurs projecting into Alwar, Dhaulpur and Agra.

This area basically, forms part of the alluvial basin of the Ganga and the Yamuna. Actually the whole north-east plain of the Rajasthan comprising Bharatpur district and its surroundings, is geographically and culturally, undoubtedly, an extension of the Ganga-Yamuna doab. Its drainage goes into the Yamuna and it has shared its cultural history right from the beginning with the adjoining Ganga-Yamuna doab. The main rivers of the district are the Banganga or

Uttang, the Gambhir, the Kakund and the Ruparel – all flowing west to east. All these rivers are non-perennial. The general slope of the district is west to east and the entire drainage system of this district is controlled by the river Yamuna.

Topographically, the district is an alluvial plain. Northern portion is almost covered with alluvium which consists of schist and quartzite belonging to Aravali and Delhi ranges respectively. The quartzite is well exposed also in the Bayana hills in the south.

Alipur<sup>2</sup> (tehsil-Wair) is, so far the only site in the district from where some Lower Paleolithic tools have been reported. The north-western and south-western part of the district contains hilly tracts with quartzite formation (particularly the north-western hilly tract is actually an extension of the series called Alwar quartzite). We have evidence of our Stone Age ancestors from the sites like Bhangarh, Bairat and Neelkanth of neighbouring district Alwar.<sup>3</sup>

The cultural sequence of the district is revealed by Noh<sup>4</sup> and accordingly OCP people are first permanent settlers in this district. There is a distinct phase of black and red ware using people. This B & R W is quite different from the Aharian and non-painted. The PGW culture is the third in culture sequence and now only the district got heavily populated. The NBPW is also revealed and this is the fourth cultural sequence. After then Sunga-Kushana culture flourished in the district. We know that Mathura was the political-cultural centre of that time and this area is quite close to Mathura. Afterwards the area remained continuously populated but the concentration of habitation varied in the time scale. On the basis of the study of maps which show the location of sites some interesting conclusions can be drawn.

It is observed that the conditions were favorable for the emergence and development of the early settlers of Bharatpur (OCP and further PGW using people) as the area is an alluvial plain drained by many rivers and lakes. The whole district, except parts of the hilly tracts, is endowed with fertile arable land. Besides, the sporadic occurrence of hillocks and marshy land would have a sufficient reserve of pasture, plant and animal resources.

The earliest culture of Bharatpur after Stone Age is marked by the presence of Ochre Colour pottery, a late Harappan ceramic, dated back to the middle of the second millennium B.C.

The second cultural phase of Bharatpur is represented by the appearance of the sherds of Black and Red ware which are reported from more than 20 sites. This type of ceramic is revealed from a separate horizon at Noh.

It is noticed that the area was densely populated only during the PGW culture. The PGW folk mostly inhabited the area as along the ancient river beds which have now been replaced by canals such as Gurgaon, Govardhan, Ajan, Homes, Chiksana, Pathena and Uchain. The entire drainage system is controlled by the Yamuna. The concentration of PGW sites is gradually increasing towards eastern side of the district i.e. towards Ganga-Yamuna divide. Most of the sites are located on the bank of river Banganga or in its flood plains. The concentration is comparatively higher in the lower reaches. The number of sites along the Ganbhiri or Gambhir and Ruparel is quite negligible. In other words the sites are concentrated where the geo-physical feature of the land is quite plain but in the northern-most and southern part of the district where hilly tracts are present, the number of PGW sites are negligible. In the fertile plains, sites are normally located at a distance of 3 to 5 km from each other. The process of the spreading of PGW folks towards western part of Bharatpur is most probably limited due to hilly tract and disturbed area of the Aravali.

It is also observed that most of the PGW sites of the district have continuous habitation represented by cultural assemblages of early historic and of Kushana period. Bharatpur is located on the periphery of Mathura (25 km south-west of Mathura town) which was the capital of Surasena Mahajanapads in 6<sup>th</sup> cent. BC. The Sursena Janapada included Mathura and the adjoining parts of Alwar, Bharatpur, Dholpur and Karauli. Some other parts of Bharatpur along with erstwhile state of Jaipur and a part of Alwar were under Matsya territory. Bairat-the capital of Matsya Janapada, was nearby and even today it is located very close to the western boundary of the district.

The fourth culture of Bharatpur is represented by Northern Black Polished ware, though reported from very few sites and in very limited quantity.

The fifth phase of cultural assemblage of Bharatpur is represented by Sunga-Kushana culture. Bharatpur is located on the

periphery of Mathura which was the capital of Saka-Kushana rulers. The Sunga-Kushana sites were found located at every 1 to 3 Kms distance in Bharatpur. Normally such sites contain structures and sculptures of this period in addition to potteries and antiquities of specified nature.

A number of sculptures belonging to the Gupta and later Gupta period have also been discovered from time to time the various sites of the district beside the famous Bayana hoard. The list of these sites has been prepared and analyzed. It is observed that now many new settlements emerged in the west, north and southern part of the district beside continuous habitation in fertile plain land of the eastern and central part.

In medieval period the settlements sprang even in the hilly areas of southern and northern part of the district. Now Bayana became the most important seat of power and other administrative activities and remained so till the emergence of Jat house of Bharatpur in mid eighteenth century AD. Besides, Kama, Dig, Pahari, Wair, Nadbai, Rupbas and Bharatpur were some other important centres during this period around which many new settlements grew up. The size of these settlements was fairly enhanced.

The outcome of analyses and generalizations are classified under following points:

1. Bharatpur seems to be conspicuous by the absence of stone age remains. In the present state of knowledge it can not be explained satisfactory. Could it be due to altered topography or was it the area of relative isolation for stone age population?
2. Exploratory sounding reveal that the district had scanty population in the period of OCP and B & R W using people. The OCP sites (may be due to our limited study) do not show any pattern. However, the association of OCP with Copper Hoard tools in Gangetic doab in the east and the Jodhpura-Ganeshwar culture in the west may help in explaining the OCP at Noh (and at other sites) and Malah Copper Hoard tools. The sites of B & R W are emerging from all over the district except the extreme southern and north-western hilly region.
3. The concentration of PGW sites are in the flood plain of Banganga i.e. the middle part of the district and so also for the



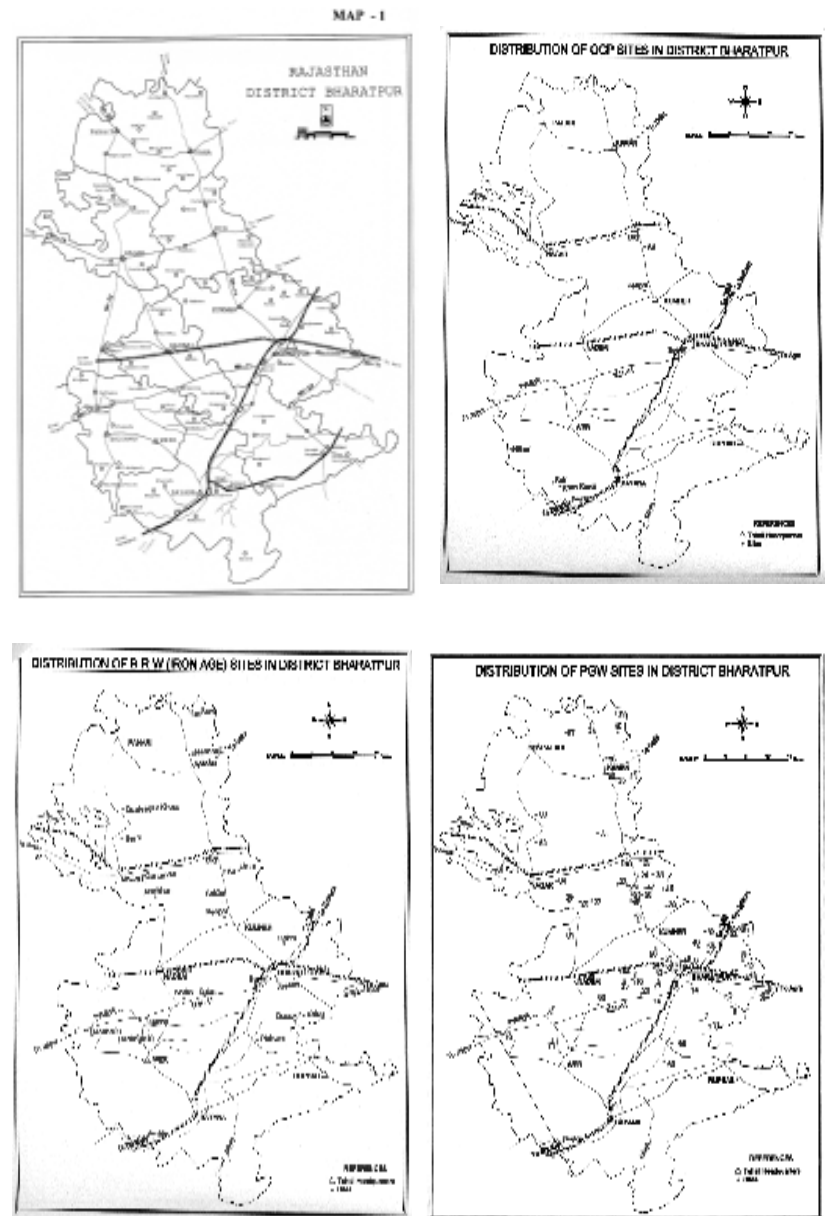
Kushana sites. If we follow the course of Banganga the distribution of sites are denser on eastern side or lower reaches as compare to upper reaches or western side of the district. The better explanation of this distribution pattern of sites might be, particularly for the PGW sites that it becomes thick and closer as we moves towards Ganga-Yamuna doab. Similarly one explanation for the concentration of Kushana sites might be due to its proximity to Mathura which, undoubtedly was the epicenter of Sakas and Kushanas.

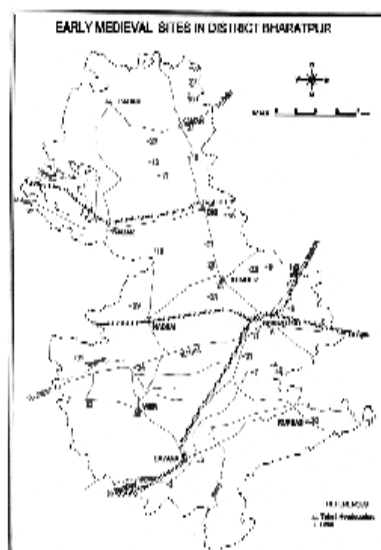
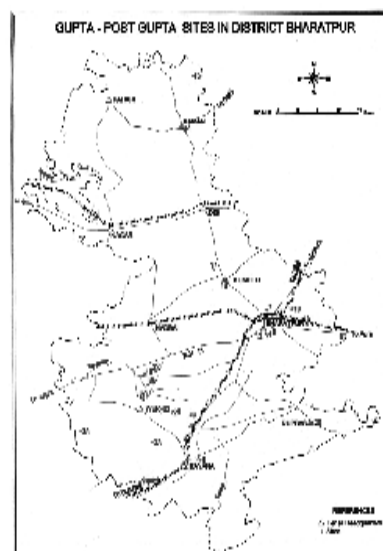
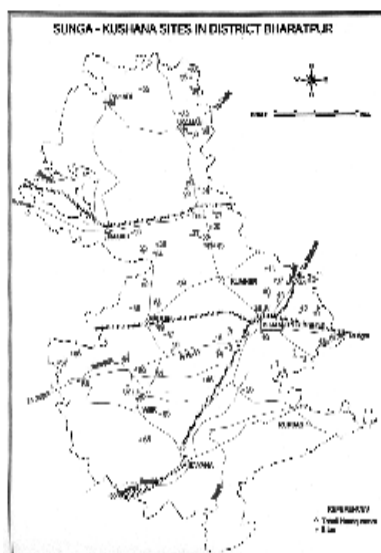
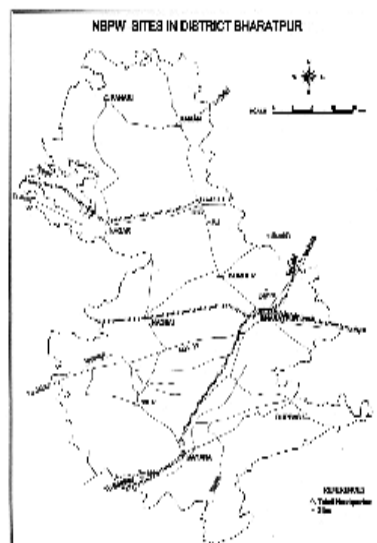
4. Although due to limitation of explorations, less number of Gupta – post-Gupta sites have been traced so far, but it will be hasty to reach at any conclusion on this basis. From the location of early medieval and medieval sites it is clear that since Gupta period and onwards people preferred to settle in hilly tracts which are far and topographically different from flood plains. This conclusion is also supported by literary and epigraphically evidences as we know that Bayana and Kama like new centers emerged in this span of time around which a number of settlements grew up.
5. The hypothesis that Bharatpur district could be the geographical and cultural extension of upper Gangetic doab has been substantiated from the comparative archaeological culture sequence of the two contiguous regions. The river system and drainage pattern played the most crucial role in the cultural amalgamation.
6. The archaeological sites are facing constant encroachments. Mounds are brought under cultivation. Size of the sites is reducing and without excavation the real expanse of the site cannot be ascertained. The cultural sequence has been determined mainly in the light of the surface finds. Under these circumstances the surmises are limited and open to cross examination.

### References:

1. Bhagat, S.K., 2012, Archaeology of Bharatpur (Unpublished Ph.D. thesis, Dept. of History, University of Rajasthan, Jaipur)
2. IAR 1985-86 : 69
3. IAR 1955-56 : 68
4. IAR 1963-64: 28-29; 64-65: 34-35; 65-66: 38; 66-67:30-31; 68-79:26; 70-71:31-32; 71-72:41-42; The Researcher 1963-64: 92-94; 64-65: 109-111; 65-66: 1-2;

66-67: 7-9; 68-69:1-2; 70-71: 17-19; 71-72: 25-27; PRHC 1969: 21-24 and 161-164





## Smelting Activities in Ancient Times with special reference to Mewar

Rita Chandravanshi

In the scheduled area of Rajasthan a variety of ore deposits have been found such as: copper, iron, silver, lead & zinc and other minerals.

Many archaeological sites such as Ahar, Balathal, Nathara Ki Pal, Jawar, Iswal etc. have been found in the scheduled area of Rajasthan which provide evidences of smelting activities held in these regions.

Zinc is a very difficult metal to smelt unlike other metals. Whereas it is heated around 1000 degree centigrade, in copper smelting the temperature had to be about 1100-1200 degree centigrade.

Smelting of iron however could not be done the same way as zinc and copper because it had a higher melting point 1537-1540 degree centigrade, a temperature not easily attainable in primitive furnaces; therefore iron was smelted in solid state at about 1200 degree centigrade. (Tripathi 2001: 136,138)

The 'Jawar Mines' (24°21'N; 73°41'E) is situated in the Aravalli Hills about 40 km. south of Udaipur.

It is the only known ancient zinc – smelting site in India, hence very important (Kharakwal et al 41)

It is surrounded by dolomite hills, rich in sphalerite, a sulphide ore of zinc.

There are a number of old mining pits and extensive high heaps of debris built of spent zinc distillation retorts, furnace fragments and ash, formed by the centuries of zinc smelting operations, around the site (Misra 2007: 304)

The huge ancient mine working over here are indicative of mining up to a depth of 40 meter for a horizontal span extending up to 200 meter (HZL Zawar Report) which seems to be a very tremendous job made by ancient people. It seems a number of

labours adjoined the vast mining work. As per the information given by the local people of this area a number of prisoners were given the task of mining and as soon as they used to send a bucket full of minerals or debris up only then they used to get food in return in the same bucket.

Jawar Mines was dugged up through traditional tools and methods which are still being followed by local people that could be seen at village "Badi Undri" in Udaipur District.

It was observed that the habitant of this village named "Bheruji Gameti" was digging his own well with the same methods and tools and technique as it were in ancient times.

These tools were made by 'Sava ji' from 'Kotla' village near Jhadol District. Here are the photographs of ancient times and present era as well to be compared.

Several smelting furnaces have been found in mewar region.

Though variations in shape, size and designs have been found in ancient furnaces yet it can be said that commonly the traditional furnaces have been two simple holes in the ground out of which one hole called furnace used to be of about 10 by 10 feet and another of about 20 by 20 feet.

These two holes were connected with each other through a siphonal pipe. The furnace along with the siphonal pipe had 2 inch thick coating of mica inside it which acted as a safeguard and used to protect the furnace from deterioration. Bellows were attached through tuyeres.

In such furnaces the broken ore, charcoal or locally available wooden sticks mostly of *Kher* tree as fuel and calcite powder as flux were charged in alternate layers or mixed together on hot fire.

In case if broken ore, fuel were required in more quantity. The labours to escape from heat covering themselves with wet blanket called *Bora or Bori* used to roll down them in to the furnace with the help of long Bamboo stick or Iron pipe.

The fire was kept up by bellows made of either goat or bullock skins called *Dhaman* which was attached to a furnace through a long hollow bamboo sticks or iron pipe plastered with clay so that it can't burn which forced a blast of air into the furnace. The iron was smelted in solid state at about 1200 degree centigrade.

Smelted iron flowing down through the mica coated pipe which didn't allow the iron to cool, get collected in another hole in the shape of bloom weighing 1 to 5 kg. In case if smelted iron stopped in between ancient people used to pull it with iron pipe called *Aankdi*.

Thus smelting process reduced the metal in the form of bloom or a lump.

As per Vibha Tripathi (Professor in B.H.U) in very elementary working if the bloom is not large enough, the small pieces of metal must have been collected and heated and welded together into larger piece.

Since in ancient times the means of transportation were not much developed and advanced as today thereby it was perhaps difficult to carry blooms bigger in size from one place to another hence the blooms might have been carried in their original size.

Just after smelting the blooms were shaped into desirable objects through "forging" that was repeated contact with charcoal and hammering to extract the trapped slag inside the bloom and shaping the metal.

This method was applied either early in the morning or late of the night for months.

Thus the smelting process of ancient period was very long and of course not easy to accomplish. It needed the help of number of labours.

### Important Publications :

- Tripathi, Vibha. 2001. The Age of Iron In South Asia: Legacy and Tradition. New Delhi: Aryan Books International.  
 Misra, V.N. 2007. Rajasthan: Prehistoric and Early Historic Foundations. New Delhi: Aryan Books International.

### Journals:

- Kharakwal, J.S., Lalit Pandey, M.L. Sharma, M.L. Meena, J.Meena, L.C. Patel and H. Chaudhary. 'Archaeological Survey and Excavations in Rajasthan Studies(Sahitya Sansthan) Rajasthan Vidyapeeth.  
 Pandey, Lalit and J.S Kharakwal. 1994. 'Balathal Utkhanan Prarambhik Rapat (In Hindi), in Shodh Patrika, year 45(1): 63.Udaipur: Institute of Rajasthan Studies (Sahitya Sansthan)Rajasthan Vidyapeeth.  
 Pandey, Lalit, J.Meena, K.Vyas, C.Singh and H.Chaudhary. 2007. 'A Preliminary Report of Excavation at Iswal, in Shodh Patrika, year 58(3-4): 68.Udaipur: Institute of Rajasthan Studies (Sahitya Sansthan) Rajasthan Vidyapeeth.  
 Pandey, Lalit, J.Meena, K.Vyas, Chain Singh and H.Choudhary. 2008. 'A Priliminary Report of Excavation at Nathara-Ki-Pal', in Shodh Patrika, year 59(3-4). Udaipur:

Institute of Rajasthan Studies (Sahitya Sansthan) Rajasthan Vidyapeeth.

Pandey, Lalit, V.S Shinde, J.Meena, C.S. Rathor and H. Chaudhary. 2006. A report on Excavation At Iswal. 2005-06. Udaipur District, Rajasthan (Lalit Pandey Ed.) in Shodh Patrika, year 57(1-4). Udaipur: Institute of Rajasthan Studies. J.R.N.R.V.U.

Pandey, Lalit. 2002. Shodh Patrika, year 53(1-4). Udaipur: Institute of Rajasthan Studies. J.R.N.R.V.U.

Pandey, Lalit. 2005. Shodh Patrika, year 56(1-4). Udaipur: Institute of Rajasthan Studies. J.R.N.R.V.U.

Pandey, Lalit. 2009. 'Excavation at Nathara- Ki- Pal in (K.N.Dikshit Ed.), Puratattva: Bulletin of The Indian Archaeological Society

### Archaeological Reports :

Karyalaya Sangrahadhyaksh. Ahar:Rajkiya Sangrahalay. Udaipur.

Report: Hindustan Zinc Limited: Zawar:Udaipur: HZL Zawar.

## Some Unpublished Surya-Images from Chandravati

Dr. B.L. Upamanyu

Chandravati, an ancient city near Aburoud on the bank of river Banas, was a capital of Parmaras<sup>1</sup> of Abu and Devara Chouhanas. It was not only a prosperous city but also a centre of art and architecture from 10<sup>th</sup> century to the beginning of 15<sup>th</sup> century<sup>2</sup>. This extensive town included morden villages like Dattani, Kiverli, Kharadi and Santapur as its wards. Remnants of temples and sculpture of various deities suggests that the city was famous for its temples also.<sup>3</sup> Mahmud Ghazni's attack in 1024 A.D. and latter Muslim attacks on the prosperous Chandravati resulted in the destruction of its treasure of art and architecture. In 19<sup>th</sup> century Colonel James Tod<sup>4</sup> and Charles Colville<sup>5</sup> witnessed about 20 marble edifices. During the construction of Railway line many of temples were damaged by contractors.<sup>6</sup> Numerous Sun-images discovered from Chandravati prove beyond doubt that there must have been more one temple dedicated to Surya. Attempts have been made by Department of Archaeology to collect the sculptural treasure of Chandravati in the recently constructed museum at Chandravati. The present paper is an attempt to study the unpublished Surya images collected in this museum. These Surya-images belong to 11<sup>th</sup> - 12<sup>th</sup> century A.D. This attempt is a part of the U.G.C. Major research project titled, 'The Sun-worship in medieval Rajasthan.' The following seven Sun-images have been studied for this paper and details of which are given follow :

1. Surya on a stone slab which appears to be a broken part of a pillar having decorative creeper line on the left end and a line of floral decoration in the right end. Surya is seated in a Padmasana and meditative posture on a Pithika placed in a four round pillar Rathika with a decorated top. Two handed Surya is holding full blossomed lotus in both hands raised up to head. Stalk of lotus is resting on thigh on both sides. Sun is having high boots up to knees but clad in dhoti which is a curious

- mixture of northerner and southerner dress. Armour, necklace and tope type crown are also noteworthy.
2. On another stone slab we find same sort of Sun image in which Surya attributes, necklace and armour are more visible than those of the first one. This Rathika too was a part of some pillar in a temple. Surya seated in Padmasana and meditative posture, is clad in dhoti. High boots up to knee are again mixture of two types of dresses.
  3. Two handed standing Surya, clad in dhoti but having low boots is also a combination of two types of dresses. Surya is holding lotus with stalk (actually a lotus bucket) raised up to head. In the neck heavy necklace and a scarf with knot on the chest, Kundal in ears, bejewelled crown are beautifully sculpted. Right hand is broken and face of Surya somewhat defaced. Uttariya in front of Varmala hanging from hands to the below knees is very attractive, Avyanga with frontal knot and Janghabandha are very well sculpted. Halo around head is prominent. Surya attendant Danda is holding Kiran in his right hand and left hand resting on thigh. On right, Pingala is standing with hands broken on the right of Pingala Surya's queen Ragi and on left of Danda queen Nikshubha are holding lotus buds in their one hand and another hand resting on thigh.
  4. Four handed Sun-image in standing posture is clad in dhoti and is bare footed. All the four hands and all the four attendants (Danda, Pingala and two lady attendants probably Surya's queens) are broken and defaced. Uttariya is hanging from hand to the below knees in the form of the Varmala is well sculpted. Rings (kada) in legs, necklace and kundal are clearly visible. This image is sculpted in a square pillar Rathika.
  5. Surya in Navagarhaa panel is seated in Utkatasana. It is clad in dhoti and holding lotus in both hands. Surya in the first niche of the Navagraha panel.
  6. Four handed standing Surya is presently worshipped in the Amarnath temple of Chandravati as Laxminarayan. Surya is holding lotus with stalk (actually a bucket of full bloomed front faced lotus with three stalk and three lotus buds behind the lotus) raised up to shoulder. In the lower left hand Surya is holding Kamandalu and in the lower right hand Akshamala.

- According to the Devta-Murti-Prakranam<sup>7</sup> these are the attributes of four handed Surya. On the wrists of lower hands bracelets of Akshamala are tied. In the neck necklace is prominently sculpted and in the ears kundalas are having front face round. Bejewelled crown, lotus halo (Prabhamandal) are attractive. Avyanga with frontal knot and Uttariya hanging from hands to knees in shape of Varmala are beautifully sculpted. The round face with half lid eyes and bow shaped eye brows stretched bit high, comparatively small lips and a slight smile on the face make this Sun image very impressive. Surya is placed in Rathika of two round pillars. Surya is having his attendant Danda and Pingla<sup>8</sup> in the left and right respectively, Danda is holding Kirana in his right hand and left hand resting on his left thigh, Pingala holding shakti in his left hand and right hand is resting on his right thigh. Both Danda and Pingala are barefooted and having beard, kundal and crown.
7. One Sun image sculpted on big stone slab is presently lying away from the museum hall though within the campus. This four handed standing image of Surya is in Sambhang (meditative) posture. All the four hands and four attributes are broken. Impressions of Akshamala and Kamandalu for lower hands and lotus in left for upper left hand is can be noted, Four strings of necklace, kundala in ears, bejewelled crown, armour, Avyanga with frontal knot and Uttariya hanging from hands to below the knees in the shape of Varmala are beautifully sculpted. Surya is clad in dhoti though putting on boots which is a curious combination of northerner and southerner dresses of Surya. Lotus halo (Prabhamandala) around head is prominent. Regarding four attendants on the leg sides Danda and Nikshubha are on the left and Pingala and Ragi on the right, Danda is holding Tamrachudra (?) in his right hand and left hand resting on his left thigh. Pingala is holding pen in his right hand and writing material (manuscript) in left hand, On the right of Pingala Surya's queen Ragi is holding lotus bud in her left hand and right hand resting on her right thigh. On the left of Danda Surya's queen Nikshubha is also holding lotus bud in her right hand and left hand resting on left thigh. On both sides of Surya's head two seated male images may of Vidhyadhara.

These Sun-images testify the artistic excellence of Chandravati and its sculptors, Sun-images with mixture of northerner and southerner dresses prove that foreign influence on Sun sculpture was decreasing. This sort of dress can be seen in some Sun-images in Osian.<sup>9</sup> In addition to these images other Sun-images collected from Chandravati are placed in museum of Ajmer, Abu etc.

### References:

1. Ganguli, D.C., History of the Parmar Dynasty (in Hindi), Prakashan Kendra Lacknow, PP-211, 234
2. Jain, K.C. Ancient cities and Towns of Rajasthan, Motilal Banarasidas, Delhi, 1972, P-341-47
3. Ibid, P-343, 345 ; Arbudachalapradaakashina, P-43, quoted by K.C. Jain, Ibid, P-345
4. Tod, James, Travels in Western india, P- ; Gazetteer of Sirohi State, P- 298-299
5. Gazetteer of Sirohi State, P- 298-299
6. Ojha, G.H. Sirohi Rajya Ka Itihas, Rajasthani Granthagar, Jodhpur, 1999, P-41-42
7. Devta-Murti-Prakranama, Edited by- Vinayasagar, Prakrit Bharti Academy, Jaipur, 1999, P- 85
8. Shrivastav, Balram, Roopmandan, Rajasthani Granathar, 1992, P- 43, 128 ; Devta-Murti-Prakranama, Edited by- Vinayasagar, Prkrit Bharti Academy, Jaipur, 1999, P- 91
9. Kaliya, Asha, The art of Osian Temple, Abhinav Publications, 1982, P-118

## Significance of Devices and Symbols on Tribal Coins From Rajasthan

Dr. Yashvir Singh

The expression of social ethics, traditions and other aspects of life by means of devices and symbols has been natural feature of every society. Hindus are famous for making maximum use of symbolism in various aspects of their life.<sup>1</sup> In ancient Indian coinage we get stamping of a lot of symbols. These were used for explaining various aspects of life. Stamping of symbols was the easiest way for expressing the ideas or sentiments, so from very beginning it was evident to make use of symbols. The tribal coinage portray on them the symbols of their national diety, patron saints and their vahanas and objects peculiar to them as also the national standard of their tribe. While dealing with the devices and symbols on tribal coins J.N. Banerjea rightly suggests, "an obvious line of approach to the problem of identification of the symbols is to trace on them the rites, practices and beliefs of the people for whose use these coins were current. Sometimes it may also be possible to refer to the monumental representations of figures or devices closely resembling those appearing on the coins."<sup>2</sup> Therefore, the symbols may be regarded as indispensable source material for the socio-economic and religious history of the people who used the spices bearing them. Arjunyanas, Malavas, Sibis (of Madhyamika) and Uddehikas were the tribes of Rajasthan who issued their coins in early centuries before and after the beginning of Christen era.<sup>3</sup> Hence, the symbols depicted on these tribal coins are very significant for the socio-religious and cultural history of early Rajasthan. However, a correct interpretation of these devices and symbols is inevitable. Through the present paper an attempt has been made to focus light on the significance of the devices and symbols depicted on tribal coins from Rajasthan.

As we have already referred that the Arjunyanas, Malavas, Sibis (of Madhyamika) and Uddehikas were the tribes who arrested their independence in areas of Rajasthan in early centuries before

and after the beginning of Christen era. The coins issued by these tribes have a number of devices and symbols depicted on them. These are female figures, sacrificial post, tree-in-railing, bull, elephant, lion, nandipada, etc (Arjunayana coins)<sup>4</sup>, peacock, humped bull, stag, elephant, trident with axe, radiate sun, vase, chaitya, nandipada, palm trench etc. (Malava coins)<sup>5</sup> svastika, six picked hill with a nandipada, wavyline etc. (Sibi Coins)<sup>6</sup> and Ujjayini symbol, a tank with two fishes, tree-in-railing and bull, elephant, triangle-headed standard etc. (Uddhehika coins).<sup>7</sup> The interpretation of these symbols throw a flood of light on the various aspects of socio-religious and cultural history of early Rajasthan. The significance of these symbols and devices is discussed as follows :-

**1. Religion:-** A careful study of the relevant devices and symbols throw welcome light on the religious beliefs of ancient Rajasthan. The occurrence of trident and battle-axe, bull (with hump or without hump), sacrificial post points towards the theriomorphic representation of Siva and hence towards prevalence of Savasim. In the Visnudharmottara Purana the bull is said to be the Siva's mount and according to Matsyapurana Siva is said to be the Dharma in the shape of a bull.<sup>8</sup> His association with the bull may be traced back to Rg-Vedic period, when rituals almost invariably associated the animal with Siva. On the coins of Arjunayanas the bull appears before a curved object identified as Lingam by Allan.<sup>9</sup> Prof. J.N. Banerjee<sup>10</sup> thinks that the object appearing on the Arjunayana coin is a sacrificial altar and this identification seems more relevant keeping in view with the shape of the object. The device probably represents the Sulagava sacrifice with the bull before the yupa. The Nandesa Yupa Incription<sup>11</sup> of Sri Soma (Malava King) also points towards the Vedic sacrifice performed by Malavas. Nandipada is taken to be the footprints of Nandin, the vahana of Siva and the humped bull appearing with this symbol points towards the theriomorphic representation of Siva. A Malava coin shows a recumbent bull surrounded by a circle of dots.<sup>12</sup> The bull must have been intended to be a theriomorphic representation of Siva and the circle of dots most probably signifies the sacred character of the animal. Bull also occurs on the Sibi coins. But on the other side the bull shown standing before a yupa or sacrificial post should necessarily be taken as the animal ready for sacrifice. The depiction of bull before a yupa points toward bull sacrifice. So, it can be fairly

said that worship of Siva in human form or his attribute was prevalent in Rajasthan in pre-Christian and the early centuries of the Christian era.

Further, the depiction of female diety on Arjunayana coins points towards the worship of goddess Lakshmi or Durga-Lakshmi by the tribe. The depiction of lion on Malava coins further assists the worship of goddess of wealth and fortune by the people of ancient Rajasthan. She was also represented by the tribes in both theriomorphic and anthropomorphic form. The vase and srivatsa symbols depicted on the tribal coins of Rajasthan further attests the above statement. Furthermore, the elephant motif appearing on the Malava and Arjunayana and Uddheika coins symbolizes the digpalas. In that capacity the animal represented the wind and the rain and was therefore an ancient symbolic element in the water cosmology of the Vedic literature.<sup>13</sup> It is also supposed to be Vahana of Vedic god Indra, the triangle-headed standard depiction on Uddheika coins probably represents the Indra-dhvaja which was sacred to Indra. So, we can conclude that worship of Indra was also prevalent in early Rajasthan.

Fish (or Makara) is the symbol of water or more specifically the essence in the waters, 'the principle of life'. As dispensers of life and fertility<sup>14</sup> the spirits of water commanded great respect. The depiction of fish on some rare Uddheika<sup>15</sup> coins once again throw light on the sacredness of water. The depiction of peacock the vahana of Karttikeya on some Malava coins point towards the worship of Karttikeya in early Rajasthan. Further, The depiction of vase, solar symbol, svastika, chakra, six arched or three arched hills also have religious significance and sanctity. Further more, the most popular symbol tree-in-railing points towards the popularity of tree cult in India. The antiquity of tree cult in India goes back to days of Indus civilization. The practice of worshipping tree-spirits is described in the Pali Buddhist Jatakas<sup>16</sup> and also in Brahmanical texts like Manu-Smriti.<sup>17</sup> Trees are regarded as the abode of Gods and sometimes as Gods personified. Hence, the tribal people, irrespective of their personal faiths and beliefs, showed their veneration for trees and possibly for that matter they considered the motif as an object of worship. On the other side the trees were also believed to have fertilizing power<sup>18</sup> and the tree-spirits were especially venerated because they made the crops grow.

Lastly, It can be fairly said that the various symbols depicted on tribal coins from Rajasthan throw welcome light on the various religious faiths and beliefs, rites and rituals, thoughts and ideas of various ethnic groups prevailing in early Rajasthan.

**2. Fauna and Flora :-** The various devices and symbols on tribal coins also throw welcome light on the fauna and flora prevailed in early Rajasthan. We find representations of bull, lion, elephant, fish, stag, peacock in the fauna section and tree-in-railing, palm tree etc in flora section on Arjunayana, Malava, Sibi and Uddheika coins fleshing light on the existence of animal and plant world flourishing in various parts of early Rajasthan. So, the symbols gave us an idea regarding the importance of nature in human development.

**3. Conservation of Natural Wealth:-** The various symbols like, tree-in-railing, six arched hills, zig-zag line like a river, circles alongwith symbols drawn from animal and plant world on tribal coins reveals that people of early Rajasthan had love for nature and natural phenomena. The importance of water as 'principle of life' and importance of tree as 'fertilising power' discussed earlier in the paper attests that the people had love for nature and they depicted these natural symbols on their coins for giving a message of conservation of natural wealth. This idea of conservation of natural wealth is the need of the hour even today and hence is of great importance.

**4. Knowledge of Geometry:-** A close scrutiny of the coins reveals that a large number of symbols from simple geometric designs (triangle-headed symbol, circles, dotted border, wavy line, yupa etc.) to elaborate ornamental patterns are depicted on the tribal coinage.<sup>19</sup> So, it can be said that tribal people of early Rajasthan had a geometrical knowledge.

**5. Art and Architecture:-** The depiction of various symbols on tribal coins from Rajasthan as discussed above also throw welcome light on the artistic nature of the people. They knew the art of geometrical designing, sculptural art, art of writing and inscribing alongwith die making. A railing encircling a tree was another common architectural motif seen on the coins and art of ancient India. Sometimes this motif served as decorative pattern on cast and tribal coins.<sup>20</sup> The Audumbara and Yaudheyas coins may be cited in this regard. Since the tribal people of early Rajasthan

are contemporary to these tribe, so it may be concluded that they had also the knowledge of architecture.

**6. Socio-Cultural Relationship with Contemporary Tribes:-** The devices and symbols depicted on tribal coins from Rajasthan closely resembles with the devices and symbols of other contemporary tribal republics flourishing in Northern and Northern-Western India. So, it can be fairly said that peoples of early Rajasthan had close affinity as well as socio-cultural relations with other neighboring people. It is interesting to add that before migration to Rajasthan the tribes like Malava and Sibis were residing in parts of present day Punjab-Haryana region, so it is natural that they were practicing the same socio-religious and cultural traditions. Hence, they had close affinity with other contemporary tribes.

Lastly, it can be concluded that devices and symbols found on tribal coins from Rajasthan are indispensable sources for the socio-religious and cultural history of early Rajasthan. They throw valuable light on the different faiths and beliefs, rites and rituals, thoughts and ideas of the contemporary ethnic groups. They also furnish new light on the importance of the nature and natural phenomenon's felt by tribal people for smooth living and hence giving a message of conservation of nature which is even today a big challenge for us. Further, the close affinity of tribal people of Rajasthan with their neighbors is a matter of great socio-religious and cultural importance which gives again a message of socio-religious and cultural unity which is the need of hour. So we can learn a lot from symbols and devices depicted by tribes of early Rajasthan. Hence the devices and symbols on the tribal's coins from Rajasthan are of great significance.

## References

1. Sharan, M.K. Tribal Coins - A Study, p. 133
2. Louis De La Vallee Poussin Memorial Volume, Ed. N.N. Law, Calcutta, an article by J.N. Banerjea, pp 279 ff.
3. Jai Parkash Singh and Nishar Ahmed (Ed.), Seminar Papers on the Tribal Coins of Ancient India, p.27
4. Handa Devender, Tribal coins of Ancient India, pp. 19-21.
5. Ibid; p.84
6. Jai Parkash Singh and Nishar Ahmed (Ed.), op.cit; p.39
7. Chakraborty, S.K., Indian Numismatics, p. 138
8. Cf. Swati Chakraborty, Socio-Religious and Cultural Study of the Ancient Indian Coins, p.48.



9. Allan, J., Catalogue of Coins of Ancient India, p. 121; Pl. XIV, II
10. Banerjea, J.N., Development of Hindu Iconography, p. 109
11. Epigraphia Indica, XXVII, p. 252
12. Handa Devender, op.cit; p.79
13. Swati Chakraborty, op.cit; p.350
14. Frazer, Golden Bough, The Magic Art, Vol.-II, p.156
15. CCAI, Pls, IX, 22, X.4,20
16. Jatakas, Nos. 5, 109, 307, etc.
17. Manusamriti, III. 88
18. Frazer, Golden Bough, op.cit; p.29
19. Pranabananda Josh, Coins and Culture of Early India, p.22
20. CCAI, Pl, XXVIII, 4-10, 12-13, 18

## ***Rajputra* : A Feudal Lord in Early Medieval Rajasthan**

**Rashmi Upadhyaya**

The Rajput clannish monarchies of early medieval period were maintained by an organisation of feudal chiefs. A large number of titles of feudal chiefs are mentioned in the inscriptions; however it is difficult to determine the position and status of these feudal lords in a hierarchy owing to the variations from region to region in feudal structure of early medieval period. Origin of the Rajputs has remained one of the vexed questions creating dispute amongst historians.

There is a consensus of opinion regarding the origin of term *rajput* from Sanskrit *rajputra*, meaning literally 'a son of the king', the Prakrit forms of which are variously known as *rawat*, *rauta*, *raul* and *rawal*. Despite the controversy regarding the origin of the Rajput clans the transformation in the usage of this term during our period from the 'real son of the king' to the petty landholding chiefs remains an established fact. These landholding chiefs could be the actual sons of some kings, nobles, sons of the nobles, and the feudal chiefs or officials holding administrative posts.

Passing to the textual evidences regarding the connotation of term *rajputra* one should first cite the use of the term in *Arthashastra* of Kautilya in its literal sense.<sup>1</sup> In *Harshacharita* (7th century) the same term appears to have been used in the sense of a noble or landowning chief.<sup>2</sup> In *Kadambari* also the term is used for the persons of noble descent, who were appointed by the king as local rulers. Hence, in the capacity of local rulers they might have had naturally governed a large portion of land under them and thus played an active role in political and administrative system of the state.<sup>3</sup> In *Rajtarangini*, the term is used in the sense of a mere landowner, acclaiming the birth from the thirty-six clans of the Rajputs.<sup>4</sup> *Aparajitprachha* of Bhatta Bhuvanadeva, a work of the twelfth century, which describes the composition of a typical feudal order, refers to *rajputras* as constituting a fairly large section of petty

chiefs holding estates, each one of them holding one or more villages.<sup>5</sup> Besides, holding the estates as feudatory chiefs, the territories were also conferred upon the *rajputras* as governors or proprietors. *Tilakmanjari* of Dhanapala refers to them as recipients not only of villages but of *bhuktis* and *nagaras* also from the royal princes in accordance with their own merit.<sup>6</sup> The efficiency and trustworthiness of these *rajputras* as governors of these territories is reflected from the sentiments of the royal princes feeling themselves free from anxiety after making such a distribution or allotment.<sup>7</sup> *Samaraicchakaha*, too, provides the similar evidence of the distribution of *gramas* (villages) *akaras* (mines), and *mandalas* (towns) among the *rajputras*.<sup>8</sup> *Kharataragacchabrihadgurvavali* of Jinasena Suri mentions to *rajputras* as upholders of several *janapadas*, towns and villages.<sup>9</sup> In *Prabandhacintamani* of Merutunga one Bhuyaraj, a king of Kanyakubja is referred to have become a recluse after appointing a Paramara *rajputra* as governor of his territories.<sup>10</sup>

Military function was certainly the foremost duty of these *rajputras* in the capacity of both an administrator and a soldier. Their appearance as mercenary soldiers is proved as early as the seventh century AD from the reference in *Bakshali Manuscript* in North-West Frontier Province<sup>11</sup> and subsequently from *Chachnamah* in Sindh in the eighth century AD.<sup>12</sup> The military character of the *rajputras* also became apparent from the documents of *Lekhpaddhati* (a collection of the models of documents from Gujarat and Western Marwar region) and from the military grants provided by inscriptional evidences. The assignment of land to *rajputras* as feudatory chief on conditions to perform military and other services to the overlord is a foremost prospect to confirm their status according to *Lekhpaddhati*. Regarding the military obligation, one of the charters of a *ranaka* (*ranakapattala*) in the above mentioned text provides us the details that a *rajputra* applies to a *ranaka* for a fief and when, he is granted a village, he is required not only to maintain law and order within it and collect revenues according to the old just practices but also to furnish hundred foot-soldiers and twenty cavalrymen for the service of his *ranaka* overlord at his headquarter.<sup>13</sup> The fact that he was not allowed to make gift of uncultivated land to temples and Brahmans indicates his right over the land granted to him, which he could sub-infeudate

to others.<sup>14</sup> Sometimes, the *rajputras* were also provided cash endowment for the supply of military soldiers in the service of the overlord.<sup>15</sup> In some such cases, the rules for the providence of military service were so strict that the amount was required to be given after seeing the number of horses and infantrymen and not on faith.<sup>16</sup> In addition to the military service rendered to his immediate overlord *ranaka*, the *rajputras* were also asked to pay the revenue in both cash and kind on the land assigned to him for cultivation.<sup>17</sup> The revenue was received by him from cultivators in return for providing protection to them from wrongdoers, thieves and rebels by safeguarding the roads within the boundary of the estate maintained by him.<sup>18</sup> The amount of the revenue was strictly to be paid within the specified time limit. If the *rajputra* failed to do so it was not to be paid without a fixed amount of interest imposed as late payment.<sup>19</sup> None of the literary or inscriptional sources provides the evidences of such a contractual obligation on the part of *rajputra*.

The literary evidences are also confirmed by epigraphic records. The two copper plate grants of the early Guhilas dated respectively in Hasha Year 48 and 83 traced from Dungarpur state of Rajasthan are of significant interest. The first of the two grants introduces a feudatory ruler named Bhavihita entitled with the title *samadhigatapanchamahashabda* belonging to the Guhila dynasty in connection of the grant made by him. A list of the subordinates, who were informed about the grant, has been provided at the end. The list included *rajan*, *rajputra*, *rajasthaniya*, (viceroy) *pratihara* (officer in charge of gate of palace or capital), *pramatri* (an officer in charge for measuring the king's share of grain), *baladhikrita* (commander of forces), *cauradharanika* (police officer to deal with cases of theft), *dandapasika* (head of a group of policemen), *saulkika* (collector of custom duties), *pratisaraka* (collector of tolls) etc. in a hierarchical order.<sup>20</sup> The second grant made by Babhata of Guhila family also mentions the subordinate officials in the same manner but the terms *rajan* and *rajputra* are being replaced by *nripa* (king) and *nripasuta* (king's son). The military officials *sandhivigrahika* and *senadhyaksha* are mentioned in place of *baladhikrita* while compared with the earlier grant. It is mentioned that the taxes in cash, share of grains and the periodical offerings are stated to be payable for the king. The writer of the grant is stated as *sandhivigrahika* Pahika and *dutaka* is named as *rajputra*

Ghoraghatsvamin, who according to the editor of the grant may be a son of Babhata.<sup>21</sup>

The above inscriptions reveal certain points of significant interest. Firstly, The Guhilas were serving as feudatory chiefs in Rajasthan during the seventh century. Secondly, *rajputra* was a sub feudatory next to *rajan* performing the administrative functions just like the other officials mentioned in the above grants. It seems that under the feudatory Guhilas the position of these *rajputras* was not so much significant. They were neither given any right to make the approval to the grant nor to receive the amount of revenue or taxation as stated in the grant.

The position of the *rajputras* was though distinct under the Chahmanas as the title was usually applied to the actual sons of the reigning kings. Larlai Stone Inscription (VS 1233), which refers that during the reign of *maharajadhiraja* Sri Kelhanadeva ruling at Nadula the two Chahamana *rajputras*, Abhayapala and Lakhanapala, the sons of Kirtipala were the proprietors (*bhoktri*) of certain landed estate. The mode of reference appears to denote that the *rajputras* were merely governing the place rather than holding it as an enjoyable property. The same inscription informs us that the two *rajputras* made a grant conjointly with queen Mahibaladevi in the presence of village *pancha* for celebrating the festival of god *Shantinath*. The grant consisted of one *haraka* from *araghatta* or machine well belonging to a village Bhadiyauva, which was probably included in the landed estate governed by them.<sup>23</sup> Instances are not rare when *rajputras* received land-grants in remuneration of certain services either military or administrative, which they were bound to perform under all conditions. From the Nadol Plate of VS 1218 it is known that *rajputra* Kirtipala was provided a fief of twelve villages appertaining to Nadulai by his father *rajakula* Alhanadeva and *kumara* Kelhanadeva.<sup>24</sup> It is further informed that the same *rajputra* granted a yearly sum of two *drammas* from each of twelve villages of Nadulai and ordered this money to be paid in the month of *bhadrapada* of every year. At the end of the inscription there are the sign manuals (*svahasto yam*) of *maharajputra* Kirtipala.<sup>25</sup>

Under Chahmanas, the instances are there of the *rajputras* and *maharajputras* serving as governors. The Chahmana king Gajasimha appointed his son *maharajputra* Chamundaraja as

governor of Mandavyapura in AD 1170.<sup>26</sup> Similarly, king Kelhana appointed his son Vikramasimha to the same post in AD 1180.<sup>27</sup> Again, the governorship of Mandavyapura was assigned by Kelhana to his another son Sotala in AD 1185.<sup>28</sup> The Chahmana princes were also given fiefs (*seja*) for their personal enjoyment. However, these fiefs were not regarded as their personal property, as sometimes the central government exercised its power of assigning revenues out of these fiefs.<sup>29</sup> The right of alienating land out of their fiefs was not usually extended to these Chahmana *rajputras*. But, often, they appear to have the right of assigning small portion of the land or its income as a gift for charitable purpose without the king's permission. Thus, Bamnera Plate of Kelhana (VS 1220) informs us that during the reign of Kelhana, the son of *Maharajadhiraja shri* Alhanadeva of Chahamana family, a grant of land was made to a Brahman named Narayana at village Koretaka (Korantaka in Jodhpur state Rajputana) by Ajayasiha, son of *maharajputra* Kumarasiha on the occasion of solar eclipse.<sup>30</sup> The grant was approved by the sign manual of *rajputra sri* Kirtipaladeva.<sup>31</sup> This Kirtipaladeva is identified as younger brother of Kelhana who is known from the Nadol plates dated VS 1218. The present grant also makes it clear that *rajputra* Kirtipala enjoyed a share in the administration of the kingdom during the reign of Kelhana, as his sign manual are specified in the grant. The second Bamnera plate dated VS 1223 registers a grant of *Maharajadhirja sri* Kelhanadeva consisting of a well with its treasures and trees located in the property (*seja*) of *rajputra* Ajayaraja in the same village. The donee is the same as in the preceding grant. The approval to the grant is made by sign manual of Kelhanadeva.<sup>32</sup> The grant makes it clear that *rajputra* Ajayaraja in whose property the well existed was the same as Ajayasiha, son of *maharajputra* Kumarasiha of the earlier grant. It is also apparent that *rajputra* Ajayasiha or Ajayaraja was serving as a feudatory chief governing the estate while Kelhanadeva was ruling and his younger brother *rajputra* Kirtipala was assisting him in all affairs of administration as viceroy. Another undated Bamnera Plate refers about the grant of a well (*dhiko*) to the same brahman at the same village by the same Ajayasiha on the occasion of *devautthapani ekadashi* during the reign of Kelhanadeva. Like the earlier grant Kumarsiha is referred as *rajputra* while Ajayasiha is not mentioned with any title.<sup>33</sup>

From these grants it becomes clear that under the Chahamanas the *rajputras* also worked as feudatory chief or officials to govern the functions of the landed estates under the strict control and supervision of the king and the viceroy. Such *rajputras* were apart from the *rajputras*, who belonged the ruling clan of the Chahamanas as was the case with Kirtipala.

Perhaps, the extension of the fiefs of these *rajputras* depended either on the merit of the prince or on the circumstances. Sometimes, a number of villages were assigned as fief, as was the case with the Chahmana prince Kirtipala, who enjoyed twelve villages as fief,<sup>34</sup> while, sometimes only a single village was conferred as a fief to two princes as was the case with *rajputras* Lakhanapala and Abhayapala, who had enjoyed only one village as fief in AD 1177.<sup>35</sup>

Sometimes, the *rajputras* under the Chahamanas also gave their approval to judicial orders regarding their own estate. Thus, Kiradu stone inscription (near Badmer, Jodhpur State) of VS1209 of reign of Kumarapala specifies the scale of punishment for brahmins, priests, ministers and others. The order to this effect was issued by *maharaja* Alhanadeva and the approval to it was given by *maharajputra* Kelhana and Gajasimha. They were also provided with the military generals and probably other such officials for safeguarding their own estates.<sup>37</sup>

Among the scions of royal family, apart from the sons of the reigning kings, who held significant position in the Chahamana state, mention may be made to *rajputra* Jojalla, the maternal uncle of Nadol king Samarsimha and *maharajputra* Vatsaraja of Singara family. In Jalor stone inscription of *Maharaja* Samarsimhadeva of VS.1239 Jojalla is referred as *rajyacintaka* i.e. supervising or pondering over the problems of the administration.<sup>38</sup> Another *rajputra* Sallakshanapala, a scion of the royal family is known to have possessed the important post of *mahamantrin* under Vighararaja of Chahamana dynasty.<sup>39</sup> Sevadi (Samipati of Chahamana records and possibly mod.Sadadi in Desuri district, Godwad division, Jodhpur state) stone inscription of Ashvaraja VS 1167 records that while Asvaraja was the *maharajadhiraja* and Katukaraja was *yuvaraja* or heir apparent, a grant was made by *rajputra* Uppalaraka, who was the great master of stables (*maha-*

*sahaniya*) for the daily worship of Sri Dharmanathdeva in the temple of Samipati. It consisted of barley corn equal to one *haraka* for every one of the wells (*araghatta*) belonging to the four neighbouring villages.<sup>40</sup> In the light of such evidences, the assumption of *rajputras* as the progeny of the kings and chieftains and the continued use of title even in the subservience of other kings, who were served by them after losing their own estates does not seem inappropriate.<sup>41</sup>

*Rajputras* are also known to have worked for the welfare of state in the capacity of feudatory chiefs. Mangalana (Jodhpur state) stone inscription of Jayatrasimha of VS 1272, which records the construction of a step-well by *mahamandalesvar sri* Jayatrasimhadeva of Dadhicha (Dahiya) family of the Rajputs, while Vallanadeva was ruling over Ranthambhor.<sup>42</sup> The inscription also refers to Jayatrasimha as *maharajputra* living in Mangalanaka under Vallanadeva. He is also known to have levied certain cesses on each plough used and each oil mill worked within the limits of village. The collected cesses were to be utilized to provide food in charity (*sadavrata*) to the hungry passersby and light to the wayfarers.<sup>43</sup>

Some of the *rajputras* serving as feudatory chiefs might have been successful in establishing their own states after declaring themselves as independent rulers. An inscription from Tawri dated VS 1330 from Sirohi Tehsil found in a Jain temple on a pilaster on the right wall inside the main entrance mentions one *rajputra* Vijada of Devada Chauhan dynasty. This Vijada is identified as Vijada or Dasasyandana described as lord of Marusthali *mandala* in an inscription from Mt. Abu and regarded as the founder of the Devada kingdom. It is clear that *rajputra* Vijada in the thirteenth century was serving as feudatory chief but the name of the ruling dynasty which he was serving is not known.<sup>44</sup>

The above discussion assures that the person with the title of *rajputra* had a great importance in the political, religious, economic and social spheres, though it may have its regional variations. But, our evidences suggest that *rajputra* in general was ranked lower than *ranaka* in feudal hierarchy. Whenever the *rajputras* appear to be the sons of the reigning king, their position was supreme in their territories but may be deemed as equal or inferior to the *ranakas* in other regions.

## References:

1. *Arthashastra* of Kautilya, ed. T. Ganapati Shashtri (text), Delhi, 1984.
2. V.S. Agarwal, *Harshacharita Ek Sanskritik Adhyayana*, Patna, 1953, p.93, also see fn.1.
3. *Kadambari*, (text) ed. Mohandeva Pant, Part I, Delhi, 1976, p.21.
4. *Rajtarangini*, tr. M.A. Stein, Delhi, 1960. Bk. VII, p.297 (V.360) & 393, (VV.1617-18).
5. *Aparajitprachha* of Bhuvanadeva ed. Popatbhai Ambashankar, Baroda, 1950, p.196, V.34.
6. *Tilakmanjari*, ed. Pt. Bhavadatta Shastri & K.P. Parab, Nirnayasagar Press, Bombay, 1938, p.103.
7. Ibid.
8. *Samaraiicchakaha* quoted in S.R. Sharma, *Society & Culture in Rajasthan*, (c.700-1200), Delhi, 1996, p.67.
9. *Kharataragacchabrihadgurvavali*, Jina Vijaya Muni, Bombay, 1944, p.85.
10. *Prabandhacintamani* of Merutunga, ed. Jinavijaya Muni, Singhi Jain Granthmala, No.1, p.11.
11. S.P. Gupta, "Reconstructing the Political & Economic Profile of Rajasthan", Presidential Address, *PIHC*, Aligarh, 1994.
12. *Chachnama*, Vol.I, tr. Mirza Kalichbeg Fredunbeg, Delhi, 1979; also see Irfan Habib, "Peasants in Indian History," *PIHC*, 43rd Session, 1982, p.23.
13. *Lekhpaddhati*, ed. C.D. Dalal and G.K. Shrigondekar, G.O.S., Baroda, 1925, p.7.
14. Ibid, pp.9-10. 15. Ibid, p.13.
16. Ibid. 17. Ibid, pp.9-10
18. Ibid. 19. Ibid.
20. *Epigraphia Indica* (Hereafter *EI*), XXXIV, pp. 170-71.
21. Ibid, pp.173-74. 22. *EI*, XI, p.49 f.
23. Ibid, p.49. 24. *EI*, IX, pp.66-70.
25. Ibid, also see *Indian Antiquary*, XL, pp.145-46.
26. *Journal of Asiatic Society of Bengal* (Hereafter *JASB*), XII, p.104.
27. Ibid, X, p.209. 28. Ibid, XIV, p.104.
29. P.B. Udgaonkar, *The Political Institutions and Administration of Northern India during Medieval Times*, (AD 750-1200), Delhi, 1969, pp.76-77.
30. *EI*, XIII, p.208. 31. Ibid.
32. Ibid, p.208. 33. Ibid, p.211.
34. Ibid. 35. *EI*, XI, p.50.
36. Ibid., pp.43-46. 37. *JASB*, XII, pp.102-3.
38. *EI*, XI, p.45.
39. Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, Delhi, 1959, p.198.
40. *EI*, XI, pp.28-30.
41. See J.N. Asopa, *Origin of the Rajputs*, Delhi, 1976, pp.6-7.
42. *Indian Antiquary*, XII, 1872-1933, pp 86-87.
43. Ibid.
44. *Annual Report on Indian Epigraphy*, 1962-63, Introduction, p.24.

## *Ahhichhatragarh Qila of Qasba Nagaur: A Specimen of Cultural Heritage*

**Dr. Jibraeil**

Nagaur was an important part of the Marwar region in the state of Rajasthan and was one of the most historic settlements, and situated on the Jodhpur-Bikaner and Ajmer-Bikaner route (see Map-I). It is the chief town of the same name in Jodhpur division of Rajasthan and lies in the latitude 27°12'N and longitude 73°44'E.<sup>1</sup> Nagaur was a place of great antiquity,<sup>2</sup> and being situated in the centre of Rajasthan; it shares its border with several other districts of the state. On the north it is bounded by Bikaner and Churu, on the east by Sikar and Jaipur, on the south by Ajmer and Pali and on the west by Jodhpur.<sup>3</sup> It is known in history as an important centre of Jainism<sup>4</sup> and Sufism<sup>5</sup>. After the defeat of Prithviraj-III in 1192 by Mohammad Ghori, it passed into the hands of Muslim rulers, who governed this place through a number of Turkish governor from 1195 AD onwards<sup>6</sup>. According to Isami's *Futuh-us-Salatin*, Qazi Hamiduddin Nagori was appointed as *qazi* (Justice) of Nagaur, after the second battle of Tarain (1192). Nagaur was also mint town under the Muslim Sultan of Delhi<sup>7</sup>. According to the different sources, minting of gold,<sup>8</sup> silver, and copper were much more familiar in the period of Sultan Shamsuddin Iltutmish<sup>9</sup>, Ghiyasuddin Balban<sup>10</sup> and Mughal emperor Akbar<sup>11</sup>. Firoz Khan Son of Shams Khan Dandani, the founder of Khanzada Dynasty of Nagaur was also involved to mint the *tanka* coin at Nagaur in A.D.1433.<sup>12</sup> Apart from the above mentioned things, it was the great centre of many heritage monuments i.e. Six Gates (Jodhpuri, Ajmeri, Nakash, Mahi, Naya and Delhi darwaza)<sup>13</sup>, several temples, mosques and shrines, Tombs, water bodies etc of the town<sup>14</sup>. The most important among them is the *Ahhichhatragarh qila* also known as the Fort of Nagaur. The above information shows the importance of Nagaur in Medieval Rajasthan.

An attempt has been made in this paper to study the secular and religious monuments with special reference to water bodies of

the *Ahhichhatragarh Qila* which is considered as a cultural heritage of medieval Nagaur. The detail descriptions are mentioned below:

### ***Ahhichhatragarh Qila (Nagaur Fort)***

It is believed that the Nagaur Kingdom was established by the Nagavanshi Kings who built the mud fort around this hillock during the 4<sup>th</sup> century AD<sup>15</sup>. The strategic location of Nagaur attracted several rulers resulting in a constant tussle by these rulers for control over this key place. According to the Persian sources i.e. *Tabqat-i-Nasiri* and *Tarikh-i-Farishta* that Mohammad Bahlim who was appointed by Bahram Shah of Ghazna (AD. 1117 – 1158 AD) as the governor of his possessions in Hindustan declared himself independent of the sultan Bahram and moved southward, captured and fortified the town Nagaur and made it the seat of his power. He initiated the building of the present fort (AD 1119-1121 AD) in place of the earlier mud Fort<sup>16</sup>. According to *Khyat*, a Chauhan ruler Someshwar carried out modifications of the Fort wall in VS 1211/AD 1154 and added the structures presently identified as temples<sup>17</sup>. Sources say that the Nagaur complex has a long history relating to its constructions and time by time new buildings were placed over the old. The Fort complex took its almost the complete shape during the second half of the 18<sup>th</sup> century A.D. The fortress was encircled by a deep broad moat and the Fort wall itself consists of the two-tier defense wall. The height of the first rampart is 25 feet, while 50 feet is the height of the second rampart from the level of the land<sup>18</sup>. Fort has six beautiful Poles (Sire Pol-main entrance, Bicholi Pol, Katcheri Pol, Suraj Pol, Dhupi Pol and Raj Pol, see photographs)<sup>19</sup>. There are 30 bastions<sup>20</sup> in the Fort wall, which accommodate various activities, and there is an Emergency Gate, called western exit, which has now been closed<sup>21</sup>. The land area of 147,882 sq. meters. Rises in the central part where the palace complex is located<sup>22</sup>. According to *Nagaur Qila Ri Vigat*, the rampart of the Fort is 4945 *Gaj*. Long and its breadth is 4499 *Gaj*<sup>23</sup>. While the measurement of the Fort is explained as 499 *Gaj* is in length, 494 *Gaj* in Breadth and 25 *Gaj* is its Height<sup>24</sup>. All most all the palaces are made of sand stones and at least three of them have paintings on the walls<sup>25</sup>. Besides the main palaces, there are more than 50 small and large secular and non-secular buildings, including water bodies as well<sup>26</sup>. The details regarding the existing monuments of Nagaur Fort are being mentioned below:

The Fort Complex is entered through Gandhi Chowk, formerly known as Chandani Chowk (Its measurement; East-West was 64 *Gaj* in Breadth and North-South was 104 *Gaj* in Length), which was an open area for the purpose of the people gathering<sup>27</sup>. To easy understanding whole paper is divided into two parts. Part-I discusses the secular monuments; Part-II the religious buildings and Part-III the water bodies of the Fort.

### **I. Secular Monuments**

**1) Akbari Mahal:** During the reign of the great Mughal emperor Akbar, his Nagaur governor Khan-i-Jahan Hussain Quli Khan built marvelous palace in the Fort in the year of 1565-66 AD.(H.973) known as Akbari Mahal<sup>28</sup>. This palace is the foremost amongst the other structures. Its beauty is known for the paintings and mirror works. A pool with seventeen fountain jets to its south portion indicates that this palace was also a place of great beauty for its water system<sup>29</sup>.

**3) Deepak Mahal:** We do not have the exact date of its construction but one thing is very clear and visible that is the style of construction in which the palace is surrounded by walls with the hundreds of arched niches, for burning lamps (*Diya/Deepak*), and two *Saals* are constructed at its front to the north and the south sides. The main entrance is opened into the Garden of Akbari Palace<sup>30</sup>. This palace is called as 'Palace of Lamps'.

**2) Bakhat Singh Mahal:** It is a double storied building and known for its inner beauty, tallness and is remarkable for the ingenious planning of space, connections and services. This building seems to be the latest amongst all the others and was built in the mid 18<sup>th</sup> century<sup>31</sup>.

**3) Hadi Rani Mahal:** It is three storied building with the use of beautiful Nagaur style painting on the walls. Carved stone *jaalis* on the facades enclose internal spaces as terraces, creating private for the queens. The upper floors were the main living spaces, having south and north open, for the wind to blow through<sup>32</sup>, and using as the cross ventilation of the Palace.

**4) Abha Mahal:** It is one of the finest structures in the Fort of Nagaur, which has unique water supply system including excellent painting on the walls<sup>33</sup>.

Besides the above, the other secular monuments in the Fort

are; Ranvaas, Mukam Singh Mahal, Kutcheri, Guard Quarters/ Rooms, Saavan and Bhadon Chhattaries, Pheel Khana, Hammams, Gardens and many more Barahdaries in the form of squares and rectangles and many poles<sup>34</sup> etc.

## II. Religious Buildings

### Temples

1) **Fort Wall Temples:** The Fort compound is enriched by the presence of quite a few temples within the boundaries of it. Interesting thing is that many of the temples are constructed with the use of the bastions of the Fort wall, such as; Bhairon, Ganesh, Shiva and Devi. These temples are situated on top of the bastions in the S-W, and therefore, they are easily visible from a greater distance. Due to its visibility, these temples thus served as places of worship as well as Watchtowers.

2) **Shri Krishna Temple:** It is constructed in the mid of the 18<sup>th</sup> century AD. It had silver idol of Lord Krishna and the beautiful paintings are seen on the wall of the Temple.

### Mosque and Dargahs

1) **Shahjahani Mosque:** During the reign of the Mughal emperor Shahjahan, his *Sipehsalar* Mahabat Khan built this mosque in the Fort in A.D.1631. This is mentioned in the form of an inscription stone at its entrance<sup>35</sup>. This mosque structure does not appear like a mosque from the outside, as there is no dome over the prayer place. However, it is oriented on a *Kiblah* axis. A covered *Mihrab* is on the west wall<sup>36</sup>.

2) **Shrine of Khataoo Sayeed:** It is situated in the Fort just inner side front of the main entrance Gate<sup>37</sup>. A Shrine Peer Kawaas Khan is also situated just attach to the middle Pol of the Fort<sup>38</sup>.

Apart from the above mentioned secular and religious monuments, this Fort has good water harvesting system and six general wells including one big well and an excellent Baori is also constructed in the Fort the details are mentioned in part-III.

## III. Water Structures

The water is originated and it is a universally accepted truth and the existence of all living beings is completely dependent on the availability of water. The availability of potable water as well as for the daily cores of a human being has been the greatest problems of

the desert and Rajasthan is no exception. So, in the context of the deserts of Rajasthan, Nagaur is no exception in addressing the concerns of water. Today's most burning problem is the harvesting of rain water most of which goes waste. In case water is not conserved the water table will go on receding and all create insurmountable adverse conditions in future.

The rulers of Rajasthan especially Marwar were very much aware of the water scarcity and the famines which followed scanty rainfalls. Therefore, the provisions were made to harvest rain water through firstly the *Nadis*, followed by the *Nallas*, *Talabs*, *Baoris*, *Jhallaras* and Wells<sup>39</sup>. During medieval period *qasba* Nagaur ingeniously planned around eight lakes, all outside the Fort, developed by various queens and kings and named after or by them as: *Samas/ Shamsi Talab*, *Ginnani Talab*, *Bakht Sagar*, *Pratap Sagar*, *Zada Talab*, *Lal Sagar*, *Shakkar Talab* and *Dulyon Talab*.<sup>40</sup> Of these, the *Ginnani Talab* is inside the city wall<sup>41</sup>.

According to the locals and the authors of the *Architecture of a Royal Camp*, water flowed down the slopes of the city to the immediate catchment's area of the lakes. Water was actually drawn from the many of the lakes to supply the fort moat (i.e. *Shams Talab* was connected to the moat around the Fort), using the conventional system of lifting. Thus lifted water was guided to flow through a system of double conduits, laid one above the other. The lower one was an earthen pipe of 15 cm. diameter while the upper one was a U-shaped channel in lime plaster. Both these conduits were the main source of water to the palace complex.<sup>42</sup> The lakes also brought climatic, aesthetic and ecological relief. The city's drainage system comprised of open drains, water being carried down the slopes away from the city centre.<sup>43</sup>

Our survey team surveyed the area and measured the *Shamsi Talab* and prepared its plan (see plan of *Shamsi Talab*) by Mr. Zameer Ahmad, draftsman of our Department. The main inlet is in the south-west-direction of the *Talab* and interestingly we have explored about the overflows of *Shamsi Talab*. The main inlet of *Talab* takes place as outlet when *Talab* overflows its rain water and was being gone into the moat of the Fort (see Plan-III). Mr Faiz Habib, Cartographer, Department of History, AMU, Aligarh, prepared a Contour map to verify the level of the *Shamsi Talab*

with the level of the moat of the Fort from the sea level<sup>44</sup> (see Contour Map). The height near *Talab* is of the 295mts while the height level of the Fort is 303mts including 50 feet height of the rampart of the Fort. It means that if we convert 50 feet into mts, it will come to 15.24 mts. Now the height of the moat of the Fort will be 287.76 mts (303-15.24mts). It means the picture is now very clear that the slope of the *Shamsi Talab* was towards the moat of the Fort and it is now proved that the source of water of the Fort at least was *Shamshi Talab* (Plan of Slope of *Shamsi Talab* towards the Nagaur Fort). In our next visit we will cover the position of the rest *Talabs* and their slopes<sup>45</sup>.

In spite of scarcity of water in the area of Thar desert, the periphery as well as the inside of the Nagaur Fort has made most advantageous use of water resources adding significantly to the equality of life in the palace complex. The entire structure of spatial organization has correspondingly optimized water system at the various scales of court spaces. In this regard the central palace and garden have more importance as compare to the other locations like; open area (*maidan*), court of *sarais* and *Hadi Rani Mahal* etc. Six wells and a *Baori*, were the main source of water in the Fort its details, photographs and plans are given below:

### Wells

The information about wells located in the Fort can be summarized as follows:

**Well No.-1:** It is located on the southern bastion no.3 of the Fort rampart<sup>46</sup>. It is built in dressed stone, measuring 1.8 x 1.2 meter rectangular shape and more than 23 meter deep. Water was lifted from this well, passing through tanks and channels and supplied to an overhead aqueduct wall which finally fed and fill up the overhead tanks of *Abha Mahal* of the Fort (see photographs of the well no.1 and its artist view).

**Well No.-2:** It is also located in the southern side of the Fort Complex. It is behind *Jal Mahal* near bastion no.8 of the Fort. The significance is that it is connected to well No.-1 in South-East and the *Baori* in South-West. It was the major source of water supply into ground and underground systems. A network of tanks, channels and pipes are meticulously planned at the mouth of the well to draw and harvest water.

**Other Wells (Well No.-3, 4, 5 and 6):** Other wells were also supplying water either to the Fort complex or the temples, guard rooms, court and other buildings. Well No-3, 4 and 5 (well to the east of *Pheel Khana*) are situated inside the Fort, while Well No.-6 is a small well like structure at the entrance of the *Baori* also remains to be explored (see photographs of well no.3,4,5 and 6)

**Baori:** The step-well is within the Fort on the south between bastion no. 9 and 10. It is the largest and most elaborately built water structure in the Fort complex. This Five storied and more than 25 meter deep structure, has its lower most storey below the road level or surrounding ground level from where it was replenished by subsoil water. Besides the steps, there was also a network of channels, which is now disrupted, above the well. Water was lifted by an *arhat* and channelized inside the Fort. According to the resident of the Fort the water of the *baori* is good and tasty and better quality, than that from well no.-2 as well as other well existing inside the Fort. Since the water was covered, it was cooler and less contaminated, also encouraging the people to use it for religious activities too which increased its significance considerably and elaboration of its making<sup>47</sup>.

Besides this, other unique water supply technique of *Abha Mahal*, *Sheesh Mahal*, *Deepak Mahal*, *Akbari Mahal*, *Bakhat Singh Mahal*, *Char Bagh Garden*, *Jal Maahal*, *Baradaris* and *Ranwas* are also alive in the fort. A total of hundred fountains are also found<sup>48</sup>.

### References:

1. Rajasthan District Gazetteers of Nagaur, edited by K.K.Seegal, Jaipur, 1975, pp.456-57.
2. K.C. Jain, *Ancient Cities and Towns of Rajasthan*, Delhi, 1972, p242 (Nagaur was known by various names such as Nagapura, Nagapattana, Ahipura, and Bhujangagagara).
3. Rajasthan District Gazetteers of Nagaur, edited by K.K.Seegal, Jaipur, 1975, p.1 See a paper of Jibraeil, entitled 'Nagaur: A Trading Junction in Medieval Rajasthan', published in a seminar's proceeding entitled *History of Marwar Prior to Rao Jodha*, edited by Mahendra Singh Nagggar, Rajasthan Granthagar Publication., Jodhpur, 2011, pp. 215-226. Cf. *Sanad -Parwana Bahi*, No. 21, A.D.1778, Folio 239, Jodhpur Records; related to the trade routes are available in the Rajasthan State Archives, Bikaner, Rajasthan.
4. K.C. Jain, *Jaina Sources for the History of Nagaur*, pub. in "Nagaur ka Rajnitic aur Sanskritic Vaibhav", edited by D.B.Ksheersagar and Naval Krishna, Jodhpur, 1988, p.128.



5. Many Persian Source such as; *Sarur-us-Sudur*, *Ain-i-Akbari* etc. For details see M.H.Siddiqui, *Madhya Kaleen Nagaur ka Itihas* (Book in Hindi), Jodhpur, 2001.
6. K.C. Jain, *Ancient Cities and Towns of Rajasthan*, op. cit., p242
7. Ibid.
8. Its weight was 70.6 grain (1 grain=0.0648 or 1.5 Ratty).
9. Advard Thomas, "The Cronicals of the Pathan Kings of Delhi", p.78. A.B.M.Habibullah, *The Foundation of Muslim Rule in India*. 290 (Also see an article of M.H. Siddiqui, 'Madhyakaleen Nagaur ke Pramukh Shrot (AD. 1260-1752)', pub. in "*Nagaur ka Rajnitic aur Sanskritic Vaibhav*", edited by D.B.Ksheersagar and Naval Krishna, Jodhpur, 1988, pp.6-13.
10. Shoshani Museum of Lahore still have some of the coins which were minted by Balban at Nagaur (M.A. Chuqtai, "Nagaur a Forgotten Kingdom", Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona, Part-2 ,No. 1-2, November,1940AD), p.167.
11. Abul Fazl, *Ain-i-Akbari*, Part-I, pp.32-33.English translation by H. Blockman.(Nagaur was declared a *Sarkar* by Akbar, while total *Sarkars* were Seven under the *Suba* of Ajmer).The deferent types of copper coin of Akbar in Nagaur were minted such as; *dam adhela*-half of the *dam*, *pawala*-one fourth of the *dam*, and *damadi* one eighth of the *dam*.
12. NizamuddinAhmad, *Tabqat-i-Akbari*, pp.201-202.Farishta, *Tarikh-i-Farishta*, p.32.
13. R.S.Manohar, *Rajasthan Ke Pramukh Durg*, Rajasthan Hindi Granth Acadami, Jaipur, Second Edt.-2006, p. 112.
14. Rajasthan District Gazetteers of Nagaur, edited by K.K.Sehgal, pp.457-58.
15. This information is recorded through many interviews from the local people of *qasba* Nagaur.
16. Rajasthan District Gazetteers of Nagaur, edited by K.K.Sehgal, p 22. Cf. *Tabqat-i-Nasiri*, translated by Major H. G. Revatin Part-I, p.110 and *Tarikh-i-Farishta*, translated by John Brigs, Part-I, p.151.
17. R.S.Manohar, *Rajasthan Ke Pramukh Durg*, Rajasthan Hindi Granth Acadami, Jaipur, Second Edt.-2006, p. 107. Also see *Nagaur Qila Ri Vigat*. Cf. Khyat.
18. Ibid, p. 112
19. Ibid. Also see *Nagaur Qila Ri Viga*, p.iii.t
20. *Nagaur Qila Ri Vigat*, p.iii. The bastions are 28 mentioned by R.S.Manohar in his book on page no. 112. It is wrongly counted by the Author of '*Rajasthan Ke Pramukh Durg*'.
21. Explored in one of ours Physical Survey.
22. This figurine needs further investigation.
23. *Nagaur Qila Ri Vigat*, p.iii.
24. R.S.Manohar, *Rajasthan Ke Pramukh Durg*, Rajasthan Hindi Granth Acadami, Jaipur, Second Edt.-2006, p. 112.
25. See Hadi Rani Mahal, Abha Mahal/Amar Singh Mahal and Bakhat Mahal.
26. *Nagaur Qila Ri Vigat*, pp.iii-vii and 1-53 (Both Marwari and its Hindi version).
27. *Nagaur Qila Ri Vigat*, p.iv.
28. *Epigraphia Indo-Muslimika* 1909-10, No. 1053 p.114; *Epigraphia Indica* 1955-1956, Plate-16-B,p. 64; MA Chagtai, '*Nagaur A Forgotten Kingdom*',( Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona, Part-II, No. 1-2, November-1940). P. 181.Also See Mohammad Halim Siddiqui, *Madhya Kaleen Nagaur Ka*

- Itihas*, Jodhpur, 2001, p.83.
29. Physical Survey of the Fort.
30. Ibid.
31. Ibid. Also see *Nagaur Qila Ri Vigat*, p. v.
32. Physical Survey of the Fort.
33. Ibid.
34. Ibid.
35. An Inscription stone of Year AD 1631-32(A.H. 1041). See Published Muslim Inscriptions of Rajasthan by Z.A.Desai, Published from Jaipur in 1971, S.No. 429, p.135.
36. Physical Survey of the Mosque (Nagaur Fort).
37. *Nagaur Qila Ri Vigat*, p.26
38. Ibid.
39. Bhadani & Jibraeil entitled "Technique of Irrigation in the Desert area of Phalodi in Medieval Times", Published in Proceedings of Rajasthan History Congress, Vol.-XXIII, Bikaner, Rajasthan, 2008, pages 36-43.
40. Minakshi Jain, Kulbhushan and Meghal Arya, *Architecture of a Royal Camp*, Ahmadabad, 2009, p.102. [Our team surveyed only *Shamsi Talab* in our first five days visit at Nagaur between 4.12.2010 to 8.12.2010. In our next visit we will cover the rest water bodies of the *qasba*].
41. *Quarter Inch Map, 1:50,000; Sheet 45E/12*, Surveyed in 1961-62, Published under the direction of Brigadier Gambhir Singh, MIS, MIF, Surveyor General of India.
42. Physical survey of few water structures of the *qasba*.
43. Ibid.
44. *Quarter Inch Map, 1:50,000; Sheet 45E/12*, op., cit.
45. Ibid.
46. Minakshi Jain, Kulbhushan and Meghal Arya, *Architecture of a Royal Camp*, op., cit. p. 107.
47. Interviews in our Physical Survey.
48. See published Survey Report of a project approved by Mehrangarh Museum Trust, Jodhpur). Published in 'Aligarh Bulletin of Archaeology' edited by B.L.Bhadani and Syed Bashir Hasan, Vol.-2, No.-1, Aligarh, 2011, pp.70-85. Also see the Project Report entitled "A Physical Survey of the Secular and Non-Secular Buildings of *Qasba* Nagaur with Special Reference to Water-Bodies during Medieval Period" submitted in three parts to the Mehrangarh Museum Trust Jodhpur by the author in the Month of October, 2011and February 2012.

## Bayana Fort : An Archaeological Survey

Dr. Vinod Kumar Singh

The fort of Vijaymandirgarh, presently known as Bayana fort coordinates at 26°55' north latitude and 77°18' east longitude and is located at 6 miles to the west of the township of Bayana.<sup>1</sup> Bayana presently is a sub-division district headquarter of Bharatpur district of Rajasthan state. It is situated in the Aravalli hills 90 miles east from Jaipur and 100 miles south from New Delhi. It is one of the historic fort of Rajasthan the remains of which survive in a ruined form. Vijaymandirgarh is one of the massive and bigger hillforts besides the contemporary forts such as Tahangarh<sup>2</sup>, Alwar<sup>3</sup>, Ranthambor<sup>4</sup>, Amber & Jaigarh<sup>5</sup> and Jaisalmer<sup>6</sup>.

The history of fort and fortification is as old as human civilization. Forts were built not only for protection against invasions but also to serve as military encampments, seats of rulers and provincial governors. In Indian context, earliest reference of building the forts comes from Rigveda<sup>7</sup> as it gives description of the erection of several fortifications at various places. In the Ramayana<sup>8</sup>, four types of forts are described. In the Arthashastra<sup>9</sup>, Kautiliya has discussed in detail about the location, fortifications, basic requirements and the significance of the forts. A well defined classification of such defenses, Manu<sup>10</sup> has highlighted the social characteristics of each type of the fortifications. With the establishments of Rajput states in northern India, construction of forts got a boost. A large number of Rajput states from 8th century onward were settled in various parts of northern India and rulers of these states had constructed a large number of forts to cater their political and military needs.

The construction of Vijaymandirgarh (Bayana fort) is ascribed to Jadon Rajput king Vijaypala, who is mentioned in an inscription dated V.S. 1100/1043 A.D.<sup>11</sup> in the mosque-cum-temple structure at Bayana now called Okha mandir. It is to be further noted that Vijaypala's father was king Jaitpala who is mentioned in the traditional list of Yadu dynasty and he may be placed in the first half of the

eleventh century. Mohammad Ghauri defeated Prithviraj Chauhan in the second battle of Tarain in 1192 AD and captured Bayana fort in 1195 AD.<sup>12</sup> After that it passed into the hands of Malik Bahauddin Tughril an officer of Mohammad Ghauri in 1196 AD.<sup>13</sup>

In the course of time, fort of Bayana remained under the occupation of various sultans of Delhi. As per the references provided in contemporary and other sources, fort was first occupied in 1227-1228 AD by Iltutmish<sup>14</sup> and during 1253-51 AD it was attacked and captured by Qutlug Khan<sup>15</sup> and in 1259 AD Sultan Nasiruddin Mahud Shah was found incharge of it.<sup>16</sup> Later on it remained under the possession of Balban in 1271 AD.<sup>17</sup> During the period of Alauddin Khaliji the fort was held by his noble Ulugh Khan<sup>18</sup> in 1301 AD, then it was controlled by Malik Kafur Sultani in 1320 AD.<sup>19</sup> In the time of Tughlaq dynasty i.e. in the reign of Muhammad Bin Tughluq, Ibn Batuta visited Bayana Fort in 1342 AD.<sup>20</sup> After the invasion of Timur, at Bayana, an important dynasty known as Ohdi dynasty was established and rulers of this dynasty such as Shams Khan Ohdi<sup>21</sup> made the fort of Bayana his ruling seat and embellished the fort with a large number of monuments. In 1490-91 AD fort of Bayana was attacked and captured by Sikander Lodi<sup>22</sup> and it became the stronghold of the Lodi Empire.

During the rule of the Mughals Babur took the fort in his possession in 1527 AD<sup>23</sup> but with the ouster of Humayun by Ser Shah the fort became a part of Sur Empire in 1541 AD.<sup>24</sup> Reference of its control by Islam Shah<sup>25</sup> is available in the medieval sources. Later on under Mughal Emperor Akbar who captured it in 1556 AD,<sup>26</sup> the fort served as a royal prison<sup>27</sup> in the first four year of his reign. It was during the 17th century the fort of Bayana was assigned to Mirza Raja Jai Singh of Amber.<sup>28</sup>

Jadon Rajput rulers had built the fort on the earlier fortification as is proved by the existence of a monolithic commemorative Pillar bearing an inscription which tells us that the territory was being ruled by the one of the Republics of Guptas during 4th and 5th century AD. The Pillar is situated in the south western part of the fort of Bayana and this part was enclosed by an inner fortification. It proved that in the south west part of the fort some earlier fortification was existed and when fort of Bayana was commissioned, it became the part of it.

In the last decade, I got opportunities to visit Bayana fort occasionally and have seen a large number of ruined structures. This ultimately compelled me to study it in a scientific manner. Finally I began my archaeological survey of the fort in January and February 2008 and work is still going on. Present study is an outcome of the preliminary survey conducted by me. It mainly emphasise identification, location and features of the fort and fortification of Vijayamandirgarh alongwith inside structures in the foregoing paras.

The Bayana fort is aligned on east-west axis measuring approximately 2.5 kms from east to west and one km from north to south forming irregular zig-zag rectangle.<sup>29</sup> Its elevation from ground level varies from 336 to 330 mts. The fortification of the fort encompasses two hills, one small and other big with a L shaped defiles in between. The fort is unique as it includes various enclosures and fortification raised at different periods.

From the archaeological exploration of the fort it is deduced that Vijaypal Jadon had built this fort over the earlier settlement of Yaudheyis tribe which could be located on a small hill on south-western side within the fort. Old settlement was also fortified and enclosed an area measuring approx. 700 mts from east to west and approx. 250 mts from north to south.

## ENTRANCES

The fort of Vijaymandigarh can be approached through the passage from three different directions i.e. east, south and west. Meaning by three entrances were provided which were well guarded by two or three fortified enclosures and a number of gateways. Here these gateways were made in the form of defence structure. Moreover all three entrances were built in the defiles which either provide a gentle slope or stairs to be built there.

### I. South Entrance (From Allapur)

The most important entrance to the fort is on south side where stepped passage from Allapur village to go up. The passage beyond the main wall of the fort was fortified by enclosing that slope of hill which accommodate the stepped passage. This entrance has six gateways where two gateways numbering 1 & 2 out of which first was existed outside the fort in the low defiles/valley and second was built in the main fortification wall of the fort. First gateway is

in the form of gatehouse, two bay deep where two shafts were joined with the help of a ring, surmounted by corbelled brackets and in turn roofed by slab of stones. It was built on the trabeate style having good span to provide passage. Second gateway again is built on trabeate style having pillars and brackets surmounted by lintels. In comparison to the dimension of the first gateway, second gateway is smaller and passage has less span. Since this gateway is the part of main fortification wall, it has battlements at roof level. The gateway is aligned to north south providing passage from west to east.

After entering from second gateway, there are two passages, one lead to fortified enclosure existing on western side whereas second proceeds to eastern part of the Vijaymandirgarh. Rest of the four gateways were built over the passage facilitating entrance in western side fortified enclosures containing earlier settlement. All gateways are constructed in trabeate technique using pillars surmounted by corbelled brackets and then by stone lintels.

### II. Western entrance (From Taleti)

Second entrance to Vijaymandirgarh is from western side. On western side fort encompasses a valley or low defiles locally known as Taleti by putting fortification wall cutting across the valley. Then, second entrance exists at the ground level of valley in the fortification wall. This entrance has two gateways over the passage with a gentle slope. First gateway was constructed in trabeate technique existing in the outer fortification enclosure. It is two bay deep achieving the more thickness than that of the fortification wall. Second gate exists in the main fortification wall and again built in trabeate technique where pillars are surmounted by corbelled brackets projecting towards inner side and finally topped by lintel. Opening of the passage in this gate takes pyramidal shape on the upper side. Here projecting corners of the brackets and the outer face of the upper lintels are carved with designs front and rear side of gateways are same so far as carvings are concerned.

### III. Eastern Entrance (From Sikandra)

Third approach to the fort is given on eastern side and is in the form of steep steps begin from the valley where Sikandra village is located. This stepped passage descends in the zig-zag way and at the outset it passes through two gateways. To descend from the

fort, one has to descend through two gates which were just built to guard the descending steps. These gates are simple and might be built at later period.

### **Fortification**

For the sake of convenience fortification of Vijaymandigarh (Bayana) can be put into two categories i.e. Outer fortification and inner fortification (enclosures). Since this fort has exists over the hills of different elevation defiles existing in between outer fortification has no uniform dimension throughout its length. The fortification has more than twenty half circular bastions built over each angle and contours of the hills to give strength to the fortification walls . These bastions are solid by built with stones and embellishment each turn in wall and contour of the hill. The height and thickness of the outer fortification wall is not uniform as thickness of the wall varies from 2.5 mts to 5 mts and height ranges from three mts to 6 mts from the surface of the hills. The forfication wall runs sometime touching the upper edge of hill, sometime follows the slopes of the hill and contour. In other words it strictly follows the hills and its geography. The outer fortification wall was composed of two walls of dressed stone and mud filled in between. This building technique was responsible for the considerable thickness of the wall. To a greater extent outer fortification wall was not surmounted by battlement as it was built during pre-medieval period which was characterized by the absence of use of gunpowder. At few places fortification wall is topped with battlements which was definitely constructed during medieval period after the beginning of the use of gun powder.

Inside the fort a number of enclosures are found which were built to fortified many places. Except the south western parts enclosure where earlier settlement exists, other fortification were raised during medieval period. The medieval fortification and bastions are totally different in shape and building technology than that of pre-medieval period. Bastions were having pillared structures at the top and most of all these pillared structures were roofed by circular dome with octagonal drum. Some bastions in place of battlement, have projected eaves supported by brackets. Domed pillared structure is composed of four square pillars having capitals and dropping eaves above and then having dome. These bastions

are little pyramidal and built with roughly dressed stones with lime mortar . The inner fortification were meant to provide the further defence lines inside the fort besides the outer fortification.

### **Residential Palace**

Residential palace is situated towards the southern outer fortification in the center of southwestern fortified enclosure which had earlier settlement. Residential palace, an enclosed group of structures, contain an entrance, pillared pavilion, domed three chambers, pillared cloisters etc. Entrance to the palace is composed of a gate within a big arch and flanking two storeyed pillared square pavilion with domed roof at top. Central gate in the entrance is built in arcuate and trabeate style. There is a big arch of double storey height enshrines a true entrance gate below which is built of square corner pillars with corbelled pendulous brackets surmounted by lintel. Space between the lintel and the arch is covered with stone masonry except a square window. Flanking pillared pavilions have platform based and they are projected towards outer side of central gate. Below the dome, there are dropping eaves in the upper storey of pillared pavilion. Central gate, because of corbelled brackets projecting towards inner side, takes the pyramidal shape. In front of all entrance to the palace, there exists a four pillared domed pavilion in the form of chhattari . All the structures in side the residential palace are in dilapidated condition though few are modified and few are partially intact. From the ruins of some structures, it is confirmed that material of old building was being reused such as pillars and corbelled brackets . Maximum structures are built of trebeate style while few are domed roofed. Since the use of lime mortar was frequent, it was built during medieval period especially under Lodi Sultans.

### **Religious Structures**

Since the fort was remained under the occupation of so many successive dynasties having faith in different religion, a number of religious structures were built over the period. Some structure are totally wiped out having few fragments while others were rebuilt and modified. In the course of survey we have found one temple where worship is still being performed and a mosque. Briefs of my study of these religious monuments are as follows :

Temple : A temple complex can be located inside the south

western fortified enclosure though all the structures are totally modified. In the modification of temple, old building elements such as pillars, brackets and lintels were reused though a total change was introduced so far as ground plan was concerned. Presently temple is composed of sanctum and haphazard cloisters surrounding the sanctum. Since this temple is dedicated to God Shiva, sanctum enshrines a Shiv linga alongwith the idol of Shiva which might have been old belonging to pre-medieval period. In the complex a small tank is also existed might having some religious sanctity as use of water is very much associated with the worship of Lord Shiva. The tank has five steps descending to lowest level on all side. Apart from modified temple and tank, a large number of ruined structures found scattered in the form of heap of rubbles.

**Mosque** : A mosque is situated in the center of the western outer fortification near the taleti gate on left side after entering. Western wall of the mosque is merged in the western outer fortification of Vijaymandirgarh. The mosque contains western liwan only, which was two bay deep and seven bays in width from north and south. The cloister is composed of pillars, surmounted by corbelled brackets and then lintels. Above the lintel the western liwan was roofed flatly by stone and then layer of rubbles mixed in lime mortar. In the central bay a qibla was built on western side whereas the flanking bays have recess. Qibla in the central bay was also in the form of a recess which contain a round flower carved and below, an rectangular panel was carved. The rectangular panel has designed border and a flower surmounted by floral arch with a stupa (finial). Sprindrels are again in the form of flower. The recess was covered by rectangular band of geometrical designs and then the bank of calligraphy. It is totally ruined, only few fragments are left to have an idea of exact decoration with calligraphy and geometrical and floral designs. Western liwan once had projected eaves on eastern northern and southern side as projected supporting brackets are still found. The mosque was enclosed by a boundary wall of good height built of roughly dressed stones with lime mortar. This enclosure of the mosque was provided an entrance on southern side.

### **Barracks**

Two structures locally known as Barracks are situated near the southern outer fortification towards eastern side of the kunda.

These structures are aligned from east to west. Each structure is in the form of cloister two bays deep and 14 bays from east to west. It is composed of square pillars with three successive corbelled brackets and then surmounted by lintels and then roofed by slab of the stone. From the use of loose rubble, rough stone pillars and brackets. It seems that these structures were built during medieval period by raising the building materials of old buildings. The shape which was organized in these buildings in a particular way conveys the use of it by garrison sometime during medieval period.

### **Pillared Pavilions**

The fort is dotted with the presence of small pillared pavilions. Some pillared pavilion built on raised platform and are composed of stone pillars with capitals and lintels. These are flat roofed with stone slabs while as some are bigger, two bays deep and at least four bays in width. These are built by using square pillars, capitals, lintels and flat roofed. These are existed on high elevation might be used as watch tower to keep soldiers.

### **Pyramidal Double Storeyed Pillared Pavilion**

On the south eastern most tip of hill, there is a conspicuous presence of a double storeyed pillared pavilion. It was a rare monument rectangular in shape. First storey is composed of central hall having a staircase to go up on western side. The central hall is surrounded by pillared cloisters on all side having four pillars on each side with common corner pillars. Second storey is consisted of eight pillared pavilion where two row of four pillars were arranged exactly above on the central hall of first storey. Arrangement of storeys, where upper storey is existed on the center of lower story, makes this structure pyramidal. It makes this structure exclusive in the contemporary period. The whole structure is enclosed by a small railing on all sides.

### **Monolithic Pillar**

A monolithic stone pillar is situated near the southern outer fortification in the south western fortified enclosure. It was hewn out of single piece of red sandstone. It was found erected in a masonry square platform of 3 mts which was built later on the floral stone base of the monolithic pillar. The height of the platform is about 3 and ¼ mts. Above this platform the approximate height of

monolithic pillar is 8 mts. To a certain height monolithic pillar is square of 5 mts each and than it became octagonal and tapers off gently as moves up. The top of pillar is not smooth. It shows that once it was surmounted by a capital which is now missing the pillar contains an inscription which tells us that the pillar was established by Vishnu Vardhana in the commemoration of the performance of pundarika sacrifice in 428. Era was not given in inscription but with all probability this pillar was stalled in 4th or 5th century A.D.

### **Minaret**

To the north side of monolithic pillar a minaret is existed which in local parlance termed as Mazina i.e. tower from which Muezzin calls to prayers. It is a round tapering double storeyed tower where storey is demarketed by projecting eaves supported on corbelled honeycombed brackets. Below the projected eaves, there is a band of calligraphy. First storey contains a band of white stone whereas upper storey has two band of white stone and a band of grey stone in between. The tower was constructed with round shaped dressed red sand stone with mortar of lime. An arched door was provided on southern side which gives access to the spiral staircase to go upstairs in tower. The tower has an inscription in band of calligraphy which conveys that it was constructed in 1447 A.D. by Daud Khan Ohdi.

### **Hydraulic Structures**

Since the fort of Vijaymandirgarh spreads in hilly area of more than 25 kms square, it was essential for the builder of the fort to equipped it with good hydraulic system to maintain the water supply and need for the whole year. Archaeological exploration of the fort confirms the existence of a network of hydraulic system which consist of stepwells, wells, kunda, tanks etc. All are rainfed and existed in the deep defiles where water was coming down from the slopes of the hills and stored. In the course of exploration the following waterbodies have been noticed and studied.

**Chakaw Baoli** : It is situated in the western side of the fort and in northern side of the south western fortified enclosure and was enclosed by another fortification wall so it became an integrated hydraulic structure to the south western fortified enclosure. It is a stepwell built by manipulating the geographical features. It was constructed by digging out the depression in low hills and above the

edge a masonry top wall was constructed. It is a square and to descend to water hill was cut in the shape of steps. It was fed with rainy water which sloped down from hills and stored here.

**Orav Baoli** : Another masonry stepwell locally known as Orav Baoli is situated towards western side within secondary fortification of southwestern fortified enclosure. It was built by Khan Khanan Farmauli in 1497 A.D. during the period of Sikander Lodi as confirmed by a bilingual epigraph i.e. an inscription in Sanskrit and Persian language.

This stepwell is important from art historical point of view as it is an example of the architecture and hydraulic technology prevailed during early medieval period under Delhi Sultans. It is a four storeyed rectangular structure. An entrance was provided on eastern side where after entrance steps descend to the water. Northern and southern side of stepwell is composed of pillared cloisters in two upper storeys. Though there was pillared cloisters on western side but at the ground storey a passage leads to well existing on western side out of stepwell. Well and whole building of the stepwell is an integrated structure. Well was built on the point or crevice of hills so a hydraulic pressure provides the water to it. Besides ground water, rains fed this stepwell. Here cloisters are consisted of square stone pillars topped by corbelled pendulous brackets and then lintels covering the inter columnar space and finally roofed by stone slab.

**Kunda** : A masonry tank locally known as kunda is situated in the defiles existing between western and eastern inner fortification of the fort of Vijaymandirgarh. This kunda was meant to collect the rainy water coming down from the hill's slope on north and south side. Check embankments were constructed on eastern and western side while northern and southern sides of the kunda were in form of steps. Stepped embankments serves twin purposes i.e. on one hand they facilitate descending to water level and provide strength against the thrust of water on the other hand. The kund runs on east west axis measuring approximately 65 mts in twisting way. Its width varies from 12 mts to 14 mts. Southern embankment consists of staircases on western side to descend. One thing is very noticeable here that small bricks were being used alongwith lime mortar to construct it.

**Well** : In the western part of Vijaymandigarh (Bayana) a masonry well of approx. 2 mts diameter is also found. It was built in the gorge or defiles on the joint of hills. It has natural source of

water from the depth of valley. Roughly dressed stones were used to construct its ring stern.

From the above archaeological survey, it is quite confirmed that the fort from its inception was full of structural activities which throw the light on the evolution of Building technology and fortification technique as well. A large number of ruined structures lying in the form of heap of stones or under vegetation are yet to be surveyed and studied scientifically which definitely needs, time and fund. In the coming time a thorough archaeological survey has to be conducted to ascertain the habitational pattern, fortification and structural techniques and its development over the period.

### References:

1. See the appended reproduction from Sheet No. 54F/1, of scale 1 cm = 500 m, Rajasthan, published under the direction of Mr. Hari Narayan, Surveyor General of India, 1968-69. Cf. Figure-1 showing the location of the fort of Bayana.
2. Singh, Vinod Kumar, 'The Tahangarh fort - A Preliminary survey'. Paper published in the Proceedings of Indian History Congress, Mysore, 1993, pp. 922-93. 'Tahangarh fort - An Archaeological Survey', PIHC, Patiala, 1988, pp. 1003-1012. 'New Epigraphical evidence located at Tahangarh fort', PIHC, Calicut, 1999, pp. 1126-1138. 'Tahangarh: An archaeological survey of a Pre-modern fort', Paper presented in the World Archaeological Congress (WAC-5) at Washington D.C., U.S.A., June, 2003. 'A Survey of the Waterworks in the Tahangarh fort', Paper presented in the 18th International Association of Historians of Asia (18th IAHA) at Taipei, Taiwan, December, 2004.
3. Singh, Vinod Kumar, 'Salim Sagar : A Sixteenth Century Waterworks in the fort of Alwar', PIHC, Aligarh, 1994, pp. 900-905. 'A Survey of the Waterworks in the fort of Alwar', PIHC, Bangalore, 1997, pp. 887-893.
4. Singh, Vinod Kumar, 'A Survey of Pre-modern waterworks at Ranthambhor Fort: Technology to Trap, Store and Supply Water', PIHC, Bhopal, 2001, pp. 1034-1051.
5. Singh, Vinod Kumar, 'Hydraulic Innovation at Amber and Jaigarh forts', Paper presented in the 4th International Water History Association (IWA), "Water and Civilization" at UNESCO Headquarters, Paris, France, 1-4 December, 2005.
6. Singh, Vinod Kumar, 'Technology of Water Distribution in Pre-modern Rajasthan: Waterworks in Jaisalmer Fort', Paper presented in Indian History Congress, Calicut, 2007.
7. Rigveda; The Hymns of the Rigveda, tr. by Ralph, T.H. Griffith, Third Edition, Vol. II, Benares, 1926, p. 584.
8. The Valmiki Ramayan, ed. by G.H. Bhatt, published under the authority of the Maharaja Sayajirao University of Baroda, Oriental Institute, Baroda, 1960, p. 452.
9. The Kautiliya Arthashastra, tr. by R.P.Kangle, Motilal Banarsidas, Delhi, Vol. II, 1972, p.61.

10. Manusmriti, The Ordinances of Manu, tr. by Arthur Coke Burnell, completed and edited by Edward W. Hopkins, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. New Delhi, First Published in 1884, p. 157.
11. Archaeological Survey of India : Report, A Tour in Eastern Rajputana (1882-83), ed. Alexander Cunningham, Vol. XX, reprint, Varanasi. 1969, pp. 6 & 81.
12. Minhaj us Siraj, Tabaqat -I Nasiri, Vol. I, ed. by Abdul Havy Habib, Kabul, Afghanistan, 1864, p. 311.
13. Ibid. p. 321.
14. Ibid. p. 545.
15. Tabaqat -I Nasiri, Vol. I, p. 486.
16. Ibid. p. 490.
17. Epigraphia Indica, Arabic and Persian Supplement, 1937-50, New Delhi, 1987, p.6.
18. Shams Siraj Arif, Tarikh-I firoz Shahi, ed. by Maulvi Vilayat Husain, Calcutta, 1890, p. 350.
19. Report of a Tour in Eastern Rajputana, Vol. XX, pp. 69-71.
20. Ibn Batuta, Rehla, tr. by Mahdi Husain, Baroda, 1976, p. 152.
21. Muhammad Bihamid Khani, Tarikh -I Muhammadi, tr. by Muhammad Zaki, Bombay, 1972, p. 53.
22. Ahmad Yadgar, Tarikh-I Shahi, ed. by Hidayat Hossain, Calcutta, 1939, pp. 36-37.
23. Zahiruddin Babur, Baburnama, tr. In Persian by Abdul Rahim Khan-I Khana, Bombay, 1901, p. 215.
24. Abbas Khan Serwani, Tarikh-I Sher Shahi, ed. by M. zafar Hasan, Delhi, 1918, p. 95.
25. Muntakhab ul Tawarikh, translated from the original persian and edited by Gorge S.A. Ranking, first edition 1898, reprint in 1973, published by Muhammad Ahmad for Idarah-I Adabiyat, Delhi, Vol. I, pp. 520-21.
26. Abul Fazal, Ain-I Akbari, tr. by H.S. Jarret and revised by J.N.sarkar, Vol. II, Calcutta, 1949, pp. 193-194.
27. Muntakhab ul Tawarikh, Vol. III, p. 248.
28. Arhsatta Bayana V.S. 1787/1730 AD, The Rajasthan State Archives, Bikaner.
29. Before us, A.C.L. Carlleyle was the first to make an attempt to survey the fort in 1871-72 A.D. He had reported few structures with dimensions and fortification but without details in art historical perspective.

## Glorious Stepwells of Udaipur

Dr. K. P. Singh

Through the ages, constructing water resources are well, stepwell, pond and tank are surviving in south Rajasthan from pre-historic period. There is no big river (flowing 12 months) in Western India. This shortage has been recovered, to some extent, by the construction of various types of artificial water structures like lakes, ponds, well and stepwells. Stepwells are generally typical of regions which extremely hot, dry and long lasting summers where ground water is often the only available source of water during the hot seasons (Hegwald 2002: 167). Constructing wells as a source of fresh water have been in use in the south Asia from the Harappan times/Indus valley civilization, which is from 2500 BCE onwards (Mate 1998: 99). Dholavira, an important site of Harappan times have several reservoirs to collect rain water; similar evidences come from Mohenjodaro and Harappa (Joshi, J. P. 2008: 121). The practice of stepwell architecture is original to India, but was adopted and refined by the Muslim rulers who constructed stepwell in north-western India, particularly during the 14th and 15th century CE. Most of the stepwells date from a period between the 12th and the 17th century CE (Hegwald 2002: 156).

Possibly the most remarkable aspect of established water management system is its longevity. Many naulas, baories and kunds still in use are hundreds of years old. Clearly the traditional water management system has a high degree of sustainability. Urban water supply was a comparatively late phenomenon. Cities of ancient India were generally located along the banks of perennial rivers, natural springs, or depressions where water gets accumulated during the monsoon (Singh, K.P. and Kharakwal 2010: 14). In Mewar, the Udai sagar dyke located 10 km east of Udaipur, was constructed in 1550 CE by Maharana Udai Singh. Later two dams constructed Jana Sagar or Bari Talab (8 km north of Udaipur) and Rajsamand (located 60 km north of Udaipur) were built in 1676 and 1678 CE by Maharana Raj Singh. Jai Samand or Debar Lake (one of the largest dams) was constructed between 1685-87 CE by Maharana Jai Singh,

so the period between 1550 CE to 1680 CE should be characterized as the golden period in the history of Mewar in this context. Most of the stepwells are also built in the same period. For this hydraulic engineering in Mewar during this period, Maharana Raj Singh is also known as 'Hydraulic Man'.

The concept of stepwells is known from inscriptions to date back as far as 423 CE; however, most stepwells appear to have flourished during the 8th to 18th centuries CE. They were an essential rain harvesting, groundwater recharge and storage system. Stepwells also express an aesthetic sense of Indian and are examples of what water, art and architecture meant for simple folk. The stepwells of Rajasthan have different decorative designs and symbolize the refined taste of the people of the time. They also reflect the deep rooted religious attachment and faith in this type of water system (Misra 2009: 21).

Stepwells, also called Baori or Baoli, are wells in which the water can be reached by descending a set of steps. They may be covered and protected, and are often of architectural significance. It can be multi-storied also in which a bullock turns the water wheel (Rehat/Arghat) to raise the water in the well to the first or second floor. The stepwell is unique construction of a well with steps either on one, two, three or four sides leading to the water surface (Savalia 2009: 88). These steps provide direct access to people who descend the steps to reach the water of the well (Hegwald 2002: 155). Single-faced stepwell is also known as Nanda Baori, two-faced is Bhadra Baori, three-faced is Jaya Baori (Rohit Kumar 2008: 399) and four-faced is known as Vijaya Baori (Hegwald 2002: 160). Stepped construction of a well is known as Vapi (Savlia 2009: 88) and Vapya (Prasad 1998: 71). There are at least fifteen different names for stepwells. They are commonly known as Vav, Bav, Bsaori or Kund (Cox 2008: 14). The main function of stepwells is to supply water, but because stepwells frequently have galleries built along the long corridor of steps and around the storage basins, integrating stone benches with sloping backrests into their design, they are also used as cool retreats from the summer heat by villagers and travelers (Hegwald 2002: 155). Moreover in Rajasthan and Gujarat it was converted into an architectural monument of great beauty. It combined the utilitarian aspect with pleasure resort (Mate 1998: 102).



Some famous stepwells of Udaipur are Trimukhi Baori, Bedvas ki Baori, Sarvrituvilas ki Baori, Sunderbav, Bhuvana ki Baori and Naulakha Baori. It is noteworthy that some stepwells have inscriptions which throw light on the technical aspects as well as on the management and construction of stepwells. Rulers, Jagirdars, Officers and even common man build them.

Sarvrituvilas ki Baori - Rajprasasti tells us that in the south east of Udaipur both this stepwell and Sarvrituvilas palace were built by Maharana Raj Singh in 17th century (Shyamaldas. 1986: 381-83). This stepwell was a source of water supply for the city.

Bedvas ki Baori - It was built in village Bedvas, 8 km from Udaipur. Inscription of this stepwell tells that the stepwell was built by Fateh Chand Bhatnagar, a minister of Maharana Raj Singh, on 26 april 1669 CE. Bedvas ki Baori is also known as Nanda Baori due to its single-face (Ojha 2008: 122).

Naulakha Baori - This stepwell was built in 1667 CE at Gulab bagh. According to its name number 9 is important in its construction. On the flight of nine steps a small corridor is there. Both sides of steps have space for 9 icons in which sculptures of Ganesh and Bhairav made up of white marble are situated (Menariya 1973: sarg-13, shalok-28-30).

Trimukhi Baori - This stepwell is located 9 km south of city. Inscription tells us that this stepwell was built by Ramrasde, queen of Maharana Raj Singh, on January 1676 CE at Debari village (Vyas 1988: 223). This stepwell has steps on three sides and on fourth side a pillar Mandap. There is also space of icons on both sides of steps (Shrimali, 2000). The construction work was completed under the supervision of Lal Porvad and Dhaibhai Satidas. The main sculptor was Nathu Gaur. 24000 Rs. spent on its construction (Ranawat 2000: 93). This three-faced stepwell is also known as Jaya Baori.

Debari Baori - This stepwell is situated on medieval period outer (eastern) fortification wall of Udaipur city. This is built by Maharana Raj Singh in 1659 CE. (Ranawat 2000: 142)

Karnvav - In 17th century CE, Karnvav was built by Maharana Karan singh near Sarvrituvilas (Shyamaldas 1986: 443).

Sunderbav - This stepwell was built by Khavasan Sunder in 1616 CE. Sunderbav is located in the village Paida at a distance of

4 km from Udaipur (Shyamaldas 1986: 436). On the flight of 10 steps a small pavilion come and after 20 step, have a roofed corridor with two marble arches on decorated pillars. Shiv temple called Sandeshwar Mahadev is also built near this stepwell (Purohit 1930: 108).

Bhuwana ki Baori - Maharana Raj singh donate some land in village Bhuwana, to Govindram Vyas (son of Vyas Balbhadra) when the construction of Sunderbav was completed. On this land Varatan Lali Brahmani (mother of Govind Ram) built a stepwell named Bhuwana ki Baori. This stepwell is also known as Lali Brahmani ki Baori (Shyamaldas 1986: 436, 578). Inscription of site has indication of all information.

Gujara Dhai-bhai Rupa built a stepwell, temple of Rupnarayanji, a small garden and a sarai on February 5, 1762. The construction of another stepwell was started on April 3, 1767 in the village Saleda by Champubai (mother-in-law of Dhai bhai). The construction work was completed on May 14, 1769 with a cost of Rs. 7000 (Shyamaldas 1986: 73).

Stepwell are one of the best examples of vernacular architecture of water bodies. The construction of stepwells also reflect a number of influences natural geographical features, types of soil, rainfall, ground water level, distinctive style of the respective regions, nature of the patronage under which they were commissioned and their religious significance. Due to growing urbanization, pollution and life threatening health hazards, the state authorities introduced a system of tap water supply and stepwell have become victim of disuse and disintegration (Singh, K.P. 2010: 34). Stepwell have lost their inherent function of water supply and storage. They are in broken down condition due to negligence. We cannot ignore the fact that they are the mute witness of our ancient tradition of stepwell building. With proper repair and care stepwell can be included in the places of tourist attraction of Udaipur.

### Conclusion

This is, in short, the history of our glorious stepwell tradition of water harvesting by the village community, individuals and erstwhile state.

Harvesting of water and its management was an integral part of our native culture and community life. They are in broken down

condition due to negligence. We cannot ignore the fact that they are the mute witness of our ancient tradition of stepwell building. We should protect and expend the tradition and technology of this old water harvesting which is very much beneficial for all.

### References:

1. Cox, Richard 2008. 'Stepwell' subterranean Architecture, Stepwells in Western India. Torfaen: Lantarnam qranje Arts Centre.
2. Hegewald, Julia. A. B. 2002. Water Architecture in South Asia: A Study of types, Development and Meaning. Leiden: Koninklijke Brill nv.
3. Joshi, J. P. 2007. Harappan Technology. New Delhi: Infinity Foundation and Rupa Publication.
4. Mate, M. S. 1998. Water Management and Hydraulic Technology in India (1500 BC to 1800 BC). Delhi: B. R. Publishing corp.
5. Menariya, Motilal 1973. Rajprasasthi Mahakavyam. Udaipur: Rajasthan Vidhyapeeth.
6. Misra, S. K. 2009. Power of Creativity. In special Issue: Heritage of Water Management. (Eds. Mao Chiba and Bhanu Neupane). Noida/New Delhi: L. B. associates (Pvt.) Ltd and UNESCO-New Delhi team.
7. Ojha, Priyadarshi 2008. A study of water management in Mewar in 17th & 18th century. (Ph.D. thesis). Udaipur: MLSU.
8. Prasad, E. V. R. 1997-98. Ancient Indian Hydrology in Modern Context. In Sri Ventateswar University Oriental Journal. Vol. 30-31 : 69-80.
9. Purohit, Devnath 1930. Udaipur Darshan. Udaipur.
10. Ranawat, Ishwar Singh 2000. A critical study of water resources of Mewar. (Ph.D. thesis). Udaipur: MLSU.
11. Savalia, Ramjibhai 2009. Steps of Indology. Ahmedabad: B.N. Institute of Learning & Research.
12. Shrimali, Govind 2000. Rajasthan Ke Abhilakh, 2 vols, Jodhpur: Maharaja Man Singh Pustak Prakash.
13. Singh, K. P. 2010. Ethnoarchaeological Survey of South Rajasthan: Udaipur, Banswara and Dungarpur districts. In proceeding of Rajasthan History Congress. (Seminar held at Jodhpur). Vol. XXV. Pp. 31-38
14. Singh, K. P. and Jeewan Singh Kharakwal 2010. Kumbhalgarh and its Structures. In Forts of India. Pp. 111-121.
15. Singh, Rohit Kumar (ed.) 2008, Rajasthan Sujas. Jaipur: Rajasthan Jansampark Vibhag.
16. Shyamaldas. 1986. Vir Vinod. Delhi. Motilal Banarasidas (Reprinted).
17. Vyas, Rajshekhar 1988. Art & Architecture of Mewar. Jaipur: Rajasthan Prakashan.

## Mughal Hamam in Eastern Rajasthan : A Study in Medieval Archaeology and Hydraulic Technology

**Dr. M. K. Pundhir**

With the establishment of Mughal Empire in India, a new epoch not only in Indian polity but also in the field of Society and Culture had started. At its peak during in the late 17th and early 18th centuries, Empire had stretched on a wide geographical area covering almost of all the Indian Subcontinent—extending from Bengal in the east to Balochistan in the west, Kashmir in the north to the Kaveri basin in the south. Mughal had successfully provided the political stability to India for almost 200 years which had in turn given a boost up to the cultural development. Mughal rulers in person had contributed tremendously in various field of architecture. They had built a large number of excellent monuments which could be considered as the best examples of the cultural synthesis took place during medieval period.

The present paper ventures to study the Mughal Hamam (Bath House) situated at Bari in Dhaulpur District with the help of the tools of archaeology. It encompasses an enquiry into the functioning of the Hamam.

It is very essential here to trace the origin of Hammams. Hamam is an Arabic term used for the structure in which bath and its associated rituals took place. Though in India bath had been discovered in Mohanjodaro but it was full of doubt and subject to speculation. The credit of developing the Hamam as a full-fledged institution goes to the Romans. In the excavation of the city of Pompeii, archaeologist had successfully discovered the traces of oldest Mammam belonging to first century A.D. Thereafter in Roman Empire, Hammams were also found at Titus (1<sup>st</sup> Century A.D.), at Carcolla (3<sup>rd</sup> Century A.D.) and at Diocletian (4<sup>th</sup> Century A.D.). Basically Roman Hamam or baths were the integrated building composed of seven chambers such as:

Apodyterium	: Dressing or Undressing Chamber
Alipterium	: Massage Chamber
Calidarium	: Hot Chamber
Tepidarium	: Warm Chamber or meeting Lodge
Sudatorium	: Steam Chamber
Frigidarium	: Cold Chamber

From Roman Empire the technique and institution of Hammam had been migrated to Asia Minor and from there it spread to Syria and Persia. Hammams were known as *Hammamat Rumiyya* or Turkish Hammam to the Arabs. From central Asia it was borrowed and introduced in India by the Mughals.

Bari is situated between 26° 93' north of latitude and 77° 37' east of longitude and is a subdivision of Dhaulpur District. During medieval times the town was very important because of their proximity to Mughal capital Fatehpur Sikari and its location on Mughal trade route. Bari along with their surrounding area was selected by Akbar as one of major hunting grounds for hunting of Leopards and tigers. Subsequently these areas remained reserved for royal hunting under Jahangir and Shahjahan. They used to go for hunting excursion to the places such as Rupbas and Bari frequently. At Bari Shahjahan had commissioned the construction of the complex of Hunting Lodge/ Shikargah on the site of a masonry dam locally known as Talab Shahi. Its construction was completed during 1637-38 A.D.

The main complex of the lodge at Bari is locally known as Lal Mahal as it was built of red sand stone. The complex has been composed of a number of functional components built to serve the different purposes of the royalty. Among these units, one of the important components was the Bath House known as Hammam. Here, the building of the Hammam was existed in the south eastern corner of the complex as the southern part of King's Personal Apartment i.e. Khwabgah.

The structure of Hammam was built on east west axis covering the whole width of the Lal Mahal complex. It was a complex of square, oblong and octagonal chambers of different dimensions, interconnected through narrow corridors. Total number of chambers is six where two are octagonal, two are oblong and two square.

Besides the gateways, corridors are provided to link all the chambers. All the chambers of the Hammam are domed and vaulted roof. Each room is open at the apex of its vaulted and domed ceiling for light and ventilation. This opening is covered above by a cowel which was destroyed with the passage of time. Its walls are built extra thick to secure perfect insulation against the external heat. It is designed to remain cool and hot as per the requirement. The building of the Hammam has provided two entrances from northern side in the form of two trabeated gates. One gate provides the access to the Chamber C while second gate opens into corridor J (interconnecting Passage) existing on northern side of Chamber E. Chamber A existing in the north eastern corner of the Building could be identified as Frigidarium i.e. cold chamber which was meant to take cold water as it accommodate bath tub with slab for sitting in it. Chamber B could be identified as Calidarium i.e. Hot chamber to provide bath with hot water. Identification of other chambers or rooms is as follows:

Chamber C	: Apodyterium (room meant for dressing or undressing)
Chamber D	: Sudatorium (steam Chamber)
Chamber E	: Alipterium (massage Chamber)
Chamber F	: Toilet
Corridor J	: interconnecting Passage
Chamber P & M	: Store rooms

Compartments marked as O were the instrument rooms accommodating the furnaces while as Passage marked As H in the plan could be used as service passage meant to light the fire in the furnaces. This service passage can be approached through a gate (L) provided in the main fortification wall of the Complex. On the western side one oblong room and a pillared cloister in front have been provided. The Hammam was supplied water from the well built in the South eastern octagonal bastion of the complex which is covered with domed domed roof.

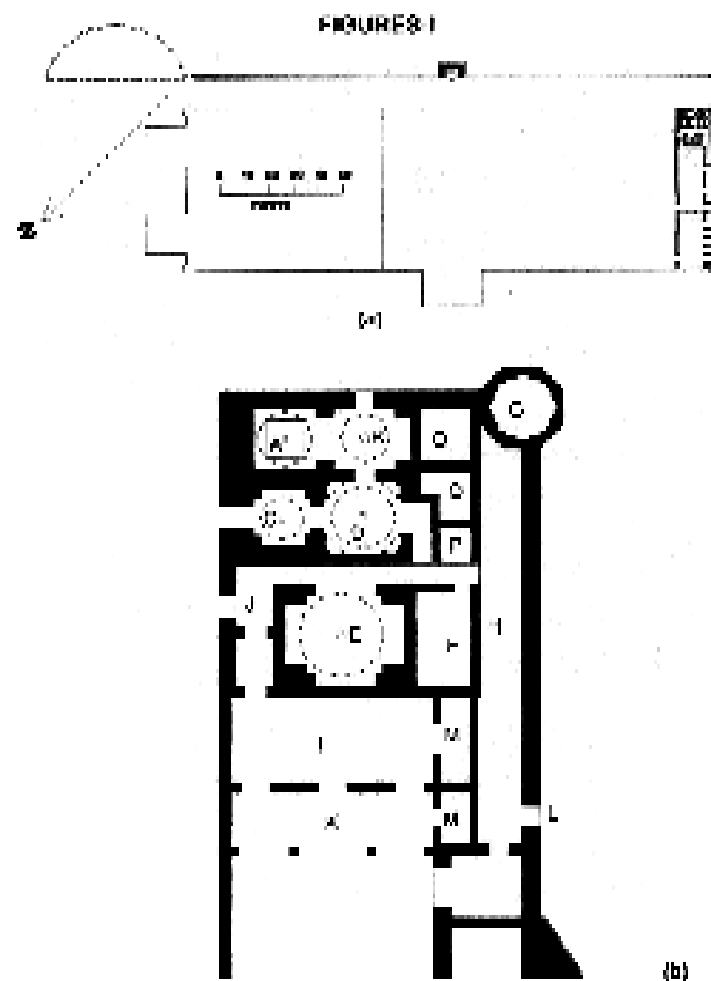
Like the Roman Hammams, floors of the Hammam at Bari was paved with marble i.e. sang-i-marmar and mosaic. Even the open water channels providing in the floors of the chambers, were lined with marble. The walls of the chambers and corridors up to the height of one meter have been covered with dado of glazed

stucco built in oblong shaped panel put horizontally. The panels in dado have been lined with black stucco to create borders of the panels. Above the dado the whole walls were covered with glazed white stucco plaster. Niches were built in the walls which are embellished with flower decoration in different colour stucco. Stucco decoration was found particularly on vaults, domical ceiling and soffits beside the dados. Decorative designs are mostly composed of geometrical, arabesque and floral motifs. Beneath the floor, there was a hollow pavement supported on piers. Hence there existed the system of Hypocaust in the form of tunnel moving beneath the floor of the whole Hammam structure to allow the passage of hot air in order to heat up the chambers above. It was connected with furnaces and when fire was light in furnaces below the water tanks, hot air moves in the tunnels of Hypocaust and made building warm from below. In the summer hollow pavement remained cool as no fire was lit in furnaces. It gives coolness to the Hammam from below.

Since Hammam was meant for bath and its associated function, provision of water was mainly emphasized. The walls were having earthen pipes and floors have water channels to supply water in different chambers as per requirements. Apart from these pipes and channels, miniature tanks sometime open or completely hidden in the thickness of the walls for example Chamber **D** has four miniature tanks sunk in the corners. All these pipes, channels and sunk tanks were connected and got water supply from the water Tanks built in the southeastern corner marked as **O** above the Furnaces. In the winter to warm the building furnaces were light which in turn increased the temperature of the water filled in the stone tanks and hot water moved in the earthen pipes inside the walls making them warm and flow in the water channels of the floors. Partially sunk tank too get this hot water which created vapor for steam bath. On the other hand smoke of the fire of furnaces passed through the tunnels of Hypocaust made the floor of the hammam warm. Thus the whole building became warm in winter. But how did these Hammam make cool in hot season, is subject to future investigation and research.

The exterior of the Hammam structure is absolutely plain and featureless. There is no beautiful superstructure except the sky line composed of semi circular cupolas on the roof. There found no

windows or other openings in the structure of the bath.



### References:

1. Irfan Habib, *An Atlas of Mughal Empire*, New Delhi, 1986, IX to XI.
2. Percy Brown, *Indian Architecture (Islamic Period)*, Bombay, 1956; Ebba Koch, *Mughal Architecture: An outline of its History and Development (1526-1858)*, Munich, 1991; Catherine B. Asher, *Architecture of Mughal India*, New Delhi, 1995.
3. op.cit.
4. R. Nath, *History of Mughal Architecture*, Vol. II, New Delhi, 1985, p.283.
5. Ibid.

6. *Collier's Encyclopedia*, Vol.-17, New York, 1956, p.89; *Encyclopedia of Islam*, New Edition, edited by Lewis, Menage, Ch.Pellat and J.Schacht, Vol. III, Luzac & Co, London, 1971, pp.137-147.
7. *Ibid.*
8. *Ibid.*
9. *Encyclopedia of Islam*, f pp.137-147.
10. K.K.Sehgal, *Rajasthan District Gazetteers : Bharatpur*, Jaipur, 9971, p. 475.
11. *Ibid.*
12. *Ibid.*
13. Irfan Habib, *An Atlas of the Mughal Empire*, Map No. 6B.
14. Jahangir, *Tuzuk I Jahangiri*, tr. by Alexander Rogers & ed. by H. Beveridge, New Delhi, 1968; Inayat Khan, *Shahjahan Nama*, tr. by A.R.fuller , ed. by Begley and Desai, Delhi, 1990
15. M K Pundhir, "Talab Shahi: An Archaeological Study of a Medieval Dam at Dhaulpur", *Puratattva; Bulletin of the Indian Archaeology Society*, No. 38, 2008, New Delhi.
16. M K Pundhir, "Mughal Pleasure Palaces at Bari, Dhaulpur: An Archaeological Study", *Proceeding of Rajasthan History Congress, 26<sup>th</sup> Session*, Pali, 2010.
17. M K Pundhir, "Mughal Shikargahas in Rajasthan: A Study of the Concept, Space Organisation and Architecture", *Proceeding of Rajasthan History Congress, 25<sup>th</sup> Session*, Jodhpur, 2009.
18. See Figure-I, (a)
19. See Figure-I, (b)
20. See Figure-I, (b)
21. See Plate-II, (a),(b) & (c) and Plate-III, (a),(b) & (f).
22. See Plate-III. (f)
23. See Figure-I,(b)
24. See Figure-I,(b) and Plate-I, (f), (h) & Plate-II, (a)
25. See Figure-I,(b) and Plate-I, (a), (b) & Plate-II, (b)
26. See Figure-I (b) and Plate-I, (c)
27. See Figure-I,(b) and Plate-II, (b)
28. See Figure-I,(b) and Plate-I, (g), & Plate-II, (c)
29. See Figure-I,(b) and Plate-I, (e)
30. See Figure-I,(b)
31. See Figure-I,(b)
32. See Figure-I,(b)
33. See Figure-I,(b) and Plate-II, (d)
34. See Figure-I,(b) and Plate-II, (d)
35. See Figure-I,(b)
36. See Plate-I, (c), (d) & (f), Plate-II, (a) and Plate-III (e)
37. See Plate-I, (c), (d) & (f), Plate-II, (a) and Plate-III (e)
38. See Plate-III, (c) & (d)
39. See Plate-I, (c), (d) & (f), Plate-II, (a) and Plate-III (c) (d) & (e)
40. See Plate-I, (c), (d) & (f), Plate-II, (a) and Plate-III (e)
41. See Plate-III, (a) & (b)

## Contribution & Influence of Jain Statesmen in History of Rajasthan-with special Reference to Vimalshah, Udayana, Vastupal & Tejpal

**Daleep Kumar**

Almost every state of Rajasthan and every principality or Jagir was served by more than one Jain minister or manager. We have no information about the Jain Statesmen of Rajasthan before Vimala,<sup>1</sup> who is the most famous Jain statesmen of the eleventh century. He was a son of Vira, the mahattama of the king Mularaja, and rose to the position of the minister of Bhima I by sheer dint of his military skill. Probably, he fought against Mahmud Ghazni with his master. According to the Parabandhas, he defeated the twelve samantas. They may have been deputies or generals left by Mahmud Ghazni after his return from India. He also assisted his master in restoring Saurashtra and Kaccha which became independent taking advantage of the Muslim invasion.

Vimala helped his master Bhima in capturing Candravati, a place near Abu, from Dhandhuka. Bhima made him a governor in recognition of his services. In course of time, Vimala restored friendship between Dhandhuka and Bhima. Bhima returned his kingdom to Dhandhuka but kept Vimala as his representative of Abu as before. Vimala was a deeply religious and self-sacrificing man. He lived an extremely simple life and lavished almost all of his immense personal wealth on the construction of a wonderful temple on Mount Abu. Udayana was the well-known statesman in the time of Calukyan rulers namely Siddharaja and Kumarapala. He was a native of Marwar, born at Jalor. He was a Jain by religion and Srimala by caste. At the suggestion of some persons, he went to Karnavati and stayed at the place of a painter, named Lachhi. In course of time, he won name and fame; and he was appointed as the governor of Cambay by Siddharaja.

Udayana was a devout Jaina and enormously rich. He was responsible for the initiation of hemachandra at the age of eight,

when he was the governor of Cambay. He persuaded his father Chachiga to consent for the initiation of his son.<sup>2</sup> When Kumarapala was wandering as an exile persecuted by the fiery wrath of his uncle, it was Udayana who gave him shelter. There is little doubt that he remained in touch with him throughout his exile and made efforts to secure him the throne. Udayana was a true follower of Jainism. Once Kumarapala sent him against the king of Soratha. He left his army in Vardhamanapura and went to Vimalacala. While worshipping, he saw a rat with a burning wick entering a hole in the wooden temple. Seeing this, Udayana determined to build a stone temple and vowed to take only one meal till the task was accomplished, the imperial army was defeated; but he was mortally wounded. The minister thought that he was dying before having rebuilt the temple of Vimalacala and Bhrgukaccha. His officers assured him that his sons Bagbhata and Amrabhata would carry out his plans. He passed away peacefully when his sons assured him to fulfill his vow. When Kumarapala heard about his death, he was much grieved. Udayana had four sons Bagbhata, Cahada, Amdada and Sola. Bagbhata and Amadada became the prime minister and minister respectively in his reign.<sup>3</sup>

Vastupala, the prime minister of the Vaghela king Viradhavala of Dhavalaka or Dholka during the thirteenth century, was not only a statesman but also a great patron of art and literature. Vastupala and his twin brother Tejapala were born in an aristocratic Pragvata family of Anahilvada in CE 1205. They were the sons of Kumaradevi, the widow remarried to Asvaraja, a military commander of the Vaghelas. During their childhood, they lived with their father in a town called Samhalakapura which was given to him by the Calukyan king as a reward for his services.<sup>4</sup> After the death of Asvaraja, the two brothers with their mother went to Mandali where they lived begun their political career. Vastupala served first under Bhimadeva and his services were lent to the court of Dhavalakka only afterwards.<sup>5</sup> We do not know when Vastupala joined the services of Bhima, and he and his brother were appointed at Dhavalakka in CE 1220.

Soon Vastupala was appointed the governor of Stambhatirtha or Cambay, he improved the economic conditions of the people and reformed the administration. He devised an excellent administrative

machinery in order to put an end to Matsyanyaya & to put a check on unscrupulous people who were making money by base means and indulging in piracy.<sup>6</sup> In this way, he succeeded in checking corruption with an iron hand. All these measures naturally brought about confidence among the people. He also improved the moral tone of the people.<sup>7</sup> As a result of it, life and property became safe and secure, and thus it led to the prosperity of trade and commerce. He established peace in the kingdom, Vastupala launched upon the career of conquests. Samkha, the ruler of Lata, claimed the port of Stambha, which was in the possession of Viradhavala and attacked it. After a fierce fight at a place called Vatakupa (Vadava) near Stambhatirtha, Samkha was defeated. The Yadava king Simhana of Devagiri from the south and the four Marwari rulers from the north made a joint attack on the kingdom of Viradhavala. Showing shrewd statesmanship on this occasion, Vastupala became successful in making truce with the four chiefs from Devagiri. The Prabandhas describe several other warlike deeds of Viradhavala and his two minister. First of all, they conquered the rulers of Vamanasthali (modern Vanthali, near Junagarh). Sangana and Camunda, the brothers of Viradhavala's queen Jayalatadevi declined to pay homage to Viradhavala.<sup>8</sup> They were slain in a combat. The great riches of the place of Vanasthali fell into the hands of Viradhavala. Viradhavala led another attack against Bhimasimha of the Pratihara clan ruling at Bhadresvara in Kutch but could not conquer him; he had to return only after making a peace treaty.<sup>9</sup> By it, a new friend was made and Kutch border became free from danger. After this Viradhavala thought of subduing Ghughula, a chief ruling at Godraha (modern Godhra) in the Mahitata region on the banks of the river Mahi. Tejapala, who was sent with a strong force, captured Ghughula and put him in a wooden cage.<sup>10</sup>

During the reign of Viradhavala, there was the attack of Sultan Mojdin of Delhi on Gujarat but it was successfully repulsed by the strategy of Vastupala. Mojdin may be identified with the slave ruler Iltutmish who ruled from CE 1211 to 1236. The Sultan Iltutmish undertook a number of expeditions to Rajputana and Gujarat. He captured Jalor sometimes between CE 1211 and 1216 and Mondor about CE 1226. In one of these, he might have attacked Gujarat. The enemy was encircled by Dharavarsa of Candravati from the north and Vastupala from the south after his army had entered a

mountain pass near Abu. Consequently, the Sultan had to retreat. After some time, the Sultan's mother was going on pilgrimage to the holy mecca and had come to a port of Gujarat where she was robbed by the pirates. Vastupala returned the old woman's property after receiving her with great respect and also provided for her comfort and safety. While returning from Mecca, she took Vastupala with her to Delhi and introduced him to the Sultan. Vastupala obtained a promise from the Sultan to keep friendship with Viradhavala and thus make his kingdom safe. Coming from Delhi, he was received by Viradhavala with great honour.<sup>11</sup>

According to the Prabandhas, Vastupala had made thirteen pilgrimages to Satrunjaya and Girnar. In childhood, he went to both the places with his father Asvaraja in CE 1193 and 1194. After becoming a minister he led the samghas to Satrunjaya and Girnar in CE 1221, 1234, 1235, 1236 and 1237. The pilgrimage of CE 1221 was probably the most important one as it is described with remarkable accuracy and poetic skill in contemporary works like the Kirtikaumudi, the Sukrtasamkirtana and Dharmabhyudaya. Vastupala and Tejapala are remembered more for the cultural activities inspired by their munificence. They brought about a cultural renaissance. They built a large number of public works like temples, rest house, tanks, wells, etc. Their munificence and philanthropy extended to a large number of places in the whole of Gujarat, Saurashtra and Marwar. Their public works extended to Srisaile in the south, Prabhasa in the west, Kedara in the north and Benaras in the east.<sup>12</sup> They were confined not only to the Jains but were meant for all. They constructed hospitals, dharmasalas, mathas, Siva temples and even mosques.<sup>13</sup> Besides, the famous Jaina temple of Abu at Delavada generally known as Lunavasahi temple was constructed by him.

Vastupala was not only a philanthropist and patron of art but at the same time, a great patron of learning. He has established three public libraries in Anahilavada, Stambhatirtha and Bhrgukaccha by spending enormous wealth.<sup>14</sup> His personal library was also very rich and contained more than one copy of all important sastras.<sup>15</sup> He was highly liberal towards poets and scholars. While giving patronage to scholars, he made no distinction between Jaina and non-Jaina. He gave large wealth to the brahmanas having poetical skills.

Moreover, Vastupala was credited with a critical faculty which enabled him to detect defect in poetic compositions by others and to make improvements in them. He was himself a poet too. His poetic name was Vasantapala. His first poem was the Adinathastotra in the form of hymn in praise of Adisvara on the Satrunjaya hills.<sup>16</sup> He has also written several Stotras like the Neminathastotra, Ambikastotra and a short Aradhana of ten verses. He was also proficient in composition of suktis. In the Abu prasasti, Somesvara has spoken highly of his originality in the field of poetry.<sup>17</sup> He has composed the Naranarayannanda of Arjuna and Krisna.

Several poets and scholars circled round Vastupala and not of the royal court of the Vaghelas. There is no doubt that these poets and scholars came to the Vaghelas court and sometimes received gifts from their ruler. But these writers praised the Vaghela kings not so much as they did Vastupala. It indicates that all of them were dependent upon Vastupala, and it was mainly through him that their literary efforts were appreciated. And hence, were are Vastupala. The names of these writers are Somesvara, Harihara, Nanaka, Yasovira, Subhata, Arisimha, Amaraçandra Suri, Vijayasena Suri, Udayaprabha Suri, Jinabhadra Suri, Naracanda, Narendraprabha Suri, Balacandra, Jayasimha Suri and Manikyacandra.

### References:

1. Pravandhacintamani, pp. 67-68 and pp. 104-105
2. Prabandhacintamani, pp. 201-205
3. Vastupala-carita, Chapter I
4. Naranarayanananda, XVI, 35
5. Kirtikaumudi, IV, 16
6. Vastupala-carita, IV, 40
7. Prabandhakosa of Rajasekhara, p. 103
8. Prabandhakosa of Rajasekhara, p. 104f
9. Ibid. pp. 107f
10. Ibid. pp. 119f. See also Prabandhacintamani, p. 103
11. Vividhatirthakalpa, p. 79. See also Prabandhakosa, p. 130
12. Prabandhakosa, pp. 129f
13. Ibid
14. Vastupala-carita, p. 80
15. Naranarayanananda, XVI, 39
16. Pracina Jain Ledha Samgraha, no. 64
17. Amekanta, II, p. 249

## Abu : A Centre of Jaina Heritage

Asalam Sher

Abu is situated in the south of Sirohi district of Rajasthan. Inscriptional and literary sources, enumerate that it was the centre of the naga tribes in 600- 800 BC. In the early medieval period this place began to be called as delwara (deval-vada: deul-vara, "province or city of temples"), because there were several Jaina and Brahmanical temples. Abu has been regarded as the cradle of the Paramaras, and it is not unlikely that Abu family represented the main family. The Paramaras of Abu generally recognized the suzerainty of the Chalukyas of Gujarat. Both Saivism and Jainism flourished side by side at Abu. Jainism existed at Abu much earlier than 1031 AD. It is assumed that Uddyotanasuri, creator of the Vadagachachha visited Abu in 937 AD.

Abu is mainly famous for the two celebrated Jaina temples namely Vimala Vasahi and Luna Vasahi. The former, dedicated to Adinath was built by a minister named Vimala in 1032 AD. Vimala was appointed as a dandapati of Arbuda mandala by the Chalukya king Bhima I after ousting the Paramara ruler Dhandhuka (c. A.D. 1010-40) who took refuge with king Bhoja, the lord of Dhara. Vimala Vasahi inscription of Abu enumerates that Vimala by his good offices became successful to restore cordial relations between Dhandhuka and Bhima and called him back to rule. Dhandhuka was succeeded by Purnapala who is known to have been ruling at Abu in 1042 A.D. as an independent chief of the Abu. However, an inscription dated 1062 A.D. at Abu shows that the area again passed under Bhima I and at one time or other it remained a part of Chalukya kingdom till the end of the 13th century, though the Paramaras were allowed to rule there as vassals. The Luna Vasahi temple dedicated to Neminath was built by Tejapala in 1230 A.D. for the religious merit of his wife Anupamadevi and his son Lavanyasimha when the Paramara ruler Somasinha was ruling over Abu. According to K.M. Munshi:

"The Delveda temples of mount Abu were the outstanding productions of the western school in its Jaina aspect. They are not

monuments of architecture but are sculptural masterpieces reared on upon, to fashion one of the sculptural wonder of the world."

### Vimal Vasahi of Abu :

The temple of Vimal Vasahi is one of the complete examples of the Jaina architecture. This temple is rightly famous for its architectural wealth and iconographic repertory. It is also among the early examples of Chalukya style. This massive temple was constructed by a minister named Vimala in year AD 1031 at a cost of about nineteen corers of rupees at that time. As regards the construction of this magnificent shrine a legend relates as- once upon a time the great Jain monk Dharamaghosha Suri came to Chandrawati and at Vimala's request, decided to spend the rainy season in the city. The day to day preaching of the monk led Vimala to introspection and deeply religious thoughts. Vimala ultimately requested the teacher to prescribe to him some act of atonement for the great sins of killing (hinsa) and such others committed in statecraft. The monk said that no prayaschitt (the religious practice for atonement of sins) was prescribed for sins committed knowingly and deliberately. However since Vimala had sincerely repented for them and asked for atonement, the teacher advised him to undertake repairs at Abu, the holy place of pilgrimage. Vimala decided to follow the advice and undertook the great task. (Holy Abu).

This temple is simpler and bolder though still as elaborate as good taste would allow in any purely architectural object. Being one of the oldest as well as one of the most complete example of a Jaina temple, its peculiarities form a convenient introduction to the style, and among other things serve to illustrate how complete and perfect it had already become when we first meet with it in India.

The temple of Vimala Vasahi built in white marble, out of a group of four temples situated in a cluster, is for its rich art and Jaina architecture. In the main shrine, is installed a majestic image of Adinath, casted in gold-brass alloy, about 57 inches high adorning with lovely parikara. During later renovations, the stone sculpture of Jina was installed which exists till today.

It has garbh-grha, gudh- mandap , trika mandap, ranga-mandap - entrance porch and devakulikas. It is an attractive architectural piece. It seems that the main temple and some other parts were originally of the black stone. These were built by Vimala. The



entrance is through a domed square portico building supported by six pillars. The main object in this temple is the cell with a figure of a Trithankara which terminates upwards in a sikhara of pyramidal spire like roof. It is attached with a portico of a large size, surmounted by a dome resting on eight pillars, and the whole is enclosed in oblong courtyard about 140 feet by 90 feet surrounded by a double colonnade of small pillars, forming porticos to a range of cells fifty in number which enclose it on all sides. Each cell is occupied by the cross-legged figure of Tirthankara. The great pillars are of the same height, as those of the smaller porticos, and like them, they furnish with the usual bracket capitals. Upon them, the upper dwarf columns are placed to give them additional height, and on these upper columns rest the great beams which support the dome. The lovely marble dome in this temple is further beautified by rich carvings. In the roofs of the corridors also the most complicated ornamental designs have been carved. On the outside the temple is perfectly plain, except the spire on the cell.

The ceiling of the temple has the figures of sixteen Vidhyadevis and others, which are built of marble. They have four hands and look very attractive. Some of them also have their names engraved. Several figures of musicians and dancers with two hands are also there. The Gandharvas are depicted at several places. In a smaller dome of the portico there is an icon of Saraswati (the Goddess of knowledge), having attendants on each side. The figures of sutradhars Kela and Loyan stand on lotus. they were perhaps the chief architects and sculptors of the mandap. The figures of Vidyadevis, Sarasvati, and many armed goddesses in corridor ceiling of the shrine belong to the same age. These are superior works of arts. Some more events depicting the stories of Ramayan, Mahabharat and others have also been chiselled on stone in a beautiful way. Thus the lavish display in the domical ceiling of the Vimal Vasahi attracts notice and come in for praise.

A pavilion facing the entrance porch contains a procession of marble elephants, each bearing a statue of Vimala and his family. This hastihala was constructed by Prithvipal in the year 1147-49 A.D. A statue of Vimala riding a horse is placed near the entrance. Most of the figures which were of the ancestors of Prithvipal are now mutilated. The great rang- mandap, devakulikas and several elephants inside the hastishala were certainly constructed by Prithvipal. K.M. Munshi says in his book *Saga of Indian Sculpture*:

"There is a perfection of detail in these figures and their composition is unique but, as is usual in Jain temples, the sensual beauty of the human body is toned down in the interests of a rounded stiffness. The rhythm of the lines is exquisite, but vigour is subordinated to refinement. What Percy Brown says of the sculptures of the Abu temples is true of the most of the sculptures of the western school of the period. There is a sense of perfection, but it is a mechanical perfection with an over refinement and concentration on details. The decadence of the art of the times made exuberance a geometrical problem which it substituted for beauty."

### **LUNA VASAHI TEMPLE OF ?BU:**

The Luna Vasahi is one more significant Jaina shrine of Abu. It is devoted to Neminath, the 22nd Tirthankara. In the year 1230 A.D. is built by Vastupala and Tejapala (ministers of Viradhawala) stands in a courtyard measuring about 155 feet by 92 feet. It is also said that this shrine was constructed by Tejapala for the spiritual welfare of his wife Annupamadevi and his son Lunasimha. A beautiful big image of the black basalt adorns this magnificent shrine. An inscription in the Luna Vasahi refers to the consecration of that temple in the V.S. 1287 ( A.D.1230-31)describes, the achitecture of the temple in the following words: Tejapala iti kitimdrasacivah shamkhajvalabhish sila Shrenibhin sphurad imudu-kumdaruchiram Nemiprabhor mamdiram / Uccair- mamdapam agarto Jinaravar-avasa-dvipamcashatam tat-parshvesu balanakam balanakam ca purato nispadayamasivan. The plan of the temple is largely an imitation of Vimal's temple, but it also differs in certain aspects. It has garbh- grah, gudh-mandap, trikha-mandap, rang-mandap, entrance porch and devakulikas. It has two porches or mandaps, one of which is called the mahamandapa and the other ardhmandap. The pillars supporting the porch are somewhat taller and of eight types. Around the courtyard are arranged the seventy cells with a covered and enclosed passage in front of them and each of these contains a cross- legged seated figure of the Tirthankara. On the pillars, there stand the massive architraves on which there is a dome. The domical ceiling of the temple and especially the pendant ornament therein surpass in beauty. On a pillar in the temple built by Tejapala, there is a figure of Sarasvati seated in bhadrasana and showing the lotus, conch and the varada in right hands, and the

lotus, kamandalu in the left ones.

The hastishala or elephant house of this is a structure to be specially mentioned. Each of the ten apartments has got an elephant of white marble. These are real pieces of art, beautifully and proportionately carved and shiningly polished. On each elephant, there is one shravak with mahout in front and umbrella bearer in the back.

Tejapala also made arrangements of bathing, worshiping, supervising etc., in this temple and for this purpose the trustees were appointed. Rules were also made for celebrating the festival on the anniversaries of the consecration of the temple. The festival was to begin on the third day of the dark half of the month chaitra and to last for eight days. During this festival, the ceremonies of bathing, worshipping etc., were to be performed by the laymen of certain local community.

Both these temples are similar in style. The beauty of the buildings and the skill of the artists have been appreciated by several scholars. In the words of TOD:

"The delineation of it defies pen, and would tax to the utmost the pencil of the most patent artist" and, he further asserts, "No ornament of the most florid style of the Gothic architecture can be compared with it in richness. It appears like a cluster of the half disclosed lotus, whose cups are so thin, so transparent, and so accurately wrought that they fix the eye in admiration."

#### Henry Cousens remarks:

"The amount of the beautiful ornamental detail, spread over these temples in the minutely carved decoration of the ceilings, pillars, doorways, panels and niches, is simply marvellous; the crisp, thin translucent, shell-like treatment of the marble surpasses anything seen elsewhere, and some of the designs are veritable dreams of beauty."

The above survey reveals that these temples are complete examples of the Jaina architecture and rightly famous for its architectural wealth and iconographic repertory. The grandeur of these temples and the sculpture skill of the masons remind us of their mastery over the chisels and their imagination. There is hardly any portion of roof, gate, torana and sabhamandapa, left without

the marks of artistic perfection. These temples have been described as a dream in marble.

#### References:

1. Rajasthan District Gazetteers-Sirohi, Jaipur, 1967, p. 07.
2. Cf. Majumdar, A.K., Chaulukyias of Gujarat, Bombay, 1956, p. 384.
3. Abu is admitted by all the Paramaras as the original habitat of family (for details see Bhatia, P., The Paramaras, c.800-1305 A.D., New Delhi, 1970, p. 163).
4. For detail see Bhatia, P., op. cit., pp. 165-81, Majumdar, A.K., op. cit., pp. 30-55.
5. Jain, K.C., Jainism in Rajasthan, Solapur, 1963, pp. 1-2.
6. Epigraphia Indica, IX, pp. 148-49, hereafter EI.
7. Dhandhuka was forth in the line of Aranyaraja who was the son of Paramara Utapalaraja. He was appointed as governor of Abu (Majumdar, R.C., The Struggle for Empire, Bombay, 1957, p. 72).
8. Vimalvasahi inscription of Abu informs that Dhandhuka was not agree to serve Bhima, left the Chalukya court and went away to Chitrakuta which was then included with the territory of Paramara Bhoja (EI, IX, p. 148).
9. EI, IX, p. 148.
10. For details see Vasantgarh inscription of Purnapala dated V.S. 1099 /A.D. 1042 (Ibid, pp. 10-15).
11. Cf. Majumdar, A.K., op. cit., p. 50.
12. Tejapala also made arrangements for bathing, worshiping, supervising etc. in this temple and for this purpose the trustees were appointed (EI, VIII, p.204).
13. Munshi, K. M., Saga in Indian Sculpture, Bombay, 1958. p. 39.
14. The Jaina temples of the Chalukya style consists of a sanctum, gudha -mandapa with lateral transepts, a pillared poarch of six or nine bay(caukis) and a peristylar nrtya-mandapa in front, the whole placed in a quadrangle surrounded by an inclosure of shrine-cells(deva-kulikas) facing one or sometimes two bays of colonnaded corridors(bhamti). The elaboration of the pillared poarch into six or nine bays and the addition of the enclosure of shrine-cells around, with colonnaded corridors, constitute of the special contribution of the Jainas to the Chalukyias bulding style( Cf. Ghosh, A., Jaina Art and Architecture, Vol. II New Delhi, 1975).
15. Fergusson, James, History of Indian and Eastern Architecture, London, 1910, vol. II, book V, Chapter III, pp. 36-37.
16. Somani, R.V., Temples of Rajasthan, Jaipur, 1996, p. 125.
17. Ibid.
18. Ibid. Muni Jayant Vijayi , Arbud Prachin Jain Lekh Samdoh, Bhavanagar, V.S. 2005, no. 7.
19. Munshi, K. M., op.cit., p.39.
20. Pal, H. Bhisham, The Temples of Rajasthan, Jaipur, 1969, p. 41.
21. Arbud Prachin Jain Lekha Sandoh, II, no. 1.
22. Jain, Kailash Chand, Ancient Cities and Towns of Rajasthan, Delhi, 1972, p. 452.
23. Pal, H. Bhisham, op.cit., p. 41.
24. EI, VIII, p. 204.
25. Fergusson, James, op.cit., p.36.
26. Cousens, Henry, The Architectural Antiquities of Western India, London, 1926, p.46.

## Career and Achievements of a Muizzi Noble Malik Bahauddin Tughril

Fazeela Shahnawaz

Malik Bahauddin Tughril was one of the Muizzi nobles who played important role in the Ghurid conquests of northern India. He was prominent and a leading noble of the Muizzi court. Minhaj mentions him as one of the greatest, most amiable and the most accomplished of Sultan Muizzuddin of Ghur's slaves. He was admitted to the slave-household of Sultan Muizzuddin and received good education in manners, etiquettes and statecraft. However in course of time, by dint of merit he rose to the highest degree of rank. In 1195-96 AD, Sultan Muizzuddin led a campaign to Bayana in south-eastern Rajasthan, about 160 km south of Delhi, and conquered the strong fort of Thangir which was entrusted to his trusted commander Malik Bahauddin Tughril. Thangir had been the stronghold of the Yadava dynasty till the end of the twelfth century. Malik Bahauddin Tughril became the first Turkish governor of Bayana who established the Turkish hold at Thangir. But later on he constructed his own capital city Sultankot, to the north-east of Thangir and made it his capital town.

The importance of Thangir or Tahangarh fort may be judged from the fact that it was regarded as a strong fort in northern India and was perceived an adjunct of the larger fort at Bayana. Both these forts were constructed by Yadava Rajputs. Thus along with Bayana, the fort of Thangir served as an important military-cum-administrative centre in the region of eastern Rajasthan.

The contemporary historian Hasan Nizami in his *Taj-ul-Ma'asir* records that at the time of Ghurid conquest Thangir (Tahangarh) was ruled by Yadava ruler Kunwar Pal. The ruler displayed much pride on his large forces and fortification. But he utterly failed to resist the combined forces of Sultan Muhammad Ghori and Qutbuddin Aibek and escaped disaster by agreeing to pay the usual tribute. The territory thus came under the complete control of the Ghurid commanders. Sultan Muizzuddin conferred

the government of Thangir to Bahauddin Tughril who was an able administrator as well as the brave commander.

However, contemporary accounts throw considerable light on Bahauddin Tughril's skills and competence in administering the newly conquered province. Hasan Nizami records the *firman* of the Sultan which was handed over to Malik Bahauddin Tughril on his appointment as the *muqta* of Thangir. The *firman* explains that it was the duty of the newly appointed *muqta* to exert himself in the territory and also obey the provisions of *Shariat* (Muslim Law). He should always preserve the laws of justice and elucidate the stipulations of equality. In all circumstances he should act in such a manner that he leaves behind good deeds and a fair name.

However during his governorship, Bayana flourished and became prosperous through his efforts. He administered it with great efficiency and took steps to develop it. He endeavored to stimulate the urbanization programme of the Ghurids in northern India by encouraging considerable Muslim settlements in that province. In his brief note about the Malik Bahauddin Tughril, Minhaj writes that from different parts of Hindustan and Khurasan, large number of merchants, scholars and men of repute had joined him. In turn, Tughril facilitated provisions and resources for their settlements in various parts of Bayana tracts.

To strengthen his policy of urbanization Malik Tughril founded the city of Sultankot in the territory of Bayana and made it his headquarter. Minhaj narrates that Bahauddin Tughril and his army did not like to reside in the fort of Thangir, because of its out-of-the-way position and inconvenience of access. Thus he founded the city of Sultankot and made it as his place of residence. It was the first Muslim city as recorded by historians to have been built in northern India. Thus, Sultankot served the purpose as a base for constant operations for the occupation of Gwalior which was the unfinished expedition of Sultan Muizzuddin. After strengthening his military base at Sultankot, Tughril made preparations for Gwalior expedition. In an innovative way, he erected a garrison fort in a two league distance to the fort of Gwalior which was intended to provide shelter to his army. From this military base, his army used to assault the fort of Gwalior frequently. After a year he besieged the fort on being reduced to straits. The Rai of Gwalior sent emissaries with presents to Malik Qutbuddin Aibek and delivered the fort to him in

1200 AD. It was politically motivated move on the part of the Rai of Gwalior to create gulf between these two prominent Ghurid commanders. Consequently it became the cause of hostility between Malik Bahauddin Tughril and Malik Qutbuiddin Aibek. Ferishta further elaborates that both the Ghurid commanders made preparations for battle but Tughril's death at this time solved Aibek's problem. Modern scholars interpret the event that probably there was no love lost between the two. Otherwise the rulers of Gwalior could not have thought of approaching Aibek with a proposition likely to create a conflict if they had not known of some ill-will between them.

Minhaj highlights some significant aspects of Bahauddin Tughril's career. He pointed out that Tughril governed Thangir under the direct control of Sultan Muizzuddin which indicates his independence from the command of Qutbuiddin Aibek, the then Ghurid sovereign of Delhi. Their rivalry is also evident from the incident regarding the surrender of fort of Gwalior to Qutbuiddin Aibek. Minhaj does not furnish the date for the siege of Gwalior but it appears that it must have taken place after the death of Sultan Muizzuddin of Ghur, when Qutbuiddin had already been declared the Sultan of Delhi. It is uncertain that when the career of Malik Bahauddin Tughril came to an end. It may be assumed that Tughril's death preceded Qutbuiddin Aibek who died in 1210-1211 AD. Thus Tughril's governorship of Bayana spanned from the period 1195 to 1210 AD, less than fifteen years.

It seems more likely that after the death of Sultan Muizzuddin (1206 AD), Tughril declared himself an independent Sultan at Bayana. It is evident from the inscription on the eastern gate of the Chaurasi Khamba mosque at Kaman (Bharatpur district). The coveted title, *Padshah wa al-Sultan Jahan Panah Tughril Sultani*, before the name of Tughril suggests that by the time of the building of this mosque he had declared himself an independent Sultan. Here he introduced himself not as *Sipahsalar* but as the exalted monarch. Thus, the mosque may therefore date from the period of his independent rule after the death of Sultan Muizzuddin in 1206 AD. Minhaj highlights Tughril's personal qualities and achievements. In his view Tughril possessed a personality of excellent disposition, extremely just, kind to strangers and adorned with humility. He left many public works as his memorials in the region of Bayana. His patronage to trade and commerce had made the

province rich and powerful enough to warrant the construction of a new capital Sultankot.

Inscription from Kaman (Bharatpur district) refers to the benevolent work done by Malik Bahauddin Tughril. It refers to the construction of a well, tank and a mosque (popularly known as Chaurasi Khamba masjid) at Kaman. Modern scholars studied three constructions of Malik Bahauddin Tughril: the Chaurasi Khamba masjid at Kaman, Ukha Mandir and the Idgah in Bayana at his newly built township of Sultankot. These mosques were constructed at the turn of the twelfth century. Chaurasi Khamba Masjid is a colonnaded building built round a central courtyard and constructed on Arab-type plan.

However, Malik Tughril achieved an important position among the commanders of Sultan Muizzuddin of Ghur in India. He proved to be a courageous commander as well as a skillful administrator. He followed the Ghurid policy of expansion and urbanization in the province of Bayana by inviting merchants, scholars and men of repute from distinct territories especially from Central Asian parts of Khurasan to settle in the newly conquered territory of Bayana. He worked for the public welfare by constructing mosques, wells and tanks in the newly built capital town Sultankot. Several monuments constructed by him still remains in the region of Bayana which attest his architectural patronship.

### References:

1. Hasan Nizami, *Taj-ul-Ma'asir*, eng. tr. Bhagwat Saroop, Delhi, 1998, pp. 201-202
2. Minhaj Siraj, *Tabaqat-i-Nasiri*, ed. Nassau Lees, Calcutta, 1864, p. 145; eng. tr. Major Raverty, Vol. I, Delhi, 1970, p. 544
3. Slaves segrated for military service could not be deploy immediately. They were carefully vetted, trained and only gradually given the responsibilities of the military command. It seems more probable that Bahauddin Tughril was also raised in status after initial training. cf. Minhaj, p. 145; Sunil Kumar, *The Emergence of Delhi Sultanate*, New Delhi, 2007, pp. 80-81
4. Minhaj, pp. 144-146; eng tr. Raverty, Vol. I, pp. 544-545; Al-Badaoni, *Muntakhab-ut-Tawarikh*, ed. Maulvi Ahmad Ali, Asiatic Society Calcutta, 1868, p. 57; eng. tr. G. S. A. Ranking, Asiatic Society Calcutta, 1973, p. 80; Nizamuddin Ahmad, *Tabaqat-i-Akbari*, Nawal Kishore edition, Lucknow, 1875, pp. 22-23; eng. tr. Barun De, Calcutta, 1973, p. 48; Ferishta, *Tarikh-i-Fersihta*, Vol. I, Lucknow, 1864, p. 59; eng. tr. John Briggs, *History of the Rise of Muhammadan Power in India*, New Delhi, 1966, Vol. I, Calcutta, 1996, p. 101; M.S. Ahluwalia, *Muslim expansion in Rajasthan*, Delhi, 1978, pp. 45-46

5. K. K. Sehegal, *Rajasthan District Gazetteers, Bharatpur*, Jaipur, 1971, p. 50
6. *Archaeological Survey of India Report, A tour in Eastern Rajputana* (1882-83), ed. Alexander Cunningham, Vol. XX, reprint Varansi, 1969, pp. 88-89; Vinod Kumar Singh, 'Tahangarh Fort-An Archaeological Survey', *PIHC*, Patiala, 1998, pp. 1003-1012; Same Author, 'New Epigraphical Evidence Located at Tahangarh Fort', *PIHC*, Calicut, 1999, pp. 1126-1138
7. Savitri Gupta, *Rajasthan District Gazetteers, Sawai Madhopur*, Jaipur, 1981, p. 35
8. See the map attached by Cunningham in *ASIR*, Vol. XX, 1882-83; Also Meherdad Shokoohy and Natalie H. Shokoohy, 'A History of Bayana, Pt.-I: From the Muslim Conquest to the End of the Tughluqid Period', *The Medieval History Journal*, New Delhi, 2004, p. 293
9. *ASIR*, Vol. XX, 1882-83, p. 88; *Rajasthan District Gazetteers, Bharatpur*, p. 50; Vinod Kumar Singh, , *PIHC*, Patiala, 1998, p. 1003; Calicut, 1999, p. 1126
10. Hasan Nizami, pp. 371-375; eng. tr. Bhagwat Saroop, pp. 201-202, 203-207.
11. *Ibid.*, eng. tr. p. 202
12. Minhaj, p. 145; Raverty, Vol. I, p. 545; Muhammad Habib and K. A. Nizami, *A Comprehensive History of India*, Vol. V, New Delhi, 1982, p. 170; I.H. Siddiqui, *Indo-Persian Historiography up to the Thirteenth Century*, Delhi, 2010, p. 133; Sunil Kumar, p. 101; Ahluwalia, p. 47
13. Minhaj, p. 145
14. *Ibid.* ; Badaoni, p. 57; eng. tr. 80; Nizamuddin Ahmad, pp. 22-23; eng. tr. p. 49; Ferishta, p. 59; eng. tr., Vol. I, p. 101; Habib and Nizami, pp. 170-171; Muhammad Habib, *Politics and Society during the Early Medieval India*, Vol. II, Delhi, 1981, pp. 116-117; I.H. Siddiqui, p. 133
15. Badaoni, p. 57; Nizamuddin Ahmad, pp. 22-23; eng. tr. p. 49
16. Ferishta, Vol. I, p. 64; Raverty referring to *Tazkirat-ul-Muluk* supports the view of Ferishta.
17. Habib and Nizami, p. 171
18. Sunil Kumar, p. 118
19. Minhaj, p. 140
20. Mehrdad Shokoohy and Natalie H. Shokoohy, 'The Architecture of Baha al-Din Tughrul in the Region of Bayana, Rajasthan', *Muqarnas*, Vol. IV, 1987, p. 114; *Corpus Inscriptionum Iranicarum*, p. 52
21. Iqtidar Alam Khan, *Historical Dictionary of Medieval India*, Maryland, 2008, p. 33
22. *Annual Report on Indian Epigraphy*, 1965-67, D-320; Z.A. Desai, *Published Muslim Inscriptions of Rajasthan*, Jaipur, 1971, p. 96, No. 303; *Corpus Inscriptionum Iranicarum*, p. 51; Mehrdad Shokoohy and Natalie H. Shokoohy, *Architecture*, p. 115 ; Kumar, Sunil, p. 105
23. Minhaj, p. 145; Sunil Kumar, p. 103
24. Mehrdad Shokoohy and Natalie H. Shokoohy, *Architecture*, pp. 114-132; Sunil Kumar, pp. 103-104. Percy Brown assigned the construction of Ukha Masjid to Qutbuddin Mubarak Khalji. Percy Brown, *Indian Architecture (Islamic period)*, Bombay, 1956, p. 19; while epigraphic evidence suggests that southern structure was constructed by Malik Kafur Sultani in 1320 AD during the reign of Sultan Qutbuddin Mubarak Khalji. For details see Rajeev Bargoti, *Bayana*, pp. 38-45; *Corpus Inscriptionum Iranicarum*, p. 50

## Shahjahani Mosques in Nagaur District (Rajasthan) : A Historical Profile.

Salim Ansari

Shah Jahan was a prolific builder with a highly refined aesthetic sense. His reign is rightly considered as the golden period of Mughal architecture. It was the period when large number of buildings such as forts, palaces, sarais, mosques, etc was built in different parts of the country. Though a large work has already been done on the Shahjahani structures found scattered in different parts of the country, still a large number of monuments of Shahjahani period have left yet to be surveyed and studied.

In this paper I have made an attempt to introduce and reconstruct the historical profile of the mosques which were built during the times of Shahjahan in the Nagaur district; although the area is very far from Mughal capitals Agra and Delhi. This study is totally based on the information provided in the epigraphs and the corroboration from existing survey records.

The district is located between latitudes 26° 25' and 27° 40'N and longitude 73° 10' and 75° 15'E. The maximum stretch of the district from North to South is about 146 km and its maximum breadth from east to west about 229km. Nagaur district was the part of the Ajmer suba during the Shahjahan period. Although, the foundation of Nagaur region is credited with Rai Bisal, who was sent for that purpose by Raja Prithivi Singh of Delhi, the last Chauhan ruler. The date of the foundation of the city is 808 saka sambhat i.e 886 A.D by Rai Bisal, who lived here 60 years in the time of Hazrat Hamiddudin Rihani, who came from Rihan and whose shrine is on a tank. Hazrat Hamiddudin Nagauri had come in the life time of Hazrat Hamiddudin Rehani, while there was no Mohammadan there and hence these two men were the first muslims who visited nagaur. Nagaur is surrounded by city walls, with its battlemented walls massive bastions, ornamental and lofty gates and handsome buildings both intra and extra mural is eminently picturesque from all aspects. And within the city, the principal building is the fort.

Inside the fort there are numerous attractive magnificence edifices such as handsome fountain, courtyard, tirdwali or hall of three walls in a fine garden, which is commonly used as a lounge Baradari. There are numerous mosques in Nagaur region erected by different dynasties or communities over the time such as Pathani, Kaseri (Butcher), Hawkers, Sipais, Baf community, Pathans, Armours, Sakheras, Mughals and Shamshi Khan etc. Therefore, the introduction and historical profile of the mosques of Shahjahan times, reconstructed on the basis of epigraphical and historical sources are given in the successive pages.

(1) The Kachahri Masjid at Didwana was built in the eleventh regnal year of Shahjahan by Muhammad Sharif in 1048 A.H (1638 A.D), better known as Muhammad Sharif Munshi. He was the brother of Qabil Khan, author of the Adab-i-Alamgiri, and was the Darogha of Dak (Post) and Darul-Insha (Office of Communication) See PLATE I A

(2) A mosque is built inside the Nagaur fort which was erected by an order of emperor Shahjahan by his Sipahsalar Khan-e-Khanan Mahabat Khan in 1041 A.H (1631-32 A.D). Qazi Muhammad Tahir was the court calligraphist of Mahabat Khan. See PLATE IB

(3) A mosque of Baba Abdullah in Bajarwada was constructed near the Water Tank at Nagaur, where grave of Abdu-l-Lah is situated and his son Muhammad is considered to be a occupant of the grave. This mosque was erected by an order of emperor Shahjahan in 1041 A.H (1631-32 A.D). See PLATE IC

(4) A mosque constructed near the City Magistrate's office at Nagaur and erected by Tahir Khan whom Nagaur was granted as jagir to him by Emperor Shahjahan. But the date of its construction is having some doubt whether it was constructed under Shahjahan or Akbar. See PLATE IIA

(5) Mosque built in 1st of Muharram, 1061 A.H (25th December, 1650 A.D) near the Water Tank at Nagaur is considered to be the same mosque of Qazi Haji 'Umar was built in the reign of Shahjahan by (?) Muhammad who was fifth in descent from the builder of the mosque, the late Qazi 'Umar, son of Ruknu'd-Din. See PLATE IIB

6. Khari Mosque was constructed by Ishaq, son of Mullah Tahir Multavi during the reign of Shahjahan in 1047 A.H (1638 A.D)

7. A mosque was constructed near the Maya Darwaza of the village Kadana situated in the pargana Lodhana during the reign of Shahjahan in 1047 A.H (1638)

8. Mosque of Hamidu'd Din Nagauri was originally constructed by himself without roof on it but later in the year 1047 A.H (1638 A.D) during the reign of Shahjahan, roof to the mosque was added by Muhammad Nasir.

9. A mosque called kanehri Julahon-ki-Masjid was constructed in front of the Delhi- Darwaza by Mahabbat Darwish during the time of Shahjahan in 1055 A.H (1645-46 A.D)

10. Qanati mosque situated to the north-west of Samman Shah Dargah in Bari Khatu (Nagaur Dist.) Which was constructed by an order of emperor Shahjahan under the supervision of Nahirshah, son of Miyanshah, stone cutter in 1049 A.H (1639 A.D).

11. Another mosque of same name Qanati situated to the north of the above mosque, was constructed by Jamal shah, son of Adam, son of Jumishah, of the Chauhan community during the reign of Shahjahan in 1051 A.H (1641 A.D).

12. A mosque was erected by the efforts of Pahar Khan near Pahar Kunwan in Makrana (Nagaur Dist). Mosque was built during the reign of Shahjahan in 1064 A.H (1653-54 A.D)

13. Idgah was constructed by an order of Jaswant singh Maharaja through his officer Farasat Khan in Merta city (Nagaur Dist.) during the reign of Shahjahan in the year 1066 A.H (1655 A.D).

14. Mosque of Gaditan in Merta city (Nagaur Dist.) was assigned to Firuz Shah, son of Alawal with surname Rathor for its construction under the rule of emperor Shahjahan in 1066 A.H (1655-56 A.D).

15. Jami masjid in Merta city (Nagaur, Dist.) was constructed by Imad Murtada khan for Friday prayer during the reign of Shahjahan, but the date of its construction perhaps not properly being read out infact only month is Rabi' II 29.

### Conclusion

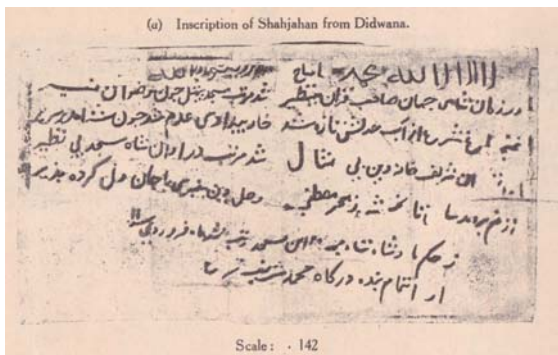
To sum up, one can concluded that epigraphs are providing very useful information which can help to identify and to skatch the history of the mosques built in Nagaur District during the period of

Shahjahan. Moreover, the study indicates that all the mosques were built either by state officials or some religious persons. These mosques which are still standing desperately need architectural and archeological study which will be the subject matter of my other paper.

**References**

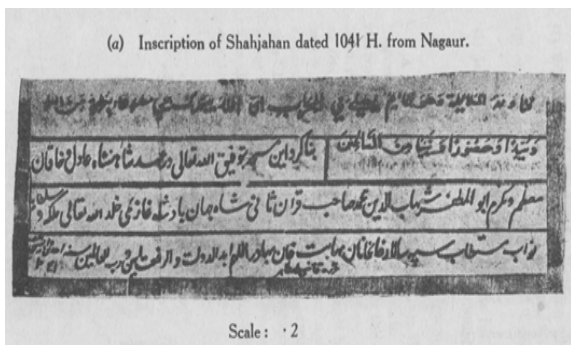
Epigraphia Indica Arabic and Persian Supplement (In continuation of Epigraphia Indo-Moslema) 1937-50, published by The Director General Archaeological Survey of india 1949-50, pp. 25-26 & 43-46  
 A Tour in the Punjab and Rajputana in 1883-84 by Mr. H.B.W. Garrick under the supervision of General A. Cunningham. Vol, XXIII, pp. 48-72.  
 Rajasthan District Gazetteers Nagaur by K.K. Seghal, published by Directorate District Gazetteers, Rajasthan, Jaipur, 1975.  
 Muslim Inscriptions of Rajasthan by Z.A.Desai, published by The Directorate of Archaeology and Museums, Government of Rajasthan, Jaipur, 1971.

**PLATE I**



(a) Inscription of Shahjahan from Didwana.

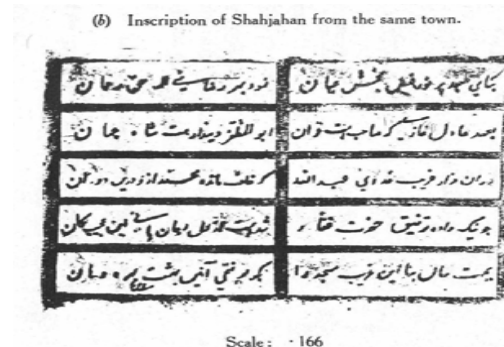
Scale : . 142



(a) Inscription of Shahjahan dated 1041 H. from Nagaur.

Scale : . 2

A

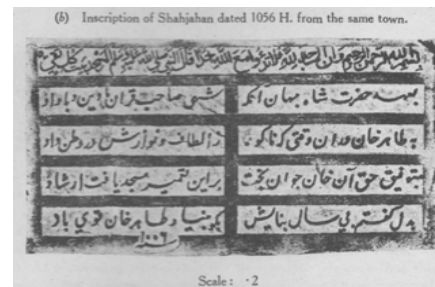


(b) Inscription of Shahjahan from the same town.

Scale : . 166

B

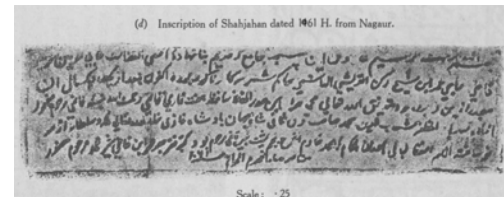
**PLATE II**



(b) Inscription of Shahjahan dated 1056 H. from the same town.

Scale : . 2

A



(d) Inscription of Shahjahan dated 1061 H. from Nagaur.

Scale : . 25

B

**Sources**

- Office of the Directorate, Survey of India, Western Circle, Jaipur.
- See cunnigham's report " Report of a tour in the Punjab and Rajputana in 1883-84, vol XXIII , pp.50-51

3. The first two musalmans at Nagaur were both called Hamiduddin one being surnamed Rihani, with the title of Qadi and the other simply Nagauri.
4. EIM. 1949-50, pp. 25-26; ARIE, 1969-70, No. D, 147.
5. . Maathirul-Umara, Persian text, vol. III, p.35.
6. EIM. 1949-50, p. 43; Z.A, "Published Muslim Inscriptions of Rajasthan", 1971, p.135)
7. Mathirul-Umrah, vol.III, pp.385-409.
8. The title Khan-e-khanan was conferred upon Mahabat Khan by the Emperor on the occasion of his coronation in 1037. A.H (1627 A.D). The Khan-e-khanan was made subedar of Ajmer during which period he seems to have constructed this mosque because then Nagaur formed part of the Ajmer Suba. Later, he was sent to the Deccan where he rendered very valuable services. He died in 1044. A.H (1634. A.D) at Burhanpur and , according to his will , his corpse was brought to Delhi to be buried there.
9. EIM, 1949-50, p.44; Desai, 1971, p.136
10. EIM, 1949-50, p.45; Desai, 1971, p.137
11. EIM, 1949-50, p.46; Desai, 1971, p.138
12. ARIE, 1968-69, No. D, 422; Desai, 1971, p.136
13. ARIE, 1968-69, No. D, 424; Desai, 1971, p.136
14. ARIE, 1961-62, No. D, 261; ASIR , XXII, P.64, No. 6; Desai, 1971, pp.136-37
15. ARIE, 1965-66, No. D, 353; Desai, 1971, p.137
16. ARIE, 1966-67, No. D, 201; Desai, 1971,p.37
17. ARIE, 1966-67, No. D, 204; Desai, 1971, p.38
18. ARIE, 1962-63, No. D, 238; Desai ,1971, p. 104
19. ARIE, 1964-65, No. C, 335; Desai, 1971, p. 107
20. ARIE, 1964-65, No, D, 338; Desai, 1971, p. 107
21. ARIE, 1962-63, No, D, 337; Desai ,1971, p. 108

## Qazi Hamiduddin Nagauri : An Eminent Suhrawardi Sufi from Nagaur

**Dr. Aneesa Iqbal Sabir**

Qazi Hamiduddin Nagauri was one of the great Sufis (Mashaikh) of Hindustan. His name was Muhammad bun Ata but was well known as Hamiduddin. His father's name was Hazrat Ataullah Mahmud. During the reign of Sultan Muizuddin Sam i.e. Shahabuddin Ghuri he came to Delhi from Bukhara and died there.<sup>1</sup> After his father's death Hamiduddin was made the Qazi of Nagaur. He lived there for three years but was fed up of worldly affairs and he decided to isolate himself from worldly life and travel in pursuit of knowledge.

Thus he went to Baghdad Sharif and became a murid of Shaikh Shahabuddin Suhrawardi and served him for one year during which he spent his time in prayer and worship. At the same time he developed deep cordial relations with Shaikh Qutbuddin Bakhtiar Ushi which survived till his death. Shaikh Qutbuddin Bakhtiar Ushi traveled extensively to attain blessings and acquire knowledge, while doing so he met many sufi saints and he writes that Qazi Hamiduddin Nagauri was his companion during these travels. Seeking his mentors permission the Qazi went to Madina Maunawwara, stayed near the tomb of Prophet Muhammad (SAW) for a period of 1 year 2 months and 7 days, from there he reached Mecca Sharif, stayed there for three years where he acquired all kinds of blessings and knowledge and finally reached Delhi during the reign of Sultan Shamsuddin Iltutmish and stayed with Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi and after his death was buried beside him.<sup>2</sup>

### **Knowledge and Learning:**

Qazi Hamiduddin Nagauri was the Khalifa of Shaikh Shahabuddin Suhrawardi. He knew the external sciences (Ulum-u-Zahiri) and internal science (Ulum-i-Batini) very well. Dara Skhokog in his Safinat-ul-Auliya describes the virtues of Qazi Hamiduddin in the following words:



در تجرید و تفریق یکایک معروضات مشرق هند و جامع میان علوم ظاهری و باطنی صاحب کرامات علیہ یونہ ۳ میان علوم ظاهری و باطنی صاحب کرامات علیہ یونہ ۳

(In Tajrid and Tafarqah he was a distinguished personality of his age was amongst the popular mashaikhs of India, was well versed in U;um-i-Zahiri (external sciences) Ulum-i-Batini (internal sciences), was an expert of spiritual miracles and held a prestigious and great position amongst the sufis.)

Shakikh Abdul Haqq Muhaddith writes:

اوجامع بود میان علوم شریعت و طریقت و حقیقت ۴

(he has vast knowledge of U;um-i-Shariat (Islamic Law) and Tariqat (spiritual path) and Haqiqat (facts).

Amongst his contemporaries he enjoyed a very high and respectable position due to his erudition and learning. The Akhbar-ul-Akhyar testifies this fact in the following words:

قاضی حمید الدین راقصانف بسیار است ۵

(There are numerous works authored by Qazi Hamiduddin Nagauri).

He wrote extensively but few of his several works have survived. His most famous compilation is the Tawale-suh-Shumus, compiled in two volumes<sup>6</sup> in which he has explained and discussed the 99 names of Allah in detail and also the significance of hu (Allahu). In the Lataif-i-Ashrafi this book has been described in the following words:<sup>7</sup>

طالع شمس کہ مطلع شمس تھا قق و منبع کیوست وقائق است از دے سرزودہ کہ آں مقدر معارف و عوارف کہ از طالع و طالع می گردود دیگر کتاب یافتنی شود امر و زور جمع مل و نجل و ستور و سند شدہ است ۷

(The Tawale-ush-Shumus is an ocean of facts haqaiq and the details related to facts (Haqaiq) are found in this and it is equivalent to Awarif-ul-Ma'arif, such books are not to be found nowadays and it holds great authentic value in Sufi culcles).

Maulana Abdul Haqq Huhaddith writes about this book:<sup>8</sup>

ہر جامع موج امواج از اسرار حقیقت و فوج از معانی طریقت است محترم است مجمع منبع اور متانت و حرارت و حالت مشاکل و مختلفہ واقع شدہ ۸

(Wherever cosmic waves are flowing and there is army of Tariqat (spiritual path), where there is sincerity and warmth, and resemblance and similarly of existence of such conditions is found there this book holds an authentic position).

He had complete knowledge of Shariah (Law of Islam) and Tariqat (Spiritual Path).<sup>9</sup> He authored the 'Lawaih'<sup>10</sup> and many other treatises.

### Misconception About Qazi Hamiduddin Nagauri:

Although Qazi Hamiduddin was a disciple of Shaikh Shihabuddin Suhrawardi and belonged to the Suhrawardi silsilah but due to his close friendship and cordial relations with Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi he is mistaken to be a Chishti. In Lataif-i-Ashrafi it is mentioned that he was made a Khalifa of Hazrat Autbuddin Bakhtiar Ushi. In Siyar-ul-Aftab it is mentioned that Hamiduddin Nagauri was a murshid (teacher) of Khwaja Qutbuddin who acquired knowledge of Ulum-i-Zahiri (external sciences) from him bu the Qazi did to the high regard that he held for Khwaja Qutbuddin he never displayed of expressed this fact in front of the world."<sup>11</sup>

### Interest in 'Sama':

One of the most popular mystic practices which became a controversial topic during the thirteenth century was the institution of Sama (audition parties). Qazi Hamiduddin Nagauri and Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi were extremely fond of 'Sama' and were active participants of the same gatherings, especially Qazi Hamiduddin Nagauri was deeply inclined and interested in Sama and it is said that it was he who made music popular in the mystical circles of Delhi.<sup>12</sup>

Once in the house of a darvesh close to Sultan Iltutmish's palace an audition party (Sama) was held and both Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi and Qazi Hamiduddin Nagauri participated in it. During that period amongst the famous Ulama was Maulana Ruknuddin Samarqandi who hated the Sama parties, accompanied with some people went to the darvesh's house to stop the 'sama' party. When Qazi Hamiduddin came to know of this he asked the darvesh to hide so that his permission to enter the house could not be sought and if without permission someone forcibly entered it would be considered a breach of Sharia laws, the darvesh acted accordingly.

At the entrance Maulana Rukhnuddin sought permission to enter the house but on receipt of no reply he went back.<sup>13</sup>

Sultan Shamsuddin Iltutmish held immense reverence for Qazi Hamiduddin Nagauri due to his learning and piety. The Sultan always met him with lot of cordiality and respect.<sup>14</sup> Two eminent externalist scholars, Qazi Sa'd and Qazi 'Imad, considered this institution to be illegal. In spite of knowing the deep respect that Iltutmish held for the saint they protested and approached the Sultan to stop this practice in the capital. The Sultan summoned a 'mahzar' to discuss the legal aspect of the problem and invited Qazi Hamiduddin Nagauri to participate in it and explain his view point. When the Qazi arrived at the court the Sultan stood up to receive him, kissed his hand and made him sit beside himself. On being asked on the legality of Sama, Qazi Hamiduddin replied that it was permitted for men with cosmic emotion i.e. the mystics but was prohibited for the externalists. The Qazi then reminded the Sultan of the audition party held in Baghdad in which he zealously served the saints and was assigned the kingdom of Hindustan as a reward by the saints. He said "one day forty Sufis held a same gathering in Baghdad. You and I were both present there, you were a mere boy then and you kept cutting the burnt wick of the candle without being asked to do so. That night the mystics assigned to you the kingdom of Hindustan."<sup>15</sup> Iltutmish was moved, became emotional on recollecting the incident and fell at the feet of Qazi Hamiduddin, seeing his emotional state the Qazi asked his musician Mahmud to recite some verses. The Sultan then accompanied Qazi Hamiduddin to this Khanqah where dinner was arranged and 'Sama' was held.<sup>16</sup> Isami had narrated this episode and it is difficult to establish its authenticity. Probably this could be based on legends which Isami found floating down the stream of time more than one hundred years after the death of the Sultan. However it is certain that there were frequent protests by the orthodox Ulama against the mystical institutions of 'Sama' but they could not put any restriction on it. In fact one of the most important Qazis of the empire during the 13<sup>th</sup> century, Maulana Minhaj-us-Siraj, author of *Tabaqat-i-Nasiri* supported this mystical institution. It was he who gave legal sanction to the institution of Sama in India.<sup>17</sup>

Relations with Shaikh Fariduddin Ganj Shakar:

Sheikh Farid-ud-din Ganj Shakar was made a Khalifah of

Shaikh Qutbuddin Bakhtiar Ushi,<sup>18</sup> and Qazi Hamiduddin Nagauri was present at the time of 'bayt' (initiation). He once wrote the following quatrain (ruba'i) to Baba Farid.

آن عقل کجا کہ در کمال تو رسد  
و آن روح کجا کہ در جلال تو رسد  
گیرم کہ تو پرده بر گزینی ز جمال  
آن دیدہ کجا کہ بر جمال تو رسد<sup>19</sup>

(Where is the intellect that can comprehend your perfection.

Where is the inner illumination that can reach your majesty.

I accept that you (are ready to) lift the curtain from your beautiful face.

But where is the eye that can behold thee).

Shaikh Farid-ud-din was very fond of mystic songs, one day he asked Badr-ud-din Ishaq to bring his bag (Kharitah) of letters and recite this letter of Qazi Hamiduddin Nagauri. Accordingly Badruddin began to read the letter. Hardly had he read the introductory lines that the Shaikh's heart overflowed with emotions and he found in the Qazi's letter the inspiration of a mystic song.<sup>20</sup>

In this malfuzat of Shaikh Farid-ud-din Ganj Shakar i.e. *Rahat-ul-Qutub* there is mention of two books of Qazi Hamiduddin Nagauri i.e. *Tawarikh* and *Rahat-ul-Arwah*.<sup>21</sup>

It seems that the scribe had wrongly spelt the word *Tawarikh* instead of *Lawaih*. Shaikh Farid was deeply interested in the works of Qazi Hamiduddin Nagauri, a close friend and companion of his master, Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi. The Qazis' works formed a very difficult reading but Shaikh Farid had fully grasped these works and could very effectively explain them before his disciples. He taught *Lawaih* authored by Qazi Hamiduddin to Shams DAbir.<sup>22</sup> Shaikh Farid-ud-din Ganj Shakar held high regard for Qazi Hamiduddin Nagauri.

**Relations with Shaikh Nizam-ud-din Auliya:**

Shaikh Nizam-ud-din Auliya developed respect for Qazi Hamiduddin Nagauri in Badaon. Many people of Badaon held great

regard for him. Khwaja Shahay MuiTAB had become his disciple and the saint had bestowed on him his Khirqah (a cloak, symbolizing spiritual succession) another saint of Badaun, Aziz Bashir event to Delhi in order to get the Khirqah from Maulana Nasah-ud-din, son of Qazi Hamiduddin Nagauri. But he did not oblige him as Aziz Bashir was found guilty of making exaggerated statements.<sup>23</sup> Shaikh Nizam-u'd-din Auliya used to sit and pray in the vacant place between the graves of Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi and Qazi Hamiduddin Nagauri. He felt great spiritual exhilaration in praying there.<sup>24</sup>

Revenge and malice had no place in the life of Shaikh Nizamuddin Auliya. He followed the policy of forget and forgive in case of evil doers. He hated sin but the sinner. He refers to divine caution to Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi and Qazi Hamiduddin Nagauri that if evil people were neglected by them, who else would look after them?<sup>25</sup>

Shaikh Nizamuddin Auliya was deeply inspired by Qazi Hamiduddin Nagauri and respected him for his good virtues and learning. Once after going through the works of the Qazi he said to his students "Everyting of what you have yet to study is also here in. And further I confess that what I have studied and what I have not studied I find all of that in these pages.<sup>26</sup> Viewing this statement of Shaikh Nizamuddin Auliya it can be surmised that Qazi Hamiduddin was a scholar of high stature and his knowledge was par excellence.

### Conclusion:

Qazi Hamiduddin Nagauri was a mountain of knowledge, an ocean of cosmic knowledge, commander of a never ending path and he was next to Abu Sufyan Sauri.<sup>27</sup> He was one of the most popular Suhrawardi Mashaikhs of the Indian subcontinent. He started his career as a Qazi of Nagaur but later in search of spiritual knowledge he travelled extensively and finally settled in Delhi during the reign of Sultan Shamsuddin Iltutmish. He was a great scholar and has vast knowledge of Shari'at, Tariqat, Ulum-i-Zahiri and Ulum-i-Batini. He authored many books which were widely read by the Sufis of all Silsilahs. He shared cordial relations with Shaikh Farid-ud-din Ganj Shakar., Shaikh Nizamiddin Auliya and was a great companion of Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi so much so that after his death he was buried beside Khwaja Qutbuddin Bakhtiar Ushi.

### References:

1. Jamali (Fazlullah), *Siyar-ul-Arifin* Delhi, Rizvi Press, 1311 A.H., pp. 147-48
2. *Ibid*, pp. 147-49
3. Dara Sukoh, *Safinat-ul-Auliya*, Nawal Kishore, Kanpur, 1900, p. 160
4. Dehlavi, Shaikh Abdul Haq, *Muhaddith*, Akhbar-ul-Akhyar, Delhi, Matba-i-Mujtabai, 1332 A.H., p. 367
5. *Ibid*, p. 36
6. *Siyar-ul-Arifin*, *Op.cit.*, p. 150
7. Yamini Nizam-ud-din, *Lataif-i-Ashrafi*, Delhi, Husarat-ul-Mutaba, 1295 A.H., p. 368
8. *Akhbar-ul-Akhyar*, *Op.cit.*, p. 37
9. *Ibid*, p. 37
10. Sijzi, Amir Hasan, *Fawa'id-ul-Fu'ad*, Lucknow, Nawal Kishore, 1312 A.H., p. 128
11. Abdur Rahman, Syed Sabahuddin, *Bazm-i-Sufiya*, Azamgarh, Dar-ul-Musannifin, 1971, p. 110
12. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 241, *Akhbar-ul-Akhyar*, *Op.cit.*, p. 36
13. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 239
14. Isami, *Futuh-us-Salat*, ed. Usha, A.S., Madras, University of Madras, 1948, p. 119
15. *Ibid.*, p. 117
16. *Ibid.*, p. 119
17. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 239
18. Mir Khurd, *Siyar-ul-Auliya*, Delhi, Matba-i-Muhibb-i-Hind, 1302 A.H., 1885 A.D., p. 61
19. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 100 Shaikh Nizamuddin Auliya, *Rahat-ul-Qutub*, Lucknow, Qadri Press, 1311 A.H., p. 24
20. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 150
21. *Rahat-ul-Qutub*, *Op.cit.*, pp. 29, 30, 35
22. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 128
23. *Ibid*, p. 174
24. *Siyar-ul-Auliya*, *Op.cit.*, p. 57
25. *Ibid*, p. 52
26. *Fawa'id-ul-Fu'ad*, *Op.cit.*, p. 241
27. *Akhbar-ul-Akhyar*, *Op.cit.*, p. 367

## Mobile Temple : Kawad of Bassi

Prof. Meena Gaur

The handicraft of Rajasthan represents our rich cultural tradition. They embody our heritage of creativity aesthetics and craftsmanship. At a more substantial level the handicraft tradition has substance generation of people in our country. As a highly centralized activity, the handicraft industry is a shining example of using local resources and local initiatives.

Bassi is about 20 km from Chittorgarh district headquarter in southern Rajasthan. This village in Mewar region has gained world wide fame due to its craft and perfection of the finished wooden products. Artisans of Bassi have maintained making Kawad as tradition of folk art on wood and its continuity is still alive. Wooden products manufactured in this village are Puppets, Swings, Bajot, Toran, Chauper, decorative wooden panels for windows & doors, images of Gods & Goddesses etc. But Bassi is most famous and known for its wooden craft Kawad which is a popular folk art of story-telling. At present, about 20 Kheradi (Carpenter) families are involved in this tradition work of Kawad making. This article is a tribute to craftsmen of Bassi who makes Kawad. The artisans of Bassi, with the support of State Government, are doing their best to preserve the tradition of Kawad.

Kawad is 500 years old tradition of story telling by using a wooden box (like wooden temple) which has many folded doors with picture of Gods and Heroes are illustrated on every door. Kawadiya Bhat who is a traditional Bhopa, makes the Kawad according to his wish. The aim of the Kawad is to show and tell the stories of Hindu mythology and religious traditions. A group of craftsmen make these Kawad. The Male and female artisans work together in their family workshops. These skilled persons belong to the Jangid Brahmin caste who is engaged in making of Kawads through the generations.<sup>1</sup>

### History of Kawadia and Kawad

In the Nagour district of Marwar region, we find such type of

traditional art from 7<sup>th</sup> century. Craftsmen of Bassi tell that originally they belong to Nagour. It is also said by them that Prabhat ji Suthar is considered as father of the Bassi's wooden work.

The Jagirdar of Bassi Rawat Govind Das to Bassi, was fond of Art. In 1652, at the time of Jahangir, while he was returning back to Bassi from Delhi he brought Prabhat Suthar from Malpura to Bassi with him,<sup>2</sup> after his arrival at Bassi, Prabhat Suthar made a wooden idol of Gangour which is still available with the Rawat of Bassi.<sup>3</sup>

The artisans of Bassi make Kawad of wooden plates or panels painted first in orange colour then stories are depicted by making painting in a series on both sides of panel. It has multi panels and doors and fixed in a way that can be folded and becomes portable. Each panel depicts stories mostly related to epics and myths. A secret compartment is made at the bottom of the Kawad to keep money. The Kawadias tell stories of each panel which is narrated in rhythmic pattern by opening successive doors and pointing to each painting with a peacock feather. The reading proceeds from the frontal panels to the inner until the tale is completed and last panel is opened to grant the gathered viewers a (*Darshan*) glimpse of the deity represented. After the stories are over, the audiences are requested to place donation. There is always a small drawer or slot at the bottom of Kawad, where the audience could give their appreciation by depositing cash.

Traditionally Kawads are based on stories of Rama and Krishna. Other than these subjects, Kawad artists also make religious, mythological, historical, erotic, festivals, contemporary and social issues besides other subject as well as of Lord Mahavira, Lord Buddha, Jesus Christ, Goga ji, Teja ji, Ramdev ji, Goddess Durga, Devnarayan, Panchtantra, Lord Ganesh, Maharana Pratap, Prithvi Raj Chauhan, marriage procession etc.<sup>4</sup>

Kawad are tools of professional bard and commissioned by traditional story-tellers (Kawadiya Bhats), who specified what is to be depicted on the shrine. They traditionally travel from village to village, chanting the tales of Mahabharat and Ramayan. Most Kawadiya follows the same general format, illustration from the great epic. Normally a Kawad depicts pictorial stories from Ramayan on the left series of panels and stories from the life of Krishna on

the right, with references to the local myths and patterns towards the end.<sup>5</sup>

### **Raw Material is used in the making of Kawad**

i) Wood: Wood is the primary and the most important raw material required for the preparation of Kawad. The wood of the Khirni or Dhudhia tree (*Wrightia Tinctoria*) is used in the craft. It is soft, easy to work on, and especially suitable for doing fine art work as there are no fibers in it.

Khirni wood has a natural light yellowish in colour which provides the necessary base for further colouring. The elasticity in this wood and so the Kawad do not easily break even if it fall on the ground from considerable height. The wood is available in abundance in the forests of Parsad and Ratanpur, about 45 to 85 kms from Udaipur. Formerly Bhils used to fetch the wood from the forest.

The Kumawats believe that this tree if cut during the bright half of a month, it is liable to be affected by worms. Trees are, therefore, generally cut during the dark half of the month. As soon as it is cut, shaped and kept in shade to dry.

The basic structure of the Kavadi is made of medium soft, low density wood – usually adusal, meetha neem or salar. The surface of the wood has a few defects which are filled with a mixture of sawdust and adhesive. The object is then dried and coated with khaddi, a type of soil found in Bhilwara district, which acts as a primer and gives the object a shell white hue. Previously, naturally derived colours were utilized but they have now been replaced with powder or poster colours that are mixed with gum and water and finished with a coat of transparent varnish.

ii) Lac and Lacquer: Lac is a dark red transparent resin curst which gathers on twigs of certain trees notably Sal (*Shorea robusta*) and Dhak (*Butea frondosa*) as the result of the gummy excretion from the body of a variety of insects. Lacquer, on the other hand, is a vegetable oleo-resin which naturally exists in a liquid state and is thickened by ashes into an elastic material that can be molded. One point in common between the two is that, with the exception of indigo, practically all the other pigments used in the lac and lacquer wares are metallic oxides. Lac and lacquer both produces very attractive finish. They can be applied with rapidly and dried quickly and can resist water to a considerable extent.

iii) Colours: Paints required for coloring the articles are prepared by the craftsmen themselves. Vegetable colour mainly yellow, red, green, blue, and mineral colours made from harital, goguli, hinglu, hara, matt are the basic colours used in paintings these crafts. Some mixed colours like pink, orange, purple, black are also prepared and some metal are also used like gold, copper and silver for preparing the finished products.

iv) Kewra Leaves: (*Pandanus* or Screw-Pine) Kewra is a flowering plant with strong sweet smell. The leaves of this plant are required by the craftsmen to give finish to the coloured products. Kewra grows in abundance in the marshes in Kewra Ki Nal near Udaipur. Pads with thinness of about 4 cms are required for polishing the wooden articles. The thicker the leaf, the better are the results produced.

v) Sand Paper: Paper covered on one side with glass sand is used for smoothening surface of the articles. Sand paper of various gradations viz. very coarse, coarse, medium, fine and superfine is used according to necessity.

vi) Different equipments of the craftsmen used in making Kawad:

1. Karoti - used in wood cutting
2. Basula - used to give a shape to wood
3. Chorsi - used for ornamental work on wood
4. Reti - used for rubbing of the wood
5. Randa - used to make wooden surface smooth and soft
6. Shilla - to make equipments sharp
7. Sand Paper - to smoothen the wooden surface

### **Process of Production**

The process of production of Kawad is normally made in three stages as under:

Stage I- Wood is cut into pieces of appropriate length by the use of Karoti (hand-saw) and reduce to the required thickness by mean of the Basula (adze).

Stage II- Some times heat is applied to the pieces of wood to make it completely dry. Then Randa is mounted on the wood or Kharad (lathe) to smoothen the surface. The sharp edges of the wooden plates are smoothened by Reti. Sand paper of appropriate grade is then used to further smoothen the surface of the Kawad.<sup>6</sup>

Stage III- The stage is now set for the work of applying colours to the articles. A piece of rag dipped in til oil is held against the revolving objects when the lac takes a polish which is further given a final finish with the Kewra leaf. This polish on the article lasts for a long time. After the colouring of the surface, it is kept in shade to dry. Pictures are then painted on the panels in a series to make meaningful story.

### Conclusion

Kawad is a very impressive and forceful medium of communication. It has been observed that when schools were not in existence in villages the Kawadiyas were communicating about the stories of God – Goddess to village mass and to learn moral values by telling stories of God, Goddess and Heroes. Even today it may become a powerful means of teaching to the children who are deprived of formal school learning and moral teaching besides entertainment. No doubt the Kawad is also to be prepared in different mode of learning.

Kawad making looks like a fast disappearing tradition. Not more than 10-15 artisans are left who do this work. Changing lifestyle patterns have made the story narration practice lesser, thus the traditional Kawad with telling stories are no longer sustainable as an only means for income. The craftsman started making smaller Kawad as decorative items or gift items which are now a days in good demand.<sup>7</sup>

### References

**Note:** My article is based on the personal interview with the artisans of Bassi during my visit. These artisans are Dwaraka Prasad Suthar, Ghanshyam Suthar, Tina Suthar and Bimla Suthar.

1. Ranjan, Aditi & M P Ranjan, Craft of India – Handmade in India, New Delhi, 2007, p 118.
2. Nath, Aman & Francisn, Art and Crafts of Rajasthan, Mapin Publishing House Pvt. Ltd. Ahmedabad, 1987, p 217.
3. Bhalla, Dr. L.R., Samayik Rajasthan, p 453
4. Ranjan, Aditi & M P Ranjan, Craft of India – Handmade in India, New Delhi, 2007, p 120.
5. Kothari, Gulab – Rajasthan ki Gramin Kalayen evm Kalakar, Jawar Kala Kendra Jaipur.1997 p16.
6. Ibid, p 15
7. Sandarbhika Rajasthan, Sujas, p 906

## Love in Bundi Painting

Dr. Jivan Sodhi & Dr. Pretty Sodhi

Bundi became an established center of art and paintings in centre Rajasthan from 17th to 19th centuries. The contribution of Bundi paintings (on walls, in palaces, on paper and cloths) to Indian art is unsurpassable. Bundi style of painting has always enjoyed a special place of pride and dignity in the Art Museums of the world.

Bundi, one of the pioneer art-style of medieval Indian miniature art, not only discovered a stylistic distinction of its own but also had a wide range of themes and in some of them greatly excelled. As its style influenced various styles of Indian miniature art, so did its themes, more particularly its depiction of love. It is in its depiction of love that Bundi miniatures attain their lyricism, emotionally, aestheticism, spiritual, fervor, and primary appeal. Love gives to Bundi miniatures all their dimensions and delighting perspectives, as it is in tune with its theme that a Bundi miniature discovers them. Romanticism is the mood of Bundi miniatures and love-divine or sensual, their spirit.

In Bundi miniatures, love sprouts gently like petals of a rosebud. As lightening remains concealed behind clouds, and bursts into a colourful glow when clustering clouds strike, or rather embrace each other, so when loving ones meet, love bursts in Bundi miniatures. But, it then becomes their primary glow and glory, their body and soul, and the primary concern. Sometimes its depiction is bold or a little violent but sometimes it manifests in a coy maiden's eyes, in Krishna's tickling Radha, or a Gopi's teasing Krishna by an empty pot which he snatches from her hands thinking that it is all full of butter.

Bundi artists, aware of the significance of love in life, particularly in the life of Rajasthan, discover the prime appeal of their art in love, and taking a little more liberty in eroticism, depicting sometimes various stages of love making and amorous dalliance including depiction of physical union. Love, as the theme of art, and perhaps as much the theme of Rajasthani people, who 'fought with

great valor and loved with unique warmth and zeal', has so much overpowered Bundi miniatures that whatever their theme, love is their fragrance, their essential spirit, and their entire being. Bundi artists attempted to discover in depiction of diverse themes a situation of love and amour.

The Bundi artists, as also the artists of its brother state Kota, might discover a situation of love even in a sport, or hunting expedition. In such depictions, love often transcends human barriers and reach animal kingdom. In a Kota painting, Maharo Durjan Sal of Kota and Jhala Sheo Singh on tiger hunt, Watching Lions at play at Jora Ki Bard, finding a lioness feeding her cubs, and the father lion sporting with them, the enchanted hunter puts his gun away and watches this drama of divine love mesmerized.

Love defeats violence. In several Bundi miniatures this love across barriers is their prime thrust. Royal ladies seen feeding fish or sporting with a peacock are not scenes of sport, but manifestations of love, the love of human being beyond the realm of man.

The Bundi artists has used primarily four sets of themes for depicting love-conceptual themes, the Baramasa and Ragas, episodes from the myths and legends related to the lives of Shiva and Krishna, the divine lovers, harem life, and the life episodes of common man. Baramasa paintings, depicting man's emotional reaction to nature's month-wise changing cycle, are usually the depictions of love, whether the love in separation, or in union. The separated maiden pines every day to meet her lover who is away sojourning in far off lands and she who is with him finds in this changing cycle ever fresh and renewed impetus. In some innovations, Bundi artists have discovered in Radha and Krishna, their motif figures, some delightful situations of love in union-seated in a pavilion watching clouds gathering in sky, lighting fireworks, kissing each other and the like.

The Ragamala paintings are to the Bundi artists the most potent vehicle for representing various situations of love, both of separation and union. If Ragini Todi, Ragini Kukubh, Ragini Gaudi, and some others depict the separated one pining to meet her love who is away in far off lands. Ragini Varari, Madhu-Madhavi (pl.1), Vibhasa, Vilavala, Basant, Raga Bhairava, Hindol, Malkaunsa, Raga Megha, and others depict lovers in union. There is a wide range of

love situations which Ragamala paintings depict. With the arrival of Basant, it might burst as flowers in nature, or as Ragini Vilavala the heroine, impatient to meet her lord, begins her make-up much before the sun has set. And in Ragini Varari, who is known as experienced heroine (Praudha Nayika), the Bundi artist has depicted her (heroine) experiences with the hero who (hero) is cupping her balloon-shaped breast and she is enjoying the advances of the hero.

Unlike Pahari artists who discover Shiva in almost all situations of love, the Bundi artists used him with restraint, which they should have for a divine being. It is mostly through Ragas, mainly the Raga Bhairava and Ragini Madhu-Madhavi, that they have represented him in love mode. Raga Bhairava is considered the first Raga in Indian musical system, and being the Adi guru of music Shiva represents it. Hence, in the representation of Raga Bhairava, he is sometimes represented alone. But, Bundi artists preferred to paint him with his consort in an amorous mood. The Bundi artist deserves appreciation for the successful presentation of Shringara Rasa and has taken the liberty to break the tradition and painted in true sense the first month of union of male and female after their marriage. The mode of depiction of the Ragini Madhu-Madhavi of the early 18th century is entirely different from the other depictions of the Rajasthan schools. In this picture, Shiva and Parvati are shown seated on a bed, placed on a platform with all pomp and dignity under the red canopy. They are shown embracing each other to enjoy the pleasure of love in union (Sambhoga) at night. The artist of Bundi has painted the literal meaning of Madhu-Madhavi (Madhu-Masa), the month of honeymoon. The application of bright red colour and the composition successfully bring out the romantic atmosphere created by the divine lovers. It carries a universal appeal. Stylistically speaking, though the lovers are divine yet they are full of romance.

It is, however, in various episodes from the life of Krishna that the Bundi artists discover the ultimate of love. One may hardly conceive a situation of love which the Bundi artists have not discovered in the love of Radha and Krishna. Not that gopi,s could not protect their pots of butter from him but they wished Krishna snatched them and ate butter from them. But, love has a different course too. A gopi decides to play trick. She brings an empty pot. As usual, Krishna snatches it, but finding it empty throws it away and leaves.

Gopi goes after him teasing and perhaps persuading him to go with her as she has a lot more at home. Krishna tickles Radha, massages her feet, applies mahawara, dresses her hair and indulges in other games of love. In paintings depicting Holi- Lila and Rasa-Lila, they (Radha and Krishna) lost all the consciousness of their separate existence, and whatever they were whether one or two individual, united or separate, who is who and where and why, was lost in this movement of joy.

Bundi artists often strive to make a religious subject highly romantic and charge it with emotion. The element of eroticism in religious theme is a unique phenomenon of Indian miniature art as in it the ephemeral is seen elevating to spiritual heights. In paintings depicting the love of Divine beings, Bundi artists charge their atmosphere with same romantic fervor with which they do in paintings depicting human love and romance. Stylistically speaking, they represent Shiva and Krishna and their consorts, the divine beings, not as gods but as men and women living his next door.

Bundi paintings reveal dozens of situations of human love, both relating to nobility and common man, to also include firangis who have been largely painted or caricaturized at Bundi and Kota. Raskapriya, the poetry of medieval poet Keshavadasa, has been the most potent source of love paintings in Bundi art. Bundi painters used poet's imagination to discover various situations of love for their figures. Rasikapriya as much inspired Krishna's theme and iconography. Hence, Rasikapriya has been the most widely used source for Bundi artists. In situations of love, common man is in dual role. An ordinary maid is represented as consoling a desperate maid and sometimes aiding her to meet her lover. These maids are seen as instrumenting various situations of love in harem life. But, besides, common human beings, though only rarely, are represented also in independent situations of love. Besides, Bundi and Kota artists have serialized or painted isolated folios of various popular romances, that of Baz Bahadur and Rupmati and Laila and Majnun in particular. Love is, thus, the essence and the very spirit of Bundi miniatures.

### References

1. Archer W.G., Indian Painting in Bundi Kotah, London: Her Majesty's Stationary Office, 1959.
2. Barret, Douglas, Painting of India, Lausanne, 1963. And Gray, Basil
3. Beach, Milo, Rajput Paintings at Bundi and Kotah, Ascona, 1974. Cleveland

4. Cimino, Rosa, Life at Court in Rajasthan, Trino: Mario luca Giusti, 1985. Mario
5. Dhaundiyal, Rajasthan District Gazetteers Bundi, Jaipur.
6. Dr. Daljit, Immortal Miniatures, New Delhi, Aravali Books International (P) Ltd., 2002. The Glory of Indian Miniatures, New Delhi, Mohandira Publications, 1988. Fragrance in Colour, New Delhi, National Museum, 2003.
7. Dr. Daljit & Prof., Krishna: Raga se Viraga Tak (Hindi), New Delhi 2002' P.C. Jain
8. Khandalavala, "Leaves from Rajasthan," Marg, vol.4, no.3, 1951. Karl J.
9. Sodhi, Jiwan, Bundi Painting, New Delhi, Abhinav Publishers, 1999.
10. Pal, Pratapaditya, The Classical Indian Traditions in Rajput Paintings, New Delhi, 1978.
11. Singh M. Brijraj-The Kingdom That Was Kotah, New Delhi: Lalit Kala Singh Akademi, 1985.
12. Topsfield, Paintings from Rajasthan in the National Gallery Victoria Andrew Melbourne, 1980.



## Application of Tools in the Making of Jaipur City

**Farhat Kamal**

Buildings of India have been the focus of attention of Mughal Emperors. Babur in his memoirs criticized the building structures of India because of its lacking in regularity and symmetry. Though Humayun laid the foundation of Delhi but he had no time for pursuing building activities.<sup>1</sup> Akbar paid particular attention to the construction of buildings which were a source of splendor for him and full fledged building activities started from his time. Since the empire came to be completely consolidated in the time of Akbar, he therefore started his building endeavor by laying out massive forts of Agra and Delhi. Abul Fazl describes the large scale construction of Akbar's period comprising of forts, towers, palaces and sarais etc. Evidence of their interest can also be seen in the edifices left by him.<sup>2</sup>

Studies on buildings and town planning of Jaipur have always aroused great interest of scholars therefore considerable researches have been conducted on these aspects.<sup>3</sup> However an important aspect, the building material has been overlooked by scholars. In this paper an attempt has been made to explore the constructional activity and tools of Jaipur during the period of Sawai Jai Singh in the light of Arhsatta Imarti document. Arhsatta Imarti reveals the various details of building constructional technology.

Arhsatta Imarti furnished the types of building constructed, the different technique and tools employed in building construction and different material used in the construction, and the numerous artisans and labourers were required.

Jaipur was important centre where its rulers in the 18th century had made elaborate arrangement of karkhanas organized largely on the Mughal pattern which meet the demand for the palace.

The progress of medieval crafts in India is undoubted, while, primitive technology is the most frequently applied definition. But Scholars hold different opinions regarding this. Some of them mention

that technological primitivism of medieval crafts is an aspect of all-embracing stagnation of pre-modern Indian civilization. Others admire the artistic dexterity and the skill of the craftsmen and stress that their genius needed no sophisticated tools to produce real masterpieces.<sup>4</sup>

Medieval Indian crafts were based upon manual labour. According to Marx, "Each separate branch of production acquires empirically the form that is technically suited to it, slowly perfects it, and as soon as a given degree of maturity has been reached, rapidly crystallizes that form. The only thing that here and there causes a change, besides new raw material supplied by commerce, is the gradual alteration of the instrument of labour. But their form, too, once definitely settled by experience, petrifies as is moved by their being in too many cases handed down in the same form by one generation to another during thousands of years."<sup>5</sup>

Marx's description of manual labour is applicable to both the Western and Eastern crafts. Medieval Indian crafts and Western manual crafts were distinguished by very slow development of tools and techniques. Medieval Indian craftsmen inherited the tools and techniques from their forefathers. Unlike the machine production, aimed at the manufacturing of a standard thing, medieval craftsmen did his best to make every article on individual basis, to fully express his test and talent in it. Their purpose was to achieve perfection in craft which itself was looked upon as a kind of religious duty.<sup>6</sup> According to A. P. Kolontayev, "the effectiveness criterion was not the decisive one in the work of ancient and medieval craftsmen."<sup>7</sup>

Moreland made a special study of the economic condition which prevailed under the Mughals. He mentions that India was more advance in matters of industry than Eastern Europe.<sup>8</sup>

According to Irfan Habib, innovations in construction included the improving of bricklaying techniques, usage of lime mortar and the adoption of true arch during the thirteenth-fourteenth century.<sup>9</sup> Miniatures from the Akbar Nama offer unique information about the bricklayers, some women are also employed in making the mortar (chunam). This chunam added much attention to the beauty of the buildings and their comfort while Mirza Abu Talib noted the absence of chunam as a great demerit of the British construction techniques.<sup>10</sup>

There are some European scholars whose attitude towards Indian industries was more positive. G.S. Lebedev and other itinerants

of the eighteenth and early nineteenth century praised the skill and techniques of Indian craftsmen.<sup>11</sup>

European travelogues are supposed to be the most reliable and informative kind of material regarding the Indian industries like Bernier, Pelsaret, and Tavernier and so on. European travelers attribute Indian implements of production rather simple and crude but in spite of indifferent tools, they yet managed to produce works of the highest quality.

Bernier says: "Workshops occupied by skillful artisans would be sought for in Delhi, which has very little to boast of in that respect. This is not owing to any inability in the people who cultivate the arts for there are ingenious men in every part of India. Numerous are the instances of piece of workmanship made by person destitute of tools and who can scarcely be said to have received instruction from a master. Sometimes they imitate so perfectly articles of European manufacturer that the difference between the original and the copy can hardly be imagined."<sup>12</sup>

Medieval dictionaries and vocabularies constitute a group of the most valuable sources as they feature the technical terms pertaining to different crafts thus allowing us to reconstruct the tools and techniques of medieval craftsmen like Farhang and Bahar-i-Ajam.<sup>13</sup>

Miniature paintings of sixteenth and eighteenth centuries deserve attention of scholars. We have a visual knowledge of constructional activity and tools of construction workers, which is important for our study.

Ain-i-Akbari is most important source which was frequently used by the scholars for understanding the building construction of the late sixteenth century India. This source is indeed a mine of information of building construction during Akbar's period.<sup>14</sup>

It is unfortunate that miniature paintings do not depict excavations and the laying of foundations. However, Tashrih-al Aqwam shows a beldar digging a foundation trench with a spade.<sup>15</sup> Our documents also give the detail of foundation trench, which was done by beldars with jhumra.<sup>16</sup>

The carpenter has been portrayed in Mughal paintings both as a particular professional engaged at his own place of work as well as attached to the constructional site with other craftsmen. It

is obvious that he was performed a skilled job in both cases which clear his profession as a specialized crafts.<sup>17</sup> Arhsatta Imarti reveals the work of khati (carpenter) and also the name of place to which they belonged.<sup>18</sup>

Paintings show a carpenter who is using a tool to cut the timber. The tool can be identified as the straight arri (hand saw).<sup>19</sup> Three other tools can be seen: one is the basola, (an adze)<sup>20</sup> with a handle at the right angles to the blade, used for shaping wood and the other is the carpenter barma (bow-drill)<sup>21</sup> for making round holes. Kamani operates the barma.<sup>22</sup> A common feature in the tools of Indian crafts has been the use of metal and wood.

Our documents furnish that khati (carpenter) was engaged for making the kibat (door), barsa (door-frame) and other things of wood for the buildings. Even document mentions the quantity of material.<sup>23</sup>

The other sketch of a carpenter shows other implements for instances niharni (an auger/awl),<sup>24</sup> randa (plane), sumba/tesha (carpenter's chisel) and arri (hand-saws).<sup>25</sup> The arra-kash (sawyer) is also portrayed in the paintings.<sup>26</sup>

Masons have been shown, along with other craftsmen in the paintings depicting building construction. Abul Fazl terms them as the beldars.<sup>27</sup> We have also noted the beldars and their wages in our document.<sup>28</sup>

Akbarnama shows the using of kirni (trowel) to spread mortar on the bricks. The other tools in evidence are a small hammer and wooden board, the latter used to smoothen the cemented areas.<sup>29</sup>

Mason can also be seen plastering the walls of buildings under construction. Farhang defines the craftsmen doing this particular work as the raj or memar.<sup>30</sup> The painting depicts a karni (trowel) which was identified as the girmala<sup>31</sup> used for spreading the plaster-material on the surface of the wall.<sup>32</sup> This was a hand-tool with a pointed, triangular blade.<sup>33</sup> Basoli was used for breaking the bricks, it is mason's tool, smaller than the carpenter's basola and fixed the little differently to the handle.<sup>34</sup>

The other craftsman is shown sitting on a wooden stand and seems to be smoothing the surface of the wall with a small tool, probably the polisher (muhrah).<sup>35</sup> Farhang mentions sandal for this wooden stand which attached at the top of the craftsmen.<sup>36</sup> The

Amal-i-Salih mentions the art of polishing stone surfaces (mohra-kashi).<sup>37</sup> Farhang mentions thapi (burnishing tool) for polishing the surface of the wall.<sup>38</sup>

Stone cutters have often been mentioned in literary tracts of the period, perhaps reflective of the high regard these professional commanded. Babur praises the remarkable dexterity of masons, especially the stone masons.<sup>39</sup>

Sang-trash as professionals, have only been shown in connection on with building construction activities. Mughal paintings depicting building construction have shown stone cutters clearing stones in to the desired size by putting in long nails at regular spaces in straightness then hammering at them to get neat slabs used in construction of buildings. Among the tools shown, only the hammer, tesha (chisel) and tankari (nails) are in evidence. The nails appear to have been two types one is thick and other small. Slabs of stone are shown being cleft by putting nails at regular distance. After this stone-cutter sat on the slab, took a nail in one hand and hit it with the hammer. When nails have been secured in to the stone and used both his hands to force down the hammer upon the nails.<sup>40</sup> W. Finch found it remarkable that stone of Indian quarries could be cleft like logs and sawn like planks.<sup>41</sup>

Arhsatta Imarti also reveals the information of stone work. We have intricate information of stone work have done in different apartment of the buildings and different stones like sang surkh, sang gilula, sang bhakri and so on used for making the Jali (screens) and patti (slab) of buildings.<sup>42</sup>

Sang-tarash can be divided in to three categories: a) sangbar, b) munabbatkar, naqqash and parachinkar, c) sadakar.<sup>43</sup>

Arhsatta Imarti mentions fouda (spade) tool. It was used for making or mixing the lime (chuna-ka-gara karo) and also digging the clay.<sup>44</sup> Farhang also mentions this tool for the same.<sup>45</sup> The miniature paintings show that labour (majur) is making the mortar with the help of this tool.<sup>46</sup>

Abul Fazl does not mention ironsmith (ahangar) in the list of building workers. Some miniature paintings reveal that an assistant is seen with a raised axe, about to strike the hot metal sheet. Two men are engaged in making flat metal sheets, one sits on the ground, resting a big square piece of metal on an anvil, while the other man

stands nearby, holding a hammer to bring it down on the metal sheet. The few other pieces of metal are also seen.<sup>47</sup>

## CONSTRUCTIONAL TOOLS

Adapted from Farhang Istalahat-i-Peshwaran

Farhang mentions the tool of building construction.<sup>48</sup> Our document also reveals constructional tools like Jhumra, fouda, kasi, and axe. Even document most of the time mentions the quantity of tools. The quantity mentioned in our records is tabulated below.

Table Showing Variety and Quantity of Iron tools

Big hammer (Jhumra)	4 pieces (Adad)
Tala (lock)	2 pieces
Kusi	8 pieces
Sakli Kudal	4 pieces
Taki	2 pieces
Khardi	1 pieces
Cheeni	2 pieces

To sum up one can discern that in line with the broad spectrum of the Mughal Empire similar application of tools and techniques were applied at Jaipur city. The nature of the tools was high quality in respect of constructional activity. The tools facilitated specialized art and reflect artistic dexterity. Our study indicates the aspects of high level of progress in the Mughal constructional activity.

## References

1. Verma, Tripta, Karkhanas under the Mughals from Akbar to Aurangzeb, A study in Economic Development, Delhi, First Pub., 1994, p. 89.
2. Abul Fazl, Ain-i-Akbari, eds., Naval Kishore, Lucknow, pp. 116-18.
3. The Books that had given adequate information about Planning of Jaipur City are Roy, A. K., History of the Jaipur City, New Delhi, 1978. Sarkar Jadunath, A History of Jaipur, Hyderabad, 1984. Pareek, Nand Kishore, Rajdarbar and Raniwas, Rajasthan Patrika, Jaipur. Bhatnagar, V. S., Life and times of Sawai Jai Singh, New Delhi, 1974. Jain, Shikha, Princely Terrain-Amber, Jaipur and Shekhawati, Gurgaon, 2005.
4. Vanina, Eugenia, Urban crafts and craftsmen in Medieval India, (Thirteenth-Eighteenth Centuries), New Delhi, 2004.
5. Karl Marx, The Capital, Vol. I., Moscow, 1978, p. 456, Cf., Urban crafts and craftsmen in Medieval India, op. cit., p. 29.
6. Urban crafts and craftsmen in Medieval India, op. cit., p. 29.
7. Kolontayev, A. P., Lower Forms of Production in the Countries of the South and South East Asia, Moscow, 1975, p. 43, Cf., Urban crafts and craftsmen in Medieval

- India, op. cit., p. 29.
8. Moreland, W. H., *India At the Death of Akbar*, London, 1920, p. 172.
  9. Habib, Irfan, 'Changes in Technology in Medieval India,' *Studies in History*, Vol. 2., 1980, p. 22.
  10. Khan, Abu Talib, *Travels of Mirza Abu Talib Khan in Asia, Africa, Europe During the Years 1799 to 1803*, trs., c. Stewart, Lucknow, 1974, p. 119. Cf., *Urban crafts and craftsmen in Medieval India*, op. cit., p. 64.
  11. *Urban crafts and craftsmen in Medieval India*, op. cit., p. XXII.
  12. Bernier, Francois, *Travels in the Mugul Empire*, A. D. 1656-1668, eds., A. Constable, Oxford, 1934, pp. 254- 56.
  13. Rahman, Zafarur., *Farhang Istalahat-i-Peshwaran*, Vol. i., Delhi, 1939-41, p. 81. (A Glossary of Technical terms used in Indian Arts and Crafts and it is in 8 vols.) Bahar, Tek Chand, Bahar-i-Ajam, Lucknow, 1916.
  14. *Ain-i-Akbari*, op. cit., pp. 116-18.
  15. James Skinner, *Tashrih-al Aqwam*, BM Add. 27255. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., p. 24.
  16. Arhsatta Imarti, B. N. 6, 12.
  17. Qaisar, A. J., *Building Construction in Mughal India*, Delhi, 1988, p. 25.
  18. Arhsatta Imarti, B. N. 12.
  19. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., Vol. I, p. 18.
  20. *Ibid.*, p. 26.
  21. *Ibid.*, p. 24.
  22. *Ibid.*,
  23. Arhsatta Imarti, B. N. 12, p. 47.
  24. For niharni, see, Muhammad Shadiyabadi, *Miftah-ul fuzala*, BM Or. 3299, f. 46b. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., p. 25.
  25. *Tashrih-al Aqwam*, no. 69, p. 220. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., p. 25.
  26. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plates, 6 and 7, p. 28.
  27. *Ain-i-Akbari*, op. cit., p. 118.
  28. Arhsatta Imarti, B. N. 6.
  29. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plates, 6 and 7, p. 28. See also, *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., Vol. I, p. 28.
  30. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., Vol. I, p. 134.
  31. *Ibid.*, p. 148.
  32. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plates, vi, and 7, p. 28.
  33. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., p. 117.
  34. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plate, 5, p. 28.
  35. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plate, 6, p. 28.
  36. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., p. 95, 191.
  37. Salih Kanbu, *Amal-i-Salih*, Vol. I, G. Yazdani, Bib. Indica, Calcutta, 1912, Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plate, ii, p. 25.
  38. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, Vol. I., p. 117.

39. Babur, Zahiruddin Muhammad, *Babur Nama*, trs., Beveridge., New Delhi, 1970, pp. 520, 585, 606, 63, Jahangir, Nuruddin, *Tuzuk-i-Jahangiri*, trs., Rogers, Vol. 2, London, 1908, 1909, 1914, p. 333.
40. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., plate, ii, p. 24.
41. Foster, S. W., *Early Travels*, (reprint), Delhi, 1968. p. 157, Cf., *Building Construction in Mughal India*, op. cit., p. 24.
42. Arhsatta Imarti, B. N. 12, pp. 31-33.
43. *Ain-i-Akbari*, op. cit., p. 170, Also see, Abdul Hamid Lahori, *Badshanama*, Bib. Indica, Vol. II., pp. 312-14, 323. Cf., *Building construction in Mughal India*, op. cit., p. 24.
44. Arhsatta Imarti, B.N. 12, p. 18, B. N. 13, p. 71.
45. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., Vol. I, p. 86.
46. *Akbarnama*, Victoria and Albert Museum, London, no. IS 2 -1896, 45/117. Cf., *Building construction in Mughal India*, op. cit., p. 26.
47. Binyon L., and Arnold, T.W., *Court Painters of the Grand Moghuls*, PL. VIII, London, 1921. See also, *Building construction in Mughal India*, op. cit., p. 26.
48. *Farhang Istalahat-i-peshwaran*, op. cit., p. 87.
49. Arhsatta Imarti, B.N. 12, p. 18.

## The Verse Specific Visualization in Mewar Paintings

Suresh Chandra Jangid

### Abstract

Almost every area of this hospitable land with diverse variations of climate, people and customs, language and colours, had unique similarity in art and literature. Every part nurtured artistic and cultural activities of profound standards proving the heights of creative imaginations.

### Introduction and historical background

Arawali range of south-eastern part of Rajasthan was known as Medpat or Mewar due to its habitant tribe Mev or Mer. It has border line of Malwa and Gujrat. The hilly area with many lakes is known for the spirit of freedom and maintained the sovereignty even at the heavy cost against the Mughals. The tradition of painting epics and poetic works has been patronized by the state and large sets of such series were executed.

Mira's devotional songs and the establishment of the seat of Sri Nathji at Nathdwara also had great impact on the art of painting. Though early references come in literary forms, continuity is there. The Samaraichacha Kaha, a text composed in the 8th century by an eminent Jain scholar Haribhadra Suri, at Chittor refers to the art of painting. Its second chapter states about the love story of princesses Kusumavali and prince Simhakumar. Both of them painted two different aspect of the same story depicting male and female swans. Chronologically, dated 1229 AD three engraved line drawings showing two male and one female figure from Samiddheshwar temple at Chittor may be cited here.

Actual example of painting comes from the 13th century, first being a manuscript illustrating Sawak Pattikamma Sutta Chunni dated 1260 AD, painted in characteristic Jain style at Ahad, presently in the collection of Museum of Fine Arts, Boston, U.S.A. next comes Supas nah Chariyam painted at Delwara in 1423 AD, during the

time of Maharana Mokal. Another example of the 15th century, dated 1435 AD was commissioned by the Maharana Kumbha himself. Executor was Bhikan Shah and the subject shata ritu or six seasons. Maharana Kumbha, a great patron of art, music and literature ruled for thirty five years. Sangitraja, a treatise on music and theatre was composed during his time, it also discusses subjects of paintings. Shresthis of Mewar continued to commission illustrated texts. Once the trend was set, manuscripts illustration came in its full form.

Though politically disturbed, art of painting continued and patronized in Mewar in the 16th century and the works like Chaurpanshika came in existence. The most significant work is Dhola Maru dated 1592 AD in the collection of National Museum, New Delhi. But the most flourishing period is the 17th century which commences with illustrations of Ragamala painted by Nisardin at Chawand. It was during this period when the tradition of illustrating literary and religious texts was begun.

After the death of Mughal emperor Akbar, his son Jahangir and grandson Shah Jahan adopted an attitude of reconciliation with the Ranas of Mewar. During this phase, master painter Sahibdin and his team painted Raga Mala (1628 AD), Rasikapriya (1630 AD), Gita Govinda (1630 AD), Sursagar (1640 AD) and Bhagavata Purana (1648 AD). Arsha Ramayana is another magnificent work in which both Sahibdin and Manohar worked. Mewar's atelier experienced disturbance for a short period due to Aurangzed's orthodox attitude during the reign of Maharana Raj Singh. But again it came in its full swing after the settlement of 1861 AD.

### The verse Specific Visualization

This was the time of Maharana Jai Singh (1680-1698 AD) who was keen to introduce new subjects to his artists. 'Jotdana' repository of paintings was re-organized, painted folios were re-arranged in bastes and were properly numbered. Presumably six thousand paintings were made. Following the tradition of recitation, text is written at the top in Mewari dialect. Maharana's instructions was followed and Sanskrit classics Raghuvamsha of Kalidasa, Kadambari of Banabhatta, Malti Madhava of Bhavabhuti, and religious texts Kashi Kanda, a part of Skanda Purana, Bhagvata Gita, Harivamsha and Eklinga Mahatmya were illustrated.

The concept of remarkable imagination describing the nature in poetry is termed as Baramasa. This is rather the awareness of the daily rhyme enlarged to annual life cycle. Though many civilizations have described seasons and months in their own way, but Rajasthan has the awareness of the annual cycle of change of seasons, play of time, formalizing the descriptions very differently with a creative urge. Scorching hot days, rains, cold winter and autumn have received special mention in literature, exploring the finest nuances of human behavior and sentiments. These Rajasthani descriptions in form of love story, portray the finest delicacies of nature and human soul. Nature has its form comparable to woman and man, the creator, longs for nature which is the source of generation. The important compositions which inspired the painters are many which were visualized. Some of them are as under:

Prithviraj Raso, though based on a historical episode this composition is related to Prithviraj Chauhan III of Ajmer. When he was told by a Nata about the beauty of Shashibrata, he became impatient to meet her in rainy season. On other occasion, while he was going to attend the Yajna at king Jayachandra's palace with an inclination to see Samyogita he goes to the other queen to bid farewell. The queen describes the beauty of different months and necessity to stay with her and requests the Nayaka not to leave her.

Bisaldeo Raso - It contains the songs of separation of queen Rajamti which has described seasons and months very minutely.

Dhola Maru ra Duha - This has elaborate description of rainy season which describes it as most provocative season for separated lovers. Other seasons like Grishma, Sharad and Hemant are also described.

Beli Krishan Rukmini ri - It was composed in Dingal dialect by Maharaj Prithviraj of Bikaner, a poet of great repute while residing at Ganrgon Fort. This poetical composition has mentioned varsha the rainy season very elaborately. The major idea which makes it different from other love texts is its depiction of the love in union.

Chaur Panchashika - It was rather personal expression of Vilhan the poet who was in love with Champawati. It contains fifty Chhandas written in 12th century, which shows the mix influence of Afghani, Hindu and Mughal traditions, powerfully blended to present the unique, forceful and fluent, lines and compact composition.

Bihari Satsai - Poet Bihari was the pride of Jaipur darbar. He was paid one mohar a gold coin for a couplet during the period of Mirza Raja Jaisingh.

Gita Govinda - A text composed by Jayadeva in 12th century celebrates love of Radha and Krishna. Its language is Sanskrit but it became very popular both among the elite and folk. Kapila Vatsyayan, who has done extensive research on it writes, "The phenomenal pervasive influence on the Gita Govinda, in all the Indian arts is perhaps second only to the Ramayana, the Mahabharata, and the Meghaduta of Kalidasa."

Ekling Mahatmya - Eklingaji, a form of Shiva is the family deity of the Maharnas of Mewar, a text composed in praise of him was commissioned by the royal family of Mewar and later on an illustrated copy was also prepared.

Rasikpriya - was composed in 1591 AD by Keshavadasa, the reknowned Brajhasha poet who lived at the court of Maharaja Indrajeet of Orchha in the 16th century. Soon after its completion it became a favourite of both the patrons and painters and remained so for next three hundred years. This alluring poetic work gives elaborate description of love in union and separation Samyoga and Viyoga. It describes the qualities of man and woman by classifying them categorically with particular name. This work inspired to paint the large series not only to Rajasthani artists but all over Mughal and Pahari as well.

### **Contribution to the art of painting**

Mewar's contribution to the art of painting is significant and this charming style characterized by warm colours and bold drawings continued for thousand years uninterrupted. This continuity is a rare phenomenon which is not seen often. Mewar pioneered manuscript painting in Rajasthan both in historicity and innovativeness. Ever fresh vitality, great emotionality, use of bright colours and colourful arrangement of background full with plants, flowers, trees, hills, clouds and decorative architecture are some of the characteristics which take 17th century Mewar painting to a great height.

### **References**

1. Chandra, Moti - 1970. Studies in Early Indian Painting. Asia Publishing House, Mumbai.
2. Chandra, Moti & N.C. Mehta - 1962. The Golden Flute - Indian Painting and

- Poetry. Lalit Kala Akademi, New Delhi.
3. Coomaraswamy, Anand K. - 1975. Rajput Painting. Hacker Art Books, New York.
  4. Coomaraswamy, Ananda K. -1972. Jaina Art. Munshiram Manohar Lal, New Delhi.
  5. Das Gupta, Rajatananda -1972. Eastern Indian Manuscript Painting. D.B. Taraporevala Sons & Co. Pvt. Ltd., Bombay.
  6. Das, J.P. - 1985. Chitra -Pothi illustrated Palm-leaf Manuscripts from Orissa. Arnold-Heinemann Publishers (India) Pvt. Ltd., New Delhi.
  7. Deshmukh, S.B. - 1988. Illustrated Manuscripts in The History Museum of The Marathwada University. Registrar, Marathwada University, Aurangabad, Maharashtra.
  8. Falk, Toby & Mildred Archer - 1981. Indian Miniatures in the India Office Library. Sotheby Parke Burnet, London.
  9. Guy, John with an essay by O.P. Agrawal - 1982. Palm-leaf and Paper Illustrated Manuscripts of India and Southeast Asia. National Gallery of Victoria, Melbourne, Australia.
  10. Nawab, Sarabhai Manilal - 1959. The Oldest Rajasthani Paintings from Jain Bhandaras. Sarabhai Manilal Nawab, Ahmedabad.
  11. Saxena, Jyotsna - 1998. Early Indian Paintings in Sanskrit Literature. Bhartiya Kala Prakashan, Delhi.
  12. Sivaramamurti, C. - 1983. Panorama of Jaina Art. The Times of India, New Delhi.
  13. The Indian Heritage - Court Life and Arts under Mughal Rule. Victoria & Albert Museum - 1982.
  14. Ramnath - 1973. Madhyakaleen Bharatiya Kalaeyn Evam Unka Vikas, Rajasthan Hindi Grantha Akademi, Jaipur.
  15. A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpsutra as Excuted in the Early Western Indian Style text by W. Norman brown, smithsonian institution, freer gallery of art, washington, 1934.
  16. Rajput Painting, Catalogue Note by Shermen E. Lee, George Montgomery , Gallery Director, Asia House, Composition by Carnegie Press, Inc, New York, 1960.
  17. Visual Poetry - An Exhibition of Miniature Paintings of Mewar based on Poetic Works, text by Chandramani Singh, Sumehendra, Pankaj Dharendra. Jawahar Kala Kendra, Jaipur, 2004.ling Mahatmya (1725-50 AD)

## **Study of cesses on cattle and their population during the 18th century Bikaner**

**Ms. Kanchan Lawaniya**

Present Paper attempts to define and analyze the different taxes imposed on cattle in Bikaner State. Moreover, an investigation has to be made to trace the impact of taxes on the economy as pastoral economy has kept second place after agriculture and the economic behavior of individual's taxes, together with the various aspects that effect the growth of population in the State.

These documents could be defined as account book, which provide the detailed and valuable information about the various taxes of agricultural & non- agricultural nature such as Talbana,<sup>1</sup> Guvvari,<sup>2</sup> Halbhanchh,<sup>3</sup> Rukhwali Bhanhh,<sup>4</sup> Cattle<sup>5</sup> taxes etc. Details of the taxes on cattle & calculation of their population are available only in the Bahis of two years (A.D.1791 & A.D.1794). Hence; the data available in these Bahis could be used in the calculation of the population of cattle over the period. During the 18th century, Bikaner State had been a very prominent place, being the second largest Rathor principality of the Sarkar of Marwar (Suba Ajmer),<sup>6</sup> founded by Bika ,a Rathor Rajput,the eldest sixth surviving son of Rao Jodha,Chief of Marwar.<sup>7</sup> In the records, Bikaner State appears as divided into nine Cheeras and parganas.<sup>8</sup> Present study encompasses details of taxes on cattle & their population in five divisions namely; Sheikhsar, Rajahad, Jasrasar, Khadra and Kharipatti. The sub division or Cheera was composed of a large number of villages. A fixed number of villages could not be ascertained in the sources examined by me. The sources provide the details of a number of taxes imposed on cattle which could be defined or described as follows.

### **Uoont Bab**

The term Uoont bab consists of two words i.e. Uoont and Bab, the former means camel and the later signifies tax on them. It means that Uoont bab was the tax imposed on the camel. The document records the assessment of the tax on the camels owned by the peoples of villages for many purposes.

The rate of Uoont bab was found uniform<sup>9</sup> from A.D.1794 to 1797 in all the divisions of Bikaner State.

On the bases of the information about the tax on camel provided in the sources under study, the following tables are prepared & facilitated village-wise, extent of taxes and estimation of camels of population in five selected divisions of Bikaner state.

Table A-1

Total tax on camels & their population in Bikaner in A.D.1794<sup>10</sup>

S. No.	Name of Cheera	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of Camels
1.	Sheikhsar	8	177	88.5
2.	Rajahad	8	32	16
3.	Jasrasar	9	302	151
4.	Khadra	9	36	18
5.	Kharipatti	4	171	85.5

Table A-2<sup>11</sup>

Total tax on camels & their population in Bikaner in 1797 A.D.

S. No.	Name of Cheera	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of Camels
1.	Sheikhar	8	23	11.5
2.	Rajahad	8	15	7.5
3.	Jasrasar	9	66	33
4.	Khadra	9	18	9
5.	Kharipatti	4	75	37.5

An analysis of the above tables indicate that all the villages of the sub division of the states did not have camel population during the period from 1794 to 1797 AD. In the cheera Sheikhar, eight villages from where Rs.177 were collected as a tax on camel. Since our Sources have provided that a uniform rate of the tax on camel was used i.e. Rs.2.00 per camel.<sup>12</sup> Hence total number of the camel in the eight villages of the cheera Sheikhsar could be computed 88.5\* camels in the year of 1794 A. D. In the sameway when the data of the same Cheera has been tabulated in the second table of the year A.D.1797, then the population of the camel in the eight villages of the Cheera Sheikhsar came 11.5 camels.

In the above tables when the number of camel could be computed in the context of cheera Rajahad, Jasrasar, Khadra,

Kharipatti. There registered a definite decline in the population of camel over the period from 1794 to 1797A.D.

### Balad Bab

Balad bab,<sup>13</sup> the term is composes of two words Balad & bab .Where as Balad means Bollocks & bab signifies tax. The state used to realize a tax on the bullocks. It was not charged at the uniform rate<sup>14</sup> in the sub divisions of Bikaner state from A.D.1794 to 1797.

On the basis of information provided by our documents, we have prepared the following tables as below;-

Table B-1

Total tax on bullocks & their population in 1794 A.D.

S.No.	Name of Cheeras	No.of villages	Amount of tax In Rs.	No. of Bullocks
1.	Sheikhsar	8	28	28
2.	Rajahad	8	96	96
3.	Jasrasar	9	146	146
4.	Khadra	9	84	84
5.	Kharipatti	4	64	64

Table B-2

Total-tax on bullocks & their population in 1797 A.D.

S.No.	Name of cheeras	No.of villages	Amount of tax in Rs.	No. of bullocks
1.	Sheikhsar	8	37	74
2.	Rajahad	8	46	92
3.	Jasrasar	9	74	148
4.	Khadra	9	70.50	141
5.	Kharipatti	4	70.50	141

On the basis of the information which our sources provided, we computed the number of bullocks of the five cheeras of Bikaner state for the year of 1794 and 1797 A.D. from the perusal of the above tables, in the of 1794, the rate of the tax and number of the Bullocks came equal. From the table B-1, It is deduced that in cheera Jasrasar bullocks were found in maximum number while it was minimum in Cheera Sheikhsar and it was also the same in the year of 1797 A.D. as per the table B-2. On the analysis of the both tables, it can be said that the population of bullocks were increased.



### Bhains Bab

The term Bhains<sup>15</sup> means Buffalo, the people who bred buffaloes for milk and other dairy products, had to pay bhains bab in the Rathor state of Bikaner. It was levied at the uniform rate in almost Cheeras of the state in 18th century i.e. Rs.1.00 per head of the cattle.<sup>16</sup> The following tables are composed of the number of villages of each Cheeras of the state, total number of buffaloes and the amount of the tax which received by the state.

Total amount of tax on Buffaloes & their population in A.D.1794.

S.no.	Name of Cheeras	No.of villages	Amount of tax in Rs.	No.of buffaloes
1.	Sheikhsar	8	9	9
2.	Rajahad	8	29	29
3.	Jasrasar	9	38	38
4.	Khadra	9	96	96
5.	Kharipatti	4	20	20

Table C-2

Total amount of tax on buffaloes & their population in A.D.1797.

S.No.	Name of Cheeras	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of Buffaloes
1.	Sheikhsar	8	6.50	6.5
2.	Rajahad	8	41.50	41.5
3.	Jasrasar	9	51.50	51.5
4.	Khadra	9	69	69
5.	Kharipatti	4	37.50	37.5

The above tables indicate that the population of buffaloes had increased in almost Cheeras of Bikaner state except of Cheera Sheikhsar during the period of three years.

The number of buffaloes was 9 in 1794 A.D. in Cheera Sheikhsar while it became 6.5 in 1797 A.D.<sup>17</sup> The factor behind increasing the population of buffaloes was most probably, the economic one. The pastoral community of the state earned their livelihood by selling of buffalo's milk, Ghee<sup>18</sup> and other dairy products.

### Kain bab

The state used to realize a tax on sheep which was known as kain bab. In locally language the word kain used for the herd of

sheep. Sheeps play a very important role in the economy of the state. They were a major source of livelihood to a large population of the state.<sup>19</sup> They provided milk, Ghee, wool, valuable manure and meat as well. In the state of Bikaner, It was levied at the rate of Rs.0.50 (eight anna) on a group of twenty sheep<sup>20</sup> (0.025 per sheep). The following tables show the incidence of this tax in different Cheeras of Bikaner state.

Table D-1

S. No.	Name of Cheera	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of sheep
1.	Rajahad	8	66	2640
2.	Khadra	*	*	*
3.	Jasrasar	*	*	*
4.	Sheikhsar	*	*	*

\*The Bahi does not provide the data of kain bab for the Cheeras of Bikaner state.

Table D-2

S. No.	Name of Cheeras	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of sheep
1.	Rajahad	4	3.75	150
2.	Khadra	6	9	360
3.	Jasrasar	6	25.50	1020
4.	Sheikhsar	8	19.25	770

In the year 1794 A.D. out of four sub divisions, only in one namely Rajahad, the tax imposed on sheep was recorded in the eight villages. On the basis of data, in eight villages, total number of sheep is 2640.

The amount of the tax in other cheeras is not however, flourished in the manuscript and the sheets appear to have been mislaid. Since the record is thus

Incomplete, it is possible that there might be some more cheeras, which are untraceable.

### Gaay Bab

Generally the word gaay used for cows. Hence gaay bab was a tax imposed on cow. In 1794 A.D. no tax collected on the name of cow, was found in our document. But in 1797 A.D. there

was a tax, used to realize from cows i.e. known as gaay bab. It was levied at the rate of Rs. 0.50 (eight annas) on per head of cattle.

Our document is silent about the same tax for the year of 1794 A.D. the reason of behind it, is the subject to further study.

On the basis of the sources of A.D. 1797, tabulation has been done, which shows the total amount of gaay bab, realized from the cattle owners, number of located village and the number of cows.

Table E

Total tax on cows and their population in 1797A.D.

S. No.	Name of Cheera	No. of village	Amount of tax in Rs.	No. of cows
1.	Kharipatti	7	126.50	237
2.	Rajahad	10	47	94
3.	Jasrasar	14	82.50	165
4.	Sheikhsar	22	99	198
5.	Khadra	22	98.50	197

The above table indicates that the number of cows were maximum in cheera kharipatti ,inspite of minimum number of located villages in the Cheera. While it was minimum in Cheera Rajahad.

On the basis of the information about the tax realization, provided by our sources, we calculated the total amount of the tax of all villages of a Cheera and the number of cows for all villages as well as all Cheeras of the state.

An appendix has set out with the figures given in the documents for different cheeras of the state of Bikaner.

Table F

S.NO.	Name of Cattle	Population in Bikanar in	
		V.S1851./A.D1794	V.S.1854/A.D1797
1.	Uoont	59	98.5
2.	Balad	418	596
3.	Bhains	192	206
4.	Gaay	Nil	891
5.	Kain	2640	2300

In the above tables, an attempt is made to compare the proportion of the cattle population of V.S.1851/A.D.1794 (as

calculated before) with the population of Bikaner for V.S.1854/A.D.1797. We can see from the analysis of the tables, that the population of all cattle except uoont is increased in the end of 18th century.

The population of camel declined from 359 in A.D.1794 to 98.5 in a.A.D.1797. It might be due to migration and of the cattle owners from the desert area to the other parts of the country because of the heavy burden of the tax. uoont bab was charged at the highest rate among the taxes imposed on other domestic animals kept by the villagers of the state. The camel owners paid a high amount of the tax for breeding the camels which could not be bearable. Presumably this might be the reason.

Moreover the study provides in depth insight in the taxation system prevailing in Bikaner state. This is not an exhaustive study but a selective, tried to estimate appropriate statistical hypotheses of cattle population in the Rathor State Bikaner in the last decade of 18th century.

### References:

1. Demand or salary claim in vigat the talab has been used for the baqaya.
2. It was a house tax.
3. It was a tax on ploughing.
4. It was residential tax
5. The word cattle used for domestic animals.
6. Ain-i-Akbari, vol.ii, ed.Mauavi Abdur Rahim,Calcutta,1879.
7. Imperial Gazetteers of india,Provincial series,Erskine,p401.
8. Administrative and fiscal sub-divisions.
9. It was charged at the rate of Rs.2.00 on per head of camel, Habub Bahi V.S.1851&1854,RSA,Bikaner.
10. The table has been prepared from Habub Bahi V.S.1851, Basta No.1, RSA, Bikaner.
11. This table is based on the Rukhwali Bhachh Ri Bahi, 1854, Basta No.1, RSA, Bikaner.
12. Ibid \*Here ½(half) used for the young one of the cattle.
13. Sitaram Lalas; Rajasthani Sabad Kosh, III, p.2915.
14. It was charged at the rate of Rs.1.00 on per bullock in A.D.1794 and Rs.0.50 in A.D.1797; Habub Bahis of Bikaner V.S.1851&1854, Rajasthan State Archive,Bikaner.
15. Sitaram Lalas; Rajasthani Sabad Kosh ,III,p.2919.
16. Bikaner Habub Bahis V.S.1851 &1854, Rajasthan State Archive,Bikaner.
17. Habub Bahi Bikaner V.S.1851,RSA,Bikaner.
18. The word used for Clearfield butter.
19. B.L.Panagariya ;Rajasthan in the Mediaeval Period ,p.143.
20. Bikaner Habub Bahis V.S.1851 & 1854, Rajasthan state Archive, Bikaner.
21. Bikaner Habub Bahis V.S.1854., Rajasthan state Archive, Bikaner (Raj.).

## **Socio-Economic Structure of the Jaipur City and estimate of its Population in the Mid- Eighteenth Century**

**Dr. Abdul Salam**

The economic conditions in a city is to some extent related with the social and caste structure of the population. From the arrangement of space organization in the Jaipur City, it is evident that different sections or residential blocks of the city were reserved for different groups of society according to their socio-economic status and their profession. Some contemporary records<sup>1</sup> and later sources<sup>2</sup> also justify the same arrangement in the City. This pattern, up to some extent, is still maintained in the city, and even some localities and streets of the city are known by their castes and professions. There are separate localities and streets, such as, Lakhara-Gali, Maniharon-ka-Rasta, Silawato-ka-Muhalla for craftsmen in the city, and Brahmapuri a famous separate colony for the scholars and scientists which is still known by this name.

The socio-economic structure of society may be classified under three broad categories: (a) Producing Class, (B) Distributing Class, and (C) Consumer Class. The producing class comprised of – (i) Peasants and (ii) Artisans and Craftsmen: Goldsmith, Blacksmith, Carpenters, Potters, Tailors, Kalals, Chamars (shoemakers), Chhipas (calico printers), Rangrejs (dyers), Lakheras, Churigars, Julahas (weavers), Pinjaras, Patwas, Theteras, Shorgars, Gandhis, Masons & Sculptors, Telis, etc. The distributing class comprised of – Traders and Brokers: Mahajans, Banjaras, Charans, Bhats and other castes outside traders. And, the consumer class consisted of – Royal House-hold, Aristocratic Classes, Lower Officials, Religious Class, Servants & Slaves, Charans and Bhats, Untouchable, etc.<sup>3</sup>

Two sets of statistical tables are available which provide us information on the socio-caste structure of the population of the City of Jaipur. The first is a set of tables which were prepared by

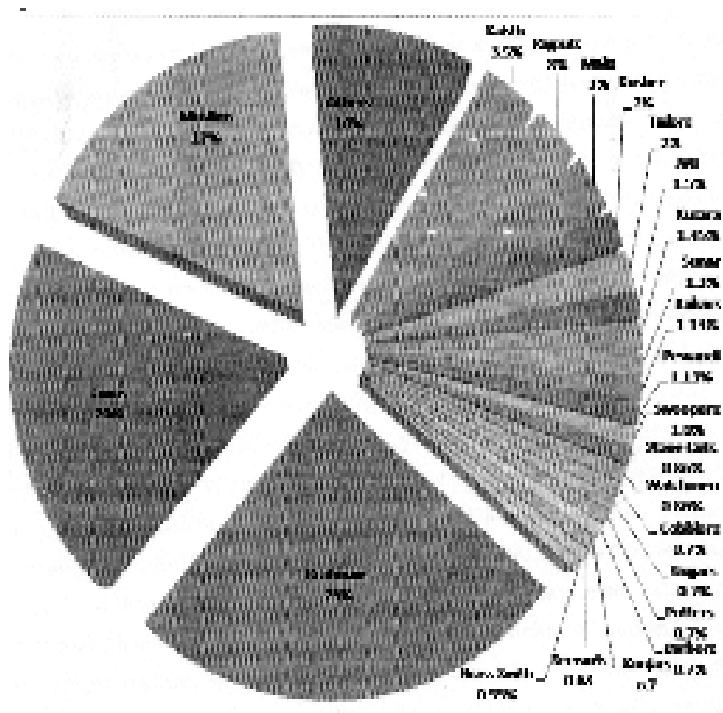
Boileau, an officer of the Survey of India, who passed through Jaipur in 1835.<sup>4</sup> He gives the number of houses occupied by each caste and profession living in the city. Scholars<sup>5</sup> agreed with Boileau's assumption that each house had the average five residents. But the total number of houses<sup>6</sup> in the city, which he counted to be about 80,000, was many times greater than the probable figure. So, the number of persons of each caste and profession estimated by Boileau is not reliable, but some reliance can be placed on the figure of relative strength of those castes and professions. According to the Boileau's tables, the Banyas (Jainas)<sup>7</sup> and the Brahmans constitute about 45% (Brahmans~25% & Baniyas~20%) of the City's total population.<sup>8</sup> The second set of tables on this subject is available in the census report of Jaipur for the year 1901.<sup>9</sup>

An analysis of these two tables is of significance from different points of view. First, an idea of the social structure of an Indian town in the pre-modern age or Pre-British period can be formed. People of various professions such as horse-doctors or elephant drivers or bangle makers were required to meet the needs of the richer sections of the society. The tables also give an idea of the economic life of people. It appears that a very large number of people were either traders (among whom the majority was that of Jainas) or Brahmans. These tables show the Brahmans and the Baniyas or Jainas were the two main dominating castes of the Jaipur City and they constituted about half of the City's total population.<sup>10</sup> These tables help us in understanding the 'relative positions' of different socio-caste groups in the society of the Jaipur City.

Estimation of the City's Population: In the absence of any contemporary record or data regarding the total population of the Jaipur City in the period of Sawai Jai Singh, the City's population could be computed with the application of two methods. Firstly, with the help of Boileau's tables, the proportion of the population of the Jainas or Baniyas in the City was about 20 percent; and as per a 'Circular Invitation' letter<sup>11</sup> for a Jain festival issued by the prominent Jains of Jaipur in 1764 A.D., the approximation of the total population of the Jain merchants in the Jaipur City during that period, is given as 10,000. If the Jains' population i.e. 10,000 could be taken equal to 20% of the City's population, the total population of the Jaipur City would be estimated 50,000.<sup>12</sup>

Secondly, by adopting another exercise, the City's population could be calculated by the use of Census Reports of the Jaipur City and its population growth rate. The census report of 1881 gives the population of the Jaipur City as about 1,50,000 and if we see the next consecutive census reports of 1891, 1901 and 1911, we find the 'average decadal growth rate' of the City's population to be about 10 percent. For the sake of convenience, it could simple be assumed that this decadal growth rate would be static even in the previous century, and 1881 as a base year, then proceeding backward<sup>13</sup> from 1881 to 1871, 1861, 1851. And so on, till 1751. From this method too, the estimated population of the Jaipur City, in the mid-18th century, also comes out to be about 50,000.

Since the estimation of the Jaipur City's population in the mid-18<sup>th</sup> Century, calculated from two different methods, comes out to be equal i.e. 50,000, it seems to be near about the probable figure.<sup>14</sup>



## References:

1. Rojnamcha-Potedar (Jaipur), V.S. 1783/1726 AD, it shows the rectangular town planning and space organization of different sectors for different groups of the society according to their socio-economic status in the Jaipur City, which was in the founding process at that time.
2. Tod's Annals, Vol II, Op.cit; Shyamaldas Vir Vinod, compiled in 1875 A.D., printed by the Mewar State in four volumes in 1886, Vol. II, p. 1262; R. Heber's travelogue, "Narrative of A Journey Through the Upper Provinces of India, 1824-25", Vol II, London, 1828, pp. 414-415.
3. The status and functioning of some of these socio-economic groups of the society is being discussed in a section on the marketing system of Jaipur.
4. Boileau, Personal Narrative of a Tour through the Western States of Rajwar in 1835, pp. 232-235
5. Roy, A.K., History of the Jaipur City, Op.cit. Pref. xi
6. He did not mention the basis of his assumption on which ground he counted the number of houses in the City
7. Who were mostly traders, merchants and money lenders, played a very dominant role in the administration of Jaipur, A.K. roy writes, "With the administration of the state firmly in the grip of their own community, the Jaina merchants no doubt found the conditions in Jaipur very satisfactory. But the important point to note is that Jaipur City had business enough to engage a very large number of merchants." – Roy, History of the Jaipur City, Op.cit. p. 57
8. Other castes and groups in the Jaipur City were: Muslims-17% (Chpiss i.e. Printers-4.3%, Haqims-1.67%, Chejara i.e. Masons-1.65%, Distillers-1.65%, Weavers-1.0%, Sukkas-0.57%, Rangrej i.e. Diers-0.35%), were exclusively Muslims and other classes, such as, artisans and craftsmen and soldiers and some other classes were also belonged to this community but their proportion was very less), Kaith (writers)-3.5%, Rajputs-2.85%, Malis (gardeners)-2.85%, Kusbee/Pathur-1.65%, Tailors-1.5%, Jats (Cultivators)-1.45%, Kusara (Braziers)-1.45%, Sonar (Goldsmiths)-1.3%, Kahars-1.13%, Pewandee-1.3%, Kahars-1.14%, Sweepers-1.0%, Stone Cutters-0.86%, Aheers (Watchmen)-0.86%, Thathera (Brass Smiths)-0.53%, Chamars (Cobblers)-0.7%, Gujjars (Cow-herders)-0.7%, Mumhars (Potters)-0.7%, Naees (Barbers)-0.7%, Kunjars-0.63%, Chakurs (Servants of Thakurs)-0.63%, etc.
9. Imperial Census Reports
10. There are some evidence which show that Brahmans were mostly engaged in priestly duties and many of them had jagirs (religious, inam-jagirs), and some of them, such as, Vidyadhar, an engineer, architect & the States' Desh-Diwan, played an eminent role in the State's administration and even many of them were involved in the mercantile activities, but in any case, it seems, they were not employed in any manufacturing work.
11. There is a circular invitation letter for a Jaina festival dated Feb. 1764 issued by the prominent Jainas of Jaipur. The letter though not directly referring to the prosperity of Jaipur shows approximate strength of the Jaina merchants in the City and with what smug satisfaction Jaina businessmen used to find the conditions here. The letter was issued to the Jainas of Delhi, Agra, etc. with requests to send copies of the invitation to Jainas in other towns. The purpose of invitation was to request them to attend a religious celebration called the Indra-dhwaj-puja, which

was held on a huge platform constructed near 'Moti-Dungri' in Jaipur. The letter stated that the Raja of Jaipur and two of his Diwans, Ratan Chand and Balchand (of the Tara-Panthi Sect) were helping in the celebrations by financial and other contributions. About Jaipur this letter says (cf. A.K. Raoy. History of Jaipur City, p. 57).

“About this city, it lacks several things is to say, in this city you would not find wine sellers, butchers and prostitution. Also killing of animals is prohibited. The Raja's name is Madho Singh. In this Kingdom you would not find sinful activities which are prohibited by the Raja. And there are many Jainas resided here. All important countries are Jainas. And all the merchants are Jainas. Though, there are others too, but they are in minority, not in majority. Six, seven or eight or ten thousand Jaina merchants have their residents here. In no other you would find so many Jainas.”

12. Let suppose, the total population of the city be X, and as we are given, the total strength of the Jaina merchants in the city was about 10,000 which is ~20% of X, then  $X = 10,000 * 100 / 20 = 50,000$ .
13. Calculating every decade's population mathematically by the reduction method.
14. This figure is also equivalent to the total army's strength of the Jaipur State of Sawai Jai Singh.

## **Bahis as a Source of Economic History of Rajputana: A Case Study of the Sawa-Bahis of Bikaner State and Its Economic Significance-17th to 19th Century**

**K.L. Mathur**

Bahis or the ledger books form an important and valuable indigenous source material for historical writings of Rajputana. We may trace the practice of writing of bahis as old as the Sultanate period in India. Barani in his Tarikh-i-Firuzshahi informs that Allauddin Khalji got maintained his rural revenue records through Patwaris in the books known as bihi in the Hindawi language; perhaps it was later pronounced as bahis. Further, the chieftains of medieval Rajputana states kept their state accounts of income and expenditure through the Mutsaddis and Lekhanias in such bahis which were created in the discourse of official activities. The Haqiqat Bahis of Jodhpur, Kagad bahis of Bikaner state and the Padaka bahis of Udaipur state are some well known series of Bahis among scholars. The Rajasthan state Archives, Bikaner preserves the rich heritage of Bahis of almost all state of Rajputana pertaining to 17<sup>th</sup> to 19<sup>th</sup> century. Interestingly, the writing of bahis was not only limited to the official discourse but were also followed by the business houses or by individuals in their home at occasions. Consequently, these have become an important source of history specially the economic history. The present paper is an attempt to examine the Sawa bahis of Bikaner state pertaining to 17<sup>th</sup> to 19<sup>th</sup> century. These bahis are classified and categorized in to the Rampuria section of Bikaner state records and form an important series. It would be an endeavor to explain the nature of these bahis and examine the economic significance for writing the economic history of the state for the period ranging from 17<sup>th</sup> to 19<sup>th</sup> century.

### **I. Nature of the Sawa Bahis**

The term Sawa is a corrupt form of the Persian word Siah which means daily journal or a ledger book, so these Sawa bahis

are the accounting books of various Mandis and Chowkis (toll stations for goods) located on the bifurcated trade routes in the state. In these bahis the daily, monthly and yearly income and expenditures are entered in to. The main sources of state income were the Jagat (toll duty) and the land revenue. The accounting of them is maintained Mandiwise or Chowkiwise. Therefore, these bahis are key books for economic studies. However, the Jama wa Kharach ri bahis and another series of bahis differed from them. They contained state's collective figures of income and expenditure of different heads whereas; Sawa bahis were limited to Mandis'/ Chowkis' income and expenditures only.

The Sawa bahi opens with the description of the entries on its cover page with details of the Sawa i.e. Mandi/ Chowkis' Jurisdiction to which it pertained. Also the ruler's period, Khazanchi's and lekhanias names as well as the exact accounting period have been mentioned in the beginning. Interestingly, these books have very systematically been mentioned and properly audited as well by the state auditors appointed for examining the accounts. The audit reports containing mistakes in accounting, error in totals and blank spaces have been prefixed in the bahis, this way they are very accurate in accounting. The bahis have been paginated also. Neatly and accurately maintained these bahis have the oriental system of accounting being followed. The first four vertical forks are used for credit entry and the last four vertical forks are used for debit entries.

The sigh wise(head of income) total income with its sub-details are also mentioned and at the end the grand total of Monthly income have been put up followed by the sigh wise expenditures with its breakup and in the last totals are tallied.

The earliest Sawa bahi available in the Archives begins from Vs.1753-54/1696-97AD of Sawa Anupgarh Mandi and rages up; to VS1898-99/1821-22AD of Mandi sadar Bikaner. Thus, there are in all, 146 Sawa bahis available with the Archives of different Mandis and Chowkis. There are 14 bahis of Mandi Anupgarh, 52 bahis of Mandi sadar Bikaner, 02 of Mandi Reni, 08 of Suratgarh Mandi., 08 of Ratangarh, 06 of Hanumangarh, 05of Sujangarh, 03 of Bhadara and 01 of Lunkarnsar Mandi. As such they are indispensable for the economic study of these areas. Classifies and categorized properly these are having good quality of paper and ink.

## II. Facets of Economic Studies as Gleaned from the Sawa Bahis

The economic significance of the bahis lie in to its varied and minute information provided therein. The various facets of the economy may thus be enumerated.

First, the different heads of income and expenditures pertaining to a particular Mandi or chowki are mentioned in these books. Thereby, we can examine the nature, pattern and the proportion of such income and expenditures. Sawa bahis, No -08 of sadar Mandi Bikaner of 1758-59 AD (1815-16 VS) evins that in Mandi Sadar Bikaner the income accrued from various following heads viz. Sri-Mandi -ri-jagat-ra, Panchayati -ra, furrohi -mein, Daroga-re-lajme-ra; uthon -re-lajme- ra, Rupote-re-muqate-ra, Met-ri-khan-ra, Rut -ri-chhadami-ra, etc. The expenditure was incurred on following heads viz. Thakur-ji-re-Mandir-lekhe, Nit-dan-wa-Devasthan lekhe. Huwaldaron wa Kamdaron lekhe, Sri mandi re chakron lekhe, kasid Kharach , karkhane leke, khat kiya Bohron Ra tere leke, Byaz hundawan lekhe, etc..

The fiscal system can also be studied from these bahis as the income and the expenditures are month wise and year wise; provided. Interestingly, while I examined the fiscal's pattern of various Mandis from their bahis during the second half of the 18<sup>th</sup> century I found that almost all were reeling under deficit financing and were hard-pressed to borrow loans from the money lenders mortgaging income of different heads of the state.

The rate and quantum of the paid interest to the money lenders have also been quoted in the loan agreements i.e. Khats of borrowing loans by the state. We are informed that MirzaMal Potedar of Churu was a big money lender of the state and various sources of income were assigned to him for realization of his debt. He could recover it with the help of state machinery. Thus, we can appreciate the burden of debt upon the state and also as well as the money lenders extracting state finance in the form of interest.

The trade and commerce can also be studied well from these bahis as the collection of toll tax or figures of Jagat on the importing/ exporting or transiting commercial goods have been mentioned. The trade routes, Commercial goods, the trading communities are also

eventually been discussed in the bahis. Therefore, rich information of non- agricultural sector is available for the study.

The Mandi System which developed heavily in to the desert state during the second half of the 18<sup>th</sup> century can also be gleaned from the bahis. The details of the growth of Mandis, Chowkis and the developing trade routes have also been mentioned there -in. The functioning of a Mandi and the employed officials has been narrated. It would not be difficult to examine the expanding Trade and commerce in the process of the formation of the state. Thus, we are provided with enough information to understand the Mandi system of the 18<sup>th</sup> century Bikaner state. The wages or payment structure of various categories of the employees' are mentioned in the Mandi bahis. The Rozindars, Mahindars, Salindars and the Dasmahis are mentioned with their names and rates of wages. This may help us to compare and understand the wage structure and the nature of payments in cash and kind.

Different denominations of various currencies prevailed and their fractional value as well as exchange rates have also been provided. In the late 18<sup>th</sup> century the Rajput chieftains obtained the permission to mint coins of their state which resulted in to different currency floating in the states. The takka-bhaga (conversion rate of a rupee) has been mentioned at various places while converting takkas in rupees. For example 1289 takkas were converted in to Rupees 43 and Annas 11 at the rate of 29/25 takkas per rupee. Later, this rate fluctuated from 29/25 to 31/25 takkas per rupee. The discounting rate realized by the money changers has also been quoted and Rs.10 anna 06 per hundred rupees. So, one can examine the currency system also from these bahis.

The taxation system is perhaps the area which underwent gross changes during the second half of the 18<sup>th</sup> century in the states especially in Bikaner state. Impositions of new taxes, revision of old ones, levying the various contingent cesses have been mentioned. Therefore, taxation information provides enough material for studying the monetary system of the state. Bidawaton re bhanchh, Firangiyan re santan ri bahanchh were some of are cesses which were later on newly imposed cesses and realized regularly.

The Units of weight and measurement of the fodder of animals have also been discussed. Payali (02seers) Jhal (camel cart of

fodder) Dhing (heap of fodder) and Lada (camel load of fodder) were some of the units of weight & measurements used in the state. Types of fodder as charo, Khari, ghas sewan and baton are also discussed. This way it is important to understand the fodder economy of the state.

Interestingly, the details of different artisans' class like Ustas, chungars, Pazabgirs have also occurred in the bahis which can help to understand their wages, class stratifications and skill level and above all, the beginning of the process of immigration in to the state.

Apart these information regarding the state economy the rates of adoptions charges, expenditures on arms and ammunitions, kasidgi expenditures and cash punishments have also been mentioned. In the last but not the least significant is the details of land tax and the sale purchase of land have also been provided. Of course, one can review these facets of economy in the new perspectives.

Thus, the Sawa bahis are indispensable series of bahis for the study of states' economy as it is available year wise and regularly in the state archives.

### References:

1. See *Tarikh-i-firuzshahi* of Zia-ud-Din Barani, cf. The Comprehensive History of India (CHI) vol. V (Eds.) M.Habib & K.A Nizami, PPH, II ed.Eng. tr., 1992, pp.358-361.
2. Officials of the state.
3. Scribes appointed on Contractual basis
4. These bahis are available in the relevant sections.
5. see Indices of the state records available in the raj. State Archives, Bikaner (RASB)
6. Mirza Mal Potedar of Churu was a prominent business magnet of the area and had a large collection of Bahis of his business in his custody.
7. See A Descriptive List of Bikaner Bahis (from 17<sup>th</sup> to 19<sup>th</sup> Century.)
8. Sita Ram Lalas *Rajasthani Hindi Sankshipt Sabdkosh.*, Vol.II, Jodhpur, 1987, p.190
9. see Sawa bah of this period
10. See *Descriptive List*———*Bahis*, op.cit. , pp.- 62-67.
11. See *Sawa Bah Mandi Sadar, Bikaner, No.08* vs1815-16/1758-59AD.
12. Ibid.; See Audit report enclosed in the beginning of the Bahis.
13. Ibid., ff. 01-10
14. See A Descriptive List ——Bahis op. cit. pp.142-173.
15. See K.L.Mathur, *Pattern of Income and Expenditure of Bikaner Sadar Mandi During Second half of the XVIII Century*, proceedings of Indian History congress Calicut (Kerala) session, 2000AD.
16. For details analysis see K.L.Mathur, *Change and Continuity in the Economy of Bikaner State As Reflected in the Bahis: 1746-1828 AD*. Approved Ph.D. thesis

- from Jamia Millia Islamia, New Delhi, Ch. VI, pp.200-19. Also see K.L.Mathur, *Fiscal pattern of Bikaner Mandi in the second half of the 18<sup>th</sup> Century*. Paper presented in the Rajasthan History Congress, Sujangarh Session, March,2008.
17. See Sawa Bahi No.04 Vs.1807-10; No-08Vs.1815-16; No.25Vs1845-48 of *Mandi Sadar Bikaner*, entries of *Jama Kharach* .RASB. Also see K.L.Mathur, *Gosains of Dasnami Sampradaya and its Implications in the second Half of the XVIII century Bikaner state*; Proceedings of Rajasthan History Congress, Jodhpur session,. 2007AD.
  18. Sawa bahi No. 08, op.cit., ff.01-25
  19. See for details ch.VI of the op.cit. thesis of K.L.Mathur pp.185-210.
  20. Ibid.
  21. Sawa Bahi No. 08, Op.cit. ff.01-25.
  22. Ibid.f.37., for Rs.2000, Rs 216 was recovered as *Batta* charges /discounting.
  23. Chapter IV *The Non- Agricultural Sector: Sources of income*, of the unpublished thesis K.L.Mathur op. Cit. pp.87-118 and chapter-VIII, pp.229-256.
  24. Sawa bahi No -08 Op. Cit.; and also the chapter No.III Agricultural Economy, Op. Cit. thesis of K.L.Mathur pp.40-86.
  25. Sawa bahi No.04 of Mandi Sadar Bikaner, op.cit.. Also chapter-IX *Craft and Artisans* in the unpublished thesis of K.L.Mathur op.cit.pp.256-276.
  26. Some Pattas (title deeds) are mentioned and the realization of ¼(Chouthai) have been mentioned on sale/purchase of land or house property.

## Peasant Migration to South Eastern Rajasthan (C. 1700-1950)

Narayan Singh Rao

The migration of peasants from one place/region to another in search of livelihood or favorable terms to cultivate land was an important aspect of the economic history of Rajasthan. There were number of factors which compelled to the Karshas to move towards the neighbouring states and undertake cultivation there. These included perpetual famine like situation in western and southern part of Rajputana, which used to create the problem of unemployment scarcity of food grain fodder and water. In western Rajasthan there was always famine like situation in summer season. The Karshas used to migrate every year along with their cattles and sometimes even with their family members.<sup>1</sup> These Karshas reached upto the territories of Harouti, Dhundhad, Vagad, Mewar, Bhomat and Vakall regions of Rajasthan. It is interesting to note that 'Karshas' as well as the common people from villages affected by drought and famine temporarily migrated upto Uttar Pradesh, Malwa, Telangana, Maharashtra, Bengal and Gujrat. The Rebari, Gadri and other communities engaged in cattle rearing, dairying etc used to find it difficult in olden times to feed their cattle in western Rajasthan. Every year after harvest of the khariff crops the nomadic tribal and cultivators generally migrated from their homeland. They earned livelihood by keeping their flocks of sheep camels etc. in the farmland of the Karshas of their host villages during the night in order to enhance the fertility of the soil in lieu or rent. Thus, by halting in every village en route for a day or two the Rabaris, Gadris's etc. kept on moving in far off place as far as Andhra and Bengal. They used to return back to their native village after the onset of rainy season in their homeland.<sup>2</sup> This practice among the Rebaries of Western Rajasthan is in vogue since time immemorial and continuing even today. Rich cultivators and cattle owners belonging to higher and middle castes possessing hundreds of cows, buffaloes etc. also temporarily migrated to neighbouring areas (Harouti and



Malwa) whenever the Marwar of Godwar region was affected by famine. The period of stay Mewar, Vagad and Harouti for migrant Karshas ranged between 6-8 months. It was a normal practice among the cultivators belonging to higher caste to spend their bad days in the villages where they had their own blood relations or near relatives. In this was the dairy products and doudung etc. was used by the host families who were normally their relatives (saga). The cattles of the Migrant families were fed on the grazing fields owned by host family. The members of the family of a migrant karsha used to provide physical labour on the farms of their host karsha in lieu of support and hospitality provided to them.<sup>3</sup>

The famine caused by failure of monsoon or any other natural calamity use to hit hard upon the menial castes and tribal people of the village society. People belonging to lower caste and tribals were compelled to disguise themselves as fakirs, Sadhuis, Sanniyassis, and migrate to the regions not affected by famine. Many of them also used to picks up odd jobs such as begging, working as daily casaul labourers on the farms, adopting professions such as washer men, attendant, serf or semi slave soothsayer, astrologer, magicians, tantriks, snake charmers etc.<sup>4</sup> People, belonging nomadic and semi nomadic tribes used to also disguise themselves as holyman in the morning to collect lams by visiting each household. But in the afternoon they used to throw away the robe of a holy man and play the role of a hunter. They used to keep their hunting dogs to hunt variety of animals to enjoy the meat in the area where life was better and the area was not under the impact of famine. However such migration did not make much impact on the economy of the region. However their premise in the area caused safety and secutiry related problems. The documents pertaining to the 18th century preserved in different record offices of Rajasthan, highlights the role of migrant cultivators and their active participation i nthe process of agriculture in the Harouti region. The Harouti region was one of the most fertile tracts of Rajputana having adequate amount of irrigation facilities and plenty of cultivable land. The Maharso's Kota and Bundi as well as the people of the area expressed their rediness to accommodate the migrant cultivators and engage them in the task of bringing 'parat' (uncultivated) land under cultivation. This was aimed at increasing agricultural production and revenue resources of state.<sup>7</sup>

The Zamabandi and khata documents of 18th century pertaining to Kota and Bundi state inform us that migrant Karshas were knwon as ann desh ka karsha who were further classified as barla gaon ka karsha,<sup>5</sup> purana karsha, navada/nava karsha, pahi ka karsha etc.<sup>6</sup> In some of the mauzass they wre assessed at confessional revenue rates. They were also encouraged to and undertake cultivation in newly colonized villages referred to as viran and ujar villages. In some villages migrant Karshas were assessed at the revenue rates which were applicable to the local/resident cultivators referred to as gam ka karsha. In mauzas Godho we find that migrant cultivators were allotted land on favourable terms and conditions as compared to gaon ka karsha. The migrant cultivators were sometimes granted land through raham ka atta in those villages where the percentage of uncultivated land was very high. These migrant Karshas holding the raham ka patta were known as rahamadaras. The migrant cultivtors were also encouraged to settle down and cultivate land in muqata villages on nominal rate of land revenue with an annual increase in revenue demand till it was at par with normal rates applicable to Karshas over a period of time. The migrant Karshas were given land in viran, ujar and muqata villages. In due course of time they were allowed to attain the status of resident cultivator. The data pertaining to qasba Baran show that in 1764 v.s. out of 2784 bigha of cultivable land the migrant Karshas were allowed to cultivate 69.6 bigha of land. In mauzas Godha migrant Karshas held 91.5 bigha out of 404 bigha of total cultivable land. In mauzas Saluno out of 1275 bigha of land, 138.6 bigha was cultivated by migrant karsha.<sup>8</sup> The documents show that migrant Karshas cultivated cash as well as food crops. In last quarters of the 18th century state farming introduced by Jhala Zalim Singh this new venture launched by the kota state provided plenty of the oportunites to the enterprising farmers of the neighbouring states to migrate into the Harouti region and improve their economic condition. There were about 4000 ploughs and 16000 oxen cultivating 800,000 bighas of land. Besides this various departments of state also cultivated land by keeping their own ploughs. In this way thousands of halis or Karshas were required who could cultivate land under the 'sarkar ka hawala' or state farm. All these factors naturally attracted enterprising cultivators of Marwar, Godwar, Mewar and Dhundhar regions. The 'Karshas' from these regions

migrated in a big way towards Harouti region to earn livelihood and improve their economic condition.<sup>9</sup> The agriculture and allied occupations are considered as the most respectable means to earn livelihood in Rajputana. In Rajasthan *Bat Sahitya* (Folk tales) and *Kahavat's* a *karsha* is advised that if he wants to keep his freedom intact he should take up the agriculture only. In this context one *kahavat* is as follows: "Dhan Kheti Dhik Chakri Dhan Dhan Ho Vyopar". (One who is engaged in agriculture and cultivation of land. He is most fortunate and deserves praises and respect in the society. Working as employee or worker and rendering services to earn livelihood is nothing but slavery. Agriculture, dairy, animal husbandry, trade and commerce are also considered as respectable professions but not the service to others. In another '*kahavat*' the migration to neighbouring states is justified if there is no cultivable land in the region and the area is under the impact of famine/drought. This *kahavat* is as follows "Nokari Na Kariyo Baita Khet Khod Khaiyo Aur Khode Aspas Aap Dur Jaiyo." (Oh my son do not pick up odd job or employment but earn your livelihood by cultivation. If you have no land in the village, go to far off places to cultivate land). Thus, the migration of *Karshas* to other regions to cultivate land for survival is legitimised in the literary sources of the time. A *Krishi kahavat* mentions that Malwa and Sindh were two important regions where people used to migrate in the event of the failure of monsoon resulting in famine like situation.<sup>10</sup> This *kahavat* is as follows: "Asadi Punam Dina Nirmal Uge Chand, Koi Sindh Koi Malwa Jaya Katsi Fand; (If the Moon rising on purnima of Asadh Month is dim, it means now an era of hardship and difficulties had begun. There are possibilities of drought in the area. To escape from impact of famine the *Karshas* had only one option of migrating to either Sindh or Malwa.<sup>11</sup> In another instance a '*kahavat*' informs us that 40 persons who migrated from Rajasthan to Gujrat. They were employed as laborers by a *Patel karsha* in his *bajra* field for eathing and weeding. This *Patel karsha* was a rich farmer having 5 sons and 5 big farms each having a separate step wells for irrigation. An another folk story narrates the plight of a *Jat 'Karsha'* called Ugo who had an interview with a *Raja*. *Raj Ugo* seeks the permission from *Raja* to explain his problem. *Raja* allows entry of *Uga Jat* in his court. *Ugo* says that he is not familiar with the local language and hence he be pardoned by your majesty. *Raja* replies that where do you live.

*Ugo* replies that he belongs to *Vedd* i.e. the area located in close proximity Malwa. *Ugo* salutes the *Raja* and states that "Oh Lord we could not go to Sindh due to problems there. On receiving reports about prosperity enjoyed by people in your kingdom we decided to seek shelter in your kingdom to survive and earn livelihood. The *Raja* favorably considered the prayers of *Uga Jat*, he told him that good quality of land will be allotted to him at 50 percent of the prevailing land revenue rates per bigha only. Go and bring your household at the earliest and settle down here."<sup>12</sup> The migration of *Karshas* from *Kutch* (*Gujrat*) to *Malwa* and *Harouti* region is testified in one folk story which is as follows "Jakhdo *Ahir* was a big *Zamindar* in *Kutch* having 14 villages. Once his *Zamindari* villages were affected by famine (*Dukal*). Consequently people of 14 villages started thinking of migrating to *Malwa* of *Harouti* region. At this *Jakhdo Ahir* considered problems of his cultivators and decided to grant them relief. He ordered his '*kamdar*' (executive officer) that *Malwa/Harouti* regions are very far from *Kutch*. It will be very difficult for people of his *Zamindari* villages to go there due to problems anticipated en route. Therefore, the *Zamindar* instructed his *kamdar* to open up treasury and stocks of food grain and distributed money as well as food grain to people of his *Zamindari* villages to such an extent that no one from his villages ever think of migrating to *Harouti* or *Malwa*.<sup>13</sup> The *Bat* or *kahavat* literature has also furnished valuable information on the treatment given to the migrant *Karshas* by the people of their host villages. The evidences suggest that the migrant *Karshas* and their family members were treated with due respect. The host families were affectionate and generous towards the migrant *Karshas*. They were never treated as unwanted guest. People in the host country demonstrated strong sympathies, affection and kindness towards them. This fact is testified in the "*Bat Kewalsi Sankhla Ne Bharamal Ri*" which is as follows: Once upon a time the village of *Kewalsi* was visited by *dukal* (famine), people of *Kewalsi Sankhla* village held a meeting in which leading *Karshas* discussed the issue that where to migrate temporarily at least for the period of four months so that *dhrav* (cattles) could be saved from destruction. At this some one suggested that the land (*dharti*) of *Khichhi Rajputs* is very fertile. Therefore, we may migrate to that area and try our luck. Representatives of the village were deputed to meet chief of *Khichhi* to explore

possibility of migration to that area. The delegation of Kewalsi Sankhla visited the area and discussed the problem relating to famine in their area with the Khichhi chief known as Khiv Singh Khichhi chief and his council members debated on the request for help received from Kewalsi Sankhla. Finally, the Khichhi chief observed that Kewalsi Sankhla and his villagers are our relatives (saga), so we must help them in this difficult time. Accordingly Kewalsi and his villagers were granted permission to settle down in the territory of Khichhi chief Khiv Singh's villages for 4 months. In another instance villages of Jakhad Ahir Karsha were affected by severe famine. Therefore he thought of migrating to Vagad area (Dungarpur, Banswara). He visited the court of Dhola Raja of Vagad to seek permission to settle down in his kingdom as he heard that there is plenty of cultivable land and means of irrigation. After entering in the court he greeted and saluted the Raja with Ram Ram and urged him that "Oh merciful Raja my area is visited by famine (kaal). Life of my family members and cattle is under threat. Oh Lord, If you kindly allow me to settle down in your kingdom, we will be happy to stay here and engage in cultivation. Your majesty, I would like to submit that we will go back as soon as the situation improves in our country. The Raja replied that "Oh Ahir karsha you and your family is permitted to settle down in my kingdom. Treat the Vagad kingdom as your own country and come here. At this Ahir karsha expressed his gratitude and thanks to Raja. He conveyed this information to his kinsmen of 14 villages who subsequently got down settled in Vagad area. They undertook cultivation and escaped from drought.<sup>14</sup> Thus 'Bat' literature and 'kahvts' of the time has given legitimacy to migration of Karshas from one state to another in difficult times. Though we have adequate evidences indicating large scale migration from Marwar, Mewar, Sindh, Kutch regions to Malwa and Harouti. But we do not have evidences on migration of Karshas from Harouti region to other areas. Because the Harouti region is gifted with bounties of nature i.e. perennial sources of water, high quality of fertile land for irrigation and plenty of monsoonal rainfall in the area which was always higher than the Marwar, Mewar and even Jaipur state. Thus, Harouti remained immune from natural calamities and famines. Even if in a particular season there occurred famine like situation due to shortage of rainfall, the area was not hit hard by the intensity of the famine/drought. Rain God Lord Indra is has been always generous towards

Harouti region. This region used to get monsoonal rain earlier than all the other parts of Rajasthan. This is testified by one popular kahavar recorded from Mewar region. According to the kahavat a karsha from Abu Parvat area offered prayers to Lord Indra that of Lord bless us with plenty of rainfall and relive us from heat drought and famine. Lord Indra the merciful rain God replied in the following manner.

*"Pehli Varsu Malwe, pache Majal Mewar.*

*Abu mat Kar Aurto Avu La varamvar."*

First I will cause rainfall in Malwa and Harouti region, subsequently in Mewar. Oh Lord of Mountain Abu Parwat, do not worry I will repeatedly come to Abu area and cause rainfall to keep you green and prosperous. Thus Harouti and Malwa region are the first to be blessed by Lord Indra the Rain God when Harouti has quenched her thirst, Monsoon cloud moves to Mewar and finally to Abu Parwat and Marwar regions.<sup>15</sup> The argument regarding migration of Karshas to Harouti region is further corroborated by contemporary Jain literature compiled by Shri Jai Vimalji. In his famous work entitled 'Saiki' covering the period 1715 to 1771 v.s. We are informed that due to famine and drought like situation in Bikaner Marwar, Mewar and the adjoining areas. The people migrated towards Kota Bundi and Malwa in 1751, 1753, 1764 v.s. The same work also mention that Karshas of western and south Rajasthan used to make Kota, Bundi and Malwa as a base for their further migration towards, Delhi, Patna, Bihar, Dacca (Bengal) and South India.<sup>16</sup> The modern research works have also stated that Kota, Bundi and Jhalawar districts comprising Harouti states had always been considered as haven or refugee centre in time of drought and famine by the people belonging to Mewar and Marwar region. Karshas and common people used to migrate in Harouti region to escape from the impact of famine.<sup>17</sup> We are also informed that between 1899-1900 when Jodhpur state was affected by famine. The people of the area migrated towards Kota Bundi and Malwa on large scale.<sup>18</sup> Thus the migration of Karshas, nomadic and semi-nomadic tribes, artisan classes and traders is a significant aspect of the socio-economic and cultural history of Rajasthan since time immemorial. Seasonal and temporary migration helped the people of famine/drought prone states to escape from natural calamities, drought and armed conflicts. The migrant Karshas played a vital role in agrarian economy of the area which accommodated them

during the difficult time. The migrant Karshas worked hard to secure cultivable land on concessional revenue rates and favorable terms for earning their livelihood and shelter. Frequent interaction with the people of different regions fostered and cemented socio-cultural ties, mutual trust and confidence to such an extent that guest and host families established matrimonial relations leading to formation of new castes and clans. Human migrate also helped in optimum utilisation of natural resources, transfer of agricultural technology, expansion of religious and cultural ideas, ethos, values and promotion of trade and commerce. Our record show that migration of Karshas contributed significantly in fostering better understanding and also in building of fraternal ties between the agrarian communities of different regions. There was no evidence of any hostility or enmity towards the migrant Karshas in the villages which were host to them. Thus seasonal as wells permanent migration contributed towards socio-economic and cultural advancement of the rural society in Rajasthan.

### References

1. Sharma, Monohar, Rajasthan Bat Sahitya Ek Adhyayan, Parampara Bhag 32-43 Jodhpur 1960
2. Based on information collect from my own personal experience as my own village is located on the route which facilities movement of several nomadic communities of Western India to Hadouti Southern India. In this regard I would like to mention one instance that when we were conducting survey on child labour in Khurja block, Bulandshahr district, Uttar Pradesh in April 1994. I came across a Rebari moving in the village alongwith his flock of sheeps numbering more than a thousand. I enquired from him that from where he had come. He replied that he belongs to Pali (Rajasthan). He reported that since there was shortage of fodder at home so he had moved to Western Uttar Pradesh. In another instance of the same area I came across one Rajput lady from Bikaner married to a Rajput boy of the village in Khurja area. Her father frequently migrated to Khurja during drought/famine years. Thus her family came into contact with Rajput's of Khurja (Uttar Pradesh). The two families came together and relationship between them got cemented and strengthened. In due course of time migrant Karsha even gave his daughter in marriage to a the son of his host in Khurja (U.P.). Even today migrant Karshas from western Rajasthan in Malwa Harouti, Uttar Pradesh and the adjoining areas of Rajasthan are happily engaged in cattle rearing agriculture, dairy etc. during the summer seasons when there is shortage of rainfall.
3. Sharma, Manohar, Rajasthan Batto Me Krishi Charcha, Vishwabhara year 7, No. 4 Pilani 1972, p. 43-47  
In 1970's when Godwar region was affected by of famine. One Rathore Karsha from Virami village (Pali district) left his home and arrived in my village, accompanied by his two sons Devi Singh, Shiv Singh. They were allowed to work

on my farm for about 2 years. In lieu of wages, food and other means of survival. When situation at their home improved they returned back. Similarly in 1988 Thakir Jhorawar Singh from Reveria village of Pali district arrived in our village with his cowherd as there was shortage of fodder due to drought in his village. He lived in our home for about a year with his family. Like our own family members, we shared our kitchen with them. Their cattles were also provided fodder from our farm. The whole family of Thakur Jhorawar Singh worked with us looked after our farm and shared dairy products with us. When situation at his home improved dhe left our village and returned back to his homeland.

4. Javalia Brij Mohan, Rajasthan Ki Arthik Avastha, Varda year 12, No. 4 Oct. Bisau, 1969
5. DSA-KR T (District state Archives Kota Records) esri Manzil, jam Pargana Sangod Ka Gaon Ko Jama, From Shrawan Budi to Asadh Sudi 15 1846 V.S. Also see RSA-KR (Rajasthan state Archives Kota Records) Jamabandi kasba Sangod Bhandar No. 1, Basta No. 13 1752 V.S.
6. DSA-KR, Dusri Manzil Basta No. 201, From Maharaja Zalim Singh to Patel and Patwari of Kasba Mohi, Jyeshtha Budi 13, 1835 V.S.
7. RSA-KR, Dovarkhi Paragana Baran Ka Hala Ka Khata Ki, Basta No. 20, Bhandar No. 1, 1760 V.S.
8. Rao Narayan Singh, Rural Economy and Society, study of south esatern Rajasthan During the Eighteenth Century, Jaipur 2002, pp. 45-50  
In 1759 V.S. / 1702 AD there were only 904-50 ploughs in 10 villages of Baran Pargana namely Kasab Kota, Mauzas Giothi, Malmedo, Ratovado, Mandoli, Vagni, Porso, Dhardi, Kulkahao and Bavli. But in 1760 the state realised that there is enough scope to inclease the area undr cultivation and enhance revenue. Therefor the state employed 160 additional ploughs supplied by pahi Karshas who agreed to cultivate land on behalf of state on employment basis. The jagirdar's were also encouraged to engage people belonging to their community/region and cultivate land belonging to state farm. Most of the ploughs known as nokri ka nawada hall or sarkar ka hall were operated by Karshas or labourers who migrated to Harouti region owing to drought or famine in their area and the favorable terms of cultivating land offered to them by Mararo of Kota.
9. Tod JAMES, Annals and Antiquities of Rajasthan, pp. 435-38 Reprint New Delhi, 1971
10. Joshi Govind Lal, Hadouti Ki Krishi Kahavate, Maru Bharti year 13, No. 3 p. 44 Pilani 1965
11. Sahal Kannaiya Lal, Rajasthan Ki Varsha Sabandhi Kahavte, Maru Bharti year 4, No. 2 July 1956
12. Sharma Manohar, Rajasthan Baton Me Krishi Charcha, Vishwambhara year 7, No. 4 p. 55-56, 1972
13. Ibid, p. 56
14. Sharma Manohar, Ibid, p. 47
15. Based on information collected from Karshas and village elders of Raomadara village in 1998
16. Javalia Brij Mohan, Rajasthan Ki Arthik Avastham Varda (October 1969) year 12, No. 4, pp. 44-51 Bisau
17. Kachhwaha O.P., History of Famines in Rajasthan, pp. 81-82
18. Gahlot J.S. History of Rajputana part II p. 3 Jodhpur 1937

## **Socio-Economic Impact of British Control over Salt Production and Trade (with reference to Sambhar Lake)**

**Dr. S.S. Bais**

The Sambhar Lake is the largest inland salt lake in India. A bowl shaped lake encircles historical Sambhar Lake Town located 96 kilometres south-west of the city of Jaipur and 64 kilometres north-east of Ajmer along the National Highway No. 8 in Rajasthan. The lake is actually an extensive saline wetland with water depths fluctuating from as few as 60 centimetres (2 ft.) during the dry season to about 3 metres (9.84 ft.) after the monsoon season. It occupies an area of 190 to 230 square kilometres, based on the season. It is about 35.5 kilometres long with a breadth varying between 3 kilometres and 11 kilometres. The circumference of the lake is 96 kilometres surrounded on all sides by the Aravalli hills.<sup>1</sup>

The Sambhar Lake basin is divided by a 5.1 kilometre long dam made of sand stone. After salt water reaches a certain concentration, it is released from the west side to the eastern side by lifting the dam gate. The water is fed to the lake from streams of the rivers Mendha, Runpangarh, Khandel and Karian. The Mendha and Runpangarh are main streams. The Mendha flows from south to north and the Runpangarh flows from north to south. The temperature of this area reaches 40 in summer and is around 11 in winter.<sup>2</sup>

At Sambhar, folklore and history coalesce and legends abound around its presence here. According to the local tradition, some 2500 years ago, the Goddess Shakumbhari bequeathed the lake to the people of the area. In her worship, there is a sparkling whitewashed temple on a rocky hillock extending out of the lake bed. A reference in the epic of Mahabharata mentions the Sambhar as a part of the kingdom of demon King Brishparva, as the place where his priest Shukracharya lived and the place where the marriage between his daughter Devyani and King Yayati took place. A temple and a tank near Salt Lake City honour Devyani even today.<sup>3</sup>

The Sambhar Lake on the joint borders of the erstwhile States of Jodhpur and Jaipur, was the largest source of salt production in Rajasthan. The lake was worked by the imperial government of Akbar and his successor till 1754 A.D., and then it came to the hands of the rulers of Jodhpur and Jaipur states. The western half belonged entirely to Jodhpur and the eastern half including the town of Sambhar, was held jointly by these two states. The influence of Britishers gradually increased in this area after the treaties concluded in 1818 A.D. between the English East India Company and the various rulers of Rajasthan. Although, the aims of treaties appeared to be more or less political in nature and almost silent about any specific economic interest in Rajasthan<sup>4</sup> but it was not true. They were aware of their economic interest from the very beginning.

In my view here, before discussing the socio-economic impact of British control over Sambhar Lake as a source of salt production, it would be appropriate to elucidate the British salt policy first. The aim of the salt policy of Britishers was to earn money and to give protection to the Liverpool salt. Therefore, the East India Company established their monopoly on trading of salt of Bengal in 1765, which had to be abandoned as it was disallowed by the Court of Directors. However, the Company retained the sole control on the manufacture of salt and earned a lot of money by sale through public auction in Bengal from 1765 to 1837. First of all, foreign salt was imported in Bengal in 1818-1819 but till 1837, the amount of import was not much. The Liverpool salt lobby led the Britishers to encourage its import. Due to the influence of Liverpool salt lobby, the import of foreign salt in Bengal rose 200% during 1845-1853.<sup>5</sup>

From the commencement of salt monopoly, a preventive establishment was employed for the protection of company's salt revenue. In 1818, it was employed in Northern Bihar under the general control of the Board of Customs, Salt and opium, to prevent the influx lightly taxed salt from the western parts of Rajasthan. In 1843, the custom department of the British government increased the duty on salt entering their territory by four annas (twenty five paise) per maund at Agra and twelve annas (seventy five paise) at Allahabad. In other words, an additional duty of Rs. 1 per maund on salt passing to the east of Allahabad was imposed and the preventive establishment in Bihar was abolished. All salt under transport had to be covered by the protective documents to realise this duty and

to protect the salt interests of the company. An inland customs line, known as salt line was commenced in 1843 from Torbeila, north of Attock on the Indus to Mahanadi in Sambalpur district of Central Provinces extending up to the borders of Madras a distance 2500 miles in length. The line was constructed with the help of impenetrable hedge of thorny bushes and trees supplemented in places by stone wall or ditch and earth mound. It was guarded by a force of 1400 officers and men.<sup>6</sup> The primary reason for this barrier was the difference in salt duty levied in different parts of the country. The rates of salt duty, which were imposed on all salt crossing the salt line reveals the British intention to protect the import of foreign salt in India. The general rates of duty on Sambhar salt varied from time to time and were as follows:<sup>7</sup>

From	To	Tax per mound
1843-44	1845-46	Rs. 1.50
1846-47	End of 1859	Rs. 2.00
Jan 1860	March 1861	Rs. 2.50
March 1861	Dec 1877	Rs. 3.00
1878	July 1878	Rs. 2.75

It is noticeable that the duty on salt manufactured in British India was higher than the duty imposed on Sambhar salt and varied from time to time and was as follows:

From	To	Tax per mound
1837	1844	Rs. 3.25
1849	1859	Rs. 2.50
1859	1861	Rs. 3.00
1861	1878	Rs. 3.25
Feb 1878	Aug 1878	Rs. 2.87

Before the British control over Sambhar lake, the Sambhar salt was available at low price as the cost of salt manufacture was only 25 paise per maund. Yet according to Col. Sadarland, the income of Jodhpur state alone was Rs. 3 lakhs annually from Sambhar lake.<sup>8</sup>

### British Control over Sambhar Lake

In 1856, Mr. Vansittart, then the Commissioner of customs probably comprehending the considerable revenue prospects of salt trade, suggested to the government to control the salt resources of

all states by negotiating commercial treaties with them so as to enable the government to enforce a regulated system of excise. Col. Bruce reported on the prospects of doubling the British revenues after commercial treaties with the Rajput states.<sup>9</sup>

Another reason responsible for the steps taken by the British government to control the trading and manufacturing of salt in Rajasthan, was the increase in debt of 50 million sterling (40 million due to the suppression of uprising of 1857 and 10 million on military reforms) on the Indian government, due to the upheaval of 1857. Many steps were taken by the government to come out of this debt, particularly in the period of Lord Mayo (1869-72). He laid the foundation for the reforms of the salt duties. He realised the difficulties of the previous system of salt trade and introduced uniform rates of salt duty throughout India for acquisition of salt sources in Rajputana by the treaties with the relative states.<sup>10</sup>

Here, we discuss only about Sambhar Salt Lake which was under the joint authority of the rulers of Jaipur and Jodhpur states. The rulers of both the states were in no position to resist the British. Ram Singh of Jaipur was very much under British influence since 1839 and he surrendered without much difficulty. At Jodhpur, by 1868, Takhat Singh had placed himself in a very tight corner and had been threatened with dethronement if he did not behave and accept the British advice in relation with his nobility. In this condition Takhat Singh surrendered himself easily.

### Salt treaty with Jaipur State (1869- 1870)

Jaipur, however, was first to be trapped by the British. Ram Singh, the ruler of Jaipur, went to Shimla during the summers of 1869, and signed the salt treaty on August 7, 1869. The main provisions of the treaty were:<sup>11</sup>

1. Jaipur state leased to the British its right of manufacturing, selling and levying duty on salt within the limit of the Sambhar Lake and its adjoining area. The lease was to remain in force until the British government desired to relinquish it, for which a two years notice would be required before termination by the British government to the state.
2. In consideration of the lease, the British government agreed to pay Rs 1.25 lakhs as lease rent and Rs 1.5 lakhs as compensation for duties renounced by Jaipur, a total sum of

Rs. 2.75 lakhs annually in two half-yearly instalment.

3. The State also lost its right to levy any duty on any kind of British salt and was entitled to receive annually a maximum quantity of 1.72 lakhs maunds of salt from the British government at the rate of 9 annas (Rs. 0.56) per maund.
4. British Government agreed to pay 20% royalty on the price per maund in excess of 8.25 lakhs maund of salt sold.
5. It also agreed to deliver 7,000 maunds of salt free of cost to the Jaipur darbar for its use.

In 1879, the ruler surrendered 1,72,000 maunds of salt obtained at the rate of Rs. 0.56 paise for the use of the people of the state, in exchange for a payment of Rs. 4 lakhs. Even then, he did not, he probably could not realise any hesitation that the people of the state were being subjected to heavy taxation.<sup>12</sup>

### **The Salt Treaty with Jodhpur state**

In connection with Sambhar Lake, the Britishers concluded a treaty in January 1870 with Jodhpur state for the share of their jurisdiction. The main provisions of the treaty were:<sup>13</sup>

1. Jodhpur state leased to the British its right of manufacturing salt and trade.
2. In consideration of the lease, the British government agreed to pay Rs. 1.25 lakhs annually to Jodhpur State.
3. A royalty of 20% was to be paid on the amount of sales in excess of 8.25 lakhs maunds of salt yearly.
4. The British government agreed to give 7000 maunds of salt free of cost to the royal family.
5. The ruler of Jodhpur was not paid any compensation for transit duty as the route of salt lay mostly through Jaipur state.

By these two salt treaties Jaipur and Jodhpur surrendered permanently the most prolific source of salt production gifted by the nature to the Britishers. They had transferred their rights for pittance and allowed the exploitation of natural resources by the imperialist power.

### **Impact of the British control over Sambhar Lake**

Here, it is noteworthy to mention that before the control of the Britishers on the Sambhar Lake, the salt industry was very

beneficial for the states and their people, even rate of taxes on salt production and trade were very few or low because the rulers of both the states did not treat this industry as a source of income yet the income of only Jodhpur state from Sambhar Lake was about Rs. 3 lakhs per annum. Col. James Tod also remarked on this industry. He said that this productive branch of industry still employs thousands of hands and hundreds of oxen and is almost entirely in the hands of that singular race of beings called Banjaras, some of whose tandas or caravans amount to 40,000 heads of oxen. The salt is exported to every region of Hindustan from Indus to Ganges and this was universally known and sold under the title of 'Sambhar Lun' or Salt of Sambhar. But after the control of Britishers, all the benefits of this industry were transferred to them and they earned a lot of money from salt of Sambhar Lake. Due to which, the people of Jaipur and Jodhpur states faced so many problems.<sup>14</sup> The social and economic repercussions are discussed below:

Rise in the price of salt: Due to the monopoly of the British on the salt trade and production, the salt was more costly. The British government decided the policy of collecting salt tax at the source of production. The Britishers wanted to utilise salt trade and production as a source of income. The ostensible argument put forward by the British acquiring control was to reduce the cost of Sambhar salt to the millions of subjects by improving methods of administration and by facilitating the carrying of salt by railways. This was totally wrong because the only reason for rise in price of salt anywhere in India was the British salt duty varying from Rs.2 to Rs.3 per maund when the cost of production was less than Rs 0.25 per maund at Sambhar. Another factor of rise in the cost of salt was to surrender the concessional supply of salt. For example, the Maharaja of Jaipur was authorised to purchase 1,72,000 maunds of salt at 0.9 annas (56 paise) per maund under the treaty of 1869. In 1879, the ruler exchanged his concession for a sum of Rs. 4 lakhs per year to be paid to the Durbar. He did not mind the loss of the mass to purchase salt at three-four times. The price of salt in 1871-75 was 58.95 seers per rupee and in 1886-90, 13 seers per rupee. This was the immediate impact of salt treaties. The poor who could not afford the price had to consume inferior salt which could be managed from their vicinity.<sup>15</sup> The anguish of people's sentiments on the British monopoly on salt is also reflected in the folk literature and folk songs

such as:

म्हारौ राजा भोळौ सांभर तौ दै दीनी अंगरेज नै  
म्हारा टाबर भूखा रोटी तौ मांगै तीखै लूण से ।<sup>16</sup>

Rise in the Unemployment: Before the monopoly of the Britishers, Banjaras, who carried this trade on pack animals, were involved in the transportation of salt. They were adversely affected, particularly with expansion of railway network. About 80% of trade was carried through railway in 1904. Major K.D.Erskine has remarked, 'In former times, the whole or the carrying trade was in the hands of the Banjaras but with the extension of Railways, very few of these wanderers visit the place and particularly all the salt is removed by rail'. It reduced the avenues of subsidiary employment available to labour and the poor peasantry in desert regions with the extension of railway upto Sambhar Lake. In 1874-75, the employment opportunities available to the tribe Banjara's, who had been involved in it for generations, shrank considerably. The rulers of Jodhpur and Jaipur had shown complete apathy to the fate of the common man, when they easily exchanged the supply of cheap salt for local consumption in the state for cash subsidy by the British to themselves. For some time, they continued with their profession. The inland custom department Administration report for 1872-73 noted that it was difficult for the rail or river borne trade to compete with the Banjaras bringing salt to Jhansi but it was confident that with the opening of railway upto Sambhar, the Banjara traffic could be exterminated.<sup>17</sup>

Increase in the revenue of the British Government: Another impact of British monopoly on salt trade and production was the increase in revenue of the British government from salt. It became third important source of income. The first was land revenue and the second was opium. For example during the period of 1870 to 1903, the significance of this source as a revenue earning item can be understood of one single source, namely Sambhar Lake. Salt manufactured here till March 1906, since 1870 was approximately 46-60 lakhs tons or yearly average of about 1.26 lakhs tons. The receipt from the sale of salt had been about Rs. 349 lakhs and expenditure Rs. 310 lakhs (including payment to the state concerned for treaty obligation) leaving a credit balance of about Rs. 39 lakhs.<sup>18</sup>

Impact on cattle: Besides rise in the price of edible salt, the

general closure of khari salt works deprived an extensive community of a salt which, though inedible, was largely used locally by the owners of horned cattle and camels. In course of time this restriction had a deleterious effect on the general health of the cattle wealth.<sup>19</sup>

Impact on the cottage industries: These agreements also restricted saltpetre (Kalmee Shora) and khari works which in turn adversely affected the cottage industries like cotton printing, wool dyeing, and leather industry, which had used a cheap indigenous product to improve the quality of dye. The use of saltpetre as a mordant, especially in the case of wool dyeing with animal colors such as lac or cochineal was peculiar to India. It affected the hide tanning process. The Kalmee Shora of Rajasthan was of very superior quality and no manufacturer in Europe could produce a better quality of saltpetre. In India Kalmee Shora was produced at very low price in comparison with Europe. The result of restrictions imposed on manufacture of saltpetre was to push back the industrial potential and development of the state.<sup>20</sup>

Impact on the rulers of the States: The most important effect on the states concerned was that henceforth, they became totally dependent upon the British Government for the supply of this essential commodity and that too, at a stipulated price dictated by the treaties. Subsequent development also showed loss of their transit duties and lack of old trade mart besides the loss of their prestige in the eyes of their people. It may be too much to argue that the rulers of both states did not understand the far reaching impact of treaties and agreements but they did reveal a strange inferiority in defending the interest of the respective states under their charges.<sup>21</sup>

After the study of above facts, we can say that the control over salt trade and production did not prove beneficial for the rulers and their people. The rulers of both the states had revealed their inability to understand the real impact on the common people. They could not have been expected to put up a struggle against the imperial power. It is clear that these treaties and agreements were beneficial only for the Britishers to achieve their goals: to get unexpected revenue and to give shelter to imported salt (Liverpool salt). Here, it is noteworthy to mention that the development of modern transport system (railway etc.) proved to be helpful for awakening among the common people which later reflected in the movement for the responsible government in respective states.



**References:**

1. Tod. James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol.III, pp. 110-111
2. Malcom John, Imperial Gazetteer of India, Indian Empire Vol.III, pp. 95-105
3. Vyas R.P., Rajasthan ka Vrihat Itihaas, Vol.II, pp. 449
4. Jain M.S., Rajasthan ka Vrihat Itihaas, Vol.II, pp. 186-188
5. Dutta R.C., Economic History of India, Vol.II, pp. 104-105
6. (i) Watt, Dictionary, Vol.VI, Pt. II, pp. 404-420  
(ii) Jain M.S., Rajasthan Through the Ages, Vol.II, p.187
7. Watt, Ibid., pp. 413-421
8. Sadarland Report, Political Consultant, August 7, 1887, No. 845
9. Manual of Northern India, Salt Revenue Dept., Vol.I, p.14
10. Ibid., p.16
11. Jodhpur Records: (i) Kharita Bahi No. 16, p.31  
(ii) Sanad Bahi No. 141, p.244
12. Aitchison C.U., Treaties, Engagements and Sanads, Vol.III, pp. 147-151
13. A proceeding of Foreign and Political Dept., May 1870, No.414
14. F. Auston, The Salt Industry of Rajputana, p.26
15. Watt, Ibid., Vol.VI, Pt.II, p.430
16. Prakash Vyas, Rajasthan ka Swatantrata Sangram, p.67
17. Sadarland Report, Ibid., July 1880, No. 186-188
18. Vyas R.P., Ibid, p.451
19. Rajasthan Archives Records, 1872-73, p.119
20. Ibid., 1879-80, p.195
21. Jain M.S., Ibid., p.202

## **Development of Modern Education for Muslim Community in Rajasthan in 20<sup>th</sup> Century : A Case Study of All India Muslim Educational Conference**

**Naiyer Azam**

The contribution of Aligarh Movement is remarkable for the development of Muslim education in Indian sub-continent during 20<sup>th</sup> century. The impact of Aligarh Movement was also felt significantly in the province of Ajmer and Merwara<sup>1</sup> in 20<sup>th</sup> century. It is significant to note that for the very first time the All India Muslim Educational Conference's annual meeting was held after gap of 42 years at Ajmer under the president ship of Sir Shah Sulaiman. The Ajmer session of the Conference is remarkable in the history of Muslim education of Rajasthan because it strongly propagated the idea of providing modern, vocational and traditional education to the Muslims of Rajasthan. It passed significant resolutions for the development of modern and traditional education not only the Muslim males but also to the Muslim women. It also created awareness about western and scientific learning among Muslims and the various resolutions of Ajmer session of the Conference sought the attention of British Government as well as princely states of Rajputana and princely state of Tonk towards the prevalent abysmal condition of Muslim education in 20<sup>th</sup> century.

Modern education, as defined in Lord Macaulay's Minute on Education, appears to have started in Rajasthan in the middle of the 19<sup>th</sup> century. English medium and 'modern' schools were first introduced in Alwar and Bharatpur in 1842, in 1844 in Jaipur and in 1863 in Udaipur. Efforts to introduce modern education in Ajmer-Merwara region began in 1819.<sup>2</sup> The Provision of education varied among princely states depending upon the orientation of the rulers and the availability of financial resources. Jaipur State was at the forefront of modern education in Rajasthan where in 1844 the Department of Public Instruction had been established. Under the

auspices of the Maharaja Sawai Ram Singh Bahadur, a Sanskrit college and schools for boys and girls were opened. The education scenario in smaller states, e.g. Bundi, Dholpur, Shahpura, Banswara, Pratapgarh and Dungarpur, was very different. In Bundi and Bikaner, for example, schools were limited to Sanskrit/Persian schools and Chatshala/Pathshalas respectively.<sup>3</sup> Common to all states was a dearth of girls' schools. The limited number of girls' schools that were opened under the auspices of the Maharaja in Jaipur by 1867 (for example Jaipur Central Girls' School) were an exception. In general, girls' education was considered unimportant and suffered from conservative social attitudes and practices, as well as from a lack of female teachers. Even by the 1930s. The situation was not good, with girls schools accounting for approximately only 10 percent of the total number of schools in Jaipur state. Schools could be classified into three categories according to the source of establishment: those established by the State rulers under pressure from British Residents, those founded by Christian missionaries who focused on marginalized groups, and those run by wealthy individuals and charitable trusts. In mid 19<sup>th</sup> century, there were 647 educational institutions, of which 510 were maintained by the princely states, 103 by private individuals and 34 by missionaries. Of these, 545 were primary schools.

The curriculum varied between schools. In state schools, where the curriculum was influenced by the British school system, teaching activities were focused on languages (English, Persian and Sanskrit). In addition boys were involved in sports activities and girls in domestic activities such as sewing, cooking and drawing. The Jaipur Album, Education Chapter states that "the object is not only to turn out educated ladies but also good house wives, by adapting the work in the school to the house life of the girls. Dharma Shiksha also forms a part of the curriculum."<sup>4</sup> This was undoubtedly gender stereotyped approach to education that reinforced the patriarchal division of labour. In the early twentieth century primary education began to extend to districts, smaller towns, and villages.<sup>5</sup> This resulted from a combination of three factors: philanthropy, nationalism and social reform. The increased number of charitable trusts, mainly sponsored by members of the trading communities, such as the Marwaris and Jain Oswals, and pioneered by philanthropists, such as Raja Baldeodas Birla, resulted in the opening

of private schools for rural children. The national movement contributed further towards highlighting the importance of universal education, which was seen as a means of spreading awareness about people's rights, including the right to political independence. Social movements, such as the Arya Samaj, also contributed to widespread education by placing it at the forefront of their agenda. In Shekhawati, where several movements occurred between 1917 and 1940, many private schools were established by the business community and caste panchayats. This was the result of the resolution passed during their meeting to send all children (boys and girls) to school.

However the Ajmer<sup>6</sup> session of the Conference (1928) had a distinct place in the annals of Muslim history. The neglected region of Rajputana<sup>7</sup> became centre of annual meeting of the Conference in 1928 when it sought the attention of the Muslim community and thus the meeting of the Conference was organized at Ajmer. The Muslim population<sup>8</sup> of the town of Ajmer invited the Central Standing Committee of the Conference to hold its session there. Among the prominent Muslims who invited the Conference sitting at Ajmer, the name of Shaebzadah Abdul Waheed Tikumchand of Ajmer had a silver lining in the history of the Conference as he extended all support to make the Conference's session a grand success. He gave his ancestral house for the stay of guests of the Conference.<sup>9</sup> A Reception Committee of fifteen members was formed in the house of Mirza Abdul Qadir Beg. Seth Adbul Lalifullah General Merchant selected as its President Secretary. President of the Conference Sir Shah Sulaiman, Moulvi Sir Abdur Rahim Baksh and other prominent guests were lodged at the house of Seth Tikamchand. Rests of the delegates of the Conference were provided different lodges for their stay. The Islamia Moinia School<sup>10</sup> selected for the meeting of the Conference and its Osman Hall reserved for the same. The upper storey of the school was decorated for the educational exhibition for which different articles were brought from twenty-five places for the delegates.<sup>11</sup> Presidential address was given by Sir Shah Sulaiman, the judge of Allahabad High Court. His Presidential address is a comprehensive document which guides the Muslim education in 20<sup>th</sup> century and still it has its relevance in 21<sup>st</sup> century, as it incorporates almost every aspects of education and its further suggested ways for the future education to the Muslim

education.<sup>12</sup> Significant resolutions were passed and pledge was taken to improve the decadence position of Muslims throughout the region of Rajasthan. Various resolutions could be traced out from the Urdu version of the records of the proceedings of the All India Muslim Educational Conference. The Ajmer Session of the Conference sought the attention of not only the British government but it also appealed the princely states of Rajputana to take remedial measures to improve the educational standard of the Muslims. In this regards resolutions were passed which had direct bearing on the problems of the Muslim education. Some of the important resolutions are as follows:

Protection of Educational Rights of Muslims: Following suggestions and ways were required from the British government to protect the educational rights of the Muslims.

- a. Muslim representatives should be appointed in Academic Institutes of the Government.
- b. Sufficient vacancies should be created for Muslim students in Academic Institutes of the Government.
- c. Representation of Muslim should be made in the Committee of Government Inspectors of Education.
- d. Representatives of Muslim should be appointed in Senates and Syndicate of Universities and in the educational Boards of Middle and Secondary Education.
- e. Muslim students should have a share in the Government scholarship, which is given for foreign studies.

f. Arrangement should be made to provide religious and teaching of Urdu in Government school.<sup>13</sup>

Military Education: Conference's attention was also centered over the issue of military education and it requested that Government should provide military education to Muslims in its schools.<sup>14</sup> It also appealed that representation should be given to Muslims in centrally governed Educational Committees at Block level.<sup>15</sup>

Female Education: Focus was also given on the needs of the female education in the country. In this regard, following suggestions were given.

- a. The curriculum of the female education should be in accordance with the needs of the society.

- b. Government should provide trained women teachers to the Girls Schools.
- c. The medium of instruction for the primary and secondary education of the Girls should not be English and even it should not be made compulsory subject of the curriculum at this level.<sup>16</sup>

Vocational Education: Attention was given to the need of Vocational Education in Madrasas and Conference's delegates raised voice to introduce vocational education in Madrasas. Besides it, demand was also made to introduce separate schools for vocational education where provision of education of small scale industries and handicrafts should be made.<sup>17</sup>

Establishment of Central Library: For the posterity of Urdu language and its development, proposal was mooted out to establish a Central Library. In this favor following resolutions was passed.

"This Conference considers it necessary to establish a Central Library for the preservation of Urdu books, translated or compiled on different subjects so that development of Urdu language and its posterity could be arranged.... Since the infrastructures are available at Aligarh Muslim University, Aligarh. Even sufficient staffs are also present there; therefore the Central Library must be established in the premises of Aligarh Muslim University. Muslim authors, writers and prominent personalities are requested to donate their written works in Urdu language to the proposed library."<sup>18</sup>

Need of Inspectors for Islamia Moinia School: Request was also made to appoint an inspector for Moinia School. In this connection an appeal was made by the provincial government of Ajmer and Merwara to appoint inspectors for Moinia School who should be under the supervision of the Department of Education, the highest authority and they also should have the power to grant funds for the development of the Moinia School.<sup>19</sup>

Need of an Educational Board of Control: Resolution was passed to establish an Educational Board of Control in the province of Ajmer and Merwara wherein representation of Muslims should be given.

Upgradation of Moinia High School to Intermediate Level: Considering the educational importance of Moinia School for the Muslims, demand was made to convert it into intermediate level since it had served its services to the Muslims from its inception.

Following proposals were put forwarded in this regards.

- a. Moinia High School should be upgraded to Intermediate level where arrangement should be made for the education of commerce and other vocational subjects of utility.
- b. Teaching of Arabic should be given special attention in the curriculum.
- c. The Management of proposed Intermediate Moinia School should be under a talented Head Master who would have bright Muslim staffs under him.
- d. A Boarding House should be constructed in the proposal Intermeduete Moinia School, so that the students who would be receiving education there could live comfortably.
- e. Arrangement of useful manual training of different works should be provided there.<sup>20</sup>

Grants for Female Education: A proposal of two lakh rupees was made for the establishment of a Girls School in the state of Ajmer and Merwara. In this effect following resolution was passed.

“Considering the present condition of the status of Muslim female education, and its increasing necessity in the region of Ajmer and Merwara province, Conference feels it necessary to establish a full-fledged Government College. It also sought the attention of the British Government and the provincial government and the princely government to provide some financial grants for the same.”<sup>21</sup>

Muslim Education in the Princely state of Rajputana: Steps were also taken to draw the attention of the Hindu Princely States of Rajputana on the educational condition of Muslims. In this respect, following steps were discussed in the conference’s meeting.

- a. Money should be spent adequately on the education of Muslims in the princely states of Rajputana and request was made to their Hindu rulers.
- b. Urdu language should be given the place of second language in the official purpose and it should be introduced in other princely states where it is not in official.
- c. Urdu should be promoted in different academic institutions.<sup>22</sup>
- d. Recruitment of Muslims in Railway Workshop: Demand for the recruitments of Muslims in the local workshop of Railway

as an apprentice was made through the Conference’s platform. It was also resolved that suitable technical training should be imparted for the same to the Muslims.<sup>23</sup>

Muslim education in the Princely State of Tonk: In the Muslim Princely state of Tonk, efforts were made to bring excellence in Muslim education. In this direction resolutions were passed and following suggestions were given to improve the condition of Muslim education.

- a. Expenditure on Muslim education should be increased to 10%.
- b. Trained Teachers should be appointed in the different high schools of the princely state of Tonk.
- c. Anglo-Vernacular schools should be established in different parganas of the state.
- d. Proper arrangement should be made for the education of Muslim education.<sup>24</sup>

Besides these resolutions, other significant steps were also taken to improve educational standard of Muslims of Rajasthan. Resolutions were passed towards the local demands of the people of Ajmer, which are as follows:

- a. Efforts should be made to revive the Oriental College of Jaipur which had been the premier institution of Muslims where Arabic and Persian were taught.
- b. Financial grants were sought for the development of the Middle School of Jaipur.
- c. Appeals were made for the financial grants to the Muslim Institutes of Ajmer which had been serving for the cause of Muslims. Demand was also made for the land to construct of a new building for the Institute from the municipality of Jaipur.
- d. Requests were also made to the ruler of Alwar state to make the provision of study of the Quran and Theology in the private Maktabas of the Alwar state.
- e. Persian as a language of study in the Intermediate College of Udaipur was also put in the demand lists of the Conference.<sup>25</sup>

The efforts made by the All India Muslim Educational Conference in its history from its inception up to the pre partition period, we find that the Conference’s annual meeting at Ajmer was

more significant than its earlier sessions held at many places. Here comprehensive steps were taken to improve the educational status of the Muslims of Rajasthan. Thus, we could see the impact of Aligarh Movement was quite profound in the region of Rajasthan.

### References:

1. The present district of Ajmer derives its name from the headquarters town of Ajmer. Before independence, Ajmer-Merwara was an isolated province of British India in Rajputana. It comprised of two districts, viz. Ajmer and Merwara. See for details: B.N. Dhoundeyal, District Gazetteer, Ajmer, Sharma Brother Electromatic Press, Alwar (Raj.) 1966, p. 1
2. G.S. Verma (1986), History of Education in Rajasthan, pp. 37, Sabd Mahima, Jaipur
3. G.S. Verma (1986), p. 53
4. Government of Jaipur (1933), Jaipur Album, p. 11, Jaipur
5. In 1932 there were 156 government primary schools, of which only 11 were for girls and 7 were night schools, and 254 private primary schools, of which only 30 were for girls and 2 were night schools. There were also 175 Chatshalas and Makhtabs (Government of Jaipur, 1933)
6. The district is situated in the centre of the State between 25°38' and 26°58' north latitudes and 73°54' and 75°22' east longitudes. See Ajmer Gazetteer, op.cit.
7. Rajputana was the pre-1949 name of the present-day Indian state of Rajasthan, the largest state of the Republic of India in terms of area. During British period, this area had 23 Princely states, as well as one chiefdom, one estate, and the British district of Ajmer-Merwara. Most of the ruling princesses were Rajputs, the warrior rulers who entered the region in the 7<sup>th</sup> century AD. The largest states were Jodhpur, Jaisalmer, Bikaner, Jaipur and Udaipur. In 1947 the Princely states were consolidated and the princes were pensioned off.
8. According to the 1951 census the total number of Hindu population was 5,99,524 and the Muslim population of the district was 48,886 which formed 7% of the total population. See, Ajmer Gazetteer, op.cit. p. 104
9. See All India Muslim Educational Conference (AIMEC) 1928 session Ajmer, Punjab Salah Tarikh, p. 258, op.cit.
10. Government Moinia Islamia Multipurpose Higher Secondary School was started in the year 1910 by some prominent Muslim citizens of the city under a trust for the education of the children of their community. The school was however provincialized in 1918 and the admission was opened to all communities. Teaching of Theology however continued till 1947 and the salary of the teachers paid by Durgah Committee. The school was brought under the Associated Schools Project Scheme of UNESCO in the year 1956 and was the first to be selected as a Pilot School 1958. It was raised to the present standard in 1959. This is the only institution in Ajmer where Urdu and Persian are taught.
11. See Punjab Salah Tarikh, pp. 258-59, op.cit.
12. See Presidential address, AIMEC, Ajmer Session 1928, Punjab Salah Tarikh, p. 259, op.cit.
13. See Resolution No. 1 AIMEC, Ajmer Session, 1928
14. See Resolution No. 2, Ibid.

15. See Resolution No. 3, Ibid.
16. See Resolution No. 7, Ibid.
17. The above Resolution No. 7 was proposed by Prof. Shamshul Ghani, Training College, and seconded by Raza Hussain Khan. See for details, Resolution No. 19, p. 264, Ibid.
18. The above Resolution was proposed by Mirza Abdul Qadir Beg and seconded by Moulvi Mohiuddin. See Resolution No. 19, p. 269, Ibid.
19. See Resolution No. 20, Ibid.
20. See Resolution No. 22, Ibid.
21. See Resolution No. 23, Ibid.
22. See Resolution No. 23, Ibid.
23. See Resolution No. 24, Ibid.
24. See Resolution No. 26, Ibid.
25. See Resolution No. 27, 29, 33, 34, 35 and 36, Ibid

## **Role of Muhammadan Educational Conference in the Educational and Cultural Upliftment of Rajasthan**

**Gulshan Zubair & Nishat Qaiyoom**

The Muhammadan Educational Conference established by Sir Syed Ahmad Khan on 27th December 1886,<sup>1</sup> in Stretchy hall of the Aligarh College, presided over by Maulvi Samiullah Khan, the co-founder and a trustee of the college.<sup>2</sup> It was an advance guard of his educational movement promoting modern, liberal education for the Muslim community in India.<sup>3</sup> Its annual meetings were held in different parts of the country where by the co-operation of the local Muslims,<sup>4</sup> the conference succeeded in holding its sessions in every nook and corner of the country like<sup>5</sup>- Uttar Pradesh,<sup>6</sup> Maharashtra,<sup>7</sup> Delhi,<sup>8</sup> Punjab,<sup>9</sup> West Bengal,<sup>10</sup> Tamil Nadu,<sup>11</sup> Haryana,<sup>12</sup> Madhya Pradesh,<sup>13</sup> Rajasthan (Ajmer),<sup>14</sup> Bangladesh,<sup>15</sup> and Burma<sup>16</sup> etc. Steps were taken for the progress of education and its platform became the forum for the creating of new literary trends and new educational ideals.<sup>17</sup>

Muslim Educational Conference was concerned primarily with Muslim education. It kept a vigilant eye on the spread of modern education among Muslims and passed resolution and took steps to deal with the factors which were hindering its progress. It became a platform for Indian Muslim intelligentsia to mobilize Indian Muslim masses to promote education and specially modern and western education. They can clear their doubt and misconceptions about western and modern education. The conferences were much more than a gathering of Muslim educationist. It gave an opportunity to Aligarh Movement leaders to support it.<sup>18</sup> Sir Syed thought that only college could not serve the educational need of the Indian Muslims. He considered it necessary to organize a movement and create a necessary atmosphere for the extended educational activities.<sup>19</sup>

Thus in 1886 he envisaged the formation of a body and named it All India Muhammadan Educational Congress. Since the word "Congress" confused the people with that of the "Indian National

Congress" already been found a year ago, it was dropped in 1890 and the body came to be known as All India Muhammadan Educational Conference. In 1895 "Anglo Oriental" was further added in it and it came to be known as All India Muhammadan Educational Conference. In its 36th meeting held at Aligarh in 1923 which was chaired by Sahib Zada Aftab Ahmad Khan, Muhammadan was replaced by Muslim and the body came to be known as "The All India Muslim Anglo Oriental Conference."<sup>20</sup>

The life of All India Muslim Educational Conference can be broadly divided into five phases or period (these phases were described by Abdul Rashid Khan);

1886-1898 Sir Syed Ahmad Khan's period.

1898-1907 Muhsin-ul Mulk's period.

1907-1917 Sahibzada Aftab Ahmad Khan's period. 1917-1945 Navab Sadar Yar Jang's period.

1947-till date post independence period.

### **Aims and objectives of the Conference**

The following were the aims and objectives of the conference

- A- To spread among the Muslims European sciences and literature and promoting it to a very high level and endeavouring to educate Muslims to the highest of level in these disciplines, and to think out the plans towards this.
- B- To find out the condition of Indian instructions in the English schools established by the Muslims, for the Muslim education, and to promote such instructions in the best possible way.<sup>21</sup>
- C- To find out the condition of Maktabas for the teaching of the letter of Quranic text to the children of the common people and learning the whole Quran by heart, in vogue among them, now on the wane, and to adopt the measure for the preservation of and strengthening of the same.<sup>22</sup>
- D- Those receiving instructions in oriental disciplines and theology from the Ulema of our committee, and they having laid it down as their aim to find out their condition and to adopt all possible appropriate measures for the continuance of such instructions.<sup>23</sup>

The measures to be adopted for the promotion of the aims and objectives of the conference;

- 1- Muslim population of the district and town based on the last census.
- 2- Number of government schools, mission schools and the number of Muslims in it.
- 3- Number of Madarsa and primary schools along with the Ulema giving education therein.
- 4- Number of government mission girls schools, and number of Muslim girls in it.
- 5- Number of Anjumans doing welfare service to the district.
- 6- Family background, financial status and general condition of the Musalmans of that district.<sup>24</sup>

### **All India Muhammadan educational conference In Ajmer (Rajasthan), 1928**

With the passage of time the congress had its session almost all provinces of India.<sup>25</sup> Ajmer occupies a unique position as a place of Muslim pilgrimage in India, the sacred shrine of great Khawaja Moinuddin Chishti has been a centre of attraction for several centuries,<sup>26</sup> through which thousands of Muslim have year after came to pay homage to the famous saint buried in the mausoleum. It is in the fitness of things that all India Muslim educational conference should hold its session at this palace where large numbers of Musalmans congregate every year.<sup>27</sup> The reception committee is to be congratulated on inviting the conference to Ajmer, and thereby giving a new encouragement to the educational movement in this part of the country.<sup>28</sup>

The fourth Muslim educational conference held at Ajmer, December 26-29, 1928 which was presided over by Sir Shah Mohammad Samiulla khan born on 1886 at Jaunpur.<sup>29</sup> And Navab Sadr Yar Jang Habeeb-ur Rahman khan Sherwani was the Hony. Secretary of the period (1917-1945).<sup>30</sup> There were many eminent people who attended this session at Ajmer but there were some speakers who presented their resolution; Mirza Mohammad Hasan Sahib (prof. of Dhaka university) on the topic- protection of Muslim Educational rights, Maulvi Syed Abdul Jabbar Sahib on the topic-vicegerency of Muslims in Educational committee, competitive examination, hygiene and sanitation, Mirza Abdul Qadir Sahib on the topic-Development of madarsa education, Muslim education in

majority status, free primary education should be compulsory, establishment of Central Library, demand of two lace rupees for women' education, appointment of Muslims in railway workshop, demand for the development of education in Tonk, renewal of the oriental college of Jaipur, financial appeal for the Muslim institutions, appeal to the maharaja of Alore for the theology and the Quranic education in private schools, appointment of Muslims in training schools, appeal for Persian education in intermediate college of Udaipur and optional Arabic education should be in Ajmer Mewar, Mr. Shams-ul Ghani sahib on the topic- women's education, Aziz Ahmad Zubairi on the topic-appeal for educational boarding's, and progress of Islaimia School Ajmer to intermediate college etc.<sup>31</sup>

### **Conclusion-**

In assessing the role of Muslim Educational Conference as an effective representative organization in Rajasthan in 1928 the Conference asked to the ruler of the central state to provide resource for education of Muslim according to the proportion of their population.<sup>32</sup> It is also asked the government of Alwar to make adequate arrangements for the teaching of Arabic Persian and Urdu.<sup>33</sup> In Ajmer Mewar the inclusion of Arabic as a second language and as optional subject was also demanded.<sup>34</sup> While Alwar and Bharatpur states were requested to make facilities available to the neo-Muslims, of whom there were more than two lackings, the conference itself opened some Maktabs; requests were made to raise the status of Mueena Islaimia School, Ajmer<sup>35</sup> and opening of a department of Islamic history and culture at Jaipur University.<sup>36</sup>

During the period 1927-1939 the All India Muslim Educational Conference published 78 books. The following are the published books of 1928;<sup>37</sup>

1. Islah-e Tamaddun: Justice Dr., sir shah Suleman (Aligarh 1928)
2. salatin-e Maa'bar: Hakeem Syed Shamsullah Qadir (Aligarh 1928)
3. Khutbat-e Aliya; Anwar Ahmad Zubairi (Aligarh 1927-28) in 3 volumes.
4. Risala-e Taleem-o Taraqqi (editors) Dr. Abid Husain, Dr. S. Zafar-ul Hasan, Khawaja Ghulam-us Saqlain.

## References

1. Report Muhammadan Educational Conference, 1886, p.1
2. Abdul Rashid Khan, the All India Muslim Educational Conference its contribution to the cultural development of Indian Muslims 1886-1947, Oxford University Press, 2001, p.22
3. Report MEC 1886, p.1
4. Shan Muhammad, the All India Muslim Educational Conference, New Delhi, 2003, p.1
5. Abdul Rashid Khan, op.cit, p.12
6. Report of Muhammadan Educational Conference, 1886, p.1
7. Report of Muhammadan Educational Conference, 1903, p.1
8. Report of Muhammadan Educational Conference, 1892, p.1
9. Report of Muhammadan Educational Conference, 1908, p.1
10. Report of Muhammadan Educational Conference, 1899, p.1
11. Report of Muhammadan Educational Conference, 1901, p.1
12. Report of Muhammadan Educational Conference, 1931, p.1
13. Report of Muhammadan Educational Conference, 1918, p.1
14. Report of Muhammadan Educational Conference, 1928, p.1
15. Report of Muhammadan Educational Conference, 1906, p.1
16. Report of Muhammadan Educational Conference, 1909, p.1
17. Abdul Rashid Khan, op.cit, p.x
18. Report of MEC, 1886, pp.2,3
19. Shan Muhammad, op.cit, pp.xii, xiii
20. Sir Syed centenary paper, K.A. Nizami, a commemoration of the 100 years death anniversary of Sir Syed Ahmad Khan March 1990, pp.12,13.
21. Education of Indian Muslims; a study of All India Muslim Educational Conference 1886-1947, New Delhi 1977, p.24
22. Akhtar-ul Wasey, Education of Indian Muslims; a study of All India Muslim Educational Conference 1886-1947, New Delhi, 1977, p.24
23. Abdul Rashid Khan, op.cit, p.22
24. Shan Muhammad, op.cit, p. xv
25. Panjah Salah Tarikh, p.259
26. Gazetteer of India Rajasthan, Ajmer Alwar Press, Rajasthan, March 1966, p. 444.
27. Shan Muhammad, op.cit, p.444
28. Panjah Salah Tarikh p.259.
29. Ibid. p.258.
30. Akhtar-ul Wasey, 1977, p.55.
31. Panjah Salah Tarikh pp.258-269.
32. Resolution no.6 moved by Viqar-ul Mulk and indorsed by dr. Zia-ud din Ahmad, Marahravi, Muraqqa, p.65,66
33. Ibid, p.268
34. Report of primary education committee 1929-1930, (Calcutta 1930) p.65-66.
35. Abdul Rashid Khan, op.cit, p.237
36. Report Muhammadan Educational Conference 1944, p. 30.
37. Akhtarul Wasey, op.cit, pp.87,88

## Untouchability in Rajasthan with Special Reference to the Upliftment of Harijans in Mewar

**Ghausia Parveen & Shabenoor Fatima**

Castism is not new thing for us. This system in India originated about thousand and thousand years ago. While it has many aspects, we mainly concern with the darkest aspect of this system i.e. hierarchy which has provided legitimation for the unequal access to resources and to the exploitation and oppression of lower castes, besides the discrimination against lower castes by higher castes.

Most shameful side of the caste system is that the untouchables and outcastes were deprived from the ownership of land, entry into temples, access to common resources such as water from the village tank or well.

Non-untouchable caste, including the lowest among them, were not to have any physical contact with untouchables. They could not accept water or food from their hands.

The untouchable castes performed all the menial jobs such as those of scavengers, water-carrier, skimmers of hides of dead animals, leather-workers as well as of course, agricultural labour. Under the jajmani system, system they received a fixed share of the produce from the landowning families as payment for their services.<sup>1</sup>

Here we shall mainly focus on untouchability in Rajasthan.

Social status and place of an individual in traditional Indian society were determined by the caste system. It can be defined as a closed rank status group in which the relative position of the members, their occupations, matrimonial relations and interaction with others are intrinsically linked to their placement in a particular caste.<sup>2</sup> Hindu society was divided into four varnas- Brahmins, Kshatriyas, Vaisyas and Sudras on the basis of guna (virtues or merits) and karma (work). The control of senses, forbearances and knowledge of the scriptures are the natural actions of Brahmin



and the qualities possessed by the Kashtriyas were gallantry in a battle, firmness in action, non-retreat in a struggle and charity. Agriculture, protection of the cows and commerce were meant for Vaishyas. And the duty of Sudra was duty of all the varnas. And the people out of the caste system were called Malechhas.

A loose term Chandal was used for them. This included Kasai, Chamar, Balai, Bora, Regar, Bhangi, Bhambhi etc. Practising an occupation, such butchery by Kasai, tanning by Chamar, Balai and Regar, sweeping and scavenging by Bhangi and skinning dead animals by Bora and herding pig by Bhambhi, puts a caste at lowest rank.<sup>3</sup>

Social relations between one caste and the other was uneven. Inter-caste relation was prevalent in group of middle and lower order. But we find no inter-caste free movement of this kind were vertical, differences in status was very great, for example- the Kumbhkars (potters) would not maintain any social contact with a Chamar.<sup>4</sup>

Their (untouchables and outcastes) despised position is clear from the Rajasiya-ki-Chhatri Inscription of V. S. 1331 (1274 A.D.), which says that Bhoja, the ruler of Mewar took Jayasri (victory) bathing it with water from the edge of his sword, as if it were polluted by a touch of the Chandals.<sup>5</sup> This shows that they were looked down as quite outside of the pale of the society, and one who touched them accidentally had to clean and wash himself. No higher class should show any kind of favour to them nor give them any charity. This caste differences we can see in sculptured art at the Tower of Victory in Chitor despised castes have been sculptured with a broom, winnower etc. as indicating objects for identifying them, and for keeping others away from them.<sup>6</sup>

Inter-caste relations must have been of different nature. In villages, the agriculturists stood in the need of Chamars with some urgency as well as needed Brahmanas during the occasion of birth and death. Even in towns the services of artisans of clean and unclean occupations were imperative in every walk of life, as it is now.<sup>7</sup>

Several rules and regulations of conduct the individuals into hide-bound hereditary folds beyond which they were not expected to see and act. This was responsible for disunion and consequent weakness in the Hindu society. Under this system the position of

lower caste, and specially that of untouchables was most deplorable who had to do all necessary services for the society and in return they were despised. They had to remain content with a life which was no better than death.<sup>8</sup>

But in Bhatt Jagjivan's<sup>9</sup> Ajitodaya Kavya gives us an idea of social harmony during the period of Ajit Singh (maharaja of Mewar, 1679-1724 AD). "People of sects and communities lives in peace, unity and amity." From the Kavya we also able to know that caste system was strictly followed in the society; "The Varnashrama system of the old was respected."<sup>10</sup> ( canto ,verse 7)."<sup>11</sup>

The Butchers who could not earn sufficient money from their profession, took to lifting stones and beams to cover roofs at Jodhpur in the late 17th century.<sup>12</sup> Also in Kota they they looked to other types of work.

One interesting aspect of untouchability in Rajasthan is that among the Sudras the people of the villages in Rajputana do not treated Kumbhkars (potters), Tailikas ( oil pressures), Ironsmiths and Carpenters as untouchables. The Chamars, who are weavers and shoe repairers are treated amongst the untouchables. The Thoris,<sup>13</sup> who were once the land lords of Pugal region prior to the conquest of Bhatias, have now fallen to the level of untouchables.

In the rural areas the untouchability was limited to their houses in a separate locality, separate ghodi ( water tub) on the well and non-entry to the inner courtyard of the temple. It was not so strict as in the cities. In some villages they were not allowed to ride on horse back in marriage at the time of the performance of the 'toran' ceremony. Lower classes were debarred from riding horses. In fact, in most parts of Rajasthan, especially in rural areas, horses are still an index of a person's status in the village hierarchy. The lower caste still do not have sanction to ride a horse, which is viewed as the privilege of the upper caste. There are many instances, when individuals belonging to the lower castes are humiliated and punished by the rural elite when they try to appropriate the privilege. For example: a bridegroom could ride a horse only in the presence of police official.<sup>14</sup> In another incident on March 7, 2003 in village Barthala in Tonk two Dalit bridegrooms were physically assaulted by the Rajputs of the village and forced to come down ( dismount) from the horses.<sup>15</sup> The caste panchayat (council) of the higher castes

still exercise the power to punish, humiliate or ostracize those who indulge in the infringement of this customary practice. In some areas, even an elephant ride was also debarred. Conversely, ride on donkey signified lower status in the social and political hierarchy, at times even disgrace.

Some objections were also made to their women folk putting on silver anklets on their legs. They were not allowed to sit on a cot in the presence of the prominent persons of the village. Women of lower classes could not put on shoes in the thikanas and jagirs as a mark of respect to the governing classes.<sup>16</sup> The intricate prescription of dress norms was a part of an elaborate system of control mechanism which restricted women's lives. Like 'Dovati'<sup>17</sup> was meant for making their (untouchables) dresses.

The Chandals (sweeper), while passing through a market in a city, were required to cry Poisa - Poisa and ho holla (see) so that the other wayfarer may avoid touching them, whom they considered untouchables. In some cities they were to carry a long feather of a peacock's tail for informing others about their presence. In some other cities they were to pass through the market place by striking Bamboo sticks against each other making a crackling sound in order to alert others to beware of their presence and avoid their touch.<sup>18</sup>

Despite this social reform movements were also takes place in India, such as those of Jyotiba Phule in Maharashtra and Sri Narayan Guru in Kerala, also began to question the caste system and caste inequality. From 1920 onwards, Gandhiji interrogated the issue of abolition of untouchability into the national movement and major campaigns and struggles such as the Vaikom (1924-25) and Guruvayur Satyagrahas (1931-32)<sup>19</sup> were organized. Then Dr. Ambedkar<sup>20</sup> emerged as a major leader of the Depressed classes by the late 1920s. But here we shall discuss particularly the upliftment of Harijans in Mewar.

In the region of Rajputana, in addition to the typical Gandhian issues,<sup>21</sup> admirable reformation work was undertaken amongst the tribals who were concentrated in large numbers in certain pockets of Rajasthan, particularly in Mewar and Bagad (Banswara and Dungarpur).

Efforts were made to eradicate social malpractices like child marriage, purdah, untouchability and other rigid social norms, which

hindered the process of education.

The leaders in Rajputana were deeply influenced by Gandhi's commitment to Harijan upliftment and welfare activities. Ram Narain Chaudhary, who had joined Gandhi's Harijan Yatra, took upon himself the responsibility of Harijan welfare in Rajputana. It was on his initiative that Rajputana Harijan Sewak Sangh and its numerous branches were set up in different states. In 1934, Manikya Lal Verma along with Shobha Lal Gupta had set up Sevashram in Nareli, about seven miles from Ajmer. The chief objective of the organization was to prepare a committee cadre of workers for constructive activities, particularly in the sphere of Harijan welfare.

The ashramites were involved in Harijan Upliftment work. The inmates visited the Harijan colonies to create awareness for education and cleaning of the residential areas.<sup>22</sup>

Bhogilal Pandya was another prominent leader who strove incessantly for the betterment of the deprived and the under-privileged sections particularly the tribals and the Harijans. However, while engaged in job, he made incredible efforts at the individual level for the upliftment of the deprived sections of society. He (he was just fifteen years of age when he set up the hostel at Dungarpur) had set up a hostel in Dungarpur for facilitating access to education for the poor boys living in remote villages. Later his wife Maniben, took over the responsibility of food and other arrangements of the hostel inmates. Bhogilal raised funds and other resources for the hostel by appealing to the affluent sections of society.<sup>23</sup>

Bhogilal was a Brahmin yet he took the cause of Harijans. Every evening, he visited their colonies, where through his exhortation he sought to dissuade them from their bad habits like eating the meat of dead animals, collecting leftover of food and alcoholism. He also tried to impress upon them the benefits of education for their children. Influenced by Gandhi's epic fast in 1932, he set up Harijan Sewak Samiti in Dungarpur. In his efforts he was fully cooperated by his wife. Although Bhogilal had to suffer humiliation and threats of ostracism from the caste Hindus, still he steadily worked for the betterment of depressed classes.<sup>24</sup>

In 1933, with the cooperation of Rajguru Mahant Suryadas, Bhogilal Pandya took out a procession of Harijans in Dungarpur that later proceeded to the temple located in Rajaji ki Chhatri. This

was the first instance of temple entry of Harijans in Dungarpur. Another significant instance of temple entry took place in the city of Udaipur. During the 1950s Harijan Sewak Sangh workers led the movement under the leadership of Kesarilal Bordia, popularly known as 'Dadabhai'. He and veteran leader Bhurelal Baya had organized temple entry of the Harijans at the historic Jagdish temple of Udaipur (Mewar). More interesting was that in the non-favourable and conservative atmosphere of Rajasthan, women activists like Shanta Trivedi and Sushila Dashottar participated in the procession.

Dadabhai and the workers of the Harijan Sewak Sangh had to face severe opposition from the Brahmin and other high-caste groups, at times, even suffered from social ostracization. The temple entry of the Harijan had been a highly sensitive issue in the conservative environs of the region. In 1947, Mewar Praja Mandal had to encounter public uproar when there were rumours that it was planning temple entry for the untouchables in shrine of Nathadwara. The Praja Mandal leaders went out of their way to assuage popular sentiments. Therefore, they desisted from approaching the issue of entry to the Nathadwara temple that was imbued with strong and deep-rooted emotions.

### Conclusion

Communalism is not new thing for us. There are many clauses and laws for the prohibition of untouchability. With independence, major initiatives in the area of removing caste injustice and inequality were to be attempted. The constitution extended political rights to all citizens irrespective of religion, caste, sex, language, race and this included the SCs. But it also specifically in Article 17 declared that: ' "untouchability" is abolished and its practice in any form is forbidden. The enforcement of any disability arising out of "untouchability" shall be an offence punishable with law'. But in case of Rajasthan, we find that untouchability still existed there as proof we found a petition to Chief Minister of Rajasthan which is as follows:

"Untouchability is a crime and its practice in any form is forbidden under the law. The District magistrate is vigilant and very sensitive to this issue. Strict action would be taken against those who practice this inhuman act which denies dignity and equality to human beings. The District Administration is thankful to you for

highlighting such an issue being practiced as a custom in Dangariya and wishes you best of luck for your crusades against untouchability. Thank you"

### References

1. Bipan Chandra, *India Since Independence*, Penguin Books, New Delhi, 2008, p. 631.
2. Pratibha Jain and Sangeeta Sharma, *Honour, Status and Polity*, Rawat Publications, Jaipur, 2004, pp. 34-35.
3. G. N. Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan (1500-1800 A.D.)*, Lakshmi Narain Agrawal, Educational Publishers, Agra, 1973, p. 106.
4. *Ibid.*, p. 106.
5. *Ibid.*, p.99.
6. *Ibid.*
7. *Ibid.*, p. 106.
8. *Ibid.*, p107.
9. Bhatt Jagjivan was the court poet of Maharaja Ajit Singh of Mewar.
10. Dr G.N. Sharma, *Rajasthan Studies*, Lashmi Narain Agrawal Educational Publishers, Agra, 1985, p. 41.
11. Canto- this word is used for the chief division of a long poem.
12. G. N. Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan (1500-1800 A.D.)*, p. 99.
13. Thoris were also called Nayaks. Though they were fallen to the level of untouchables, Rajputs do not keep Thoris out of contact because the Thoris were the hunters of wild animals. Thoris were allowed to sit with Rajputs on the back seat on a camel, handling his gun.
14. *Dainik Bhaskar*, 9 May, 2002.
15. *Dainik Bhaskar*, 8 March, 2003.
16. G. V. Vyas, *Mewar ka Samajik aur Arthik Jivan*, pp. 229-231.
17. Dovat is coarse cotton cloth woven by the village weavers.
18. Rajvi Amar Singh, *Mediaeval History of Rajasthan*, Vol. ??, Kalyani Printers, Bikaner, 2005, p. 674.
19. Bipan Chandra, *India's Struggle for Independence*, Penguin Books, New Delhi, 1988, p. 233.
20. Dr. Ambedkar was a brilliant lawyer. He belongs to Mahar caste, a major untouchable caste of Maharashtra.
21. Issues that were propagated by Gandhi were khadi, upliftment of Harijans (low-caste people), prohibition of liquor, spread of education, social reforms, tribal welfare etc.
22. Narendra Sharma, 'Kusum', Manikyalal Verma, pp. 39-45, Shankar Shahi Saxena, *Jo Desh ke Liye Jiye*, p. 82.
23. Natwar Tiwari, Bhogilal Pandya, p. 3.
24. Narendra Sharma, 'Kusum', Manikyalal Verma, pp. 39-45, Shankar Shahi Saxena, *Jo Desh ke Liye Jiye*, p. 82.

## Quit India Movement in Jaipur State

Prof. V.K. Vashishtha

The Kachhawah Rajput State of Jaipur was founded in 960 A.D., and it was liquidated in March 1949, as a result of its integration with Rajasthan state under Indian Dominion. It was situated in the North-East of Rajputana, and was bound on the North by Bikaner, Loharu and Patiala; on the South by Udaipur, Bundi, Tonk, Kotah and Gwalior; on the East by Karauli, Bharatpur and Alwar; and on the West by Bikaner, Jodhpur, Kishangarh and the British districts of Ajmer-Merwara. Its length from north to south was 196 miles and its width 140 miles. In 1941, the city of Jaipur, the capital of the State, was served by Rajputana section of the B.B. & C.I. Railway system, and was situated 600 miles to the north-east of Bombay and 191 miles to south-west of Delhi. In 1941, the total population of the State was 30,40,876 (15,95,068 males and 14,45,808 females). Among them 27,57,681 (90.69 per cent) were Hindus, 2,49,232 (8.29 per cent) Muslims; 31,812 (1.5 per cent) were Jains, while 2,121 (0.07 per cent) professed other religions. Besides, the number of towns and villages was, 328. The population of the principal city of Jaipur was 1,75,810. The principal towns were Sikar, Fatehpur, Nawalgarh, Jhunjhunu, Lachhmangarh, Hindaun, Ramgarh, Chirawa and Gangapur with a population of 32,334; 23,254; 20,620; 16,874; 15,253; 13,804; 13,202; 11,646 and 11,050 respectively. The important thikanas of the State were – Chomu, Samode, Khandela, Sikar, Khetri, Uniara, Isarda, Diggi, Khandela, Acharol, Manoharpur and Jkalai.<sup>1</sup>

The historians in their writings on the Quit India Movement in the Princely States of Rajputana have drawn their narrative and conclusion on partial information. They have grounded their narrative on the basis of Mahatma Gandhi's speech in the All India Congress Committee Resolution (AICC) on 8 August, 1942, which had directed the Prajamandals to give ultimatum to their respective rulers to sever their relations with the British Government by left the decision to adopt this on the discretion of the Prajamandals.<sup>2</sup> However, they are ignorant about the Quit India Resolution of the All India

States' People's Conference (AISPC) passed on the same day] 8 August, 1942 under the Chairmanship of Pandit Jawaharlal Nehru, President, AISPC, in consultation with Mahatma Gandhi, Pattabhi Sitaramaiyya and several other Congress and the Prajamandal leaders from 40 Princely States in the Standing Meeting of AISPC. The AISPC resolution of 8 August, 1942 directed the Prajamandals (i) to join the Congress campaign for the independence of India, and (ii) also to impel the Princes to establish responsible government in place of autocracy in their respective States. This resolution stressed on necessity of collaboration between the people of British Provinces and Princely States for attaining freedom under United India.<sup>3</sup> The proposed resolution envisaged by the Standing Committee of the AISPC to issue ultimatum to the Princes to sever their relations with the British Government was dropped from the AISPC Resolution of 8 August, 1942 owing to the lobbying of G.D. Birla, and opposition of Dhebar Bhai and other leaders of the Saurashtra States. Of course, some Gandhite Prajamandal leaders including Mahikya Lal Verma, President, Mewar Rajya Prajamandal met after the adjournment of the AISPC Standing Committee meeting, and prepared a draft for issuing ultimatum to the Princes almost on the lines of the programme which was totally rejected in the meeting of the Standing Committee of AISPC.<sup>4</sup> It may be asserted that this addition of ultimatum to Princes in the AISPC resolution was conceived by a handful Prajamandals in Rajputana States, except by the Mewar Rajya Prajamandal followed by its sister organization in the Dungarpur State and a few other Prajamandals. Manikyalal Verma himself acclaimed that he adopted this ultimatum for issuing to the Princes in sheer excitement, as a blind followers of Mahatma Gandhi.<sup>5</sup>

The Jaipur Rajya Prajamandal managed the Quit India Movement with great vigour and success in the Jaipur State. In contrast to Mewar and Dungarpur States, Hiralal Shastri, President, Jaipur Rajya Prajamandal considered the issuing of ultimatum to the Maharaja of Jaipur for dissociating with the British government, impractical and inexpedient.<sup>6</sup> By the Gentleman's Agreement with the State Government on 16 September 1942, he secured the assurance for the formation of responsible government, and also gained freedom to organize anti-British and anti-war Movement in the State.<sup>7</sup> Thus, the Jaipur Rajya Prajamandal won the Jaipur State

to its side in launching the campaign for the termination of the British rule in the British Provinces and also in support of the Congress. It encouraged the satyagrahis of Jaipur to participate in the British Provinces in Delhi and Uttar Pradesh<sup>8</sup> according to the directions of Mahatma Gandhi. Moreover, it converted the State into a veritable enemy post for the British Government by securing free access to the revolutionaries and saboteurs in it from the British Provinces and the neighbouring Rajputana States.<sup>9</sup> In defiance of the instructions of the British Government, the Jaipur State did not arrest in its territory, Jai Prakash Narayan and the members of his revolutionary crew, Sadik Ali, Shrimati Asaf Ali, Ramanand Mishra, Prem Krishna Khana, and Mukundlal Sarkar. Cf. Shankar Sahai Saxena, *op.cit.*, pp. 147-48). In the midst of its success in pursuing cordial relations with the Prajamandal, the State could not brook the opposition of the Azadi ka Morcha Party, a small dissident group which had split away from the Jaipur Rajya Prajamandal.<sup>10</sup> As the custodian of the Gentleman's Agreement, it arrested Harish Chandra Shastri and other leaders of the Azadi ka Morcha Party for their delivering inflammatory speeches in the public meetings against the State and the British Government.<sup>11</sup>

The Quit India Movement in the Jaipur State was a bourgeois movement and was non-violent in nature. In complete contrast to other Rajputana States, the Jaipur Rajya Prajamandal proved a wonderful architect in its planning and organization of the Quit India Movement and in mobilizing the State for constitutional reforms. It transformed the State of Jaipur as a base camp of the nationalist forces against the British Government. This could be achieved owing to the wisdom of Hiralal Shastri and Mirza Ismail, the Prime Minister of Jaipur, and also the farsightedness of Maharaja Man Singh of Jaipur in funneling patronage to him in regulating the Quit India Movement in the State.<sup>12</sup> The satyagrahis of the Bharatpur State praised Sir Mirza Ismail, Dewan of Jaipur for winning confidence of the people during the tumultuous period of the Quit India Movement.<sup>13</sup> Mahatma Gandhi also appreciated Hiralal Shastri for the gains of the Jaipur Rajya Prajamandal at that time.<sup>14</sup>

### References:

1. Report on the Administration of Jaipur State for 1941-42, Superintendent Government Press, Jaipur, nd., pp. 1-2
2. Mahatma Gandhi's Speech in the meeting of All India Congress Committee,

- Bombay, 8 August 1942. The Annual Register, July-December 1942, Vol. II, pp. 248-52
3. S.No. 60 File no. LXXVII, Basta no. 20, Bikaner Mehkama Khas, Confidential Records (Home), RSAB
  4. Manikyalal Verma to Pandit Jawaharlal Nehru, President, AISPC, 9 September 1945, AISPC papers, Nehru Museum and Library, New Delhi (NMML)
  5. Shankar Sahai Saxena, *Jo Desh ke Liye Jiye – Lokayamanya Shri Manikyalal Verma Ki Rashogatha*, Muktavani Prakashan, Bikaner, nd., pp. 140-41
  6. Fortnightly Intelligence Report for Rajputana States for the first half of April 1944, F.no. 4 of 1944, RSAB
  7. Hiralal Shastri, *Pratyakshajeevanshastra (Atmakatha)*, Vol. 1, Anupam Prakashan Mandir, Jaipur 1970, pp. 70-73, 263-64
  8. Vinita Parihar, *Rajasthan me Uttardai Shashan ke Liye Sangarch*, Rajasthan Hindi Granth Akademy, Jaipur 2002, p. 43. Siddharaj Dhadha, M.A., a leader of the Jaipur Rajya Prajamandal was arrested in Banaras during the Quit India Movement
  9. Hiralal Shastri, *op.cit.*, p. 72-73
  10. The active members of the Azadi Ka Morcha Party were Chiranjilal Misra, Baba Harish Chandra Shastri, Master Ram Kishore Joshi, B.S. Deshpande, Om Dutt Shastri, Ladu Ram Joshi, Hans D. Roy, Vijay Chand Jain, Radhey Shyam, Shanti Bhai Johri, Bhonrilal Samodia, Daulat Mal Bhandari, Kapur Chand Patani, Gulab Chand Kasliwal, Badir Narayan, Mukati Lal Modi, etc. Cf. G.N. Sharma, *Rajasthan Ke Sawatantra Sangram Ka Itihas*, Rajasthan State Archives, Bikaner, 1987, p. 359
  11. F.no. 55/G, Basta no. 24, Jodhpur State Confidential Records, RSAB. See also, Foreign and Political Department Proceedings 1942, No. 110-P(S), and 9(5)-P(5), NAI. Letter from K.C. Patni, 23 January, 1943, Hiralal Shastri Papers, Nehru Museum and Library, New Delhi. Quoted from Robert W. Stren, *The Cat and the Lion*, Jaipur State and the British Raj, Allied Publishers, New Delhi, 1988, pp. 313, 315. See also, Hiralal Shastri, *op.cit.*, p. 72
  12. Hiralal Shastri, *op.cit.*, p. 73
  13. F.no. 124A, Basta no. 8, Bharatpur State, Confidential Records, RSA
  14. *Ibid.*, p. 74

## History Writing on Mass Movements and Freedom Struggle in Rajasthan (1818-1949)

Prof. (Dr.) Brij Kishore Sharma

The Indian Freedom Movement in British India has been studied and is still being studied and analyzed in its various dimensions but not many a historian has paid due attention to the Freedom Movement in the Princely States during British paramountcy. Even noted historians like R.C. Mazumdar and Tarachand seem to have given little importance to the mass movements of the peasants and their significant role in the Freedom Movement in the Princely States of Rajasthan. There were about 563 Princely States in India which occupied 45% of the area and contained 25% of the population of India at that time. The study of the history of mass movements and their role on the Indian Freedom struggle in princely India in thus a much needed project. In the case of Rajasthan about 130,462 sq. miles area was under the rule of Princely States while only 2,711 sq. miles area was under the British province of Ajmer-Merwara. Therefore, the study of mass movements and freedom struggle of Rajasthan has immense importance.

The British maintained the princely states to fulfil their own colonial purposes. R.P. Dutt comments that, "to call them 'states' as really a misnomer; for they are, rather, artificially maintained ghosts or preserved ruins of former states, whose puppet princes are maintained for political reasons by an entirely different ruling power. While plenty of petty despotism, tyranny and arbitrary lawlessness is freely allowed, all decisive political power is in British hands."<sup>1</sup> The post-mutiny policy of the British towards the princely states was clarified by Governor General Lord Canning on 30 April 1860 as follows: "It was long ago said by Sir John Malcolm that if we made all India into Zillahs (or British Districts) it was not in the nature of things that our Empire should last fifty years; but that if we could keep up a number of Native States without political power, but as royal instruments, we should exist in India as long as our naval supremacy was maintained. Of the substantial truth of this

opinion I have no doubt; and the recent events have made it more deserving of our attention than ever."<sup>2</sup>

The freedom struggle in Rajasthan developed on a different pattern in comparison to the movement in British India. In British India, the newly emerged middle-class took a leading part in the movement while, in the princely states of Rajasthan, the tribal and peasants took lead. The object of mass struggle in British India was very clearly poised against the British Raj. The struggle of the people of Rajasthan was not initially directed against the British but against their own rulers and jagirdars. Though the direction of the struggle of the people of the princely states of Rajasthan was not clear in the beginning, it gained a clear direction during the course of the tribal and peasant movements. In the context of Rajasthan the freedom has a wide meaning, as British Indian people aimed to get free from foreign rule while, the people of Rajasthan fought for freedom from foreign rule along with feudal exploitation and oppression. Thus, an attempt has been made in this study to develop a compact, consolidated, comprehensive and integrated history of freedom movement in Rajasthan.

The significance of this study is multidimensional. At the one hand it has traced a history of mass movements beginning since 1818 itself when the Rajasthan came under the British paramountcy, while on the other the role of mass movements in the freedom struggle has been analysed in historical perspective. The study will certainly be able to bridge the gap existed in the study of various dimensions of the freedom movement. In the absence of research on the mass movements and freedom struggle in princely states the comprehensive history of Indian freedom movement cannot be written. Therefore, an attempt has been made in this study to develop the history of mass movements and freedom struggle in Rajasthan. I hope this study will certainly add to the knowledge of freedom movement in India. As far as the regional significance is concerned this study will certainly bridge a gap existed in the area of knowledge of the history of freedom struggle in Rajasthan. The peasants and tribals were the major partner of the freedom struggle in Rajasthan, while urban people including trading class, the modern middle class and intelligentsia also played leading role at the conclusive stage of the freedom struggle. Thus, the significance of the proposed study is self proved. It was a big transformation of Rajasthan from

autocratic rule to democratic rule. This may be considered a revolution.

As far as the international status of the proposed research problem is concerned, no major study has been done. An American political Scientist Richard Sisson, from California worked on the political transformation of Rajasthan from autocracy to democracy. His work "The Congress Party in Rajasthan" (California, 1972) is a work of worth mention. He has also identified the newly emerged political elites of democratic political set up. But it lack the proper study of freedom movement in the princely states of Rajasthan.

A national level few studies has been conducted but all such studies do not present a complete view of the freedom struggle in the princely states of Rajasthan. In fact these studies are regional studies. The first work on the proposed research problem produced by K.S. Saxena, a researcher in Political Science, in the form of Ph.D. thesis. His book "The Political Movements and Awakening in Rajasthan (1857-1947)" (Delhi, 1972) suffers with some lapses. It has more stress on political movements and the social economic aspects has not been given due consideration. It could not present a consolidated view of the freedom struggle in Rajasthan. The study also lack the historical perspective in the right earnest. Being a Ph.D. thesis it has various limitations. "States' Peoples' Conference" (Jaipur, 1987) by V.D. Mathur throws superficial light on the freedom struggle in Rajasthan. This also a Ph.D. thesis and the researcher has not developed it beyond the need of getting a degree. S. Mathur's work "Struggle for Responsible Government in Marwar" (Jodhpur, 1982) is a well drafted and documented work, but being a Ph.D. thesis it too suffers from some limitations. The study has covered only the events of Marwar (Jodhpur) state and lack proper mention of the events of Rajasthan. B.K. Sharma's (Proposer of this project) work "Peasant Movements in Rajasthan (1920-1949)" (Jaipur, 1990) is a detailed work based on primary source material, but the study is confirmed only to the study of various aspects of peasant movements. The author work of B.K. Sharma "Tribal Revolts" (Jaipur, 1996) is well documented work on the tribal revolts/ movements in Rajasthan from 1818 to 1949. The contribution of the Tribal movements in the freedom struggle of Rajasthan has been analysed in this work. Thus, it covers only one limited aspects of the proposed study. V.K. Vashishta's work "Bhagat Movement"

(Jaipur, 1997) belongs to the study of social and cultural transformation of traditional Bhil (Tribe) society and subsequent participation of Bhils in the national and freedom movement. The study in question has its own limitations because it is centered on the study of Bhil uprising in the Dungarpur and Banswara States of Rajasthan under the leadership of Govind Giri. Looking to the national status of research in the field of mass movements and freedom struggle of Rajasthan there is an urgent need to study the whole subject in totality instead of segmental manner.

The significance of the study is multidimension. In the absence of researchy on the mass movements and freedom struggle in princely states a complete view of the history of freedom struggle in India may not emerge. Thus, the proposed research project envisage to facilitate the writing of a compact, consolidated, comprehensive and intergrated history of freedom struggle in India. As far as the regional significance is concerned this study will certainly bridge a gape existed in the area of knowledge of the history of freedom struggle in Rajasthan. The peasants and tribals were the major partner of the freedom struggle in Rajasthan. Therefore, the roll of trading class, modern middle class and intelligentsia also require a fair treatment. Thus, the significance of the proposed study is self proved. It was a big transformation of Rajasthan from autocratic rule of democratic rule. This may be branded as a revolution. Therefore, the study of such important process and events is significant itself.

## Gleaning of Ecological Information in Alwar Records from 1920's onwards : A Report

Nitin Goyal

Present study focuses on Alwar state lies in 150 km far north from Jaipur. According to Powelett in his Gazetteer, Alwar comes under the Mewat area whose boundry roughly spread from Dig in Bharatpur to Rewari and in south to Barah.<sup>1</sup> The princely state of Alwar was founded by Pratap Singh (1775-1791 A.D.), a Rajput of the Kachwaha lineage in 1770's. His son, Bakhtawar Singh (1791-1815 A.D.) aided the British against the Marathas. After the battle of laswari (1803) Alwar become the first state of Rajputana to sign a treaty with the British East India company.

Present paper will throw light on the official files which are lying in the Alwar repository of Rajasthan state Archives. These files belongs to various department of Alwar state created during the day to day office administration in British India. After going through labeling and segregation process these files are tied in pads and covered in Bastas. As per the historical significance these bastes are more than 425 in numbers. Unlike the state bahis of Bikaner which are from handmade paper, paper of these files are machine manufacture of British time. The language used in these file is English, Marwari and Urdu. The time period of these files started from 1923 onwards, during this time Alwar was under the headship of Raja Jai Singh (1892-1937 A.D.) educated in English environment at Mayo College Ajmer.<sup>2</sup>

As an Archivist, I made my first foray to read these files and due to personal interest I scroll out these files to know the ecological perspective, now a days which is also a popular theme in history discipline.

Alwar files store versatile information regarding the ecological point of view, like bee keeping and Honey production, establishing garden, maintenance of camel and horse, procuring of Mica and Magneez from mines, organizing cattle show, banning wood cutting, efforts of cattle breeding, availability of grasses for sale, opium

production, auction of forest, spread of epidemics, animal shooting and fodder economy are few among many.

These records provides various facets of information of relief measures adopted by state during the famine. There was acute fodder shortage during the famine of 1937 in Behror, Mandavar, Bansur and Kishangarh Nizamat of Alwar state. This led to dying of cattles. To stop the spread of famine state tried to arrange the bhusa for cattles from Mathura, Jhansi, Fazilka and Ferozpur district. Files throw light on the various aspect like state demanded 20,000 maunds Bajra and Jawar Karbi or Kutti of white colour as fodder. Supply of grass has its own compex lines as on one hade state want to import grass on the other hand it gives priority to keep grass for military purpose. Records tells the role of railways in Fodder transportation which have three types of category for freight charges one is for merchant other is for full famine rate and last for famine concession rates on meter and broad gaze trains in Alwar state. State through his administrative hands tried to made strict laws to distribution of bhusa among common farmer and wealthy zamindar. Moreover a special expenditure head was opened in state budget name "free relief to agriculturist". Apart from these state also controlled the grain price and encourage the immediate cultivation of fodder crops along with distribution of taccavi advances. State also unlocked the reserved grazing grounds for common cattle bearer. Orders for the construction of the Roads were from Tijara to Bhiwani for swift transportation of fodder. Even one nazim also suggested for cash transfers (now a day's very popular in news paper) to famine stricken people.<sup>3</sup> Through these records we came to know during the famine condition mahajans of state were sending stored grain outside the state when a enquiry was made then few mahajans reveled that due to fear of meaos who assault and steal their grains they want to export outside their grain.<sup>4</sup>

Files throw ample light on the fierce picture of the famine stricken state by giving data of crop failure, cattle dying and falling water levels. This famine time also corroborated with the second world war this led to price rise in daily use commodities.<sup>5</sup>

These records also offer information of state rules regarding the cutting of forest. In one incidence, state punished the Jagirdar for cutting the forest of Candikar and Hajipur for disobeying the forest regulation.<sup>6</sup>



Through these records we came to know the land which were given to British company on lease for railway become bone of contention by claiming the ownership of income from fruits, fuel wood timber, grass and fishing produced on leased land.<sup>7</sup> Some of files of this archival records also gives ample information regarding the reserved area by state for grass grazing (Todwali, Kankwari forest, Shapura valley). Here forest official were ordered not to allowed dairy cows to mix with common cow to stop the spread of diseases.

Alwar state made very specific laws for hunting the wild animals. Various information of shooting and its rulers came to us by these records for example when a tiger was spotted in the adjoin area of fort and Indore hill hunters were sent by hakim of akhet with 500 bore pistols whose bullets were supplied by sports department.<sup>8</sup> Bhagera or tenduya was popular term for penthar in state records. In one incidence Rambux Gurjar was killed by a Bhegera when he was grazing his cattle below the hills near the Nairanji.<sup>9</sup>

To save people, hunters were not only called for tiger but for monkey also. In one incidence a monkey has bitten the people and to cure shikari has to immediately arranged. There are also reference to sell the elephant by Alwar to other states.<sup>10</sup>

Not only for wild animals but for shooting, netting and sharing the capturing of wild birds laws were made in Alwar state. In a specific time period span from Gangora to Dusshera festivals animal shooting was allowed. Even the licence for shooting was issued by state of tow types one is only for temporary basis for 10 days and other is seasonal basis.<sup>11</sup> From these archival records we came to know specific area (from Barah to Kali Ghati) Sariska velley was reserved for shooting for royal house.

Intersetingly Alwar state also took active participation in All India conference of preservation of the wildlife animals. A proceeding for this conference is part of present record. Apart from this one more magazine for India wild life journal belongs to the period of 1935.

Though these archival sources we also came to know state was concerned for the cleanliness of water storage system. A amount

was issued by State for the clearance of the johars where silts was accumulated.<sup>12</sup>

This much I able to glean from Alwar records in sparse time. At the end I would like to conclude by stating that there is much more to uncover in the Alwar records and I sincerely hope that in near future these documents will dras attention of scholars.

### References:

1. Major P.W. Powellet, Gazetteer of Ulwar, p. 1, 1878, London
2. Pinaki Lal, Alwar Rajaya ka Itihas, p. 1939, Alwar
3. File no. 159-r-37, part-ii, Basta no. 2, p. 52-54
4. File no. 159-r-37, part-I, Basta no. 2, p. 394
5. File no. 159-r-37, part-ii, Basta no. 2, p. 101
6. File no. 184-r-37, part-ii, Basta no. 2, p. 6
7. File no. 195-r-37-38, part-I, Basta no. 2, p. 2
8. File no. 346-a-38, Basta no. 12, p. 11, In other reference Captain Md. Hayat Khan was appointed as military officer to kill man-eater.
9. File no. 346-a-38, Basta no. 12, p. 5
10. File no. 74a-36, Basta no. 16, p. 3
11. File no. 189-a-36, basta no. 16, p. 3
12. File no. 159-r-36, part-I, Basta no. 2, p. 253

## **British Relations with Rajput States- A Case Study of Jaipur (1920-1947)**

**Tariq Ahmad Sheikh**

Rajputana did not refer to a single political unit but it includes in its fold collection of small states which are stretched in the North West of India. The states were mostly dominated by the Rajput clans- the Rathors at Jodhpur, Bikaner and Kishangarh; the Kachwahas at Jaipur and Alwar; the Sisidias at Udaipur, Dungarpur, Banswara, Pratapgarh and Shahpura; the yadavas at Jaisalmer and Karauli, the Chauhans known as the Hadasat Bundi and Kota; Deoras at Sirohi comprising Abu; and Jhalas at Jalawar.

The Rajputana states changed as the time passed. The chaos of the 18th century and the rise of Marathas changed the political structure to the disadvantage of the Rajputs. The advent of the British was therefore, hailed by the princes of Rajasthan and they readily entered into treaties, engagements and sanads with the East India Company near about 1818 A.D or so. The British rule promised to the Princes safety both of their person against internal and external troubles as well as security of their territory, which brought them prosperity and stability and the same later on proved to be the contributory cause of their decay and downfall.<sup>1</sup>

The powers of the Maharaja of every state were enormous but in practice he seldom enjoyed them. The representative of the paramount power exercised not only a check on his activities but also on matters of every day routine of state administration. The Residents pervasive influence was so great that a whisper in the residency was considered a thunder for the state. The Maharaja had to take prior permission of the agent to the governor general through the Resident even for leaving his state for an outside destination. The Resident used to interfere in the matters of the appointment of the Diwans. He used to create the sense of loyalty among the higher officials of the state, one of the Maharaja and the other to himself.<sup>2</sup>

With the passage of time however the change was inevitable and the old order had to give away to the new one. In the princely states of Rajputana from 1920 onwards there was a constant clash and conflict between the orders—the old and the new. That conflict was significant for a student of political science as it was a struggle of the people, demanding democratic institutions, right of citizenship and freedom of speech, press and expression and on the other, constant flouting of the peoples opinion by the princes to keep intact the fast dying and effect monarchical forms of government.

The Rajputana Central India Sabha, under the leadership of Seth Jamna Lal Bajaj, played an important role from 1919 onwards in creating political consciousness and coordinating political activities of different states of Rajputana. This body gave directions to the political workers of Rajputana for raising the demand of administrative and constitutional reforms in their states.<sup>3</sup>

The British authorities had developed a conviction that the process at work in British India would not leave the states untouched and in time to come would affect even the most conservative and feudal ideas and institutions. However Indian states and particularly the Rajputana states could not check the influx of progressive ideas which had by then assumed fair dimensions throughout the country. The geographical, historical and economic independence could not have kept them isolated. The princes of Rajputana, like other rulers of Indian states, also realized that it would be impossible for them to ignore the impact of the political consciousness generated in British India.<sup>4</sup>

The rise of popular movements in Rajasthan started during 1920's. These movements had some common salient features firstly, they were located in the areas which were well connected with the British provinces. Secondly the leaders of these movements were the persons who had come into contact with the reform movements in British India. A few of them had been active in early movements of social changes in their states.

During 1920's many state movements demanded the ouster of the 'outsiders' both Indian and British. In these movements the leaders got support from local sardars and even of the Maharajas in some cases. E.g in the Jodhpur state the Marwar Hitkarni Sabha, with the approval of Jodhpur darbar, mobilized public support for

the dismissal of the Prime Minister, Sir Sukhdeo Prasad. He was extremely unpopular both in public and ruling house, similarly in Jaipur nobles, officials and merchants expressed their resentment against the then prime minister Cleveland and forced him to resign, such protests against "outsiders" also occurred in Udaipur, Tonk and other states.<sup>5</sup>

In the late twenties and early thirties of the century the scope of the movements expanded in many sectors. Now they launched programmes even for public facilities, such as primary education, health, medical facilities and better water supply. Further, and more importantly, new political elites started to pursue more universalistic political goals. These goals included greater popular participation in the making of public policy at all levels of government, protection of civil liberties and the institution of responsible government under the aegis of the Maharajas.<sup>6</sup> These changes can be seen in some events which occur during the period.

In the next phase these movements started to become institutionalized into permanent organizations. This was the period between thirties and forties of the last century. By the end of 1930's, Praja Mandals had been established in all the major states of Rajputana. Till then the movements were intermittent and short lived, but the emergence of these organizations provided them permanent platforms.<sup>7</sup>

The main objectives of the Praja Mandals was the establishment of representative form of government and protection of the right to form political organization and indulge in public debate. In many states the Praja Mandals were established with the blessings of the state authorities. Not only this, but the advisory boards were also established by the states and members of Praja Mandals were associated with them. This new atmosphere of limited tolerance of public activities was encouraged by a few rulers of the states of Rajputana. Maharaja Ganga Singh of Bikaner was one of such rulers.<sup>8</sup>

Praja Mandals initially agreed to work under restrictive conditions and cooperated with the state government. E.g, Jai Narain Vyas accepted an invitation from Prime Minister Sir Doland Field to associate himself with the govt. in various advisory capacities and encourage a more cooperative attitude towards state authorities.

He was appointed to newly created central advisory board and to many other committees. Lok Parishad workers took active part in famine relief work. Similarly relationship between state govt. and Jaipur Praja Mandal was extremely cordial.<sup>9</sup> The Praja Mandal restricted its activities to conform with the laws prevailing in the state and abided by the explicit directives of the law maintaining authorities. For example, in 1937, when the state authorities requested the Praja Mandal not to enlist member in villages, it was agreed to. A resolution was passed by the Mandal in which this condition was accepted provided that the Mandal is left free to work in villages for social and economic uplift of the people and also study their needs and whenever necessary to bring the same to the notice of the authorities. Not only this, the Mandal accepted restrictions imposed upon it in 1938, viz, (1) no discussion of the sikar agitation, 2) no advocacy of 'nonpayment of rent campaigns' and 3) no criticism of the ruler or any member of administration. From this we can gather that for some time the relations between Praja Mandals and the state govts. were remarkably cordial. But this period proved to be too short.

In the next phase of popular movements, the attitude of the leaders towards state changed. In Jodhpur the Lok Parishad demanded representative govt. whereas the Jaipur Praja Mandal restricted its demand for civil liberties. In Jodhpur Lok Parishad had to face the wrath of the state authorities. The Lok Parishad was declared illegal and holding of public meeting was banned. However in Jaipur the Praja Mandal was able to get some concessions. The political prisoners including Jamna Lal Bajaj were released, ban on all newspapers were lifted and amendment in public safety act was made. The last one was very important as it established the right of citizens for political activities.<sup>11</sup>

In the year 1921-22 Motilal Tejawat organized the Bhil Movement in the Bhil inhabited districts of Mewar, Dungarpur and Sirohi. It was directed mainly against the oppressive taxation system prevalent in these states. The repressive policy was adopted by the states concerned at the instance of the British government. Motilal Tejawat had to undergo great hardship and torture. The movement played a significant role in the political awakening in Rajasthan.<sup>12</sup>

The Kisan movements, big or small, took place in various erstwhile states of Rajasthan. In May 1925, the cultivators of the

neemuchana village in Alwar state refused to pay the enhanced rate of taxes. The Maharaja of Alwar resorted to repressive measures. The houses of the peasants were set to fire. The state troops opened fire on the mob collected in the village. Near about 50 persons were killed and more than 100 wounded and property amounting to thousands was turned to ashes. Again in 1932, the Meos of Alwar state started agitation against excessive taxation levied on them. The Maharaja had to seek military help from the British govt. to suppress this movement. The Shekhawati Kisan movement in the state of Jaipur, Dudhawa Khara Kisan Movement in Bikaner State, the Debra Kand in Marwar and the peasants movement organized by the Kisan Sabha in Bharatpur state are worthy of mention. These movements played a significant part in making the people, living in the rural areas of Rajputana, conscious of their political rights.<sup>13</sup>

The civil disobedience movement launched by Mahatma Gandhi had its repercussions on the political life in the states of Rajputana. Local organizations like the Rajasthan Sewa Sangh at Ajmer and its branches in the princely states and the Rajasthan-Madhyabharat Sabha were established. News papers like Rajasthan Kesri and the Tarun Rajasthan were started. Persons like Jamna Lal Bajaj and Hari Bhau Upadhyaya came into forefront to serve the cause of the people's movement in Rajasthan and infuse political consciousness in the region.

Indian National Congress framed several policies during different periods of time. The change in the policy of the congress encouraged the people of the states of Rajasthan to agitate and organize movements with fresh vigour for civil liberties and responsible government, resulting in the rapid growth of political consciousness among the masses at large. In almost all the states of Rajasthan the Praja Mandals were established and through them the popular movements demanding responsible government and civil liberties, were organized. The Marwar Lok Parishad (May 1938) headed by Jai Narayan Vyas, the Praja Mandal of Jaipur lead by Jamna Lal Bajaj and Hiralal Shashtri, Udaipur Praja Mandal under the leadership of Manikyalal Verma and the Praja Mandal at Bikaner headed by Raghbir Singh activated the public movements for responsible government. The political workers of Alwar, Kota Bundi, Jhalawar, Sirohi, Bharatpur and Dungarpur carried the message of

the A.I.S.P.C and played a commendable role in spreading political consciousness among the people of the urban and rural regions of their respective states.<sup>14</sup>

The Second World War resulted in the transfer of power and the partition of the country. The Indian states were given the option either to join India or Pakistan or to exist as an independent entity. The Rajputana states were placed in a dilemma for the time being. The governor general of Pakistan offered a blank cheque with his signature and blank piece of paper to the ruler of Jodhpur to write down any condition in case he or his brotherly princes acceded to Pakistan. But the national forces under the leadership of Sardar Patael were so compelling that one after another the Rajputana states acceded to Indian union. Now started the phase of responsible government. A year prior to Independence the Praja Mandalas were merged into the Rajputana Prantiya Sabha which functioned as a provincial unit within the All India State People Congress. Its dominant objective was a continuation of a common goal of the various Praja mandal movements, the realization of responsible government in various states even during the period of negotiation and integration and the acceptance of the Prantiya Sabha and its constituents as the legitimate forum of popular political aspiration in several states limited popular representation had been granted by 1947. However, popular ministries did not become universal until the integration of the states.<sup>15</sup>

The integration of Rajputana states was completed on May 15, 1949, nearly two years after independence. The Rajputana states were integrated in five stages. The first stage was the creation of "Matsya Union" which was formed by the merger of Alwar, Bhartapur, Dholur and Karoli on 17th March 1948. The second step in the integration of the Rajputana states was the formation of the united states of Rajasthan with Kota, Bundi, Jhalawar, Banswara, Dungarpur, Pratapgarh, ushalgarh, Kishangarh, Siroohi, sahapura and Tonk as its constituent units. The new state was inaugurated on March 25, 1948. Less than one month later, in April 1948, the third step in the process of integration was achieved with the inclusion of Udaipur in the state, with Udaipur as its capital. The Rajputana union was eventually formed by merging the states of Jaipur, Jodhpur, Bikaner and Jaisalmer with the united states of Rajputana on March 30, 1949. The fifth in the process of integration was taken when

Matsya Union was merged with the greater Rajasthan Union to form the state of Rajasthan. In 1956, in congruence with recommendation made by the state, reorganization commission, Ajmer, Merwara as well as Mount Abu were merged with Rajasthan.<sup>16</sup>

### British Relations with Jaipur

The Jaipur house, unlike the other houses had traditionally a flexible outlook and a wonderful capacity for seeing the signs of times. During the revolt of 1857, Maharaja Ram Singh (1835-80) gave assistance to the Britishers. The British government acknowledged the loyalty of Jaipur darbar and granted him the pargana of Kot Kasim and he was praised in the Agra darbar, held in 1859. Later he was nominated for the Indian legislative council formed in 1861. His successor Madho Singh (1880-1922) was not an educated man and was extremely orthodox hindu and highly sexed person. His traditional sense of loyalty to the paramount power made him went to the England in 1902, to attend the coronation of the King Emperor Edward VII.<sup>17</sup>

The British liked him very well, possible because he gave no trouble and contributed with great generosity to their campaigns on the North West frontier and gave one and a half million rupees out of his own money to help in the First World War, also raised an equal some from his nobles and officials.<sup>18</sup>

Jaipur state, the fourth largest in Rajputana had an area of 15601sq. miles and a population of 26, 31000 in 1936. After the death of Maharaja Madho Singh in September 1922, his adopted son Man Singh, who was 11years of age became the ruler of Jaipur. Maharaja Ganga Singh of Bikaner was against his adoption and he tried his best to withhold the accession of Man Singh. Bikaner had even threatened to go the England to see the Secretary of State. The British liked the rulers who were minors. It allowed them, with no expense, to run a state according to their ideas. It also made it possible for them to mould the character of the future ruler.

Madho Singh died in September 1922 and Man Singh not yet 12 became ruler of Jaipur. Throughout his minority, his state has been administered almost entirely by the British officials. On the 14th March 1931 Sawai Man Singh was invested with full ruling powers by Lord Irwin, the Vice Roy of India. However, splendid

the ceremony, the so called full powers of a Maharaja had a rather hollow person.<sup>19</sup>

In 1928, e.g, political activists in Jaipur accused the state authorities of neglecting the welfare needs of the state. In an open letter to the state council from 'oppressed subjects' it was demanded that a legislative assembly with 3-4th elected members be established. Among other things the letter demanded the creation of elected revenue boards, municipalities for district towns, separation of judicial, executive and revenue functions, removal of ban on printing press and public meetings and the creation of a public commission to enquire into economic depression and unemployment.<sup>20</sup>

Man Singh underwent the military training at Woolwich, the premier military institute in the British Empire. The Jaipur state forces were completely reorganized under his personal direction. In 1937, the king selected him for appointment to his Life Guards. Following the pattern set by his ancestors, Swai Man Singh was obedient and loyal to the central power in Delhi.<sup>21</sup> On the outbreak of World War II, Man Singh was one of the first to offer his personel service and the service of his forces to the King Emperor. He was convinced that Britain was fighting Nazi Germany not for selfish motives but for the sake of world order and to preserve the very basis of civilization. At the outbreak of, man Singh had given 300,000 rupees to the Viceroy's war purposes fund. At the end of the war, the total war investments amounted to ten million rupees.

In 1931, Kastur Chand Patni established a Praja Mandal in Jaipur which later developed into a powerful organization under the leadership of Hira Lal Shashtri, who became the first chief minister of the integrated state of Rajasthan in 1949. The body was recognized in 1937 by Seth Jamna Lal Bajaj whose home was Shekhawati, but who had established his business at wardha. He was a friend of Gandhi who once characterized him as Kamdhenu, the mythological cow which yields everything one wants. Jamana Lal was known for his generous munificence.

In Jaipur, the Jaipur Rajya Praja Mandal applied for registration in 1939 but it was turned down. The agent to the governor general had circulated instructions that no organization should be allowed to function unless registered and political bodies should not

be registered.<sup>22</sup>

In the following years the demand for the establishment of representative institutions was made in Jaipur. With the appointment of Mirza Ismail as Prime Minister in Jaipur, the constitutional machinery was set in motion towards this end. Shri R.S Hiriannaiya was appointed the chairman of the constitutional reforms commission in 1943. In his inaugural address he promised for major constitutional changes. He said that whether the reforms would work or not, they would satisfy the demands and expectations of the public. All the major sections of the society were encouraged to submit their proposals for a new constitution. In 1944, on the basis of Hiriannaiya's report a new constitution was promulgated by the Maharaja which continued till the integration of the Jaipur state in the union of Rajasthan.<sup>23</sup>

### References

1. Before the formation of Rajasthan, ignorance, illiteracy, orthodoxy and poverty were writ large. There was despotic political order in all the princely states of Rajasthan perpetuated by Jagirdari system. In every state the maharaja was regarded as the fountain head of all authority and the chief executive of the state. He wielded absolute power and authority. His command was considered to be the law. He was assisted generally in the administration by an official called Diwan who performed most of the functions of the state on behalf of the Maharaja. He was also assisted by a council. Separate departments were placed in charge of its members for orderly administration. The most important departments were, judicial, revenue, military, foreign and political.
2. The Indian states were the most servile tools of English despotism, the strong holds of the abominable English system and the greatest obstacles to Indian progress. The British Resident or political officer in charge of the state was in reality the real ruler and the master of the princes.
3. Singhvi, Rekha, Political Growth of Rajasthan Before and After Independence, ed. Goyal, Shankar Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), pp. 306-307
4. The Ruler and his administration in most cases being identical, any agitation for reforms or demand for any improvement in the method of governance was interpreted as treason against the ruling prince. .... carrying of any kind of agitation or struggle for liberalization of their administration in the state was therefore infinitely more hazardous and difficult than in British India; see also Singhvi, Rekha, Political Growth of Rajasthan Before and After Independence, ed. Goyal, Shankar, Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), pp. 306-307
5. Sisson Richard, The Congress Party in Rajasthan: Political Integration and Institution Building in an Indian State, (California, 1972), p. 43
6. Mathur Sobag, Struggle for Responsible Government in Marwar, 1982, pp. 43-

44

7. Sisson Richard, op. cit., p. 56; see also Gehlot, Sukhvir Singh, Freedom Struggle in Rajasthan (Some Aspects), Research publishers (Jodhpur, 1986), p. 14
8. Mehta Y. S, A Study of Some Aspects of Administration and Reforms (Jaipur, Jodhpur and Bikaner) 1901-1940, (Jaipur, 1981), pp. 60-64
9. Singh, Laxman, Political and Constitutional Developments in the Princely State of Rajasthan (1920-1949), Jain Brothers, (New Delhi, 1970), pp. 86-87
10. Arya P. R, The Rise of Popular Movements in Rajasthan, ed. Goyal, Shankar, Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), p. 315
11. Kapil, F. K., Rajputana States (1817-1950), Book Treasure, (Jodhpur, 1999), pp. 21-22
12. Gehlot, Sukhvir Singh, Freedom Struggle in Rajasthan (Some Aspects), op. cit., pp. 15-17
13. Vyas, R. P., Growth of Political Conscious in the State of Rajasthan, ed. Goyal, Shankar, Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, , Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), p. 283
14. Ibid., p. 284
15. Singhvi, Rekha, Political Growth of Rajasthan Before and After Independence, ed. Goyal, Shankar, Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), pp. 309-310
16. Ibid., p. 310
17. Kapil, F. K., Rajputana States (1817-1950), op. cit., p. 21
18. Ibid.; see also Gahlot, Sukhvir Singh, Freedom Struggle in Rajasthan (Some Aspects), op. cit., pp. 16-18
19. Mehta Y. S, A Study of Some Aspects of Administration and Reforms (Jaipur, Jodhpur and Bikaner) 1901-1940, (Jaipur, 1981), pp. 57-58
20. Arya P. R, The Rise of Popular Movements in Rajasthan, op. cit., p. 314
21. Kapil, F. K., Rajputana States (1817-1950), Book Treasure, (Jodhpur, 1999), p. 86-87
22. Singh Laxman, Political and Constitutional Developments in the Princely State of Rajasthan (1920-1949), Jain Brothers, (New Delhi, 1970)
23. Arya P. R, The Rise of Popular Movements in Rajasthan, Rajasthan : From Pre-History to the Independence Era, ed. Goyal, Shankar, Book enclave Jaipur Bhawan, (Jaipur, 2004), p. 315

## Bhil-Grassia Struggle against the Feudo-Colonial Polices (Sirohi Massacre, 1922)

Dr. Rajesh Kumar

Before taking into account the Bhil and Grassia tragedy at Sirohi, it is important to note that between 1920 and 1930, there were unrest among the peasants and tribes throughout the Colonial India and also in most of the Princely States. If we talk about the Rajputana Agency, we find that there was discomfort among the peasantry and tribes against excessive rates of land-revenue, *begar*, *lag-bags*, etc. The peasants and tribes arose against the oppressive policy of their rulers, princes and *Jagirdars*.

The Bhil and Grassia tribes' agitation in Sirohi against *Bhog* (high land revenue), *begar* (forced labour), and several other *lag-bags* (different cess) was inspired by the Bhil and Grassia agitation of Mewar and the Bijoliya Kisan movement. The firing on the Bhils and Grassias by the troops, looting and arson at their villages on 12 April and 5 and 6 May 1922 is a terrifying example of how ruthlessly and inhumanly an Indian State under British protection could deal with its agriculturists' agitation for a genuine cause.

The objective of this small write-up is to bring to the kind attention of the reading public what had happened in Sirohi, and why and thus to bring a heroic Bhil-Grassia (peasant tribes) Struggle against the Feudal-Colonial allies, from obscurity to some light. To take an account of a non-official view on the tragedy. Also, to remember the unsung Bhils and Grassias who lost their lives at Siawa, Valoria, Bhula and Nawawas in Sirohi massacre on 12 April and 5 and 6 May 1922.

The clue to the Sirohi incident lies in the oppressive policies of the Sirohi ruler and his *Jagirdars* such as *Bhog* (land revenue), *begar* and several *lag-bags*, and its abetment by the British authorities. The excessive *Bhog* (land revenue) asked by the State seemed to have been connected with the First World War situation. To assist Britain in the war, the rulers and princes of India competed

with each other to raise the "War-fund" to help their colonial masters to meet the increasing cost of expanding army – providing it with food grains and other necessary facilities. Consequently, the rulers of the States, who had habitually been given to extravagance and luxurious life-style, could not bear this heavy additional strain on their treasuries. The unusual and exorbitant enhancement caused so much distress to the peasants at the time of post war recession and shortages of daily essentials that they were forced to oppose the State's highly oppressive demands.

When the Bhils and Grassias of Sirohi were disgruntled against the *Jagirdars* and the Sirohi ruler, Motilala Tejawat<sup>1</sup> came to the State in January 1922.<sup>2</sup>

He stayed there between 12 and 20 January 1922 and held a number meetings with the Bhils and Grassias of Sirohi and strongly urged them not to pay their dues and land revenue to the State, so long as the burden of heavy taxes and *begar* was not removed. On his request the Bhils and Grassias maintained their *Eiki*<sup>3</sup> by taking an oath in the name of *Bhawani*. It was unanimously decided by them that they will not give *begar*, high land revenue and other taxes any more. They decided to give only Rs. 1-4-0, and five *Pailis* of maige, per plough to the State. They also resolved that, if the State declines to accept their demands, they will continue their struggle. Motilal Tejawat appointed in every village his own officers and *Faujgars* and *Lakdia* (messenger) to assemble persons whenever required.<sup>4</sup>

On 24 January 1922, the Bhils and Grassias removed whole crop of *Til* without paying the State share. They stopped patrolling of the Abu Road and *Ambaji*, which they used to do for the safety of the pilgrims. The Grassias attacked on the *Thana* of Mungthala, looted the State granary and the house of Revenue Collector. On 26 January 1922, they removed the *Dani* (customs clerk) at Siawa and harassed people who brought fuel for the State troops and stopped people from doing *begar*, and continued holding their meetings in outlying villages.<sup>5</sup>

On 28 January 1922, Ramakant Malviya,<sup>6</sup> the Chief Minister of the State, prohibited the holding of any public meeting within the State.<sup>7</sup> The Bhils and Grassias ignored the orders and in February 1922, took a vow to unite with the Bhils and Grassias of other States

in their cause. They decided not to pay the *hasil* or perform *begar* to the State.<sup>8</sup>

Again, in the beginning of February 1922, Motilal arrived in Sirohi. All kinds of stories about him were circulated among the Bhils and Grassias. He was called 'Mewar-Ka-Gandhi'. Motilal with a band of 4,000 Bhils met to the heads of various Bhil clans of Sirohi State. They started telling the Bhils and Grassias not to pay land revenue to the State authorities and *Jagirdars*, and under instructions from their leaders decided that no cultivator would pay more than Rs. 1-4-0 and 5 *manas* of grain for every plough.<sup>9</sup> On 3 February 1922, a meeting was called at Sangana, a village close to Abu Road and in spite of a ban, eight to ten thousand Bhils and Grassias attended the meeting.

The situation was fast deteriorating in the State, therefore, Ramakant Malviya, asked Bijai Singh Pathik, the President of Rajasthan Seva Sangh, Ajmer, to render his help in normalising the situation.<sup>10</sup> On 12 February 1922 in a meeting of 15,000 peasants at Gopeshwar, Bijai Singh Pathik and Ramakant Malviya gave assurance to the peasants to have their grievance redressed.<sup>11</sup> But the problem remained unsolved and the efforts of both Pathik and Malviya, to pacify the peasants, proved futile. The Bhils and Grassias continued to disobey and defy the orders of the State. On 23 March 1922 the *Tehsildar* of Rohera sent a report that the Bhils had taken away the gram from their fields without paying *hasil* to the State.<sup>12</sup> Next day the Magistrate, Abu Road, sent information that the Grassias of Chandela, Girwar and the adjoining villages carried away mustard and gram without paying *hasil*.<sup>13</sup> The Sirohi administration could not tolerate this and Ramakant Malviya decided to send State troops to Siawa – a leading village of Grassias – to demand the State dues.<sup>14</sup> On 5 April 1922 Ramakant Malviya met the Agent to the Governor General (A.G.G) and requested him to depute a European Officer with the State troops. Accordingly, Major H.R.N. Pritchard – Secretary to the A.G.G. was deputed for the purpose.<sup>15</sup> On the morning of 12 April 1922, village Siawa was attacked by Sirohi troops supported by the Mewar Bhil corps. As per the government records three Grassias were killed and a cow and a bull were accidentally killed. The non-official report of Rajasthan Sewa Sangh mentioned that there were three persons named: (i) Dallo s/o Bhioo (ii) Dito s/o Dhulo (iii) Bhuto s/o Harlo were killed and 40-

44 huts were burn down by the troops where everything including *annaj kothiyan* (granaries) were turned into ashes, and the troops returned to Abu Road by noon.<sup>16</sup>

The action in Siawa resulted in more disturbances, in the *Parganas* of Pindwara, Bhakar, and Rohera. As per the government view by the end of April 1922, it became apparent that the villages of Valoria, Bhula and Nawawas, in the Rohera Tehsil were also in open rebellion against the State. They refused to pay the State dues of Rabi and Kharif crops, turned out the *Thanedars* and burnt the *Thanas*.<sup>17</sup> The Chief Minister of Sirohi asked the *Tehsildar* of Rohera to persuade the Bhils and Grassias for a settlement. But the efforts of the *Tehsildar* proved futile. The Bhils and Grassias had already decided unanimously not to pay more than Rs.1-4-0 and 5 *manas* of maize per plough as land revenue.

But a non-official account states that the Bhils and Grassias wrote a letter to the Chief Minister, Sirohi, and made two requests to the State that at present they are in a position to give 1-4-0 and 5 *manas* of maize per plough. Secondly, they mentioned that the Pindwara Police threatens the Bhils and Grassias that their villages will be set on fire. Therefore, they (those policemen) may be stopped to not threaten the villagers.<sup>18</sup> The State rejected those requests and wrote that "First you have to pay the entire *hasil* and other taxes only then the Maharao will listen to you".<sup>19</sup> Simultaneously, the State issued summons to the headmen of Valoria to appear at Rohera on 3 May 1922, which the villagers did not care.

On 5 May 1922 the Mewar Bhil Corps accompanied by Sirohi State troops attacked on Valoria. A major portion of the village was burnt. Eleven of the Bhils and Grassias were killed.<sup>20</sup>

Simultaneously, the headmen and villagers of Bhula and Nawawas were warned that if they did not give up their *Eiki* and pay up revenue as usual, their villages would also be burnt. They replied, "We shall not break our *Eiki* nor shall we pay more than Rs.1-4-0 and 5 *manas* of maize per plough at present. Later on, if our community decided to have any change made in the rates, we shall pay accordingly."<sup>21</sup> On receiving such a reply, military operations were launched on 6 May 1922, against the villages of Bhula and Nawawas. Most of the huts of these villages were burnt.<sup>22</sup>

The Rajasthan Sewa Sangh, Ajmer, took a serious view of



these firings and deputed Ramnarain Chaudhary and Satya Bhakta to inquire into the incident and report. They enquired into the Sirohi tragedy and published their report under the heading *The Second Bhil Tragedy in the Sirohi State*. The report contained the information that 640 huts of the Bhils of Bhula and Valoria were burnt to ashes, twenty nine Bhils were killed and many more wounded and their property amounting to Rs. 80,000/- was burnt or looted.<sup>23</sup> Ramnarain Chaudhary wrote that the only default of Bhils and Grassias was that they averred that they would not pay the Government revenue until all the unlawful *begars* and other taxes were abolished.<sup>24</sup>

The Rajasthan Sewa Sangh, while preparing its report recorded and examined 115 persons' statements. Some important statements of the Bhils on the Sirohi massacre, loot and cruelties by the feudal-colonial forces are as follows: <sup>25</sup>

#### **Panches' statements:**

"...The Englishman with the flag was making signs with it and the soldiers were discharging their guns in that direction. The machine guns and rifles played incessantly till two in the afternoon. The army seemed scattered all around and the shots pouring down like rains...."

"...The army set to looting and burning the village from about 8.00 a.m. The cavalries went on throwing in clothes soaked in one of the houses and fell one after another to fresh ones as each glazed with fire.... The booty comprised of arms, grain, utensils, clothes etc. What could not be carried was either demolished or burnt down. They did not spare even deserted houses and the pots over the wells. The grain of the summer harvest that we had concealed in the hills was also hunted up and carried away over camel back and carts. The force retired at about 2[o'clock] in the afternoon...."

"...The Diwan Sahib came with the Europeans, the *Tehsildar* of Rohera and about 100 to 150 soldiers into the village at about 7 in the morning on 8th. He sent us a word through the Panches of the Bassa Village that if we did not return to the village we would be shot down up the hill. Thereupon we came to him at the village. A European said, "We have killed 50 of you and wounded 150 and if you are not straight still, we would kill more". We, however remained silent. After this the Diwan Sahib enquired from us our grievances.

We said, the servant of the State almost robs us, troubles us and extracts too much of grain etc., in the shape of revenue. Again the Diwan Sahib asked us to break our Eka [*Eki*]. We replied that our Eka [*Eki*] was a religious and social binding which we cannot break up...."

"...As regards revenue, we said we would not pay more than Rs. 1-4 and twelve-and-half seers of corn for plough and that too after two years because the State has got our houses burnt and men killed. The Diwan replied saying those who had suffered from burning of houses would be exempted from payment of revenue but that others would have to pay. We remained silent then the Diwan went away promising to represent our grievances to the Bara Sahib [A.G.G. for Rajputana] at Abu".

The report concluded that "Taking into consideration everything each family has suffered an average material loss of Rs. 250 to 300 which is more than fifteen times the amount of revenue due to the State. The loss in corn alone exceeds the dues by five times. The looting of corn and other materials so much in excess of the dues may be a fit substitute for attachment as the method of collecting outstanding dues from reluctant husbandmen in the eyes of the officers of Sirohi State and the Rajputana Agency, but what justification was there for burning and destroying, thus driving thousands of human beings into long sufferings of hunger, nakedness and want of shelter and means to live?"

There were reports from various news papers viz: *Lokmat*, *Pratap*, *Tarun Rajasthan*, *Naveen Rajasthan Bijli*, etc about the atrocities and cruelties of the Sirohi ruler and his colonial allies.

*Lokmat* commented "Kindly find out that Ramakant Malviya, Chief Minister of Sirohi – who was one among those who were responsible for the Sirohi massacre – is he a son of Pandit Madan Mohan Malviya (a nationalist leader)".<sup>27</sup>

Barinder Kumar Ghosh, editor, *Bijli* (weekly), commented that the military operation at Bhula and Valoria was so cruel that even a 60 years' old woman, (Gomi) was shot and wounded when she was going to the hills to take refuge, knowing that she was of no threaten to them. Another older and feebler woman (named Bhadoo) was outraged most shamelessly by the troops. Their inability to do harm, if not their sex, could have been their protection from

molestation at the hands of even savages, not to speak of disciplined force.<sup>28</sup>

During the freedom struggle of India – after three years of the Jallianwala Bagh massacre by the British, and immediate after the suspension of Non-Cooperation movement in February-March 1922 by Mahatma Gandhi, Bhula and Valoria massacre is another example of the ruthless repression of a mass movement by the Feudal- Colonial forces. Aptly characterised as another Jallianwala Bagh in Sirohi, the Bhula-Valoria massacre continued to remind posterity of the martyrdom of the Bhil – Grassia resisters against a cruel tyrannical State, within a feudal set up and under colonial protection.

### References and Notes

1. Motilal Tejawat organised *Eki* movement to unite the tribals of Mewar and Sirohi in 1922.
2. Sirohi Sadar Office Record, File No. 372, Part II of 1922, Rajasthan State Archives, Bikaner [hereafter RSAB].
3. It was an oath taken to keep the Bhils and Grassias united in their cause. The tribals took an oath in the name of *Bhawani* that they would consider all the Bhils and Grassias as one united brotherly community against which they would never act.
4. Sirohi Sadar Office Records, File No. 372, Part II of 1922, RSAB.
5. Home Political, File No. 18 of 1922 (Fortnightly reports for the second half of January 1922), National Archives of India [hereafter NAI]; Sirohi Sadar Office Records File. No. 367 of 1921-22, RSAB.
6. Ramakant Malviya was the eldest son of the nationalist leader Madan Mohan Malviya and Chief Minister of Sirohi State.
7. *Istihar* No 250, 28 January 1922, Sirohi Sadar Office Records, File No. 367 of 1921-22, RSAB.
8. Sirohi Sadar Office Records, File No. 367 of 1921-22, RSAB.
9. Jodhpur Confidential Records, File No. 106-A Part I of 1922 RSAB.
10. *Naveen Rajasthan*, 5 February 1922, RSAB.
11. *Ibid*, 26 February 1922, RSAB.
12. Sirohi Sadar Office Records, File No. 367 of 1921-22, Telegram from *Tehsildar* Rohera to the Chief Minister, Sirohi, 23 March 1922, RSAB.
13. *Ibid*, Letter from the Magistrate, Abu Road to the Chief Minister, Sirohi, 24 March 1922, RSAB.
14. Foreign and Political Department, File No. 428-P (Secret) of 1923, Letter from the C.M., Sirohi to A.G.G. in Rajputana, 5 April 1922, NAI, New Delhi.
15. Sirohi Sadar Office Records, File No. 372, Part I of 1922, RSAB.
16. *Naveen Rajasthan*, 30 April 1922, RSAB.
17. Sirohi Sadar Office Records, File No. 372, Part I of 1922, Letter from *Tehsildar* Rohera to the C.M., Sirohi, dated 13 April 1922, RSAB.
18. *Naveen Rajasthan*, 7 May 1922, RSAB.

19. *Ibid*, 7 May 1922, RSAB.
20. Foreign and Political Department, File No. 428-P (Secret) of 1923, Press Communiqué, Shimla, dated 7 May 1922, NAI, New Delhi.
21. Sirohi Sadar Office Record, Bhakar, S. No. 47, File No. 372, Part II of 1922, RSAB.
22. Foreign and Political Department, File No. 428-P (Secret) of 1923, Press Communiqué, dated 7 May 1922, NAI, New Delhi.
23. *Naveen Rajasthan*, 7 June 1922, RSAB.
24. *Ibid*, Satya Bhakat and Ramnarian Chaudhary, *The Second Bhil Tragedy*, Rajasthan Swa Sangh, Ajmer, cf, C.S.K. Singh, *The Sound of Drums: Tribal Movement in Rajasthan 1881-1947*, Manak Publications (P) Ltd., New Delhi, 1995, pp.173-192.
25. *Ibid*, pp. 174-175.
26. *Ibid*, pp. 181-182.
27. *Lokmat*, cf *Naveen Rajasthan*, 30 July 1922, RSAB.
28. *Bijli*, cf. *Naveen Rajasthan*, 30 July 1922, RSAB.

## Role of R. N. Chaudhary in the Freedom Struggle as Journalist

Dr. Suresh Agrawal

In the year 1920, with the formation of 'Rajasthan Seva Sangh' a decision was taken to publish a weekly, named 'Rajasthan Kesari'. The aim of the paper was to protest against feudalism of Princely states of Rajputana and the British Government. Editor of the 'Rajasthan Kesari' was Vijay Singh Pathik and its Co-editor and publisher was R.N. Chaudhary.<sup>1</sup> Two pages of 'Rajasthan Kesari' were reserved for the analysis of Non-Co-operation Movement and the problem of peasants and Labourers. The editing of these pages was done by Ram Narayan Chaudhary.<sup>2</sup>

'Rajasthan Kesari' fearlessly criticised the suppressive policy of the British Raj and native States. Such defiant policy of the News-Paper was not tolerated by the British Government and the native rulers. Soon a case of defamation was filed against R.N. Chaudhary because the Government thought that the responsibility of running a Newspaper was of a publisher, not the editor, so being a publisher R.N. Chaudhary was given three months imprisonment.<sup>3</sup>

In 1920, the headquarter of 'Rajasthan Seva Sangh' was shifted to Ajmer from Wardha, and 'Rajasthan Kesari' was handed over to Shree Satya Dev. After coming to Ajmer Rajasthan Seva Sangh published another weekly called 'Naveen Rajasthan'.<sup>4</sup>

'Naveen Rajasthan' too, wrote boldly against the suppression of people by the feudal Jageerdars. The rulers of native states of Rajputana could not tolerate it. Soon a ban was inflicted on the paper in Mewar, Jaipur and Bundi.<sup>5</sup> This move resulted in an untimely death of a brilliant paper, which reflected the popular public opinion.<sup>6</sup> Later 'Naveen Rajasthan' was renamed as 'Tarun Rajasthan'.<sup>7</sup>

Meanwhile, 'Rajasthan Seva Sangh' sent R.N. Chaudhary and Sadhu Sita Ram to Bijolia, to awaken the public of the region. Both these workers started expressing their views in 'Marwari' handwritten weekly paper 'Upparmal Ko Danko'.<sup>8</sup> Noise of the

'Danka' was heard in the whole region, as a result they were imprisoned for fifteen months.<sup>9</sup>

'Tarun Rajasthan', published an article about revolutionary activities. British Government was infuriated and arrested the editor of the paper Shobha Lal and R.N. Chaudhary, who was considered as the 'Actual editor'. Former was given imprisonment for a year, but the latter was soon released.<sup>10</sup>

During the years, 1924-26, 'Tarun Rajasthan' was edited by R.N. Chaudhary, as Pathik and Shobha Lal were in jail. He tried to run the paper on Gandhian lines, whenever complaint against any person arrived the person concerned was given time for clarification, before publication of any news.<sup>11</sup>

The news of the work done by 'Rajasthan Seva Sangh' was published in some national and international News-papers. R.N. Chaudhary was appointed as the correspondent of Rajputana for papers like - 'Hindustan Times' (Delhi), 'Amrit Bazar Patrika' (Calcutta), 'Bombay Chronicle' (Bombay) and 'Aaj' of (Benaras).<sup>12</sup>

In 1928, a dispute rose between Pathik and his co-workers, which resulted in the dissolution of 'Rajasthan Seva Sangh'. Its weekly paper was handed over to Manik Lal Kothari, but the previous magic of the Paper 'Rajasthan Kesari' was lost.<sup>13</sup>

After the end of 'Rajasthan Seva Sangh' R.N. Chaudhary wanted to do something new. With the help of Shobha Lal, he published a weekly English News Paper, 'Young Rajasthan' from Beawar in 1929.<sup>14</sup> In the first issue of 'Young Rajasthan', dated 24-02-1929, He expressed his views in the editorial, under the title 'Our Mission' -

'.... We, therefore, stand for complete independence of India and full responsible government with princes as constitutional heads in the states. We do not think that the two are incompatible. We believe in peaceful and legitimate methods for the attainment of our goal ....'<sup>15</sup>

In the article of Second May 1929, he called upon the youths to revolt, under the heading 'Youths must Revolt' -

'.... The young rebel must protest, must expose and must resist all conventions which go to maintain the dignity attached to hereditary power and sanctity or abundant means. He must, at every

stage and movement, try to restore the greatness of the toiler, manual or intellectual, in the cause of human emancipation. He must identify with the sufferer and set his face against the wrong doers in all spheres of human activity ....<sup>16</sup>

By the end of the year 1929, R.N. Chaudhary ceased the publication of the paper 'Young Rajasthan' and on the advice of Gandhi, he went to stay in the 'Sabarmati Ashram'.<sup>17</sup> During the salt Satyagrah of 1930, he was imprisoned for a year, where he wrote a hand written weekly in English, called 'Man'.<sup>18</sup>

In 1936, 'Rajasthan Sevak Mandal' handed him 'Adarsh press' and the News Paper 'Navjyoti', through a proposal. R.N. Chaudhary instructed his correspondents to collect matter which was true and beneficial to the society.<sup>19</sup> The paper was weekly and it enraged the British government due to its staunch nationalistic policy. As expected, frequent security deposits were demanded from the paper.<sup>20</sup>

R.N. Chaudhary was planning to go to 'Sevagram' in 1938 and there was nobody else behind him to conduct printing of the paper 'Navjyoti'. On the advice of his wife Anjana Devi, he decided to hand over the paper to his younger brother Durgaprasad Chaudhary.<sup>21</sup>

In the year 1947, R.N. Chaudhary started a Daily 'Naya Rajasthan' in Hindi.<sup>22</sup> Monetary help to the paper was provided by native rulers like Maharawal Laxman Singh. The native rulers helped generously inspite of the fact that the aim of the paper was to gain responsible government and project the rulers as servants of the people.<sup>23</sup> R.N. Chaudhary wrote an article on December 28, 1947, to give a clear picture of the policy of 'Naya Rajasthan' entitled 'Aapni-Baat' -

'.... Our paper is for the common man, through we give prominence to our views and ideals, we reflect the divergent views of the public also ....'<sup>24</sup>

Soon after independence many people were aspiring for power and post and they considered it their right to hold high posts. R.N. Chaudhary gave a warning to them through his editorial of December 28, 1947, under the heading 'Yah Nahi Chalega' -

'... All those Congressmen and freedom fighters of Praja

Mandals, who have sacrificed for the country want to create their monopoly over high posts, and do not want that others should be given a fair share according to their capability, will soon realize that this attitude will not be tolerated by the public at all.<sup>25</sup>

A bureaucrat Chief Commissioner of Ajmer Merwara, could not tolerate the free policy of this News paper. He imposed censorship on the paper, on the charge of promoting communalism. This became intolerable for R.N. Chaudhary as he was a staunch secular and believer of Hindu-Muslim unity. He went to Delhi to meet Rafi-Ahmed-Kidwai for this matter and censorship was lifted.<sup>26</sup> In the year 1952, publication of 'Naya Rajasthan' was started again and through it socialist thoughts were propagated in the province.<sup>27</sup>

After independence, also he remained active as a journalist. 'Bharat Sevak Samaj', a social organisation was established in 1954.<sup>28</sup> R.N. Chaudhary was editor of the monthly papers of 'Bharat Sevak Samaj', published in three languages- English, Hindi and Urdu.<sup>29</sup>

He wrote an article for 'Bharat Sevak' a journal in English, dated July 1957, which created a havoc in the 'Bharat Sevak Samaj' as it pointed out the evils which had crept in the organisation. It was under the heading 'Are we Honest?' -

'.... As one who is supposed to enlighten people about the policies and programmes of 'Bharat Sevak Samaj', I try to answer the pressing query as well as truth permits an explanation .... But this answer, which hardly satisfied the answerer himself must satisfy the questioner still less and having said all this and indulge in loud thinking, the question still haunts an inquisitive soul and an introspective mind, are we honest?<sup>30</sup>

'Gram Sahyog Samaj' was formed in 1960 by R.N. Chaudhary. Its journal 'Gram Sahyogi' became a source of information and inspiration for the people. In an article of 'Gram Sahyogi, dated 29-11-1960, he gave a message to the people under the heading 'How to Deal with Corruption'-

'... If there is no giver of bribes, there can be no taker. It is a double edged sword which cuts both ways. The remedy to be effective can thus be only bi-faced. We shall have to approach both the victims simultaneously, scientifically and humanely. There can be no miraculous cures.'<sup>31</sup>

As an enthusiastic social worker and true freedom fighter, he

displayed his skill in journalism also. He never hesitated to write the truth and he never opted for yellow journalism.

### References:

1. 'Vijay Singh Pathik Smriti Grantha', By Dr. Vishnu Pankaj, Essay 'Pathikji Aur Meri Patrakarita', By R.N. Chaudhary, P. 224.
2. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan', By R.N. Chaudhary, P. 43.
3. 'Vijay Singh Pathik Smriti Grantha', By Dr. Vishnu Pankaj, Essay 'Pathikji Aur Meri Patrakarita', By R.N. Chaudhary, P. 224.
4. Interview of Shree R.N. Chaudhary, Recorded by Dr. Hari Dev Sharma, 12-02-1968, P. 19. Nehru Memorial Museum and Library. Oral History Department.
5. Vijay Singh Pathik, By S.S. Saxena, P. 222.
6. 'Vijay Singh Pathik Smriti Grantha' By Dr. Vishnu Pankaj, Essay 'Pathikji Aur Meri Patrakarita", By R.N. Chaudhary, P. 225.
7. Interview of Shree R.N. Chaudhary, Recorded by Dr. Haridev Sharma, 12.2.68 P. 19. Nehru Memorial Museum and Library. Oral History Department.
8. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan', By R.N. Chaudhary, P. 73.
9. 'Vijay Singh Pathik Smriti Grantha' By Dr. Vishnu Pankaj, essay 'Pathikji Aur Meri Patrakarita', By R.N. Chaudhary, P. 227.
10. 'Vijay Singh Pathik', By S.S. Saxena P. 222.
11. 'Anjana Devi Chaudhary', By R.N. Chaudhary, P. 32.
12. 'Vijay Singh Pathik Smriti Grantha' By Dr. Vishnu Pankaj, essay 'Pathikji Aur Meri Patrakarita' By R.N. Chaudhary, P. 226.
13. 'Anjan Devi Chaudhary', By R.N. Chaudhary, P. 36.
14. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan' By R.N. Chaudhary, P. 108.
15. Ibid. PP. 110-111.
16. Ibid. PP. 118-119.
17. 'Bapu: Maine Kya Dekha, Kya Samjha?' By R.N. Chaudhary, P. 44.
18. 'Rajasthan Me Swatantrata Sangram Ke Senani' - By Sumnesh Joshi, P. 190.
19. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan', By R.N. Chaudhary, P. 173.
20. 'Nehruji Ke Sath Das Varsh', By R.N. Chaudhary Publication, Anjana Devi Smarak Trust, Ajmer, 1988. P. 114.
21. 'Anjana Devi Chaudhary', By R.N. Chaudhary, PP. 82-83.
22. Interview of Shri R.N. Chaudhary, Recorded by Dr. Hari Dev Sharma, 12.2.68, P. 58. Nehru Memorial Museum and Library. Oral History Department.
23. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan' By R.N. Chaudhary P. 219.
24. Ibid. PP. 222-224.
25. Ibid. P. 253.
26. 'Rajasthan Me Swatantrata Sangram Ke Senani', By Sumnesh Joshi, P. 191.
27. 'Biswi Sadi Ka Rajasthan' By R.N. Chaudhary, P. 249.
28. Ibid. P. 267.
29. 'Nehruji Ke Sath Das Varsh', By R.N. Chaudhary, P. 248.
30. Ibid. PP. 242-244.
31. 'Reflections of a Social Worker', By R.N. Chaudhary, Published by 'All India Gram Sahyog Samaj', 1962, PP. 25-29.

## Marwari Merchant Family in Gujarat : A Case Study of Shantidas Zaveri

Monika Sharma

Shantidas Zaveri (1585-1659) was a famous jeweller and sarraf of Ahmadabad, he sold and design jewellery to cater to the needs of the Mughal court and other rich people of the state. He operated as a sarraf and a wholesaler as well. It is said that he breathed the business environment of Ahmadabad.<sup>1</sup>

One can judge from the Jain Aitihāsik Rasmala as well as Ahmavad no Itihas, rich information pertaining to life and origin of Shantidas. This can be correlated from Mirat-i-Ahmadi. He was an Oswal Jain<sup>2</sup> (a sect of Jainism, primarily the adherents of Svetambara Jainism). Interestingly enough his father Sahasrakiran had migrated from Osian, a place 30 Km. in the North-West of Jodhpur in Rajasthan, in the second half of the 16th century and settled down in Ahmadabad.<sup>3</sup>

The Jains who belonged to Osian are called Oswal Jains. Jain Aitihāsik Rasmala mentions that Shantidas was a Kshatriya and closely related to Sisodia dynasty. His grandfather Vatsasheth and great-grandfather Padam Shah<sup>4</sup> or Harpal Sheth belonged to the family of Samant Sangram Singh and Kumarpal of Sisodia dynasty.<sup>5</sup> Sisodias gave protection to Jainism in their earlier period. Some of the rulers encouraged trade and commercial activities as well.<sup>6</sup> So Shantidas was originally a Kshatriya. This was a tradition in Jainism since the time of first tirthankar Rishabhdeva. Most of the tirthankaras were kshatriyas.<sup>7</sup>

Jain migration from Rajasthan started as early as the reign of Akbar. Jahangir established peace with Mewar, the only state which had declined to accept the friendship offered by Mughals. This facilitated the Jains to travel all over the Mughal Empire.<sup>8</sup> The arrival of the European companies furnished another reason of the movements of Jain merchants from one place to another.<sup>9</sup> This migration process continued till the reign of Aurangzeb.<sup>10</sup> But at the

dawn of the 16th century, the Jains were mainly concentrated in Rajasthan and Gujarat.<sup>11</sup>

When Sahasrakiran, the father of Shantidas, settled down in Ahmadabad, he learnt the skills related to jeweller profession probably in a shop owned by a Jain.<sup>12</sup> Shantidas inherited this skill. He also set up the sarraf business.<sup>13</sup> Basically he was a court jeweller. The earliest reference is extant from a farman which he procured from Jahangir in 1622 A.D. It refers to Shantidas as 'Zaveri' indicating his association with the business of jewels.<sup>14</sup> Another farman of Jahangir, places Shantidas under the protection of NizamuddinAsaf Khan, so that the former 'should offer gifts and presents and every kind of jewellery' to the Emperor.<sup>15</sup> English Factory records also refers to him as the "deceased king's jeweller".<sup>16</sup>

Jewellery was not the only business in which Shantidas was interested. The Dutch accounts refers that he purchased a large quantity of cloves from the Dutch.<sup>17</sup> He also provided huge loans to Europeans in order to finance their trade.<sup>18</sup> Being a merchant and a sarraf, Shantidas seems to have controlled the local money market as well.<sup>19</sup>

As, Ahmadabad had evolved a strong mahajan tradition, Shantidas utilised the mahajan institution to persuade the political authority to take action against the Europeans.<sup>20</sup> In 1618 A.D., he brought pressure on Itimad-ud-Daula, the subahdar, and his son Asaf Khan to hold an assembly of merchants and officials in the presence of Sir Thomas Roe, the British diplomat, who visited Ahmadabad at that time. They assembled in the court and discussed the issue. On Roe's advice the merchants agreed to purchase Cartaz for the safe conduct of their ships and goods. Roe, on his part, advised the commanders of the company's ship not to molest the Surat, Cambay and Gogha ships owned by Gujaratis.<sup>21</sup>

According to Makarand Mehta Shantidas's popularity or influence with the Mughal court cannot be explained solely in terms of his business relations.<sup>22</sup> He was, undoubtedly, an expert jeweller, but there is a strong Jain tradition that Prince Shahjahan addressed him as mama or maternal uncle.<sup>23</sup> Jahangir gave this title of mama to Shantidas and also appointed him as Nagarsheth<sup>24</sup> of Ahmadabad.<sup>25</sup> As the Nagarsheth of Ahmadabad, he was the chief

merchant in the town, and also could act on his own as a link between the whole merchant community of the city and the Government.<sup>26</sup> The clearest illustration of his position as a link between these two occurs during and after MuradBakhsh's revolt of 1657 A.D. When Murad took a substantial loan from the merchants of Surat worth Rs. (5,00,000/-) and Ahmadabad (50,00,000/- Rs.), and out of this whole amount Rs. 5,50,00/- was taken from the sons and brothers of Shantidas.<sup>27</sup> Later, at the event of war of succession, Shantidas went to the combined camps of Murad and Aurangzeb, and received a farman from Murad with the guarantee of repayment of this loan. After a few days Aurangzeb killed Murad, however he accepted all the responsibility of Murad's debt and Shantidashave another farmanfrom Aurangzeb for the same purpose. The most important thing in this episode was, Aurangzeb used him as an intermediary to conciliate the people of Ahmadabad and especially the wealthy business community.<sup>28</sup>

It is also interesting that he provided not only loans to the princes, but he had a great influence over the Mughals. One of the farmans of Shah Jahan, which he addressed to the mutasaddis of the subah of Ahmadabad informs them that Shantidas, who was a loyal jeweller of the royal court, owns shops, havelis and gardens in Ahmadabad, orders them not to allow anyone to seize or occupy them or interfere with his right of collecting rents from them. They were directed to see that the Shantidas and his children were not molested by anyone in any way so as to enable them to carry on their business peacefully.<sup>29</sup> In another farman, Shah Jahan addressed to the Hukkam, ummal and mutasaddis of the ports of Hindustan informs them that Shantidas always despatches agents to different ports of the empire to purchase jewels and other precious articles. Orders them not to interfere with the agents of Shantidas in any way and allow them to move about freely and safely throughout their jurisdiction during their visit so that they might transact their business with perfect peace of mind.<sup>30</sup>

Apart from all these things, Shantidas was a religious man. He held influential position among the Jains of Gujarat. He spent lavishly for constructing the temple of Chintamani-Parswanath in the Bibipur suburb (now called Saraspur) of Ahmadabad in 1625 A.D. He took equal interest in the advancement of religious learning. He helped the monks in setting up Paathshalas.<sup>31</sup>

The man, who manipulated every state apparatus and religious leadership to advance the interests of his mercantile pursuits, he was a versatile person suited well in both in the grooves of business and politics of the 17th century Mughal Gujarat. He is famous as a Gujarati merchant in history, but the truth is had a Marwari mind on his body.

### References

1. Mehta, Makarand, Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, Delhi, 1991, p. 92.
2. Khan, Ali Muhammad, Mirat-i-Ahmadi' (Supplement), Tr. Syed Nawab Ali & Seddon, Baroda, 1928, pp. 115, 116-118. (It gives the name of 84 classes or Gachchhas and these names derived from the name of their towns where they were settled.)
3. Commissariat, M.S., A History of Gujarat, 2 Vols., II, Bombay, 1957, pp. 140-149.
4. Buddhisagarji, Jain Aitihāsik Rasmala, Ed. Mohanlal Dalichand Desai, 2 Vols., I, Ahmadabad, 1912, pp. 1, 49. (His great grand- father's name was Padam Shah at some places he is called Harpal Sheth.)
5. Jain Aitihāsik Rasmala, I, op. cit., p. 1.
6. Jain Aitihāsik Rasmala, I, p. 2.
7. Ibid., p. 1.
8. Sharma, G. N., Mewar and the Mughal Emperors, Agra, 1954, pp. 135-138.
9. Misra, S. C., 'Jain Merchants in Eastern India Under the Great Mughals', Business Communities in India : A Historical Perspective, Ed. Dwijendra Tripathi, Manohar, New Delhi, 1984, p. 72.
10. 'Jain Merchants in Eastern India under the Great Mughals', op., cit., p. 73.
11. Ibid., p. 69.
12. A History of Gujarat, II, op. Cit., pp. 140-149.
13. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, op. Cit., p. 97.
14. Commissariat, M.S., 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', Journals of the University of Bombay, IX (July), 1940, p. 30.
15. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 102.
16. Foster, William, English Factories in India, 1624-1629, Clarendon Press, Oxford, 1913, p. 189.
17. Dagh Register, 1637, p. 266 cf. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 109.
18. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 109.
19. Ibid.
20. Ibid., p. 105.
21. EFI, 1618-1624, pp. 2-7.
22. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 100.
23. Jain Aitihāsik Rasmala, I, pp. 5-6.
24. Vakhatchand, Maganlal, AmadabadnoItihas, Ahmadabad, 1977 (Reprint), pp. 125-126.

25. There is a controversy about the position of Nagarsheth held by Shantidas, in the historians' view none of the farman issued by Mughals added this title before his name.
26. Jain Aitihāsik Rasmala, I, p.2.
27. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 127.
28. Khan, Ali Muhammad, Mirat-i-Ahmadi, Tr. M.F. Lokhandwala, Oriental Institute, Baroda, 1965, pp. 210-211; 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', op. cit., pp. 15-17; A History of Gujarat, II, pp. 420-421.
29. Mirat-i-Ahmadi, op. cit., pp. 210-211, 446-447, 504-505, 442; 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', op. cit., pp. 15-17; A History of Gujarat, II, pp. 420-421.
30. Timizi, S.A.I., Mughal Documents, 2 Vol., II, New Delhi, 1995, p. 57; 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', op. cit., p. 31.
31. This farman was issued on 8 Ilahi, 1045 A.H. (25 August, 1635 A./D.).
32. 'Imperial Mughal Farmans in Gujarat', op. cit., p. 32.
33. This farman was issued on 16 Julus 1052 A.H. (6 September, 1642 A.D.).
34. Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, p. 100.

## **Battle of Haifa : A Tribute to Forgotten Heroes and Patriots**

**Dr. Veenu Pant**

Some two years back while driving towards Nehru Memorial Library housed in Teen Murti Bhawan I came face to face with a fact that majority of the Auto Walas and Pan Walas whom I had approached for help in guiding me through Delhi's maze were not knowing which place I am talking about. I was shocked at their ignorance regarding the memorial residence of our first prime minister. A few minutes later my daughter shocked me at my own lack of information when she asked me why that place is called Teen Murti. I satisfied her by showing her the Memorial standing at the juncture in front of the building but her query went further as she asked who has raised this memorial and why. I honestly admit that I was completely ignorant of the answer and in hustle bustle of life I just failed to find the answer. It was only few days before that a press release from Government of Israel made me aware of the historical significance of Teen Murti Memorial. The News said:

"The municipality of Haifa has gone ahead with its decision to immortalise the sacrifices made by Indian soldiers, many of whom are buried in the cemetery here, by including the stories of their valiant efforts in liberating the coastal city during the First World War in the school curricula as part of the history textbooks

"The move is a part of Haifa municipalities efforts to preserve the city's history and heritage," Hedva Almog, deputy Mayor of Haifa told people gathered to pay respects to Indian soldiers who made the ultimate sacrifice in the war to liberate the city."

It was when I started finding about the above mentioned battle of Haifa that I came to know that Teen Murti Memorial raised by the British is a memorial to those valiant cavalry soldiers who turned the course of war by their sheer gallantry on that momentous day of 23rd September 1918. These stone and bronze sculptures were created by Leonard Jennings in 1922 to commemorate those killed from the cavalry regiments of the Indian Army during World War I

in battles in Sinai, Palestine and Syria. The three statues represent soldiers from the three Indian States - Hyderabad, Mysore and Jodhpur, together with detachments from Bhavnagar, Kashmir and Kathiawar. The statues were collectively named Teen Murti and the base carries the names of officers. The statues stood in front of Flagstaff House, the Commander-in-Chief's residence, Delhi which later became the residence of first prime minister of India Pt Jawahar Lal Nehru.

### **Importance of the Battle in World History:**

First World War had extended over four long years and battle of trenches had left everyone uncertain of the outcome. Allied armies were struggling to defeat a combined force of Ottoman Empire and Germany. Several earlier attempts were thwarted by strong rearguard position. During the First World War the entire bay area was placed under a sea blockade and mined by the Turks which made it very essential to capture Haifa for securing the harbour and also control over Hejaz railways and thus a route to connect to Damascus. General Allenby was given the difficult task of making the Turks retreat and capture all the key areas to clear the ports as it was urgently required for landing the supplies.

Turks were forced to withdraw after successive defeat and in order to keep his forces pursuing the retreating Turks and make his 'Megiddo' plan a success it was necessary that the Allied forces secure Haifa with its harbour and railhead. Without Haifa, a lack of viable roads meant that it would be impossible for him to keep his army re-supplied.

### **Why is it Important for Indian Forces:**

Indian Armed Forces have universally been recognised as one of the most efficient armed forces world over and many a times since achievement of independence we have been deployed under the banner of UN peace keeping mission and have won laurels and appreciation for the services of our soldiers.

Princely States also have a special place in the military history of not only India but the world in general. Many regiments of present Indian Army have been formed after combining or merging of Princely States forces. Few examples are:

17th Battalion of Rajputana Rifles;



19th Battalion of Rajput Regiment;  
61st Cavalry Regiment.

Battle of Haifa is the Battle honour of 61st Cavalry as it was won by the gallant warriors of Jodhpur Lancers and Mysore Lancers as a part of Egyptian Expeditionary Force's under General Allenby. The Imperial Service Cavalry Brigade formed from Indian Princely State units served alongside British Empire forces in the Sinai and Palestine Campaign of the First World War.

The 15th Imperial States Cavalry Brigade consisted of three famous Indian State Forces Cavalry Regiments: the Jodhpur Lancers, Mysore Lancers and the Hyderabad Lancers. Together they formed a part of the 5th Cavalry division of the Desert Mounted Corps. In the autumn of 1918, the Brigade was a part of the Allied Forces sweeping northwards through Palestine under the famous General Allenby, wiping clean the land of the remnants of the Turkish Seventh and the Eighth Armies and their German partners in the last great cavalry campaign in history of world.

The Brigade reached Egypt in October 1914 by sea route and became part of the Egyptian Expeditionary Force in the defence of the Suez Canal. First three years of war involved several small scale battles and most of their time was spent patrolling in the Sinai Desert and along the west bank of the canal. The Third Battle of Gaza fought in November 1917 was their first great engagement and later in 1918 the brigade joined the 15th Cavalry Division to play a more active part in the British defeat of the Turkish forces in Palestine.

### **Tthe Battle and the Glory:**

As General Allenby was moving forward pursuing the fleeing Turks shortly after midnight on 21/22 September, the 18th King George's Own Lancers, part of the 13th Cavalry Brigade, were attacked by an Ottoman battalion from Haifa. Although they were able to defeat them and capture about 200 prisoners yet it was generally agreed that to advance into Haifa would be full of risk as it was well guarded by the Turk and German armies.

On 22 September a false report came that Turks have left Haifa but as Haifa Annexation Expedition marched forward it was stopped by accurate Ottoman artillery and machine gun fire. 200

yards from the road to Haifa they encountered armoured cars of the Light Car Patrol. This clearly showed that a strong rearguard was covering Haifa through effectively positioned artillery deployed on the lower slopes of Mount Carmel. Further were an Austrian battery of light field guns, supported by German machine gunners which stopped the Allied force. Together they were controlling the approach road from the east, which ran between the mountain and the Nahr el Muqatta. This was strong position, and as the river was flanked with quick sand from both the sides it was virtually impossible to cross. Under such harsh circumstances The 5th Cavalry Division was ordered to capture Haifa and Acre 12 miles north west the following day on 23rd September 1918.

The importance of the battle is clear from the Despatch dated 31st October 1918, by Gen Sir. E.H.H. Allenby: item 19

".....I ordered the Desert Mounted Corps to occupy Acre and Haifa. The roads leading to Haifa from Tul Keram are only country tracks, which, in the event of rain, might become impassable for motor Lorries at any time. Any force, advancing north-westwards from Haifa along the coast, would have to depend on supplies landed at that harbour. It was necessary, therefore, to occupy the town without delay, in order that the harbour could be swept for mines, and the landing of stores could be taken in hand."

The Jodhpur Lancers was commanded by Major Dalpat Singh as General Sir Pratap Singh, just short of 73 years old, who had accompanied his Jodhpur Lancers on their 70 mile ride to Nazareth during a night and a day was in Allenby's words "quite knocked up." He also had a fever and Allenby had ordered him to rest for a few days, otherwise the old war horse would no doubt have joined his lancers in their action at Haifa.

Jodhpur Lancers were supported by Lt Col Hyla Holden who was the special service British officer with the regiment. He chose his senior most and experienced Squadron Commander Captain Aman Singh to lead the attack and capture the defile. After the capture of the defile the Squadron under Captain Anup Singh was to attack the Mount on east of the road after passing through the defile to capture machine guns located on it. Thus the capture of the defile was the most critical operation to the whole battle.

It was decided to cross the Kishon River and attack the town from the north-east and a Squadron of the Mysore Lancers was

sent east of Haifa and another squadron was sent up from the north to capture the enemy guns on Mount Carmel. Lancers were to move ahead after giving some time to the above regiments and frequent patrols were sent to survey the ground and locate the enemy. As no news came about the action of the squadrons sent out earlier to silence the enemy guns at 2 PM the Jodhpur Lancers were ordered to attack. The Jodhpur Lancers came out in open towards the stream and came under intense fire as they crossed the Acre railway line. It was realised that it was not possible to cross the river from grounds as quick sand swallowed two of the scouts leading the troops. The regiment was out in the open with no cover, and was being attacked from the front and flank, horses were falling fast. Lt Col Holden ordered Major Dalpat to quickly swing the regiment to the left and charge the machine guns on the lower slopes of Mount Carmel. While doing so Major Dalpat was hit in the spine by a machine gun bullet and fell. (he died later that night on the operation table). This was a critical moment but Captain Bahadur Aman Singh immediately assumed the command of the regiment and swiftly rallied his men and galloped straight at the enemy. Valiantly charging at the firing machine guns, enraged by the loss of their commander, they speared the Turks capturing 2 machine guns, 2 camel guns and killing over 30 of the enemy. The road to Haifa was now open.

The Rajputs dashed into the enemy and opened the main road in to Haifa, between the Wadi Selman and the mountain for the passage of the rest of the regiment. Captain Anup Singh passed through the defile and galloped up the road, wheeled half right and charged two machine guns on a Mount east of the road, capturing both. Passions inflamed and the remaining two squadrons now dipped their lances to the 'charge' and thundered down the road straight into the town braving the enemy fire and oblivious to the imminent death if hit by them. So unexpected and rapid was the whole attack that the enemy did not have enough time to react to it, several Turks being ridden down in the streets.

Then they made their way along the lower slopes of Mount Carmel, and charged into the German colony west of Haifa, capturing several machine guns and killing large numbers of Turks and Germans.

The two squadrons of Mysore Lancers who had supported the attack with their fire mounted and followed the Jodhpurs at a

gallop into the town. This action is regarded as the finest cavalry charges ever made, the regiment captured a total of 700 prisoners (including 2 German and 23 Turkish officers) as well as 17 guns (2 six inch naval guns, 4 four point two inch guns, 6 77 mm guns, 4 10-lb guns) and 11 machine guns and a large amount of ammunition were collected at Haifa after the action. The total casualties suffered by Allied troops were 1 officer, 7 Other Ranks, 60 horses killed; 6 officers, 28 Other Ranks and 83 horses wounded.

In his 'History of the British Cavalry' the Marquess of Anglesey concludes his description of this action thus;

"By 3 p.m. the battle was over and victory complete. A vital new supply base had fallen into British hands. Four days later the landing of supplies started. Without a doubt this was the most successful mounted action of its scale in the course of the campaign. It was won by a weak brigade of only two regiments and a single 12-pounder battery pitted against about 1,000 well-armed troops who had so far seen no action. These, skilfully deployed, occupied a naturally formidable defensive position with an impassable river on one side of a narrow defile and a steep hill on the other. That they had already received news of the general rout is certain and this may well have affected their behaviour, but there is little evidence to show that they put up less than a respectable resistance. The speed and daring, dash and boldness of the two Indian Imperial Service regiments, in conjunction with the skilful flanking movements devised by Holden [Lieutenant-Colonel H. N., the senior Special Service Officer] were what made the action such a success. The speed and good order demonstrated by the leading squadron of the Jodhpores when it was forced to change direction under heavy fire, were other vital ingredients in what was almost certainly the only occasion in history when a fortified town was captured by cavalry at the gallop."

The Official History of the War given in Military operation Egypt and Palestine: volume 2, part 1 describes the Indian troop's bravery as:

"No more remarkable cavalry action of its scale was fought in the whole course of the campaign. Machine gun bullets over and over again failed to stop the galloping horses even though many of them succumbed afterwards to their injuries."

Captain Aman Singh Bahadur and Dafadar Jor Singh were

awarded the Indian Order of Merit (IOM) and Captain Anop Singh and 2nd Lt Sagat Singh were awarded the Military Cross (MC) as recognition for their bravery in this battle. Major Dalpat Singh (MC) is known in the annals of history as the 'Hero of Haifa' for his critical role in the Liberation of the city. He was awarded a military cross for his bravery.

Gen Sir Archibald Wavell in his biography 'Allenby - A Study in Greatness' has the following footnote on page 281

"This is probably the only recorded charge of cavalry in which men of the Royal Engineers have ridden. The 15th Field Troop, R.E., happened to be alongside the Jodhpur Lancers just before the charge, and on the invitation of the Lancers' commanding officer armed themselves with lances and swords from casualties and rode in the charge. Though none of them had ever handled such weapons before they claim to have killed at least one Turk with the arme blanche."

The day is celebrated by our only cavalry regiment the 61st Cavalry as Haifa Day every year.

In concluding I would only like to say that often while writing our history we tend to neglect the contribution made by the Princely states and their rulers. No doubt such narrations which totally neglect the very existence of States People go in accordance with popular nationalist mode of writing Indian history but we must not forget that our history cannot be complete without acknowledging their contribution, however small or insignificant it may seem. We must not forget that they are a part of our International identity; Battle of Haifa is one such glorious example. People like Sir Pratap were not only great favourite among the British they also had a strong sense of nationalist and patriotic feeling in their hearts, even if their idea of nation does not match with your definition of Nation State. Sir Pratap had enforced Swadeshi Clothes in Marwar as its Prime minister during the reign of Jaswant Singh II, many a years before Gandhi was to face the insult on board a train in South Africa. Western designs were not allowed and right up to 1949 round necked Jodhpur coat (THE STATE DRESS OF INDEPENDENT INDIA) and Jodhpurs for rajputs and the coat with Dhoti for the rest remained the norm in Jodhpur state. He stopped the use of Urdu and replaced it with Marwari as a court language and encouraged Hindi. His elder son Rao Raja Narpat Singh was packed back to

India from England when he had offered to shake hands with his father rather than touching his feet as is required by Indian custom. His youngest son Rao Raja Abhay Singh saw all his foreign clothes burned in a bonfire after he came back from Cambridge as a swadeshi gesture of his father. Yes he was a Prince and a friend of British but does that make him less Indian.

The heroes of Haifa are being honoured by Israel, their names will become known to the school children of that foreign land but remain unknown to their own people. Do we really agree that they do not deserve a mention just because they belonged to Princely India? These brave soldiers had fought the battle for humanity and even if many of present day Indians now denounce their action by saying that it was unpatriotic and anti nationalist as they were fighting for the colonial masters, they perhaps fail to remember that our national leaders were supporting the British cause during the war. And none the less they fought and won for their motherland, if it was ruled by a foreign ruler it doesn't make their sacrifice any less.

### References:

1. Press Trust of India Release accessed through www.ndtv.com updated on 24 September 2012
2. The Indian Army in the Two World Wars; Ed Kaushik Roy, Brill, 2011.
3. Archibald Wavell, Allenby, a study in greatness: the biography of Field-Marshal Viscount Allenby of Megiddo and Felixstowe, G.C.B., G.C.M.G., Kessinger Publishing, 2011(Original print 1941).
4. Cyril Falls, Archibald F Becke, Military operations: Egypt & Palestine, Volume 2, Part 1, H.M. Stationery Off., 1930
5. Cyril Falls, Archibald F Becke, Military operations: Egypt & Palestine, Volume 2, Part 2, H.M. Stationery Off., 1930
6. Bryan Perrett, Megiddo 1918: The Last Great Cavalry Victory, Osprey Publishing, 1999, Oxford, UK
7. Cyril Falls, Armageddon, 1918: The Final Palestinian Campaign of World War I, University of Pennsylvania Press, 2003
8. Gurcharn Singh Sandhu, The Indian cavalry: history of the Indian Armoured Corps, Vol. 1, Vision Books, 1981
9. The Cavalry Journal, Volume 10, Royal United Service Institution, 1920
10. David L. Bullock, Allenby's war: the Palestine-Arabian campaigns, 1916-1918, Blandford Press, 1988
11. An Outline History of the Great War, Cambridge University Press, CUP Archive, Accessed through net as available as E Book.
12. The Marshall Cavendish illustrated encyclopedia of World War I, Volume 10, Peter Young, Marshall Cavendish Corporation, 1984
13. Ian Summer, The Indian Army 1914-1947, Osprey Publishing, Oxford, UK, 2001.

## Heritage Tourism : Legacy of History & Culture of Rajasthan

Dr. Harit Kumar Meena

### Abstract

History and Culture has always been a major object of travel. Cultural heritage tourism is important for various reasons as it establishes and reinforces identity, it helps to preserve the cultural heritage and it has a positive economic and social impact. With culture as an instrument it facilitates harmony and understanding among people.

Rajasthan is known for its diversity in terms of natural resources, cultural heritage, historical as well as archaeological wonders and rare wild life. The forts and palaces, heritage hotels, colourful fairs and festivals, local art and handicrafts, etc has been a unique selling proposition for tourists coming to the state. The desert environment in the western parts of the state is also a major attraction for visitors, particularly the foreign tourist. Total tourist traffic in India was estimated at 240 M tourists in 2001. Domestic tourists account for more than 98% of total tourist arrivals in Rajasthan. Tourism accounts for over 14% of the state's economy in 2010 - 2011.

### Objectives

The paper endeavors to summarize the murky relationship between rich Historical or Cultural heritage and Tourism. It elucidates how the enriched past can lead to prosperous and popular Tourism. Heritage is like a gift which is passed by one generation to another in the form of culture, nature, customs which is different and unique from others.

### Introduction

The colourful and exotic state of Rajasthan lies in the north-western part of India. Rajasthan is bordered on the west by Pakistan. In the west of state is the Thar Desert and the upland

region of Deccan in the eastern part. The Aravalli hills cross the state from north-east to the south-west. The state was formed in 1948 from several former principalities states of Rajputana and presently it is the largest state in the Republic of India.

Rajasthan is a state with entirely different façade and is considered as the most scenic state of India. The culturally rich state of Rajasthan is popular for its festivals & fairs, folk dances/music, arts/crafts and royal legacy in the form of palaces, forts and gardens. Its medieval forts and palaces, the very distinctive nomadic desert lifestyle is unique all over the world. Heritage assets, found all over the state, can be utilized for expansion of Tourism.

### Discussion

A world of colour, splendour and spectacle awaits visitors to India's largest state. With its ancient sandcastle forts, pastel colour cities and traditional fairs and festivals Rajasthan is one of the most popular tourist destinations in west India. It can be said as; it is the cultural capital of India. There are various popular destinations in Rajasthan but the main tourists attracting cities are Ajmer, Jaipur, Jodhpur, Jaisalmer and Udaipur. All these cities were the former Princely states, as the result tourist can witness the imperial legacy everywhere in these cities.

### What is Heritage and Heritage Tourism?

Heritage is not only the monument or historic buildings, but everything which relates us to the rich past is heritage. The folk dance and music, clothing and ornamentation, craft work (paintings, iron or wood work), fairs and festivals are the vital ingredients of the rich cultural heritage of any destination. Prentice (1993) said heritage can be classified as tangible resources (objects in museums, documents in archives); or intangibles such as values, customers, ceremonies, festivals, arts and cultural events.

Likewise, Tourism is not just an aggregate of merely commercial activities; it is also an ideological framing of history, nature and tradition; a framing that has the power to reshape culture and nature to its own needs.

Heritage Tourism represents some sort of inheritance to be passed down to current and future generations, both in terms of cultural traditions and physical artifacts. The rich cultural heritage

of the state is reflected in its impressive folk music and dances, different languages and dialects, the majestic forts, palaces, mansions and divinely holy places of religious worship, its multihued fairs and festivals, and it's tempting cuisines.

### Marwar, Mewar and Dhundhar (Historical Triangle): Pedestal of Cultural Tourism

The entire history of Rajasthan accounts for the evolution and relation between Marwar (Jodhpur and Jaisalmer), Mewar (Chittorgarh) and Dhundhar (Jaipur). In the reign of Akbar the icon of Rajput policy invited these three princely states to formulate the extension and consolidation of mighty Mughal Empire. The whole historical narration between sixteenth to eighteenth centuries is the learning of Mughal-Rajput relations. More or less, Rajputana played a vital role in political and administrative scenario of intact Medieval times. Presently, these three princely states have plentiful artifacts of magnificent historical and cultural background which directly or indirectly, facilitates tourism. The map drawn below evidently articulates this hypothesis:

Tourism in Rajasthan extends almost through the entire state, though tourist activity is concentrated around six main cities, which serve as 'tourist hubs'. These tourist 'hub' cities are Jaipur, Jodhpur, Jaisalmer, Bikaner, Udaipur and Mount Abu. Almost every tourist (with the possible exception of pilgrim traffic) who visits Rajasthan would visit one or more of these 'tourist hub' locations as part of his / her tourist itinerary. The following table summarizes the concept of tourist circuit:

### Heritage Hotels: Reconstruction of magnificent Historical Tradition

Rajasthan has been a pioneer state in launching heritage hotels in the country by converting old palaces and havelis of erstwhile rulers into tourist accommodations. These heritage hotels have become extremely popular with tourists, especially the foreign tourists. At present there are 43 recognized heritage hotels in Rajasthan. Apart from these, there are 53 other heritage hotels that are not recognized by the DoT.

### Heritage Tourism: A Case Study of Desert Circuit

Desert circuit includes Bikaner, Jodhpur, Jaisalmer and

Barmer districts of western Rajasthan. Geographically, this area is not so fertile but in terms of Historical and Cultural content this area proves to be catalyst in Heritage Tourism. Following is the brief study of Desert Circuit:



### Conclusion

Rajasthan covers 10.4% of India, making it geographically the largest state in the country. The state shares its geographical boundaries with the states of Punjab, Haryana, Uttar Pradesh, Madhya Pradesh and Gujarat in India, and also has a long 1,070 Kms west boundary with India's neighbouring country Pakistan.

The State of Rajasthan is one of the most favored destinations for tourists in India for both domestic & international traffic. Its desert dotted with rugged forts and beautiful palaces, lakes, charming cities, fairs and festivals, and colorful culture form the most fascinating and unique basket of attractions for any tourist.

### References

1. Barkat, A.J. & Medlic, S.: Tourism: Past, Present and Future, Hainemann, London, 1974.
2. Bhatia, A.K.: Tourism in India- History and Development, Sterling Publishers,

- New Delhi, 1978.
3. Bhatia, A.K.: Tourism Development. Principles and Practices, Sterling Publishers, New Delhi, 1982.
  4. Boileu, A.H.E.: Personal Narrative of a tour through Western Rajwara in 1835, Calcutta, 1837.
  5. Das, Manoj: India-Tourist Paradise, Sterling Publications, New Delhi, 1998.
  6. Gahlot, Sukhvirsingh: RAJASTHAN: Historical & Cultural, J. S. Gahlot Research Institute, Jodhpur, 1992.
  7. Somani, Ram Vallabh: History of Rajasthan, Jain Pustak Mandir, Jaipur, 1993.
  8. Tod, James & Crooke, William: Annals and Antiquities of Rajasthan or the Central and Western Rajpoot States of India, Low Price Publications, Delhi. 1990.

## **Ramsnehi Sampraday and Jodhpur- with Special Reference to Bada Ramdwara, Sursagar**

**Prof. Vinita Parihar**

The foundation of Ramsnehi Sampraday was laid during the revival of Bhakti cult in Rajasthan. It was nurtured by a host of enlightened saints and even today, it overshadows other faiths prevalent in Rajasthan. The feature which segregates it from other Paths (sect) is the harmonic blending of ideals of religious traditions of India. It adopted Ram naam, idealistic moral code of conduct and funeral practices from Hinduism, non violence from Jainism and social and religious reformist ideology from Nirguna saints. The origin of Ramsnehi Sampradaya is shrouded in mystery. The most popular opinion considers sant Ramcharan as the founder of this cult, whereas according to other sources, it was an offshoot of Ramanand. The followers of Ramanand formed four distinct groups, each calling itself as Ramsnehi i.e. the lover of Ram. The four branches of Ramsnehi's are situated at Shahpura, Ren, Sinhathal and Khedapa. The Shahpura branch was founded by Ramcharanji (1719-98 A.D), Dariyavji (1676-1758 A.D.) founded the Ren branch, the Sinhathal branch was founded by Hariramdasji and Ramdasji (1726-98) was the founder of Khedapa branch.

Ramdasji was born at Bhikamkore, a village of Jodhpur on the thirteenth day of bright half of Phalgun (Shivratri) in 1728 A.D. in a Mehgwal family. His father was Shadulji and mother was Anbhi.<sup>1</sup> He lost his mother when he was merely a child. After his mother's death his father shifted to Khedapa the village of his maternal grandfather<sup>2</sup>.

Ramdas was interested in religion and devotion since his childhood. He had undertaken diksha from twelve gurus but was not satisfied.<sup>3</sup> Finally his quest for a sadguru came to an end when he met his ultimate guru, Sant Hariramdas of Sinhathal. Ramdas was initiated in the Ramsnehi cult on the 11th day of bright half of

Vaishak in the year 1752 A.D.<sup>4</sup> He then undertook austerities and tread on the path of Sadhana for self realisation. On being successful, he started delivering sermons in the villages and towns of Jodhpur state. He emphasised among the natives, the need of channelising all their endeavours to the professing of Ram Bhakti. With the permission of Hariramdas he settled at Khedapa in 1765 A.D.<sup>5</sup> Soon a large number of people became his disciples. Ramdas ji shifted to Ram-mohalla<sup>6</sup>, some distance away from Khedapa in 1778 A.D. He fell prey to the conspiracy of his rivals and the then ruler of Jodhpur Maharaja Vijay Singh extradicated him from Marwar in 1790 A.D. Ramdas now wandered through Mewar and Dhoondhar and the number of his disciples swelled. Finally he reached Sinhathal. Later, the Maharaja after realising his mistake, personally requested Ramdasji to return to Khedapa. Ramdasji complied after many requests in 1792 A.D.<sup>7</sup> The saint renounced the material world on the 7th day of dark half of Ashad in 1798 in Khedapa. His son Dayaldas became his successor. Out of the numerous disciples of Ramdas, fifty two were famous and were called as thambas. They established various monasteries at various places in Rajasthan, Gujrat and Malwa and these monasteries were called as Ramdwara.<sup>8</sup>

Ramdwara of Khedapa branch at Jodhpur- The Ramdwara in Jodhpur are situated at Sursagar, Motichowk, Rammohalla, Nagori Baas, Udaimandir, Kagdi, Masuria (Kumharo Ki Bagechi), Parihar Nagar and Chokha. The important among them are Sursagar, Motichowk, Rammohalla and Nagori Baas. The Ramdwara at Sursagar is called Bada Ramdwara. The Ramdwara were the abode of saints as well of centers of preaching. The saints of all the above mentioned Ramdwara recognize the mahant of Khedapa as their supreme.<sup>9</sup>

The Bada Ramdwara: - The importance of Bada Ramdwara lies in the fact that it is the only Ramdwara of virakt branch of Ramshehis in Jodhpur. Situated on the bank of Sursagar tank, the Bada Ramdwara is the place of worship of Maharaj Parasramji the initiator of virakt branch of Ramsnehis.<sup>10</sup> He took diksha from Ramdas ji in 1787 A.D. and came to Sursagar in 1803 A.D.<sup>11</sup> He neither founded an ashram nor made any disciple. However impressed by him, Sewagramji became his disciple who later on became a Paramhansa sant. There are five Paramhansa sants in the Shishya Parampara (tradition) of Parasramji.<sup>12</sup> Sant Ramvallabhji

of this Parampara started putting on clothes as per the need of time. Before this the Paramhansa sants remained naked. At present Mohandasji maharaj is the Thambayat of Bada Ramdwara. As per the tradition of the sect, the senior most disciple of the Thambayat, Ramprasad ji is called Adhikariji.

Main features of Bada Ramdwara are Sirepol (main gate), Hanuman temple, Ramnivas, Shriram Sabha, Dewal, Palna, Gudadi, Soonj Gaddi of Paramshansa Sants, Akhand Jyoti, Vidhya mandir, Rammohalla, Kundi-a stone vessel for filtering drinking water, Parikrama, sant niwas etc.<sup>13</sup> The presence of Hanuman temple on the right side of Sirepol (entrance) is a peculiar feature of the Ramdwara which believes in Nirguna Bhakti and denounces idol worship. It is said that it was one of the seven hundred temples of Hanuman, built by Guru of Shivaji, Samarth guru Ramdas. When the Ramdwara was being constructed the sants wanted to shift the icon of Hanuman in a newly built temple, but even eighty labourers who were expert in lifting heavy stones, could not lift the icon. So it was decided not to shift the icon from the Ramdwara. The palna<sup>14</sup> was gifted by Maharaja Takhat Singh and even the Kundi was sent as a gift from the then royal family<sup>15</sup> to the Ramdwara.

Daily Chore of Ramsnehi Sants:- The day of Ramsnehi sants begin with the Shastaang Pranaam to guru and singing of Panchvani. It is the vani of Kabir, Dadu, Haridas, Ramdas and Dayaldas.<sup>16</sup> Then the junior sants go the neighbouring colony of Sursagar for collecting bhiksha, which serves the purpose of lunch. The Bada Ramdwara is still following the tradition of bhiksha initiated by Maharaja Parasramji.<sup>17</sup> Sant Ramprasad identifies bhiksha as madhukari and adds that the sants in the process of taking bhiksha shows the path of self welfare to the society.<sup>18</sup> The grihast people greet the sants by saying, Ramji-Ram, Ram-Maharaj and the sants reply is Ram-Ram, Ram-Ram. Initially the sants put on white costume and a white moothdaar paag (turban) and a dupatta. But now-a-days costumes of pink, white or saffron are worn, pink being the most popular. The thambayat's costume is sky-blue in colour. The neck of the sants is adorned by kanthi, gifted by the guru and they keep a string of sandal- wood beads in hand. A sri- tilak (leaf shaped) of sandal wood having Ram written in it was anointed on the forehead.<sup>19</sup> They keep their head, beard and moustaches clean-shaved. As the Ramdwara is of virakt branch, the entrance of women

is prohibited in the Ramdwara during night. Not only this the women are not allowed to perform aarti of the gaddi and dewal also.<sup>20</sup> There are pictures of their gurus in the Ramdwara. The barsi of different sants is celebrated during the month of Posh. On this day a satsang is organized and many sants and followers from different place come for the satsang. They also enjoy a Bhandara (grand feast) in the barsi celebration. Guru Purnima is also celebrated in the form of satsang and feast.<sup>21</sup>

Teaching and Code of conduct of Ramsnehi School of thought:- Voluminous literature has been created by various saints in the form of vani, parchi, saakhi, prose etc in the vernacular language. The Ramsnehi sants emphasised the unity of God and denounce idolatry and polytheism. They stress on the need of continued recital of the name of God (Ram). There Ram was symbolic representation of nirguna God. They believe that the worship of Ram leads to the welfare as well as salvation of the devotee.<sup>22</sup> The authority and powers of Ram is undoubted and unchallenged.<sup>23</sup> They accord a very respectable place to guru<sup>24</sup>, whom they regard as the torch bearer. According to them guru can serve as the mediator between a seeker and God, until such time, he doesn't fit to bestow the divine grace on him. For them guru is chintamani, kalpataru and Sandalwood.<sup>25</sup>

Sant vani is considered very sacred and the real incarnation of guru.<sup>26</sup> They lay emphasis on satsang (righteous people), as it promotes a sense of equality and fraternity among the people on one hand and it removes all the dirt of the people by helping them build their character on the other hand. The sants are of the view that bad company is the door to all evils and leads to defamation.<sup>27</sup> Guru Ramdas cites an example in which a drop of water fall from the sky, and then falls into an Oyster shell and turns into a pearl, while the drop of water falling in the mouth of snake turn into poison<sup>28</sup> and thus proves the importance of satsang.

Ramsnehis condemn rituals, ceremonies, dogmas, superstitions and pompous ceremonies. They vehemently oppose varna system and caste system. According to them, the degree and level of devotion is the real scale of superiority not the varna and caste.<sup>29</sup> Critising the pilgrimage, Dayaldas say that pilgrimage for rich is dharma, for a kshtriya is sword, for woman is modesty, for a king is

polity, for a Brahman is knowledge, for a yogi is yoga and for a man is sant vani<sup>30</sup>.

The sants depicted a deep conviction for humanism and uniformity of utterance and action.<sup>31</sup> They emphasised the acquisition of ethical and moral values and shunning of the vices like greed, avarice, violence, selfishness and indulgence. A devotee was expected to be simple, complacent merciful, full of satisfaction and forgiveness. They believe strictly in Ahimsa, so they are expected to drink filtered water<sup>32</sup>, walk carefully so that no living being is hurt, not to eat during night, to abstain from wine,<sup>33</sup> meat and intoxicants like tobacco, opium,<sup>34</sup> hashish<sup>35</sup> etc. The Ramsnehi are advised to walk on the path of truth, complacence and tolerance. They believe that tolerance is the jewel of saint.

A perusal of the teachings and code of conduct of the Ramshenhis point out that the aim of these sants was to create a world free of vices. They wanted to develop a society based on truth, non- violence, love and equality among the human beings. One of the important contribution of these saints was setting the standards of human behaviour according to the needs of the time. They emphasized the equality of men and identity of man with God. Another important contribution of these saints was that they made an attempt to popularise the spiritual life among the masses. Consequently they freed the spirituality from the clutches of elites of society and made it possible for a common man to practise it without any hindrance. This is one of the several factors responsible for their popularity among the masses. They had opened the doors of spirituality to all without any restrictions of caste, creed and communion with God and use of vernacular language for conveying their message through vani further added attraction to their fold. The saints were social reformers par excellence.

The sants of Bada Ramdwara are still making sincere efforts to carry forward the work started by their predecessors. They are still performing their duty toward the society in each and every field. Satsangs are organised regularly not only in chaumasa (rainy season) but at other times also. Besides bhajan and kirtan various kathas like Ram katha, Ramayan katha, narsi-ji-ro mayro, sunderkand, Bhagawat Puran is organised, which are attended by large number of men and women. The women being in majority. Sant



Ramprasad is a popular katha-vachaka of not only Jodhpur, but other parts of the country also. Ramprasad ji is of the opinion that as women forms the majority of audience in the religious discourse, so he considers that culture of a country is preserved, nurtured and blossoms in the hands of women<sup>36</sup> Ramprasadji is of the view that Ram, Ram katha and Ramayan are still relevant in the present scenario. He further says that the recitation of the name of Ram is still more relevant in the modern times than in any other time, because their is dearth of samskaras and morality in the society. Not only this, the present generation is blindly imitating the culture of west, while the west is inclining towards our culture and religion. The sant also shows his concern over the intellectual drain of our country towards the west.<sup>37</sup>

The Ramsnehis of Bada Ramdwara have opened a school named Sant Shri Ram Prasad Shikshan Sansthan Gurukul Vidyalaya at Tinwari. Besides the normal syllabus, the students are taught yoga, and about the Ramsnehi sect in the school. Education, boarding and lodging for the students is free of cost in the school. Establishment of a Sanskrit Gurukul is one of the cherished dreams of sant Ramprasadji. He considers Sanskrit not a dead language, but a language full of life. He wants to popularise and spread the Sanskrit language in the world.

In the field of social work the Bada Ramdwara organises free medical checkup camps at Bada Ramdwara and different localities of Jodhpur city time to time on various occasions. The sants advocate to save the desi Indian breed of Cows and their slogan is "Save the Cow, Save the nation."<sup>38</sup> The Ramsnehis have a huge following in the Jodhpur city. The large number of Ramdwaras in the city further testifies this fact. To sum up we can conclude that the Sants of Bada Ramdwara are whole heartedly preserving and carrying forward the spiritual and religious heritage of their predecessors.

### References:

1. Dayaldas- Anubhav Vani. Vol. 3. Granth Shri Parchiji ed. by Puroshotam Das Ramsnehi, Jodhpur 2003 pp 18-19.
2. Ibid p. 23
3. Munshi Devi Prasad- Report Marudamshumari Raj Marwar, Jodhpur, 1997 p. 285.
4. Ibid

5. (1) Balak Ram- Jan Prabhav-Parchi ed by Bhagwatdas pp. 17-23.  
(2) Dayal Das op. cit p. 456
6. Utsahram- Shri Ramsnehi-Mat Digidarshan, Khedapa. 1962p. 54
7. Balak Ram op. cit. pp 73-76.
8. Gopikishan Chitara- Ramsnehi Sant Kavi Dayaldas aur unka kavya, Jodhpur 2009 p. 27
9. Pema Ram- Madhyakaleen Rajasthan mein Dharmik aandolan, Ajmer 1977, p. 241
10. Radhika Prasad Tripathi-Ramsnehi Sampraday, Faijabad,1973 p. 79
11. Rising Rajasthan- a fortnightly magazine- special edition, Shri Bada Ramdwara, Sursagar, Jodhpur, 2004 p. 29
12. Ibid p. 28, the Paramhansa Sants are Parasram ji, Sewagram ji, Mohabbatram ji, Sabadramji and Sampatram ji,
13. Personal visit to Bada Ramdwara
14. Munshi Devi Prasad op cit. p 278
15. (1) As told by Sant Narsiji of Bada Ramdwara  
(2) Rising Rajasthan op cit p 8.
16. Munshi Devi Prasad op cit p. 287
17. As told by the Sants of Bada Ramdwara
18. Rising Rajasthan op. cit p 27
19. Radhika Prasad op cit. p 62
20. (1) As told by Sants to me  
(2) Rising Rajasthan op Cit p 28
21. Ibid
22. Ramdas Ki Parchi, S.No. 23907, Oriental research institute, Jodhpur p. 183
23. Ibid p. 159
24. Ibid p. 31
25. Gopi Chitara op. cit. p 208
26. Radhika Prasad Tripathi op cit. p 279
27. Ibid p 242
28. Ramdas Ki Parchi op cit. p 39
29. Dayaldas op cit.
30. Dayaldas Granthavali
31. Ramcharan- Anbhevani p 22, Vol I, Chapter 3, metre No. 11
32. Dayaldas op cit. p. 94
33. Ibid p. 95
34. Ibid p. 96
35. Ibid p. 95
36. Ibid p. 23
37. Ibid p. 22
38. Ibid p. 23

## पूर्वी राजस्थान से प्राप्त शैलचित्र : एक अध्ययन

डॉ. गोविन्दसिंह मीणा

अरावली पर्वतमाला की उत्तर पूर्वी शृंखलाएं पूर्वी राजस्थान में स्थित है। इसके पूर्वी भाग में जलोढ़ मिट्टी का विस्तृत मैदानी क्षेत्र है। इस क्षेत्र में साहिबी, बाणगंगा, कासावती, दोहन, कांतली आदि वर्षाकालीन नदियों का जाल बिछा हुआ है। यहां स्थित ग्रेनाइट चट्टानों की लघु पहाड़ियां, सामान्यतया 400 मी. से 500 मी. तक ऊंची है। इन पहाड़ियों में विभिन्न आकर-प्रकार के मध्यपाषाण कालीन शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं। जिनमें से कुछ शैलाश्रयों में चित्रांकन भी हुआ है।

विराट नगर क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा शैलाश्रयों एवं शैलचित्रों के अन्वेषण के प्रयास विगत एक शताब्दी से भी अधिक समय से किये जाते रहे हैं। एन.आर. बनर्जी सन् 1962 में अपनी रिपोर्ट में इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यद्यपि यहां पर आदि मानव के डेढ़ लाख वर्ष से भी प्राचीन अकरण प्राप्त हुए हैं परन्तु किसी भी गुफा में कोई भी शैलचित्र या कलाकृति उत्कीर्ण नहीं है।<sup>1</sup> फलस्वरूप पुरातत्व विभाग ने इस दिशा में पूर्ण विराम सा लगा दिया।<sup>2</sup> परन्तु राजस्थान के पुरातत्ववेत्ताओं ने हार नहीं मानी और इस क्षेत्र का सघन सर्वेक्षण किया, जिसमें उनको आचार सफलता मिली। परिणामस्वरूप अब तक 250 से अधिक शैलाश्रयों एवं कंदराओं में लगभग सैंकड़ों शैलचित्रों की खोज विराटनगर के आसपास की जा चुकी है।<sup>3</sup> ये शैलचित्र राजस्थान में कोटा जिले में अलानिया, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर एवं मध्य प्रदेश में सिंगनपुर, पंचमढ़ी एवं भीमबेटका, बिहार में चन्द्रधरपुर एवं तमिलनाडू में कुणला एवं अंगीला से प्राप्त शैलचित्रों से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।<sup>4</sup>

सामान्य ढंग से ये चित्र मानव की प्रारम्भिक साधारण स्थिति को प्रकट करते हैं। इन शैलचित्रों से मध्यपाषाण कालीन मानव की पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों एवं समकालीन भयावह वन्य पशुओं तथा प्रस्तर उपकरणों की जानकारी मिलती है। ज्यामितीय एवं दिशा सूचक चित्रों से तत्कालीन मानव की बुद्धि का परिचय भी मिलता है। ये शैलचित्र आदि मानव के जीवन तथा सोच का प्रतिबिम्ब है। विराट नगर से प्राप्त अब तक के शैलचित्रों में मुख्य रूप से हाथी, भालू, चीता, हरिण, शतुरमुर्ग, जंगली सांड एवं ज्यामितीय अलंकरण आदि।

ये शैलचित्र गतिमान प्रतीत होते हैं। एक चित्र में एक मनुष्य को एक हाथ में भाला व उल्टे हाथ में ढाल लिये चित्रित किया गया है। भीमसेन की पहाड़ी में पश्चिम की तरफ स्थित एक शैलाश्रय के मत्स्य चित्र में ज्यामितीय अलंकरण बने हुए हैं। यह

चित्र मध्य प्रदेश के भीमबेटका के चित्रों से समानता रखता है। मध्य प्रदेश के सिंगनापुर की भांति यहां भी पशुओं के अनेक चित्र मिले हैं। इन शैलचित्रों में मानव एवं पशु आकृतियों को दौड़ते, उछलते, शिकार करते एवं शिकार से बचते हुए सजीवता से अंकित किया गया है। यहां से प्राप्त शैलचित्रों में त्रिभुज, आयत, स्वास्तिक आदि प्रतीकों के चिह्न भी मिले हैं, जो प्राकृतिक शक्ति या जादू-टोना के विश्वास को व्यक्त करते हैं।

विराटनगर से 15 किमी उत्तर में जयसिंहपुरा<sup>5</sup> से प्राप्त चित्रयुक्त दो शैलाश्रय तथा विराटनगर से 20 किमी उत्तर पश्चिम में भैसवाल<sup>6</sup> से प्राप्त शैलाश्रय चित्र अस्पष्ट है। साहिबी नदी के पश्चिम दिशा से आने वाली साहयिका सोता नदी के किनारे आग्नेय चट्टानों में चित्रित शैलाश्रय हैं।<sup>7</sup> विराटनगर क्षेत्र में स्थित बनडी, ब्रह्मकुण्ड एवं जीणागोर की पहाड़ियों में वृषभ, हरिण तथा वनस्पति का चित्रण है।<sup>8</sup> वृषभ का चित्रण क्षेत्रीय विशिष्टता से समता रखता हुआ लाल रंग से आपूरित है। मानवाकृति एवं हरिण का चित्रण रेखीय एवं लघु आकार का है। सोता नदी के दायें किनारे पर अवस्थित सरूण्ड ग्राम की पहाड़ी के पूर्वी भाग के शैलाश्रय में लाल रंग की वर्गाकार संरचनाएं चित्रित हैं।<sup>9</sup> सरूण्डा से 7 किमी पश्चिम में बनजारा का खेड़ा<sup>10</sup> से भी चित्रित शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं। अलवर जिले में एक दर्जन से भी अधिक पुरास्थलों से शैलचित्र कला के प्रमाण मिले हैं। काला पहाड़<sup>11</sup> नामक पहाड़ी अलवर जिले की बानसूर तहसील में हरसौरा ग्राम के दक्षिण में उत्तर की ओर स्थित है। ग्रेनाइट चट्टानों का यह पहाड़ समुद्र तल से लगभग 500 मीटर ऊंचा है। यहां की खोज से शैलचित्रों की प्राप्ति हुई है। काला पहाड़ स्थित शैलाश्रयों 70 डिग्री के कोण पर दक्षिण पश्चिम की ओर झुका हुआ है। इनमें से एक शैलाश्रय में चित्र बने हुए हैं यह शैलाश्रय लगभग 8 गुणा 5 मी के आकार की है तथा इसकी दीवार पर लाल रंग से तीन मानव चित्र अंकित है। शैलाश्रय में अंकित तीनों मानवाकृतियों के अंकन की शैली भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन इनके चित्रण में एक समरूपता भी है। इन तीनों मानवाकृतियों में से एक शैलाश्रय के दाहिनी ओर अन्य दो एक साथ शैलाश्रय के बायीं ओर मध्य में अंकित है। इस शैलाश्रय में लगभग 2 मीटर का पुरातात्विक जमाव भी है।<sup>12</sup> इस मलबे में लघुपाषाणीय औजारों के अवशेष मिले हैं। क्वार्टजाइट प्रस्तर से निर्मित इन ब्लैडों पर पुनराघात अनुपलब्ध है। इनके साथ में पके हुए हस्त निर्मित मृणपात्रों के टुकड़े भी मिले हैं।<sup>13</sup> मृदभाण्डों के अवशेषों की प्राप्ति इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य इन शैलाश्रयों में निवास करता था।

पुराकलाविदों का मानना है कि मध्यपुरापाषाण कालीन चित्रों में मानवाकृतियों के शरीर को वर्गाकार या आयताकार बनाकर उनके बीच में ज्यामितिक डिजाइन बनायी गयी है। काला पहाड़ के चित्रों से ये दोनों तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। बूढ़ी जीणागौर के मध्य पुरापाषाणीय शैलचित्रों में सूअर के चित्र में भी शरीर के अन्दर ज्यामितिक चित्रण या एक्सरे डिजाइन बनायी गयी है।<sup>14</sup>

साहिबी नदी के दायें किनारे पर चूला ग्राम की पहाड़ी में 6 शैलाश्रयों में विभिन्न प्रकार के लाल रंग के स्वास्तिक प्रतीक चित्रित हैं तथा दो शैलाश्रयों में स्पष्ट चित्रण है।<sup>15</sup> चूला के उत्तर-पश्चिम में चाट आला आला<sup>16</sup> के शैलाश्रयों में भी स्वास्तिक का चित्रण है। खोला एवं टोली में भी चित्रित शैलाश्रय हैं लेकिन अभिप्राय अस्पष्ट है।<sup>17</sup> झिरना स्थित शैलाश्रय में जल रंग वनस्पति, पुष्प एवं मयूर का सुन्दर चित्रण है। पहाड़ी में थोड़ी ऊंचाई पर ही एक लम्बाकार सपाट चट्टान पर आशय निफज (पैडोग्लिक) मिले हैं जो क्षरित हो चुके हैं।<sup>18</sup> इनमें किसी प्रकार की आकृति नहीं मिलती, लेकिन इसके निर्माण की परम्परा भारत एवं विश्व में अति प्राचीन दिखाई देती है। कहीं-कहीं संगीत या संकेत हेतु भी आघात किए जाने से निर्माण की संभावना व्यक्त की गयी है।<sup>19</sup>

काला पहाड़ के पास देवसज के दक्षिणाभिमुख शैलाश्रय में मानवाकृति अपनी पीठ पर टोकरी धारण किए हैं जो खाद्यसंग्राहक अवस्था की अभिव्यक्ति है। हरसौरा शैलाश्रय में मध्य पाषाण युगीन पशु पक्षियों के साथ एक जटिल अल्पना चित्र भी है। इस क्षेत्र में हाथी के अग्रभाग का चित्रण केवल इसी शैलाश्रय में है।<sup>20</sup> भोड़ी एवं समधा II की पहाड़ी में 10 चित्रित शैलाश्रय हैं।<sup>21</sup> भोड़ी के दक्षिण पश्चिमाभिमुख शैलाश्रय में पशुपालक एवं कृषि कर्म में संलग्न मानव सामज की अभिव्यक्ति है। इन पहाड़ियों के कुछ शैलाश्रयों में शेखलिपि तथा बौद्ध प्रतीकों का अंकन भी है।<sup>22</sup> समधा पहाड़ी स्थित शैलाश्रयों में रेखाओं का विशिष्ट संयोजन, हस्तछाप, स्वास्तिक, पशु एवं मानव का चित्रण है।<sup>23</sup> ढूढाणा के शैलाश्रय में पशु की सवारी करते हुए मानव का चित्रण है।<sup>24</sup>

पूर्वी राजस्थान से प्राप्त शैलचित्रों में लाल रंग का प्रयोग सामान्यतः किया गया है। इसका कारण इस क्षेत्र से लौह अयस्क उपलब्धता है। सर्वेक्षणों से चित्रित शैलाश्रयों के निकट इस खनिज के घिसे हुए टुकड़े प्राप्त हुए हैं। चित्रांकित सभी शैलाश्रयों में यह समान लाल रंग का प्रयोग नहीं किया गया है। संभवतः खनिज में स्थित अन्य अवयवों की भिन्नता के परिणामस्वरूप रंग में भिन्नता उपस्थित हुयी है। कुछ शैलाश्रयों में सफेद, काला एवं बैंगनी रंग का भी प्रयोग दिखाई देता है। बुचारा समूह (नीम का थाना) के शैलाश्रयों में हल्के, गहरे लाल एवं बैंगनी परछायी युक्त लाल रंग के साथ-साथ सफेद रंग का चित्रांकन में प्रयोग हुआ है। सफेद रंग के लिए संभवतः इस क्षेत्र में सुलभ चूना पत्थर एवं डीलामाइट खनिज का प्रयोग किया गया है। कुछ स्थलों के शैलाश्रयों में चित्रांकन हेतु कूची का उपयोग नहीं किया गया। समधा क्षेत्र में सीधे हाथ को ही रंग के घोल में डुबोकर शैलाश्रय की भित्ति पद छाप दिया गया है, जिससे हस्तछाप का अंकन हो गया है। इसके अतिरिक्त कठोर नुकीले प्रस्तर उपकरण द्वारा शैलाश्रय की भित्ति पर खुरच-खुरच कर कर्षण पद्धति द्वारा उत्खनित चित्रांकन भी किया गया है। कहीं-कहीं पर ठोक-ठोक कर भी कलाकृतियों का निर्माण किया गया है।

इस प्रकार विविध शैलकला स्थलों को सूक्ष्मता से देखने पर उनमें कुछ अलग-अलग विशिष्टताएं दिखाई देती हैं। संभवतः इसका कारण है कि भिन्न-भिन्न

क्षेत्रों में रहने वाले मानव समूहों को अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण उनके द्वारा किए गए चित्रांकनों में उन विशेषताओं का समावेश हो जाना। लेकिन कुछ भिन्नताओं के साथ ऐसे समान लक्षण भी दिखाई देते हैं जो इन्हें एक सूत्र में बांधे हुए थे।

### सन्दर्भ

1. दि रिसर्चर, 1936-38, अंक 7, पृ. 72-73
2. दीक्षित, के.एन., राजस्थान अर्ली कल्चर वोल्यूम 6, 1964-65, पृ. 26-27
3. शर्मा, मुरारी लाल, रॉक आर्ट ऑफ नॉदर्न राजस्थान, पुराकला, 1997, अंक 8, पृ. 33
4. शर्मा, सी.एल., मत्स्य संघ का पुरातात्विक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 20
5. शर्मा, एम.एल., पूर्वोक्त, 1997ए पृ. 34
6. वही
7. शर्मा, एम.एल., वी. कुमार एवं शर्मा, पी.टी., 1992, न्यू रॉक आर्ट साइट्स डिस्कवर्ड इन साहिबी वैली, राजस्थान, पुराकला 3 (1-2), पृ. 84
8. शर्मा, एम.एल., 1997, पूर्वोक्त, पृ. 25-36
9. वही, पृ. 34
10. वही
11. मीना, एम.एल., काला पहाड़ साहिबी घाटी में नव अन्वेषित चित्रित शैलाश्रय, पुरारतन, अंक 1, 2008, पृ. 72-77
12. कुमार जी. एण्ड शर्मा, एम.एल., 1995, पैट्रोग्लिक साइट्स इन काला पहाड़ एण्ड गणेश हिल, डाक्यूमेन्टेशन एण्ड आबजर्वेशन पुराकला, भाग 6(1-2), पृ. 5-6
13. कुमारी, जी एण्ड शर्मा, एम.एल., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 58
14. मीना, एम.एल., 2002, पूर्वोक्त, पृ. 73
15. शर्मा, एल.एल., उत्तरी राजस्थान के शैलचित्र, पुराकला, 1907, वोल्यूम 8 (1-2), पृ. 34
16. वही
17. वही, पृ. 35
18. कुमार, जी. एवं शर्मा, एम.एल., 1992, पूर्वोक्त, पृ. 156-159
19. वेडनारिक, आर.जी., जी. कुमार एवं त्यागी, जी.एन., 1991, पैट्रोग्लिफस फ्राम सैन्ट्रल इंडिया, पुराकला, 2, पृ. 24-28
20. शर्मा, एम.एल., उत्तरी राजस्थान के शैलचित्र, शोध पत्रिका, अंक 56/1-4, पृ. 10
21. शर्मा, एम.एल. 1 वही, पृ. 34
22. गुप्ता, मोहन लाल, जयपुर जिलावार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 89-90
23. शर्मा, एम.एल., 1997, पूर्वोक्त, पृ. 34
24. वही

## बरड़ के शैलाश्रयों में चित्रित नृत्य चित्रण

डॉ. विजयसिंह मावई एवं डॉ. तेजसिंह मावई

राजस्थान में शैलचित्रों की खोज संबंधी प्रथम सूचना 15 अगस्त, 1978 की राजस्थान पत्रिका में प्रकाशित हुई जिसके अनुसार डॉ. जगतनारायण ने 14 अगस्त 1978 को अलनियां में प्रागैतिहासिक शैलचित्रों को खोजा था। अलनियां की खोज के समाचार के कुछ समय पश्चात् ही डॉ. गिरिराज कुमार ने इसी क्षेत्र में दरा, गागरोन, कन्यादह, कपिलधारा, चामलीनाला, सोरसन आदि में शैलचित्र खोजे जाने सम्बन्धी एक लेख प्रकाशित कराया था।<sup>1</sup> बरड़ राजस्थान के बून्दी जिले के दक्षिणी पहाड़ी व पठारी भाग को कहते हैं। यहां पर मानव इतिहास और इतिहास पूर्व के क्रमबद्ध विकास के महत्वपूर्ण साक्ष्य आज भी जीवन्त हैं। यहां हम रूबरू हो सकते हैं उस आदिम सभ्यता से जो आज से 50 हजार वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में विद्यमान थी। वहीं सभ्यता जो 2800 वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ों-हड़प्पा के समानान्तर चलते-चलते वैदिक संस्कृति में रूपान्तरित हुई और मौर्य, शुंग, कुषाण एवं गुप्त काल खण्डों से गुजरते हुए विश्व प्रसिद्ध बून्दी चित्रशैली और राजपूत स्थापत्य के जरिये मध्ययुगीन भव्यता को प्राप्त हुई। बरड़ के शैलाश्रयों ने शैलचित्रों को संरक्षित रखकर राजस्थान की इस प्राच्य सम्पदा को जीवन्त बनाये रखा है। बरड़ के शैलचित्रों में मानव एवं पशु-पक्षी चित्रण के साथ ही कलात्मक अभिरुचि को भी चित्रित किया गया है। प्रस्तुत शोध आलेख में बरड़ के शैलाश्रयों में चित्रित नृत्य चित्रण को प्रस्तुत किया गया है।

**एकल नृत्य**-बरड़ क्षेत्र में स्थित शैलाश्रय में गोलपुर के शैलाश्रयों में व्यापक रूप से चित्रण हुआ है। यहां पर एक विशाल शैलाश्रय है। इस शैलाश्रय में एक नर्तक का चित्रण पूरक शैली में अंकन विधि से हुआ है। इसने अपने दोनों हाथ नृत्य की मुद्रा में खोल रखे हैं। इसके दोनों पैर गतिमान स्थिति में नृत्य की मुद्रा को स्पष्ट करते हैं। यह चित्र लाल कथई रंग से बनाया गया है। यह चित्र नृत्य की मुद्रा का सजीव अंकन करता है। यह चित्र मध्याश्रमीय काल का है। इस चित्र के अंकन में कला के सभी गुण मौजूद हैं। इस चित्र से उस युग के कलाकारों की मौलिक सृजनशीलता, अभिव्यंजना शक्ति, सौन्दर्यबोध व रचना कौशल का प्रमाण अभिव्यक्त होता है। नृत्य कला के विकास से उस युग के मानव की गतिशीलता और जीवन के प्रति अभिरुचि का ज्ञान प्राप्त होता है। मानव के मनोरंजन के विभिन्न साधनों की जानकारी भी प्राप्त होती है। बोरी (पंचमढ़ी) के शैलाश्रय से प्राप्त शैलचित्र में नर्तक ने इसी की भांति एक पैर उठा रखा है।<sup>2</sup> जम्बूद्वीप (पंचमढ़ी) से सफेद रंग में पूरक शैली में नर्तकी का चित्र मिला है। नर्तकी के दोनों हाथ

आगे की ओर एक सी तरंगायित मुद्रा में अंकित है।<sup>3</sup>

**द्वितीय एकल नृत्य**-ऊंडीमाया के शैलाश्रय से एकल नर्तक का चित्र मिला है। इसने दोनों हाथ ऊपर उठाये हुए हैं और पैर गतिमय स्थिति में चित्रित किये गये हैं। इस चित्र से ऐसा लगता है मानो नर्तक अत्यन्त प्रसन्न हो और भांगड़ा कर रहा हो। यह चित्र नृत्यमय स्थिति में सजीवता का प्रकट करता है। यह चित्र मध्याश्रमीय काल का है। यह चित्र पूरक शैली में एकाकी अंकन विधि से बनाया गया है।

**तृतीय एकल नृत्य**-गोलपुर के विशाल शैलाश्रय से ही एक अलंकृत नर्तक मिला है। यह चित्र पूरक शैली में एकाकी अंकन विधि से बनाया गया है। लाल कथई रंग से चित्रित इस चित्र के सिर को अलंकृत किया गया है। इसके दोनों हाथों में पांच-पांच अंगुलियों बनाई गई हैं। इसके शरीर के निचले अंग में वस्त्र का आभास होता है। नृत्य की मुद्रा में यह गतिमान दिखाई देता है। इसने अपने दोनों हाथ नृत्य के लिए फैला रखे हैं। इससे ऐसा प्रदर्शित होता है मानो सजीव मानव पूर्ण तन्मयता से नृत्य कर रहा हो। धारवा के शैलाश्रय से भी एकल नर्तक मिला है। यह चित्र लाल कथई रंग से पूरक शैली में अंकित है। इसने अपने दोनों हाथ कमर के लगा रखे हैं। इसके सिर की चोटी खड़ी हुई है। यह पुराश्रमीय काल का चित्र है।

**युगल नृत्य**-गोलपुर के मुख्य शैलाश्रय से युगल मानव नृत्य चित्रण मिला है। इन चित्रों का निर्माण लाल गेरू रंग से पूरक शैली में किया गया है। इन चित्रों के हाथ अपेक्षाकृत छोटे हैं। शरीर और गर्दन अंकन स्पष्ट है। इनकी कमर कसी हुई हैं, ऐसा लगता है मानो इन मानव चित्रों ने वस्त्र धारण कर रखे हैं। बायीं तरफ प्रदर्शित मानव का शरीर दायीं तरफ प्रदर्शित मानव के शरीर से भारी है। नृत्यरत दोनों नर्तकों के शरीर के हाव-भाव में भिन्नता प्रदर्शित की गई है। ये चित्र ऐतिहासिक काल के हैं। डोरोथीडीप, बोरी, जम्बूद्वीप, सोनभद्र के शैलाश्रयों से युगल मानव चित्रण मिला है।<sup>4</sup> कन्यादह, नरसिंहगढ़, चतुर्भुजनाथ नाला, छिब्डनाला आदि स्थानों से युग मानव चित्रण मिला है।<sup>5</sup> अलनियां से ताम्राश्रमीय काल का युगल मानव चित्रण मिला है।<sup>6</sup> भारत में अनेक स्थानों से युगल चित्र मिले हैं।<sup>7</sup> दरा के पांडाखूटा नामक शैलाश्रय से भी युगल मानव चित्र मिले हैं।<sup>8</sup> गरड़दा में युगल मानव चित्रण दो शैलाश्रयों में पूरक शैली में लाल गेरू रंग से अंकित मिला है।

**द्वितीय युगल नृत्य**-बून्दी से 35 किमी दूर बरड़ के गरड़दा नामक पुरास्थल के एक शैलाश्रय से युगल मानव का चित्र लाल गेरू रंग में पूरक शैली में अंकित है दोनों मानव चित्रों के एक-एक हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं तथा एक-एक हाथ परस्पर एक दूसरे की कमर पर लगा रखे हैं। इन चित्रों के पैरों का अंकन परस्पर नहीं है। ये चित्र नृत्य कला की दृष्टि से साधारण है। एक मानव चित्र की लंबाई 6.5 इंच है। खड़े हाथ की लंबाई 2 इंच व पैरों की लंबाई 3 इंच है। दूसरे मानवचित्र की लंबाई 5 इंच हाथ की लंबाई 3 इंच है।

**तृतीय युगल नृत्य**-बरड़ के पलका नामक पुरास्थल के एक शैलाश्रय से अलंकृत युग नारी चित्रण मिला है। दोनों चित्र गतिमय स्थिति में लाल गेरूए रंग से पूरक शैली में अंकित है तथा नृत्यतर मुद्रा में है। दोनों की नृत्य मुद्रायें अलग-अलग ढंग लिये हुए हैं। ये चित्र ताम्राशमीय काल के हैं। नारी चित्रों की चोटियों को अलंकृत किया गया है। दोनों चित्रों के हाथों को भी अलंकृत किया गया है। ये चित्र मानव के नारी सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के अनुपम उदाहरण हैं। पंचमढी के इमलीखोह, मान्टेरोजा, जम्बूद्वीप से श्वेत एवं लाल रंग में महिला युग चित्रण किया गया है।<sup>9</sup> मध्यप्रदेश के छिबड़नाला, इन्द्रगढ़ आदि स्थलों से अलंकृत नारी युग चित्र मिले हैं।<sup>10</sup>

**सामूहिक नृत्य**-गरड़दा शैलचित्रों की दृष्टि से बरड़ (बूंदी) का सबसे समृद्ध पुरास्थल है। यहां एक विशाल शैलाश्रय है। इस शैलाश्रय में सामूहिक लोक नृत्य का अंकन पूरक शैली में किया गया है। यह चित्र लाल गेरूए रंग से किया गया है। एक आकृति को छोड़कर सभी आकृतियों की लम्बाई, ऊंचाई व आकार समान है। इन पांचों चित्रों को एक दूसरे के हाथ पकड़े हुए चित्रित किया गया है। इनके सिर और पैर भी स्पष्ट हैं। ये चित्र गतिशील भाव में चित्रित किए गए हैं। सामूहिक नृत्य से परिवार, समाज, संस्कृति और संगीत की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यह चित्र मध्याशमीय काल का है। राजस्थान में पुरुषों के सामूहिक नृत्य आज भी प्रचलित है।

**द्वितीय सामूहिक नृत्य**-बरड़ (बूंदी) नलदह से भी सामूहिक नृत्य का चित्रण मिला है। यहां पर भी पांच चित्र सामूहिक नृत्य करते हुए चित्रित किए गए हैं। प्रथम और पंचम चित्र कुछ बड़े हैं जबकि मध्य के तीनों चित्र समान हैं। यह चित्र लाल कथई रंग में पूरक शैली में चित्रित किये गये हैं। इसके शिरों पर केश राशि अलंकृत की गई है। ये चित्र महिलाओं के लगते हैं। सभी चित्रों ने रस्सी जैसा कुछ पकड़ रखा है। ये चित्र पुराशमीय काल के हैं। राजस्थान में घूमर सहित आदिवासी जनजातियों के अनेक सामूहिक नृत्य आज भी प्रचलित हैं। सामूहिक नृत्य में दोनों चित्र अपने आप में अद्वितीय हैं। अलनियां से भी सामूहिक लोक नृत्य के चित्रण की जानकारी मिलती है। अलनियां का चित्र, पुराकाल जुलाई 1990 के अंक में पत्रिका के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ है।<sup>11</sup> चीन के हुआनगुआन्सी प्रान्त के शैलाश्रय में सामूहिक रूप से कई मानवाकृतियों नृत्य मुद्रा में अंकित की गई हैं।<sup>12</sup>

**तृतीय सामूहिक नृत्य**-नलदह से ही प्राप्त एक शैलाश्रय से चार मानवाकृतियों समान आकार में व समान मुद्रा में चित्रित है। नृत्यरत प्रदर्शित की गई है। मोड़ी (मध्य प्रदेश) से भी सामूहिक नृत्य के चित्र मिले हैं। बनियावेरी (पंचमढी) की गुफा-छत में मटमले रंग से अंकित अर्द्ध स्पष्ट नर्तन-दृश्य जिसमें पांच नर्तक पंक्तिबद्ध होकर हाथ में हाथ दिये पैरों की पूर्ण गतिशीलता के साथ नृत्य कर रहे हैं। लिखनियां-2 (मिर्जापुर) की गुफा में गेरूए रंग से पूरक शैली में एक नर्तन दृश्य जिसमें पांच नर्तक पंक्तिबद्ध होकर हाथ में हाथ दिये पैरों की पूर्ण गतिशीलता के साथ नृत्य कर रहे हैं। कबरा पहाड़

(रामगढ़) से भी सामूहिक नृत्य के चित्र मिले हैं। शैलचित्रों में नृत्य दृश्यों का अंकन निश्चित रूप से इस बात को प्रमाणित करता है कि प्राचीनतम युग से ही मानव में कला के प्रति चेतना प्रस्फुटित होती रही है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जिस समाज में चित्रकार जीवनयापन करता था, वह सामूहिक रूप से कलाओं की अन्य विधाओं के प्रति रुचि रखने वाले लोगों का समाज था। चित्रकला का सम्बन्ध अनेक प्रकार की आदिम यातुमूलक आस्थाओं तथा पूजा अभिचारपरक कृत्यों से जोड़ा जाता है, वैसे ही संगीत के इन पुरातन रूपों को भी मानव मन की जटिल मनःस्थितियों तथा आदि दैविक प्रकार के अतिविश्वासों से सम्बद्ध किया जाता है।

शैलचित्रों की वास्तविक स्थिति क्या रही होगी, इनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना तो प्रायः असंभव है परन्तु उपलब्ध अवशेषों के आधार पर जो जानकारी प्राप्त होती है, उसे अप्रमाणिक भी नहीं माना जा सकता है। प्रागैतिहासिक शैलचित्रों के विशेषज्ञ बर्किट ने यूरोपीय शैलचित्रों के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि मानव उस समय भी जब क्रीड़ा का अवसर बहुत कम और जीवन संघर्ष अत्यन्त विषम था, नृत्यों के माध्यम से मनोरंजन करता था। विषम से विषम स्थिति में नृत्य की कल्पना इस बात को सिद्ध करती है कि वे उत्सव ऐसे अविचारपरक विश्वासों से युक्त होंगे जिनमें उन स्थितियों पर विजय पाने की भावना निहित रहती होगी तथा ये भी कि नर्तन आनन्द उल्लास की सहज अभिव्यक्ति मात्र न होकर एक असाधारण उद्देश्य एवं महत्व का कार्य भी समझा जाता होगा। श्री वी.एस. वाकणकर की फ्रेंच में प्रकाशित लेख के साथ मुद्रित मोड़ी के दो शैलचित्र इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। विशेषतः पहला चित्र जिसमें एक ओर सात कटे हुए पशु शीशों से सज्जित वेदिका चित्रित है, दूसरी ओर समूह नृत्य का दृश्य अंकित है। गार्डन के इंडियन आर्ट एंड लैटर्स के 10वें अंक में प्रकाशित महादेव पर्वतमाला के शैलचित्रों की नृत्य मुद्राओं के सशक्त अंकन की सराहना की गई है।

बरड़ के नृत्य दृश्यों में विविधता है। यह विविधता इस बात को प्रमाणित करती है कि नृत्यपरक दृश्यों का अंकन स्वाभाविक स्थिति में हुआ है, न कि किसी रूढ़ि या परिपाटी से प्रेरित नहीं है। आस्ट्रेलिया (मेलबॉर्न) से प्रकाशित जर्नल में भी यह चित्र प्रकाशित हुआ है।<sup>13</sup> अलनियां के सामूहिक नृत्य में 7 मानवाकृतियों को एक पंक्ति में बताया गया है। इन्हीं के मध्य दो बच्चों का चित्रण है, जो बड़ी आकृतियों के हाथ थामे हुए हैं। इन्होंने हाथ आपस में एक दूसरे के कंधे पर रखे हुए हैं।<sup>14</sup> मानवाकृतियों के सामूहिक नृत्य के चित्रण का उदाहरण भारत एवं विश्व में अनेक स्थानों से मिलते हैं। लाखाजोआर के शैलचित्र 05 एवं 16 में भी मानव आकृतियों को एक दूसरे की पीठ पर हाथ रखे हुए पंक्तिबद्ध होकर नृत्य की मुद्रा में अंकित किया गया है।<sup>15</sup> राम छज्जा शैलाश्रय में भी 13 मानवाकृतियों को समूह नृत्य करते बताया है।<sup>16</sup> खरवई में युगल नृत्य में मानव आकृतियों का अंकन मिलता है।<sup>17</sup> लाखाजोआर में प्रारंभिक अवस्था का नृत्य दृश्य है।<sup>18</sup> मोड़ी (मध्यप्रदेश) से सामूहिक नृत्य का चित्रण मिला है।<sup>19</sup> भारत के अनेक

स्थानों से सामूहिक नृत्य का चित्रण मिला है। अफ्रीका व यूरोप के देशों में भी मानवाकृतियों को सामूहिक नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। आस्ट्रेलिया के केपयार्क प्रायद्वीप में हष्ट-पुष्ट मानवाकृतियों को खुशी से झूमते हुए चित्रित किया गया है।<sup>20</sup> इस प्रकार बरड़ के शैलचित्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस युग के पाषाणकालीन चित्रों ने चित्रों में अपने कला कौशल, जीवन के बहुविध संघर्षों, प्रसंगों, विषयों, अपने भोगे हुए यथार्थ को, अपने सहज अवलोकन को अपने चित्रण वैशिष्ट्य से रूपायित किया है।

### सन्दर्भ

1. डॉ. गिरिराज कुमार, राजस्थान के शैलचित्र, इतवारी पत्रिका, 15.10.1978, पृ. 7
2. डॉ. जगदीश गुप्त, भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला, पृ. 360
3. वही
4. गार्डन, साइन्स एण्ड कल्चर, वॉल्यूम 5, अंक 6
5. पुराकला, पुराकला 1992 वॉल्यूम-3, संख्या-1,2, पृ. 33-37
6. डॉ. एम.एल. साहू, अलनियॉ के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 69
7. इरविन न्यूमायर, प्रिहिस्टोरिक इण्डियन रॉक पेंटिंग्स, पृ. 94
8. डॉ. तेजसिंह, दरा के शैलचित्रों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 42-43
9. डॉ. जगदीश गुप्त, पूर्वोक्त, पृ. 233
10. पुराकला, पुराकला 1992, वॉल्यूम-4, संख्या-1,2, पृ. 50-51
11. पुराकला 1990, पुराकला जुलाई 1990, मुख्य पृष्ठ; पुराकला, निरदीप-एलीमेन्ट्स ऑफ मॉडर्न आर्ट इन रॉक आर्ट, पुराकला 1991, वॉल्यूम-2, संख्या-2, पृ. 46
12. ली फुसन, रॉक आर्ट एट हुशान गुआंगसी प्रोविन्स, चाईना रॉक आर्ट रिसर्च 1991, वॉल्यूम-8, सं.-1 मेलबॉर्न
13. रॉक आर्ट रिसर्च 1991, वाल्यूम-8, संख्या-2, पृ. 145
14. डॉ. एम.एल. साहू, पूर्वोक्त, पृ. 72-75
15. इरविन न्यूमायर, प्रिहिस्टोरिक इण्डियन रॉक पेंटिंग्स, पृ. 85
16. इरविन न्यूमायर, पूर्वोक्त, पृ. 117
17. इरविन न्यूमायर, पूर्वोक्त, पृ. 116
18. बी.एच. सोनवाने, पूर्वोक्त, पृ. 8
19. धर्मयुग, 19 जून 1959, डॉ. वी.एस. वाकणकर का लेख
20. नेलेनकोल एण्ड बूनो डेविड, क्यूरिअस ड्राइंग एण्ड केपयार्क पेनिलसुला रॉक आर्ट रिसर्च, 1992 वाल्यूम 9, नं. 1, पृ. 17

## मौखरियों के वैदिक धर्म में विश्वास का प्रतीक : बडवा यूप लेख

अदिति शर्मा

कोटा के बडवा ग्राम के थम्बतोरण नामक स्थान से चार मौखरी यूप अभिलेख प्राप्त हुए हैं। यूप से आशय है-यज्ञ स्तम्भ। वैदिक काल से ही यज्ञ अनुष्ठान के पश्चात् यूप का निर्माण करने की परम्परा विद्यमान थी।<sup>1</sup> यह यज्ञ का स्मृति चिन्ह होता था। इस पर यज्ञ का नाम, यजमान, पुरोहित, तिथि, स्थल आदि विवरणों से युक्त लेख उत्कीर्ण होता था। ब्राह्मण साहित्य में यूप के आकार, ऊँचाई, संख्या एवं निर्माण के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है।<sup>2</sup> बडवा से प्राप्त यूप अभिलेख राजस्थान में यज्ञों के अवसर पर यूप निर्माण की परम्परा द्योतक है। प्रथम तीन लेखों में तिथि फाल्गुन शुक्ल पंचमी दी गई है। लेखों की भाषा प्राकृत प्रभावित संस्कृत तथा लिपि ब्राह्मी है।

बडवा के प्रथम तीन यूप लेख मौखरी महासेनापति बल के तीन पुत्रों-बलवर्द्धन, सोमदेव व बलसिंह के हैं, जिनमें से प्रत्येक ने वि.सं. 295 में 'त्रिरात्र यज्ञ' किया तथा यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त 1000 गायें दान में दी और यूप स्तम्भ स्थापित करवाया।<sup>3</sup> मौखरे: बलपुत्रस्य बलवर्द्धनस्य यूप: त्रिरात्र संमितस्य दक्षिण्यं गवां सहस्रं (1000) त्रिरात्र यज्ञ का पूरा नाम 'गर्गात्रिरात्र' है। इस या के पुण्य से यज्ञ कर्ता लोक एवं परलोक की इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकता है। यह यज्ञ तीन यज्ञों का सम्मिश्रण है। जिसमें प्रथम दिन अग्निष्टोम दूसरे दिन उक्थ्य तथा तीसरे दिन अति रात्र सम्पन्न होते हैं।<sup>4</sup> त्रिरात्र यज्ञ में एक हजार गौओं का दान आवश्यक है। इसी भाव से इस यज्ञ को 'सहस्र दक्षिणा त्रिरात्र' कहा गया है।<sup>5</sup> परिणामतः बडवा के उपर्युक्त लेखों में इतने ही दान की व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। अभिलेखों में मौखरी बल को महासेनापति बताया गया है, जो कि एक बड़ी उपाधि है। सम्भवतः वह किसी बड़े महत्वपूर्ण क्षेत्र का सामन्त रहा होगा। अतः उसके अथवा उसके पुत्रों के लिए यज्ञ अनुष्ठान के पश्चात् इतने दान की व्यवस्था करना कठिन नहीं था। ए.एस. अल्तेकर का अनुमान है कि महासेनापति बल शक क्षत्रप विजयदामा के अधीन था तथा उसे कुछ समय के लिए आभीरों की प्रभुसत्ता माननी पड़ी होगी।<sup>6</sup>

बडवा का चौथे यूप लेख प्रथम तीन लेखों से भिन्न पद्यमय है। यद्यपि इसमें काल गणना का अभाव है किन्तु लिपि की दृष्टि से तीसरी शताब्दी का प्रतीत होता है यह चौथा यूप प्रथम तीन यूपों से दो फर्लांग दूर प्राप्त हुआ है। इसके अक्षर कुछ मिट से गये हैं।

“मोखरेहस्तीपुत्रस्य धनुत्रातस्य धीमतः (1) आप्तो (र) य्य (1) म्ण (ः)

क्रतोः यूपः सहस्रो गव दक्षिणा (11)”

इस लेख के अनुसार हस्ती के पुत्र बुद्धिमान धनुत्रात मौखरी ने आप्तोर्याम यज्ञ किया और यज्ञ यूप स्थापित करने पर एक सहस्र गायों की दक्षिणा दी गई।<sup>7</sup> धर्मग्रन्थों में गोदान की बड़ी प्रशंसा की गई है। अनुशासन पर्व<sup>8</sup> के अनुसार गाय यज्ञ का मूलभूत साधन है यज्ञ में गोदान की महत्ता को देखते हुए ही बड़वा यूप के यज्ञकर्ता ने यज्ञ समाप्ति पर हजार गायों की दक्षिणा दी। लेख में धनुत्रात और उसके पिता हस्ती के आगे सामन्त या सेनापति जैसी कोई उपाधि नहीं दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि हस्ती का परिवार महासेनापति बल के समान सैनिक या प्रशासनिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त नहीं कर सका था। किन्तु यज्ञ का अनुष्ठान और तत्पश्चात् एक सहस्र गायों का दान यज्ञकर्ता की आर्थिक सम्पन्नता को दर्शाता है। आप्तोर्याम यज्ञ सप्त सोम संस्था कहे जाने वाले वैदिक यज्ञों में सातवां है। यह यज्ञ पूरे दिन तक किया जाता था और द्वितीय रात्रि तक जारी रहता था। अश्वलायन के अनुसार जिसके मवेशी अधिक समय तक जीवित नहीं रहते और जो अच्छी प्रजाति के (नस्ल) पशु प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें यह यज्ञ करना चाहिए।<sup>9</sup> बड़वा यूपलेखों से स्पष्ट है कि तीसरी शताब्दी में राजस्थान के इस क्षेत्र में कुछ मौखरी परिवार स्थापित हो गये थे। ये मौखरी सैनिक कार्यों में रत थे और महासेनापति बल जैसे कुछेक सैनिक क्षेत्र में बहुत ऊँचे उठ गये थे। कोटा जिले में बड़वा व उसके आस-पास के कुछ गांव उन्हें सैनिक जागीरों के रूप में प्राप्त थे।<sup>10</sup> बड़वा यूप लेख मोखरियों के प्राचीनतम अभिलेख है। भारतीय इतिहास में इनका विशेष महत्व है क्योंकि इनसे मोखरियों के राजस्थान में निवास तथा उनके धार्मिक विश्वास की जानकारी मिलती है। यूप अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में राजस्थान वैदिक यज्ञों के पुनरुत्थान सम्बन्धी आन्दोलन का महत्वपूर्ण केन्द्र था।

### सन्दर्भ

1. ऋग्वेद, 1.162.6
2. शतपथ ब्राह्मण, भाग-3.6.4.18
3. श्रीराम गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृ. 282
4. एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड 27, पृ. 46
5. आर.सी. अग्रवाल, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, अंक-2, 1954, पृ. 122
6. राजस्थान में यूप निर्माण परम्परा, नीरजा भट्ट, शोध पत्रिका, अंक 2, 1993, पृ. 53
7. श्रीराम गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड-1, पृ. 283
8. वही, पृ. 284
9. राजस्थान में यूप निर्माण की परम्परा, नीरजा भट्ट, शोध पत्रिका, पृ. 52
10. वही

## अभिलेखों के आधार पर राजस्थान में सूर्य उपासना (प्राचीन काल से पूर्व मध्यकाल तक)

डॉ. वीरेन्द्रसिंह चौधरी

ऋग्वैदिक काल में सूर्य जगत् के जंगम और स्थावर प्राणियों की आत्मा थे।<sup>1</sup> वे सात घोड़ों के रथ पर आसीन रहते थे।<sup>2</sup> उस युग में वे प्रकृति के श्रेष्ठ पुरुष थे। कालान्तर में उनके पूजन की प्रथा का विकास हुआ, जिसके पीछे विद्वानों ने विदेशी प्रभाव देखा है। कृषाण युग में सूर्य की मूर्तियाँ बननी शुरू हो चुकी थी। ऐसी एक मूर्ति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है जिसकी साज सज्जा एशियायी है। वह कृषाण राजाओं की तरह सलूकों (वेस्टकोट) और घुटने तक जूते पहने तथा कमल पुष्प धारण किए हुए है।

राजस्थान में सूर्य पूजा की पद्धति उत्तरी भारत के अन्य राज्यों की तरह प्रचलन में रही है। इस प्रदेश में शिव एवं विष्णु तथा देवी के मंदिरों की संख्या कम है। प्रारंभिक काल में सूर्य की पूजा वृत्त, कमल और सूर्यमंडल का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तुओं के माध्यम से होता था। आगे चलकर अन्य धर्मों के इष्ट देव की मूर्ति की तरह सूर्य की भी मूर्ति की पूजा की जाने लगी। वराहमिहिर ने सूर्य मूर्ति के लिए कुछ आवश्यक विधान बताये थे जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उनका कथन इस प्रकार है, सूर्य देव की परिधान उत्तरी भारतीयों के परिधान की तरह लेना चाहिए। उनका शरीर पैरों से लगाकर कटि प्रदेश तक आवृत रहना चाहिए। उनके शिर पर मुकुट और दोनों हाथों में कमलनाल शोभित होनी चाहिए। उनके कानों में कर्णफूल तथा गले में लम्बी माला और वियांग (अव्यांग) होना चाहिए तथा उनका मुख मंडल आवृत होना चाहिए।<sup>3</sup>

राजस्थान में भीनमाल सूर्य पूजा का महान् केन्द्र था जहाँ जगत् स्वामी की प्रसिद्ध मूर्ति थी। ओसियां में भी सूर्य मूर्ति है जिसके कमर पर एक दुपट्टा और पैरों में लम्बे बूट हैं।<sup>4</sup> मंडोर में आसनस्थ सूर्य की प्रतिमा का निर्माण 8वीं शती में हुआ था।<sup>5</sup> सीकर के हर्षनाथ मंदिर में तीन सिरों वाले सूर्य की तथा स्थानक मुद्रा में सूर्य की प्रतिमाएं थीं जो अब राजपूताना म्यूजियम अजमेर में हैं।<sup>6</sup> आमेर का वर्तमान सूर्य मंदिर पश्चात्कालीन है पर इसके एक स्तंभ पर वि. 1011 का एक शिलालेख अंकित है जिससे ज्ञात होता है कि यह प्राचीन सूर्य मंदिर के स्थान पर बना है।<sup>7</sup> थांवाला शिलालेख जो सिंहराज चौहान से संबंधित है में रत्नादि सूर्य मंदिर को दान देने की बात का उल्लेख है।<sup>8</sup> ऐसे ही एक रत्नादित्य के पुष्कर में होने की बात का उल्लेख पद्म-पुराण समुच्च नामक ग्रंथ में मिलता है।<sup>9</sup> अजमेर जिले के घेरा नामक स्थान से सूर्य की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जो पूर्ण

परिधान और अलंकारों से सुसज्जित है। यह एक रोचक तथ्य है कि उनके दैवी सेवक डंड और पिंगल उनके दो पैरों के बीच स्थित एक नारी आकृति जैसे ही बूट पहिने हुए हैं जैसे स्वयं देव सूर्य ने पहिन रखे हैं।<sup>10</sup> सूर्य पूजा एक समय में राजस्थान में इतने गहन स्तर पर प्रचलित थी कि 600-1400 ई. के बीच के काल में सिरोही राज्य में एक भी गांव ऐसा नहीं था जिसमें कोई मंदिर या टूटी हुई सूर्य प्रतिमा नहीं है।<sup>11</sup> एक सुन्दर सूर्य प्रतिमा पिंडवाडा में लक्ष्मीनारायण मंदिर में स्थित है। रोहीड़ा में एक सूर्य मंदिर था जो अब राममंदिर कहलाता है। वासा नामक गांव में एक सूर्य चक्र एक चौकोर स्तंभ के ऊपरी भाग पर स्थित है। इसी प्रकार नितोरा, अनादरा और हाथल में सूर्य मंदिर हैं। वरमाण में एक सूर्य मंदिर है जो अतीव कलात्मक एवं सुन्दर है। इसका जीर्णोद्धार चच्च प्रतिहार ने वि. 1099 में करवाया था।<sup>12</sup>

सूर्य की प्रतिमा बेडा पोकरण, किराडू और पाली से भी प्राप्त हुई है।<sup>13</sup> चित्तौड़ का वर्तमान काली मंदिर वस्तुतः सूर्य मंदिर था जिसका निर्माण 8वीं शती में मौर्य राजा मानभंग ने करवाया था। इस मंदिर में भगवान् सूर्य की अनेक प्रतिमाएं हैं। साम्ब पुराण के अनुसार सूर्य श्वेतद्वीप में, विष्णु कुशद्वीप में, और शकद्वीप में भास्कर है।<sup>14</sup> राजस्थान के झालावाड़ के झालरापाटन में एक विशाल एवं कलात्मक उच्चशिखर वाला मंदिर बाजार में अवस्थित है। कर्नल टॉड ने इसे चार भुजा का मंदिर बताया है इस मंदिर में सूर्य, विष्णु की एक संयुक्त प्रतिमा मंडोवर के पीछे की मुख्य रथिका में विराजमान है। इसके अलावा अन्य मूर्तियाँ शिव परिवार की हैं। मंदिर मूल रूप में 10वीं शताब्दी का है। एक शिलालेख वि. 1632 का शिखर भाग में लगा है। यह मंदिर हाड़ौती क्षेत्र का सुन्दरतम मंदिर है जिसका शिखर 98 फीट ऊँचा है।<sup>15</sup>

चित्तौड़ जिले में स्थित सूर्य मंदिर की जो अब कालिका मंदिर के रूप में जाना जाता है, चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। उदयपुर क्षेत्र में गंगाधर का भग्न सूर्य मंदिर भी उल्लेखनीय है जो अब देवी मंदिर के रूप में जाना जाता है। इसमें मंडोवर पर स्थित तीन सूर्य मूर्तियाँ इसे सूर्य मंदिर घोषित करती हैं। रणकपुर में प्राचीन सूर्य मंदिर है जहाँ सूर्य की मूर्ति गर्भगृह में प्रतिष्ठित है। मंदिर के बाहरी भाग में कुछ शिव मूर्तियाँ हैं, जिनका कमर से नीचे का भाग सूर्य का और ऊपर का भाग ब्रह्मादिकों का है। सभी सात घोड़ेवाले रथ पर आसीन हैं। दक्षिण राजस्थान में सूर्य पूजा का अधिक प्रचलन रहा है। चन्द्रावती, आजाड़ी, मूंगथला, मालागांव, सांतपुर, रोहेड़ा, कुसुमा, अनादरा आदि के मंदिर सूर्यदेव की लोकप्रियता के परिचायक हैं। गरूड़ ध्वज की तरह इन मंदिरों के सामने चक्र स्तंभ होता है। इस क्षेत्र में वरमाण का सूर्य मंदिर भी बड़ा प्रसिद्ध है। अब यह ब्राह्मण स्वामी का मंदिर कहलाता है।<sup>16</sup>

जोधपुर में ओसियां में एक मंदिर समूह है जिसमें तीन सूर्य मंदिर हैं। यहाँ वि. सं. 1013 का एक शिलालेख है जो मंदिर के पुनरूद्धार की बात का उल्लेख करता है। भीनमाल का सूर्य मंदिर जो अब खंडहर हो चुका है का निर्माण संभवतः बौद्ध विहार के

अवशेषों पर हूणों ने करवाया था। इस मंदिर में दान सम्बन्धी 15 लेख हैं जिनमें सबसे पुराना लेख 10 वीं शताब्दी का है। इससे इसके प्रतिहारकालीन होने की संभावना प्रकट होती है। टोंक जिले में नगर नामक प्राचीन स्थान है। यहाँ गुहिलों का शासन रहा है। यहां के शासकों में नंदन हुआ जिसने हरि, शंकर, नारायण और सूर्य के मंदिर बनवाये। आमेर के सूर्य मंदिर की चर्चा कर चुके हैं। गलता की पहाड़ी पर एक सूर्य मंदिर आज भी अवस्थित है। भानु सप्तमी पर इस मंदिर में पूजा-अर्चना का कार्य होता है और सूर्य देवता की सवारी निकलती है।<sup>17</sup>

भरतपुर जिले में कामां के पास सतवास में एक सूर्य मंदिर था जो अब ध्वस्त हो गया है। कुछ ऐसे मंदिरों के वृत्त शिलालेखों से प्राप्त होते हैं। जो अब ध्वस्त हो चुके हैं। वि.सं. 809 के धौलपुर शिलालेखों में चौहान चण्ड महासेन द्वारा धवलपुरी में एक सूर्य मंदिर बनवाने का उल्लेख आता है। आज यह मंदिर नहीं रहा है।<sup>18</sup> इसे मुसलमानों ने ध्वस्त कर दिया। भरतपुर राज्य के कामां गांव से मिला हुआ एक चतुर्मुख शिवलिंग राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। उसके ऊपर का एक इंच ऊँचा गोल भाग लिंग का सूचक है। इसे शिव का पांचवा मुख माना जाता है। उसमें नीचे के चारों भागों में कुर्खों के स्थान पर मूर्तियां बनी हैं। पूर्व में सूर्य की आसीन मूर्ति है, जिसके नीचे सात घोड़े और हाथ में उनकी रास लिए सूर्य का सारथी अरुण दिखाई पड़ता है। उत्तर की ओर दाढ़ी वाले ब्रह्मा की चतुर्भुज मूर्ति है। पश्चिम की ओर गरूड़ासीन विष्णु दक्षिण में नंदी सहित शिव की मूर्ति है। कामां में एक दूसरा शिवलिंग मिला है जिसमें शिव के पूर्व के मुख के नीचे लम्बे बूट पहिने सूर्य की द्विभुज मूर्ति है।<sup>19</sup>

मारवाड़ क्षेत्र के शिलालेखों से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में सूर्य पूजा का प्रचलन था। सूर्य देव के मंदिरों और प्रतिमाओं की संख्या से ज्ञात होता है कि यहां सूर्योपासकों की बड़ी संख्या रही होगी। भीनमाल से प्राप्त वि.सं. 1117 के एक लेख में मंगलाचरण में सूर्य की स्तुति की गयी है।<sup>20</sup> यहां के जगत स्वामी मंदिर के निमित्त एक ब्राह्मण ने वि.सं. 1123 में एक स्वर्ण कलश भेंट किया था।<sup>21</sup> परमार शासक पूर्णमल की बहिन लाहिणी ने वसन्तगड़ के सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया था।<sup>22</sup> पोकरण स्थित बालकनाथ मंदिर के कीर्तिस्तंभ लेख का प्रारम्भ 'ऊँ नमः सूर्याय' से होता है।<sup>23</sup> इसी मंदिर में सूर्य प्रतिमा उत्कीर्ण है जिसमें भगवान अंशुमाली के हाथों में कमल और घुटने तक वरमाला लटक रही है। आल्हण और कीर्तिपाल सूर्य की भी उपासना करते थे। कीर्तिपाल के वि.सं. 1218 के शिलालेख में उसके मरीचिमाली की आराधना करने के पश्चात् दान देने की बात कही गयी है।<sup>24</sup> आल्हण के नाडोल से प्राप्त वि.सं. 1218 के ताम्रपत्र के अनुसार उसने श्रावण शुक्ला महाचतुर्दशी के पर्व पर सूर्य की आराधना की थी।<sup>25</sup>

राजस्थान के भूभागों से अनेक शिलालेख मिले हैं जिनमें सूर्योपासना के प्रचलन की बात ज्ञात होती है। इन शिलालेखों में 423 ई. गंगाधर शिलालेख है।<sup>26</sup> 689 ई. का झालरापाटन शिव मंदिर अभिलेख, 713 ई. का मान मौर्य का स्तंभलेख।<sup>27</sup> नलियासर



(सांभर) में हुए उत्खनन में सौर कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं।<sup>28</sup> यहां से प्राप्त एक मृण्मय फलक पर रथारूढ़ सूर्य अंकित है। इसी प्रकार हनुमानगढ़ से प्राप्त कुषाणकालीन पाषाणफलक पर आसनरथ सूर्य की प्रतिमा मिली है।<sup>29</sup> इस प्रतिमा में सूर्य के दोनों हाथों में कमल और पैरों में बूट दिखाये गये हैं। रंग महल नामक के स्थान से एक फलक पर एक युगल मूर्ति मिली है। जिसे सूर्य की युगल मूर्ति माना गया है।<sup>30</sup> सूर्य की आभूषणों से सजी एक प्रतिमा हाड़ौती के काकूनी नामक स्थान से प्राप्त हुई है जिसमें सूर्य को अनुचरों सहित दिखाया गया है।<sup>31</sup> इसी प्रकार की एक प्रतिमा कामा में मिली है जो चतुर्मुखी शिवलिंग के एक ओर संकेत है। इसके चरणों के मध्य जो नारी है वह भूदेव महाश्वेता है।<sup>32</sup>

राजस्थान के विभिन्न भू-भागों में सूर्य की अन्य देवताओं के साथ संयुक्त प्रतिमा मिली है। जैसे मार्तण्ड-भैरव (सूर्य-शिव) सूर्य-नारायण मार्तण्ड पितामह हरिहर मार्तण्ड पितामह, ऐसी प्रतिमाएँ भवाल, रणकपुर, हर्षनाथ, किराडू, ओसियां, कामा चन्द्रभाग, काकूनी, अटरू, नागदा, गंगारार आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। सूर्य पुत्र रेवन्त, यम, अश्वनिद्वय तथा नवग्रहों की प्रतिमाएँ भी उपर्युक्त स्थानों से प्राप्त हुई हैं। ये सभी इन बात की द्योतक हैं कि राजस्थान के तत् भू-भागों के लोगों में सूर्य पूजा गहन रूप से प्रचलित रही है।<sup>33</sup> सूर्य की भिन्न-भिन्न नामों से उपासना परम्परागत रूप से सूर्य पूजा के ज्ञान के साक्ष्य भी हैं। सावित्र, रत्नदेव, तपनेश्वर, सूर्य, रविनारायण आदि नामों से सूर्य देव पूजे जाते थे। काल क्रम के आधार पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अर्बुद मण्डल और मारवाड़ क्षेत्र में ई. 7वीं शती से लेकर 15वीं शती तक अनेक मंदिरों की बात ज्ञात हुई है। चित्तौड़ गढ़ का कालिका माता मंदिर मूल रूप से सूर्य भगवान को समर्पित मंदिर था। इसका गर्भगृह पंचस्थ प्रणाली का है जिसके तीन बहिर्कक्ष, एक मंडप, अंतराल है। यह एक अभूतपूर्व उदाहरण है मंडप के पार्श्वभाग में बहिर्कक्ष निर्मित है। एक तोरण द्वार है। ये सभी छत विहिन हैं। चबूतरे की सज्जा रेखाएं सरल और सुस्पष्ट हैं। इसके छज्जे हैं। शीर्ष भाग पर एक थर है जो कमल दलों से सुसज्जित है। दीवार सादी है तथा रथिकाएं त्रिभुजाकार शीर्ष संयुक्त हैं। गर्भगृह की दीवार पर सूर्य प्रतिमा तथा दिक्पालों की प्रतिमाएँ है या ताकों में विराजमान हैं अर्द्ध स्तंभ सहारे के रूप में निर्मित है। इन पर लघु देवों की मूर्तियाँ अंकित हैं। ये चन्द्र, अश्विनी द्वय आदि गर्भगृह के बहिर्कक्ष, चार भागों स्तंभ जो पूर्णतया अलंकृत है। इन स्तंभों पर दीवारगीर हैं। आवृत मंडप मध्य में एक उच्च चक्रनाभि है। इसकी भीतरी छतें चपटी हैं जो कई भागों में बंटी है जिन पर उभरी हुई आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये आकृतियाँ देवों, देवदूतों आदि की हैं। मंदिर के स्तंभ बेहद अलंकृत हैं। जिन पर स्तंभशीर्ष है। गर्भगृह के दरवाजे की चौखट पर चार अलंकृत रथ हैं। जिनमें सूर्य मुख्य देव हैं। जिसके दोनों ओर अनेक देवताओं की मूर्तियाँ है जिनके मध्य में सूर्य की एक विशाल मूर्ति है। यह मंदिर 8वीं शती का है।<sup>34</sup> राजस्थान में सूर्य मंदिरों का निर्माण समान रूप से वितरित नहीं था। इस प्रदेश के पश्चिमी एवं दक्षिणी

क्षेत्र में यह संप्रदाय सर्वाधिक लोकप्रिय था। इसी तरह दक्षिणी पूर्वी राजस्थान में भी यह एक लोकप्रिय संप्रदाय रहा है।

### संदर्भ

1. ऋग्वेद, 10-125, सूर्य आत्मा जगतस्त स्थू पश्चं।
2. ऋग्वेद, 8-61-16
3. बनर्जी, डॉ. जे.एन., डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू इकोनोग्राफी, पृ. 432-437
4. शर्म, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पृ 235
5. वही
6. जैन, कैलाशचन्द्र, मूर्ति संख्या 370, अजमेर म्यूजियम, पृ. 321
7. वरदा, वर्ष 5, अंक 1, पृ. 3
8. वरदा, वर्ष 5, अंक 1, पृ. 3
9. पद्मपुराण समुच्च-4, भाग-1, पृ. 178-179
10. रिसर्चर, खंड-1, पृ. 25
11. ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 26
12. ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 26
13. शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पृ. 235
14. वही
15. साम्ब पुराण अध्याय XXVI श्लोक 22-25
16. सुजस संचय, पृ. 800 और आगे
17. सुजस संचय, पृ. 823-824, चन्द्रमणि सिंह का लेख
18. मिश्र, डॉ. रतनलाल, इन्सक्रिप्शंस ऑफ राजस्थान, भाग-4, पृ. 236
19. ओझा, निबन्ध संग्रह भाग-3, पृ. 118-119
20. बोम्बे गजेटियर, 1, पृ. 42
21. वही, 1, पृ. 473-474
22. एपिग्राफिया इंडिका, वो. IX, पृ. 14
23. शोध पत्रिका, 22-2, पृ. 14
24. एपिग्राफिया इंडिका, वो. IX, पृ. 68
25. वही, वो. IX, पृ. 64
26. फ्लीट, कार्पस, इन्सक्रिप्शंस, इंडिकेरम, भाग-3, पृ. 252-54
27. आर्कियोलोजीकल सर्वे ऑफ इंडिया, 1934-35, एन्युअल रिपोर्ट, पृ. 56-57
28. आर्कियोलोजीकल रिमेंस एण्ड एक्सकेवेशंस एट सांभर, 1936-37, पृ. 25
29. वही
30. जैन, के.सी. एन्सीयेन्ट सिटीज एण्ड टाउंस ऑफ राजस्थान, पृ. 142
31. राजकीय संग्रहालय, झालावाड़, मूर्ति सं. 337
32. राजपूताना संग्रहालय, अजमेर, मूर्ति सं. 1 (26) 15
33. प्रत्यक्षदर्शन के आधार पर।
34. कृष्णदेव, टेम्पल्स ऑफ नार्थ इंडिया, पृ. 31

## जगत अम्बिका मंदिर 'अप्सराएं'

ललिता

भारतीय शिल्पग्रंथों व पुराणों में अप्सराओं के उद्भव का उल्लेख मिलता है। जिनमें इनको देवांगना, देवकन्या, नृत्यांगना, अप्सरा, स्वर्ण निवासिनी इत्यादि कहा गया है। 'स्कन्दपुराण' (काशी खण्ड) में देवांगना एवं 'अग्निपुराणम्'<sup>2</sup> (अध्याय-3) में अप्सराओं को समुद्रमंथन के समय निकलने वाली बतलाया गया है। 'श्रीविष्णुपुराण' में तो अप्सराओं को अद्भुत कहा गया है—

रूपौदार्यगुणेपेतस्तथा चाप्सरासां गणः।

क्षीरोदधेः समुत्पन्नो मैत्रेय परमाद्भुतः।।96।।<sup>3</sup>

अर्थात् हे मैत्रेय! तत्पश्चात् क्षीर-सागर से रूप और उदारता आदि गुणों से युक्त अति अद्भुत अप्सराएं प्रकट हुईं। (अंश-1, अध्याय-1, श्लोक 96)

'वायु पुराण' (अध्याय-69) में लौकिक अप्सराओं की संख्या 34 बताई गई है—

चतुस्त्रिंशद्वीयस्यस्तेषामप्सरसः शुभा।

अन्तरा दाखवत्या च प्रियमुख्या सुरोत्तमा।।4।।

मिश्रकेशी तथा चाशी वर्णिनी वाऽप्यलम्बुषा।

मारीची पुत्रिका चैव विद्युदूर्णा तिलोत्तमा।।5।।

अद्रिका लक्षणा चैव देवी रम्भा मनोरमा।

सुवरा च सुबाहुश्च पुर्णिता सुप्रतिष्ठिता।।6।।

पुण्डरीका सुगन्धा च सुदन्ता सुरसा तथा।

हेमा भारद्वती चैव सुवृत्ता कमला च या।।7।।

सुभुजा हंसपादा च लौकिक्योऽप्सरसस्तथा।

गन्धर्वप्सरसो होता मौनेयाः परिकीर्तिता।।8।।<sup>4</sup>

इन सबों से छोटी चौंतीस कल्याणी अप्सराएं हैं जिनके नाम हैं—शुभा, अंतरा, दाखवत्या, प्रियमुख्या, सुरोत्तमा, मिश्रकेशी, चाशी, वर्णिनी, अलम्बुषा, मारीची, पुत्रिका, विद्युदूर्णा, तिलोत्तमा, अद्रिका, लक्षणा, देवी, रम्भा, मनोरमा, सुवरा, हेमा, शरद्वती, सुवृत्ता, कमला, सुभुजा और हंसपादा। ये लौकिक अप्सराएं हैं। ये उपर्युक्त गन्धर्व एवं अप्सराएं मुनि की संतान कही गई हैं तथा अप्सराओं को स्वर्गलोक में निवास करने वाली कहा गया है (वायु पुराण, 892)। भारतीय 'शिल्पसंहिता'<sup>5</sup> में भी अनेक देवांगनाओं का

चित्रों सहित उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त देवांगनाओं का वर्णन अनेक 'शिल्पशास्त्रों' व 'साहित्यों' में प्राप्त होता है।

भारतीय मूर्तिकला में सुर-सुन्दरियों के नमूने प्राचीन काल से ही प्राप्त हुए हैं जैसे—शुंग कुषाण काल से ही भारतीय कला में केशस्कन्दिनी स्वरूप की मूर्तियां मिलने लगी थी।<sup>6</sup> किन्तु मध्यकाल में अप्सराओं की सबसे अधिक संख्या में मूर्तियां देवालियों में मिलती है। मध्यकालीन मंदिर जैसे—मोढेरा का सूर्य मंदिर, खजुराहों के लक्ष्मण, पार्श्वनाथ, वामन, जगदम्बी, भुवनेश्वर के मंदिरों, मेनाल, बिजौलिया, झालरापाटन का सूर्य मंदिर इत्यादि में देवकन्याओं के विभिन्न स्वरूपों की मूर्तियां जड़ी हुई हैं। राजस्थान के मध्ययुगीन मंदिरों में जगत अम्बिका (10वीं शती) का निर्माण भी हुआ, जो देवी का प्रसिद्ध मंदिर है। यह दुर्गा व उसके रूपों को समर्पित है। इस मंदिर में अप्सराओं की भी अनेक प्रतिमाएं पाई गईं। इन अप्सराओं के विविध मोहक भावों को देखकर लगता है मानो शिल्पकार ने वास्तविक अप्सरा को सामने बिठाकर इन मूर्तियों का निर्माण किया हो। अम्बिका मंदिर में इन नायिकाओं की लगभग 34 मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। ये स्वर्गनिवासिनी, मंदिर के सभामण्डप व गर्भगृह के बाहरी जंघा भाग व राजसेनक भाग पर अपने सौन्दर्य की अनुपम छटा बिखेर रही हैं। अम्बिका मंदिर में विविध मुद्राओं में प्राप्त अप्सराएं—

**चंवरधारिणी या चामरा**—चामरा की कुल 8 आकृतियां मंदिर की अलग-अलग दिशाओं में जंघा भाग पर उत्कीर्ण हैं जिनमें से 3 पूर्व, 2 दक्षिण व 3 उत्तर में स्थित हैं। सामान्यतः ये दायें हाथ में चंवर लिये हुए व बायां हाथ सीधा पैर तक जाकर एक स्त्री अनुचर ने पकड़ा हुआ है। बाकी 4 मूर्तियों के बायें हाथ में चंवर प्रदर्शित है किन्तु एक मूर्ति मातृलिंग ऐसा प्रतीत होता है मानो नीचे खड़ी प्रसाधिका उसे लेने को लालायित हो रही हो। ये देवांगनाएं आभूषणों से अलंकृत-कंगन, केयूर, नुपूर, कर्णाभूषणों व केशलंकारों से सुशोभित हैं।<sup>7</sup>

**कर्पूरमंजरी**—'नग्न भावे कृतस्नाना नाम्ना कर्पूरमंजरी' (भारतीय शिल्पसंहिता, पृ. 67) कर्पूरमंजरी<sup>8</sup> की यहां एक ही मूर्ति है जो कि द्विभंग मुद्रा में दायां पैर थोड़ा आगे की तरफ निकाल कर खड़ी है, इनका बायां हाथ खीण्डत है व दायां हाथ सीधा पैरों तक नीचे स्थित है। इसके पास बायां ओर खड़ी प्रसाधिका भी वस्त्राभूषणों सहित शोभायमान लग रही है।

**केशगुम्फिनी/केशगुफनी**—त्रिभंग मुद्रा में, जंघा के दक्षिणी दिशा में अपने केशों को सुन्दरता के भाव के साथ बायां ओर लाकर गुंथते हुए नायिका भावाविभोर कर रही है। इनका दायां हाथ कुहनी तक मुड़ा हुआ चोटी का गुंथन करने में लगा हुआ आकर्षित करता है तथा इसके बायां ओर खड़ी सेविका अपना दायां हाथ ऊपर की तरफ करके ऐसे लग रहा है जैसे वो नायिका की सहायता में तत्पर हो। केशगुफनी का केशालंकार इतना सुन्दर है कि अनायास ही नजर चली जाती है।

**मेनावली**—जंघा भाग पर द्विभंग मुद्रा में स्थित मेनावली अपने दाहिने हाथ को

कटी तक मोड़ कर उस पर पक्षी को बिठाये हुए अत्यन्त सुन्दर आभा में मंदस्मित मुस्कान के साथ उत्कीर्ण की गई है एवं इनका बायां हाथ सीधा पैरों तक नीचे है। नायिका के दायीं तरफ एक प्रसाधिका आकृति भी इनकी ही भांति आभूषणों से सजी-धज्जी आनंद विभोर हो रही है।

**दर्पणा**-दर्पणा स्वरूप की कुल दो मूर्तियां जो जंघा व राजसेनक भाग में उकेरी गई हैं। जंघा भाग में दर्पणा बायें हाथ में दर्पण व दाहिना हाथ माथे पर रखकर मंद-मंद मुस्कान के साथ स्वयं को निहार रही है तथा दूसरी दर्पणा आसन लगाकर बैठी हुई, बायें हाथ में दर्पण में खुद को देखती हुई माथे पर लगाए हुए टीके को संभालती हुई प्रतिष्ठापित है।

**सद्यस्नाता**-पश्चिम दिशा में प्रतिष्ठित सद्यस्नाता ऐसे प्रतीत हो रही है मानो अभी-अभी नहा कर आई हो। वो अपने गीले केशों को बायें हाथ से पकड़े हुए है तथा उनके पार्श्व में खड़ा हुआ हंस उसके केशों से टपकने वाले जल को पीता हुआ अभिव्यक्त हुआ है।

**अलस्या**-अम्बिका मंदिर में गर्भगृह की जंघा व राजसेनक भाग में कुल 3 देवांगनाएं आलसी मुद्रा में अपने दोनों हाथों को ऊपर करके थोड़ा सिर के पार्श्व लाकर आलस भाव को दर्शा रही है। इनमें से एक अलस्या के पैरों के पास उपस्थित प्रसाधिका ऐसे लग रही है जैसे नायिका को आलस त्यागने को कह रही हो।<sup>9</sup> राजसेनक में अलस्या दोनों हाथों को पीछे लेकर अंगड़ाई लेने के भाव में बैठी हुई, कर्णाभूषणों, केशालंकार, बाजूबंद आदि सौन्दर्य सहित प्रभावोत्पादक है।

**शुभांगिनी**-शुभाकंटक (गृक) निर्गता (भारतीय शिल्पसंहिता, पृ. 69) उत्तरी भित्ति पर उत्कीर्ण शुभांगिनी कला की दृष्टि से परमाकर्षक है। प्रस्तुत उदाहरण में अप्सरा बायें पैर को पीछे की ओर मोड़ कर दायें हाथ से कांटा निकालने में व्यस्त है एवं दर्द के कारण उसका बायां हाथ सिर के ऊपर जा टिका हो। नायिका के पैरों के पास प्रसाधिका उनकी सहायता में व्याकुल खड़ी हुई अद्भुत प्रतीत होती है।<sup>10</sup>

**मातृभूति**-मंदिर में कुबेर की प्रतिमा के दाहिनी ओर द्विभंग मुद्रा में खड़ी मातृभूति दोनों हाथों में शिशु को ऊपर उठाए हुए वात्सलय भाव में ममतामयी अभिव्यक्त हो रही है। मातृभूति के वस्त्र विन्यास, आभूषण, मुखमण्डल आदि भाव भंगिमाओं में सजीवता उत्पन्न कर रही है। इनके पैरों के पास खड़ी मूर्ति का सिर खण्डित हो चुका है।

**वीणावादिनी**-यहां वीणावादिनी के कुल चार उदाहरण मिले हैं, जिनमें एक बायें हाथ में वीणा लिए हुए एवं दाएं हाथ कोहनी तक ऊपर से विस्मय मुद्रा में प्रदर्शित ऐसा प्रतीत होता है मानो नायिका वीणावादन करते-करते उसकी धुन में मग्न हो गई हो। उनके पैरों के पास खड़ी प्रसाधिका को दायीं तरफ हाथों में शायद कोई वाद्य यंत्र लिए हुए अति सुन्दर रूपेण प्रस्तुत किया गया है। एक उदाहरण में अप्सरा को बायीं तरफ मुख

मण्डल घुमा कर दोनों हाथों से वीणावादन कर रही है, इनके नीचे खड़ी प्रसाधिका वीणा उठाए रखने में सहायतानुरूप लग रही है। चन्द्रमणी सिंह ने इन्हें वीणावादिनी कहा है।<sup>11</sup> इसी भांति एक अन्य उदाहरण में देवांगना को बायें हाथ में वीणा लिए हुए प्रदर्शित किया गया है, किन्तु वीणा नीचे से वर्तमान में खण्डित है तथा वो दाहिने हाथ में कोई वस्तु लेकर कान में डाल रही है, उनकी वीणा के आधार पर वीणावादिनी कहा जा सकता है। एक अन्य मूर्ति दोनों हाथों में वीणा लिए हुए अति मोहक दिखाई देती है।

ऊपर उल्लेखित अप्सराओं की आकृतियों के अतिरिक्त जगत में दो कमलधारिणी नायिकाएं जिनमें एक उदाहरण में दोनों हाथों से फूल को पकड़े हुए मदमोहक अंदाज में खड़ी है एवं दूसरी मूर्ति में देवांगना बायें हाथ में फूल को धारण किये हुए व दाहिने हाथ से फूल की पंखुड़ी को तोड़ने में प्रयासरत दिखाई देती है। एक नायिका पूजा सामग्री ले जाते हुए, पीछे की तरफ मुड़कर देखती हुई, नृत्य करती हुई नायिका त्रिभंग आकार में शृंगार प्रसाधनों सहित सजी-धज्जी नृत्य भाव में लीन प्रतीत होती है। आर.सी. अग्रवाल द्वारा इसे नृत्य करती रमणी कहा गया है।<sup>12</sup> मंदिर में दो मूर्तियों में स्वर्णनिवासिनी को वेणी लिए हुए वानर शावक<sup>13</sup> से उस पर प्रहार करते हुए अभिव्यक्त किया गया है एवं एक रमणी अपने बायें हाथ से गले के आभूषण को इस भांति पकड़े हुए हैं जैसे वो चंचल वानर से उसको बचाने की कोशिश कर रही हो।

इस प्रकार अप्सराओं की उत्पत्ति के प्रमाण पर पुराणों में भी प्रकाश डाला गया है, किन्तु वायुपुराण में जिन 34 अप्सराओं का उल्लेख है, उनमें ये यहां अभी तक एक ही मूर्ति शुभा (शुभांगिनी) अप्सरा की प्राप्त हुई है। इस पर शोध कार्य जारी है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मण्डोवर और जंघा के साथ-साथ मंदिर के वितानों पर भी लीला और विलास मुद्राओं में अप्सराओं को उत्कीर्ण किए जाने का उल्लेख हुआ है। अम्बिका मंदिर में विष्णुधर्मोत्तर पुराणानुसार जंघा भाग पर बड़ी-बड़ी नायिकाओं की मूर्तियां विद्यमान हैं किन्तु जंघा में अलस्या व दर्पणा की खड़ी भव्य मूर्तियों के साथ-साथ यहां राजसेनक भाग में भी अलस्या व दर्पणा आसनरत भी प्राप्त होती हैं जो कि राजस्थान के अन्य मध्यकालीन मंदिरों की मूर्तियों से पृथकता लिए हुए हैं क्योंकि अन्य मंदिरों में दर्पणा व अलस्या की खड़ी हुई मुद्रा में मूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

जगत में अप्सराओं की भाव भंगिमा को देखते हुए अप्सराओं की शरणस्थली कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगा। अग्निपुराण (अध्याय-50, पृ. 106) में कहा गया है कि-

पिंडक्षयः स्युमहारम्या रूपिण्योऽप्सरसः सदा ॥38 ॥

(अर्थात् अप्सराएं पीले नेत्रों वाली तथा सर्वदा अत्यन्त मनोहारी रूप वाली होती हैं।)

जगत मंदिर की अप्सराएं इसी भांति अत्यन्त मनमोहक रूपवाली हैं। इनके

वस्त्रालंकार, आभूषण व केशालंकार इतने अद्भुत व मनोहारी हैं कि इन पर अध्ययन कार्य किया जा सकता है।

### सन्दर्भ

1. स्कन्दपुराण (खण्ड-3), विनय, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004, पृ. 98
2. अग्निपुराण (व्या.), आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2009, पृ. 4
3. श्रीविष्णुपुराण (अनु.), मनिलाल गुप्त, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2009, पृ. 35
4. वायुपुराण (अनु.) राम प्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, 2005, पृ. 555
5. पद्मश्री प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा, भारतीय शिल्पसंहिता, सोमैया पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1975, पृ. 64-78
6. करुणा गिरि, मोढेरा का सूर्य मंदिर, किताब महल, इलाहाबाद, 1998, पृ. 182
7. जगत अम्बिका मंदिर में चंवरधारिणी मूर्तियों के सर्वेक्षण के आधार पर।
8. एम.ए. ढाकी, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन टेम्पल, अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, वॉल्यूम 2, पार्ट 2 एवं वॉल्यूम 2, पार्ट 3, दिल्ली, 1998, प्लेट 398
9. रत्नचंद्र अग्रवाल, राजस्थान का खजुराहो : जगत का अम्बिका मंदिर आजकल, नई दिल्ली, अप्रैल 1967, अलसकन्या चित्र के आधार पर
10. जगत अम्बिका मंदिर की शुभागमिनी प्रतिमा के सर्वेक्षण के आधार पर
11. चन्द्रमणी सिंह, प्रफोर्मिंग आर्ट्स ऑफ राजस्थान लोकरंग जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 2000, प्लेट 30
12. पूर्वोक्त, राजस्थान के खजुराहो : जगत का अम्बिका मंदिर, नृत्य करती रमणी के चित्र के आधार पर
13. नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा (800 ईस्वी से 1000 ईस्वी), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2001, पृ. 34

## राजस्थान की मूर्ति कला में समुद्रमंथन- मेवाड़ का शिल्प वैशिष्ट्य

डॉ. शिल्पी गुप्ता

“पुरामृतार्थ दैतेयदानवैः सह देवताः मंथानं मंदरं कृत्वा ममन्थु : क्षीरसागरम्  
मथ्यमाने तदा तस्मिन्कूर्मरूपी जनार्दनः बभार मन्दरं देवो देवानां हितकाम्यया”

(कूर्मपुराण-अध्याय-1, श्लोक-27-28)

अर्थात् प्राचीन काल में अमृत प्राप्ति हेतु दानवों के साथ देवताओं ने मंदराचल को मथानी बनाकर क्षीरसागर का मंथन किया था। तब उस मंथन के समय कूर्म रूपी देवाधि देव जनार्दन ने देवताओं के हित की कामना से मन्दराचल को धारण किया था।<sup>1</sup>

समुद्रमंथन की यह पौराणिक कथा सिर्फ कूर्मपुराण में ही नहीं अपितु अनेक-श्रीनृसिंहपुराण (53.18), अग्निपुराण (49.1), विष्णुधर्मोत्तर पुराण (3.85.58), शिवपुराण (शिव के यक्षेश्वरावतार वर्णन में समुद्रमंथन की कथा-76वां अध्याय, श्लोक-2-3)<sup>2</sup>, मत्स्य पुराण (249.15), भागवतपुराण (1.3.16 के अनुसार समुद्रमंथन के समय विष्णु ने कच्छपावतार लिया)<sup>3</sup>, विष्णु पुराण (1.9.63-112), आदि में भलीभांति वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत (आदिपर्व, 17-19 अध्याय)<sup>4</sup>, तैत्तरीय आरण्यक (1.23.3), शतपथब्राह्मण (7.5, 1.5), जैमिनीय ब्राह्मण (3.272) में भी यह कथा वर्णित है। अतः अति प्राचीनकाल से भारत में समुद्रमंथन व विष्णु के कूर्म अवतार रूप की कथा प्रचलित रही, शिल्पग्रंथ अपराजितपृच्छा<sup>5</sup> में उल्लेख है कि क्षीरसागर में स्थित श्री, धेनु, अमृतादि को पाने के लिए समस्त जीवों ने मंदराचल को मथानी व वासुकि नाग को रस्सी बनाकर समुद्रमंथन शुरू किया तब आधारहीन होने से मंदार सागर में धंसने लगा तो भगवान विष्णु ने कूर्म रूप धारण कर पर्वत को अपने पीठ पर रखा। मंदार के एक ओर समस्त देव तथा दूसरी ओर दानव उपस्थित थे। न सिर्फ साहित्यिक ग्रंथों, अपितु विभिन्न कला-मूर्तिकला, चित्रकला (मेवाड़, जयपुर शैली में भी), काष्ठकला, लोककला आदि में यह कथानक प्रसिद्धि पाता है। डाक टिकटों में भी इस कथा ने भारत ही नहीं बल्कि खमेर, कंबोडिया तक में अपना स्थान प्राप्त किया है। शिल्प में यह कथानक उत्तर भारत में-गुजरात, उत्तरप्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार में, दक्षिण भारत में-हलेबिड, मदुरै, एलोरा, कांची, बादामी, पट्टडकलादि, उड़ीसा तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया तक विस्तार पा लेता है।<sup>6</sup> राजस्थान भी इस दृष्टि से पीछे नहीं रहा वरन् यहाँ तो अनेक क्षेत्रों में इसके शिल्पांकन प्राप्त हैं। शास्त्रों में विष्णु के कूर्मावतार

मूर्ति को दो रूपों में-कूर्म रूप (पशु रूप) तथा नृ-कूर्म (मानव-पशु रूप) मिश्रित रूप में बनाने का निर्देश है, परन्तु वस्तुतः मूर्तिशिल्प के आधार पर इसे 4 प्रकारों में देखा जा सकता है-

1. सामान्य कूर्म (स्वाभाविक पशु) के स्वतंत्र फलक रूप में-आहड़, संग्रहालय (फलक-1), जहाजपुर, धौड़ में कल्पलता पर अंकन कर कूर्म को स्वतंत्र रूप से बनाया गया है। आसोप, मेड़ता में भी कूर्मावतार है। 2. दशावतार फलक के सामूहिक रूप में कूर्मावतार या समुद्रमंथन-नागदा, भुसावर, झालरापाटन, कोटा संग्रहालय, हरफाल बोहरा में प्राप्त। 3. समुद्रमंथन दृश्य के साथ कूर्मावतार-जयपुर, चित्तौड़,सादड़ी, भुसावर, ओसियां। 4. नरकूर्म (पशु मानवीय) विग्रह रूप में- जो राजस्थान में मात्र झालरापाटन के सूर्य मंदिर के सभा मण्डप की चौकोर छत में दशावतारों में से 8 अवतार में-एक नीचे कच्छप व ऊपर मानव रूप में है।<sup>8</sup> नरकूर्म रूप दक्षिण भारत में ही ज्यादा बनते रहे हैं।

अतः यह प्रशंसनीय है कि राजस्थान के मूर्तिकारों ने शिल्प में चारों प्रकार के कूर्मावतार को इंगित किया है, यह भी राजस्थानी शिल्प की एक विशेषता है। हालांकि कूर्मावतार का रूपांकन समुद्रमंथन की पौराणिक कथा के तक्षण के साथ अधिक रोचक हो उठता है। राजस्थान में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण कई स्थानों में मिलते हैं। मेवाड़ के मंदिरों के शिल्प की तो यह एक प्रमुख विशिष्टता ही नजर आती है, जो इस प्रकार से दृष्टिगत होती है-

मेवाड़-1. चित्तौड़-कालिका माता मंदिर (8-9वीं शताब्दी) : राजस्थान में समुद्रमंथन की पौराणिक कथा के आधार पर सर्वाधिक प्राचीन अंकन चित्तौड़ में हुआ है। चित्तौड़ दुर्ग के कालिका माता (मूलतः सूर्यमंदिर) के सभामण्डप बाह्य भित्ति पर बने एक ताख में एक वृहद् कच्छप के ऊपर रखे घड़े में अठपहलू मथानी है, जिससे दोनों ओर खड़े हुए देव व असुर, वासुकि सर्प को पकड़े समुद्रमंथन कर रहे हैं। मथानी के ऊपर लक्ष्मी देवी विराजमान हैं। मेवाड़ की 8वीं शती में निर्मित यह समुद्रमंथन विषयक फलक अपने युग की सुंदर कृति है। (फलक-2) राजस्थान के अनेक विष्णु अवतार फलकों पर कच्छपावतार की अभिव्यक्ति समुद्रमंथन संदर्भ द्वारा होती है। यहाँ लघु स्थान में केवल कच्छप के ऊपर रखे घट में मथानी रखकर समुद्रमंथन भाव दर्शाया जाता है। जिसका स्वतंत्र प्रदर्शन चित्तौड़ के फलक में है।<sup>9</sup>

2. सादड़ी-जागेश्वर मंदिर (10वीं शताब्दी) : की छत पर अनेक सुंदर दृश्य-रहट, यशोदा-कृष्णफलक, सूर्यसंज्ञादि उक्रे गए हैं। इन्हीं में से एक गरूड़ाबाहु विष्णु फलक के बाईर पर लघुखण्ड में कूर्म पर रखा घट स्तंभ विष्णु पकड़े हैं, स्तंभ दण्ड के दायी ओर 5 देव, नागपुच्छ को पकड़े मंथनरत हैं, बायीं ओर एक ही दानवाकृति है।<sup>10</sup>

3. नागदा-सास मंदिर (10वीं शताब्दी) : प्रवेश द्वार की छत पर आयताकार फलक में समुद्रमंथन को बनाया गया है जिसमें मथानी के दायीं ओर 5 देव पंक्तिबद्ध हैं

और बायीं ओर दानव हैं, सर्प मंथन किए जाने की पीड़ा से अपना मुख फाड़े फुंफकार मार रहा है, जिससे दानवपक्ष को परेशानी ही उठानी पड़ती है। देवपक्ष के नेता यहाँ विष्णु हैं। समुद्रमंथन से निकले गज, अश्व, लक्ष्मी, रत्न, वृक्षादि को भी यहाँ दिखाया गया है।<sup>11</sup>

4. जगत-अंबिका मंदिर (10वीं शताब्दी) : मंदिर के सामने बने प्रवेशमण्डप की छत में समुद्रमंथन फलक उल्लेखनीय है, यहाँ चतुर्बाहु, विष्णु देवसमूह के नेता हैं जिनके पीछे 11 देवता हैं। जिनमें 6 खड़े तथा 6 बैठे हैं।<sup>12</sup> यह खेद का विषय है कि यह फलक अब नष्ट प्रायः हैं।

5. मेनाल-महानालेश्वर मंदिर (11वीं शताब्दी) : के सभामण्डप नरथर के एक बड़े अर्धचित्र फलक पर यह पौराणिक कथा शिल्प उकीर्ण है जिसमें घट, मथानी, नाग, देव-शिव, ब्रह्मा, विष्णु, इंद्रादि देव तथा दूसरी तरफ मात्र 1 असुर है। असुर के दायीं ओर घट लिए सुरा देवी, उच्चैश्रवाः घोड़ा, ऐरावत का अंकन कथानुरूप है। यहाँ देवता चतुर्भुज व अपने-अपने आयुधों सहित हैं। मध्य में द्विहस्त पुरुष भी हैं। यहाँ देवसमूह में शिव, प्रथम होकर नेतृत्व कर रहे हैं।<sup>13</sup> (फलक-3).

6. अर्थूणा-मण्डलेश्वर मंदिर (बांसावाड़ा-1080ई.) : के सभामण्डप के करोटक के रूपकण्ठ पर समुद्रमंथन अभिप्राय एक लघु चौकोर फलक में है जो आज बहुत अस्पष्ट स्थिति में है, मध्य में घट व मथानी है जिससे देव-दानव मंथनरत हैं।<sup>14</sup>

अन्य-7. देलवाड़ा-विमलवसहि मंदिर-1031ई. (सिरोही) : मंदिर के गलियारे की छत पर बने नरसिंहावतार फलक के चारों ओर बाँडर में से एक तरफ सागरमंथन अंकित है, जिसमें देव-दानव समुद्र मथ रहे हैं और उससे निकले वृक्ष, देवी, अश्व, गज आदि भी दायीं ओर प्रदर्शित हैं।<sup>15</sup>

8. ओसियां-विष्णु मंदिर 5, सच्चियायमाता मंदिर परिसर (1050-1100ई.जोधपुर) : यहाँ अधिष्ठान के नरथर के कूर्म के पीठ पर रखे घट से निकले दण्ड से वासुकि नाग नेति के रूप में लिपटा है। रज्जुरूपी नाग के शरीर का अधिकांश भाग विभिन्न देवताओं-शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इंद्र, गणेशादि द्वारा दो हाथों से खींचा जा रहा है। दूसरी ओर नाग का केवल मुखभाग एक असुर के दोनों हाथ में दिखाया गया है। देवता चतुर्भुज एवं अपने निर्देशित आयुधों सहित है जबकि उनके नीचे के हाथ रज्जु रूपी नाग को पकड़कर शक्ति लगाने में लीन हैं। जिसे गतिमान रूप से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है जबकि दूसरी ओर मात्र एक असुर नागमुख को दबाकर देवताओं की असीमित शक्ति को असफल करने का प्रयास कर रहा है।<sup>16</sup>

9. किराडू-सोमेश्वर मंदिर (11वीं-12वीं शताब्दी) बाड़मेर : सभामण्डप के दक्षिणी बाहरी भाग के नरथर में समुद्रमंथन उत्कीर्णत है जिसमें देवपंक्ति में 6 देवों में प्रथम पूज्य देव गणेश अगुवानी कर रहे हैं जबकि दूसरी तरफ एक ही दानव है। यहाँ मंदार पर्वत को पर्वत रूप में दर्शाया गया है।<sup>17</sup>

10. राजसमंद झील की पाल-(17वीं शताब्दी) : उदयपुर के समीप बने इस झील के पाल के तीसरे परिधि के भाग में अमृत मंथन है जिसमें पर्वत की मथनी, नाग की रस्सी के साथ देवता-दानवों के मूर्त्यांकन में पौराणिक कथानक के भावों का सफल अंकन हुआ है, यहाँ समुद्र की लहरों के तक्षण में कलाकार ने बड़ी ओजस्विता दी है। पानी की लहरों को एक के बाद दूसरी ऊपर आती, आगे बढ़ती, इस तरह बनाया गया है कि पाषाण में लहरों की वास्तविकता की प्रतीति होने लगती है<sup>18</sup>, मानो समुद्र ही यहाँ उपस्थित है।

11. भरतपुर संग्रहालय में संग्रहित दशावतार फलक (भुसावर) : में भी द्वितीय अवतार के रूप में एक लघु स्थूलकाय कच्छप पर रखे दण्ड को 1 दानव और 1 देवाकृति द्वारा मथते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस आकर्षक वृहद् दशावतार खण्ड में भी विष्णु के कूर्मावतार व समुद्रमंथन भाग को यथासंभव दर्शाने का मूर्तिकार ने अच्छा प्रयास किया है।<sup>19</sup> हालांकि आज मानवाकृतियों के मुख अर्द्ध खंडित हो गए हैं परन्तु कच्छप, दण्ड, सर्पनेति सुस्पष्ट है। (फलक-5). भरतपुर क्षेत्र में ही हरफाल बोहरा, शिवमंदिर में अवतारफलक पर कच्छपावतार में नाग ने कूर्म को चारों ओर से घेर लिया है तथा मेरु पर्वत कूर्म पीठ पर है, पास में देव-दानव नाग के दोनों सिरे पकड़े खड़े हैं।<sup>20</sup>

12. जयपुर-बिरला मंदिर (1988ई.)-आधुनिक समय में श्वेत संगमरमर से निर्मित बिरला मंदिर जयपुर का एक आकर्षण है। इस मंदिर गर्भगृह के पीछे प्रदक्षिणा पथ के दीवारों पर बने अर्धचित्रों में महाभारत संबंधी दृश्य है। इन्हीं में से एक समुद्रमंथन भी है जिसमें समुद्र की लहरों के मध्य विशाल कूर्म पर मंदार है, वासुकि नाग की रस्सी को पकड़े देव-दानव समुद्र मथ रहे हैं। परन्तु यहाँ देवताओं के साथ दानव भी पंक्तिबद्ध हैं, 6 दानव गतिमान रूप में दर्शाये गए हैं जैसा कि दक्षिण भारतीय समुद्रमंथन दृश्यों में है। राजस्थान ही नहीं अपितु उत्तरभारत के ही अर्द्धचित्रों में देवताओं के साथ-साथ यहाँ दानव भी इतनी संख्या में हैं, अन्यथा सभी जगह दानव एक ही मिलता है। परवर्ती काल के इस शिल्प में कलाकार ने भेदभाव या पक्षपात को समाप्त कर देव और दानव दोनों को ही महत्ता समान रूप से दी है। जो उल्लेखनीय है।<sup>21</sup>

इस तरह राजस्थान में समुद्रमंथन अभिप्राय अधिकतर मूर्तिशिल्प में मेवाड़ में प्राप्त है। मेवाड़ के ही चित्तौड़ से सर्वप्रथम इसका उत्कीर्णन 8वीं शताब्दी से शुरू होता है जो 10-11वीं शताब्दी के शिल्प में हावी होकर अन्यत्र भी मेवाड़ के ही स्थल-मेनाल, जगत, नागदा, सादड़ी, राजसमंद में छा जाता है। वस्तुतः 10-11वीं शताब्दी में ये पूरे राजस्थान में लोकप्रिय शिल्पांकन रहा, देलवाड़ा, अर्थूणा, किराडू ओसियां के मंदिरों में उकेरा गया। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, सूर्य मंदिरों में बिना किसी भेदभाव के बनाया गया अर्थात् सभी धर्म के शिल्प में इसे स्वीकारा गया है। यह कथा-धर्म, क्षेत्र, स्थान, कला के बंधनों से परे है।

प्रायः सभी समुद्र मंथन दृश्य अर्धचित्र फलक (Bas relief) रूप में है तथा मंदिर के भाग (In situ) हैं। मंदिर वितान, नरथर, रूपधारा, तारव में उत्कीर्णित होकर मंदिर के विविध अंगों में स्थापित है, उसमें भी मंदिरों की छतों और नरथर के चौकोर, आयताकार फलक भाग में ही अधिक बनाए गए हैं क्योंकि वहाँ चौकोर, लंबे भाग आसानी से निकाले जा सकते हैं जिससे कि इस कथानक को भलीभांति यथावत् दिखाया जा सके। अतः स्थापत्य के ऐसे भागों में उकेरे गए हैं, जहाँ कथानुसार उनको पूरी जगह मिल सके। आयताकार लंबे या चौकोर पट्ट में इन्हें मेनाल, देलवाड़ा, अर्थूणा, किराडू, सादड़ी, नागदा, जगत, राजसमंद, ओसियां सभी स्थानों में दिखाया गया है। मंदिरों में जहाँ परिधि (Border) जैसे भाग बनते हों, वहाँ पर यह अभिप्राय अलंकरण या सजावट के तौर पर चित्रित किया जाता रहा है। मात्र चित्तौड़ में ही ताख में बना है।

उत्तर भारतीय कला परम्परानुरूप राजस्थान में भी समुद्रमंथन के दौरान दानव हमेशा एक ही प्रदर्शित है। (आधुनिक विरला मंदिर के अलावा) जबकि देवपंक्ति में अनेक देवता है। जो 1,5,6,9 की संख्या में है। दक्षिण भारतीय कला परम्परा यहाँ नहीं है। जहाँ दानव भी पंक्तिबद्ध दिखाए गए हैं। देवसमूह में यहाँ नेता के रूप में गणेश (किराडू), जगत, नागदा (विष्णु), शिव (मेनाल, चित्तौड़) में प्रदर्शित हैं।

राजस्थान में इस कथा के तक्षण के दौरान प्रायः सभी जगह समुद्र का अंकन घट या जलकुंभ रूप में किया गया है तथा मंदार पर्वत की मथानी के तौर पर घट के अंदर दण्ड को प्रतीक बनाया गया है। मात्र बाद के शिल्प में राजसमंद व जयपुर में समुद्र की लहरों को दिखाया गया है और किराडू के मंदिर में मंदार पर्वत को पर्वत रूप में निर्मित किया गया है और प्रायः कूर्म भी हर जगह दिखाए नहीं गए हैं, समुद्रमंथन कथा में विष्णु का रूप स्वतः ही शामिल है अतः उसे कई स्थानों पर अलग से दर्शाया नहीं गया है।

मेनाल, नागदा, चित्तौड़, देलवाड़ा से समुद्रमंथन के समय निकले अश्व, गज, लक्ष्मी, वृक्ष को भी दिखाया गया है। जो कथानुरूप है, इन्हें फलक में शेष जगह के अनुसार मंथन क्रिया के बगल में या ऊपर की तरफ उकेरा गया है।

राजपूत वीरों की धरती राजस्थान में राजपूतों की विभिन्न शाखाओं-प्रतिहार, परमार, गुहिल, सिसोदिया, सोलंकी कला में यह पौराणिक कथा, तक्षण में मौजूद है, परन्तु अद्यावधि चौहान शाखा में अभी भी कलामर्मज्ञों से यह शिल्प अपेक्षित है। राजस्थान के पूर्वी भाग में इस कथाशिल्प के मात्र 2 उदाहरण हैं, परन्तु दक्षिण-पश्चिम भाग में इस कथा शिल्प को विशेष महत्व मिला है। 10-11वीं शताब्दी के मंदिरों में और मेवाड़ क्षेत्र के मंदिरों में तो यह पौराणिक कथा शिल्प वैशिष्ट्य के रूप में परिलक्षित होती है, जहाँ से अभी तक सर्वाधिक 6 उदाहरण प्राप्त होते हैं अतः यह अभिप्रायः मेवाड़ के शिल्प वैशिष्ट्य में शामिल किया जा सकता है। अंततः राजस्थान ही नहीं अपितु यह तो सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय कथा शिल्प है।

**संदर्भ :**

1. कूर्मपुराणम्, शिवजीतसिंह (व्याख्याकार), चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2009, पृ. 3.
2. श्री शिवमहापुराणम्, डॉ. ब्रह्मानंद त्रिपाठी (टीकाकार), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009, द्वितीय भाग, पृ. 928.
3. श्रीमद्भागवत पुराण, प्रथम खंड, गीताप्रेस गोरखपुर, 1946, पृ. 55.
4. महाभारत (आदिपर्व), पंडित रामनारायणदत्त शास्त्री (अनुवादक), गीताप्रेस गोरखपुर, 1994, पृ. 82-85.
5. पंकजलता श्रीवास्तव, हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, (अपराजितपृच्छा, रूपमंडन तथा देवतामूर्तिप्रकरण के आधार पर), सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1990, पृ. 56.
6. शिल्पी गुप्ता, 'मूर्तिकला में लोकप्रिय पौराणिक कथा-समुद्रमंथन : एक विश्लेषण', कला वैभव, छत्तीसगढ़, से प्रकाशनाधीन.
7. गोपीनाथ राव, एलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, मोतीलाल-बनारसीदास, दिल्ली, 1985, पृ. 127-28.
8. झालरापाटन, सूर्य मंदिर, सभामंडप वितान के स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर।
9. रत्नचंद्र अग्रवाल, राजस्थान की मूर्तिकला में समुद्र मंथन, मरूभारती, पिलानी, भाग 13, अंक 2, पृ. 2-3; नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2001, पृ. 59.
10. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन टेम्पल आर्किटेक्चर, भाग 2(3), प्लेट-346 के स्वयं विश्लेषण के आधार पर।
11. नागदा, सास मंदिर, उदयपुर के स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर।
12. रत्नचंद्र अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 2.
13. शिल्पी गुप्ता, मेनाल एवं बिजोलियां के मन्दिर, नवजीवन पब्लिकेशन, जयपुर, 2011, पृ. 205, 234, फलक-41.
14. पी.के. त्रिवेदी, आर्ट ट्रेडिशन ऑफ दि परमार ऑफ वागड़, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1995, पृ. 117-18, फलक-84.
15. शहदेव कुमार, जैन टेम्पल्स ऑफ राजस्थान, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 43 में देखे चित्रों के स्वयं विश्लेषण के आधार पर।
16. दुर्गानंदन तिवारी, ओसियां के मंदिरों की देवमूर्तियां, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ. 166.
17. www.google.com से देखे किराडू समुद्रमंथन के चित्र के स्वयं विश्लेषण के आधार पर।
18. राजशेखर व्यास, मेवाड़ की कला और स्थापत्य, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 1997, पृ. 254.
19. नीलिमा वशिष्ठ, पूर्वोक्त, फलक -33 के स्वयं विश्लेषण के आधार पर।
20. रत्नचंद्र अग्रवाल, राजस्थान में विष्णु पूजा, राजस्थान भारती, बीकानेर, 1955, भाग 4, अंक 4, पृ. 12.
21. विरला मंदिर, जयपुर के स्वयं सर्वेक्षण के आधार पर।

**मथुरा कला का मत्स्य क्षेत्र में अतिव्यापन****डॉ. कोमलकान्त शर्मा**

प्राचीन मत्स्य जनपद का पूर्वी सीमान्त प्रदेश (भरतपुर क्षेत्र) शूरसेन (मथुरा) क्षेत्र से जुड़ा है अतः यहां प्राप्त मथुरा कला के कई उत्कृष्ट उदाहरण कला अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। मथुरा शैली में शालभंजिकाएं, उद्यान-क्रीड़ा, सलिल क्रीड़ा तथा अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों का सुस्पष्ट अंकन है। धार्मिक विषयों में बौद्ध, शैव, जैन एवं वैष्णव सम्प्रदायों के विभिन्न देवों की मूर्तियां हैं। इन विषयों से जुड़े कई उदाहरण मत्स्य क्षेत्र में नोह, अघापुर, वीरवई, सोगरा, पीरनगर, चौमा, भण्डपुरा, बेरह (सभी भरतपुर जिले में), भाण्डारेज, खेड़ा कल्याणपुर (अलवर) आदि स्थानों से मिले हैं। भरतपुर जिले का नोह नामक स्थल पुरातात्विक दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण स्थलों में से एक है। यहां 'जाखबाबा' नाम से पूजित यक्ष प्रतिमा, मथुरा कला में यक्ष निर्माण के प्रसिद्ध उदाहरण परखम गांव (मथुरा) की यक्ष प्रतिमा<sup>2</sup> से तुलनीय है। परखम गांव के यक्ष व नोह के यक्ष (जाखबाबा) से पता चलता है कि इसकी प्रथम शती में मथुरा कला के शिल्पी मानवाकार की मूर्ति बनाने में पूर्णतः दक्ष हो चुके थे। मथुरा कला केन्द्र का प्रारम्भिक उदाहरणों में से एक इस यक्ष प्रतिमा के गले में चपटा कण्ठ हार है जिसकी गांठ के दानों छोर पीछे कमर तक लटके हैं। अंग्रेजी के 'वी' अक्षर की भांति का एक अन्य लड़ीदार हार भी यक्ष पर शोभित है। हार के ये दोनों प्रकार मथुरा शैली के हैं। तुंदिल शरीर के श्रोणी प्रदेश पर कसी धोती, आभूषण, कर्ण-कुण्डल तथा भुजाओं पर भुजबन्द आदि सभी प्रकार का आभूषण मथुरा टकसाल के ही हैं। मूर्ति का केवल दाहिना हाथ शेष है जो कलाई के पास टूटा हुआ है। अनुमानतः यह अभय मुद्रा में उठा हुआ है।<sup>3</sup> कुषाण कालीन यक्ष भी कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। लगभग एक दर्जन मूर्तियां भरतपुर संग्रहालय में रक्षित हैं। अघापुर, वीरवई, सोगरा पीरनगर (सभी भरतपुर), भाण्डारेज (दौसा) से कुषाण कालीन कुण्डिका यक्ष प्राप्त हुए हैं। कुण्डिका यक्ष अपने दोनों हाथों से अमृत घट (पात्र) को सिर पर धारण किये होते हैं। वीरवई से मिली यक्ष प्रतिमा की बाईं जंघा के पास कमर से नीचे लटकती हुई खड्ग उसके वीर भाव की द्योतक है।<sup>4</sup>

भाण्डारेज से प्राप्त जलपात्र उठाए यक्ष प्रतिमा के तक्षण की तुलना पीतलखोरा के यक्ष से की गई है।<sup>5</sup> स्तूपों के निर्माण की परम्परा तो मौर्य युग से भी प्राचीन है। कालानुरूप इनकी संरचना एवं शैली में यथा बदलाव हमें दिखाई देता है। मत्स्य जनपद में विराटनगर (जयपुर), लालसोट (दौसा), अघापुर (भरतपुर) तथा भाण्डारेज (दौसा)

से स्तूप निर्माण परम्परा के साक्ष्य मिले हैं।<sup>6</sup> इसमें अघापुर व भाण्डारेज के अवशेष कुषाण कालीन मथुरा कला के उदाहरण हैं।

मथुरा शिल्प के आचार्यों ने भरहुत व सांची की परम्परा का अनुसरण कर कई स्तूपों का निर्माण किया किन्तु उनका कोई नमूना सुरक्षित नहीं रहा। मथुरा कला के स्तूपों के वे ही अवयव थे जो पूर्ववर्ती युग के स्तूपों में थे। भाण्डारेज (दौसा) व मथुरा कला के अन्य स्तूपों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि तोरण, वेदिका स्तम्भ भरहुत सांची की अपेक्षा नाप में घटकर छोटे हो गए थे। मथुरा के कुषाण कालीन स्तूपों का अण्ड भाग अपेक्षाकृत लम्बा था। भाण्डारेज में भण्डान माता टीला सम्भवतः स्तूप के अण्डभाग का अवशेष है। भाण्डारेज से स्तूप के दो महत्वपूर्ण साक्ष्य उष्णीष व वेदिका स्तम्भ मिले हैं।<sup>7</sup> भाण्डारेज की वेदिका (उष्णीष) पदमवरवेदिका युक्त है जिसका उल्लेख रायपसेणीय सुत्त में मिलता है।<sup>8</sup> जिसके अनुसार जिस वेदिका पर विभिन्न भागों में कई जगह पर बहुत प्रकार के उत्पल (नीलकमल), पद्म (रक्त कमल), कुमुद तथा अन्य नानाभांति के कमल भले व सुन्दर छत्ते के समान बड़े कमल के फुल्ले बनाए जाते हैं। भाण्डारेज की वेदिका पर जो कि मथुरा से प्राप्त उष्णीष पट्ट<sup>9</sup> से तुलनीय है, पर घट पंक्तियों की शृंखला आरोपित है। प्रत्येक घट पंक्ति पर उल्टी लटकी हुई नुकीली कमल (कुमुद) कली प्रत्यावर्ति रूप से उत्कीर्णित है, प्रत्येक कली पर तिरछी रेखा खींची गई है।

वेदिका के पिछले भाग पर लहरदार कमल लतिका को बनाया गया है। पुष्प के निचले भाग में बाह्यदल पुंज बनाया गया है, जिसकी तीन पत्तियां दिखाई देती हैं। वेदिका के दूसरे पृष्ठ पर गज व मृग को गतिशील दिखाया है। इस प्रकार के पद्मवर अलंकरण के साथ पशुओं का अंकन मथुरा कला में निर्मित स्तूपों के अन्य स्थानों से प्राप्त साक्ष्यों में भी मिलते हैं। स्तूप स्तम्भ के साक्ष्य भी भाण्डारेज से प्राप्त हुए हैं। यह स्तम्भ लाल बलुआ प्रस्तर पर निर्मित है। स्तम्भ पर एक यक्ष की मूर्ति है, जिसके सिर पर विशेष सिरोवस्त्र के साथ एक केश लट बाहर निकलती हुई दिखाई है। इस विशेष प्रकार की केश रचना को अश्वघोष ने 'शुक्लांशुकाटलक' केशपाश कहा है और चतुर्भाषी में इसे ही 'कोकिला केशपास' कहा गया है क्योंकि काली कोयल की भांति एक लट सफेद रेशमी दुपट्टे के ऊपर इस प्रकार केशविन्यास में दिखाई देती थी। इसी आधार पर इस यक्ष को कोकिला केशपास यक्ष की संज्ञा दी, इस प्रकार की यक्ष प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में रखी है। शांघोल कला में इस प्रकार के यक्ष को दर्पणधारी यक्षी के साथ बनाया है। भाण्डारेज के यक्ष के आभूषण पूर्णतः मथुरा शैली के हैं, अंग्रेजी के 'वी' अक्षर के आकार का कण्ठहार बनाया गया है।

वेदिका स्तम्भ के पृष्ठ भाग में एक वृत्त में उद्यान-क्रीड़ा का अंकन है, जिसे श्री हरफूलसिंह ने 'उद्यालक जातक' से जोड़ने का प्रयास किया है। मथुरा की जैन कला के साक्ष्य मत्स्य क्षेत्र में प्रकाश में नहीं आए हैं, जबकि बाद की जैन प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं। इन मूर्तियों की कायोत्सर्ग तथा पद्मासन मुद्रा जिसके प्रारम्भिक साख्य मथुरा शैली में ही

उपलब्ध हैं, के रूप भरतपुर क्षेत्र से प्राप्त हुई है। मथुरा कला में श्रीवत्सचिह्न तथा लांक्षनों का अभाव है, जो कि सातवीं शताब्दी के बाद नियमित मिलने लगते हैं अतः मथुरा शैली में तीर्थंकर प्रतिमाओं को चरण चौकी पर लिखे लेख से पहचाना जा सकता है।

मथुरा कला की ब्राह्मण धर्म संबंधी देवी देवताओं के उदाहरण अध्ययन क्षेत्र में प्राप्त हैं। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार मथुरा की कला सामग्री का अध्ययन किये बिना ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देव मूर्तियों का अध्ययन पूरा नहीं कहा सकता है।<sup>10</sup> इस प्रकार मथुरा ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों की विविधता के लिये भी जाना जाता है। मत्स्य देश में अधिकतर उदाहरण शैव सम्प्रदाय के प्राप्त हुए हैं। चौमा-भण्डपुरा, गामडी, अघापुर, भाण्डारेज से कुषाणकालीन मथुरा कला के शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इनमें अघापुर, चौमा-भण्डपुरा के शिवलिंग विशिष्ट हैं। नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी कुषाण कालीन मुखलिंग की विशेषता बताते हुए लिखते हैं कि ये साधारणतः कम मोटे पर अधिक ऊंचे होते हैं। ऊपरी सिरे पर बहुधा मानव शिशन के अग्रभाग का प्राकृतिक आकार बना होता है।<sup>11</sup> अघापुर के शिवलिंग के सम्मुख भाग पर मुख दिखाई पड़ता है। ऐसे पाषाण लिंग को मुखलिंग की संज्ञा दी जाती है। इसकी प्राचीनता ई.पू. प्रथम शताब्दी तक आंकी जाती है। इस प्रकार का अब तक का ज्ञात प्राचीनतम शिवलिंग अघापुर का ही है।<sup>12</sup> इस पर शिवमुख के ऊपर उष्णीष दिखाई पड़ती है, बजाय जटाजूट के। भरतपुर सीकरी मार्ग पर चौमा भण्डपुरा से 4 फीट ऊंचा शिवलिंग प्राप्त हुआ है, शिवलिंग अपने ऊपरी भाग में पुष्पमाला में अलंकृत है और पूर्वाभिमुख सम्भाग में लम्बी गर्दन वाला अमृतघट अंकित है। इस लिंग के उभरे हुए नेत्रों वाले कुभनोदर यक्ष अथवा शिवगण का अंकन महत्वपूर्ण है जिसका हाथ अभयमुद्रा में है।<sup>13</sup> गामडी के शिवलिंग में एक ओर तुंदिल यक्ष तथा दूसरी ओर स्थानक अवस्था में उष्णीष शिव का अंकन है। ये दोनों शिवलिंग मथुरा कला के प्राचीन उदाहरणों में शामिल हैं। भाण्डारेज के शिवलिंगों की खोज लेखक ने ही की थी। शिवलिंग की शैली व आकार के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि शिवलिंग कुषाणकालीन मूर्तिकला का ही उदाहरण है जो कि मथुरा के जटेश्वर से प्राप्त शिवलिंग से तुलनीय है। इन पर जटाजूट युक्त मुख व कण्ठहार है।

अघापुर से कुषाणकालीन कार्तिकेय का प्रारम्भिक रूप मिला है। श्री आर.सी. अग्रवाल ने इन्हें राजस्थान के प्राचीनतम स्कन्द फलक की संज्ञा दी है।<sup>14</sup> इन फलकों में एक भरतपुर संग्रहालय व द्वितीय जयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।<sup>15</sup> एक महिषमर्दिन की मूर्ति खेडा कल्याणपुर (अलवर)<sup>16</sup> के देवी मंदिर में लगी है यद्यपि प्रतिमा सिंदूर से लेपित है, लेकिन शैलीगत रूप से कुषाण कालीन प्रभाव दिखाई देता है जिसमें देवी महिष की गर्दन मरोड़ कर पीठ को दबा रही है। मत्स्य क्षेत्र से मथुरा कला के कई कुषाणकालीन बौद्ध फलक प्राप्त हुए हैं। नोह से समपाद स्थानक चार बोधि सत्व मैत्रेण<sup>17</sup> एक फलक पर अंकित है, जिनमें सभी के नाम हस्त में अमृत घट तथा दार्या भुजा अभय मुद्रा में है। गले में कुषाण कालीन कण्ठहार तथा सिर पर मयूर मुकुट



विराजमान है। वाम स्कन्द से लटकता हुआ उत्तीरय हाथों से होता हुआ घुटनों तक दृश्यमान है। नोह से ही एक अन्य बोधी सत्व 1959 में श्री आर.सी. अग्रवाल ने खोजा जो अपना महत्व रखता है। यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित है। कुषाणकालीन जटिल मुकुट 'वी' आकार का कण्ठहार धारण किये प्रतिमा को दक्षिण हस्त अभय मुद्रा में प्रदर्शित किया है। इस प्रकार के उदाहरण कलकत्ता विश्वविद्यालय लीडन (हालैण्ड) के संग्रहालयों में सुरक्षित है।<sup>18</sup> भरतपुर से प्राप्त एक अन्य बोधी सत्व फलक में चैत्याकार अलंकरण में मथुरा कला की विशेषताओं से युक्त बोधीसत्व अंकित है। अघापुर से बोधीसत्व में त्रेय केश मुण्डित बुद्ध शीर्ष तथा नोह से वसुन्धरा की प्रतिमा प्राप्त है। इनमें नोह की वसुन्धरा ढालकर बनाई गई है। इसी प्रकार ढालकर बनाया पुच्छला पशु आकृति 'ईटिका' (3817 सेमी.) 2006 में खुदाई के दौरान प्राप्त हुई। यहां यह इस प्रकार का प्रथम साक्ष्य है।

### सन्दर्भ

1. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, 1995, पृ. 222
2. वही, पृ. 72
3. वही, पृ. 126
4. कोमलकान्त शर्मा, मत्स्य जनपद क्षेत्र की कला एवं पुरातत्व, 2011, पृ. 74
5. आर. सी. अग्रवाल, राजस्थान कॉन्ट्रीव्यूशन टू एन्शयेन्ट इण्डियन स्कल्पचर, रिसर्चर, पृ. 32
6. कोमलकान्त शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 69
7. हरफूलसिंह, न्यूली डिस्कवर्ड बुद्धिस्ट स्तूप रेलिक्स फ्रॉम भाण्डारेज, रिसर्चर, पृ. 41
8. रायपेणीय सूक्त, वैद्य संस्कृत, पृ. 172-74, उद्धृत वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 228
9. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 232
10. वही, पृ. 232
11. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, 1977, पृ. 176
12. वही, पृ. 54
13. राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, सम्पादक जयसिंह नीरज, 2000, पृ. 64
14. आर.सी. अग्रवाल, स्कन्द इन अर्लि राजस्थान स्कल्पचर, रिसर्चर, पृ. 15
15. कोमलकान्त शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 11ए-बी
16. कोमलकान्त शर्मा, पूर्वोक्त, खेड़ा कल्याणपुर (जिला अलवर, राजस्थान) से प्राप्त महत्वपूर्ण मूर्ति शिल्प एवं मंदिर अवशेष, पुरासम्पदा, वॉल्यूम द्वितीय
17. भरतपुर संग्रहालय की दीर्घा में प्रदर्शित
18. रिसर्चर, पृ. 32

## राजस्थान के भरतपुर क्षेत्रीय प्रमुख मृण्मूर्ति शिल्पकला के आधार

डॉ. तनूजा सिंह

भारत के इतिहास के विभिन्न युगों की कलात्मक उपलब्धियाँ हैं जो निरन्तर विकसित क्रम में मिली हैं। वर्षों से विस्तृत कला-परम्परा के गतिमान का बोध इतिहास तथा पुरातत्व के विद्वानों ने भारत के अनेक पुरातन स्थलों की खुदाई कराकर, इस देश की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष प्रकाश में जाये हैं जिसके फलस्वरूप हमें गुफायें तथा चित्रित शैल चित्र तथा पुरातात्विक सामग्री तत्कालीन कला एवं संस्कृति का ज्ञान कराती है। तत्कालीन मृण्मयी मूर्तिशिल्प व बर्तनों से ज्ञात होता है कि सभी स्थान संस्कृति के समृद्ध रूप है। ये स्वरूप चाहे मिट्टी के ही हों पर इन विषयों के उदाहरण में मिट्टी की ईंटों के बने मन्दिर भीतर गांव (कानपुर) का मन्दिर के साथ ही राजस्थान के उत्खनन कार्यो से प्राप्त लगभग तृतीय शताब्दी का मौर्यकालीन निर्माणाधीन आकार बैराटनगर (जिला जयपुर) की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है जिसमें लकड़ी के खम्भे गोलाकार, गर्भगृह, चौकोरनुमा आकार में है।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त प्रथम शताब्दी ई. का नगरी स्थान पर भी मृण्मन्दिर के उदाहरण देखे जा सकते हैं।<sup>2</sup> बीकानेर में रंगमहल, सिन्ध में मीरपुरखास भण्डार के समान हैं जहां गुप्तकालीन ईंटों और फलकों के शैव व वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया गया।<sup>3</sup>

इसके साथ ही मथुरा (उत्तर-प्रदेश) राजस्थान के ही समीपवर्ती स्थान पर सन् 1966 में डॉ. हार्टिल के नेतृत्व में जर्मन पुरातत्ववेत्ताओं के एक दल ने सोंख नामक<sup>4</sup> स्थान की खुदाई कराई जो कि मर्ण कला के बड़े केन्द्र के रूप में पहचाने गये (चित्र सं. 1)। विकास स्वरूप उदाहरणों में विभिन्न समय के मृण्मूर्तिकला के केन्द्रों में बुलन्दी, बाघ, बक्सर, पाटलिपुत्र, टेर, नेवसा, कोल्हापुर, कोण्डापुर और धरनीकोटा, नागार्जुन कोण्डा, काँचीपुरम, झूसी, राजघाट, अहिच्छात्रा, कौशाभी, भीता, चन्दौसी, श्रावस्ती, घोसी, वाँसगांव, नालन्दा, नगरी और बीकानेर आदि विभिन्न प्रदेशों से महत्वपूर्ण सामग्रियाँ प्राप्त हुयी हैं। मौर्यकाल में मृण्मूर्ति के कलात्मक अभिव्यक्ति का समय रहा है जिसमें मृण्मूर्ति शिल्पकार्य भी श्रेष्ठ रहे हैं।<sup>5</sup> मृण्मूर्ति में लौकिक स्थापत्य का सम्बन्ध है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आवास गृह कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के होते थे। गाँव में ईंट गारे से बने हुय प्रायः कच्चे मकान होते थे। सोंख के अर्ध वृत्ताकार भवन के ६ वंसावशेष कुषाणकालीन समानता के द्योतक हैं।

भरतपुर (राजस्थान) क्षेत्र में मौर्यकालीन मृण्मूर्ति शिल्प नोह, अजान एवं अद्यापुर स्थानों में उत्खनन में प्राप्त हुये हैं जिनमें देवी में, मिथुन, सतीसत्ता, बौना, दम्पति आदि कई मूर्तिशिल्प शृंग एवं कुषाणकाल तक के हैं।<sup>6</sup> नोह ग्राम से मौर्यकाल से पूर्व के कुछ अवशेष प्राप्त हुये हैं। इनमें मिट्टी के बर्तन के ढक्कन पर बनी हुई चिड़िया (चित्र सं. 3) व बर्तनों के टुकड़े हैं जो 11 सौ वर्ष ई.पू. के हैं।<sup>7</sup> क्योंकि ये सिलेटी रंग के हैं। आर. सी. अग्रवाल द्वारा मिली जानकारी के आधार पर नोह ग्राम की खुदाई से मौर्यकाल से पहले की मृदभाण्ड कला के महत्वपूर्ण से पहले की मृदभाण्ड कला के महत्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुये हैं जिनमें चित्रित (पेन्टेड ग्रे वेयर) मृदभाण्डों का कार्य ईसा पूर्व आठ सौ, नौ सौ वर्ष पूर्व का निर्धारण संभव हुआ और 14 कार्बन विश्लेषण पद्धति के आधार पर यह भारत के पुरातत्व की महत्वपूर्ण कड़ी माना गया है। शृंगकालीन मृण्मूर्तियों में राजस्थान के नगरी, नगर, रैड आदि स्थान उल्लेखनीय हैं। टोंक जिले के नगर (प्राचीन मालवनगर) की खुदाई से सफेद रंग की खड़िया मिट्टी के बने लघुफलक पर कामदेवरति का अंकन भव्य है और एक अन्य फलक इन्द्र-ऐन्द्री गजारूढ़ हैं।<sup>8</sup>

वसुधारा (चि.सं. 4) चौदह सेन्टीमीटर चौड़ाई वाली प्रतिमा है।<sup>9</sup> उक्त द्विभुजी देवी अपने दोनों हाथों से चरणों के आगे रखे घट में कुछ उंडेल रही हैं। देवी का यह रत्नघट ऐश्वर्य का प्रतीक है। देवी के कानों में कुण्डल, बाहुओं में भुजबंध, कलाइयों में चूड़िया तथा गले में कंठहार सुसज्जित है।<sup>10</sup> वसुधारा के अतिरिक्त 55 से.मी. का स्त्री का शीर्ष उल्लेखनीय है जिसकी आंखों की बनावट मछली के समान होने से इसे “मीनाक्षी” कहा गया है। यह प्रतिमा प्रारम्भिक मौर्यकालीन मानी गयी है। एक अन्य 5 से.मी. के आकार की साँचे में ढाली गयी स्त्री प्रतिमा का ऊपरी भाग है, जिसकी केश सज्जा कलात्मक है। 6 से.मी. के आकार में ढाली गयी आयताकार आकार में स्थानक दम्पति की प्रतिमा (चित्र सं. 5) में पुरुष के बालों को मोतियों के समूह में बांधा गया होने का प्रतीत होता है।

स्त्री के सिर के ऊपर घूंघट दर्शाया गया है, जो मूर्तिकला का एक अनोखा उदाहरण है। स्त्री-पुरुष को अलंकरणयुक्त दर्शाया गया है। इसी प्रकार की स्त्री-पुरुष आकृतियां हस्तिनापुर और अहिच्छत्रा में भी पायी गयी है। उक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त नोह से प्राप्त मूर्तियों में भी स्त्री की आकृति, आकार 12.3 से.मी., प्रतिहारी या कंचुकी आकार 2.5 सेमी, बौना आकार 4.8 से.मी., स्त्री आकार 9 से.मी., स्त्री का ऊपरी धड़ आकार 6.1 सेमी, दुर्गा आकार 18 सेमी, आदि उल्लेखनीय हैं।<sup>11</sup> ये लगभग ग्यारह सौ वर्ष ईसा पूर्व की है। यह भरतपुर से लगभग सात किमी दूर स्थित नोह ग्राम में पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त हुई हैं।<sup>12</sup>

प्रतिमा सौन्दर्य की दृष्टि से देखा जाये तो प्रायः मौर्यकालीन मृण्मूर्तियों का मुख मानव का न होकर पशु-पक्षियों जैसा है और इनकी आँखें उकेरी हुई हैं। प्रायः नग्न शरीर है तो गुप्तांगों के स्थान पर गोल निशान व मूर्तियों पर करधनी जैसी आभूषण बनाये गये

हैं। कानों में मोटी बालियाँ, गले में मोटे कंठ। उनको एक साथ गढ़ने के बजाय अलग से चिपका कर लगाया गया है। इनका प्रयोग सामान्य मूर्तियों की भाँति, बच्चों के खेलने एवं घरों को सजाने के लिए रहा होगा या पूजनीय मूर्तियों के रूप में उपासना एवं पूजनालयों में प्रतिष्ठित किया जाता होगा।<sup>13</sup> मृण्मूर्ति शिल्प को बनाने की तकनीकी में पाटलिपुत्र, मथुरा और अहिच्छत्रा की प्राचीनतम मृण्मूर्तियों के कुछ लक्षण सिन्धुघाटी सभ्यता में है। कुम्भकारों ने हाथ की चुटकी से बनाया है। मौर्य काल में साँचे का विकास नहीं हुआ था। साँचे शृंग काल से मिलते हैं। तीसरी दूसरी शती ई.पू. के लगभग साँचे काम में आने लगे। साँचों को ‘संचक’ या ‘मातृका’ भी कहते हैं क्योंकि साँचों से ही बहुत से ढार या नमूने तैयार किये जाते हैं। ये साँचे कुशल कारीगर ही तैयार करते थे और मिट्टी को भरकर दबाने से इच्छानुसार ढार तैयार कर लिये जाते थे। मृण्मूर्तियाँ चिकनी मिट्टी की बनी हुई हैं और इन्हें शीघ्र टूटने से बचाने के लिए अग्नि में पका लिया गया तथा पॉलिश की गयी है। संक्षेप में यही है कि उपर्युक्त मृण्मूर्तियों भारतीय मूर्ति विज्ञान के क्षेत्र में राजस्थान की अलौकिक प्रतिमा सम्पन्न कला व संस्कृति की साक्षी है।

### संदर्भ

1. देवकृष्ण- टैम्पल्स ऑफ नोर्थ इण्डिया, नई दिल्ली, 1969, पृ.सं. 5
2. ‘सम्मुमा’ अमरसिंह, ‘डवलपमेंट ऑफ द ब्रिक टैम्पल्स इन उत्तरप्रदेश, प्रो. के.डी. वाजपेयी स्मृति अंक, संग्रहालय-पुरातत्व पत्रिका, अंक 45-46, जून, दिसम्बर 1990
3. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, 1987, पृ.सं. 325-334
4. हर्टेल, हर्बर्ट, ‘सम रिजल्ट्स ऑफ एक्सकेवेशन एट सोंख : ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट’, नई दिल्ली, 1976, पृ.सं. 93-99
5. ‘सम्मुमा’, जी.एस. भदौरिया, ‘एक्सीलेंट फेमेनिन ब्यूट इन द टैराकोटाज’, प्रो. के.डी. वाजपेयी स्मृति अंक, संग्रहालय-पुरातत्व पत्रिका, अंक 45-46, जून-दिसम्बर, 1990
6. कलचल कन्टर्स ऑफ इण्डिया, डॉ. सत्य प्रकाश फैलीसिटेसन वाल्यूम, पी.एल. चक्रवर्ती, ‘अर्ली टैराकोटा फिगर्स फ्राम भरतपुर, दिल्ली, 1981, पृ.सं. 172-176
7. आमेर संग्रहालय, जयपुर में संरक्षित एवं सुरक्षित
8. वही
9. आर.सी. अग्रवाल, ‘वसुधारा पालकी इन नेशनल म्यूजियम’, नई दिल्ली, आकृति संख्या 3, प्लेट नं. 5, पृ. सं. 71
10. जयसिंह नीरज एवं भगवती लाल शर्मा- राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परायें-राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1988, विजय शंकर श्रीवास्तव- ‘पारम्परिक मूर्तिकला’, पृ. सं. 63
11. कलचल कन्टर्स ऑफ इण्डिया, डॉ. सत्य प्रकाश फैलीसिटेसन वाल्यूम, विजय शंकर श्रीवास्तव, नई दिल्ली, 1981, पृ.सं. 61
12. विभग त्रिपाठी- पेन्टेड ग्रे वेयर ऑफ इण्डिया, 1976
13. प्रभुदयाल मित्तल, ब्रज की कलाओं का इतिहास, दिल्ली, 1977, पृ.सं. 23

## हाड़ौती क्षेत्र में शैव धर्म परम्परा का कलात्मक दृष्टि से अध्ययन

डॉ. (श्रीमती) रजनी शर्मा

भौगोलिक रूप से समृद्ध होने के कारण राजस्थान के इस क्षेत्र में कला के सर्वोत्तम व अधिकाधिक अवशेष प्राप्त होते हैं, हाड़ौती क्षेत्र में शिव मंदिरों की एक बड़ी कड़ी के प्रमाण अपनी धार्मिक व कलात्मक धरोहर के रूप में प्रसिद्ध है। शिव देवालयों की इस शृंखला के प्रमाण पांचवीं सदी से प्राप्त होते हैं। हाड़ौती क्षेत्र में शैव धर्म से सम्बन्धित मंदिरों में चन्द्रावती बाड़ौली कन्सुआ, अटरू रामगढ़, विलास, मुकन्दरा, आमवां आदि स्थानों का नाम उल्लेखनीय है।<sup>1</sup> चन्द्रावती नामक प्राचीन नगरी झालरापाटन नगर के दक्षिण में दो किलोमीटर की दूरी पर चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित है। इसी नदी के तट पर स्थित अनेक मंदिरों में शीतलेश्वर महादेव का मंदिर सबसे प्राचीन है, मंदिर के समीप प्राप्त एक अभिलेख में किसी चन्द्रशेखर शिव के मंदिर का उल्लेख है जिसमें शिव की विश्वमूर्ति रूप में उपासना की गयी है।<sup>2</sup> इस मंदिर के पास शिलालेख विक्रम संवत् 746 से प्राप्त हुआ, यह झालावाड़ संग्रहालय में सुरक्षित है। इस लेख से ज्ञात होता है कि यह मंदिर समूह चन्द्रमौलि अर्थात् शंकर को समर्पित था। स्थानीय शासक दुर्गगण के शासनकाल में किन्हीं देव के भाई वप्पक ने इसका निर्माण करवाया था। द्वार के शिरोपट्ट पर पद्मासन में बैठे द्विभुजी लकुलीश की मूर्ति है। इसमें यहां की प्राचीन नगरी चन्द्रावती का नाम उल्लेखनीय है।<sup>3</sup>

लकुलीश पाशुपत शैव धर्म के संस्थापक थे इन्हें शिव का 24वां अवतार माना गया है। लकुलीश संप्रदाय की लोकप्रियता के साथ-साथ योगीश्वर स्वरूप का बैठे हुए लकुलीश रूप में रूपान्तरण हो गया।<sup>4</sup> इस स्वरूप में लकुलीश की दो भुजाएं एक में लकुट तथा दूसरे में मातृलिंग फल अंकित किया गया है।<sup>5</sup>

शीतलेश्वर मंदिर को राजस्थान में शिव का संभवतया सबसे प्राचीन मंदिर माना गया है। इस मंदिर के द्वार अजंता शैली के हैं। मंदिर के अन्दर भी लकुलीश की प्रतिमा है जो पद्मासन में बैठे तथा हाथ में बिजौरा, फल व गदा धारण कर रखी है।

कनिंघम ने लिखा है “मंदिर के स्तम्भों की सम्पूर्ण व्यवस्था बड़े सुव्यवस्थित ढंग से की गयी है यद्यपि उनके अलंकरण के ब्यौरे अलग-अलग हैं, इसके बावजूद वे सभी सामान्य विन्यास वाले हैं ताकि उनमें से कोई भी स्तम्भ अपनी अजीब आकृति के कारण आंखों को न खोले और न ही भवन की स्थापत्य एकरूपता को बिगाड़े।”<sup>6</sup>

झालरापाटन में सूर्य की एकमात्र प्रतिमा जो गर्भगृह में है वो भी चतुर्देव मिश्रण भाव के साथ शिल्पाधार पर इस मंदिर में शैव-वैष्णव मूर्तियां ही प्रमुख रूप से बनायी गयी है। यहां मंदिर के अलंकृत शुकनास युक्त शिखर शैव वैष्णव धर्म की मनमोहक प्रतिमाओं तथा शिल्प से निखर उठे हैं तथा इनको देखकर पर्यटक मुग्ध हो जाते हैं। शिव के नृत्त दक्षिणा भाव को मुख्य रूप से शिखर के निचले भाग में दर्शाया गया है। मंदिर के मंडप के ऊपरी भाग में चारों कोनों पर शैव साधु विभिन्न मुद्रा में हाथ में शिवलिंग लिये पुजारत, शास्त्र पढ़ते, अक्षरमाला जपते, दण्ड पर हाथ धरे बैठे हैं। मूर्ति में विद्यमान साधु गले की कंठी माला, रुद्राक्ष माला, जटा के साथ खुले केश, कमण्डल हाथ में लिये गंभीर मुद्रा व दृढ़ता के साथ आसन जमाये नगर के बीचों-बीच इस मंदिर में चारों दिशाओं में मुख किये ऐसे बैठे हैं मानो नगर के संचालक व सुरक्षा प्रहरी हो।<sup>7</sup>

इसी क्षेत्र में कन्सुआ अथवा कण्वाश्रम शिवपूजा का सबसे प्राचीन केन्द्र था। अभिलेख के आधार पर इस मंदिर की निर्माण तिथि निर्धारित की जा सकती है। यहां से लकुलीश की प्रतिमा प्राप्त होती है, मंदिर का गर्भगृह त्र्यंग प्रकार का था। सूर्य की प्रथम किरण 20 फीट भीतर स्थित शिवलिंग पर सीधी पड़ती है इसकी ऊंचाई डेढ़ फीट है इसमें अघोर के वीभत्स भाव को खुला हुआ मुख से व्यक्त किया गया है जबकि वामदेव का मुख मुस्कान युक्त तथा तत्पुरुष मुख शान्ति व पवित्रता को अभिव्यक्त करता है।<sup>8</sup>

कोटा क्षेत्र में मुकन्दरा, कन्सुआ और रामगढ़ के प्राचीन मंदिरों के अवशेष जिले की पुरातत्व सम्पदा की झलक प्रस्तुत करते हैं। कन्सुआ के शिव मंदिर का निर्माण वास्तुकार नन्नक ने किया था। ये मंदिर अपनी वास्तु व शिल्प की दृष्टि से अतुलनीय है।<sup>9</sup> कोटा जिले में मुकन्दरा के पश्चिम में आमवां का पूर्वाभिमुखी तीन गर्भ गृह वाला मंदिर लतिन शैली के शिखर से युक्त है। ये तीनों मंदिर क्रमशः सूर्य (दक्षिण), विष्णु (मध्य) व शिव (उत्तर) को समर्पित थे। इस मंदिर का निर्माण 825 ई. से 850 ई. के मध्य हुआ था।<sup>10</sup>

नवीं तथा दसवीं शताब्दी में शैव पूजा का एक अन्य केन्द्र बाड़ौली था। जहां शैव परिवार के अन्य देवताओं के मंदिर थे, इसके समीप भैंसरोड़गढ़ नामक स्थान है। 19वीं शताब्दी में मालवा हाड़ौती और मेवाड़ का व्यापारिक मार्ग मुकन्दरा के दर्रे से गुजरता हुआ भैंसरोड़गढ़ के पास से ही चम्बल पार करता था। इसी व्यापारिक मार्ग के कारण गुप्तकालीन मंदिरों का निर्माण हुआ है। यहां स्थित घटेश्वर मंदिर में शिव के नटराज स्वरूप को विशद रूप से उत्कीर्ण किया गया है। 1821 में इसे प्रकाश में लाने का कार्य जेम्स टॉड ने किया।<sup>11</sup> बाड़ौली में छोटे बड़े कुल 9 मंदिर हैं। मंदिर संख्या 4 को त्रिमूर्ति मंदिर के नाम से पहचाना जा सकता है क्योंकि इसके गर्भगृह में शिव की महेश मूर्ति प्रतिष्ठित है। प्रवेश द्वार के ललाट बिम्ब पर नटराज की मूर्ति है। मूर्तियों में नागपुरुष प्रणाम करते हुए कमल के फूल व पत्तों के अलंकरण के मध्य उत्कीर्ण है, इसके अतिरिक्त शिव के चतुर्भुज द्वारपाल की प्रतिमा है जो डमरू व त्रिशूल धारण किये हैं।

गर्भगृह की मूर्ति वस्तुतः महेश मूर्ति है जिसके दोनों ओर ऊपर ब्रह्मा एवं विष्णु हाथ जोड़े खड़े हैं इस मूर्ति के आकर्षण व अंकन शैली में लालित्य व प्रभाव है। इस त्रिमुखी मूर्ति की तुलना एलीफेन्टा की महेश मूर्ति से की जा सकती है।<sup>12</sup> इस मंदिर में नटराज शिव ललितकरण प्रस्तुत करते हुए अंकित है जिसमें एक हाथ कटिहस्त मुद्रा में तथा दूसरा लताहस्त तथा अन्य दो उरोमण्डल मुद्रा में तथा चरणों की स्थिति निकुण्टक रूप में अंकित है। (निकुण्टक मुद्रा में वामचरण पृथ्वी पर समपाद मुद्रा में स्थित तथा दक्षिण चरण इस तरह उठा हुआ कि केवल अंगूठा मात्र पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ, तत्पश्चात् पूरा पृथ्वी से उठता हुआ उर्ध्वज्ञान मुद्रा में उठाने के बाद पुनः पृथ्वी पर स्थापित किया गया)।<sup>13</sup>

*कटिहस्तो भवेत् वामो दक्षिणश्च प्रवर्तितः।*

*बहुशः कुट्टितः पादोर्ध्वं तल्ललितं बुधैः।।*

बाड़ौली के मंदिर में प्रतिमाओं को सुरुचिपूर्ण शिल्पियों द्वारा बड़े कलात्मक ढंग से तराशा गया है और इनका अंग-अंग अनुपात व पूर्णता का प्रदर्शन है। इसके मुख मंदिर की ऊंचाई 50 फुट है, देवाधिदेव महादेव जो नाश के देवता है सर्वत्र अपने लाक्षणिक रूप में दिखाये गये हैं। इस भव का ढांचा जहां भगवान का पूजा गृह है और जिसके ऊपर एक शिखर है केवल 21 फुट का वर्ग है। लेकिन कलश वाले मण्डप और ड्योढ़ी मिलने से यह 44 फुट लम्बा व 21 फुट चौड़ा हो जाता है। भगवान महादेव को अपने आयुधों से पूरी तरह सुसज्जित दिखाया गया है। पश्चिम में महादेव का शृंगारी रूप है जिसमें उन्होंने पर्वत की अप्सरा मयना को अपने बाहुपाश में बांध कर लुभा रखा है। गले में लटके हुए सर्पों को बड़ी बारीकी से अलंकृत किया गया है। नन्दी व शेषनाग भी बहुत अच्छे व सुघड़ रूप में दर्शाये गये हैं। यहां के शिखरों की कारीगरी इतनी सशक्त है कि यह हर काल की कसौटी पर खरा उतरा है और आज भी अच्छी अवस्था में है। इसे देखकर यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में मंदिर वास्तुशिल्प की कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। यहां के मण्डप, शिखर, गर्भगृह, अवलम्ब, तोरण आदि सुव्यवस्थित है।<sup>14</sup> बाड़ौली से प्राप्त माहेश्वर प्रतिमा के सम्बन्ध में विष्णु धर्मोत्तर पुराण में बतलाया गया है कि माहेश्वर के रूप में शिव का वर्ण, श्वेत, चन्द्र, ज्योति सद्गुण होता है। इनकी दस भुजायें होती हैं दाहिनी चार भुजाओं में अक्षमाला, त्रिशूल, दण्ड नीलोत्पल का सर्प होता है, बायीं भुजाओं में मातुलंग धनुष, दर्पण, कमण्डल व चर्म होता है।<sup>15</sup>

महेश मूर्ति की प्रतिमाएं मंदिरों में गर्भगृह की पिछली भित्ति से जुड़ी रहती है। इसी क्रम में कोटा के निकट चारचौमा ग्राम के शिव मंदिर में उत्कीर्ण दोनों शिलालेख गुप्तकालीन हैं, इसमें शिव की स्तुति करते हुए देवाधिदेव महादेव की पसन्द के फूलों व शरद ऋतु के विभिन्न वनस्पतियों के सुवास का वर्णन है।<sup>16</sup>

शैव धर्म से सम्बन्धित इन मंदिरों के कलात्मक अध्ययन से तत्कालीन समाज की सौन्दर्य चेतना एवं अपने भावों व ईश्वर के प्रति भक्ति भावना को पाषाण में

अभिव्यक्त करने की क्षमता का ज्ञान होता है, यहां अलंकरण की सूक्ष्मता व अंकनशैली की विशदता प्राप्त होती है। मंदिरों में कला तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक दृष्टिकोण को उजागर करती है। बाड़ौली के शिव मंदिरों की कला की तुलना खजुराहो से की गयी है। इस क्षेत्र के देवालियों में शिव के साथ-साथ वैष्णव, शाक्त और सौर देवताओं की मूर्तियां, धार्मिक समन्वय व सहिष्णुता को स्पष्ट करती है। झालरापाटन का मंदिर सर्वधर्म समन्वयक स्थल के रूप में विकसित हुआ है, जिसे परमारकालीन माना गया है।

बाड़ौली व कंसुआ के मंदिरों में महामाल शैली का प्रभाव है तथा बाड़ौली के शिवालय नागर शैली में बने हुए हैं। मुख्य रूप से हाड़ौती क्षेत्र के मंदिरों में मालव, महामरु व महागुर्जर तीनों शैलियों का समन्वय दिखाई देता है। इस प्रकार ये शैव सौन्दर्य से मण्डित देवालय पर्यटन के केन्द्र के रूप में उभर रहे हैं।

### सन्दर्भ

1. शर्मा, गोपीनाथ, सोशल लाइफ इन मेडिवल राजस्थान (1500-1800 ई.), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा से प्रकाशित 1968, पृ. 319
2. ब्यूलर, टू इंस्क्रिप्शन्स फ्रॉम झालरापाटन, श्लोक 3
3. जिलेवार सांस्कृतिक सर्वेक्षण, झालावाड़, महानिदेशक व शासन सचिव, जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 1995, पृ. (i)
4. विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल, होशियारपुर, द्वितीय, 1964, पृ. 117
5. मजूमदार, एम.आर., लकुलीश इमेजेज फ्रॉम वेस्टर्न इंडिया, पी.के. गौड़, अभिनन्दन ग्रंथ से उद्धृत, 1960 तृतीय, पृ. 108
6. एच. भीष्मपाल, सरोज, राजस्थान के देवालय, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 68-69
7. राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स वोल्यूम 25, दिसम्बर 2009, पृ. 214-217
8. इण्डियन एन्टिक्वेरी, वोल्यूम 19, फरवरी 1890, पृ. 55-62
9. जिलेवार सांस्कृतिक सर्वेक्षण, कोटा, महानिदेशक व शासन सचिव, जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 1995 पृ. (प)
10. वशिष्ठ, नीलिमा, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2001, पृ. 38
11. टॉड, कर्नल, एनल्य एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, तृतीय, पृ. 1758-83
12. वशिष्ठ, नीलिमा, वही, पृ. 39-41
13. भरत, नाट्यशास्त्र चतुर्थ, श्लोक 94
14. एच. भीष्मपाल, सरोज, राजस्थान के देवालय, वही, पृ. 22-23
15. श्री वास्तव, डॉ. बृज भूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990, पृ. 65
16. जिलेवार सांस्कृतिक सर्वेक्षण, कोटा, वही, पृ. (i)

## उपमिति-भव-प्रपंच कथा से ज्ञात राजस्थान की प्रशासन व्यवस्था

डॉ. मोहन लाल शर्मा

इस रूपात्मक कथा ग्रन्थ की रचना मुनि श्री सिद्धर्षि सूरि ने ज्येष्ठ शुक्ला 5 गुरुवार विक्रम संवत् 962 में भीनमाल में रहते हुए की थी। इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत भाषा में है तथा इसमें 8 प्रस्ताव हैं।

प्राचीन नीतिविचारकों के अनुसार राज्य का मुख्य उद्देश्य व राजा का कर्तव्य प्रजा-हित करना था। इस कृति में कर्मपरिणाम राजा के 6 पुत्रों के 6 राज्यों<sup>1</sup> यथा निकृष्ट राज्य, अधमराज्य, विमध्यम राज्य, मध्यम राज्य, उत्तम राज्य तथा वरिष्ठ राज्य का वर्णन है। इस कृति में निकृष्ट राज्य व अधम राज्य को बुरा बताया गया है क्योंकि इन राज्यों के शासक प्रजा-हित की बजाय अपने स्वार्थ सिद्धि में शासन करते हैं। प्रथम दो राज्यों के शासक लोकप्रिय नहीं थे तथा इन राज्यों के शासकों के बारे में कहा गया है कि वे मृत्यु के बाद नरकगामी हुए। विमध्यम राज्य, मध्यमराज्य, उत्तमराज्य तथा वरिष्ठ राज्य के शासक<sup>2</sup> धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने में रत थे। अन्तिम चार राज्यों के शासक विश्वास करते थे कि मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का वास्तविक साधन धर्म ही था। ये शासक प्रजा को आह्लादित करने वाले, साधुजनों को अतिशय आनन्द देने वाले तथा चोरों का नाश करने वाले थे। इन अन्तिम चार राज्यों के शासकों के बारे में इस कृति में कहा गया है कि ये सब शासक मृत्यु के बाद स्वर्ग लोक या निवृत्ति नगर में गये। इसी प्रकार इस कृति में अन्यत्र<sup>3</sup> शुभपरिणाम राजा को सकल प्राणियों का हितकारक, दुष्टों का दमन करने वाला तथा सज्जन पुरुषों की रक्षा में तत्पर बताया गया है। लेकिन इस कृति में रागकेसरी, लोलाक्ष आदि आततायी, निरंकुश व भ्रष्ट राजाओं का भी उल्लेख है।<sup>4</sup> यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऐसे निरंकुश व प्रजापीड़क राजाओं का जनता ने विरोध किया है। भ्रष्ट धनवान शासक के दुराचरण के कारण प्रजा, सामन्त तथा उसके सगे सम्बन्धी सभी उसकी आलोचना करने लगे। अतः धनवाहन राजा स्वयं यह कहता है<sup>5</sup> 'सभी जगह गुणों की पूजा होती है पूजा में सम्बन्ध कारणभूत नहीं होते।' इस कृति में लोलाक्ष, ललन, रिपुदारण व धनवाहन आदि अधार्मिक व अत्याचारी शासकों के बारे में वर्णन है कि इन्हें मन्त्रियों सेनापति, सामन्त व प्रजाजनों ने पदच्युत कर दिया था।<sup>6</sup> जयानक रचित पृथ्वीराजविजय महाकाव्य में भी वर्णन है कि केवल ६ आर्म्शील व प्रजा पालक राजा ही मृत्यु के बाद स्वर्गगमन करते थे। चौहान शासक पितृघाती जगदेव, जिसने अपने पिता अर्णोराज का वध कर दिया था, के बारे में पृथ्वीराज

विजय महाकाव्य में वर्णन है कि चौहान शासकों में से केवल वह ही ऐसा शासक था जो स्वर्ग में नहीं गया।<sup>7</sup>

इस कृति से राजकुमारों की शिक्षा के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। राजकुमारों की शिक्षा ज्योतिषि से पूछकर शुभ दिन व शुभ मुहूर्त में आठवें वर्ष में प्रारम्भ होती थी।<sup>8</sup> अध्ययन के समय विद्यार्थी में विनय, अनुशासन तथा एकाग्रता पर बल दिया जाता था।<sup>9</sup> अनुशासन हीन व गुरु की निन्दा करने वाले राजकुमार रिपुदारण को कलाचार्य महामति ने अपने गुरुकुल से निष्कासित कर दिया था। इस कृति में<sup>10</sup> राजकुमारों को अध्ययन कराये जाने वाले कई विषयों का उल्लेख है जैसे लेखन कला, धनुर्वेद, हस्ति शिक्षा, तर्क, गणित, लक्ष्यभेदी बाण तथा निशाना ताक कर अमुक पत्ते को बांधना आदि। इस ग्रन्थ के अनुसार<sup>11</sup> राजाओं को चार प्रकार की राजविद्या का ज्ञान अवश्य होना चाहिये-तर्क विद्या (आन्वीक्षिकी) त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। सोमदेवसूरि ने अपने ग्रन्थ नीति वाक्यामृत में<sup>12</sup> इन चार राजविधाओं की व्याख्या इस प्रकार की है - आन्वीक्षिकी में सांख्य, योग एवं लोकायत दर्शन सम्मिलित है। त्रयी में 14 विधायें आती हैं जैसे चार वेद, छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष), इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र। वार्ता में कृषि, वाणिज्य-व्यापार, पशु पालन, लेखन कला, शिल्प-चित्रकला आदि विषयों का विवेचन सम्मिलित है। दण्डनीति का अर्थ बताते हुए सोमदेवसूरि ने लिखा है कि अपराधी को अपराध के अनुकूल दण्ड देना दण्डनीति है। उपमितिभव प्रपंच कथा में अन्तर्राज्य संबंधों के बारे में भी वर्णन मिलता है। इस कृति में षाडगुण्यों का उल्लेख हुआ है।<sup>13</sup> छः गुण इस प्रकार हैं सन्धि, विग्रह, यान (शत्रु पर बढ़ाई करना), आसन (शत्रु की उपेक्षा करना), संश्रय (आत्मसमर्पण करना), द्वैधी भाव (सन्धि-विग्रह दोनों से काम लेना)। षाडगुण्यों के अलावा इस कृति में चार नीतियों<sup>14</sup> का उल्लेख हुआ है जो साम, दान, भेद व दण्ड है। इस कृति में विभिन्न अधिकारियों जैसे महत्तम (ग्राम अधिकारी), दण्डपाशिक (पुलिस अधिकारी), तलवर्गिक (नगर रक्षक), अंगरक्षक, सेनापति, नियुक्तक व अन्नियुक्तक आदि का भी उल्लेख हुआ है।

### सन्दर्भ

1. उपमिति-भव-प्रपंच कथा, अनुवादक लालचन्द्र जैन, सम्पादक म. विनयसागर, जयपुर, द्वितीय खण्ड, प्रस्ताव 06, पृष्ठ 179 से 203.
2. विमध्यम राज्य का शासक भिवर्ग में तथा शेष राज्यों के शासक चारों पुरुषार्थों के सम्पादन में रत थे।
3. उपमितिभव., सम्पादक मुनिचन्द्रशेखर विजय, अहमदाबाद, 1968, प्रथम भाग तृतीय प्रस्ताव, पृ.88
4. उपमिति., सम्पादक म0 विनय सागर, प्रस्ताव 3, प्रकरण 4, स्पर्शनमूल शुद्धि पृ. 216
5. उपमिति. सम्पादक म. विनयसागर, प्रस्ताव 7, प्रकरण 15, पृष्ठ 294.

6. उपमिति. सम्पादक म.वि., प्रथम खण्ड प्रस्ताव 4, पृष्ठ 553, 571, 652-653
7. पृथ्वीराज विजय., 8वां सर्ग, श्लोक 74
8. उपमिति. सम्पा. म. विनय, प्रथम खण्ड, प्रस्ताव 2, प्रकरण 6, पृ. 164-165; प्रस्ताव 3, प्रकरण 01, पृष्ठ 194
9. उपरोक्त, प्रस्ताव 3, प्रकरण 01 पृष्ठ 197; प्रस्ताव 4 प्रकरण 02, पृष्ठ 420
10. उपरोक्त, प्रस्ताव 3, प्रकरण 01, पृ. 198, प्रस्ताव 4, प्रकरण 02, पृष्ठ 425
11. उपरोक्त, द्वितीय खण्ड, प्रस्ताव 5, प्रकरण 19, पृ. 96.
12. नीतिवाक्यामृत, अनुवादक पं. सुन्दरवाल शास्त्री दिल्ली, 1950, पृ. 88, 113, 119, 139,
13. दृष्टव्य मरूभारती जि. 07 भाग 2, पृष्ठ 04
14. दृष्टव्य मरूभारती, जि. 07 भाग 2, पृष्ठ 4

## पूर्व मध्यकाल में जैन मन्दिरों के निर्माण में राजस्थान के शासकों का योगदान

डॉ. रवीन्द्र टेलर

राजस्थान के इतिहास में जैन मन्दिरों के निर्माण में शासकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अभिलेखीय व साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म राजस्थान में व्यापक-प्रचलन में रहा, इसका मुख्य कारण स्थानीय शासकों द्वारा जैन धर्म को समय-समय पर प्रश्रय व समर्थन देना था। विशेष रूप से आठवीं शताब्दी से जैन विचारधारा ने राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया, जैसा कि समीपवर्ती गुजरात, मालवा व सौराष्ट्र जैसे क्षेत्रों में दिखाई देता है। राजपूतों के उत्कर्ष के साथ ही प्रदेश में जैन धर्म समृद्ध व लोकप्रिय हुआ। राजपूत शासक मूलतः शैव या वैष्णव धर्मी थे किन्तु उनके द्वारा जैन मत का विरोध नहीं किया गया। राजपूत शासक धर्म सहिष्णु होने के साथ-साथ जैन मत के उदार संरक्षक भी थे। राजस्थान के प्रारम्भिक राजपूत वंशों में मारवाड़ के प्रतिहार, मेवाड़ के गुहिल, शाकम्भरी के चौहान, भीनमाल तथा आबू के चावड़ा, सिरौही, जालौर, मालवा व बागड़ के परमार, जैसलमेर के भाटी, पूर्वी राजस्थान के शूरसेन, नागवंश, तंवरवंश, गौड़वंश आदि थे। धर्म के सम्बन्ध में इस समय के शासकों को 'धर्म प्रतिपाल', 'धर्म परायण' आदि कहा गया है।

उल्लेखनीय है कि जैन धर्म का प्रचार तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से ही स्वीकार किया जा सकता है। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा अनेक मन्दिरों में प्रतिमायें प्रतिष्ठापित करवाने का उल्लेख मिलता है।<sup>1</sup> परवर्ती मौर्य शासक सम्प्रति को जैन धर्म में प्रायः वही स्थान प्राप्त है जो बौद्ध धर्म में सम्राट अशोक को प्राप्त है। सम्प्रति को 'जैन अशोक' कहा जाता है। उसे सहस्त्रों जैन मन्दिरों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण तथा असंख्य जैन प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापित करने का श्रेय दिया जाता है।<sup>2</sup> मौर्यत्तर काल अथवा शुंग-कुषाण काल में भी मालवा से लगे हुए दक्षिणी राजस्थान के क्षेत्र में विशेष रूप से जैन धर्म के प्रचलन के संकेत यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। गुप्तकालीन राजस्थान में केशोरायपाटन में जैन मन्दिर के अवशेष जैन प्रतिमाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। चीनी यात्री युवानच्चांग के यात्रा विवरण<sup>3</sup> तथा बसन्तगढ़<sup>4</sup> से प्राप्त 687 ईस्वी की तिथियुक्त ऋषभदेव की प्रतिमा से दसवीं शताब्दी ईस्वी में राजस्थान में जैन धर्म की लोकप्रियता के संकेत मिलते हैं। पूर्व मध्यकाल में राजपूत शासकों द्वारा जैन धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया। इस काल में राजपूतों के विभिन्न वंशों का उत्कर्ष हुआ जिनके प्रश्रय में जैन धर्म का विस्तार हुआ :-

### प्रतिहार राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म

7वीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान में प्रतिहार शक्ति सम्पन्न हुए और प्रतिहारों ने धर्म, कला, साहित्य के प्रति उदारता का रूख अपनाया। जिससे जैन धर्म में आशातीत प्रगति हुई। जालौर, उज्जैन व कन्नौज से सम्बन्धित प्रतिहारों की शाखा में, नागभट्ट प्रथम का जैन साधु यक्षदेव से प्रगाढ़ सम्बन्ध था। जैन परम्परा के अनुसार सत्यपुर (सांचोर) एवं कोरणट (कोर्ट) के महावीर मन्दिरों के निर्माण का श्रेय नागभट्ट प्रथम को दिया जाता है।<sup>5</sup> प्रतिहार नरेश वत्सराज के द्वारा ओसियां के प्रसिद्ध महावीर मन्दिर का निर्माण करवाया गया।<sup>6</sup> 956 ईस्वी के ओसियां के लेख में, वत्सराज के पुर में वैश्य समाज का होना वर्णित है। वत्सराज के समय 778 ईस्वी में जालौर में 'कुलवयमाला' तथा 783 ईस्वी में आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' की रचना की, जो उस समय की धार्मिक, राजनीतिक व सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। 794 ईस्वी में वत्सराज के उपरान्त नागभट्ट द्वितीय शासक हुआ, जो 'आम' नाम से जन प्रसिद्ध था। चन्द्रप्रभसूरि द्वारा रचित 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार, आम या नागवलोक एक ही शासक था, जिसने वैश्य की पुत्री से विवाह किया था, जिसके वंशजों में से ही एक जैन वंशज कर्माशाह ने 1530 ईस्वी में शत्रुंजय तीर्थ की स्थापना की थी।

मंडोर के प्रतिहार शासकों में कक्कुक एवं पराक्रमा जैन मत के संरक्षक शासक थे। 861 ईस्वी के घटियाला अभिलेख से रोहिसकूप एवं मंडोर में दो कीर्तिस्तम्भ बनवाने का उल्लेख है। राजोगढ़ के प्रतिहार शासकों ने भी जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। राजोगढ़ से प्राप्त 923 ई. की सागरनन्दि और लोकदेव द्वारा रचित प्रशस्ति के अनुसार राजा पुलिन्द द्वारा शान्तिनाथ मन्दिर व शान्तिनाथ प्रतिमा का निर्माण करवाया गया था।

### चौहान राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म

शाकम्भरी के चौहान नरेशों ने जैन धर्म के प्रति सदैव उदार नीति अपनायी। चन्द्रसूरि के मुनि सुव्रतचरित्र में उल्लेख आता है कि पृथ्वीराज प्रथम ने रणथम्भौर के जैन मन्दिर में स्वर्ण कलश चढ़ाया<sup>7</sup> एवं उसके उत्तराधिकारी अजयराज ने अजमेर नगर में जैन मन्दिर निर्माण की स्वीकृति दी एवं पार्श्वनाथ मन्दिर में स्वर्ण कलश चढ़ाकर अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया।<sup>8</sup> अणोरराज ने जैन आचार्य धर्मघोष सूरि को संरक्षण प्रदान किया तथा जिनदत्त सूरि के अनुयायियों को मन्दिर निर्माण हेतु भूमि प्रदान की। इसका उत्तराधिकारी बीसलदेव विग्रहराज हुआ। इसने अपने पूर्वजों की भांति ही जैन धर्म को संरक्षण दिया। इसके द्वारा जैन मुनियों के लिये विहार बनवाये गये। बिजौलिया अभिलेख के अनुसार पृथ्वीराज द्वितीय ने बिजौलिया में पार्श्वनाथ मन्दिर के निमित्त मोरकुडी नामक ग्राम दान में दिया।<sup>9</sup> पृथ्वीराज द्वितीय के उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने स्वर्ण प्राप्ति की इच्छा से रेवा नदी के तट पर स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर को रेवाना ग्राम की सम्पूर्ण आय दान में दी।

इसी प्रकार नाडोल के चौहान शासक अश्वराज जो कि सोलंकी शासक कुमारपाल के अधीनस्थ था, अश्वराज ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया तथा उसके पुत्र कटुकराज द्वारा जैन धर्म को समय-समय पर दान दिये जाने की सूचना उसके 1110 ईस्वी व 1115 ईस्वी के सेवाड़ी अभिलेखों से मिलती है। नाडोल के अन्य शासकों जैसे महाराज रायपाल, अल्हणदेव, कल्हणदेव आदि द्वारा भी इस धर्म को प्रोत्साहन दिये जाने का उल्लेख मिलता है। चौहान राजा समरसिंह ने जालौर स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर का 1185 ईस्वी में पुनरुद्धार करवाया था।

इस प्रकार चौहानों के उदार राज्यकला में पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के मारवाड़, अजमेर, बिजौलिया एवं सांभर के क्षेत्रों में जैन धर्म का उत्कर्ष और प्रसार हुआ था। चौहान शासकों ने जैन धर्म के अनुयायी होने पर भी वे सहिष्णुतावश जैन तीर्थंकरों की भी अर्चना करते रहे तथा जैन मतावलम्बियों के उत्सवों में भाग लेकर जैन प्रजा के प्रति सौहार्द्रता का परिचय देते रहे।

### चावड़ा तथा सोलंकी राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म

चावड़ा राज्य के निर्माता, वनराज, जिसने अन्हिलवाड़ बसाया था, द्वारा शीलगुणसूरी नामक जैन साधु को आमंत्रित करने व उसकी सलाह पर अणहिलपुर पाटन में पचांसर नामक मन्दिर का निर्माण करवाकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार सोलंकी शासकों के काल में भी इस धर्म की प्रगति हुई। मूलराज द्वारा जैन धर्म को संरक्षण देने व 'मूलराज वहसिका' नामक मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>10</sup> इसके बाद सुप्रसिद्ध चालुक्य शासक कुमारपाल के समय में भी जैन धर्म के विकास को विशेष गति मिली।

गुजरात के चालुक्य शासक कुमारपाल ने जैन आचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन धर्म स्वीकार किया और इस धर्म के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि लेने लगा। उसने जीव-जन्तुओं की हिंसा के विरुद्ध आदेश प्रसारित किये और उन्हें कड़ाई के साथ लागू किया। द्वाश्रयकाव्य से ज्ञात होता है कि पालि देश (राजस्थान) में यज्ञ के अवसर पर उपस्थित लोगों को मांस के स्थान पर अन्न का उपयोग करने के लिये विवश होना पड़ा तथा साधु-संन्यासियों के शरीर पर धारण करने के लिये हिरण-चर्म दुर्लभ हो गयी थी।<sup>11</sup> कुमारपाल ने जैन साहित्य के संरक्षण व संवर्द्धन के लिये शास्त्र भण्डार स्थापित किये थे। मेरुतुंग के अनुसार उसने अपने राज्य के विभिन्न भागों में 1440 मन्दिरों का निर्माण करवाया था।<sup>12</sup> यह संख्या अतिरंजित प्रतीत होती है किन्तु कुमारपाल ने जैन मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में अवश्य करवाया था। इसकी पुष्टि राजस्थान के जालौर में स्थित जैन मन्दिर से प्राप्त 1134 ईस्वी के लेख से भी होती है। कुमारपाल के उपरान्त राजनीतिक अस्थिरता के कारण जैनमत की प्रगति कुछ अवश्य बाधित हुई किन्तु जैन मत विमल, वास्तुपाल, तेजपाल जैसे महान मन्त्रियों के नेतृत्व में प्रगतिशील रहा। चालुक्य शासक भीम प्रथम ने विमल को अपना प्रान्तीय शासक नियुक्त किया। उसने भीम एवं ६

धुक् के मध्य मैत्री स्थापित करवाई धंधुक के आदेश से 1032 ईस्वी में आबू में आदिनाथ का एक सुन्दर, भव्य एवं विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया। सोमसिंह के शासनकाल में वास्तुपाल के अनुज तेजपाल ने, 1230 ईस्वी में अपने पुत्र लूणसिंह की स्मृति में, 'लूण वसहि' नामक नेमिनाथ मन्दिर निर्मित करवाया। इस मन्दिर की पूजा के निमित्त समरसिंह ने सिरोही राज्य का दबाणी गांव दान में दिया था।<sup>13</sup>

### परमार राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म

परमार शासकों ने भी जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। 967 ईस्वी के अभिलेख से ज्ञात होता है कि कृष्णराज के समय सिरोही के पास स्थित दियाणा नामक ग्राम में वर्द्धमान नामक व्यक्ति ने वीरनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी।<sup>14</sup> इसी प्रकार झाड़ोली (सिरोही) के महावीर मन्दिर के एक लेख से ज्ञात होता है कि परमार शासक धारावर्ष की पत्नि श्रृंगारदेवी ने इस मन्दिर के लिये 1197 ई. में भूमि उपलब्ध कराई थी।<sup>15</sup> चन्द्रावती के शासक आल्हणसिंह द्वारा पार्श्वनाथ मन्दिर के लिये दान दिये जाने का भी उल्लेख मिला है।<sup>16</sup> इससे स्पष्ट होता है कि परमार शासक भी जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे। परमार शासकों ने मेवाड़, सिरोही, कोटा, झालावाड़ आदि राज्यों के कुछ क्षेत्रों पर भी शासन किया था। अतः सम्भव है इन क्षेत्रों में जैन धर्म का विकास भी इन्हीं के समय में हुआ हो।

### शूरसेन राजवंश के अन्तर्गत जैन धर्म

आधुनिक भरतपुर पर प्राचीनकाल में शूरसेन राजवंश का शासन था। इस वंश के शासकों ने जैन मत को संरक्षण दिया। बयाना से प्राप्त अभिलेखों में नगर का नाम 'श्रीपथ' दिया है (जो बयाना का प्राचीन नाम था) बयाना से 994 ई. की एक अभिलेखांकित जैन प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमें वर्णन मिलता है कि बागड़ संघ के शूरसेन की प्रेरणा से यह प्रतिमा तीन भाईयों द्वारा स्थापित की गई थी।<sup>17</sup> बयाना के अन्तिम शूरसेन शासक कुमारपाल (1154 ई.) द्वारा भी जैन धर्म को संरक्षण देने की सूचना मिलती है। उल्लेख आता है कि जिनदत्तसूरि ने उसके समय में शान्तिनाथ मन्दिर पर स्वर्ण कलश व ध्वज चढ़ाया था। अलवर के निकट भानगढ़ तथा पारानगर आदि स्थानों से भी जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।

उपरोक्त राजवंशों के क्षेत्रों के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रों के विभिन्न राजवंशों के शासकों ने जैन धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राजस्थान के दक्षिण क्षेत्रों में इस धर्म के प्रचलित रहने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आहड़ से 8-9 वीं शताब्दी ई. की बनी एक कांस्य प्रतिमा मिली है जिसमें तीर्थंकरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।<sup>18</sup> इसी प्रकार उल्लेख आता है कि मेवाड़ के राणा भृत्भट्ट ने दसवीं शताब्दी ई. में अपने नाम से भृत्पुर नामक नगरी बसाई थी व गुहिलविहार निर्मित कराकर उसमें आदिनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी।<sup>19</sup> अल्लट के समय भी आघाट नामक नगरी में जैन मन्दिर

बनाये जाने की सूचना मिलती है। इसी भांति उल्लेख आता है कि आचार्य जिन प्रबोध सूरि के 1277 ई. में चित्तौड़ पहुंचने पर महारावल क्षेत्रसिंह व अन्य राजपूत सरदारों द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया था। डूंगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़ क्षेत्रों में भी इसका विस्तार दिखाई देता है। यहाँ से 994 ई. की एक जैन प्रतिमा मिली है जिस पर 'जयति श्री बागड़ संघ' उत्कीर्ण है इस भांति बड़ौदा (वटप्रद) के प्राचीन पार्श्वनाथ मन्दिर की एक शिला पर चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जैन ग्रन्थ उपदेश कदलिवृत्ति में उल्लेख मिलता है कि प्रद्युमन सूरि तलवाड़ा आये थे। प्रद्युमन सूरि का समय 10वीं शताब्दी ई. माना जाता है। इसी भांति इस क्षेत्र के मडार नामक क्षेत्र में भी 10-11वीं शताब्दी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कोटा क्षेत्र को भी जैन धर्म का प्रमुख स्थान माना जाता है। पद्मनन्दि द्वारा रचित ग्रन्थ 'जम्बूदीपण्णति' से ज्ञात होता है कि बांरा में जैन श्रावक निवास करते थे तथा वहाँ जैन मन्दिर भी विद्यमान थे। इस ग्रन्थ में आये बांरा का समीकरण वर्तमान बांरा से किया जाता है। ज्ञातव्य है कि पद्मनन्दि ने अपने इस ग्रन्थ की रचना भी बांरा में ही की थी।<sup>20</sup> आज भी इस क्षेत्र में कुछ प्राचीन जैन मन्दिर विद्यमान हैं। शेरगढ़ से भी 11वीं शताब्दी ई. की कुछ जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। इसी भांति कोटा से लगभग 53 किलोमीटर दूर स्थित रामगढ़ के पास आठवीं-नवीं शताब्दी ई. की कुछ जैन गुफाएँ प्राप्त हुई हैं जिनका उपयोग सम्भवतया जैन साधु तपस्या स्थान के रूप में करते रहे होंगे। इस क्षेत्र में अटरू, कृष्णविलास, झालरापटन आदि स्थानों से भी जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। राजस्थान के सिरोही व अर्बूदाचल प्रदेश में भी जैन धर्म के प्रचलित रहने की सूचना मिलती है। सिरोही के बसन्तगढ़ नामक स्थान से 687 ईस्वी में बनी तीर्थंकर की एक कांस्य प्रतिमा मिली है। यहीं से 700 ईस्वी के लगभग बनी खड्गासन मुद्रा वाली सरस्वती की प्रतिमा भी मिली है।<sup>21</sup> आबू पर्वत पर 1032 ईस्वी में दण्डनायक विमल द्वारा बनाया गया विमलवसही व तेजपाल द्वारा निर्मित 1230 ईस्वी का लूणवसही मन्दिर भी इसी की पुष्टि करते हैं कि यहाँ भी जैन धर्म का प्रभाव था।

बीकानेर जिले में स्थित मोरखाना के सुसाणी देवी के मन्दिर से 1172 ईस्वी का एक लेख प्राप्त हुआ है। इससे लगता है कि इस क्षेत्र में 12वीं शताब्दी ईस्वी तक जैन धर्म अत्यन्त लोकप्रिय था। डीडवाना से लगभग 32 किलोमीटर दूर स्थित जीवला भी जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। बारहवीं शताब्दी में इस स्थान को जीरावला पार्श्वनाथ के नाम से जाना जाता था। उल्लेख आता है कि 1134 ईस्वी में अजितदेव सूर्य ने यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी।<sup>22</sup> दूढ़ाड क्षेत्र में भी इस धर्म के प्रचलित रहने की सूचना मिलती है। डॉ. भण्डारकर को आमेर में ऐसे तीन जैन मन्दिर मिले थे जो काफी प्राचीन हैं। इसमें सबसे प्राचीन लालशाह का मन्दिर जान पड़ता है। इस क्षेत्र में कालाडेर, सांगानेर, चाकसू आदि स्थानों से भी 11-12वीं शताब्दी के मन्दिर मिले हैं। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में राजपूत शासकों द्वारा मन्दिर निर्माण में सहयोग के साथ-साथ धार्मिक समरसता व सहिष्णुता को भी बनाये रखा।



## संदर्भ

1. ज्ञान सुन्दर जी, भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, 1943, फलौदी, पृ. 273
2. कर्नल जेम्स टाड, एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, जिल्द-2, 1920, बम्बई, पृ. 779-780
3. थॉमस वाटर्स, ऑन युवान च्यागंस ट्रेवल्स इन इण्डिया, पृ. 249, 300
4. मुनि जयन्तविजय, अर्बुदांचल प्रदक्षिणा जैन लेख सम्वोह, अहमदाबाद, वि.सं. 2004, सं. 365
5. एम.ए. ढाकी, सम अर्ली जैन टेम्पलून इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ. 290
6. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1908-09, पृ. 108, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल 1906-07, पृ. 15, डी. आर. भण्डारकर, दि टेम्पल्स ऑफ ओसियां
7. कैटलॉग ऑफ दि मैनुस्क्रिप्ट इन दि पट्टन भण्डारस, पृ. 316, यथा पुहरायेण सयंभरी नरिन्देण जस्स लेहेण रणभम्भौर जिणहरे बडविया कनय कलशा।
8. दशरथ शर्मा, राजस्थान थू दि एजेज, 1966, बीकानेर, पृ. 420
9. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 26, पृ. 105
10. मूलराज प्रबन्ध, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. 22
11. डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, जैनियम इन राजस्थान, 1963, शोलापुर, पृ. 24
12. मूलराज प्रबन्ध, पूर्वोक्त, पृ. 115
13. डॉ. गोरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, राजपूताना का इतिहास, 1937, अजमेर, पृ. 200
14. मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, सं. 486
15. एनुअल रिपोर्ट, राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, 1909-10, नं. 22
16. डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, पूर्वोक्त पृ. 26-27
17. उदयपुर राजकीय संग्रहालय, मूर्ति रजिस्ट्रेशन नं. 102
18. द्रष्टव्य, जैन सत्य प्रकाश, वर्ष 7, दीपोत्सवांक, पृ. 146-147
19. डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, पूर्वोक्त, पृ. 35
20. अमलानन्द घोष, जैन कला एवं स्थापत्य, भारतीय ज्ञानपीठ, 1975, नई दिल्ली, भाग-1, पृ. 188
21. डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, एनशियंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, 1972, नई दिल्ली, पृ. 428
22. मरू भारती - पिलानी अप्रैल 1967, पृ. 1

## मारवाड़ के अभिलेखों में कृषि सम्बन्धी तथ्य : एक वैज्ञानिक अध्ययन

राकेश रामावत

मिट्टी की प्रकृति की सही परख के अभाव में जिस प्रकार बोये गये बीज का अंकुरण दुष्कर है, उसी प्रकार लोक साहित्य एवं लोकभाषा के अध्ययन मनन के अभाव में शिष्ट साहित्य का पोषण भी दूभर है।<sup>1</sup> बात कच्ची उपजाऊ मिट्टी बीज, अंकुरण की चल रही हो तो यह भी उल्लेख करना समीचीन होता कि प्राचीन अभिलेखों के कृषि संबंधी लोकप्रचलित शब्दों को देशज<sup>2</sup> अथवा संस्कृत<sup>3</sup> रूपों में अंकन भी हुआ है। तत्कालीन समाज में इन कृषकोपयोगी शब्दावलियों पर अध्ययन काफी विस्तृत हो सकता है<sup>4</sup> तथापि यहां पर राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में उपलब्ध कतिपय महत्वपूर्ण शिलालेखों, ताम्रपत्रों से कृषि संबंधी कतिपय उल्लेखों की चर्चा की जा रही है।

मारवाड़ के अभिलेखों में मंदिरों के लिए, बावड़ी, कूप या नहर के प्रतिष्ठालेख गोवर्द्धन लेख तथा गोचर अभिलेखों के अलावा भूमिदान (डोहलिका, डोहली, ढीमड़ा) के ताम्रपत्र आदि साक्ष्यों में खेतीबाड़ी संबंधित उल्लेख मिलते हैं।<sup>5</sup> मारवाड़ में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में पशुपालन भी मिश्रित कृषि व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। विशेष तौर पर भारतीय संस्कृति में जैविक खेती की विकासमान अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में इन मध्यकालीन गौरवको-शहीदों के स्मृति लेख<sup>6</sup> भी कृषि समाज के लिए बराबर महत्वपूर्ण हैं।

मारवाड़ में रिणधीर चूंडावत ने वि.सं. 1475 में 'बावड़ी' करवाई।<sup>7</sup> बाद में यह स्थान मोकल की बाड़ी (वाटिका-बगिया) के नाम से जानी गई। गौरतलब है कि यह वापी वर्तमान में प्रसिद्ध जलस्रोत कायलाना झील के परिक्षेत्र में आता है। स्पष्ट है कि तत्कालीन समय को देखते हुए स्थानीय शासकों ने कृषि से आय बढ़ाने में रुचि दिखाई। कीर्तिस्तंभ के रूप में तालाबों-वापियों के पास गोवर्द्धन लेख तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं की व्याख्या करते हैं।<sup>8</sup> जलस्रोतों की सुरक्षा और सफाई के अलावा भी और नये जलस्रोतों को खुदवाने की प्रेरणा देते हुए ऐसे गोवर्द्धन लेख मध्यकालीन ग्रामों में श्रद्धा के केन्द्र होते थे। कदाचित् आज के युग में ये सिर्फ पुरातात्विक-इतिहास प्रेमी शोधार्थियों के लिए ही उपादेय नहीं रह गये बल्कि बढ़ते जलसंकट और रासायनिक खेती के दुष्प्रभावों से निजात दिलाने वाली जैविक खेती के हिमायती संगठनों के लिए भी<sup>9</sup> उतने ही लाभकारी साबित हो रहे हैं।

कतिपय शिलालेखों में गाय-बछड़े का चित्र भी उत्कीर्ण है।<sup>10</sup> सेवाड़ी में राजा कटुकदेव के अभिलेख से स्पष्ट है कि यह भूमिदान का लेख होगा। चक्रस्वामीमंदिर एवं लक्ष्मीनारायण (नाणागांव) मंदिर में सुरभि अथवा गाय के बछड़े का चित्र उत्कीर्ण कर सुरभि लेख या गोचर अभिलेख<sup>11</sup> खड़े किये गये थे जिसका अर्थ है-उस भूमि में खेती नहीं की जायेगी। मध्यकाल में ऐसे साधारण प्रतीकात्मक चिन्ह भी एक पूरी कहानी या भाषण जितना प्रभावशाली होते थे। राजस्थानी लोक साहित्य में 'माल' शब्द का अर्थ है-ऊंचा खेत, श्रेष्ठ खेत।<sup>12</sup> उदयपुर में 'ऊपरमाल'<sup>13</sup> क्षेत्र काफी उपजाऊ है। शब्दकोश में 'मालसेरीणौ' नामक कृषि कर का भी उल्लेख मिलता है।<sup>14</sup> इस लिहाज से विचार किया जाये तो जालौर के भीनमाल को प्राचीनकाल में श्रीमालनगर या श्रीमालकोट<sup>15</sup> की संज्ञा देने से आशय आसपास अच्छी कृषि उपज होने से ही है। देवराज परमार ने सिद्धेश्वर देव स्थान के आचार्य को श्रीमालकोट के दक्षिण दिग्भाग में एक खेत प्रदान किया। खेतों के नामकरण भी कहीं कहीं ताम्रपत्रों से उल्लिखित है। जालौर के एक सामंत पूर्णराज परमार ने वि.सं. 1160 में बांधनवाड़ा गांव के पास आखा नामक खेत का आधा भाग सुनेल गांव के ब्राह्मण को दान दिया।<sup>16</sup> यहां ताम्रपत्र प्रशस्तिकार की साहित्यिक रुचि झलकती है। आखा अर्थात् अक्षत (पूर्ण) खेत का अर्द्ध (आधा) भाग दान दिया गया और दानदाता रहे पूर्णराज। गौरतलब है कि दैनिक बोलचाल में जजमान तथा ब्राह्मण अनाज को 'आखा' ही कहते हैं।

ताम्रपत्रों और शिलालेखों में किरातकूप (किराडू, बाड़मेर) और षट्कूप (खाटू), शिवकूप के उल्लेख मिलते हैं।<sup>17</sup> भौगोलिक मरुस्थलीय परिस्थितियों को देखते हुए कुओं के नाम पर गांव-नगरों की प्रसिद्धि लोकप्रचलित है। मारवाड़ के रेगिस्तानी इलाकों में आज भी नाडी-तालाब, कुआ, बावड़ी, बेरा-ढीमड़ा अथवा नलकूप ट्यूबवेल के नाम पर ढाणियां पहचानी जा सकती हैं। श्रीमाल नगर के पास चुंगी चौकी को 'मण्डपिका' कहा गया है।<sup>18</sup> इसमें 'परिकर' नाम से राजकीय कर का उल्लेख है हालांकि इसका स्पष्ट विवेचन अभी अनुसंधेय है। पं. श्रीमाली ने मंडपिका या मांडवी को चुंगीघर के रूप में आयात निर्यात शुल्क संग्रह स्थली माना है। शासक भूमिदान करते हुए कहीं कहीं पर पूरा गांव (गांव की सकल करों से आय) ही मंदिरों को दान कर देते थे। सत्यपुर (सांचौर) के सोलंकी सामंत सिंहराज ने वि.सं. 1054 में गोविंद के पुत्र नन्नुक को एक गांव अग्रहार के रूप में दान किया। तो चालुक्य दुर्लभराज के तंत्रपाल क्षेमराज ने वि.सं. 1069 को गोविंद पुत्र नन्नुक को ही क्षत्रियपद गांव दान दिया।<sup>19</sup>

स्थानीय सामंत अपने अधीनस्थ गांवों से प्रति मास दो या निश्चित द्रम्म मंदिरों के निमित्त अनुदान की घोषणा करते थे।<sup>20</sup> अभिलेखों में मंदिरों के पुजारियों की आजीविका हेतु निश्चित भूमि का स्थायी रूपेण दान भी करते थे। नाडौल के चौहान केलहन ने वि. सं. 1220 में संधीरण सुत नारायण को 'डोहलिका' दान की। ताम्रपत्र में उल्लिखित डोहलिका शब्द देशज है जिसका अर्थ है द्विहलिका अर्थात् एक बैल जोड़ी द्वारा जो दिन

में जोतने लायक माप की भूमि।<sup>21</sup>

मारवाड़ के मध्यकालीन ताम्रपत्रों के अंत में उनके स्थायित्व के लिए शुद्ध पौराणिक या धर्मशास्त्रीय श्लोक भले ही उद्धृत नहीं मिलते हैं, पर कभी-कभी मारवाड़ी अनुवाद अवश्य देखने को मिल जाते हैं।<sup>22</sup> अजमेर के नांदगांव से राठौड़ राव मालदेव का वि.सं. 1515 का ताम्रपत्र बताता है कि 345 बीघा अर्सिंचित भूमि के साथ 15 बीघा सिंचित भूमि गांव डाढण में उदक कर मौखिक (हाथ में जल संकल्प लेकर) दान दिया था। जमीन का सीमांकन भी दिया गया है।<sup>23</sup> स्पष्ट है कि मौखिक दान भी उतने ही मान्य थे। बाद में लिखित ताम्रपत्र तैयार होते थे। शासक उपलब्धि के अनुरूप सिंचित भूमि भी निस्संकोच दान देते थे। दानग्राही को किसी प्रकार की तकलीफ ना हो इसलिए सीमांकन भी किया जाता था। देवराज परमार के रोपीगांव वि.सं. 1059 के ताम्रपत्र में भी चारों तरफ सीमाएं निर्दिष्ट की गई थी।

ताम्रपत्रों में आवश्यक होने पर यह भी उल्लेख किया जाता था कि दी गई भूमि पर किसी तरह लाग-बाग नहीं ली जायेगी।<sup>24</sup> जहां सिंचाई व्यवस्था उपलब्ध होती थी वहां भूमि के साथ कुआं भी दान दिया जाता था।<sup>25</sup> शासकों से पूर्व जो द्वारा दान की गई भूमि को पुनः बहाल के भी उल्लेख मिलते हैं।<sup>26</sup> इससे स्पष्ट है कि शासकीय रिकार्ड में उनका पूर्ण व्यवस्थित आंकड़ा संकलित रखा जाता था और एक ही शासक के वंशज गलती से एक ही भूमि को अन्यत्र दान नहीं कर सकते थे। वैसे दानदत्त भूमियों को परवर्ती दूसरे वंश के शासक भी बदलने के बारे में विचार कम ही रखते थे।

जहां यह देखा जाता था कि दानग्राही स्वयं खेतीबाड़ी नहीं संभाल सकेंगे, वहां पर गांव धर्मशासनदान (सांसण) प्रदान किया जाता था। महाराजा अजीतसिंह ने पाली के सारण गांव से कृषि की प्रत्येक फसल पर वहां के हर अरहठ (कुआं) से एक झोली अनाज और दो रुपये नगद गोरमजी मठ के लिए दिलवाने का ताम्रपत्र जारी किया।<sup>27</sup> आज कोई भी आश्चर्य करेगा कि 'झोली' जैसा अप्रमाणिक माप भी उस समय शासकीय रिकार्ड में मान्य था। तथापि उस जमाने में करवंचना की प्रवृत्ति नहीं होने से ऐसी व्यवस्था भी सहज स्वीकार्य होती थी।

ताम्रपत्रों में उनाली (खरीफ/ग्रीष्मकालीन) फसल का उल्लेख है। बवाल (भंवाल) गांव के दानलेख में डोहलिये ब्राह्मणों को पुनः 'डोहली' दिये जाने के प्रमाण मिलते हैं।<sup>28</sup> मोहिल महाराजा ने प्रसिद्ध डिंगल कवि तेजा सामौर को 1500 बीघा कृषि भूमि हेतु और 12 बीघा लाडनूं में बसने हेतु दान दी थी।<sup>29</sup> कवियों को कृषि भूमि दान देने की परम्परा मध्यकाल से ब्रिटिशयुग तक लगातार देखी जा सकती है। केन्द्रीय शासकों द्वारा दिये गये दानपत्रों के अलावा मारवाड़ के सरदारों के द्वारा प्रदत्त क्षेत्र (खेत), अरहठ, डोहली आदि के दानपत्र भी उपलब्धि के आधार पर शोध की प्रतीक्षा में है। मध्यकाल में कृषि व्यवस्था पर उपलब्ध साहित्यिक स्रोतों के अलावा स्थानीय

अभिलेखों, ताम्रपत्रों, दानपत्रों के उपवन के नवीन तथ्यों के स्रोत उजागर होने पर अभिनव फूलों और फलों की समृद्धि लहराती है। नवीन तथ्यों में प्रकाश में कृषि-इतिहास की पौध प्रकाश-संश्लेषण (शोध) द्वारा अच्छी उपज (निष्कर्ष) प्रदान कर सकती है। इतिहास अगर कृषि है तो अभिलेख उसके कृषि उपकरण।

थांवाला (पुष्कर) में वि.सं. 1013 के शिलालेख में स्थानी अरहटों के क्षेत्रीय नामों एवं केदारक (क्यारी) आदि का उल्लेख है।<sup>30</sup> हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट धवल के बीजापुर अभिलेख वि.सं. 1053 में कर संबंधी कुछ उल्लेख भी है। उस समय में अनाज की माप के पैमाने द्रोण, कुमारद्रोण, कलश आदि होते थे।<sup>31</sup> मम्मट के वि.सं. 996 अभिलेख की श्लोक क्रमांक 17 में गोधूम (गेहूं), मुद्ग (मूंग), यव (जौ), राल (गोंद) आदि के बारे में 'द्रोणं प्रति माषकमेक' उल्लिखित है।<sup>32</sup>

चालुक्य दुर्लभराज द्वारा वि.सं. 1067 में ननुक को पूरा क्षत्रियपद दान दिया गया। उसमें सकाष्ठा (लकड़ी ईंधन), त्रिण (घासफूस) पूर्ति, गोचर (पशुचारण) का उल्लेख भी है। पं. गोविंद श्रीमाली ने 'भोग' का शब्दार्थ फल, मूल, शाक, दाधि से प्राप्त राजकीय आय बताया है। और 'भाग' उस समय राजदेय छटे, आठवें, दशवें भाग के शुल्क की संज्ञा है।<sup>33</sup> ताम्रपत्र में 'समभाग' शब्द का उल्लेख है अर्थात् दानग्राही को उतना ही कर मिलेगा जो शासक के लिए लागू होता।

चालुक्य भीमदेव के सामंत परमार चचुक का वि.सं. 1092 (ई. 1035) के ताम्रपत्र में ग्राही ब्राह्मण ईश्वरदेव को महिलाणक (महिणक, मैलाणा) गांव दान में दिया जिसके चारों ओर दीधूड़ी, बीराणग्राम, बहिराकूप गांव और सिन्धुकूप गांव स्थित थे।<sup>34</sup>

परमार कृष्णराज ने वि.सं. 1117 (ई. 1060) में जगतस्वामी मंदिर के लिए सचालिय गांव के अन्नसंग्रह में से एक द्रोण अन्न देने की घोषणा की।<sup>35</sup> महाराज अश्वराज के वि.सं. 1167 (ई. 1110) के सेवाड़ी अभिलेख से पता चलता है कि ६ अर्माथ चैत्य के लिए पदराड़ा, मेंद्रचा, छेछड़िया मददड़ी गांवों में प्रति अरहट एक-एक जवहारक प्रदान की जाएगी।<sup>36</sup> पं. श्रीमाली ने मूलपाठ में 'हारक' का अर्थ 'एक माप का पात्र' दिया है और जव-यव (जौ) प्रसिद्ध है। ताम्रपत्रों या शिलालेखों में परम्परागत अनुसरण से यह भी अंकित किया जाता था-<sup>37</sup>

*यस्य यस्य यदा भूमि तस्य तदा फलं।*

*बहुभिः वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः।।*

भावार्थ यह है कि जिस-जिस को जब भूमि मिलती है उस-उस को तब फल मिलता है। सेवाड़ी के वि.सं. 1176 (ई. 1120) के ताम्रपत्र में पुराकथा किंवदन्ती का भी उल्लेख है। कन्नौज के शासक जाजुक ने गोविंद ब्राह्मण को इतनी भूमि दान की, जितनी भूमि पर वह अश्वारोही होकर चार प्रहर (एक दिन) में घूम सके। इसी नाम पर गांव का नाम गोविन्दकूर्वा (गुंदोज) पड़ गया।<sup>38</sup> कालांतर में यह लोकप्रसिद्ध साहित्यरूढ़ि बन गई।

नाडलाई मंदिर के लिए चौहान विसराक (विश्वराज) ने एक घाणक (घाणी) तेल में से एक कलश परिमाण तेल अनुदान की घोषणा की।<sup>39</sup> कृषि आदानों का सीधे ही बिना मुद्राविनिमय के ऐसा अनुदान स्थानीय धार्मिक संस्थाओं के प्रति लोकसहयोग का द्योतक है। शिलालेख से 'घाणक' और 'कलश' आदि नाप सूचक शब्द प्रचलित होने की जानकारी मिलती है। राजबाल (राजकुमार) मोकलराज द्वारा वि.सं. 1192 में लक्ष्मण मंदिर (सेवाड़ी) के निमित्त पूर्व प्रदत्त भूमि को स्थायी रूप से करमुक्त करने की घोषणा की।<sup>40</sup>

नाडलाई पाषाण स्तंभ लेख वि.सं. 1195 (ई. 1138) से स्पष्ट होता है कि भारवाहक बैलों वाले व्यापारी (बाळदिये) से सामान, माल भी कर के रूप में लिया जाता था।<sup>41</sup> जूना (बाड़मेर) में वि.सं. 1352 के अभिलेख से 10 ऊंट एवं 20 बैलों के बालद (सार्थत्र कारवां) से दो-दो 'पायला' (धान का माप) लेने का वर्णन है। नाडलाई में रायपालदेव के ई. 1143 के लेख से 'पाइला' माप वल (पल) और पलिका आदि मापों का उल्लेख मिलता है।<sup>42</sup> पं. श्रीमाली के अनुसार पाइला तौल की प्रतिस्थापक इकाई, विंशोपक (एक मुद्रा), प्ली पल्लिका का संकेताक्षर और वल-पल पल्लिका से अर्थग्रहण किया जाना चाहिये।<sup>43</sup> गौरतलब है कि गांवों में 'पायली' आज भी तौज की वैकल्पिक प्रणाली है। कहावतों में भी 'सेर पायली बाजरी उधार' आदि उल्लेख मिल जाते हैं।

इनके ही अन्य मंदिर अभिलेख में मोणिपति, पाइलप्रति, तद्द्रोण प्रति तौल्ये धड़ी प्रति आदि शब्दसमूहों का उल्लेख मिलता है।<sup>44</sup> लोक में एक धड़ी पांच सेर के बराबर तौल की इकाई है। द्रोण या द्रोणी मारवाड़ी में 'दिमाणियां' के रूप में आज भी प्रचलित है। जैसे द्रोणिका का अर्थ प्याली (छोटी कटोरी) भी है। आदिवासी इलाकों में पतल-दूना बनाये जाते हैं। 'द्रोण' शब्द और 'दोने' में साम्य है। शिलालेखों में खड़ी लकीर । एक पाई एक पाव की सूचक है और दो लकीरें ।। आधा सेर की सूचक है।

कृषि उपज के मातपौल संबंधी कुछ जानकारी महाराज अल्हणदेव के खण्डित ताम्रपत्र से भी हो जाती है। इसमें द्रमक, द्रम्म (पांच रुपये के बराबर की मुद्रा) का उल्लेख है। द्रोण (चार आढ़क) और कुमारद्रोण (अन्न का माप) आदि सिक्के और माप के शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे मेहरी सोमिका कुमारद्रोण गेहूं में से पांच द्रोणी मंदिर के लिए देती रहेगी।<sup>45</sup>

संस्कृत के अभिलेखों में तीन हल भूमि दान के लिए 'हलत्रय' दो हल के लिए 'हलद्वय' शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>46</sup> इस प्रकार गांवों में दान की भूमि के लिए लोक प्रचलित भूमापन इकाई 'हल' का संस्कृत में अक्षरशः प्रयोग हुआ है। जाहिर है कि दो हल भूमि के लिए द्विहलिका, डोहलिका, डोहली आदि देशज शब्द भी ताम्रपत्रों में प्रयुक्त किये गये हैं। कालांतर में मंदिरों के पीछे पुजारियों को स्थायी रूप से दी गई भूमि को 'डोहली'<sup>47</sup> के रूढ़ अर्थ में मान लिया गया। लोकजीवन के ऐसी और भी कहावतें

रूढ़ हो गई गई हैं यथा- दानलेखों से पता चलता है कि पूर्व मध्यकाल में खेत को 'ठीको' या 'ढीको' भी कहा जाता था। लेख में नारायणस्य ढीको, महस्वामी ढीकु और रानल ढिकु शब्द उल्लिखित हैं।<sup>48</sup> संभवतः अरहट्ट को ढेंकुली कहने के कारण स्थानीय नाम ढीको, ढीकु, ढिकु, ढीमड़ा आदि रूपभेद भी लेखों में अंकित मिलते हैं। बामनेरा ताम्रपत्र वि.सं. 1223 (ई. 1167) में भी टीकु, ठिकः, ठीकः, ढिव तथा अरघटः शब्द उल्लिखित हैं।

सांडेराव मंदिर में वि.सं. 1221 (ई. 1165) के महाराजा केलहनदेव के अभिलेख से कृषि संबंधी काफी तथ्य मिलते हैं।<sup>49</sup> लेख में जोतने योग्य भूमि को 'हाएल' लिखा गया है जो 'हल' मापक इकाई का ही बोलीभेद है। जोतने योग्य भूमि के लिए 'युगंधर्याः' संस्कृत शब्द उत्कीर्ण है। बैलों की जोड़ी को युगल मानें तो एक जोड़ी बैल द्वारा एक दिन में जोतने योग्य धरा ही 'युगंधरा' कहलाती है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी 'युगंधरा' शब्द मिलता है।<sup>50</sup> हालांकि डॉ. भण्डारकर ने युगंधर्या का अर्थ ज्वार (एक धान विशेष)<sup>51</sup> बताया है। शब्दकोशों में केवल युगंधर, युगंधरा आदि शब्द ही सम्मिलित हैं। माना जाना चाहिये कि देशज प्रभाव से 'युगंधर्या' शब्द भी लोकप्रचलित तो अवश्य था। लोक प्रचलन में बाजरया, मकिया, फूलिया, घेघरिया आदि शब्द भी विद्यमान हैं। पं. श्रीमाली ने ऐसी स्थिति में 'हाएल' का अर्थ दिया है- 'एक दिन में हल चलाने से बोया जाने वाला अनाज का अनुपात'। इस प्रकार प्राचीन लेख में इस शब्द का प्रयोग से भावार्थ निकलता है कि सांडेराव के गणमान्य जनों ने एक-एक हाएल युगंधर्या मंदिर के निमित्त प्रदान की। इसका गूढ़ अर्थ यही हो सकता है कि सभी दानदाताओं ने एक-एक हल जमीन में ज्वार बोकर उसकी उपज मंदिर को दान करने की घोषणा की। लेख माघ वदी द्वितीया को लिखित है और उसमें आगामी चैत्र सुदी 13 के कल्याणोत्सव के लिए अग्रिम घोषणा का उल्लेख किया गया है। इस संबंध में और अनुसंधान की आवश्यकता है।

लालराई (नाडौल) के राजपुत्र लखनपाल अभयपाल के वि.सं. 1223 के अभिलेख से पता चलता है कि उस समय 'गूजर' (गुजराती) माप भी प्रचलित थे। लेख में 'भडियाउव अरघट उरहारि मध्यानतः गूजर हारक जवा' पद उत्कीर्ण था। गांवों में खेतों के नाम 'याव' के रूप में (आज भी 'जाव' के रूप में) लोक प्रचलित है। जैसे बालियाव, हरियाव, उलियाव आदि। पं. गोविंद श्रीमाली ने इसका अन्वय 'गूजरात् त्रिहारक जवा' के रूप में किया है।<sup>52</sup> उन्होंने स्पष्ट भी किया है कि दक्षिणी मारवाड़-गोडवाड़ में यव (जौ) एवं गोधूम (गेहूँ) के मिश्रण को 'गुज्जी' कहा जाता है। अभिलेख में उत्कीर्ण गूजर हारक का अर्थ तीन हारक नाप गुज्जी है तथा एक हारक जवा (जौ) देने का संकेत है।

स्पष्ट है कि इन अभिलेखों में पूर्व मध्यकालीन कृषि शब्दावलियों के लोक प्रचलित रूपों का अंकन हुआ है उनकी सटीक व्याख्या के लिए इतिहासकारों को

लोकभाषा की तरफ देखना पड़ता है। चूंकि 'गूजरी' शब्द लालराई के ही अन्य अभिलेख (वि.सं. 1233) में भी उत्कीर्ण है।<sup>53</sup> उससे तुलना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'गूजरी' एक लोक प्रचलित माप रहा है। धार्मिक दृष्टि से भी देखा जाये तो भिक्षाटन करने वालों को 'गूजरी पर जाना' कहते हैं। उनको दिये जाने वाले धान की मात्रा को 'गूजरी' कहना लोकसम्मत है।

कल्याणराय मंदिर, फलौदी में वि.सं. 1236 (ई. 1180) के सम्राट पृथ्वीराज चौहान के अभिलेख में देशज भाषा प्रयुक्त हुई है।<sup>54</sup> इसमें स्पष्टतः 'खेतं उन्हालु सिआलु' धान्य उपज का पांचवां भाग मंदिर के निमित्त दान की घोषणा की गई है। जिसका अर्थ है खेत में खरीफ-रबी की उपज। अभिलेख में डोहलिया (डोहलिका) देशज शब्द का प्रयोग लोक प्रचलित कृषि शब्दावली की परिचायक है।

चूंकि मारवाड़ में केवल वर्षाधारित खेती ही प्रचलित है इसलिए अभिलेखों में वर्षाकाल में ही वर्ष में एक बार देवदाय (दान) का निर्देश मिलता है।<sup>55</sup> अभिलेखों ने कृषकों द्वारा राजा को दशांग भोग का उल्लेख है जिसमें फल, फूल, शाक, दूध, दही, लकड़ी, अनाज, दाल आदि सम्मिलित हैं। राजकीय कर के रूप में उदंग (भूमिकर) और परिकर (उपरिकर) का उल्लेख मिलता है।<sup>56</sup> वि.सं. 1239 के परमार बंधुराज के ताम्रपत्र में इनका हवाला है। एक संस्कृत अभिलेख (वि.सं. 1241 पाल गांव) में जागीरदार के अर्थ में 'स्वभुज्यमान' शब्द का उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में वर्णित कुछ तथ्य विचित्र लगते हैं। वि.सं. 1292 में नगर (मारवाड़) के अभिलेख में वर्णित है कि वि.सं. 982 में श्रीनगर महास्थान में अतिवर्षा (बाढ़) के कारण विनष्ट मंदिर में वि.सं. 1292 में पुनः नयी मूर्ति स्थापित की गई।<sup>57</sup> यह अनुसंधान का विषय है कि अभिलेख में वर्णित नगर राड़धरा नगर है या महेवानगर।<sup>58</sup> यह शायद मेवानगर (नाकोड़ा) भी हो सकता है। बाड़मेर में पिछले वर्षों में 'कवास, मलवा' की भारी बाढ़ को देखते हुए शिलालेख की प्रामाणिकता पर उंगुली उठाने की शायद जरूरत नहीं पड़ेगी।

हथूंडी में वि.सं. 1356 के सामंतसिंह के अभिलेख से पता चलता है कि रातामहावीर देवश्री की पूना के लिए नेचपद्र गांव के नेचार्थ (पुष्पमाला) 24 द्रम्म दान की व्यवस्था की गई। गांव को नाम ही नेचवा पड़ गया। जालौर में महावीर मंदिर के वि.सं. 1323 (ई. 1266) के चाचगदेवकालीन अभिलेख में नगद दान के ब्याज से नेचक (पुष्पमाला) की व्यवस्था की गई। शिलालेख में गेहूं, जौ, मूंग आदि मेयवस्तु (मापने योग्य) मानी हैं<sup>59</sup> तौलने योग्य नहीं। पं. श्रीमाली ने द्रोणक (द्रोणी), माणक (मण) को अन्नमापक बताया है। मारवाड़ में पांच पायली के समान एक बिमाणिया होता था।<sup>60</sup>

भीनमाल से वि.सं. 1333 के पाषाणलेख में वहिका (वाटिका), हलसहडी सेलहथभाव्य एवं 'पंचसेलहथ' आदि शब्द उत्कीर्ण हैं। पं. श्रीमाली के अनुसार हलसही या हलसहडी वह कर जो एक हल द्वारा बुवाई की उपज पर आंका जाता था।<sup>61</sup>

कान्हाड़देव प्रबंध में 'सेलहथ' शब्द को ग्रामीण क्षेत्र में 'राजकीय पदाधिकारी' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है अभिलेख में 'श्रीकरणीय पंचसेलहथ' का अर्थ होगा सही (हस्ताक्षरयुक्त प्रमाणित) करने वाले पंचायत पंच मय राजपदाधिकारी। इस संदर्भ में 'सेलहथभाव्य' का अर्थ भी एक प्रकार का कर ही है।

यह विचित्र सत्य है कि राजस्थानी शब्दकोश में 'सेलहथ' का अर्थ केवल 'भाला थामे सैनिक' ही दिया है।<sup>62</sup> स्पष्ट है कि प्राचीन कालीन कृषि शब्दों का रूपांतर होते होते कतिपय शब्द संभवतः लुप्त हो चुके हैं। उनका सही अन्वय और भावार्थ कहीं अन्यत्र स्रोतों में मिलने वाले वर्णन के आधार पर ही किया जा सकता है। गौरतलब है कि राठौड़ महाराज हम्मिरदेव का वि.सं. 1573 (ई. 1516) में फलौदी दुर्ग के अभिलेख में कर्मचारियों के नाम व पद का उल्लेख है। उसमें भी 'सेलहथ' चौहान का उल्लेख है। यह एक संयोग ही नहीं है कि फलौदी परगने से संबंधित मुहनोत नैणसी ने कालांतर में मारवाड़ राज्य के कृषि राजस्व संबंधी आंकड़ों का अत्यन्त ही वैज्ञानिक पद्धति से संकलन करवाया। उसमें भी गांवों की जातिवार घर संख्या, खेती लायक हलों की संख्या और कृषि स्रोतों का समसामयिक शब्दावली में वर्णन मिलता है।

हथूंडी के शिलालेख से स्पष्ट है कि मंदिर में पूजा के लिए पुष्पमाला नेचक की नियमित व्यवस्था करने वाले गांव का ही नाम 'नेचापद्र' था। यह गांव नाणा गांव (पाली) के पास स्थित नेचवा गांव ही है। लोक में उक्ति है-'लोकेन दत्तानि पुष्पाणि नेचकानि'। कृषि उत्पादों के संग्रहण के लिए अभिलेख में 'माण्डिकायां' एवं 'मंडपिकायां' दोनों ही शब्द प्रस्तुत हुए हैं। स्पष्ट है कि लोक में मण्डी, मांडवी आदि रूपभेद<sup>63</sup> भी कालांतर में सहज प्रचलित हो गये हैं।

नाडौल परगने के बाघसीण गांव में वि.सं. 1359 के अभिलेख से पता चलता है कि सभी सोलंकी समुदाय ने अरहट-अरहट प्रति चार सेई गेहूं, ढीवड़ा प्रति दो सेई गेहूं शान्तिनाथ देवयात्रा के लिए दान दिये।<sup>64</sup> अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरहट और ढीवड़ा से अलग सिंचाई पद्धतियों से कृषि भूमि एवं उपज भी अलग-अलग परिमाण में संबंधित होती थी। माप की इकाई 'सेई' का भी उल्लेख मिलता है। शब्दकोश में अनाज मापने के इस पात्र की क्षमता आधा मण बताई है।<sup>65</sup> अभिलेख में दिये गये नामों से ज्ञात होता है कि सोलंकी समुदाय के लोग स्वयं खेती करते थे और सिंचित खेती से भी उनकी आय होती थी। गौरतलब है कि मारवाड़ में राजपूतों का एक वर्ग कृषक भी है। इसके अलावा अन्य कृषक जातियों यथा सीरवी आदि में सोलंकी गोत्र विद्यमान है।<sup>66</sup> इस प्रकार ऐसे अभिलेख आगामी शोध के लिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं। मारवाड़ में राठौड़ सत्ता से प्रमुखों में एक राव चूण्डा ने जैतपुर (भाद्राजून) में पुरोहित जगरूप को 2000 बीघा और बड़ली गांव में 23000 बीघा जमीन 'रामार्पण' पुण्यदान कर दी। ये ताम्रपत्र अभिलेख देशज मारवाड़ी में महाजनी देवनागरी में मिले हैं। डॉ. ओझा ने इन्हें संदिग्ध माना है।<sup>67</sup> हालांकि कृषि शब्दावली के दृष्टिकोण से देखा जाये तो

दूसरे अभिलेखों में भी संस्कृत के साथ देशज शब्द मिश्रित मिलते हैं। इससे भी लगभग 150 वर्ष पुराने अभिलेखों में देशज राजस्थानी शब्द उत्कीर्ण हैं जिनका विवेचन इस लेख में भी किया गया है। चाहे जो भी हो, स्थानीय भाषा में अंकित ऐसे अभिलेख आम जनता के लिए तो सहज बोधगम्य होते थे।

रणकपुर में वि.सं. 1496 (1439 ई.) के प्रशस्ति लेख में 'विषम समय सत्रागार' उत्कीर्ण है।<sup>68</sup> गोविंद श्रीमाली ने धरणाशाह को अकाल के समय में धान्य भण्डार खुलवाने वाला माना है।<sup>69</sup> कालांतर में देख सकते हैं कि भामाशाह ने महाराणा प्रताप को विषमकाल में प्रचुर धन समर्पित किया था इसलिए धरणाशाह जैसे श्रेष्ठ द्वारा अकाल में गरीब किसानों के हितार्थ धन भण्डार खोले जाने की बात पूर्णतः विश्वसनीय लगती है। ध्यातव्य है कि महाराणा प्रताप और राजकुंवर अमरसिंह के तीन ताम्रपत्रों पर साक्षी के रूप में वि.सं. 1639, 1639 एवं 1656 में भामाशाह के हस्ताक्षर हैं। इनमें क्रमशः मीघेसर, डायलाणा और रायपुरिया गांव दान में देने के उल्लेख हैं।<sup>70</sup> इनमें भी कृषि भूमि एवं गांव दान में दिये जाना वर्णित है।

जोधपुर के राव मालदेव ने वि.सं. 1595 में गांव 'डाडण' में 345 बीघा कांकड़ की (असिंचित) और 15 बीघा पीवल (सिंचित) गोरबो (गांव के पास ही) जमीन दान दी।<sup>71</sup> पूरा ताम्रपत्र देशज भाषा में ही है।

रजल्यानी गांव में वि.सं. 1597 के वापीलेख से पता चलता है कि बगड़ी ठाकुर को इस बावड़ी निर्माण में 121 मन पटसन, 226 मन अफीम डोडा पोस्त, 1121 मन घी, 2555 मन गेहूं तथा 11,121 मन दूसरे अनाजों का खर्चा नगद खर्चों के अलावा पड़ा।<sup>72</sup> इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि करीब 13,676 मन अर्थात् 5480 बोरी अनाज की व्यवस्था ठाकुर द्वारा की गई। यह अनाज प्रायः अधीनस्थ किसानों से ही हासिल किया गया होगा। इस प्रकार 'काम के बदले अनाज योजना' आधुनिक युग में ही नहीं, मारवाड़ में तो पहले से ही प्रचलित मानी जा सकती है।

अभिलेख में गेहूं के लिए 'गोहु' शब्द काम में लिया गया है। संस्कृत में गेहूं को 'गोधूम' कहा जाता है। इस प्रकार तत्कालीन लोकभाषा में 'गोहु' शब्द दोनों रूपों के बीच की कड़ी है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे तथ्य महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार मारवाड़ के उपरोक्त शिलालेखों में वि.सं. 1600 तक की तत्कालीन कृषि शब्दावली के माध्यम से सामाजिक इतिहास की खिड़कियों में झांकने का अवसर मिलता है। विक्रमी 1600 के बाद के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में वर्णित तथ्यों का समकालीन राजकीय बहियों, स्रोतों एवं साहित्यिक ग्रंथों से तुलनात्मक अध्ययन करने की सहूलियत मिल जाती है। इस शोध लेख का उद्देश्य यही है कि इधर-उधर विस्तीर्ण प्रकीर्ण कृषि संबंधी तथ्यों को एक स्थान पर रखा जाने से आगामी शोधानुसंधित्सुओं को नवीन दृष्टिकोण से अनुसंधान की रूपरेखा मिल सके।

## सन्दर्भ

1. डॉ. ब्रजमोहन जावलिया, राजस्थानी लोकजीवन शब्दावली, पृ. 5
2. द्रष्टव्य डॉ. ग्रियर्सन कृत बिहार पीजेण्ट लाइफ 1885 ई.
3. हरिहरप्रसाद का 'पाणिनीकालीन कुछ कृषि शब्दावली' शीर्षक लेख, भारतीय साहित्य, जुलाई 1958
4. डॉ. ब्रजमोहन जावलिया, वही ( भूमिका में स्पष्ट उल्लेख है ), पृ. 8-9
5. पं. गोविंदलाल श्रीमाली, राजस्थान के अभिलेख ( भाग प्रथम ), भूमिका, पृ. 12
6. वही, पृ. 14-15
7. संपादक महाराजकुमार रघुवीरसिंह, जोधपुर हुकूमत री बही ( हस्तलिखित ग्रंथ ) से
8. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 15
9. डॉ. ए.के. शर्मा, जैविक खेती सतत सजीव, गाय का जैविक खेती में महत्व
10. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 15
11. डॉ. भण्डारकर, प्रो.रि.आ.सर्वे. वेस्ट सर्किल, 1907 ई., पृ. 49; पं.श्रीमाली, वही, पृ. 219
12. पद्मश्री सीताराम लालस, राजस्थानी हिन्दी सबदकोस
13. डॉ. प्रकाश पुरोहित, स्वतंत्रता संग्राम कालीन पत्रकारिता
14. पद्मश्री सीताराम लालस, वही
15. रोपीगांव का वि.सं. 1059 का महाराज देवराज परमार का ताम्रपत्र ( डॉ. भण्डारकर )
16. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 20
17. वही, पृ. 21, 23, 24, 141, 171, 175, 183
18. वही, पृ. 19, 129, 139, 150, 191, 234, 241, 254
19. वही, पृ. 19 एवं 20
20. वही, पृ. 23, 24, 106, 118, 129, 131, 135
21. वही, पृ. 23
22. वही, पृ. 25
23. वही, पृ. 28
24. महाराजा जसवंतसिंह ( प्रथम ) का वि.सं. 1700 आसोज सुदि 7 का ताम्रपत्र
25. वही, वि.सं. 1706 आसोज सुदि 9
26. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 31
27. महाराजा अजीतसिंह का वि.सं. 1752 ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी ताम्रपत्र
28. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 33
29. वही, पृ. 34
30. वही, पृ. 40-41
31. वही, पृ. 45
32. वही, पृ. 57-58
33. विविध ग्रंथों में अलग-अलग उल्लेख मिलते हैं।
34. विश्वम्भरा, बीकानेर वर्ष 4 अंक 1-2, 1967 र्क., पृ. 35
35. डॉ. मांगीलाल मयंक, मारवाड़ के अभिलेख, पृ. 10
36. दुर्गालाल माथुर, राजस्थान के अभिलेख खण्ड प्रथम, पृ. 12-13
37. देखिए पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 86, 132, 140, 153, 190, 254, 191, 238, 249
38. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 92
39. पूर्णचंद्र नाहर, जैनलेख संग्रह भाग प्रथम लेखांक 842, पृ. 212
40. वरदा वर्ष 25, अंक 1 जनवरी मार्च 1992 में राधावल्लभ सोमानी का लेख
41. मुनि जिनविजय, प्राचीन जैन लेख संग्रह ( भाग दो ), पृ. 191
42. पूर्णचंद्र नाहर, वही, लेख सं. 844, पृ. 213-14
43. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 108
44. दुर्गालाल माथुर, राजस्थान के चौहान अभिलेख, पृ. 40
45. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 119-120
46. वही, पृ. 150 एवं 238
47. वही, पृ. 178, साथ ही द्रष्टव्य वामनेश ताम्रपत्र ( वि.सं. 1223 ), बिजोलिया अभिलेख ( वि.सं. 1236 )
48. एपिग्राफिया इंडिका वाल्यूम 13, पृ. 206 में बी.एम. गोरे का लेख
49. पूर्णचंद्र नाहर, जैन लेख संग्रह भाग प्रथम, संख्या 883, पृ. 229
50. डॉ. श्रीमती पुष्पा दीक्षित, अष्टाध्यायी सहजबोध ( चतुर्थ खण्ड ) तद्धित प्रकरण से
51. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 154-155
52. वही, पृ. 173
53. पूर्णचंद्र नाहर, जैन लेख संग्रह भाग प्रथम, पृ. 231
54. डॉ. टैस्सिटोरी, जर्नल प्रॉसीडिंग्स ऑफ एशियाटिक सोसायटी बंगाल खण्ड 12, पृ. 93
55. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 186 एवं 241
56. वही, पृ. 180-189
57. पूर्णचंद्र नाहर, जैन लेख संग्रह भाग द्वितीय लेखांक 1713, पृ. 166
58. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 232-233
59. मुनि जिनविजय, प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग 2, लेखांक 363, पृ. 217
60. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 232-233
61. वही, पृ. 240
62. पद्मश्री सीताराम लालस, वही, पृ. 845
63. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 254
64. वही, पृ. 255
65. पद्मश्री सीताराम लालस, वही, पृ. 841
66. द्रष्टव्य मुंशी हरदयालसिंह, राजमारवाड़ मरदुमशुमारी रिपोर्ट वर्ष 1891
67. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 276
68. भावनगर प्राचीन शोध संग्रह, पृ. 56-58
69. पं. गोविंद श्रीमाली, वही, पृ. 283-285
70. वही, पृ. 35 ( भूमिका )
71. विश्वम्भरा वर्ष 10, अंक 1, पृ. 47
72. मांगीलाल व्यास मयंक, जोधपुर राज्य का इतिहास ( प्रथम परिशिष्ट ), पृ. 292-293

## हर्षनाथ का सांस्कृतिक वैभव

डॉ. सतीशकुमार त्रिगुणायत

सीकर से लगभग 11 किमी. दक्षिण में स्थित हर्षनाथ अपने सांस्कृतिक वैभव के कारण सदियों से जनआस्था के केन्द्र रहा है। वर्तमान में हर्षनाथ नामक ग्राम हर्षगिरि की तलहटी में बसा हुआ है। हर्षगिरि, अरावली पर्वतमाला की पूर्वी श्रेणी की सर्वाधिक ऊंची चोटी है जो लगभग 300 फीट ऊंची है। ऐसी मान्यता है कि त्रिपुरासुर के संहार से उत्पन्न हर्ष के कारण इन्द्रादि देवताओं द्वारा हर्षरूप शंकर भगवान की इस पर्वत पर आराधना की गई जिससे भगवान शिव का नाम हर्षदेव, इस पर्वत का नाम हर्षगिरि एवं समीपस्थ नगरी का नाम हर्षनगरी प्रसिद्ध हुआ। पर्वत पर हर्ष देव (शिव) के प्राचीन मंदिर के खण्डहर हैं।<sup>1</sup> इसे शाकम्भरी के चौहानों के कुल देव की मान्यता प्राप्त है जिसकी पुष्टि हर्षगिरि से प्राप्त काले प्रस्तर पर उत्कीर्ण चाहमान विग्रहराज द्वितीय के संवत् वि. 1030 के शिलालेख<sup>2</sup> से होती है। लेख में हर्ष पर्वत की स्थिति 'अनन्त' या 'अनन्त गोचर' प्रदेश में मानी गई है। विद्वानों ने अनन्त प्रदेश को शाकम्भरी के चाहमानों की जन्मभूमि माना है।<sup>3</sup> बिजौलिया अभिलेख में भी चाहमान नरेश सामन्त को अनन्त का शासक बताया है।<sup>4</sup> श्री रावत सारस्वत ने सम्भावना व्यक्त की है कि पाशुपत शैव सम्प्रदाय के आचार्य लकुलीश के शिष्य अनन्त की तपसाधना का क्षेत्र होने के कारण हर्ष का समीपवर्ती भूभाग 'अनन्त' के नाम से लोकप्रिय हुआ होगा।<sup>5</sup> प्रतिहारों एवं चौहानों के शासनकाल में हर्ष अथवा हरस गांव की गणना सांभर प्रदेश के प्रमुख पवित्र स्थलों में होने के कारण इसकी प्रसिद्धि हर्षपुर या हर्षनगरी के नाम से चतुर्दिक थी। जैन मुनि सिद्धसेन सूरि ने अपने ग्रंथ सर्वतीर्थमाला (वि.सं. 1123) में खण्डेला, डीडवाना, नराणा, खाटू, नागौर एवं सुद्धदन्ती आदि स्थानों के साथ साथ हर्षपुर की वन्दना एक तीर्थ के रूप में की है-<sup>6</sup>

*खंडिल्ल, डिडुयाणय, नराण हरस उर खट्टउ एसु।*

*नायउर, सुधदन्तीसु, संभरि देसेसु वंदामि।।*

स्थानीय जनमानस में प्रचलित एक प्राचीन कहावत में कहा गया है कि 'जगमालपुरा हर्षनगरी जीमै हाठ हजार मटै, गुदडी बमै तालाब बडी छतरी' अर्थात् हर्ष के बड़े पोखर और जगमालपुरा के मकबरे के मध्य बाजार व हजार दुकानें थीं। हर्ष ग्राम में हाथियों के ठान एवं अस्तबलों के भग्नावशेषों की प्राप्ति से इस स्थान के महत्व का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। जनश्रुति के अनुसार पुराना कस्बा लगभग 36 मील के घेरे में था और इसमें लगभग 900 कूप थे। इसमें निर्मांकित आधुनिक गांव सम्मिलित थे-कटराथल (कटला बाजार), कासली (कसाई बाड़ा या कसाइयों का बाजार) एवं जगमालपुरा

(गुदडी या साप्ताहिक हाट) छत्रधारा नामक नदी शहर के मध्य प्रवाहित होती हुई रेवासा झील में गिरती थी। हर्षनाथ को प्रकाश में लाने का श्रेय जी.ई. रैंकिन एवं सार्जेन्ट ई. डीन को है जिन्होंने 1834 को इस स्थान की यात्रा की थी। सीकर ठिकाने के अंग्रेज अधिकारी कैप्टन ए.एफ.टी. वैब (1934-1938) ने हर्षनाथ से प्राप्त पुरावशेषों का सीकर में एक संग्रहालय स्थापित किया।<sup>8</sup> वैब द्वारा स्थापित संग्रहालय का अस्तित्व यद्यपि समाप्त हो गया है किन्तु 1995 में राजस्थान के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग ने एक नवीन संग्रहालय (लोकार्पण 28 जून 2006) की स्थापना कर हर्षनाथ से प्राप्त पुरावशेषों को संग्रहीत कर प्रदर्शित किया है। ये पुरावशेष हर्षनाथ के सांस्कृतिक वैभव को प्रदर्शित करने हेतु जीवंत प्रमाण हैं। हर्षगिरि से प्राप्त संवत् (वि.) 1030 के अभिलेख का प्रारम्भ शिव एवं विघ्नहर्ता गणेश की स्तुति से हुआ है। इसके पश्चात् हर्षनाथ (शिव), हर्षगिरि की अनुपम शोभा एवं हर्षनगरी का विवरण दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त लेख में शाकम्भरी के चाहमानों-गूवक से लेकर दुर्लभराज द्वितीय तक की वंशावली एवं चाहमान शासकों द्वारा मंदिर के लिए दिये गये ग्राम दान एवं अन्य दानों का वर्णन मिलता है। लेखक एवं उत्कीर्णक का नामोल्लेख अभिलेख में नहीं है किन्तु अभिलेख के रचयिता के रूप में धीरनाग नामक व्यक्ति का उल्लेख है जो करणिक थीरूक का पुत्र था। करणिक अथवा करण को प्राचीन काल में कायस्थ (लेखक)<sup>9</sup> का पर्याय माना जाता था। डॉ. आर.एस. त्रिपाठी के अनुसार राजाज्ञा तथा कानूनी दस्तावेज लिखने वाले व्यक्तियों के लिये उस समय करणिक शब्द का प्रयोग किया जाता था जो प्रायः कायस्थ होते थे।<sup>10</sup> अभिलेख में पाशुपत धर्म एवं उसके आचार्यों का वर्णन मिलता है।<sup>11</sup> लेख में मुनि 'विश्वरूप' का पंचार्थ 'लाकुलाम्नाय' एवं 'अनन्तगोत्र' से सम्बन्ध बताया गया है। उसका शिष्य 'अल्लट' (भावरक्त) वार्गाटिका (बागड़ा/बागड़ी) कुल का ब्राह्मण था जो समीप के (रानोली) ग्राम की 'सांसारिक कुल' परम्परा का अनुयायी था। डॉ. वी.एस. पाठक ने पंचार्थ को 'पाशुपत सूत्र' का पर्याय माना है।<sup>12</sup> शिव पुराण में 'पंचार्थ विद्या' का उल्लेख मिलता है और पाशुपत सूत्रों के रचयिता लकुलीश के अनुयायियों को ही 'पांचार्थिक' माना जाना चाहिए। लेख में मंदिर का निर्माता भावरक्त (अल्लट) को बताया गया है। जो संयमी, ब्रह्मचारी एवं तपस्वी था। मंदिर का निर्माण संवत् 1013 में सम्पन्न हुआ। लेख में मंदिर को बनाने वाले शिल्पी वीरभद्र के पुत्र चण्डशिव का उल्लेख वास्तुकला के विशेषज्ञ के रूप में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संवत् 1013 में निर्मित इस मंदिर का निर्माण पूर्व निर्मित मंदिरों के खण्डहरों पर किया गया होगा जिसका संकेत हमें अभिलेख के 13वें छंद में मिलता है-आद्यः श्रीगूवका- ख्याप्रथितनरपतिश्चाहामानान्वयोभूत..... यस्य श्री हर्षदेव वरभवनमयी भैतली कीर्तिमूर्ति-ल्लोकेद्यापि स्थिरैषा प्रतपति परमैः-यहां चाहमान नरेश गूवक के समय में हर्ष पर्वत पर हर्ष देव के मंदिर कीकीर्ति का उल्लेख है। इस उल्लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्माणाधीन नूतन शिव मंदिर (वि.सं 1013) के पूर्व भी कोई अन्य शिवालय वहां विद्यमान रहा होगा जिसका निर्माण गूवक ने करवाया होगा।

मंदिर में पहुंचने के लिये कुछ सीढ़ियां हैं, जिस स्थान पर सीढ़ियां पहुंचती हैं वह स्थान अहाता रहा होगा। वहां स्तम्भों का एक युग्म है जो आरम्भ में प्रवेश द्वार की मेहराब को सहारा देता होगा जैसा कि शिलालेख में वर्णित है। अभिलेखीय विवरण के अनुसार मंदिर के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें गर्भगृह, अन्तराल, सभामण्डप और मुखमण्डप कोई भी अपनी मूल स्थिति में नहीं है, इनका पुनर्निर्माण उन्हीं अवशेषों पर किया गया है। इनके अधिष्ठान या वेदी वन्द भाग प्राचीन प्रतीत होते हैं। गर्भगृह का उत्तुंग शिखर नहीं है। मंदिर का बाह्य भाग भी ध्वस्त है। मंदिर के गर्भगृह में एक चतुर्भुज शिवलिंग अभी भी अपने मूल स्थान पर विद्यमान है। सामने के प्रवेश मण्डप में ऊंची चौकी पर सफेद संगमरमर की नन्दी की प्रतिमा गर्भगृह की ओर मुख किये हुए विराजमान है। नन्दी की प्रतिमा अभी भी अपने मूल स्थान पर है। मंदिर के अवशेषों से अनेक प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। कुछ प्रतिमाएं गर्भगृह की दीवार एवं छत में जड़ी हुई हैं। ऐसा लगता है मंदिर के पुनर्निर्माण के समय इन प्रतिमाओं को दीवारों में चुना गया होगा। इन प्रतिमाओं में पार्वती, इन्द्र की राजसभा का दृश्य एवं अप्सराएं प्रमुख हैं। अवशेषों से प्राप्त प्रतिमाओं में लकुलीश, ताण्डववत शिव, शिव-पार्वती, हरिहर (शिव एवं विष्णु), विकटा, पाण्डव, शेषशायी विष्णु, नृत्यरत गणेश, सप्तमातृका, महिषमर्दिनी, सूर्य, वैनायकी, चामुण्डा, इन्द्र, कुबेर, यम, लिंगोदभव एवं उल्लास एवं नृत्य-संगीत से सम्बन्धित अनेक प्रतिमाएं आदि प्रमुख हैं।<sup>13</sup> इनमें से अनेक प्रतिमाएं सीकर के राजकीय संग्रहालय एवं राजपूताना म्यूजियम अजमेर में प्रदर्शित हैं<sup>14</sup> एवं तात्कालिक सांस्कृतिक समृद्धता की द्योतक हैं।

इन प्रतिमाओं में राजपूताना म्यूजियम अजमेर में प्रदर्शित लिंगोदभव फलक महत्वपूर्ण है।<sup>15</sup> ज्ञातव्य है पौराणिक साहित्य में शिव माहात्म्य का पर्याप्त वर्णन है। इस प्रसंग में ब्रह्मा एवं विष्णु की तुलना में शिव को अधिक महत्व दिया गया है। मूर्तिकला में इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति लिंगोदभव फलकों द्वारा की गई है। हर्षनाथ के इस लिंगोदभव फलक के मध्य में स्तम्भाकार लिंग बना हुआ है। दायीं ओर त्रिमुखी चतुर्भुज ब्रह्मा नीचे (पाताल) से ऊपर (ब्रह्माण्ड) की ओर जाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं तथा बायीं ओर चतुर्भुज विष्णु नीचे उतरते हुए दर्शाये गये हैं। नीचे दायीं ओर ब्रह्मा एवं बायीं ओर विष्णु को हतोत्साह मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है क्योंकि दोनों ही अनन्त शिवलिंग की ऊंचाई को मापने में असमर्थ रहे। इस फलक को राजस्थान की मूर्तिकला को हर्षनाथ की अनुपम देन कहा जा सकता है क्योंकि राजस्थान के अन्य स्थलों से अभी तक इस प्रकार के दृश्य का अंकन प्राप्त नहीं हुआ है। शिव द्वारा किये गये त्रिपुरासुर वध के उपरान्त इन्द्रादि सभी देवों की प्रसन्नता का वर्णन एक ओर जहां अभिलेख में हुआ है वहीं मूर्तिकार ने इस विजयोत्सव को नृत्य एवं संगीत के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। नृत्य एवं संगीत को प्रस्तुत करते देव, गन्धर्वों के अर्धचित्रों में से एक अर्धचित्र जिसमें नर्तकों एवं संगीतज्ञों के मध्य नन्दी पर आरूढ़ शिव-पार्वती उत्कीर्ण हैं जो वर्तमान में कैन्सास आर्ट गैलरी की शोभा बढ़ा रहे हैं।<sup>16</sup> ये संगीतज्ञ एवं नर्तक स्वर्ग से निष्पादित देव-गन्धर्व हैं जो कृतज्ञता ज्ञापनार्थ शिव के सम्मुख नृत्य संगीतादि द्वारा शिव

की हर्ष वृद्धि कर इस पर्वत का हर्षगिरि नाम सार्थक करते हैं। मार्टिन लर्नर ने हर्ष देवालय के अनेक अर्धचित्र एवं प्रतिमाएं प्रकाशित की हैं जो वर्तमान में क्लीवलैंड संग्रहालय में सुरक्षित हैं।<sup>17</sup> इन मूर्तियों में एक पैन्ल में एक नर्तकी दोनों ओर से स्त्री व पुरुष गायकों व वादकों से घिरी है। हाथ में खंजरी, मंजीरा, वेणु, मृदंग एवं वीणा लिये वादक नृत्य के साथ संगत कर रहे हैं। मंदिर के गर्भगृह के अन्दर जो अप्सरा प्रतिमाएं हैं वे भी नृत्य एवं हर्षोल्लास के भावों को प्रस्तुत करती हैं।

### सन्दर्भ

1. के.सी. जैन, एशेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, दिली, 1972, पृ. 396
2. एफ. कीलहर्न, हर्ष स्टोन इंशक्रिप्शन ऑफ दि चाहमान विग्रहराज, विक्रम ईयर 1030, एपिग्राफिया इण्डिका, वाल्यूम 2, पृ. 116-130
3. दशरथ शर्मा (सं.) राजस्थान थ्रू द एजेज, वाल्यूम 1, बीकानेर, 1966, पृ. 221
4. अक्षयकीर्ति व्यास, बिज्ञोली रॉक इंशक्रिप्शन ऑफ चाहमान सोमेश्वर, वि.सं. 1226, एपिग्राफिया इण्डिका, वाल्यूम 26, पृ. 103
5. सुरजनसिंह शेखावत, शेखावाटी के शिलालेख-एक अध्ययन, झुंझनू, 1988, पृ. 28-29
6. द्रष्टव्य, वही, पृ. 23
7. एफ. कीलहर्न, पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 116; अन्य द्रष्टव्य आर.बी. सोमानी, टेम्पल्स ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1996, पृ. 77-78
8. भगवानसिंह झाझड़िया एवं गणेश बेरवाल (अनु. एवं संपा.) सीकर की कहानी कैप्टन वैब की जुबानी, सीकर 2009, पृ. 19-20
9. द्रष्टव्य सतीश कुमार त्रिगुणायत एवं रेखा देवी शर्मा, अभिलेखों के प्रस्तुतिकरण में कायस्थों की भूमिका, प्राचीन राजस्थान के विशेष सन्दर्भ में, राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोत एवं इतिहास लेखन : नवीन परिप्रेक्ष्य विषय पर राजस्थान अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (11-12 फरवरी, 2011) में प्रस्तुत शोधपत्र
10. रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्र ऑफ कन्नौज, दिल्ली, 1989, पृ. 343
11. आर.सी. अग्रवाल, प्राचीन राजस्थान के शैव आचार्य एवं शैव मठ, वरदा, वर्ष 8 अंक 1 (1965), पृ. 6-7
12. वी.एस. पाठक, शैव कल्ट, काशी 1960, पृ. 12
13. हर्षनाथ से प्राप्त सीकर संग्रहालय में संग्रहीत प्रतिमाओं के लिये द्रष्टव्य अजय जगधारी, प्रेमलता पोखरना एवं उमरावसिंह (संपा.) हर्षनाथ मंदिर सीकर का शिल्प सौष्ठव (पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर 2003-2004)
14. आर.सी. अग्रवाल, मार्ग, वाल्यूम 12(2), मार्च 1959, पृ. 69-71
15. आर.सी. अग्रवाल, राजस्थान की प्राचीन मूर्तिकला में लिंगोदभव, मरुभारती, जुलाई 1970, पृ. 85
16. द्रष्टव्य नीलिमा वशिष्ठ, स्कल्पचर्ल ट्रेडीशंस ऑफ राजस्थान, जयपुर 1989, पृ. 48
17. नीलिमा वशिष्ठ, राजस्थान की मूर्तिकला परम्परा, जयपुर 2001, पृ. 46



## तिजारा के वैभव की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचना

डॉ. फूलसिंह सहारिया

तिजारा अलवर से 34 मील की दूरी पर उत्तर-पश्चिम में स्थित है।<sup>1</sup> तिजारा मेवात की पुरानी राजधानी एवं प्रमुख शहर रहा है।<sup>2</sup> तिजारा तहसील के बीचों-बीच अंग्रेजी इलाका जयपुर की तहसील कोटकासिम तथा अलवर की कृष्णगढ़ के नजदीक 257 मील तक इसका विस्तार है।<sup>3</sup> राजा विराट के समकालीन निकटवर्ती राजा सुशर्माजीत था जिसकी राजधानी 'श्रोद्धविष्ट' नगर थी जो अब तिजारा तहसील में सरहटा के नाम से छोटे से गांव के रूप में अवस्थित है।<sup>4</sup> महाभारत काल में 'त्रिगर्त' का राजा सुशर्माजीत था जिसकी राजधानी मौजा सरहटा थी।<sup>5</sup> यादववंशी राजा तेजपाल ने सुशर्माजीत के वंशधरों के पास शरण ली और कुछ समय पश्चात् तेजपाल ने 'तिजारा' को बसाया।<sup>6</sup>

मौजा सरहटा वर्तमान तिजारा के पूर्वी दिशा में दो मील की दूरी पर पहाड़ी की तलहटी में स्थित है।<sup>7</sup> तेजपाल सुशर्माजीत का वारिस था। एक दिन वह शिकार करता हुआ जंगल में गया। जंगल को देख उसके दिल में एक इच्छा जागृत हुई कि इस क्षेत्र में एक नगर की स्थापना की जाये। शुभ मुहूर्त में एक नगर की नींव डाली जिसका नाम 'तरगजनग' रखा। शास्त्रों में 'तर' तीन को कहते हैं तथा 'गजनग' गढ़ को कहते हैं अतः यहां तीन गढ़ स्थित थे इसी कारण इस नाम को उसने पसन्द किया। समय गुजरने के साथ-साथ जनसामान्य में 'तरगजनग' के स्थान पर तिजारा प्रसिद्ध हो गया।<sup>8</sup> इसके भवनों के अवशेष निरर्थों के मौहल्ले में पाये जाते हैं। सन् 1030 ई. में तिजारा के शासक तेजपाल एवं उसके भाई करणपाल (जो धुधुगढ़ का शासक था) ने गौरी के भतीजे मसूद की सेना पर आक्रमण किया जिसमें बारह हजारी मीर स्माइल को मार डाला। इसी समय से मेवात क्षेत्र में इस्लाम का पदार्पण हुआ।<sup>9</sup>

खानजादों के समय तिजारा को विशेष प्रसिद्धि मिली। खानजादों के पूर्वज हिन्दू थे, जिन्होंने फिरोजशाह तुगलक के समय में इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था।<sup>10</sup> फिरोज तुगलक (1351-1388 ई.) के शासनकाल में सांभरपाल और शोपरपाल दोनों भाइयों ने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया। सांभरपाल एक अच्छा बन्दूकधारी था जिसने फिरोजशाह तुगलक की शेर से जंगल में जान बचाई और शेर को मार डाला। इसी कारण फिरोज तुगलक ने सांभरपाल को 'बहादुर नाहर' की उपाधि दी।<sup>11</sup> बहलोल लोदी (1451-1481 ई.) ने लगभग ए.एच. 856 के आस-पास ततारखान को तिजारा का

प्रशासक बनाया। फरिश्ता के अनुसार, बादशाह सिकन्दर लोदी (1488-1517 ई.) आलमखान उर्फ अलावलदीन को तिजारा का प्रशासक नियुक्त किया। अलावलदीन तत्कालीन 44 प्रसिद्ध अधिकारियों में गिना जाता था। यह सिकन्दर लोदी का भाई था। इसने 'अलावलपुर' की स्थापना की जिसके आज खण्डहर तिजारा शहर के पूर्व में देखे जा सकते हैं। अलावलदीन (आलमखान) के समय उसका 'गहला' नामक भण्डारी था, वह अपने स्वामी के समान इतना उदार था जिसके लिए एक कहावत प्रसिद्ध है—“माल अलावलदीन का ख्याति गहला की।”<sup>12</sup>

बाबर ने बड़े रोचक ढंग से अपनी आत्मकथा में लिखा है - मेवात दिल्ली के पास है जिसकी जमा 3-4 करोड़ है। मेवात का हसन खां मेवाती और उसके बाप-दादे दो सौ साल से यहां के हाकिम रहे। वे दिल्ली पर दावेदारी मानते हैं। तिजारा की पहाड़ियों की दुर्जेयता इतिहास प्रसिद्ध है। मैंने यहां रियायत दी। परन्तु हसन खां नमक हराम निकला, हमारी ईनायत और रियायत को कुछ नहीं समझा। शुक्रिया तक का नाम नहीं लिया बल्कि सारी आग उसी ने लगाई। राणा सांगा पर चढ़ाई की राय न होने पर मैं मेवात की ओर मुड़ा और चार पड़ाव बाद अलवर से 6 कोस मानस-नै (मनुष्य मारने वाली नदी) अर्थात् रूपारेल के किनारे रूका। हसन खां बाप दादों के दिनों से तिजारा में रहता था। जब मैं हिन्दुस्तान आया तो मैंने पहाड़ खां को 1524 ई. में पीटा जिससे डरकर हसन खां अलवर के किले में चला गया। उसका अहलकार करमचंद उसके बेटे की रिहाई के लिए मेरे पास आगरा आया। अब वही करमचंद उसी बेटे की ओर से अमन मांगने आया। मैंने करमचंद के साथ अब्दुरहीम शकाबुल को इनायत नामा (प्रसाद पत्र) देकर अलवर भेजा। वह नाहर खां को साथ लाया मैंने उस पर फिर रहम किया और रोटी पानी के लिए कई लाख के परगने दिये।<sup>13</sup> परन्तु अभागा नाक चढ़ाने लगा। बाद में मालुम हुआ कि वही काम चिन तैमूर ने किया। इसलिए यही इनाम उसे मिला।<sup>14</sup> मेवाड़ के महाराजा ने हसन खां मेवाती को देश रक्षा के लिए आमन्त्रित किया, जिस पर हसन खां मेवाती अपनी 10,000 सेना के साथ बाबर के विरुद्ध लड़ने हेतु खानवा पहुँचा। 17 मार्च 1527 को हसन खां मेवाती बाबर के विरुद्ध लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ।<sup>15</sup> बाबर ने जीत के बाद तिजारा चिन-तैमूर को दे दिया। मेवात तथा तिजारा क्षेत्र पर मुगल गवर्नर शासन करते रहे तथा मेवातियों को परेशान किया जाता रहा।<sup>16</sup>

अकबर के शासनकाल में तिजारा का महत्व कम हो गया। अब दिल्ली सूबे का एक भाग बन गया। चूँकि खानजादों पर आधिपत्य जमा लिया गया। अतः तिजारा किसी बड़े अधिकारी का मुख्यालय नहीं बन पाया।<sup>17</sup> आइने अकबरी से ज्ञात होता है कि तिजारा एक स्वतन्त्र सरकार या जिसके अधीन - इन्दौर, उड़ीना, उमरा-उमरी, बिसरूपुर, पिनड्गकान, घासेड़ा, तिजारा हवेली, झमरावत, खानपुर, साकरस, साथा हेड़ी, फिरोजपुर, फतेहपुर और कोटला के परगने थे। तिजारा सरकार की 18 तहसीलों में 740001 बीघा 5-11 बिस्वा जमीन थी, जिसका लगान 1,77,00460 दाम था। इस सरकार के 1227

सवाट, 9650 प्यादों में से तिजारा में 500 सवार व 2000 सिपाही रहते थे।<sup>18</sup> औरंगजेब के समय में तिजारा के वर्तमान चौधरी का वंशज इकरामखान खानजादा मलिकपुरी में रहता था जिसके अवशेष बाघोर गांव के पास आज भी है। उसने इस इलाके को खूब लूटा और हाकिम के नकारा व निशान भी छीन लिए जिसके परिणामस्वरूप शाही फौज उसके विरुद्ध हो गई। बामतेरी गांव में शाही फौज ने इकराम खान को मार डाला। उसके दो लड़के मुहम्मद और नाहर खान को उनके गुरु मुल्ला ने बचा लिया। बादशाह मुहम्मद शाह के समय जाट नेता चूरामन तिजारा पहुँचा और लूटपाट की। उसने अलावलपुर को नष्ट कर दिया यहां से भाग कर लोगों ने पुनः तिजारा में रहना प्रारम्भ कर दिया।<sup>19</sup>

1782 ई. में इस्माइल बेग ने मराठों के साथ पाटन में युद्ध किया जिसमें वह पराजित हुआ। तिजारा पर अब मराठा शक्ति सिन्धिया का अधिकार हो गया। सिन्धिया ने दो पण्डितों को तिजारा का शासन प्रबन्ध व राजस्व वसूली के लिए लगाया। 1784 ई. में सिक्खों ने तिजारा को खूब लूटा। सन् 1787 ई. से 1790 ई. तक तिजारा नजफ खां एवं कुली खां के अधिकार में रहा। स्माइल बेग नामक अंतिम मुसलमान सरदार के अधीन तिजारा रहा।<sup>20</sup> खांडाराव मराठा सरदार ने 1804 ई. में जार्ज थामस को मेवात का इलाका अपनी फौज की देखरेख के लिए दे दिया था। मेवों ने एक दिन थॉमस का घोड़ा चुरा लिया, जिसके कारण उसने तिजारा पर आक्रमण किया। मेव झुक गये और राजस्व देना स्वीकार कर लिया।<sup>21</sup>

सन् 1805 ई. में लासवाड़ी के युद्ध में मराठों की पराजय हुई। अलवर नरेश बख्तावरसिंह ने अंग्रेजों का साथ दिया। अब तिजारा अलवर नरेश के अधीन आ गया। मेवों के यहां अव्यवस्था फैला दी, जिसे ठीक करने हेतु बख्तावर सिंह ने बजीर के भाई नबीबखस खां और दीवान बालमुकुन्द को सेना के साथ तिजारा भेजा। बालमुकुन्द मेवों से मिल गया तो उसे हटाकर भगवानदास टोंगड़ा को नियुक्त किया। कुछ समय बाद इसे भी हटाकर रामलाल की नियुक्ति की गई। 1806 ई. में किशनगढ़, तिजारा और टपूकड़ा की फौजदारी जहाज चेला के नाम की गई।<sup>22</sup>

जहाज चेला ने मेवों से पगड़ी बदली और मेवों के सरदार को भोजन पर आमंत्रित किया जिसे अलवर भेज दिया। अलवर से छूटने के लिए 10,000 रुपये अदा करने पड़े।<sup>23</sup> बख्तावरसिंह की मृत्यु हो गई उसके कोई पुत्र नहीं था लेकिन एक मुस्लिम वेश्या जिसका नाम मूसी था उसकी रखैल थी, के पुत्र बलवन्त सिंह को तिजारा का शासक बनाया गया तथा विनयसिंह अलवर का शासक बना। बलवन्त सिंह के समय तिजारा का विकास हुआ। यहां उसने तिजारा का किला अलावलपुर के खण्डहरों से सुन्दर इमारतों का निर्माण एवं एक बांध का निर्माण कराया। 1845 ई. में बलवन्त सिंह के निःसन्तान देवलोक गमन हो जाने के कारण तिजारा को अलवर राज्य में मिला लिया गया।<sup>24</sup> महाराजा शिवदान सिंह एवं मंगल सिंह जी के समय भी तिजारा का विकास हुआ। इसी समय तिजारा में एक भीषण अग्निकाण्ड हुआ। महाराजा जयसिंह के समय

मेवों ने भूमिकर कम करने के लिए आन्दोलन किया जिसे अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक रूप प्रदान कर उन्हें देश निकाला दिया और शासन की बागडोर अंग्रेजी प्रधानमंत्री ने सम्भाल ली।<sup>25</sup>

अगस्त 1947 को तिजारा में मेव, खानजादों एवं अन्य मुस्लिम लोगों तथा हिन्दुओं के मध्य साम्प्रदायिक आग फैल गई। इसमें ठाकरदास महाजन की हवेली को तोड़कर 29 आदमियों को मौत के घाट उतार दिया गया। कुछ अधिकारियों के प्रयत्नों से तिजारा को सुरक्षित कर लिया। 15 अगस्त 1947 को देश आजाद हो गया।<sup>26</sup>

तिजारा की स्थापना से लेकर देश आजाद होने तक का इतिहास महत्त्वपूर्ण रहा होने के साथ ही उसका सांस्कृतिक गौरव भी कम नहीं है। आज भी तिजारा पुरावशेष इमारतों एवं खण्डहर मूक रहते हुए अपने इतिहास एवं संस्कृति का बखान कर रहे हैं। तिजारा एवं आसपास के क्षेत्रों में मेव, माली, खानजादे यहाँ के मालिक रहे हैं। यहाँ खेती के साथ कपड़ा और कागज बनता था।<sup>27</sup> तिजारा व्यापार-वाणिज्य का भी केन्द्र रहा है। व्यापार स्थानीय ही था। रिवाड़ी, टपूकड़ा, खैरथल स्टेशन, तिजारा और झिरका फिरोजपुर के मध्य व्यापारिक माल का आवागमन बना रहता था। टपूकड़ा से माल की आमद की रफ्तार रिवाड़ी एवं तिजारा से फिरोजपुर की ओर ही रहती थी। तिजारा से खाद्यान्न जौ, बाजरा, सरसों, रूई, मूँज, वान, घी इत्यादि बाहर भेजा जाता था। खांड, बूरा, चावल, कपड़ा, मिट्टी का तेल आदि वस्तुएँ रिवाड़ी और खैरथल स्टेशनों के माध्यम से देहली, हाथरस, मुजफरनगर, हिसार और शाहजहांपुर से आयात किये जाते थे।<sup>28</sup>

तिजारा की मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, चना, ज्वार, बाजरा, मोठ, मूँग, उड़द, चौला, मक्का, ग्वार, चावल, तिल, सरसों, राई, जीरा, कासनी, अफीम, तम्बाकू, रूई आदि की थी तथा सब्जियों में गाजर, मूली, बथुआ, करेला, बैंगन, तुरई, सेम, कोला, घीया, अरबी, रतालू, लहसुन, प्याज, आलू थी।<sup>29</sup> मेजर पाउलेट ने भी पैदावार की लम्बी सूची दी है। अलवर राज्य की रिपोर्ट के अनुसार, तिजारा एवं बहरोड़ में चाही भूमि का अनुपात सबसे कम था। जलस्तर काफी नीचा होने एवं बलुई मिट्टी होने के कारण कुओं का निर्माण करना कठिन और खर्चीला होने के कारण केवल धनिक लोग ही बनाते थे। पक्के कुओं का निर्माण राज्य सरकार के प्रयासों से सबसे अधिक वृद्धि तिजारा तहसील में 29 प्रतिशत हुई थी।<sup>30</sup> तिजारा के उत्तर में इन्दौर की घाटी में बलवन्त सिंह ने एक पक्के बांध का निर्माण कराया, जो तिजारा या कालिका बांध के नाम से जाना जाता है। तिजारा, बाघौर और नीमली के बांध सिंचाई के मुख्य साधनों के साथ लन्डोहा और साहवी नाला भी इस क्षेत्र का मुख्य सिंचाई साधन था।<sup>31</sup>

तिजारा में जूता बनाने का उद्योग अच्छी स्थिति में था। ये जूते स्थानीय लोगों की पसन्द तो थे ही साथ ही देश के दूर-दूर तक भागों में भेजे जाते थे। जूतों का मुख्य शिल्पकार रत्ना नामक व्यक्ति था। इसके वंशज भी प्रसिद्ध शिल्पकार थे।<sup>32</sup>

तिजारा में विभिन्न धर्मों के लोग रहते थे जिनमें हिन्दू, मुस्लिम और जैन प्रमुख थे। हिन्दुओं में ब्राह्मण, गौड, पारीक, चौरसिया, सनाह्य, महा ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाट, दूसर, राजपूत, सेवक कश्मीरी, अग्रवाल, ओसवाल, शराबगी, लखेरा, खण्डेलवाल, माहोर, सजोगी, स्वामीकलाल, खाती, सुनार, माची, लोहार, दर्जी, तेली, छिपा, कुम्हार, कायस्थ, बीसा, हस्से, पैंतालीसा, धोबी, जोगी, रेवारी, बावरिया, कंजर, नट, कोली, राणा, साध, धाणक, डाकौत, बेरागी, चूहूड़ा जातियाँ हैं। हिन्दुओं की ये जातियाँ मुख्यतः विष्णु और शिव की उपासक थी। गणेश, देवी, सूर्य आदि की पूजा के साथ भौमियाँ, चामण्ड, राम-सीता, पार्वती की उपासना करते थे। यहाँ मुस्लिम धर्म के लोग भी बहुसंख्यक रहते थे जिनमें खानजादे, मेव, मीरासी, नाई, पठान, शेख, मिर्जा, काजी, जुलाहे, तेली, भिश्ती, नीलगर, कूजड़े, फकीर, डोम, कसाई, मनिहार, लोहार आदि थे। मोहम्मद साहब को अपना पैगम्बर मानते तथा उनके बताये मार्ग पर चलते हैं, ये मस्जिदों में नमाज पढ़ते, रोजा रखते हैं। मेव और खानजादे पहले हिन्दू थे लेकिन मध्यकाल में इन्होंने मुस्लिम धर्म ग्रहण कर लिया।<sup>33</sup>

तिजारा जैन धर्म के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मन्दिर हैं। तिजारा चन्द्रप्रभु जैन भगवान के लिए प्रसिद्ध है। देश के विभिन्न भागों से यहाँ जैन धर्म के लोग आते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अलाउद्दीन भर्तृहरि का भक्त था, जिसके नाम पर एक गुम्बद बनवाया जो उत्तरी भारत के बहुत बड़े गुम्बदों में गिना जाता है। प्रचलित किंवदन्तियों में गुम्बद के निर्माण के समय भर्तृहरि श्रमदान करते थे लेकिन मजदूरी के समय अनुपस्थित रहते थे। इन गुणों को पहचान कर अलाउद्दीन उनका भक्त बन गया और गुम्बद भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध हो गया।<sup>34</sup> लेकिन इस गुम्बद को नबाव अलावल खां शासक मेवात ने काफी धन दौलत खर्च कर अपने शासनकाल में निर्मित कराया। इसके अन्दर अलावल खां और पिता जिकरिया खां का मकबरा बना हुआ है। इस गुम्बद में 32 खम्भे हैं जो वास्तुकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।<sup>35</sup> तिजारा के शासक बलवन्तसिंह के समय काफी निर्माण कार्य हुआ। उन्होंने पहाड़ी के ऊपर एक किले की नींव 1635 ई. में रखी। इस किले के तीन भाग हैं। किला, सचिवालय और महल स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, जिन पर नक्काशी का कार्य किया गया है। यहाँ के जनाना महल एवं हवा महल, काजी का बोध, गाजीगद्दन सादा की मजार महत्वपूर्ण है। यहाँ का इतिहास जितना उज्ज्वल है, उतना ही इसका सांस्कृतिक रूप भी अपने आप में पूर्ण है।

### सन्दर्भ

1. विनय, अलवर अंक, 1969 (राजर्षि कॉलेज अलवर), पृ. 34
2. मैजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट, गजेटियर ऑफ उलूवर, पृ. 129 (लन्दन, ट्रब्यूनर एण्ड कम्पनी लोडगेट हिल 1878 ई.)
3. श्यामलदास, वीर-विनोद, पृ. 1367
4. क्रमांक 181, बन्धांक 26, ग्रन्थांक 2, पृ. 2 राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर

5. शेख मखमूद, अजरंग-तिजारा (अनु. अनिल जोशी), पृ. 1
6. जनरल कनिंघम, आर्क्योलॉजिकल सर्वे भाग-20, पृ. 118
7. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 2, पृ. 66 रा.रा.अ.बी.
8. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 2, पृ. 1 रा.रा.अ.बी.
9. जनरल कनिंघम, पूर्वोक्त, पृ. 10
10. विनय, अलवर अंक, 1969 पृ. 35
11. शेख मोहम्मद मखमूद-मुरक्का अलवर (अनु. अनिल जोशी), पृ. 20
12. मेजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट, पूर्वोक्त, पृ. 130
13. बाबरनामा (अनुवादक-युगजीत नवलपुरी), पृ. 422
14. बाबरनामा, वही, पृ. 422-23
15. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 2, पृ. 113, रा.रा.अ.बी.
16. जयपुर, जिलेवार सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 129
17. मेजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट, पूर्वोक्त, पृ. 130
18. विनय, पूर्वोक्त, पृ. 36
19. मेजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट, पूर्वोक्त, पृ. 130
20. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 2, पृ. 133 रा.रा.अ.बी.
21. मेजर पी. डब्ल्यू. पाउलेट, पूर्वोक्त, पृ. 131
22. क्रमांक 373, बन्धांक 55, ग्रन्थांक 3, रा.रा.अ.बी.
23. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 3, रा.रा.अ.बी.
24. क्रमांक 476, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 1, रा.रा.अ.बी.
25. विनय अलवर अंक, 1969 पृ. 38-39
26. विनय, पूर्वोक्त पृ. 39
27. श्यामलदास, वीर, पूर्वोक्त, जिल्द 2 पृ. 1367
28. क्रमांक 478, बन्धांक 8, ग्रन्थांक 4 (तिजारा तहसील का उर्दू गजेटियर), रा.रा.अ.बी.
29. श्यामलदास, पूर्वोक्त, जिल्द 2 पृ. 1360
30. क्रमांक 175, बन्धांक 8, नन्दलाल टिक्कू फाइनल रिपोर्ट, अलवर स्टेट सेटलमेंट 1923-24 पृ. 9-10 रा.रा.अ.बी.
31. एम. एफ. ओडायर, असेसमेंट रिपोर्ट-तिजारा, बहरोड़ मुण्डावर, राजगढ़, कटूमर और अलवर राज्य 1998-99, पृ. 5
32. क्रमांक 478, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 4, तिजारा तहसील का गजेटियर, व्यवसाय, राजस्व जलवायु, रा.रा.अ.बी.
33. क्रमांक 477, बन्धांक 68, ग्रन्थांक 3, तिजारा तहसील का गजेटियर (जाति-धर्म) पृ. 176-180, रा. रा. अभि. बीकानेर
34. अनिल जोशी-अलवर दर्शन शोध ग्रंथमाला प्रकाशन महताबसिंह का नोहरा नई बस्ती, अलवर 2004, पृ. 52
35. अनिल जोशी, मेव लोक संस्कृति, आर.आर. प्रकाशन अलवर, 1990 पृ. 129

## निंबार्काचार्य सलेमाबादपीठ का ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. अविनाश पारीक

भारतीय संस्कृति के मूल प्रेरक तत्व धर्म का किशनगढ़ राज्य की संस्कृति पर भी अपरिमित प्रभाव है। किशनगढ़ राज्य के संस्थापक महाराजा किशनसिंह वैष्णव धर्मावलम्बी थे। छप्पन भोग चन्द्रिका ग्रन्थ के रचनाकार श्री जयकवि के अनुसार किशनगढ़ राजदरबार के द्वारा श्री नृत्यगोपाल भगवान के दो रूपों श्याम एवं बलराम स्वरूप की पूजा की जाती थी। महाराजा किशनसिंह इन दोनों रूपों की पूजा करते थे और भक्ति की यह परम्परा आने वाले सभी राजाओं ने वंशानुगत रूप से अपनायी थी। महाराजा रूपसिंह श्री नृत्यगोपाल जी के प्रति इतने समर्पित थे कि राज्य से बाहर जाते समय उनकी प्रतिमा को भी अपने साथ ले जाते थे। इनके बल्लभ अभियान के समय भी भगवान श्री नृत्यगोपाल जी एवं सालिगरामजी की प्रतिमा की नियमित रूप से पूजा की जाती थी। इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त श्रीनाथजी के श्यामस्वरूप एवं श्री वल्लभाचार्य जी के महास्वरूप की भी पूजा की जाती थी। किशनगढ़ के महाराजाओं ने इन प्रतिमाओं को स्वर्ण व रत्नाभूषणों से सजा रखा था और समय-समय पर इनका विविध प्रकार से सुन्दर श्रृंगार भी किया जाता था।<sup>1</sup>

### निंबार्क सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास

निंबार्क सम्प्रदाय का उद्भव श्री गणेश भगवान श्री नारायण के हंसावतार से माना जाता है। पौराणिक मान्यताओं के आधार पर इस सम्प्रदाय को हंस सम्प्रदाय सनकादिक या सनक सम्प्रदाय तथा नारद-सम्प्रदाय भी कहते हैं।<sup>2</sup> श्री निंबार्क ने महर्षि नारद से गोपाल मंत्रोपदेश और इष्ट देवोपासना की दीक्षा प्राप्त कर पूर्वागत अपने सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा की थी और तभी से इस सम्प्रदाय का नाम निंबार्क सम्प्रदाय प्रचलित हुआ। वस्तुतः आचार्य श्री निंबार्क स्वतः निर्धारित किसी विशिष्ट मंत्र प्रणाली के आधार पर इस सम्प्रदाय का सूत्रपात करने वाले नहीं थे, इस तथ्य को स्वयं निंबार्क ने भी व्यक्त किया। इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में भी इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है।<sup>3</sup> यथा-

1. पुराणों एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों जैसे कांचीखण्ड, रावण संहिता, भृगु संहिता आदि के आधार पर निंबार्कीय विद्वानों (श्री वृन्दावन देवाचार्य, श्री गोविन्द देवाचार्य, श्री गोविन्दशरण देवाचार्य तथा सुन्दरकुँवरी) ने निंबार्क के द्वारपर युग के उत्तरार्द्ध और

कलियुग के पूर्वाद्ध में विद्यमान माना है। इस आधार पर निंबार्क का आविर्भाव काल 5100 वर्ष पूर्व का माना जाता है। इसी मान्यता के अनुसार श्री निंबार्काचार्य का 5100वाँ जयन्ती महोत्सव सलेमाबाद में वि.सं. 2062 अर्थात् 2005 ई. में आयोजित किया गया।<sup>4</sup>

2. आधुनिक मत के प्रवर्तक डॉ. आर.जी. भण्डारकर ने भारतीय उपासक सम्प्रदायों पर ऐतिहासिक अनुसंधान करते हुए अपने ग्रन्थ “वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक सम्प्रदाय” में श्री निंबार्काचार्य का काल निर्धारण ईसा की बारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में किया है।<sup>5</sup>

3. ग्रियर्सन, ग्राउस, मोनियर विलियम्स, डॉ. हण्टर नामक पाश्चात्य इतिहासकारों ने निंबार्काचार्य तथा उनके सम्प्रदाय को अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों तथा उनके प्रवर्तकाचार्य शंकर-रामानुजादि सभी आचार्यों से पूर्ववर्ती एवं प्राचीन माना है।

4. कतिपय तटस्थ विद्वान निंबार्क भाष्य को ईसा की पाँचवी व छठी सदी की रचना मानते हुए निंबार्क की विद्यमानता इसी समय के अन्तर्गत मानते हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन शोध-शास्त्रियों ने खोज सामग्री के अभाव में अपने निजी अनुमानों द्वारा निंबार्क के समय को इतना उलझा दिया है कि इस सम्बन्ध में अब तक कोई एक निश्चित धारणा नहीं बन सकी है। मेरे मतानुसार श्री निंबार्काचार्य को अन्य वैष्णवाचार्यों से प्राचीन माना जा सकता है, इसे निम्नलिखित तर्कों से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. श्री निंबार्काचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ ‘वेदान्त-पारिजात’ अत्यन्त संक्षिप्त और खण्डन-मण्डन से पृथक है। इसमें अद्वैतवाद एवं अन्य वैष्णव दर्शनों का खण्डन नहीं हुआ है। इसलिए यह विभिन्न वैष्णव मतवादों से प्राचीन सिद्ध होता है।

2. शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों में निंबार्क द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत की आलोचना की है। दूसरी तरफ श्री निंबार्काचार्य और उनके शिष्य एवं उत्तराधिकारी श्री निवासाचार्य के भाष्यों में शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन तो दूर उसका उल्लेख तक नहीं हुआ है।

3. भविष्य पुराण में एकादशी व्रत निर्णय के सन्दर्भ में श्री निंबार्काचार्य के मत का उल्लेख किया गया है और इसमें उन्हें ‘भगवान’ शब्द से सम्मान दिया गया है—

*निंबार्काभगवानन्येषा वांछितार्थ प्रदायकः।*

*उदय व्यापिनी ग्राह्य कुल तिथिरूपोषणे।।*

निंबार्क सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन हैं, जिसकी परम्परा में भारत के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित करने वाले अनेक आचार्य प्रकट हुए हैं। निंबार्काचार्य के पश्चात् पुरुषोत्तमाचार्य देवाचार्य केशव कश्मीरी, श्री भट्ट, हरिव्यास देवाचार्य, परशुराम देवाचार्य आदि इस दृष्टि से भारत के प्राचीन इतिहास में अत्यन्त विश्रुत रहे हैं। निंबार्काचार्य के दशश्लोकी ग्रन्थ से यह भी स्पष्ट होता है कि इस

सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत दर्शन की प्रतिष्ठा करने वाले भगवान निम्बार्काचार्य वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की युगल भक्ति के प्रवर्तक भी थे। दशश्लोकी ग्रन्थ के पाँचवें श्लोक के अनुसार उन्होंने युगल भक्ति में राधिकोपासना की प्रधानता की स्थापना की थी।<sup>6</sup>

### श्री निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा सम्पूर्ण भारत में इस सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया गया, फिर भी मुख्य रूप से इनका प्रधान केन्द्र वृन्दावन, मथुरा, कामां व गोवर्धन रहा। पद्म पुराण भी निम्बार्क प्रभाव की रोचक जानकारी देता है कि किस प्रकार से लोक-भावना को आध्यात्म के साथ जोड़कर उनमें प्रकृति के प्रति प्रेम जगाया जाए और वे वृक्षों के प्रति अपने दायित्व को समझे जो उनके सुरक्षित भविष्य एवं पर्यावरण की भावना को जागृत करता है।<sup>7</sup> प्राप्त दस्तावेजों एवं प्रचलित मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किशनगढ़ रियासत के 210 ग्रामों में नीम सूखने के बाद भी उसे पवित्र व पूज्य मानकर जलाया नहीं जाता था। इसे सलेमाबाद भेजा जाता या पुष्कर में प्रवाहित कर दिया जाता था। इसकी अनुपालना न करने पर दण्ड दिया जाता था।<sup>8</sup>

15वीं सदी के अन्त में मुस्लिम प्रभाव की वजह या अन्य कारणों से इस क्षेत्र में जनता आतंकित रहने लगी। मथुरा में श्री हरिव्यास देवाचार्य से किशनगढ़ राज्य के लोगों ने जब इस अराजकता को दूर करने की प्रार्थना की, तब उन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परानुसार अपने योग्य शिष्य श्री परशुराम देवाचार्य को उस क्षेत्र में भेजा। इस प्रकार स्पष्ट है कि परशुराम उन्हें यहाँ अराजकतावादियों से सहस्र संघर्ष भी करना पड़ा और उन्होंने परिस्थितियों एवं देव इच्छा को सर्वोपरि मानकर निम्बार्क सम्प्रदाय का केन्द्र-बिन्दु सलेमाबाद बनाना आवश्यक समझा था। किशनगढ़ से लगभग 20 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित सलेमाबाद में वैष्णवों की निम्बार्क सम्प्रदाय की मुख्य गद्दी स्थापित है। यह स्थान वर्तमान भारतवर्ष भर के हिन्दुओं के लिए श्रद्धा, आस्था व विश्वास का केन्द्र बन चुका है। इस तीर्थ का उल्लेख महर्षि वेदव्यास तथा पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के एक पद में किया गया है-

*पिप्पलादान्ततस्तीर्थापित्तु मन्दार्कमुत्तमम्।*

*तीर्थ साभ्रमती तीरे व्याधि दौर्गन्ध्याशनम्।।*

अर्थात् यह निम्बार्क तीर्थ अरावली पर्वतमाला की विशाल उपत्यका में स्थित तीर्थगुरु श्री पुष्करराज क्षेत्रान्तर्गत पिपलादतीर्थ एवं साभ्रमती नदी के समीप बताया गया है। इससे इस रूपनदी का नाम साभ्रमती होना प्रमाणित होता है। साभ्रमती नदी इस आचार्य पीठ से पश्चिम की ओर एक मील की दूरी पर करकेड़ी मार्ग में पड़ती है।<sup>9</sup>

### श्रीपरशुराम देवाचार्य जी

पद्म पुराण के अनुसार निम्बार्क तीर्थ में अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद के संस्थापक जगद्गुरु परशुराम देवाचार्यजी महाराज थे। यह अत्यन्त तपोनिष्ठ

चमत्कारी परम विरक्त महान सन्त, भारतीय संस्कृति लोकनीति, रीति, ज्ञान और भक्ति के महामर्मज्ञ तथा साहित्यकार भी थे। निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य-परम्परा के 36वें निम्बार्काचार्य थे।<sup>10</sup> परशुराम देवाचार्य द्वारा सलेमाबाद पीठ की स्थापना कब की गई? परशुराम देवाचार्य का काल क्या है? इन प्रश्नों के उत्तरों का इतिहास के ग्रन्थों में नितान्त अभाव है। निम्बार्क सम्प्रदाय, राजस्थान में उसके आद्याचार्य श्री परशुराम देवाचार्य तथा सलेमाबाद पीठ के संस्थापना काल के विषय में हिन्दी साहित्य व दर्शन के कुछ ग्रन्थों में यत्र-तत्र संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं। इन उल्लेखों में काल का अत्यधिक अन्तर पाया जाता है और इनमें ऐतिहासिक दृष्टि, इतिहास बोध एवं मूल ऐतिहासिक स्रोतों तथ्यों की पुष्टि का नितान्त अभाव है। गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों में नाभादास प्रमुख है जिनके ग्रन्थ 'भक्तमाल' (1596 ई.) में श्री परशुराम देवाचार्य के व्यक्तित्व-कृतित्व से सम्बन्धित छप्पय संख्या-137 दृष्ट्य है -

*श्रीभट्ट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई।*

*कथा कीरतन नेम रसन हरिमुन उच्चरई।।*

*गोविन्द भक्ति गद रोग गति तिलक दास सदवैद हद।*

*जांगली देस के लोग सब श्री परशुराम किये पारषद।।<sup>11</sup>*

अर्थात् उपर्युक्त छप्पय में परशुराम देव को श्रीभट्ट तथा श्री हरि व्यासदेव का परम्परानुयायी वैष्णव भक्त बतलाया है। श्रीभट्ट निम्बार्काचार्य हैं जो परशुराम देवाचार्य से दो पीढ़ी पूर्व हुए हैं तथा हरिव्यास देव निम्बार्काचार्य परशुरामदेव के साक्षात् गुरु हैं। जंगली देस का तात्पर्य प्राचीन जांगल प्रदेश से हैं, जिसके अन्तर्गत वर्तमान राजस्थान के जोधपुर-जैसलमेर-बीकानेर-जयपुर-किशनगढ़-अजमेर आदि प्रान्त आ जाते हैं।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि परशुराम देवाचार्य का मुख्य स्थान परशुरामपुरी (सलेमाबाद) जांगल देश में अवस्थित था। राजस्थान के भाटी, मेड़तियाँ, शेखावत, राठौड़ आदि वीर राजपूत सरदारों ने भी परशुरामदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया। इस विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परशुराम देवाचार्य 1596 ई. या उसके पूर्व तक विद्यमान थे। परशुरामदेवाचार्य की समाधि (सलेमाबाद) पर एक शिलालेख लगा है जिससे यह पता चलता है कि श्री परशुराम देवाचार्य के पट्ट शिष्य श्री हरिवंश देवाचार्य ने समाधि के निकट एक मंदिर बनवाया। इस शिलालेख का समय वि.सं. 1689 (1632 ई.) है जिससे पूर्व इनकी मृत्यु समझनी चाहिए।<sup>12</sup> आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इन्हें आदिगौड़ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बताया है और परशुराम द्वारा पुष्कर के शिलालेख के आधार पर इन्हें वि.सं. 1689 से पूर्व का माना है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रन्थ के अनुसार परशुराम देवाचार्य जी को वि.सं. 1677 के लगभग विद्यमान बताया है।<sup>13</sup> मारवाड़ के खेजड़ला ठिकाने की वंशावलियों से यह प्रकट होता है कि वि.सं. 1515 से 1597 तक के ठाकुरों ने परशुराम देव से कंठियाँ बंधवाकर दीक्षा ली थी। तत्पश्चात् परशुराम जी द्वारा उनके कंठी बंधवाने

का उल्लेख नहीं मिलते हैं। इस प्रकार परशुराम देवाचार्य का देहावसान वि.सं. 1597 से पूर्व ही मानना होगा।<sup>14</sup> आचार्यपीठ में श्री परशुराम के धूने में स्थिति भित्ति लेख एवं जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि अजमेर की दरगाह शरीफ पर जाते समय बादशाह अकबर सलेमाबाद भी आया तब परशुराम देवाचार्य की सेवा में उपस्थित हुआ था। अकबर ने परशुराम जी का सम्मान करते हुए उन्हें कुछ वस्त्र भेंट किये तब उन्होंने यह वस्त्र अपने धूने की प्रज्वलित आग में फेंक दिये। इससे अकबर क्रोधित हो गया और उसने वे वस्त्र वापिस मांगे। इस पर परशुरामजी ने अपने चिमटे को धूने में डाला और उसमें से नये वस्त्र निकालकर अकबर को दे दिये। यह चमत्कार देखकर अकबर परशुराम जी के पैरों में गिर पड़ा और क्षमा याचना करने लगा। सन्त हृदय परशुरामजी ने उसे तुरन्त क्षमा कर दिया। अकबर द्वारा पुत्ररत्न मांगने पर उन्होंने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया तथा उसे पुत्र होने का वरदान दिया। परशुराम जी की कृपा से अकबर को सलीम नामक पुत्र की प्राप्ति हुई और इसी सलीम के नाम पर इस गाँव का नाम सलेमाबाद पड़ा।<sup>15</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त इतिहासकारों, साहित्यकारों एवं सलेमाबाद पीठ में उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर श्री परशुराम देवाचार्य जी की विद्यमानता वि.सं. 1450 से 1597 तक मानी जा सकती है। इससे परशुराम देव का आयुमान (जन्मकाल - वि.सं. 1450 से समाधि काल वि.सं. 1597 तक) 147 वर्ष निश्चित होता है। इनके द्वारा सलेमाबाद पीठ की स्थापना वि.सं. 1450 (1398 ई.) लगभग होने का पता चलता है। जबकि डॉ. रामप्रसाद शर्मा ने अपने ग्रन्थ में इनकी विद्यमानता वि.सं. 1515 से 1601 तक मानी है। अकबर के पुत्र सलीम (जहाँगीर) के नाम से सलेमाबाद का नामकरण तथ्यों के विरुद्ध है क्योंकि परशुरामदेव का परलोक गमन वि.सं. 1597 (1540 ई.) की घटना है और अकबर का जन्म 15 अक्टूबर, 1542 ई. (वि.सं. 1599) को हुआ था।<sup>16</sup> अतः जहाँगीर का जन्म परशुराम देवाचार्य के आशीर्वाद से न होकर फतेहपुर सीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से हुआ था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस समय परशुरामपुरी (सलेमाबाद) की स्थापना हुई तब अकबर का जन्म भी नहीं हुआ था। इस पीठ में अकबर द्वारा प्रदत्त कोई पट्टा नहीं मिलता है। इसी प्रकार अफगान शासक शेरशाह सूरी का परशुरामपुरी में परशुराम देवाचार्य से आश्रम में आकर पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद मांगने की घटना का भी उल्लेख मिलता है। परशुराम के आशीर्वाद से शेरशाह के वि.सं. 1600-1601 में सलीम उर्फ इस्लामशाह पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे इस स्थान का नाम सलेमाबाद पड़ा।<sup>17</sup> यह कथन भी युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि परशुराम देव वि.सं. 1515 में यहाँ विद्यमान थे तब से ही यह स्थान सलेमाबाद के नाम से प्रसिद्ध था। वि.सं. 1515 और 1600 के मध्य 85 वर्ष का अन्तर है, अतः यह स्थान शेरशाह से पूर्व ही सलेमाबाद के नाम से प्रसिद्ध रहा था। किशनगढ़ राज्य के शासक भी सलेमाबाद स्थित निम्बार्क तीर्थ से जुड़े हुए रहे हैं। इसका उल्लेख 1768 ई. की "अलकाव बही" किशनगढ़ से

स्पष्ट होता है।<sup>18</sup> निम्बार्क पीठ का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ता चला गया और श्री परशुराम देवाचार्य जी लोकहित और अपने साधु-स्वभाव के कारण बहुत अधिक लोकप्रिय हो गये थे। आचार्य श्री परशुराम देवाचार्य जी युगान्तकारी धर्माचार्य थे। इन्होंने वैष्णवधर्म के प्रचारार्थ अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ, निम्बार्कतीर्थ सलेमाबाद की विधिवत् स्थापना करके उसे धर्म प्रचार का मुख्य केन्द्र बनाया तदन्तर कई स्थानों पर इनके अनुयायी शिष्य राजा-महाराजाओं ने परशुराम द्वारों का निर्माण करवाया था।

### संदर्भ

1. राठौड़, रणजीत सिंह, किशनगढ़ राजघराने की हिन्दी सेवा, अप्रकाशित शोध ग्रन्थ (राजकीय महाविद्यालय, किशनगढ़) पृ. 50
2. भागवत पुराण, एकादश स्कन्ध, विक्रम संम्वत् 2065 पृ. 22
3. निम्बार्काचार्य, वेदान्तकामधेनु, सर्वेश्वर प्रेस, वृंदावन, विक्रम संम्वत् 1858, श्लोक 6
4. गोविन्ददास, श्री निम्बार्काचार्यपीठ का संक्षिप्त इतिहास, निम्बार्क प्रेस, सलेमाबाद, पृ. 29
5. भण्डारकर आर.जी., वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक सम्प्रदाय पृ. 87-88
6. निम्बार्काचार्य, दशश्लोकी, सर्वेश्वर प्रेस, वृंदावन, विक्रम संम्वत् 1854, श्लोक सं.-5
7. "निम्बार्क शब्द निम्ब (नीम) से बना है, इसके सन्दर्भ में कहा जाता है कि किसी समय कोलाहल नामक दैत्य एवं दानवों में परस्पर झगड़ा हुआ, दानवों द्वारा पराजित देवतागण अपने प्राणों को बचाने के लिए सूक्ष्म रूप से वृक्षों में छिप गये थे। जैसे शंकर भगवान - बिल पत्र, विष्णु-पीपल, इन्द्र-शिरिष और सूर्य-निम्ब (नीमपत्र)। यह सभी वृक्ष तभी से देवमय कहलाने लगे और इनमें देवताओं के निवास के कारण इनको काटना निषेध माना गया था।"
- श्री सर्वेश्वर, निम्बार्क विशेषांक, मासिक पत्रिका, जुलाई, 1972, पृ. 45
8. हंसदास, निम्बार्क प्रभा, सर्वेश्वर प्रेस, वृंदावन, विक्रम संम्वत् 1854 पृ. 91-92
9. श्री सर्वेश्वर निम्बार्क अंक, सितम्बर 1976 पृ. 164
10. शर्मा डॉ. रामप्रसाद, श्री परशुरामदेव : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, अर्चना प्रकाशन, अजमेर, 1992 ई. पृ. 23
11. नाभादास, भक्तमाल, विक्रम संम्वत् 1630, छप्पय-137
12. मिश्र गजानन, राजस्थान की हिन्दी साहित्य को देन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1955 पृ. 157
13. मेनारिया, मोतीलाल, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, उदयपुर, 1996 ई. पृ. 170
14. शर्मा, डॉ. रामप्रसाद, पूर्वोक्त, पृ. 166
15. निम्बार्क तीर्थ, सलेमाबाद में परशुराम जी के धूने में भित्ति लेख के अनुसार वर्णित।
16. श्रीवास्तव ए.एल., मध्यकालीन भारतीय इतिहास, आगरा (1007-1707 ई.), पृ. 426
17. ओझा डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र, राजपूताने का इतिहास, प्रथम खण्ड, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1936 पृ. 241
18. अलकाव बही, 1768 ई. में किशनगढ़ दरबार द्वारा श्री गोविन्ददेवाचार्य जी को लिखे गये पत्र के अनुसार वर्णित।

## राजस्थान में सूफीवाद

डॉ. संगीता कृ. नागरवाल

राजस्थान की भूमि पर सूफी संतों द्वारा सूफी धर्म अर्थात् इस्लाम के रहस्यवाद का अवतरण मुस्लिम आक्रमणों के साथ 12वीं शताब्दी में हुआ। यद्यपि मध्य एशिया में इस धर्म का पर्दापण बहुत पहले हो चुका था। विद्वान किशोरी के अनुसार 'सूफी' (तसत्वुफ) शब्द की उत्पत्ति दूसरी सदी हिजरी 818 ई. के अंतिम वर्षों में मध्य एशिया में उस समय हुई जब इस्लाम सत्ता की लड़ाई में अपनी आध्यात्मिकता को खो रहा था और सत्ता पर कब्जा करने के लिए एक राजनीतिक माध्यम के रूप में सीमित होता जा रहा था ऐसी स्थिति में मानव संस्कृति, समाज, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के रक्षार्थ कुछ लोग राजनीतिक सत्ता के खिलाफ खड़े हुए शक्ति सत्ता के स्थान पर आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया और सत्ता की लड़ाई व खून खराबे से अपने आप को अलग करते हुए आध्यात्मिक होने के लिए आवश्यक सरल जीवन जीना शुरू कर इस्लामी कट्टरता से दूर सहज स्वाभाविक प्रेमसाधना का विकास किया।<sup>1</sup> कट्टर इस्लामी लोगों से पृथक ये लोग ऊनी अर्थात् 'सूफ' का चोगा धारण करते थे इसीलिए इन्हें 'सूफी' कहा गया।<sup>2</sup> इस शब्द को धारण करने वाले प्रथम व्यक्ति अबुल हाशिम थे अर्थात् ये पहले सूफी सन्त हुए। सूफी सन्तों को आदरस्वरूप शेख, ख्वाजा, पीर (गुरु) भी बोला व लिखा जाने लगा। शेख अरबी शब्द है जिसका अर्थ कबीले के बजुर्ग से है फारसी भाषा में यह पीर (गुरु) के अर्थ में प्रचलित है तथा ख्वाजा का फारसी शब्दिक अर्थ मालिक व सरदार है।<sup>3</sup>

सूफी साधकों/सन्तों के विचारों, मतों, दर्शन, धारण को सूफीधर्म / सूफीवाद / सूफीनामा का नाम दिया गया। यद्यपि सूफीमत को शब्दों में बयां करना मुश्किल है फिर भी अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है-अबुल हसन अली नूरी-सूफीमत संसार के प्रति विरक्ति और परमात्मा के प्रति प्रेम के धार्मिक भावों को प्रदर्शन है।<sup>4</sup> मौलाना शिवाली-परमात्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व का त्याग ही सूफीमत है। अल हुजविरी-रूप से रहित सार तत्व ही सूफी मत है। अल गजाली-शांतिपूर्वक जीवन बिताने और निरन्तर ईश्वर में लीन रहने वाला व्यक्ति सूफी है।<sup>5</sup> निकोलसन-सूफीमत कई अर्थों को मिलने वाला शब्द है। सूफियों का कोई वर्ग नहीं, कोई नियमबद्ध प्रणाली नहीं उनके तरीके अथवा पंथ, जिनके द्वारा वे परमात्मा को खोजते हैं संख्या में उतने ही हैं जितनी मनुष्य की आत्माएं। सूफीमत के सारतत्व का सर्वोत्तम प्रदर्शन इसके सर्वोत्कृष्ट प्रकार में है जो तपसी एवं भक्तिमय होने की अपेक्षा चिंतन शील अधिक है।<sup>6</sup> शेख नसीरुद्दीन चिराग देहलवी-"तसव्वुफ सत्मार्ग एवं अच्छे कर्म का नाम है।<sup>7</sup> गुरु नानक

की वाणी जिनको मारफते (सत्य का ज्ञान) होता है वही सूफी कहलाता है। उन्हीं के दरबार हाजरी के काबिल है।<sup>8</sup> हारू अरशीद-परमात्मा के संबंध में सत्य को जानना और मानवीय वस्तुओं का त्याग ही सूफी धर्म है। अबुल हुसैन-संसार में घृणा तथा परमात्मा के प्रति प्रेम ही सूफीवाद है। कुजविनी-सुन्दर व्यवहार ही सूफीवाद है। विशर अलहाफी परमात्मा के सहारे अपने हृदय को पवित्र रखना ही सूफी धर्म है। अल कुरेशी-बाह्य तथा आभ्यान्तरिक जीवन की पवित्रता को ही सूफी धर्म मानते हैं।<sup>9</sup> ताराचन्द-सूफीवाद प्रगाढ़ भक्ति का धर्म है प्रेम इसका भाव है कविता, संगीत तथा नृत्य इसकी आराधना के साधन है तथा परमात्मा में विलीन हो जाना ही इसका आदर्श है।<sup>10</sup> डॉ. आशीर्वादी लाल-सूफी साधकों का मूल लक्ष्य न केवल ईश्वर के साथ बौद्धिक तथा भावुक संबंधों की स्थापना करना है बल्कि मानवता की सेवा करना भी है।<sup>11</sup> उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सूफीमत इस्लाम की वह उदात्त आध्यात्मिक शाखा है जिसमें ब्रह्मानुभूति के लिए माधुर्य भाव को विशेष प्रश्रय दिया गया है। सत्कर्म, परोपकार, जनसेवा, पवित्र हृदय, भौतिक सुखों का परित्याग तथा ईश्वर प्रेम सूफी अनुयायी के लिए आवश्यक है, यह वह ज्ञान है जो ईश्वर के अस्तित्व को समझने में सहायता करता है, रचना एवं रचयिता दोनों में प्रेम उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त विश्व के व्याप्त शाश्वत तथा अमूर्त सत्ता की सर्वत्र झलक पाकर मुस्लिम साधक उस सत्ता के रहस्योद्घाटन के संबंध में जो धारणाएं व्यक्त करता है। संग्रहित रूप में सूफीमत है अर्थात् मुस्लिम रहस्यवाद अथवा सूफियों का दर्शन ही सूफीमत है।

सूफीमत के करीब 175 सम्प्रदाय माने जाते हैं लेकिन अबुल फजल के आईन-ए-अकबरी के अनुसार भारत में 14 सम्प्रदाय चिश्ती, सुहरावर्दी, हबीबी, तफूरी, करबी, सकती, जुनवैदी, काजरूनी, तुसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी, अधमी, डुबेरी थे इनमें से चार सम्प्रदाय चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, नक्शबंदी प्रमुख थे।<sup>12</sup> इनमें से राजस्थान में सर्वप्रथम चिश्ती सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ। ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती/रहमतुल्ला अहैल/गरीब नवाज/12वीं शताब्दी में दिल्ली लाहौर होते हुए 1206 में अजमेर आये और अजमेर को सूफीधर्म का केन्द्र बना चिश्ती परम्परा की स्थापना की।<sup>13</sup> (चिश्त में चिश्ती सम्प्रदाय की स्थापना अबु अदाल कर चुके थे)। ख्वाजा साहब का जन्म 1143 हिजरी 537 में सीस्तान कस्बे के संजर ग्राम में हुआ था किन्तु जन्म के कुछ समय बाद ये अपने पिता सैय्यद ग्यासुद्दीन और माता सैय्यदा बीबी अम्मुवरा माहेनूर के साथ चिश्त (खुरासान) नामक स्थान पर बसे गये और यहां पूर्वस्थापित चिश्ती सम्प्रदाय के अनुयायी बन गये। 15 साल की उम्र में माता पिता की मृत्यु के पश्चात् ये अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति गरीबों में बांट कर उसमान हिरोनी के शिष्य बन गये। इन्होंने ख्वाजा साहब को भीतर तक रोशन कर दिया।<sup>14</sup> इनका सम्पर्क उस वक्त के प्रमुख सूफीसन्तों-शेख अब्दुल वहीद, अब्दुल कादीर जिलानी, शेख नजमुद्दीन कुबरा, शेख नजबुद्दीन सुहरावर्दी, कातिरुद्दीन ऊस्तराबादी आदि से हुआ। उन्होंने उस वक्त मुस्लिम संस्कृति के महत्वपूर्ण सभी केन्द्रों समरकन्द बुखारा, बगदाद निशापुर, तबरीज, इस्पहान, सब्जवार, सिरकान, बलख आदि का भ्रमण

किया, वहां के धर्मों को पढ़ा और मान्यताओं को समझा।<sup>15</sup> इस प्रकार व विस्तृत ज्ञान, उदारवादी मानवीय दृष्टिकोण लेकर अजमेर आये थे। शीघ्र ही ख्वाजा साहब ने हिन्दू सत्ता के केन्द्र धार्मिक स्थल अजमेर में अपनी अलौकिक एवं चमत्कारिक शक्ति, मानवीय सौहार्द, प्रेम मातृत्व एवं धर्मविहीन भावना से अपना विशेष मुकाम हासिल कर लिया और यहीं से सम्पूर्ण राजस्थान व भारत में सूफी धर्म का प्रचार प्रसार किया।<sup>16</sup> ये अपने जीवन काल में इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि इनको मुहम्मद गोरी ने सुल्तान-उल-हिन्दू की उपाधि से विभूषित किया था।<sup>17</sup> इनके तीन पुत्र ख्वाजा फखरुद्दीन अबुलखर, ख्वाजा हिसामुद्दीन, फियाउद्दीन अबू सईद थे।<sup>18</sup> लेकिन ख्वाजा साहब के वंशज ख्वाजा हुसैन अजमेरी मानते जाते हैं। कहते हैं कि ये गरीब नवाज की औलाद से ताल्लुख रखते थे। ये अकबर के समकालीन थे। इनका देहान्त 1029 हिजरी में हुआ था।<sup>19</sup> ख्वाजा साहब विवाहित थे किन्तु वे ईश्वर के प्रति भक्ति भाव और श्रद्धा पर आधारित एक सादा और संन्यासी जीवन व्यतीत करते थे। उनका मुख्य प्रयोजन ईश्वर के प्रति भक्ति का जीवन जीने में मुसलमानों की सहायता करना था न कि धर्मान्तरण करना, वे मानते थे कि अपना धर्म चुनने के लिए हर व्यक्ति स्वतंत्र है।<sup>20</sup> इनके अनुसार मानवता की सेवा करना ही ईश्वर की सर्वोच्च कोटि की भक्ति थी। हिन्दुओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार था।<sup>21</sup> ख्वाजा साहब ने हमेशा राजशाही, लोभ मोह का विरोध किया और स्वयं भी जीवन पर्यन्त इन बुराइयों से दूर रहे। उन्होंने सभी मानव सेवा का पाठ पढ़ाया और कहा कि अपने आचरण को नदी की तरह पावन व पवित्र बनाओ तथा किसी भी तरह से मलिन न होने दो। सभी धर्मों को एक दूसरे का आदर करना चाहिए और धार्मिक सहिष्णुता रखनी चाहिए। गरीब पर हमेशा अपनी करुणा दिखानी चाहिए यथा सम्भव मदद करनी चाहिए।

चिश्ती ने पूरी जिन्दगी सभी मुस्लिम धार्मिक स्थलों का दौरा किया और अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानव धर्म ही इस्लाम का वास्तविक धर्म है तथा हमें जीवन में अल्लाह के फरमान की तरह जीना चाहिए। मोईनुद्दीन चिश्ती ने कभी भी अपने उपदेश किसी किताब में नहीं लिखे न ही उनके किसी शिष्य ने उन शिक्षाओं को संकलित किया। लेकिन चिश्ती साहब के शिष्यों व अन्य सूफी सम्प्रदाय के सन्तों ने उनके विचारों व आदर्शों को अपनाया व राजस्थान के अन्य क्षेत्रों नागौर, जालौर, शेखावाटी, भरतपुर, मेवात, झुझनू, जयपुर, अलवर आदि में प्रचार प्रसार किया। अजमेर के बाद नागौर ने सूफी धर्म के क्षेत्र में प्रसिद्धि पाई। हमीदुद्दीन रेहानी नागौर में आने वाले सूफियों में सबसे प्रथम थे। इन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मावलम्बियों में इनके प्रति विशेष श्रद्धा थी। इनका बनाया हुआ मकान आज भी ओसवालों के नोहरे में स्थित है। इनकी मजार बख्त सागर के समीप है।<sup>22</sup> शेख हमीदुद्दीन नागौरी-को ख्वाजा साहब ने अपना खलीफा बना कर नागौर भेजा था। हमीदुद्दीन नागौर ने अपने गुरु के आदेशानुसार सूफीमत का प्रचार एवं प्रसार किया। इनका जन्म 1192 ई. में दिल्ली में हुआ था दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद मुस्लिम परिवार में

जन्म लेने वाले ये प्रथम व्यक्ति थे। इनके गुणों से प्रभावित होकर इनके गुरु ख्वाजा साहब ने इनको सुल्तान-उल-तारीकीन (असहायों का बादशाह) की आध्यात्मिक उपाधि से अलंकृत किया था।<sup>23</sup> हमीदुद्दीन नागौरी एक साधारण किसान की तरह जीवन यापन करने वाले शुद्ध शाकाहारी सूफी सन्त थे। वे अपने शिष्यों को भी शाकाहार की शिक्षा देते थे ये किसी से भी किसी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं करते थे।<sup>24</sup> शेख हमीदुद्दीन इतने मानवतावादी थे कि गैर मुसलमानों के आध्यात्मिक गुणों को भी पहचान लेते थे और उनकी प्रशंसा करते थे। दूर-दूर तक से लोग इनसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे। बंगाल के सुल्तान गियासुद्दीन द्वितीय ने भी इनसे शिक्षा ग्रहण की थी। 1274 में शेख की मृत्यु नागौर में ही हुई, वहीं उनकी मजार है।<sup>25</sup> इनकी शिक्षाओं का संकलन सरूर-उल-सुदूर नामक किताब में उनके एक पौत्र द्वारा किया गया था।<sup>26</sup> इन्होंने सामाजिक व नैतिक बुराइयों, अज्ञानता, दासता, मुनाफाखोरी, कालाबाजारी आदि के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की।<sup>27</sup> विनम्र मित्रतापूर्ण व्यवहार एवं विस्तृत मानवीय दृष्टिकोण ने इन्हें नागौर व आसपास के क्षेत्रों में काफी लोकप्रिय बना दिया था।<sup>28</sup> मुहम्मद बिन तुगलक के समकालीन हमीदुद्दीन नागौरी के पौत्र मोहम्मद सईद सूफी उर्फ शेख फरीदुद्दीन नागौर हमीदुद्दीन के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बने।<sup>29</sup> इनका जन्म हिजरी 639 में तथा मृत्यु हिजरी 719 में दिल्ली में हुई थी। शेख फरीद की मजार सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने 735 हिजरी में नागौर के सुबेदार को 2000 टंका देकर बनवाई थी। सुल्तान ने उन्हें एवं उनके भाई शेख नजीबुद्दीन और शेख वजीदुद्दीन को 'डेह' नामक ग्राम मदद-ए-मआश में दिया था।<sup>30</sup> सुल्तान ने अपनी एक पुत्री बीबी रास्ती का विवाह भी शेख के पौत्र फतह उल्लाह के साथ किया था। इनके अनुसार भक्त को अपना पूरा समय ईश्वर की याद में ही गुजारना चाहिये।<sup>31</sup> ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी-शेख हमीदुद्दीन नागौरी के वंशज एवं गुजरात के शेख कबीर के शिष्य थे। इनका जन्म सन् 1337 हिजरी 738 में व देहान्त 1495 नागौर में हुआ था। इन्हें शेख हमीदुद्दीन नागौरी के कदमों में दफनाया गया। ये नागौर से झुझनू आये और शेखावाटी में कायमखानी वंश का राज्य इन्हीं के आशीर्वाद से प्राप्त हुआ। हुसैन नागौरी ने झुझनू के मोहल्ला पीरजादान में रहते हुए इबादत की लेकिन वे यहां से शीघ्र ही नागौर वापस आ गये। ये नागौर के शासक फिरोज खान द्वितीय एवं दिल्ली आगरा के सुल्तान सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। इनका पूरा नाम कमालुद्दीन हुसैन था। इन्होंने नागौर में पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब के नाम पर कुराज की टीका के 30 ग्रंथ तैयार किये उसका नाम 'नुरून्वी' रखा। यही नहीं उन्होंने जनसाधारण की भलाई हेतु नागौर में 'रसूल-बाड़ी' नामक एक उद्यान तथा 'मुश्तफा सागर' नामक एक हौज का भी निर्माण करवाया।<sup>32</sup> ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रसिद्ध खलीफा (उत्तराधिकारी) शेख अहमद मज्द शोबानी ने भी उनके समय में प्रचलित चिश्ती सूफी शाखा की परम्परा को नागौर में तथा अजमेर में निरन्तर बनाये रखा। इनका जन्म नारनोल में तथा मृत्यु फरवरी 1521 में नागौर में हुई थी और इन्हें इनके पीर की मजार के पास ही दफनाया गया।<sup>33</sup> नागौर जिले में खाटू में बाबा इस्हाक मगरीबी



ने सूफीमत का प्रचार किया। इनके प्रसिद्ध शिष्य शेख अहमद खट्टू थे<sup>34</sup> शेख नजमुद्दीन ने शेखावाटी में सूफीमत का प्रचार किया। इनका जन्म झुंझनूं में 1234 हिजरी को (26 जून 1819), मृत्यु 13 दिसम्बर 1870 को हुई। राजस्थान में उर्दू के विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। ये कमालुद्दीन हुसैन के समकालीन थे।<sup>35</sup>

जयपुर में कश्मीर में पैदा हुआ मिस्कीन शाह और मौलाना जियाउद्दीन ने सूफीमत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ये शाह बरेलवी के शिष्य थे। मौलाना<sup>36</sup> जियाउद्दीन मुहम्मद ने 18वीं सदी में राजस्थान में सूफी आन्दोलन को गति दी। मौलानाशाह फखरुद्दीन-देहलवी के उत्तराधिकारी के रूप में जयपुर में बसे। इनका जन्म 1150 हिजरी (1772) में हुआ। जयपुर व टोंक के शासक इनके प्रशंसक थे।<sup>37</sup> हाडौती एवं मालवा के संगम पर गागरौन में शेख हमीदुद्दीन गागरौनी जो मिढटे महाबली के नाम से प्रसिद्ध है ने सूफीमत का प्रचार किया।<sup>38</sup> इनकी मृत्यु 715 हिजरी (1337) गागरौन में हुई।<sup>39</sup> इन्होंने अपने जीवन में ही अपनी मजार बनवा ली थी जो उनकी खानकाह में स्थित है। इन महत्वपूर्ण सन्तों के अलावा शेख नसीरुद्दीन ने जो अकबर के समकालीन थे हिण्डौन में, शेख मुबारक ने अलवर में, मीर सैयद खंग सवार जो सुल्तान मुहम्मद गोरी की सेना के अधिकारी थे ने तारागढ़ (अजमेर) में, मीर मुईनुद्दीन ने बयाना में तथा शेख मुहम्मद तुर्क, शेख निजामी नारनोली, शेख ताजुददीन शेर सवार, मखदूम मौलाना अमादगौरी ने नारनोल में सूफीमत के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।<sup>40</sup>

ये सभी सूफी सन्त धार्मिक सामाजिक कट्टरता, भेदभावों, अपराधों आदि दुर्गुणों से दूर थे। जाति-पाँति, छुआछूत, बाह्य आडम्बर की भावना इनमें लेशमात्र भी नहीं थी।<sup>41</sup> ये सदैव मानववाद, भातृत्व प्रेम, हिन्दू मुस्लिम एकता, समन्वयवाद, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता तथा नम्रता में विश्वास रखते थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढाल लिया और कुछ हिन्दू रीति रिवाजों को भी अपना लिया था।<sup>42</sup> अपने धर्म में इन्होंने अनेक हिन्दू तत्वों को भी शामिल कर लिया था। आत्मा परमात्मा के बीच प्रेमी प्रेमिका का सिद्धान्त, उपवास करना, शरीर का यातना देना, शेखों को रुककर प्रणाम करना, कमण्डल रखना, नवीन अनुयायियों के सिर पर मुण्डन, भक्त मण्डलियों सभा आदि हिन्दू प्रथाओं व रिवाजों को अपना लिया था।<sup>43</sup> इन्होंने चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन को समां (कव्वाली) के रूप में स्वीकार किया। ये रामानुज से प्रभावित था इसके अतिरिक्त उपनिषदों से सृजित विचारों का इसमें समावेश किया गया।<sup>44</sup> जिससे इसको वेदान्त का इस्लामी करण व वेदान्त का प्रतिरूप भी कहा गया। सम्राट अकबर के प्रपोत्र दाराशिकोह ने मिसाल के लिए 'मजमा-उल-बहरैन' के प्राक्कथन में लिखा है कि सूफियों और वेदान्तियों के अद्वैतवाद में अन्तर केवल शाब्दिक है। 52 उपनिषदों का सारतत्व और इस्लाम का सार तत्व एक ही है।<sup>45</sup> इसके अतिरिक्त सूफियों ने बौद्ध व जैन धर्म से शांति, अहिंसा, निर्वाण व माला जपने का सिद्धान्त व भारतीयों के योगियों से योग ग्रहण किया। अर्थात् इस धर्म की भारतीय धर्मों से साम्यता थी।

इसके अतिरिक्त सूफी संतों ने अपनी समस्त वाणी में किसी भी धर्म का खण्डन

नहीं किया। क्योंकि ये सभी धर्मों के मूल तत्वों को समझते थे अतः इन्होंने किसी भी धर्म को दूसरे धर्म से सर्वोपरि नहीं माना और न उनमें भेद किया। उन्होंने अपने निजी स्वार्थ के लिये धर्म का उपयोग भी नहीं किया।<sup>46</sup> ये लोग मानते थे कि सभी धर्मों के रास्ते अलग-अलग हैं, परन्तु सभी का चरम लक्ष्य ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है। ये सूफी सन्त मनुष्य को यही समझाया करते थे कि संसार की वास्तविक स्थिति को समझे और मानवता के प्रति अपने कर्तव्य को पहचाने।<sup>47</sup>

सूफी साधकों ने एकेश्वरवाद में निष्ठा जता कर हिन्दू व मुसलमानों को उस एक परम तत्व के चिंतन की ओर आकर्षित किया। उन्होंने ईश्वर को एक बताया और विभिन्न धर्मों को उसके पास पहुंचाने के विभिन्न मार्ग बताये। इन्होंने बताया इश्वर एक है, वह दयालु है, सर्वव्यापक है आकाश धरती पर जो कुछ है उसी का है अन्त में सभी पदार्थ उसी के पास लौट जाते हैं। सांसारिक जीवन केवल मिथ्या सुख है। ईश्वर अनन्त सौन्दर्यमय है अल्लाह अच्छों को प्यार करता है दुष्टों के लिए वह कठोर दण्ड देता है<sup>48</sup> अन्य धर्मों के समान ही इस धर्म का लक्ष्य भी परमात्मा के साथ मिलन है और प्रेम इस कार्य का साधन है। हिन्दू मुस्लिम एक अल्लाह की ही सन्तान है। अतः ये सूफी सन्त धर्म से जुड़े पाखण्ड विधानों को नहीं मानते थे और सभी धर्मों के लोगों को आपसी भाईचारे, करुणा, दया, उदारता, स्नेह और एक दूसरे के प्रति सम्मान रखने को प्रेरित करते थे। सूफियों के ऐसे विचारों से धर्म के नाम पर फैली कटुता व्याप्त रूढ़ियों व अन्ध विश्वासों में कमी आई और आपसी भाईचारे की भावना पैदा हुई।<sup>49</sup> इसके अतिरिक्त इन सन्तों ने सभी सम्प्रदायों व जातियों के लोगों को प्रेम का पाठ पढ़ाया। उनके अनुसार बिना प्रेम के ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं अतः आपस में प्रेम पूर्ण व्यवहार करें। प्रेम का तार हर हिन्दू मुसलमान के शरीर में एक सा है<sup>50</sup> और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है। सभी मानव समान हैं तथा उन्हें प्रेम से गले लगाना चाहिए। सम्पूर्ण मानव जाति एक है। धर्म और देश के नाम पर लड़ना कोरी मूर्खता है। इस तरह के विचारों के पीछे सूफियों का मुख्य उद्देश्य मानव में सच्ची आध्यात्मिक भावना तथा प्रेम भावना का विकास करना था और ये सच्चे साधक की भाँति घृणा हिंसा और बैर को त्याग कर सहानुभूति और पारस्परिक प्रेम का पाठ पढ़ाना चाहते थे।<sup>51</sup> इस प्रकार इन्होंने सम्पूर्ण मानवता को दिव्य प्रेम की आड में विश्व प्रेम का पाठ पढ़ाया। जो मानव समाज तथा जीव मात्र के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ।<sup>52</sup> सूफियों के उच्च आचरण व शिक्षा के कारण भारतीय हिन्दू समाज में समानता की भावना को बल मिला व सामाजिक बुराइयां कुछ हद तक कम होने लगी। भारतीय समाज की अन्त्यज समझी जाने वाली जातियों भील, डोम, चाण्डाल, मच्छीमार, व्याघ्र, धोबी, चिड़मार, मातंग, चमार, खटीक, जुलाहे आदि को भी सम्मान मिलने लगा।<sup>53</sup> सूफी संतों ने समानता के सिद्धान्त पर बल देते हुए सांस्कृतिक एकता को समृद्ध करने हेतु अपने खानकाह (मठों) में रंग वर्ण, धर्म-मजहब, जांत-पांत, ऊंच-नीच से परे सभी लोगों का स्वागत किया। यहां का वातावरण लड़ाई-झगड़े व भेदभाव के युग में सभी लोगों को प्यार देने में सफल

रहा। इस समय यही एक मात्र स्थान था जहां राजा रंक व समाज के सताये हुए दुःखी लोग आश्रय पाते थे। यह स्थान लड़ाई झगड़े के काल में एक प्यार की झलक के समान था।<sup>54</sup> इन सूफी संतों ने रूढ़िवादी तथा धर्मान्ध सुल्तानों की कठोर नीति के विरुद्ध नरम नीति अपनाई। इनके प्रति घृणा और उदासीनता का भाव रखते हुए राजनीति और सरकारी सेवा से दूर एक साधारण गरीब आदमी की भांति सादा व गरीब जीवन जीना पसन्द किया। उन्होंने उतने में ही संतोष किया जितनी उनको जरूरत थी। इनकी अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी जैसे कि चिश्ती साहब का अपना कोई घर नहीं था और ये अपना तन ढकने के लिए केवल मात्र एक कपड़ा प्रयोग करते थे। जिसमें जगह-जगह पैबन्द लगे हुए होते थे। ये फटे हुए कपड़ों में ही परम आनन्द व आध्यात्मिक सुख अनुभव करते थे। इनकी जीविका सर्वसाधारण द्वारा दी गयी भेंट होती थी। ये किसी भी तरह के प्रलोभन को स्वीकार नहीं करते थे जैसे कि हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर के सूबेदार द्वारा सहायता के प्रलोभन को अस्वीकार कर दिया था ये किसी पर बोझ न बनते हुए एक साधारण किसान का जीवन व्यतीत करते थे। और एक बीघा जमीन को जोत कर अपनी आजीविका चलाते थे।<sup>55</sup> सूफी सन्त गृहस्थ जीवन जीते हुए संन्यासियों का सा आचरण रखते थे स्वयं चिश्ती साहब की दो पत्नियां थी जिनमें एक हिन्दू थी।<sup>56</sup> जो गढ़बीटली के हिन्दू राजा की पुत्री थी जिसे अजमेर के सूबेदार मालिक खिताब ने ख्वाजा को भेंट किया था। ख्वाजा साहब ने उससे निकाह करके उसका नाम उस्मत्तुल्लाह रखा।<sup>57</sup> सूफियों के इस सादगीपूर्ण व उदार व्यवहार ने राजस्थानी जनता को बड़ा प्रभावित किया।

इस प्रकार हृदय की शुद्धता व्यवहार, बाह्य आचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, मानव प्रेम, हिन्दू मुसलमानों में धार्मिक भेदभाव, छुआछूत का त्याग तथा समानता व भाईचारा की ओर आम लोगों का ध्यान आकर्षित करने के सूफियों के मिशन व उनके संतों जैसा जीवन भारतीय विचारधारा से साम्यता के कारण से राजस्थानी जनता अतिप्रभावित हुई और सूफियों के प्रति अति विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हुए उनके प्रति श्रद्धा भाव रखने लगी और उनकी शिष्यता ग्रहण करते हुए सूफीधर्म के अनुयायी बनने लगे। ये सूफी सन्तों के विचारों व व्यवहार व दृष्टिकोण का ही प्रभाव है कि आज भी इनकी दरगाह पर हिन्दू मुस्लिम समान रूप से जाते हैं। मन्तों मांगते हैं और श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

### सन्दर्भ

1. ख्वाजा खान-स्टेडीज इन तस्वुफ, मद्रा 1923, पृ. 11  
निजामी के.ए.-सम आस्पेक्ट्स ऑफ रिलिजन एण्ड पोलिटिक्स ड्यूरिंग दी थर्टीयंथ सेंचुरी, अलीगढ़ 1961, पृ. 50,  
सिंह प्रो. बघेला हेत-मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, जयपुर, पृ. 157, पाठक शिवसहाय-हिन्दी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन, पृ. 157, राजकमल प्रकाशन, 1978
2. हेस्टिंग्स जेम्स, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स (सम्पा.), एडिनबर्ग 1914, भाग 1-2, पृ. 10

3. मोहम्मद एस. चांद, इकबाल फातिका-भारतीय संस्कृति की विरासत बुक इनक्लेव, जयपुर 2007, पृ. 94  
हुसैन युसूफ गिलिम्पस ऑफ मेडीवल इण्डियन कल्चर, बाम्बे 1957, पृ. 33
4. निकोलसन-ए लिट्टेरी हिस्ट्री ऑफ अरब्स, केम्ब्रिज, 1930, पृ. 392
5. स्मिथ माग्रेट-अल गजाली-द मिस्टिक, लंदन 1944, पृ. 104
6. निकोलसन-स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, केम्ब्रिज 1967, पृ. 49
7. निजामी प्रो. के.ए. खैर उल मजालिस हमीद कलन्दर (संपा.), पृ. 96
8. रिजवी एस.ए.ए. हिस्ट्री ऑफ सूफीज्म इन इंडिया, दिल्ली 1978, भाग द्वितीय, पृ. 480
9. तिवारी, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया, पृ. 168, 169
10. ताराचन्द्र, इन्फुलेमन्स ऑफ इस्लाम इण्डिया कल्चर, पृ. 83, इलाहाबाद 1963
11. डॉ. लाल आशीर्वादी, मेडिवल इण्डियन कल्चर, पृ. 77, आगरा 1990
12. फजल अबुल, आईन-ए-अकबरी (अनु.) ब्लॉकमेन एवं जेरेट कलकत्ता 1868 भाग द्वितीय, पृ. 203
13. <http://hi.wikipedia.org@sd> 36 मुक्तज्ञान कोष से
14. <http://religion.bhaskar.com/artical/ajmer sharif88025htm>  
Bhakti poetry in Medieval India, By neeti m sadarangani, pg. 60  
खुर्द मीर, सियार-उल-औलिया, देहली 1924, पृ. 45
15. Embodiment of syneretic traditions Mohammad Eqbal
16. चन्द्र सतीश, मध्यकालीन भारत, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली 2003, पृ. 245; सिंह राजबाला, मध्यकालीन भारत में सूफी मत का उद्गम एवं विकास, पृ. 144-145
17. फजल अबुल, आईन-ए-अकबरी भाग तृतीय, पृ. 168
18. सियार-उल-औलिया, पृ. 53
19. <http://hi.wikipedia.org/w/index.bhp?title-> ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती से लिया गया
20. सतीश चन्द्र-मध्यकालीन भारत, पृ. 245
21. तिवारी रामपूजन, सूफीमत-साधना और साहित्य, पृ. 540, वाराणसी द्वितीय संस्करण
22. इकराम मोहम्मद, आब-ए-कोसर, भाग प्रथम, पृ. 237  
अखबार-उल-अखबार, पृ. 29, फवाइद-उल-फूवाद, पृ. 39-41  
डॉ. माथुर कमलेश, राजस्थान का इतिहास, आस्था प्रकाशन 2006, पृ. 134
23. कुमार प्रेम, नागौर के सूफी सन्त
24. निजामी के.ए., सम ऐस्टेपेक्ट्स ऑफ रिलिजन एण्ड पालिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग दी थर्टीयंथ सेंचुरी, पृ. 187  
सियार-उल-औलिया, पृ. 156, 157, सियार-उल-आरिफिन, पृ. 13  
सरूर-उल-सुदूर, पृ. 10, 43, 47, 105, 106
25. शिकोह द्वारा सूफीमत-उल-औलिया, कानपुर 1900, पृ. 119
26. पीरजादा, एम.ए. फारूकी, आफताब-ए-नागौर, पृ. 87
27. सरूर-उल-सुदूर, पृ. 75
28. वही, पृ. 35
29. फारूकी एम.ए., आफताब-ए-नागौर, पृ. 73,91

30. सरूर-उस-सुदूर, पृ. 28
31. वही, पृ. 24, 25
32. हाशमी मोहम्मद, तारीख-ए-नागौर साविर अली साहब फारूकी हाल मूलीन हैदराबाद, जिक्र-ए-सूफी, पृ. 18 (उर्दू में)
33. अखबार-उल-अख्यार, पृ. 186, खजीनत-उल-असफिया, हाफिज गुलाम सरवर लखनऊ 1872, भाग प्रथम, पृ. 414
34. चगताई एम.एस., नागौर-ए-फोरगोटन किंगडम, ए बुलेटिन ऑफ दी दक्खन कॉलेज रीसर्च इंस्टीट्यूट, पूना 1940, पृ. 179  
कनिसरियेर एम.एस., ए हिस्ट्री ऑफ गुजरात, भाग प्रथम, पृ. 131
35. माथुर डॉ. कमलेश, राजस्थान का इतिहास, पृ. 135, 136
36. तारीख-मशायख-ए-चिश्त, पृ. 574
37. मौलाना जियाउद्दीन, मिरात-ए-जियाया (पाण्डुलिपि) खानकाह, जयपुर पृ. 387
38. ए लिस्ट ऑफ आब्जेक्ट्स ऑफ एन्टिक्वेरियन इन्ट्रेस्ट इन मालवा, ए.एस.आई, 1920, पृ. 20
39. राजस्थान का सन्त साहित्य, जोधपुर, पृ. 42
40. सिंह राजबाला, मध्यकालीन भारत में सूफी मत का उद्गम एवं विकास, वाराणसी, 1995, पृ. 144-145
41. राधेश्याम, सल्लनत कालीन सामाजिक व आर्थिक इतिहास, इलाहाबाद, 1987, पृ. 167
42. निजामी सम आस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पोलिटिक्स ड्यूरिंग दी थर्डियंथ सेन्चुरी, अलीगढ़ 1961, पृ. 50
43. बी.एल. गुप्ता, मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ. 253, जयपुर पब्लिशिंग हाउस 2004, जयपुर
44. तिवारी, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया, पृ. 211
45. शर्मा पावा, भारतीय संस्कृति के मूलाधार, पृ. 240, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर 2005  
अल कुरेशी, हिन्दी आव दी अरब्स, पृ. 438
46. राधेश्याम, पृ. 167
47. इंजीनियर असगर अली, सूफिज्म एण्ड कम्पूनल हारमोनी, पृ. 2
48. कुरान एस 2 पृ. 261
49. शर्मा, पावा, पृ. 245
50. पाठक शिव सहाय, पृ. 80
51. राधेश्याम, सल्लनत कालीन सामाजिक व आर्थिक इतिहास, इलाहाबाद, पृ. 167
52. वर्मा हरिशचन्द्र, मेडिवल सट्स टू इंडिया, कलकत्ता, 1976, पृ. 498-499
53. डॉ. पेमाराय, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 30-31, 63
54. डॉ. नागोरी एस.एल. भारतीय संस्कृति, पृ. 176, बोहरा प्रकाशन, जयपुर 1985
55. निजामी के.ए., सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग दी थर्डियंथ सेन्चुरी, पृ. 187 (दिल्ली, 1978)
56. बी.एल. गुप्ता, पृ. 254
57. अखबार-उल-अख्यार, पृ. 114

## सामाजिक समरसता के पुरोधे लोकदेवता पाबूजी

भंवरसिंह भाटी

चरित्रवान महापुरुष ऐसे अमर आकाशदीप हैं जो कभी बुझते नहीं और उनके अमित आलोक में हम अपने जीवन रूपी जलयान को रोशन करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम सदृश चरित्रवान पुरुष की परिभाषा इस प्रकार बताई है—

*नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम जो जागा।  
लोभ पाँस जेहि गर न बंधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।<sup>1</sup>*

लोकनायक पाबूजी राठौड़ में तुलसी कृत दोहे में वर्णित चरित्रवान महापुरुष के सभी गुण विद्यमान थे। पाबूजी जितने गुणवान पुरुष थे, उतने ही अधिक रूपवान और वीर भी थे। शूरों और संतों की तपोभूमि वीर वसुंधरा मारवाड़ के ग्राम कोलू (फलोदी) में इनका जन्म मारवाड़ के मूल पुरुष राव सीहा की चौथी पीढ़ी में राव धांधलजी<sup>2</sup> के घर माता स्वर्ग अप्सरा उर्वशी<sup>3</sup> की कोख से हाड़फाड़ कर 1239 ईस्वी<sup>4</sup> में हुआ था।

*अधपत वालौ अंस। पड़ियौ अपछर पेट में।  
तद लछमण अवतंस। रतन कंवर पाबू रह्यौ।।<sup>5</sup>*

पाबूजी की माता अप्सरा उन्हें बाल्यावस्था में ही छोड़कर संसार से विदा हो गई थी। सौतेली माता कमलादे ने उनका लालन-पालन-पोषण किया।<sup>6</sup> वे बाल्यावस्था से ही बड़े पराक्रमी, साहसी और करामाती थे। उनकी बाल्यावस्था का वर्णन 'धांधलां री ख्यात' में इस प्रकार मिलता है—

*दिन दिन तो मोटो हुवै, छोड़े बालो वेष।  
अंग पोरुष दीषै ईधक, रीस तणो समसेर।।  
पाबू कमध चडती कला, धन धांधल रो भाग।  
तेतीसां में फाबवै सोष तणां तक नाग।।<sup>7</sup>*

बाल्यकाल में ही पाबूजी के पिता धांधल का स्वर्गवास होने पर उनके बड़े भाई बुड़ोजी राजगद्दी पर बैठे। पाबूजी का बचपन अपनी छोटी बहिन पेमलदे और आनन्दजी चारण की पुत्री देवलदे के साथ हर्षित वातावरण में बीता। देवलजी बचपन से ही पाबूजी को अपना धर्मभाई मानने लगी।

*देवल पाबू दखां वंश दीपक वरदाई।  
वेहु भाई बैन रमै चौवटै सदाई।।<sup>8</sup>*

पाबूजी ने बाल्यावस्था में अपने गुरु रूपनाथ से योग एवं क्षत्रिय धर्म की शिक्षा

प्राप्त की थी। साथ में छत्तीस नियमों का पालन करने की प्रतिज्ञा की थी, ये नियम महाकवि मोडजी आशिया ने इस प्रकार बताये हैं—

1. अत्यधिक खुशी में भी समान भाव धारण किये रहना।
2. सत्य वचन कहना।
3. संयम का भाव रखना।
4. युद्ध में भागे हुए शत्रु पर आक्रमण नहीं करना।
5. मन और विचारों पर विजय करना।
6. उपासकों का सच्चा पक्षधर रहना।
7. शत्रुओं की गर्जना के आगे डरकर पैर पीछे नहीं करना।
8. भय रहित रहना।
9. दयालुपन का पालन करना।
10. लोभ रहित रहना।
11. पुराने बैरियों (शत्रुओं) से बदला लेना।
12. प्रार्थियों की मनोकामना सिद्ध करना।
13. किसी वस्तु के होते हुए मना नहीं करना।
14. युद्ध में करुणा से मन का अस्थिर होकर नहीं मुरझाने वाला तथा अपने विचारों पर अविचल रहने वाला, दूसरों के दुःख को दूर करना।
15. युद्ध हो जाने पर भी अनीतिपूर्ण व्यवहार नहीं करना।
16. कहे हुए वचन पालन का पूर्ण निर्वाह करना।
17. कायरतापूर्ण कोई कार्य नहीं करना।
18. पूर्वजों के नीति परक आदर्शों का पालन करना।
19. अपने आवास से विछोह होने वाले शरणार्थियों को पुनः उनके आवास दिलाना।
20. हरावल में युद्ध करते हुए अन्याइयों को सीधा करना।
21. अनुपयुक्त का उपयोग नहीं करना।
22. कपट रहित एवं निष्कलंक रहना।
23. सत्ता से घमंडित नहीं होना।
24. अपनी तलवार के बल से प्राप्त कर उसका उपभोग करना।
25. प्रतिदिन कोई न कोई वीरता पूर्ण कार्य करना एवं अमरकीर्ति प्राप्त करने की सदैव मनोकामना रखना।
26. लंगोट और वचन से निष्कलंक रहना।
27. यह यति 'पाबू' पराई स्त्री की तरफ नहीं देखता है।
28. वीरता को व्यर्थ न गुमाना एवं युद्ध में मुंह नहीं मोड़ना।
29. युद्ध की गर्जना को सुनकर कायरता नहीं लाना।
30. जैसा दूसरों को करने के लिए कहता है, स्वयं भी वैसा ही करता है अर्थात् यथार्थ का पूर्ण पालन।
31. नित्य योग करना।

32. चारण जाति एवं समस्त आश्रितों (थोरी बंधु आदि) में किसी के भी कोई तकलीफ होने का सुनने पर उसका निवारण करने से पूर्व भोजन नहीं करना।
33. अपने गुरु के उपदेशों का सदैव पालन करना।
34. किसी प्रकार की मनोव्यथा नहीं करना।
35. अतिथि आगन्तुकों का आदर-सत्कार करना। हिन्दू धर्म की रक्षार्थ तत्पर रहना एवं दुराचारी म्लेच्छों, यवनों आदि शत्रुओं का दमन करना।
36. गौरक्षा हेतु पूर्ण-प्रण से समर्पित रहना।

उपर्युक्त नियमों का उन्होंने आजीवन पालन किया। वे शाकाहारी थे, उन्होंने मांस-मदिरा का कभी भी उपभोग नहीं किया तथा साथ ही अहिंसा का पूर्ण पालन किया।<sup>10</sup> राव धांधल के पुत्र होने के कारण धांधलोट कहलाये।<sup>11</sup> उनके वंशज भी धांधल राठौड़ कहलाते हैं। वीर बालक पाबूजी ने भीषण अकाल एवं विकट परिस्थितियों में मालवा प्रदेश के शक्तिशाली सामन्त आना वाघेला के भगोड़े सात थोरी जाति भाइयों को उस वक्त आश्रय देने से आसपास के शासक डर रहे थे, तब उन्हें निर्भय होकर शरण ही नहीं दी बल्कि अपनी करामात से उन्हें चमत्कार दिखाया एवं उनकी रक्षा की और युग-युग के लिए अपना सखा-साथी बना लिया। अपने शरणागत निस्सहाय सात थोरी बन्धुओं के पिता के हत्यारे मालवा के सामन्त आना वाघेला का उन्होंने दमन किया।<sup>12</sup> अपनी बहिन सोनीबाई को उसके पति राव देवड़ा (सिरोही शासक) द्वारा प्रताड़ित करने पर, सोनीबाई ने अपने भाई पाबूजी के पास संदेश भिजवाया। तब उन्होंने सिरोही पहुंच कर राव देवड़ा को सबक सिखाने का निश्चय किया। पाबूजी के पराक्रम से उसने भयभीत होकर क्षमा याचना की एवं नारी जाति पर आजीवन किसी भी प्रकार का जुल्म न करने की कसम खाई। बहिन सोनीबाई द्वारा माफी बखशाने की प्रार्थना पर उसे क्षमा कर दिया। अपने बड़े भाई बुड़ेजी की पत्नी गेहलोतनी द्वारा पाबूजी पर व्यंग्य करने पर डीडवाना के डोडा सिरदार (गेहलोत) को पाबूजी ने बंदी बनाकर अपनी भाभी का अहंकार मर्दन किया।<sup>13</sup> वे सात थोरियों चांदा, डेम्भा, खाबू, पेमा, खलमल, बासल और खंगार के साथ सेवक हरमल राईका के सहयोग से ऊंट लाने हेतु लंका (सिंध) जा रहे थे। मार्ग में पाटन का शक्तिशाली शासक मिर्जाखान जो स्त्रियां, निर्बलों-दलितों को प्रताड़ित करने एवं गो हत्या के लिये प्रसिद्ध था। उसको पाबूजी ने अपने अद्भुत पराक्रम से पराजित किया। तब उसने बहुत सा द्रव्य भेंट करना चाहा परन्तु पाबूजी ने उसे स्वीकार नहीं किया, केवल सात घोड़े भेंट स्वरूप स्वीकार करके वे घोड़े अपने साथी थोरी बन्धुओं को चढ़ने के लिये दे दिये थे।<sup>14</sup> कच्छ के गढ़वी चारण आनन्दजी की पुत्री देवल पाबूजी को अपना भाई मानती थी तो पाबूजी भी देवल को सहोदरा से कम नहीं मानते थे। देवल की केसर घोड़ी 'कालमी' एक विख्यात घोड़ी थी। जिसकी ख्याति सुनकर पाबूजी के बहनोई जिंदराव खीची (जायल शासक) एवं कोलू के जागीरदार पाबूजी के बड़े भाई बूड़ाजी ने मुंहमांगा मूल्य देकर प्राप्त करनी चाही थी, मगर देवल चारणी ने उन्हें वह घोड़ी नहीं दी थी। परन्तु वह घोड़ी पाबूजी को देवल ने इस शर्त पर दी थी कि यदि

मेरी गायों पर संकट आवे तब रक्षा करना।<sup>15</sup> पाबूजी ने रक्षा का वचन देकर केसर कालमी घोड़ी ले ली। इससे जींदराव खीची और बूड़ाजी पाबूजी के विरुद्ध हो गये। बूड़ाजी ने भाई के नाते अधिक बुरा न माना, लेकिन जिंदराव खीची प्रतिशोध स्वरूप सोचने लगे। जब पाबूजी की बारात कोलू से अमरकोट प्रस्थान हुई तब प्रतिशोध स्वरूप बड़े भाई बूड़ाजी एवं जिंदराव खीची उनकी बारात में नहीं गये। बारात प्रस्थान होने पर रास्ते में कई बार अपशकुन<sup>16</sup> होने पर भी शूरवीर पाबूजी राठौड़ ने इसकी परवाह न करते हुए सोढों को दिये वचनानुसार बारात लेकर अमरकोट पहुंचे। सामाजिक रीति-रिवाजानुसार बारात का भव्य स्वागत हुआ। तत्पश्चात् विवाह मंडप में फेरों की रस्म हो रही थी, तीन फेरे हुये थे कि उनकी केसर कालमी घोड़ी जोर-जोर से हिनहिनाने लगी। तब देव पुरुष पाबूजी समझ गये कि देवलदे पर संकट आ गया है। पीछे वास्तव में जींदराव खीची ने राजपूती मर्यादा, हिन्दू धर्म, क्षत्रिय धर्म से हटकर कायरपन पर उतर कर पाबूजी को विवाह में व्यस्त समझकर अपने प्रतिशोध का बदला लेने की भावना से देवल चारणी की गायें लूटकर ले जाने लगा। इसकी सूचना देवल द्वारा बूड़ाजी को देने पर उन्होंने भी देवल की गायों की रक्षा नहीं की। तब देवल ने विवाह में व्यस्त पाबूजी को यह सूचना दी। तब लोकनायक पाबूजी ने तत्काल अतिमहत्वपूर्ण सामाजिक संस्कार स्वयं के विवाह में फेरों (चंवरी) जैसी रस्म को बीच में छोड़कर अपने गठजोड़े<sup>17</sup> को तलवार से काटकर असहाय देवल चारणी की गौरक्षार्थ प्रस्थान हुए।<sup>18</sup> चलते-चलते सोढी रानी से कहते गये कि यदि जीवित रहूंगा तो शीघ्र ही आऊंगा, ससम्मान आपको ले जाऊंगा अन्यथा मेरी निशानी आयेगी।<sup>19</sup>

पाबूजी ने अपने सहयोगी सात थोरी बंधुओं की सेना से जिंदराव खीची की सेना का मुकाबला किया। खीचियों को परास्त करके देवलदे की गायें सकुशल लौटाई। पाबूजी अपने ठिकाने कोलू लौट रहे थे तब पीछे बूड़ाजी को किसी विश्वासघातक ने झूठी खबर दी कि खीचियों से युद्ध करते हुए पाबूजी काम आ गये हैं। तब बूड़ाजी ने भावावेश में आकर खीचियों का दमन करने हेतु सेना सहित कोलू से प्रस्थान किया, वे दूसरे रास्ते से जिंदराव खीची से जा भिड़े और युद्ध में बूड़ाजी खीचियों के हाथों मारे गये। तब पाबूजी के पराक्रम से भयभीत जिंदराव खीची ने अपने ननिहाल पक्ष (कुंडल सामन्त) बुद्ध भाटी पम्मा को गुमराह करके उसकी सेना लाकर पाबूजी पर आक्रमण किया। पाबूजी देवल की कई दिनों प्यासी गायों को गूंजवे कुएं<sup>20</sup> पर पानी पिला रहे थे कि अचानक पाबूजी पर आक्रमण कर दिया। फिर भी वीर राठौड़ पाबूजी एवं उनके सहयोगियों ने उनको करारा जवाब दिया। इस युद्ध में पाबूजी 1276 ईसवी में वीरगति को प्राप्त हुए।<sup>21</sup> खीची जिंदराव भी घबराकर लौट गया। सोढी राणी पाबूजी के साथ सती हुई। किन्तु बूड़ाजी की गर्भवती राणी को सती होने से रोका गया। तब उसने अपने पेट को अपने ही हाथों से चीर कर (झरड़ा देकर) पुत्र उत्पन्न किया, उसके बाद वह भी सती हो गयी। वह बालक झरड़ाजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। झरड़ाजी ने अल्पायु में ही अपने फूंफा जिंदराव खीची का वध करके पिता एवं चाचा का वैर लिया।<sup>22</sup> कोलू वीरान

हो गया शेष रहे लोग पलायन करके कारियात (जैसलमेर) चले गये। कालान्तर में पाबूजी ने देवराज नामक धांधल को सवप्न में आकर कहा कि अब तुम वापस मेरी जन्म व कर्मभूमि ग्राम कोलू जाकर मेरी सेवा-पूजा करो। तब उनके वंशज वापिस कोलू आए विक्रम संवत् 1404 में खेजड़ी वृक्ष के नीचे पाबूजी का स्थान बनाकर पूजा-अर्चना करनी प्रारम्भ की। उनके पुजारी भोपा कहलाये। वि.सं. 1515 भाद्रपद शुक्ल ग्यारस को धांधल सोभत ने जोधपुर नरेश सातल के काल में पाबूजी का पक्का चबूतरा बनाया। बीकानेर नरेश रायसिंह एक प्रेत आत्मा से पीड़ित थे, जिन्हें जैसलमेर रावल हरराज द्वारा पाबूजी से प्रार्थना करने पर पाबूजी ने रायसिंह को प्रेत मुक्त किया। इस खुशी में बीकानेर नरेश रायसिंह ने कोलू में पाबूजी का मंदिर का निर्माण करवाया, स्वर्ण कलश चढ़ाये। धांधल दुर्गाजी भोपा को कोलू ग्राम का ताम्रपत्र दिया, निर्माण बाबत शिलालेख उत्कीर्ण करवाया।<sup>23</sup> पाबूजी की ख्याति इस समय तक चारों ओर फैल गई थी। जोधपुर महाराजा अजीतसिंह ने संवत् 1768 फागुन सुदी सप्तमी को कोलू पहुंच कर पाबूजी के मंदिर में सेवा-पूजा की एवं मंदिर निर्माण हेतु आर्थिक सहयोग दिया।<sup>24</sup> यहां पर दूसरा मंदिर जोधपुर महाराजा अभयसिंह जी ने वि.सं. 1768 में बनाया। लोक प्रसिद्ध है कि पाबूजी के 'परचों' (चमत्कार) से ही वे अहमदाबाद का युद्ध जीते थे।<sup>25</sup> जोधपुर महाराजा जसवंतसिंह प्रथम को भी काबुल में मृत्यु से पूर्व मृत्यु बाबत उन्होंने अगवत करवा दिया था।<sup>26</sup>

पाबूजी न्याय के लिये अन्याय के विरुद्ध आजीवन संघर्षरत रहे, नारी सम्मान, शरणागत की रक्षा, वचन निर्वाह, त्याग और वीरता एवं अलौकिक शक्तियों से दुराचारियों का दमन करते हुए गौ एवं धर्म की रक्षार्थ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त होने पर पाबूजी की ख्याति चहुंओर दिन-दुनी रात चौगुनी फैलती गई। सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत वर्ष में ही नहीं विश्व इतिहास में चंवरी<sup>27</sup> में से फेरे<sup>28</sup> खाते हुए हथलेवा<sup>29</sup> छुड़ाकर शरणागत की रक्षार्थ रणक्षेत्र में प्रस्थान करने वाले पाबूजी राठौड़ जैसा शूरवीर ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा। पाबूजी ने युद्ध भूमि में अपनी बहिन के सुहाग की रक्षार्थ स्वयं को बलिदान कर दिया। वहीं उन्होंने अपने सगे बहनोई जायल जिंदराव द्वारा प्रतिशोध एवं अन्यायपूर्वक तरीके से असहाय देवल चारणी की गायें लूटने पर पाबूजी ने सम्बन्धों को परे रखते हुए न्याय के लिए अन्याय के विरुद्ध धर्म की रक्षार्थ बहनोई के विरुद्ध रणक्षेत्र में प्रवेश किया एवं शत्रु को परास्त कर देवल का गोधन सकुशल लौटाया।<sup>30</sup>

वे मात्र वीर ही नहीं वरन् अछूतोद्धारक भी थे। उन्होंने अस्पृश्य समझी जाने वाली थोरी जाति के सात भाइयों को न केवल शरण दी अपितु प्रधान सरदारों में स्थान देकर उठने-बैठने और खाने-पीने में भी अपने साथ रखा। जबकि तत्कालीन युग में जात-पांत, छूत-अछूत की भावनाएं समाज में प्रबल थी। निम्न वर्ग अपने आपको समाज से पृथक एवं उपेक्षित अनुभव करता था। ऐसी विकट परिस्थितियों में पिछड़े हुए वर्ग जिन्हें अछूत समझा जाता था उनको सर्वप्रथम ऊपर उठाने और समाज का एक अभिन्न अंग बनाकर

साथ लेकर चलने का कार्य पाबूजी ने किया था। संकट की घड़ी में पाबूजी ने उन्हें सबल प्रदान किया, मान-सम्मान के साथ सगे भाई तुल्य अपने साथ रखा जिससे थोरी बंधु चांदा-डेम्भा आदि ने गद्-गद् होकर स्नेह वश पाबूजी का आजीवन साथ दिया और अंत में पाबूजी के साथ चांदाजी-डेम्भाजी भील भी वीरगति को प्राप्त हुए। जब युद्ध में थोरी जूझकर गिरे तब उनके धड़ों से रक्त बहकर पाबूजी के रक्त में मिलने लगा, तब देवल देवी दौड़कर आयी और पाबूजी और भील बंधुओं के बीच मिट्टी की पाल बनाने लगी कि कहीं दोनों जातियां (सवर्ण-असवर्ण) का रक्त आपस में न मिल जाये। पाबूजी ने यह देखकर देवलदे बहिन से कहा कि 'हे देवी, मेरा रक्त बहकर भीलों के रक्त से मिलकर एक हो जाने दे तभी मेरी आत्मा को शांति मिलेगी। यह भेदभाव मुझे नहीं सुहाता'—

*भालाळो भाखेह सांभल देवलदे सगत।*

*रुधर मती राखेह मिळ्वादै भीलां मंही।<sup>31</sup>*

पाबूजी के यह वचन सुनकर देवलदे ने भीलों और पाबूजी के बीच की मिट्टी की पाल तोड़ दी और उनका खून आपस में मिल गया।<sup>32</sup> कर्तव्य की इस पावन वेदी पर हम सभी समान हैं और हमारा रक्त भी मिलकर एक हो जाये। वीर पाबूजी ने जाते-जाते कितना भाव भरा और मार्मिक यह संदेश दिया कि तब से अब तक राजपूत और भील अपने आपको भाई तुल्य समझते हैं, भेदभाव की दीवार हमेशा के लिए ढहा दी गई। कालान्तर में भी इसी रिश्ते को महाराणा प्रताप के साथ भील बंधुओं ने पुनः दोहराया और मुगलों के हल्दी घाटी के मैदान में छक्के छुड़ाये।<sup>33</sup> कालान्तर में अलौकिक एवं वीरतापूर्वक कार्यों के लिए उनको देवताओं की तरह पूजा जाने लगा।<sup>34</sup> उनके देव स्थान कोलू, देचू, बांमणू (फलोदी), कारीयाप (जैसलमेर), धनारी, मसूरिया, जालेली, भांडियावास, चांदरक, बूटेलाव, मोकलावास, डांवरा, धागड़ावास, करणू (जोधपुर), चोचरा, महाबार (बाड़मेर), कुड़छी (नागौर), बीकानेर एवं छछरा, अमरकोट, सिंध (पाकिस्तान) में स्थापित करके पूजा की जाने लगी। सम्पूर्ण मारवाड़ में ही नहीं, मेवाड़, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, हिमाचल प्रदेश (भारत) तथा सिंध, अमरकोट<sup>35</sup> (पाकिस्तान) में भी लोकदेवता के रूप में पाबूजी विख्यात हो गये। पाबूजी की (हिन्दुवा सूरज) लक्ष्मण के अवतार<sup>36</sup> के रूप में पूजा-अर्चना की जाती है। प्रदेश में थोरी जाति के भोपे-भोपियां पाबूजी के जीवन-चरित्र पर आधारित उनकी गाथा का पड़ के रूप में वाचन करते हैं। यह पड़ एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। रबारी, धांधल राठौड़ (राजपूत), थोरियों के पाबूजी इष्टदेव हैं।<sup>37</sup>

कई भक्तों ने बताया कि संकट में तथा परदेश में पाबूजी को स्मरण करने पर वे 'हेलै हाजर' होते हैं।<sup>38</sup> पाबूजी के मंदिर के आसपास दूर-दूर तक ओरण मिलते हैं। राजस्थान, गुजरात एवं सिंध में ऐसा लोकविश्वास है कि पाबूजी की मनौती करने पर बीमार ऊंट की बीमारी दूर हो जाती है। वे 'ऊंटों के देवता' भी माने जाते हैं।<sup>39</sup> निःसंतान

दम्पतियों ने पुत्र प्राप्ति के दावे भी किये हैं जिसका जीता जागता उदाहरण डिंगल के महान् विद्वान् महाकवि मोडजी आशिया हैं, जिन्हें पाबूजी ने देवरूप में दर्शन दिये एवं पुत्र रत्न प्रदान किया। इसके उपलक्ष में उन्होंने 'पाबूप्रकाश' ग्रंथ की रचना की और अपने पुत्र का नाम पाबूदान रखा।<sup>40</sup> ऐसा लोक विश्वास है मनौती पूर्ण होने पर भक्त गण पाबूजी की पड़ दिलवाते हैं, खीर, लाफसी, नारेल, मेवा, मिठाई प्रसाद के रूप में चढ़ाते हैं।

### सन्दर्भ

1. गोस्वामी, तुलसीदास, श्रीराम चरितमानस 4/20/23
2. ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, जोधपुर, 2007 ई., पृ. 25
3. मुहणोत नैणसी री ख्यात, भाग 3, पृ. 58
4. ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, पूर्वोक्त, पृ. 163
5. आशिया, मोडजी, पाबू प्रकाश-78 (सम्पादक शंकरसिंह आशिया), जोधपुर 2009 ई., पृ. 99
6. भाटी, पुष्पा, राजस्थान के लोकदेवता एवं लोकसाहित्य, पृ. 119
7. राठौड़, विक्रमसिंह, धांधलां री ख्यात, जोधपुर 2006 ई., पृ. 30
8. आशिया, मोडजी, पाबू प्रकाश, पृ. 105
9. वही, पृ. 109-10
10. राठौड़, महीपालसिंह, राजस्थानी साहित्य में लोकदेवता पाबूजी, उदयपुर, पृ. 68
11. दूहा पाबू धांधलोत रा, ग्रंथांक 8216 (लिपिकाल अज्ञात) राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर
12. शुक्ल, दिनेशचन्द्र एवं सिंह, ऑंकारनारायण, राजस्थान की भक्ति परम्परा एवं संस्कृति, जोधपुर, 1995 ई., पृ. 45-56; भाटी, पुष्पा, पूर्वोक्त, पृ. 122-123
13. पातावत, भवानीसिंह, आस्था रौ उजास, जोधपुर 2004 ई., पृ. 34
14. विश्णोई, सोनाराम, बाबा रामदेव, इतिहास एवं साहित्य, जोधपुर, 2008 ई., पृ. 41
15. शर्मा, सागरमल, राजस्थान के लोकदेवता, जयपुर 1998, पृ. 33
16. अपशकुन (ठंकवउमद) शुभ कार्य में विघ्न पड़ने का संकेत।
17. गठजोड़-वर-वधू का गठबंधन (ज्लपदह जीम।दवज व।इतपकम।दक इतपकमहतववउ)
18. भाटी, पुष्पा, पूर्वोक्त, पृ. 123-24
19. आशिया, मोडजी, पाबू प्रकाश, पृ. 251
20. यह कुआं ग्राम देचू तहसील फलोदी (जोधपुर) में स्थित है।
21. मुहणोत नैणसी री ख्यात, भाग 2, पृ. 180
22. ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 163
23. ग्राम कोलू (तहसील फलोदी) स्थित पाबूजी के मुख्य मंदिर में उत्कीर्ण शिलालेख अनुसार।
24. आशिया, मोडजी (महाकवि), पाबू प्रकाश, पृ. 81-82
25. विश्णोई, सोनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 43
26. राठौड़, महीपालसिंह, पूर्वोक्त, पृ. 68
27. चंवरी-विवाह मण्डप में यज्ञ वेदी स्थल

28. फेरा-विवाह के समय दूल्हा-दुल्हन द्वारा की जाने वाली यज्ञ वेदी की परिक्रमा (Matrimonial rite according to with the bride and bridegroom move round the sacred fire, round)
29. हथलेवा-विवाह में वर-वधू का हस्तमिलाप (Joining hands of bride and bridegroom)
30. मुहणोत नैणसी री ख्यात, भाग 2, पृ. 172; पारीक, सूर्यकरण, राजस्थानी वार्ता, पृ. 181
31. आशिया, मोडजी ( महाकवि), पाबू प्रकाश, पृ. 170
32. स्मिथ, जोहन डी., द ए पिक ऑफ पाबूजी, पृ. 242, 250-251
33. शर्मा, कालूराम, मध्य कालीन राजस्थान का इतिहास, जयपुर 2001 ई., पृ. 176
34. मुहणोत नैणसी री ख्यात, भाग 2, पृ. 167-68; ओझा, गौरीशंकर हीराचंद, पृ. 163
35. पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी शंकरसिंह पुरोहित, शैतानसिंह सोढा से किया गया साक्षात्कार।
36. चूण्डावत, रानी लक्ष्मी कुमारी, हिन्दुवा सूरज प्रणवीर पाबूजी राठौड़ (लेखक मदनसिंह राठौड़ को प्रेषित संदेश में); आशिया, मोडजी, पूर्वोक्त, पृ. 452, 438
37. परम्परा, पाबूजी रा दूहा लधराज कृत (भाटी, नारायणसिंह), पृ. 86
38. विश्नोई, सोनाराम, पूर्वोक्त, पृ. 43; संपादक, भाटी नारायणसिंह, पाबू प्रकाश
39. मिश्र, श्रीमाल, पाबूजी के पवाड़े में राजस्थानी जीवन, मरु भारती, वर्ष 6, अंक 1, पृ. 53
40. आशिया, शंकरसिंह, महाकवि मोडजी आशिया कृत पाबू प्रकाश महाकाव्य, पृ. 50, 55

## बून्दी के भित्ति चित्र : एक सांस्कृतिक मूल्यांकन

वीरेन्द्र शर्मा

राजस्थान की भित्ति चित्र परम्परा में बून्दी की चित्रकला का स्थान कलात्मक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है। इसका कारण प्रथम तो बून्दी की भौगोलिक स्थिति है और द्वितीय राजाओं का कला विषयक प्रेम अथवा राज्याश्रय कहा जा सकता है। इससे भी बड़ा कारण है वल्लभ संप्रदाय की धार्मिक प्रवृत्ति, जिसमें कृष्ण-लीला की श्रृंगारिक भावनाओं और वात्सल्य रस को अनेक रूपों में महत्व दिया गया है। इससे चित्रों की विषय-वस्तु तथा प्रसंगों को बड़ा बल मिला है। रंग, रेखा, संयोजन, औचित्य, स्थान, व्यवस्था, प्रकृति का समुचित अध्ययन, कल्पना तत्व की प्रमुखता आदि अनेक गुण हैं, जिसके द्वारा चित्र अपने अलौकिक भाव-विन्यास का परिचय देता है।<sup>1</sup>

बून्दी के भित्ति-चित्रों में जन-जीवन व प्रकृति के विविध पवों को समाहित किया गया है, जिन्हें अनेक भागों जैसे- धार्मिक चित्र, दरबारी चित्र, सामाजिक चित्र, युद्ध चित्र, शिकार चित्र, आमोद प्रमोद विषयक चित्र, व्यक्ति चित्र आदि में विभक्त किया जा सकता है।<sup>2</sup> नायिका भेद ने चित्रों में यहाँ के चित्रकारों ने बड़ी कुशलता दिखलाई है तथा कल्पना को इतना विस्तार दिया है कि विषय का प्रत्येक पक्ष स्पष्ट करके दिखाया है। कृष्ण-राधा की प्रेम-लीला के आधार पर नायिक भेद के चित्र बनते हैं, पर उनकी विशेषता साहित्यिक दृष्टिकोण से बड़ी सरस हो जाती है। बहुत ही चटकलीले रंगों से इन चित्रों का आलेखन होने पर भी कोई रंग दृष्टि को दोषपूर्ण या कठोर नहीं दिखलाई पड़ता। बून्दी के भित्ति-चित्रों में शिकार, सवारी, उत्सव और वे सामयिक दृश्य भी अंकित मिलते हैं; जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का परिचय देते हैं। राजाओं की इच्छा के अनुकूल जो चित्र बने हैं; वे प्रायः शिकार, दरबार और उत्सव आदि के चित्र हैं।<sup>3</sup> पर जो चित्रकारों ने स्वान्तः सुखाय बनाये हैं वे अपनी मौलिकता और कलाकार के हृदय में छिपे भाव के प्रतीक चित्र हैं। बून्दी में भी वल्लभ सम्प्रदाय की प्रधानता रही है। यहाँ के राजाओं ने वल्लभीय भक्ति मार्ग को अपनाया है जिसके फलस्वरूप यहाँ की चित्रकला में वह उत्कृष्टता आयी जो राजस्थान में अन्यत्र नहीं देखी जाती।<sup>4</sup> भक्त राजाओं ने कृष्ण-रास की लीलाओं के भेदों को देखने में अपनी आत्मा का कल्याण समझा।

बून्दी के भित्ति-चित्रों में आकृतियाँ साधारण, लम्बी, शरीर पतले और स्फूर्ति से भरे रहते हैं। स्त्रियों की मुखाकृति में अधरों की छटा विचित्र प्रकार का सौन्दर्य दिखलाती है। नेत्र, अर्द्ध विकसित, नीचे और ऊपर एक रेखा के गोलाद्ध में धनी कालिमा के साथ

चित्रित रहते हैं। नेत्रों में भाव प्रायः एक जैसा तथा अधरों पर हास्य की छटा दिखाई जाती है। भूप्रदेश घना, प्रायः सीधा या किञ्चित झुका हुआ होता है। नासिका साधारणतया छोटी, मुख गोलाकृति और चिबुक पीछे की ओर झुकी छोटी होती है। ग्रीवा भी अधिक लम्बी, कराग्र तथा अंगुलियाँ मेहंदी की ललिमा से अत्यधिक चित्रित रहती हैं। वक्ष आगे निकला हुआ तथा कंचुकी से कसा हुआ। कटि क्षीण, उदर खिंचा हुआ और पतला होता है। वस्त्रों में सुवर्ण के आलेख उतने झीने एवं पारदर्शक बनाये जाते हैं कि शरीर निरावरण सा दिखलाई देता है। काले रंग के लहंगे, लाल चुनरी और धवल कंचुकी प्रायः देखी जाती है। वेणी पृष्ठ भाग से नीचे तक झूलती जिसमें तीन या एक फुंदना लटकता रहता है। अलकावलियाँ उड़ती हुई कभी कपोलों पर और कभी ग्रीवा के नीचे तक आ जाती है। अलंकारों में बाहुओं के नीचे तक झूलते सुनहरी झुमके, अंगुलियों में हाथ-फूल, ललाट तक नीचे लटकती जड़ाऊ बिन्दी, नाक में छोटे-छोटे मोती, कपोलों पर चिपके से दिखलाये जाते हैं। स्फूर्ति से भरी भावभंगिमा यौवन को प्रदर्शित करते प्रत्येक अंग तक सौन्दर्य को प्रकट करते मुख के सरलता भरे भाव मनमोहक होते हैं। पुरुषों की आकृति में नीचे की ओर झुकी पगतड़ियाँ, लम्बे घुटने तक या उससे भी नीचे जामे, कमर में दुपट्टा तथा पांवों में चुस्त पाजामा रहता है। जामे के पारदर्शक होने के कंचुकी जैसा केवल वक्ष को ढकता एक वस्त्र रहता है जो प्रायः पीला होता है। संभव है इस प्रकार का कोई वस्त्र उस काल में रहा हो। कानों में मोती, कपोलों तक नीचे उतरती जुल्फें, पुरुषत्व को प्रदर्शित करता भरा हुआ मुख, बड़ी मूंछें तथा राजसी वेशभूषा से सज्जित बनाये जाते हैं। ललाट कुछ गोलाकार, अधर स्त्रियों जैसे ही अरूण या कभी-कभी हलकी अरूणिमा से युक्त रहते हैं, चिबुक छोटी तथा नेत्रों के भाव एक जैसे होते हैं। कुसुमों की मालाएँ, मोतियों के हार तथा कितने ही जड़ाऊ अलंकार पुरुषों के शरीर पर भी दिखाये जाते हैं।

भित्ति-चित्रों में विषय राग-रागिनियाँ, नायिक भेद, ऋतु, मास तथा कृष्ण-लीला के भेद होते हैं। वर्षा ऋतु के चित्रों में मस्त होते हुए यथा आकाश में काले बादल, सारे आकाश को घेरे विद्युत् लता, बगुलियों की पंक्तियाँ, चातक और कुहकते हुए मोर बताये जाते हैं, तत्काल बरसते हुए लहराते सरिता प्रवाह, किनारों पर टूटे हुए वृक्ष, अनेक प्रकार के लता-गुल्म तथा शैल शिखरों पर विचरते सिंह दिखलाये जाते हैं। वर्षा के चित्र में काला और नीला रंग अधिकता से प्रयोग में लाया जाता है तथा बरसते हुए बादल दिखाने के लिए वृष्टि बिन्दुओं की अवलियाँ सारे चित्र में प्रमुख रहती हैं। किसी-किसी चित्र में मस्त हाथी किसी तरूमूल को उखाड़ता हुआ भी दिखाया जाता है। ग्रीष्म के चित्रों में आकाश के बीचों-बीच तपता सूर्य, वृक्षों की छाया में बैठे शिकारी, कुओं पर पानी पीते पथिक तथा जिह्वा लपलपाते प्यास से घबराये शृंगाल, हरिण और जंगली भैंसे चित्रित रहते हैं। प्रेमी मिथुन फव्वारों के निकट बैठे वायु आश्रय ले रहा है। मृग, शावक और सिंह के बच्चे एक ही वृक्ष की डाली के नीचे आतप से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं जो

तपोवन का आभास देती है। प्राणी परस्पर बैर भाव भूलकर केवल छाया की प्राप्ति के लिए व्याकुल हैं। सूखे वृक्ष, जली हुई डालियाँ, कीचड़ भी शेष नहीं, ऐसे सूखे सरोवर, झूलसी हुई भूमि और तपी हुई बालू पीले रंग की प्रधानता दिखाकर ग्रीष्म ऋतु के चित्रों को इस शैली में प्रभावोत्पादक बना दिया गया है।

इसी प्रकार शीत के चित्रण में एक ही वस्त्र ओढ़कर आलिंगन किये नायक-नायिका, कुमुदिनियों से आच्छादित सरोवर, अपनी तृण कुटीरों में शीत से बचने के लिए आग जलाकर बैठे किसान चित्रित होते हैं। पकवान बनाती स्त्रियाँ, भिक्षा को निकले ब्राह्मण तथा कोटरों में छिपे पक्षी भी बनाये हैं। धनुष-बाण को छोड़ कर अपनी प्रियाओं के साथ शयन करते शिकारी और पतझड़ से नग्न हुई वृक्षों की डालियाँ तथा धुंधले आकाश में श्वेत नीलिमा लिये रंग की प्रधानता को अंकित किया गया है।

होली के चित्रों में हाथी पर बैठे दरबारी राजा चित्रित किये गये हैं। वातायनों तथा भवनों की छतों से पिचकारियाँ मारती अनेकों युवतियाँ दिखायी गयी हैं। रसिकजनों की आँखें इन युवती वृन्दों के मुखों पर मंडराती और इनकी रूप माधुरी को पान करने को लालायित चित्रित की गयी है। डफ, मृदंग और मंजीरे बजाते पुरुषों का समूह, बैलों पर रंग का पानी लादे भिश्ती, गुलालगोट फेंकते जन-साधारण और मस्ती तथा उल्लास भरे दृश्य अंकित किये जाते हैं। बून्दी का चित्रकार प्रत्येक विषय को इतना भावमय और कौतुहलपूर्ण बनाता है कि उसकी कल्पना के प्रौढ़ सृजन की सकलता का परिचय एक ही दृष्टि में मिल जाता है। छाया-प्रकाश का संयोजन, आकृतियों की व्यवस्था और पृष्ठभूमि की विविधता चित्रकार के कौशल की साक्षी दे देती है। बून्दी के भित्ति चित्रों में हाशिये इतने चमकदार रहते हैं कि वे प्रकाश में तुरन्त चमचमा उठते हैं। कल्पना की कोमलता रंगों का बाहुल्य तथा उनकी लय दृष्टि को मदहोश बनाने लगती है। आकृतियों में भाव न होते हुए भी सजीवता की पराकाष्ठा रहती है, भाव नेत्रों द्वारा न दिखला कर मुद्राओं और भंगिमा से प्रदर्शित किये जाते हैं। पक्षियों के आलेखन बहुत ही सरस और उपयुक्त बनाये जाते हैं। सारा चित्र जैसे विविध दृश्यों और भावनाओं का संकलन बनकर पृथक-पृथक रसों की सृष्टि करता हुआ अपने अभिप्राय को लक्ष करता है।

इसके बाद रंगों की जमावट का प्रभाव आता है। बून्दी का चित्रकार तद्विषयक रंगों को स्थान-स्थान पर उनकी संगति के अनुकूल लेपन करता आता है। इस प्रकार की तीन या चार लेप कर के ऊपर एक कर लेने के पश्चात् रंगों को अच्छी प्रकार से चिकना बना कर समतल कर लिया जाता है और तब वही रेखायें जो रंगों से दब चुकी हैं या कुछ दिखलायी पड़ रही हैं, उन्हें पुनः रंगों से भरी तूलिका द्वारा किया, कोरा जाता है। रंगों पर रेखाओं को पुनरूपायित करना बड़ा ही क्लिष्ट और अभ्यास-संगत कार्य है; क्योंकि रेखाओं के सभी पूर्व संकेत रंगों से अच्छादित हो जाते हैं। एक तूलिका की रेखा ही जो दृढ़ अभ्यास की प्रतीक होती है। इस स्निग्ध हुए रंगों पर चल पाती है। कहीं भी चूक जाना अथवा कहीं भी रेखा की एकरसता को खो देना, दोष माना जाता है।<sup>5</sup>



बून्दी के भित्ति चित्र लाल हिंगुल के चमकदार हाशियों सहित बाहर और भीतर सुवर्ण रेखाओं से सीमित हैं। इनका प्रथम आकर्षक है- आकाश, जिसमें सोने का आलेपन और बीच-बीच में सिन्दूरी रंग के बादलों की गोलाकार रेखायें तथा उसके ऊपर की सीमा तक अत्यन्त नीलाभ दिखाया जाता है। विविध पक्षियों की अवलियां और ऊपर तक लहराती वृक्षों की पल्लवित डालियाँ रहती हैं। इन डालियों में भी कलरव करते पक्षी, कूकते हुए मयूर, उछलते हुए बन्दर, दौड़ती गिलहरियाँ तथा फलों को कुतरते शुक चित्रित हैं। केलों के कुंज के ढके भवनों के कलेवर जैसे छिप-छिप कर झांकते हैं। परदों से ढके द्वार जैसे कुछ कहने के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। पत्तों के बीच-बीच की रेखायें स्पष्ट दिखायी देती हैं। इनमें लाली लिये किसलय, गुच्छों में एकत्रित झूलती कुसुम मंजरियाँ अपनी अनोखी छटा दिखाती रहती है। मयूरों को पंखों में मुख छिपाये अथवा नाचते हुए दिखाते हैं। बून्दी की छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसलिए मयूरों की अधिकता स्वाभाविक है। सरोवर, जो कमलों से भरे रहते हैं, प्रत्येक चित्र में किसी न किसी रूप में अवश्य मिले हैं। सरोवर में क्रीड़ा करते पक्षी, किनारे पर खड़े सारस, मिथुन तथा भवनों में पालतू मृग, शुकों के पिंजरे, ऊँचे अंकों पर बैठे कबूतर भी होते हैं। भवनों की निर्माण कला बून्दी की ऐसी विशेषता है, जो अपने आप प्रकट हो जाती है। यहाँ के भवन जैसे चित्रों में हैं, तद्रूप ही वहाँ विद्यमान हैं। कल्पना में साहित्य का पुट इतना अधिक है कि प्रत्येक चित्रण आदर्श के रूप में सम्मुख आता है।<sup>6</sup> सारे चित्र में सुवर्ण तथा रजत के आलेखन चित्र को जगमगा देते हैं। उस पर हाशियों की चमक भी सहयोग देती रहती है।

नीला अर्थात् लाजवर्दी रंग इतनी सुन्दरता से इन भित्तिचित्रों में प्रयुक्त किया गया है कि सुवर्ण-जटिल नीलम सी छटा उत्पन्न हो जाती है। नीला रंग इतना प्रभावोत्पादक हो जाता है कि चित्र का प्रधान विषय अधिक स्पष्ट होकर, एक अनुपम छटा उत्पन्न करता है। श्वेत रंग भवनों के चित्रण में प्रयुक्त किया गया है जिस पर विविध आलेखन रहते हैं। भवनों के बीच में उछलते फव्वारे, खस की टट्टियाँ और विधि रंग के बिछौने वैभव को प्रतिलक्षित करते रहते हैं। सौन्दर्य तत्व या कलात्मक बोध के क्षेत्र में बून्दी की चित्रकला ने राजस्थानी भित्ति-चित्रकला में अपना स्वतंत्र एवं अद्वितीय स्थान बनाया है।

### सन्दर्भ

1. डॉ. अविनाश बहादुर वर्मा, भारतीय चित्रकला का इतिहास, विषय प्रवेश, पृ.3
2. प्रमोद चन्द्र, भूमिका, बून्दी पेंटिंग "वदर द केव माई वी आलरेडी फाइण्ड इन दीज पिक्चरस सेवरल ऐलिमेन्ट देट सरवाइव आवर एक्रंसी-डरेवल पिरियड ऑफ टाइम इन लेटर बून्दी पेंटिंग"
3. जिनदास जैन, भारतीय चित्रकला का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ.96
4. सूर्यमल्ल मिश्रण, वंश भास्कर, प्रथम अध्याय
5. डॉ. आर.ए. अग्रवाल, कला विलास, पृ.106
6. श्री रामगोपाल विजयवर्गीय, राजस्थान की लघु चित्र शैलियाँ, बून्दी शैली, पृ.52

## देवलिया (देवगढ़) का स्थापत्य

आसिफ हुसैन

### राजस्थान में दुर्ग स्थापत्य

दुर्ग निर्माण की परम्परा मानव के विकास से जुड़ी हुई है। प्रागैतिहासिक काल में मानव गुफाओं और वृक्षों पर रहकर वन्य हिंसक पशुओं और अन्य लोगों से अपनी रक्षा करता था। इस सुरक्षा की भावना ने पहले भवन और बाद में दुर्ग निर्माण की परम्परा को जन्म दिया। धीरे-धीरे राजा के पद का प्रतिष्ठापन हुआ।

भारत में सर्वाधिक दुर्ग महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान में हैं। महाराष्ट्र में 656 दुर्ग हैं। मध्य प्रदेश में 330 दुर्ग हैं। राजस्थान के दुर्गों का स्थापत्य शिल्प बहुत ही उन्नत और समृद्ध है। राजस्थान में कुल 250 दुर्ग व गढ़ी हैं। सर्वाधिक 84 के लगभग दुर्ग मेवाड़ में थे, जिनमें से 32 दुर्गों व गढ़ियों का निर्माण अकेले महाराणा कुंभा ने कराया था। राजस्थान के ढूंढाड़ इलाके में 52 गढ़ तथा मारवाड़ के नवकोट, हाडौती के दुर्ग प्रख्यात थे (दुबे 1999: 2)।

दुर्ग का महत्व सेना के साथ जुड़ा हुआ है। राजस्थान अपने शौर्य और बलिदान के कारण विश्व प्रसिद्ध है। दुर्ग निर्माण में भी राजस्थान की स्थापत्य कला का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। प्राचीन साहित्य अथवा ग्रन्थों में सुदृढ़ किलों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे सब विशेषताएँ राजस्थान के दुर्गों में परिलक्षित होती हैं। सुदृढ़ दुर्ग का क्रम हड़प्पा संस्कृति के युग से प्रारंभ होकर वैदिक काल, महाजनपद काल, मौर्यकाल, गुप्तकाल, राजपूतकाल, अफगान और मुगलकाल में विकसित होता रहा। समरांगण सूत्रधार के अनुसार किसी भी दुर्ग हेतु कुछ तत्त्व आवश्यक हैं (दुबे 1999: 28)। ये तत्व हैं-वप्र, परिखा, प्राकार, अट्टालक, प्रवेश द्वार, फाटक। राजस्थान गढ़ों और दुर्गों का प्रदेश है। राजस्थान में दुर्ग निर्माण की परम्परा को सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से देखा जा सकता है। राजस्थान में सरस्वती नदी के क्षेत्र में स्थित कालीबंगा में हुई खुदाई में दो बड़े टीलेनुमा आकार के गढ़ मिले हैं, जो हड़प्पा संस्कृति से संबंधित हैं। पूर्वी टीला जो 36 फीट ऊँचा है, आवास हेतु था, जबकि पश्चिमाभिमुख टीला जो 26 फीट ऊँचा है, प्राचीर का काम करता था। आगे निर्मित होने वाले दुर्गों के ये प्रारंभिक स्वरूप थे। धीरे-धीरे इनका विकास होने लगा (मिश्र 1981: 1)।

राजस्थान में सिंधु सभ्यता के बाद रामायण एवं महाभारत से संबंधित प्रसंग मिलते हैं, किंतु ये क्रमबद्ध नहीं हैं। तत्पश्चात् मौर्य काल आता है, जयपुर राज्य के बैराट

नगर में प्राप्त शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि चन्द्र गुप्त मौर्य का अधिकार लगभग समस्त राजस्थान पर था। प्लूटॉक एवं जस्टिन इस मान्यता को स्वीकार करते हैं। फ्लीट के अनुसार 4 से 6 शताब्दी तक राजस्थान पर मगध के गुप्त शासकों का आधिपत्य रहा। राजस्थान के अधिकांश भाग पर 7वीं शताब्दी के प्रारंभ में हर्ष वर्धन का अधिकार था।

7 से 13वीं शताब्दी तक राजस्थान में विभिन्न राजपूत वंशों का उदय हुआ। जिनमें गहलोत, प्रतिहार, चौहान, भाटी, परमार, सोलंकी, नाग, तंवर, दतिया, गौड़, यादव एवं राठौड़ मुख्य हैं। इन सभी राजवंशों की राजधानियाँ सुदृढ़ दुर्गों में थीं। परिहारों के पश्चिमी राजस्थान में मंडोर व भीनमाल दुर्ग थे। नागौर दुर्ग का निर्माण नागवंशी क्षत्रिय राजपूतों ने कराया था। सोलंकी गुजरात से राजस्थान आए थे। सिरौही, मारवाड़, जैसलमेर, चित्तौड़ एवं वांगड़ 11 से 12शताब्दी तक सोलंकीयों के अधीन रहें। सूर्यवंशीय क्षत्रियों ने अलवर दुर्ग एवं आमेर प्रदेश में भी कुछ दुर्ग बनवाए थे। जालौर के विशाल दुर्ग का निर्माण परमार शासकों ने 10वीं शताब्दी के आसपास कराया था। उन दिनों जालौर का नाम जाबालीपुर था तथा इसकी गिनती राजस्थान के अपराजित दुर्गों में की जाती थी। राजस्थान के दुर्ग महत्वपूर्ण राजमार्गों पर बने हुए थे। सांचौर, सिवाना, मंडोर और जौधपुर के दुर्ग दुर्गम स्थलों पर बने हुए हैं।

मध्यकाल में दुर्ग निर्माण अपरिहार्य माना जाने लगा। इससे सुरक्षा में वृद्धि होती थी साथ ही शासक की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती थी। इस समय सबसे बड़े एवं सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण हुआ। राजस्थान के प्राचीन किलों में चित्तौड़ सर्वाधिक प्रसिद्ध है। 7वीं शताब्दी के आसपास में इस दुर्ग का एवं मंडोर दुर्ग का निर्माण किया गया था। रणथम्भौर दुर्ग संभवतया 8वीं शताब्दी में चौहानों ने बनवाया। 10वीं शताब्दी में माण्डलगढ़, नाडोल, जालौर, सिवान, भैंसरोड़गढ़ के दुर्ग बनें। 11वीं शताब्दी में नागौर, गागरौन एवं बयाना के दुर्ग बनें। 12वीं शताब्दी में जैसलमेर दुर्ग बना जहाँ भाटी राजपूतों ने शाके किये। कुंभलगढ़, फतहपुर, अचलगढ़, जौधपुर एवं बसंतगढ़ दुर्ग 15वीं शताब्दी में बनें (मिश्र 1981: 15)। राजस्थान का दुर्गम दुर्ग भरतपुर 18वीं शताब्दी में बना। इनके अलावा अकबर दुर्ग, सोजत दुर्ग, बीकानेर दुर्ग, भटनेर दुर्ग, नाहरगढ़ दुर्ग, चौमुहँगढ़ दुर्ग, लछमनगढ़ दुर्ग, कोटा दुर्ग, शाहाबाद आदि दुर्ग विभिन्न समय पर बनें।

इस प्रकार राजस्थान में चौहानों और परमारों ने प्रायः बड़े दुर्गों का जीर्णोद्धार एवं निर्माण कराया। महाराणा कुंभा ने 32 दुर्गों का निर्माण तथा उनका पुनः निर्माण कराया। राव मालदेव ने भी मारवाड़ में विविध स्थानों पर दुर्गों, प्राचीरों एवं शहरपनाहों का निर्माण कराया। इस प्रकार राजस्थान में दुर्ग निर्माण की परम्परा काफी प्राचीन समय से रही है। राजस्थान की इसी परम्परा के अन्तर्गत देवलिया (देवगढ़) का किला भी आता है जो प्राचीन समय में प्रतापगढ़ राज्य की राजधानी रहा था। दुर्ग की अपनी एक विशिष्ट विशेषता है।

## प्रतापगढ़ राज्य

प्रतापगढ़ के शासक सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। गुहिलवंश के सिसोदिया शाखा के चित्तौड़-मेवाड़ के राजवंश से उनका निकास हुआ था। प्रतापगढ़ के शासक महारावत की उपाधि से विभूषित होते थे। आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व मेवाड़ के महाराणा कुंभा के भाई क्षेमकर्ण के पुत्र सूरजमल ने इस राज्य की स्थापना की थी। वांगड़-डूंगरपुर-बाँसवाड़ा, मालवा और मेवाड़ की सीमाओं से जुड़ा होने के कारण यह राज्य कांठल भी कहलाता है। कांठल शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के कंठ या कंठिका से हुई है, जिसका अर्थ समुद्र, नदी या किसी निश्चित सीमा के किनारे का प्रदेश होता है। प्राचीन समय से ही स्वयं में मेवाड़ के इतिहास की गाथा को संजोये हुए प्रतापगढ़ के इतिहास को शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, बड़वे एवं भाटों की ख्यात से, शाही फरमान और अन्य राजकीय पत्र आदि से, प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ एवं संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू की पुस्तकों आदि से जाना जा सकता है।

## देवगढ़ दुर्ग

प्रतापगढ़ क्षेत्र में कई प्राचीन और प्रसिद्ध स्थान हैं। प्रतापगढ़ राज्य की प्राचीन राजधानी देवलिया अथवा देवगढ़ थी। यहाँ पर एक दुर्ग का निर्माण भी किया गया था, जो वर्तमान में जीर्ण शीर्ण अवस्था में है। देवलिया अथवा देवगढ़ प्रतापगढ़ के पश्चिम में 8 मील की दूरी पर पहाड़ी प्रदेश पर बसा हुआ है। समुद्र तल से इसकी ऊँचाई 1809 फुट है। पहले इस राज्य की राजधानी देवलिया होने से यह देवलिया राज्य कहलाया था। किन्तु कालांतर में जब प्रतापगढ़ राजधानी बन गई तो यह प्रतापगढ़-राज्य कहलाने लगा। संस्कृत पुस्तकों और शिलालेखों में इसका नाम देवदुर्ग, देवलपतन और देवगढ़ मिलते हैं। ख्यात लेखकों के अनुसार महारावत विक्रमसिंह (बीका) ने मेवाड़ छोड़ने के बाद यहाँ आकर मीणों का दमन किया और माना जाता है कि वि.स. 1617 (ई.स. 1561) में देवलिया का कस्बा बसाकर वहाँ अपनी राजधानी स्थिर की। किंतु देवलिया कस्बा महारावत सूरजमल ने बसाया था और उसकी उन्नति विक्रमसिंह के समय हुई (ओझा 2006: 17)। युद्ध के अवसर पर यह स्थान सुरक्षित समझा जाता था क्योंकि इसके चारों ओर पहाड़ियाँ आ गई हैं और बीच में एक ऊँची पहाड़ी पर यह बसा हुआ है। पहले इसके दक्षिण-पूर्व में और पश्चिम के कुछ भाग में दीवार बनी हुई थी, किंतु अब वह गिर गई है। यहाँ पुराने राजमहल हैं, देवलिया के महलों का निर्माण धमतोर के पश्चिम में नकोर के पास इमारती पत्थर की खान से लाए गए पत्थरों से किया गया है (ओझा 2006: 5)।

भूतपूर्व महारावत रघुनाथ सिंह को प्रतापगढ़ की अपेक्षा यह स्थान अधिक पसंद था, इसलिए उसने यहाँ कुछ नये मकान बनवाये और पुराने महलों की मरम्मत करवाई थी, क्योंकि वह स्वयं भी यहाँ रहा करता था। यहाँ कई तालाब हैं, जिनमें तेजसागर तालाब, तेजोला तालाब, महारावत तेजसिंह का बनवाया हुआ है। उसके पास ही प्रतापगढ़

के नरेशों का श्मशान भूमि हैं, जहाँ कई स्मारक छत्रियाँ बनी हुई हैं। तेजसागर के पास ही एक हम्माम (स्नानागार) बना हुआ है, जिसके लिए यह प्रसिद्ध है कि महारावत सिंह के समय बादशाह जहाँगीर की अप्रसन्नता से उसका सेनापति महाबत खाँ, जब देवलिया में रहा था, उस समय यह बनवाया गया था। वहीं पर महारावत दलपत सिंह का बनवाया हुआ छोटा सा सोनेला तालाब भी है, जिसके बीच में उक्त महारावत का बनवाया हुआ छोटा सा दलपत निवास नामक महल भी है। देवलिया में कई वैष्णव, शैव और जैन मंदिर हैं, किंतु वे सब संभवतः इसके आबाद होने के बाद बने हुए हैं। विष्णु के मंदिरों में गोवर्धन नाथ का मंदिर महारावत हरिसिंह की माता ने बनवाया था, वहाँ वि.स. 1707 (ई.स. 1650) की प्रशस्ति लगी हुई है। महारावत सामंतसिंह की माता कुंदनकुंवरी ने देवलिया में विष्णु आदि के पांच मंदिर बनवाकर बावड़ी बनवाई (ओझा 2006: 276)। सामंतसिंह ने स्वयं भी यहाँ रघुनाथ नामक विष्णु मंदिर बनवाया, जिसके प्रबंध के लिए लगभग 5 हजार रूपए आय के गाँव दिये गए थे और उक्त मंदिर का प्रबंध वहाँ के महंत के अधिकार में था, जिसकी प्रतिष्ठा इस राज्य में सर्वोपरि थी। इस राज्य में इससे बड़ी आय का कोई राजकीय देव मंदिर नहीं था। सामंतसिंह की पुत्री चिमनकुंवरी ने देवलिया में चंद्रशेखर का शिव मंदिर बनवाया। उसकी रानी दौलतकुंवरी ने देवलिया में युगलकिशोर का विष्णु मंदिर बनवाया था। देवलिया में जैन मंदिर भी हैं जो अधिकांश दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं, जिनमें 1715 ई. के पूर्व का कोई लेख नहीं है।

देवलिया के चारों ओर पहाड़ियाँ होने से वह स्थान अधिक आबादी बढ़ने के उपयुक्त न था साथ ही वहाँ की जलवायु आरोग्यप्रद नहीं होने के कारण प्रतापसिंह ने पहले जहाँ घोघेरिया खेड़ा (डोडेरिया का खेड़ा) नामक गाँव था, वहाँ प्रतापगढ़ नामक कस्बा वि.स. 1755 (ई.स. 1698) में बसाया। किंतु प्रतापसिंह ने देवलिया में प्रतापवाव नामक बावड़ी और बाग बनवाया था, यह बावड़ी देवलिया के जलाशयों में सबसे उत्कृष्ट है और अकाल के समय इस बावड़ी से देवलिया के निवासियों का काम चलता था। प्रतापसिंह की माता मनभावती ने भी देवलिया में मानसरोवर नामक जलाशय एवं उसकी रानी धर्मकुंवरी ने भी एक बावड़ी बनवाई थी (ओझा 2006: 190)। वि.स. 1815 (ई.स. 1758) में महारावत सालिमसिंह ने प्रतापगढ़ के चौतरफ कोट बनवाया जिसके सूरजपोल, भाटपुरा दरवाजा, बारी दरवाजा, देवलिया दरवाजा और धमोत्तर दरवाजा नामक 6 दरवाजे हैं। इन दरवाजों के अलावा दो छोटे द्वार तालाब बारी और किला बारी भी हैं। यहाँ पर ही आबादी के बीच में पश्चिम दिशा में किला बना हुआ है, जिसमें सामने की तरफ महारावत उदयसिंह द्वारा बनवाया हुआ उदय विलास महल है (ओझा 2006: 19)।

## सिरोही का ऐतिहासिक दुर्ग महल

उदयसिंह देवड़ा

राजस्थान के दक्षिण पश्चिम में स्थित सिरोही शहर आजादी से पूर्व देवड़ा चौहानों की राजधानी रहा है। यह शहर सिरणवा पर्वत श्रेणी के पश्चिमी ढाल की गोद में बसा हुआ है, जहाँ उसके शीर्ष पर सिरोही का ऐतिहासिक दुर्ग महल स्थित है, इस दुर्ग महल का निचला छोर प्रवेश द्वार (सूरजपोल) शहर से सटा हुआ है, वही सातवीं मंजिल का गगनचुम्बी गुम्बज सिरणवा पहाड़ से प्रतिस्पर्धा करता सा प्रतीत होता है। इसका प्राचीन एवं लौकिक नाम सिरणवा दुर्ग भी है। सन् 1405 ई. में आबू चन्द्रावती के देवड़ा चौहान शासक महाराव शिवभाण ने वर्तमान सिरोही शहर से 4 किमी दूर सिरणवा पहाड़ के पूर्वी ढाल पर अर्द्धचन्द्रकार पहाड़ी क्षेत्रों में अपने नाम से शिवपुरी नामक नगर बसाकर अपनी राजधानी की स्थापना की थी।<sup>1</sup> महाराव शिवभाण के पश्चात् उनके पुत्र महाराव सहस्त्रमल (सैसमल) ने एक शौर्यपूर्ण घटना से प्रभावित होकर सन् 1425 ई. में वर्तमान सिरोही नगर राजधानी की स्थापना कर शिवपुरी से राजधानी यहां स्थानान्तरित की।<sup>2</sup> अक्षय तृतीया पर शिकार जाने की परम्परानुसार महाराव सहस्त्रमल अपने साथियों के साथ एक दिन पूर्व ही राजधानी से रवाना हुए एवं वर्तमान सिरोही दुर्ग जहाँ पहले से घना जंगल था, की ओर चल पड़े। शिकार के दौरान एक खरगोश जान बचाकर भाग रहा था कि अचानक एक स्थान पर रूक गया एवं मुड़कर शिकारियों पर झपटकर सामना करने लगा। इस अद्भुत शौर्यपूर्ण घटना से प्रभावित होकर महाराव सहस्त्रमल ने उसी जगह पर उसी दिन बैशाख शुक्ला द्वितीय विक्रम संवत् 1482 (सन् 1425 ई.) को सिरोही के इस दुर्ग-महल की नींव रखी,<sup>3</sup> जो स्वतंत्रता के पश्चात् भी 5 जनवरी 1949 तक सिरोही राज्य की राजधानी रहा।<sup>4</sup> सिरोही के इस दुर्ग महल एवं नगर राजधानी की स्थापना को लेकर यह दोहा प्रचलित रहा है:-

“सम्बत चऊदेसाल, बरस बियासी बखाणे,  
बैसाख सुद दूज, जको गुरूवार ही जाणे।  
श्री नृप चढे शिकार धरा पूरब जग धरियो।  
शांचाणे खरगोश फालरे पाछे फरियो।  
शूरमी जगह देरव सुधर, खरे नेम वेला खरी,  
सहस्त्रमल्ल राव शोभा, तणे सिरोही थापन करी।।”<sup>5</sup>

<sup>5</sup>महाराव सहस्त्रमल द्वारा सन् 1425 ई. में इस भव्य दुर्ग महल की नींव रखी। यह महल एक दुर्ग महल है जिसमें जिसके मुख्यतः दो भाग हैं: जनाना महल एवं मुख्य

महल।<sup>6</sup> दुर्ग में दो परकोटे बुर्जे मंदिर, जलकूप, भूमिगत जल तडाग, सुरंग, तहखाने, सुरक्षा, चौकिया, आवास, गुप्त दरवाजे, मैदान आदि स्थित है। वर्तमान सिरोही शहर के शीर्ष पर स्थित यह दुर्ग महल सात मंजिला है जो मीलों दूर से भी दिखाई पड़ता है, एवं अपने अतीत की गौरव गाथा का मूक साक्षी है।<sup>7</sup> यह दुर्ग महल महाराव सहस्त्रमल (1425-1450 ई.) से लेकर रिजन्ट शासिका कृष्ण कुंवरबा तक (1949) तक कुल 26 देवड़ा शासकों की राजधानी रहा।<sup>8</sup> महाराव सहस्त्रमल के पुत्र महाराव लाखा (1451-1483 ई.) ने इस महल के निर्माण में विशेष रूचि लेकर एक भूमिगत (न्दकमत नतवनदक) महल से सात मंजिला महल खड़ा करवाया। इस महल की नींव 8-18 फीट चौड़ी है जो छठी मंजिल पर 3-4 फीट चौड़ी रह जाती है। इस सप्त मंजिला महल की दो मंजिले भूमिगत हैं तथा शेष मंजिले भूमि पर हैं जो गगनचुम्बी दिखलाई पड़ती है। परन्तु इसकी सातवीं मंजिल की छत नहीं है। सातवीं मंजिल की छत पर मंदिर आकृति के विशाल गुम्बज बने हुए हैं, जिन पर पहुंचना दुर्गम है। इस दुर्ग में भूमिगत विशाल जल का टांका बना हुआ है जो आधुनिक वॉटर हार्वैस्टिंग सिस्टम का अद्भुत प्राचीन नमूना है। इस विशाल टांके में महल क्षेत्र का पानी आकर जमा होता है, एवं उसके आँवर फलों की भी सुव्यवस्था की हुई है।<sup>9</sup> महाराव अखयराज द्वितीय (1620-1673 ई.) ने इस दुर्ग महल में कई महल मालिए एवं गौखड़े बनवाये। उनके काल में एक खम्भे पर निर्मित महल अतिमहत्वपूर्ण है जिसे एकथम्बीया महल भी कहा जाता है। इस महल का वर्णन जिसका वर्णन कवि दधवाडिया खेमराज ने इस प्रकार किया है।<sup>10</sup>

*“अडवा न दीध खग आप अंगराव ने दिय पतसाह संग  
पत बेर लियो निज अखेराज सरणुए चढ्यो चौगुणो चाव।  
अखेराज करायो महल एक, इन्द्रघटा जिम सोभन्त देख।  
जडाया जालिया कांच-जोख, गजरीत करायो सुभग गोख।  
सतरो सुसंवत सातौ बरस लखैक।<sup>11</sup> दाम लागगा सरस,  
हर गौख जोख कवलास हाय जगमगत जोत फूल गोख।”*

दुर्ग-महल में स्थित राज-तिलक की छतरी जो, झूलती हुई मीनारों सी प्रतीत होती है।<sup>12</sup> एवं लक्ष्मीनारायण का मंदिर रंगीन कांचो की नक्काशी से जड़ित है। यह कांच की नक्काशी का अद्भुत कार्य है, जो रत्न जड़िसा सा लगता है, का निर्माण भी महाराव अखयराज द्वितीय द्वारा करवाया गये महलो से गौखड़े एवं झरोखे गर्भियों के ऋतु में भी ठंडी हवाओं से झक-झोरते हुये एयर कंडीशन का कार्य करते हैं।

राज महल की छतरी के मुख्य महल में जाने के लिए एक 40 फीट लम्बा पुल बना हुआ है, जो बिना किसी बैस या बीम के है।<sup>12</sup> महल में स्थित जनाना ड्योढ़ी से जनाना महलों में पहुंचा जाता है, यह महल झरोखे एवं खले चौकों से सुसज्जित है। जनाना महलों का भीतरी प्लास्टर आज भी ज्यों का त्यों है, जो सिरोही घर<sup>13</sup> में पीसकर तैयार किये गये लाल सुरकी चुने<sup>14</sup> का बना हुआ है, इस समिश्रित चने की एक अन्य

विशेषता यह है कि इसमें मकड़ी के जाले या जीवाणु सामान्यतया घर नहीं बनाते हैं, महलों की छत लदाव की बनी हुई है।<sup>15</sup> महाराव अक्षयराज द्वितीय ने सिरोही चित्र शैली के क्षेत्र में कई नवीन कार्य किये उनके काल की महलों, फूल गोखों, राज बगियों पर की गई सुन्दर कलाकारी एवं चित्रकारी आज भी विद्यमान है।<sup>16</sup> उनके काल में बने सिरोही भित्ती चित्र आज भी सजीव हैं, जिसे सिरोही की स्वतंत्र चित्र शैली के रूप में पहचाना जाना चाहिये।<sup>17</sup> इन चित्रों के विषय हिन्दू देवी देवताओं राम, कृष्ण, विष्णु के साथ ही आखेट एवं राजपूत चित्र शैली के जीवन्त उदाहरण हैं। इस दुर्ग महल के पीछे स्थित सिरणवा पहाड़ी के सर्वोच्च शिखर सुरक्षा के लिए बनी सैन्य चौकियां बनी हुई हैं। महारावा उदयसिंह प्रथम (1553-1562) ने अपनी प्रिय बीकानेरी रानी के लिए सुन्दर झरोखो युक्त महल बनवाया था जो आज भी बीकानेरी झरोखा कहलाता है।<sup>18</sup> इसी क्रम में महाराव शिव सिंह (1817-1862 ईसवी) ने दुर्ग के खुले मैदान में ऐतिहासिक विशाल अश्वशाना का निर्माण करवाया। महल के चार घोड़ों एवं दो घोड़ों से खिंची जाने वाली बगीया एवं विखण्डित पड़ी तोपों आज भी अतीत के वैभव को बयां करते हैं। आधुनिक सिरोही के निर्माता महाराव केसरीसिंह (1875-1925) ने अति सुन्दर संगमरमरी दरबार हॉल (दिवाने खास) का निर्माण करवाकर महल के सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये हैं, उन्होंने जनाना महलों का गगन चुम्बी परकोटे का भी निर्माण करवाया।<sup>19</sup>

सिरोही का यह ऐतिहासिक दुर्ग महल यहां के इतिहास एवं कला को आज भी अपने आंचल में समेटे हुये मौन साक्षी खड़ा है। दुर्ग महल की सुरक्षा, वातानुकूलन, आपातकाल, पेयजल, आवास, वैभव आदि की व्यवस्था मध्ययुगीन दुर्ग निर्माण कला की कसौटी पर शत प्रतिशत खरी उतरती है।<sup>20</sup> इस दुर्ग महल की देख-रेख एवं रख-रखाव सिरोही के वर्तमान नरेश महाराजा रघुवीरसिंह द्वारा किया जा रहा है। यह दुर्ग आज भी उचित देखभाल के फलस्वरूप हाल ही में बना हुआ नव निर्मित बना हुआ सा प्रतीत होता है।

### सन्दर्भ

1. महाराव शिवभाण द्वारा स्थापित राजधानी शिवपुरी को 'आज जनी सिरोही' अथवा 'खोबों की सिरोही' कहा जाता है, जहां पर प्राचीन अवशेष आज भी विद्यमान हैं। डॉ. वी.के. त्रिवेदी : युगयुगीन सिरोही: राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस 2007 राजकीय महाविद्यालय शिवगंज पृ. 02
2. डॉ. वी.के. त्रिवेदी : स्टडीज इन हिस्ट्री ऑफ सिरोही, हिलटॉप पब्लिशर्स, जोधपुर 1982, पृ. 02
3. महाराजा रघुवीरसिंह : राजपूत गौरव : सुनील ऑफसेट प्रिन्टर्स, चिडावा 2006, पृ. 9
4. सिरोही राज्य का भारत संघ विलय नामक मेरा लेख दैनिक भास्कर सिरोही विशेषांक 5 जनवरी 2011, पृ. 04
5. लल्लू भाई देसाई: चौहान कुल कल्पद्रुम : अम्बालाल विट्ठलभाई ढक्कर प्रिन्टिंग प्रेस बड़ोदा, 1927, पृ. 218

6. जनाना महल मुख्य महल से सटा हुआ ही है, परन्तु उसके प्रवेश (जनानाडयोढ़ी) से पृथक है।
7. सिरौही दुर्ग महल अपनी स्थापना (1425 ई.) से लेकर रियासत के एकीकरण (1949 ई.; तक सिरौही राज्य की राजधानी रहा, जो अपने आंचल में यहां का इतिहास समेटे हुए है।
8. महाराजा रघुवीरसिंह : सिरौही के शासकों का वंश वृक्ष: राजमहल पुस्तकालय सिरौही 2005)
9. स्वतंत्रता पूर्व सिरौही रियासत में पर्यावरण की स्थिति नाम मेरा (लेखक) लेख: पर्यावरण विषयक संगोष्ठी: महाराणा प्रताप शोध संस्थान, उदयपुर 2011
10. के.सी. जैन संदीप फाउण्डेशन लन्दन 2002 पृ. 102
11. कवि दधवाडिया खेमराज के छप्पम के मुताबित संवत् 1707 (सन् 1650 ई.) में महाराज अखयराज ने इस दुर्ग महल में निर्माण कार्यों पर एक लाख रूपये खर्च किये थे। राजतिलक की छतरी को जोर से झटाक (धक्का) लगाने पर झूले की तरह 2-3 बार झूलती है परन्तु गिरती एवं टूटती नहीं है, कला का श्रेष्ठ उदाहरण है।
12. दुर्ग महल में स्थित यह पुल अर्द्ध चन्द्राकार आकार का बना हुआ है। जिसकी दोनों छोरों पर ऊंचाई करीब 15 फीट तथा मध्य में करीब 20 फीट है तथा इसकी लम्बाई करीब 40 फीट है।
13. घरट चुना पिसने का एक रहट नुमा मजबूत लोहे (आधुनिक रोलर) का पहिया होता था, जो लाठ से लगा होता था। राहट की तरह ही बैलो एवं भैसों से गोलाकार चलाया जाता था, जिसमें भारी पत्थर (घरट) के नीचे चुना पीसता था।
14. चुने, पत्थर मैथी, गुंधल, ईटे, गोंद आदि को मिलाकर घरट में पीस-पीस कर चुके का मजबूत गोंद युक्त समिश्रण बनाया जाता था, जो लाल सुरकी चुना कहलाता था।
15. भवन निर्माण की बीम एवं पीलर की कला के अतिरिक्त एक अन्य कला लदाव द्वारा छत डालने की थी जो आधुनिक आरसीसी का आदि रूप था। लदाव से बिना बीम या पीलर के मंदिरों की तर्ज पर ईंटों एवं पत्थरों की पारस्परिक खिंचाव (सपोर्ट) के सहारे चुने द्वारा छत बनाई जाती थी।
16. राजेन्द्र शाह : सिरौही गौरव, पूर्वोक्त, पृ. 17
17. दिनेश कुमार : सिरौही चित्र शैली, एक स्वतंत्र अस्तित्व नामक लेख, डॉ. वी.के. त्रिवेदी कृत स्टडीज इन हिस्ट्री ऑफ सिरौही, हिलटॉप पब्लिशर्स, जोधपुर 1982 पृ. 59
18. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा: सिरौही राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, 2011, पृ. 124
19. महाराजा रघुवीरसिंह सिरौही: राजपूत गौरव, पूर्वोक्त, पृ. 14
20. डॉ. सोहनलाल पाटनी: अर्बुदपरिमण्डल का सांस्कृतिक इतिहास, पूर्वोक्त पृ. 102

## 16वीं शताब्दी के नागौर से प्राप्त फारसी शिलालेख का अध्ययन-मस्जिद, दरगाह व खानकाह के विशेष संदर्भ में

अलताफ खान

प्राचीन काल से आधुनिक समय तक मानव अभिव्यक्ति के साधनों में मिट्टी पट्ट, धातु पत्र (मुद्रा और ताम्र पत्र), पाषण पट्टिकाएं और स्तम्भ आदि इतिहास का काल बोध कराते रहे हैं अक्षर ज्ञान के अभाव में मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति शैलियों में व्यक्त की थी। ज्यों-ज्यों अक्षर ज्ञान का विकास प्रारम्भ हुआ, त्यों-त्यों मनुष्य ने उपर्युक्त अभिव्यक्ति के साधनों में शैलियों के स्थान पर शब्दों को पत्थर पर लिखना शुरू किया। शब्दोत्कीर्ण पत्थर ही शिलालेख के नाम से प्रतिष्ठित है। शिलालेख पर खोदे गये शब्दों के विषयानुसार, शिला की आकृति के अनुरूप अथवा स्थान विशेष पर लगाये जाने की दृष्टि से. इन आलेखों को यूप या स्तम्भ क्रीति कहा गया है। इन्हें सती स्तम्भ, मान प्रशस्ति, दान प्रशस्ति, मूर्ति लेख, मकबरों, सरायों तालाबों, दरगाहों व मस्जिद पर उत्कीर्ण कर लगवाया गया था।

राजस्थान के इतिहास जानने के स्रोतों में संस्कृत राजस्थानी व हिन्दी भाषाओं के अतिरिक्त फारसी भाषा के लेख राजस्थान में प्रचुरमात्रा में मिलते हैं जो कि इतिहास जानने के स्रोतों में महत्वपूर्ण हैं जिन्हें मस्जिदों, दरगाहों, कब्रों, राजप्रासादों, सरायों बावलियों, तालाबों के घाटों एवं चबूतरों पर पत्थर में उत्कीर्ण कर लगवाया गया था। इनमें कुछ लेख ऐसे भी हैं जो फारसी एवं स्थानीय भाषा में भी उपलब्ध हैं इन लेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। सर्वप्रथम इनके द्वारा हम तुर्की एवं मुगली विजयों एवं राजनीतिक प्रभाव क्षेत्रों का समुचित अध्ययन कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त इनमें दी गई राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं। ये लेख सांभर, नागौर, जालौर, साचौर, अलवर, तिजारा, अजमेर, मेड़ता, टोंक, कोटा आदि क्षेत्रों में अधिक मिलते हैं क्योंकि इन स्थानों पर मुस्लिम सत्ता का प्रभाव या शासन रहा। यहां के हाकिमों ने समय-समय पर मस्जिदें, दरगाह आदि यहां बनवाये और कभी-कभी इनके निर्माण में प्राचीन मन्दिरों की सामग्री का भी उपयोग किया। इन लेखों में शासन की इकाइयों-इक्ता, परगने शिक, कस्बे आदि की सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार मुक्ति, आमिल, हवलदार, हाकिम, नाजिम, नायब हाकिम, रसालदार आदि पदाधिकारियों के नाम भी मिलते हैं जो शासन व्यवस्था की जानकारी के लिए उपयोगी

है कहीं-कहीं प्रसंगवश मुस्लिम अधिकारियों की नामावली के साथ उनकी प्रारम्भिक जाति का उल्लेख आता है जिससे प्रमाणित होता है कि वे पहले चौहान, गहलोत आदि वर्ग के थे। संभवतः परिस्थितिवश उन्हें धर्म परिवर्तन करना पड़ा। कई लेखों से शिल्पियों, लेखकों विद्वान सन्तों आदि के नाम का भी हमें बोध होता है। कहीं-कहीं ऐसे लेख की यहां पाये जाते हैं जिससे स्थानीय शासकों एवं सुल्तानों तथा मुगल सम्राटों की उदार नीति पर प्रकाश पड़ता है। कई नये-नये एवं पुराने कर्तों की जानकारी भी हम इन लेखों से प्राप्त होती है।<sup>2</sup>

### मस्जिद अभिलेख

**1. नागौर में 16वीं शताब्दी का प्रथम अभिलेख :-** यह नागौर में 16 वीं शताब्दी का पहला शिलालेख है जिसमें शाही परिवार की औरत का वर्णन है परन्तु उसका नाम नहीं बताया गया। सौभाग्य से मियां अली खां का नाम इतिहास में मौजूद है क्योंकि वह खानजादा मुहम्मद खां का भाई था। सन् 915 हिजरी के लगभग दूसरे भाई अबू बकर से मुहम्मद खां के कल्ल की साजिश की थी, परन्तु असफल होकर सिकन्दर लोदी के दरबार में शरण लेने पर यह दोनों भाई विवश हो गये थे। यह घटना लगभग 916 हिजरी-1510 ईस्वी की है शिलालेख की तारीख में उस समय मियां अली खां नागौर ही होगा और उसकी पत्नी द्वारा यह मस्जिद बनवायी गई।<sup>3</sup>

**2. मुहम्मद खां द्वारा उत्कीर्ण अभिलेख :-** इस शिलालेख की विशेषता है कि मुहम्मद खां के पांच शिलालेखों में यही एक शिलालेख ऐसा है जिसमें खाने आजम व खाकाने मअज्जम के दोनों उपनाम एक साथ अंकित हैं जैसा कि फिरोज खां द्वितीय के शिलालेख में हर बार दोनों शब्दों (उपनाम) का प्रयोग हुआ है क्योंकि शिलालेख की तवारीख 913 हिजरी साफ पढ़ी जा रही है अतः तत्कालीन शासक की खाली जगह को भरने के लिए हमने मुहम्मद खां लिख दिया है इस शिलालेख से समकालीन धार्मिक स्थिति का पता चलता है कि नागौर में इस्लाम धर्म अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हो रही थी इस अभिलेख में मस्जिद के विशाल भवन के निर्माण का उल्लेख हुआ है।<sup>4</sup>

**3. काजियों की मस्जिद का अभिलेख :-** यह अभिलेख नागौर के भीतरी क्षेत्र में काजियों की मस्जिद में गड़ा हुआ मिला। इस अभिलेख की तिथि शब्वाल हिजरी 960 या सितम्बर 1553 ई. है। अभिलेख में कुरआन की एक आयत अवतरित है जिसका आशय है कि लोगों को एक ही ईश्वर की आराधना रकनी चाहिए। उसकी (ईश्वर) दया के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति को हानि उठानी पड़ती है फिर कहा है कि इस मस्जिद का निर्माण अकजाइल कुजात काजी उमर ने करवाया।<sup>5</sup>

**4. काजियों की मस्जिद का अभिलेख :-** यह अभिलेख 21 शब्वाल हिजरी 960 मुताबिक 30 सितम्बर 1553 ई. कर है इस अभिलेख में कुरआन की एक आयत उद्धृत है जिसमें कहा है कि जब जाकारिया मरियम के दर्शन करने हेतु जेरुशलम गया

तो उसने उसके पीछे बिना मौसम के फल देखे। इसके अनन्तर कहा है कि इस मस्जिद का निर्माण सुल्तान इस्लाम शाह के शासन काल में शेख रूकुनुदीन हश्मी के पुत्र हाजी हमर ने करवाया।<sup>6</sup>

**5. शेखों की मस्जिद का खण्डित अभिलेख :-** नागौर के डीडवाना क्षेत्र में फारसी शिलालेख मिला जिस पर 14 शाबान हिजरी 962 मुताबिक (15 जुलाई 1554 ई.) तिथि अंकित है यह शिलालेख 16 वीं शती का है। इस अभिलेख में जुलाहों के संघ द्वारा मस्जिद के निर्माण का उल्लेख है यह लेख मस्जिद के भीतर स्थित है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि डीडवाना में जुलाहों जाति के मुस्लिम अनुयायियों का संघ था। इस संघ द्वारा प्राप्त आर्थिक मदद अर्थात् धार्मिक दान से इस मस्जिद का निर्माण हुआ।<sup>7</sup>

**6. काजियों की मस्जिद का अभिलेख :-** मोहल्ला काजियान क्षेत्र में स्थित मस्जिद में अंकित लेख की तिथि मोहर्रम हि. 1062 या सन् दिसम्बर, 1553 ई. है कहा गया है कि इस मस्जिद का निर्माण नगरपति शेख रूग्न अंदेशी हश्मी के पुत्र हाजी उमर द्वारा करवाया गया व उसके 200 वर्ष बाद अबुल मुजफर शहाबुदीन मोहम्मद साहिब किन ।। शाह जहान बादशाह गाजी के शासन काल में काजी रहमतुल्ला द्वारा उसका पुनर्निर्माण करवाया गया। यह प्रथम शिलालेख है जिसे पुनः निर्माण किया गया है इसमें शिलालेख का निर्माण करवाने वाले का नाम व मुगल शासक काल का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>8</sup>

**7. तालाब के पास वाली मस्जिद का अभिलेख :-** यह अभिलेख हिजरी 967 सन् 1559-60 ई. का है यह अभिलेख मुगल बादशाह जलालुदीन मुहम्मद अकबर के शासन काल का है इस लेख का निर्माण बादशाह अकबर के द्वारा नियुक्त राजकीय अधिकारी अब्दुलगनी द्वारा किया गया है। इस अभिलेख में मस्जिद बनवाने वाले व शासक का उल्लेख किया गया है। यह फारसी लेख तालाब के पास मस्जिद में अंकित है।<sup>9</sup>

**8. शाही जामी मस्जिद का अभिलेख :-** इस मस्जिद के केन्द्रीय मेहराब में अकबर कालीन लेख है जिसमें वर्णित है कि उक्त मस्जिद का जीर्णोद्धार इस्लाम बैग के द्वारा करवाया गया था। ये काम रोडजी नामक शिल्पी को सुपुर्द किया गया। इससे स्पष्ट है कि स्थानीय शिल्पियों का उपयोग हर प्रकार के भवनों को बनाने में किया जाता था। नागौर के बडी खाटू क्षेत्र में स्थित इस मस्जिद के शिलालेख की तिथि शाबान हि. 968 या अप्रैल मई 1561 ई. है।<sup>10</sup>

**9. अकबरी मस्जिद का अभिलेख :-** तिथि के अनुसार यह शिलालेख मुगल बादशाह अकबर के समय का है इसकी तिथि हि. 972 या सन् 156-4-65 ई. है इस लेख में बादशाह अकबर के समय में हुसैन कुली खां द्वारा मस्जिद बनवाए जाने का उल्लेख हुआ है। हुसैन कुली खां इस मस्जिद का निर्माण बादशाह अकबर के नाम पर

बनवाई होगी क्योंकि हुसैन कुली खां बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार नागौर सरकार का शासन चलाता था।<sup>11</sup>

**10. मस्जिद की मेहराब का अभिलेख:-** सम्राट अकबर के यसावुल (उत्सवाधि कारी) अमीर किस्मी के आदेश से नेकबख्त की देखरेख में मस्जिद का निर्माण हुआ। इस आदेश से यह ज्ञात होता है कि मुगल काल में इस्लाम धर्म के प्रचार व प्रसार तथा इस्लामी शिक्षा के विकास के लिए उपयोगी कार्य किये उससे इस्लाम धर्म के विकास का पता चलता है इस अभिलेख की दिनांक हि. 977 या 1569-70 ई. है जो कि नागौर के काठोती क्षेत्र स्थित है।<sup>12</sup>

### दरगाह अभिलेख

**1. मग्रीबीशाह की दरगाह का अभिलेख:-** इस शिलालेख पर दिनांक 1008 हिजरी या सन् 1599 ई. अंकित है इस अभिलेख में बताया गया है कि मीर बुगुर्ग ने अपने पिता नवाब अमीर मुहम्मद मासूम के साथ इस पवित्र स्थान की यात्रा की। मध्य काल में यह प्रथा प्रचलित थी कि जो कोई शासक या राजकीय अधिकारी कहीं जाते या यात्रा करते तो उस जगह पर आदेश देकर अपना पूरा ब्यौरा अंकित करवाते थे इसी प्रकार मीरा बुजुर्ग ने अपना व अपने पिता के नाम पर फारसी शिलालेख तैयार करवाया था।<sup>13</sup>

**2. अतारकिन की दरगाह का अभिलेख :-** अतारकिन की दरगाह के भीतर शिलालेख पर अंकित तिथि हि. 1008 या सन् 1599 ई. है इस अभिलेख में एक धार्मिक आयत लिखी है यह धार्मिक आयत कुरआन शरीफ की एक आयत है इस आयत का अर्थ भी दिया गया है जिसमें जीवन की अवास्त विकलता पर प्रकाश डाला गया है इस अभिलेख का निर्माण करने का उद्देश्य मुस्लिम अनुयायियों को इस्लाम को सही अर्थों में समझाने की कोशिश की गई।<sup>14</sup>

**3. पीर जहूरुद्दीन की दरगाह का अभिलेख :-** हिजरी 1008 या सन् 1599 ई. का एक शिलालेख पीर जहूरुद्दीन का दरगाह से प्राप्त हुआ इस अभिलेख में यात्रा का उल्लेख मिलता है अभिलेख में कहा गया है कि मीर बुजुर्ग ने (अपने पिता) नवाब अमीर मुहम्मद मासूम नामी के साथ इस दरगाह की यात्रा की मध्यकाल में आमजन व शासक वर्ग के अन्तर्गत दरगाहों पर फातिहा (आयतें पढ़ना) पढ़ने की परम्परा थी जो आज भी प्रचलित है।<sup>15</sup>

### खानकाह अभिलेख

**1. तारिकीन की खानकाह का अभिलेख:-** नागौर के प्रसिद्ध सूफी संत हमीदुद्दीन की खानकाह पर यह लेख अंकित है खानकाह का अर्थ सूफी संतों के दबादत करने वाली जगह से है यह लेख हि. 1008 या सन् 1599 ई. का है इस अभिलेख में मीर बुगुर्ग की नवाब मुहम्मद मासूम के नामी के साथ इस खानकाह की यात्रा पर आने का उल्लेख हुआ है।<sup>16</sup>

**2. तारिकीन की खानकाह का अभिलेख:-** इस लेख में किसी उप आदेश का उल्लेख मिलता है जो कि हि. 1008 सन् 1600 ई. का होना पाया गया है इस अभिलेख में उपदेशात्मक वाक्य लिखा है कि बिना लाभ के समय गंवाना अत्यधिक दुख का विषय है इससे यह ज्ञात होता है कि खानकाहों में रहने वाले संत अपनी शिक्षा को आम जन को देने के उद्देश्य से लिखते थे।<sup>17</sup>

### संदर्भ

1. डॉ. कृष्ण स्वरूप गुप्ता एवं डॉ. गोपाल वल्लभ व्यास राजस्थान के इतिहास के स्रोत पृ. 7, जयपुर, 1988.
2. डॉ. गोपानार्थ शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत पुरातत्व भाग- 1 पृ. 216-17, जयपुर 1983
3. पीर सूफी हाजी अब्दुलरूआब चिश्ती, नागौर के सूफी संतों का इतिहास, पृ. 221, जोध पुर, 2009 (बिना ई मस्जिदे कलां मन्कूहा खानजादा मियां अली ब-तौफिके रहमानी दर अहदे खाने आजमें मोहम्मद खां सनतु तिसऊ तसअमाय: 1503-04 ईस्वी-909 हिजरी)
4. ऐपीग्राफिया इण्डिका अरबी फारसी सप्लीमेंट- 1970 ईस्वी-लेखक डॉ. जियाउद्दीन देसाई से लिये गये है। (बुनियाद करता ई मस्जिद बतौफीके रहमानी दर अहदे दौलत बन्दगी खाने आजम व खाकाने मुअज्जम मुहम्मद खां फितारिख सलासा सफर उल मुजफर (? ) मन सनता सलासा अश्रा व तसामयता।)
5. डॉ. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1949-50 पृ. 87 पर सम्पादित।
6. डॉ. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1949-50 पृ. 38 पर सम्पादित।
7. डॉ. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1949-50 पृ. 23 पर सम्पादित।
8. मांगीलाल व्यास, मारवाड़ के अभिलेख, पृ-218
9. डॉ. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1945-50 पृ. 39 दूरी नाम से प्रसि), कातिबुलमुल्क द्वारा सृजित।
10. ए.इ.अ.प.स. 1969 में सम्पादित तथा ए.रि.इ.ए. 1962-63 संख्या 197 पर निर्देशित
11. मांगीलाल मंयक मारवाड़ के अभिलेख, पृ. 225
12. ए.इ.अ.प.स. 1969 से सम्पादित तथा इ.रि.इ.ए. 1966-67 संख्या- 216 पर निर्देशित।
13. ए.रि.इ.ए. 1958-59 संख्या 172 पर निर्देशित
14. मीर बुगुर्ग द्वारा उत्कीर्ण
15. मांगीलाल मंयक, मारवाड़ के अभिलेख
16. ई. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1949-50 पृ. 91 पर सम्पादित
17. ई. चगताई द्वारा ए.इ.मु. 1949-50 पृ. नं. 41 पर सम्पादित

## स्थापत्य कला की प्रतिनिधि : चौपड़ा हवेली

कविता दाधीच

राजस्थान में प्राचीन काल से ही कला एवं पुरातत्व की दृष्टि से समृद्ध प्रदेश रहा है। यह प्रदेश अनेक राजाओं व सामन्तों के अधीन रहा है। सभी छोटे-बड़े राजाओं व सामन्तों ने अपने सामर्थ्य के अनुसार कलाओं को प्रोत्साहन दिया।<sup>1</sup> सुजानगढ़ शहर चूरु जिले के दक्षिणी भाग में 27'', 42'' उत्तरी अक्षांश एवं 74'', 24'' पूर्व देशान्तर में बसा हुआ रेगिस्तानी इलाका है।<sup>2</sup> प्राचीन काल से ही सुजानगढ़ कस्बे का गौरवशाली अतीत रहा है। रामायण व महाभारत काल में इस भूभाग को जहां पौराणिक पात्रों की लीलाभूमि बनने का अवसर प्राप्त हुआ, वहीं मध्यकाल में मोहिलों व बीदावतों की शक्ति का प्रमुख स्थल रहा। कालान्तर में बीकानेर रियासत के अन्तर्गत कस्बा प्रगति की ओर बढ़ा और वर्तमान में चूरु जिले की प्रमुख इकाई के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।<sup>3</sup>

सुजानगढ़ महत्वपूर्ण कस्बा एवं तहसील होने के साथ-साथ कला क्षेत्र में भी प्रमुख स्थान रखता है। कलाओं में वास्तुकला के अन्तर्गत महल, गढ़, हवेलियां इत्यादि का निर्माण किया जाता है। वास्तु शब्द की उत्पत्ति वस् धातु से हुई है, जिसका अर्थ निवास करना होता है अर्थात् वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करे हैं।<sup>4</sup> श्रेष्ठि, धनाढ्य नागरिकों ने अपने निवास के लिए भवन निर्माण कला को विशेष स्थान दिया। यहां के सामन्तों ने जहां महलों का निर्माण करवाया, वहीं सेठ-साहूकारों ने हवेलियों के निर्माण में रुचि दिखाई। महल और हवेली दोनों शब्दों में जिस प्रकार अन्तर है, उसी प्रकार उनके स्थापत्य में भी अन्तर है। महल राजसी संस्कृति का प्रतीक है तथा हवेली श्रेष्ठि संस्कृति का प्रतीक है। मध्यकाल में यह निर्माण कला अधिक पनपी और आगे चलकर चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। सेठों की यह हवेलियां नगर के स्थापत्य की अनुपम शोभा रही है।<sup>5</sup> सुजानगढ़ कस्बे की चौपड़ा हवेली स्थापत्य कला में अलग पहचान रखने के साथ-साथ परिवार के उत्थान, पतन के इतिहास का मौन साक्ष्य भी प्रस्तुत करती है। सुजानगढ़ के प्रसिद्ध व्यापारी स्व. दानचन्द चौपड़ा द्वारा संवत् 1965 में हवेली का निर्माण करवाया गया था।<sup>6</sup>

### हवेली का वास्तु प्रारूप

7000 फीट की जमीन पर चौतरफा हवेली का निर्माण दो वर्ष की अवधि में लगभग चार लाख रुपये व्यय कर करवाया गया था। तत्कालीन समय में इस थार प्रदेश में सीमित साधनों के बावजूद सुदृढ़ एवं सम्पूर्ण सुविधाओं से युक्त हवेली दानचन्दजी की मेहनत एवं लगन का परिणाम है। इस हवेली में पांच मुख द्वार बने हुए हैं। जिसमें तीन

द्वार सामने भाग में, एक द्वार पीछे की तरफ व एक द्वार दक्षिण में बना हुआ है। हवेली का मुख्य द्वार दुर्ग की भांति बहुत बड़ा एवं मजबूत शीशम की लकड़ी से निर्मित है। वहीं इसके अगल-बगल के द्वार लौह धातु से निर्मित है।

संरचना की दृष्टि से हवेली तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में मुख्य हवेली को स्थान दिया गया है। मुख्य हवेली चार मंजिलों में निर्मित है। हवेली की चारों मंजिलों में 20 कक्ष निर्मित है जिनमें प्रमुख रूप से दस बड़े कक्ष, दो रसोई घर, दो परिन्दे, दो तिरबारी हैं। कक्ष बड़े होने के कारण ढलवानुमा छत में लकड़ी के शहतीर का आधार देकर उन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है। इस शहतीर से जहां आधार प्राप्त होता है वहीं शिल्पकला में भी इसकी नक्काशी दर्शनीय है। प्रत्येक कक्ष में अलमारी, आला व गुलिम्बर को भी यथा स्थान बनाया गया है। फर्श मार्बल की चिपट (दाने का फर्श) से बनी है। दो प्रमुख कक्ष में स्नानघर की व्यवस्था भी की गयी है।

इस हवेली में तीन आंगन हैं। पहला आंगन छोटा है, जिसे हम पोल की संज्ञा भी दे सकते हैं। इसमें मेहराबदार आलों का निर्माण किया गया है। द्वितीय आंगन में चौतरफा कक्षों के साथ चौबीस स्तम्भ व बीस टोडे निर्मित है तथा मध्य में लोहे का जाल लगा है। जिससे चील-कौओं से रक्षा होती है। इस आंगन में प्रवेश के लिए चार रास्ते रखे गये हैं। तीसरे चौक में छोटा बरामदा दो कक्ष, जिन्हें स्थानीय भाषा में चोघरे कहा जाता है। बरामदे में आटा पीसने की पत्थर की चक्की भी निर्मित है। हवेली की तीसरी मंजिल में उस समय भी आधुनिक परिवेश के अनुसार दो कक्ष के साथ ही स्नानघर का निर्माण करवाया गया था। आगे की तरफ बनी दीर्घा (गैलेरी) में लोहे के स्तम्भ व जालियों के साथ टोडों का अलंकरण किया गया है। हवेली के अन्य भाग-मुख्य हवेली के बराबर वाले खुले भाग में पक्का फर्श बनाकर दायीं तरफ पांच कक्षों को निर्माण किया गया है तथा सामने महफिल के साथ ही बरामदा व कमरों का निर्माण किया गया है। महफिल में चारों तरफ आयताकार आकृति में बैठने का रास्ता रखा गया है। खुले भाग के दायीं तरफ बने कक्ष के बराबर ही हवेली के तीसरे भाग में जाने का रास्ता है। इस भाग में तीन भण्डारगृह, अस्तबल व साथ ही इन्हीं कार्यों से जुड़े व्यक्तियों के रहने का स्थान बनाया गया है। 110 वर्ष पूर्व कुई का निर्माण भी किया गया था।

हवेली के प्रवेश द्वार के दोनों तरफ दीवानखाने व मध्य में पोल का निर्माण किया गया है। दीवानखाना व पोल के ऊपर छत पर भी कक्षों का निर्माण किया गया है, जिसे हम हवेली के चौथे भाग के रूप में भी मान सकते हैं। सभी कक्षों में बाह्य भाग की तरफ अधिक खिड़कियां रखकर, हवेली को अलंकृत करने का प्रयास किया गया है। इन्हीं खिड़कियों में हवा का आगमन बिना किसी रुकावट के होता है जिससे ग्रीष्म ऋतु की भीषण गर्मी में आनन्ददायक हवा की प्राप्ति होती है। दीवानखाने में तीन-तीन द्वार, रोशनदान के साथ छत पर भी चूने के साथ स्वर्ण की नक्काशी की गयी है।<sup>7</sup> हवेली में प्रयुक्त सामग्री-हवेली निर्माण में उस समय में निर्माताओं द्वारा देशी-विदेशी सामग्री



उपयोग में ली गयी थी। मिट्टी व जल स्थानीय थे तथा हवेली के दरवाजें व खिड़कियों में रोहिड़ा व शीशम वृक्ष की लकड़ी का उपयोग किया गया था। रोहिड़ा वृक्ष की लकड़ी स्थानीय उपज के साथ मजबूत भी होती है अतः यहां के कारीगर इसी लकड़ी का सामान बनाना अधिक पसंद करते हैं। हवेली निर्माण में काम में ली गई पट्टियां व पत्थर जोधपुर से मंगवाये गये तथा स्विच व टाइल्स जर्मनी से लाये गये थे। इस प्रकार सभी संसाधनों एवं कारीगर व मजदूरों की मेहनत से हवेली को मूर्त रूप प्रदान किया गया।

हवेली अलंकरण-सम्पूर्ण हवेली टोडों, स्तम्भों, छजवाल एवं नक्काशी युक्त जालियों तथा भित्तिचित्रों से परिपूर्ण है। हवेली के बाह्य भाग में जहां बत्तीस टोडे बने हैं वहीं आन्तरिक भाग में चारों तरफ करीब सौ टोडे निर्मित है। जो हवेली को आधार प्रदान करने के साथ-साथ उसकी सुन्दरता को भी बढ़ाते हैं। हवेली का मुख्य प्रवेश द्वारा शीशम की लकड़ी से निर्मित होने के साथ ही लोहे की कीलों से अलंकृत है। चारों तरफ टाइल्स लगी है व ऊपर प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण है। द्वार के दानों के तरफ चार-चार स्तम्भों के मध्य द्वारपालों के चित्र अंकित है। हवेली के बाह्य भाग में निर्मित स्तम्भों में कमल पुष्प की आकृति बनी है। हवेली के आंगन में निर्मित टोडों व स्तम्भों में भी कमल पुष्प की आकृति निर्मित है। हवेली के सभी द्वार के ऊपर रोशनदान में रंगीन कांच का प्रयोग किया गया है, जो अधिक आकर्षक लगता है। सीढ़ियों के दोनों तरफ व आंगन में लोहे की नक्काशी युक्त जाली का प्रयोग है वहीं सबसे ऊपर की मंजिल में चारों तरफ पत्थर की फूल-पत्तियों की नक्काशी युक्त जाली है जो हवेली के अलंकरण में विशिष्टता लिये हुए हैं। मारवाड़ क्षेत्र में हवेली के सामने मुख्य भाग में पत्थर की जालियों का अलंकरण कर साज-सज्जा करना यहां की स्थानीय विशेषता है।<sup>8</sup>

हवेली के प्रवेश द्वार व मुख्य हवेली के दोनों भागों को जोड़ने के लिए दोनों छतों के मध्य पुल का निर्माण किया गया है, जिसमें लोहे की रेलिंग लगी है। यह पुल हवेली की तीसरी मंजिल और बाह्य भाग के पोल ही दूसरी मंजिल के मध्य बना है। भित्तिचित्र-हवेली के भित्तिचित्र आलागीला पद्धति के अन्तर्गत प्राकृतिक रंगों से निर्मित है। टोडों के मध्य गोलाकार वृत्तों का चित्रण है तथा उसके नीचे फूल-पत्तियों की बन्दरवार बनायी गई है। भित्तिचित्रों में कई विषय सम्मिलित किये गये लेकिन सामन्तशाही पद्धति के प्रचलन में होने के कारण चित्रों में इसकी झलक स्पष्ट दिखाई देती है। राजसी बालक, जो राजसी वस्त्राभूषणों से सज्जित है। हाथी व घोड़े पर वस्त्राभूषणों से युक्त एवं अस्त्र-शस्त्र लिये सामन्तों का चित्रण तथा हवेली रक्षक (द्वारपालों) का चित्रण इसी ओर संकेत करते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अन्तर्गत ब्रिटिश अधिकारी एवं महिलाओं के चित्र द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक चित्रण, इमारतों व हवेलियों का चित्रण, पुल से गुजरती रेल, दीवानखाने में देवी-देवताओं तथा परियों का अंकन प्रमुख हैं। आंगन व पोल के द्वार तथा कक्ष द्वार के ऊपर मेहराबदार आकृति में फूल-पत्तियों व ज्यामितीय

रेखाओं का चित्रण किया गया है।

स्थापत्य एवं शिल्पकला के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएं भी इस हवेली में हैं, जो इसे नगर की अन्य सभी हवेलियों में विशिष्ट बनाती है।

1. हवेली के शीर्ष पर चार कोनों में हवेली रक्षक अर्थात् द्वारपालों की मूर्तियां स्थापित की गयी हैं। यह मूर्तियां खड़ी मुद्रा में हैं तथा हाथों में लकड़ी (पत्थर से बनी) पकड़ी हुई है।
2. सुजानगढ़ कस्बे में पानी की कमी होने के कारण 110 वर्ष पूर्व इस हवेली में चार बड़े कुण्ड व एक कुई का निर्माण किया गया था। कुण्ड में वर्षा का जल संग्रहित किया जाता है। कुण्ड में पानी का संचय एक कला थी। एक आवश्यकता थी, एक दूरदर्शिता थी।
3. हवेली की पोल में छत पर निर्मित कक्ष में चूने के साथ स्वर्ण नक्काशी का कार्य तथा इसी कक्ष में स्नानघर में एल्यूमिनियम की छत बनायी गई तथा उसमें महिलाओं का चित्रण भी किया गया है।
4. दानचन्द चौपड़ा द्वारा सुजानगढ़ कस्बे में सर्वप्रथम 1935 ई. में महाराजा गंगासिंहजी से मोटर कार खरीद कर लाये। उनके वंशजों द्वारा मोटर कार को आज भी सुरक्षित एवं व्यवस्थित स्वरूप में रखा गया है।
5. 110 वर्ष पूर्व हवेली में हैण्डपम्प से सीधे जल वितरण की व्यवस्था की गई तथा 1945 ई. में जनरेटर द्वारा बिजली की व्यवस्था की गई थी।

हवेली संरक्षक इसे मूल रूप से रखने के लिए हमेशा तत्पर रहे हैं तथा मरम्मत की जरूरत पर इसकी उपेक्षा नहीं की। स्थापत्य कला की सभी विशेषताओं के अन्तर्गत इतने बड़े भू-भाग पर निर्मित यह भवन हवेली के रूप में वास्तुकला के अन्तर्गत एक श्रेष्ठ कृति है। यह हवेली शोधार्थी के अध्ययन के लिये नये विषय प्रदान करने के साथ-साथ ऐतिहासिक धरोहर में भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

### सन्दर्भ

1. जम्मड़, श्रीकंवर, इतिहास के दर्पण में जम्मड़ भवन, दिल्ली, 1984, पृ. 64
2. कार्यालय नगर पालिका मण्डल, सुजानगढ़, वार्षिक कार्य योजना, 2007-08, पृ. 4
3. स्वामी, चेतन, सुजान यश मंजूषा, दी यंग्स क्लब ऑफ सुजानगढ़, 1996, पृ. 9
4. कासलीवाल, मीनाक्षी, ललितकला के आधारभूत सिद्धान्त, राज. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ. 15
5. नीरज, जयसिंह, कला का सृजनात्मक संसार, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर, 2009, पृ. 35
6. दुलीचन्द चौपड़ा द्वारा हवेली के पट्टे से प्राप्त जानकारी के आधार पर
7. स्वयं द्वारा हवेली के सर्वेक्षण के आधार पर
8. जैन, शिखा, हवेली : ए लिविंग ट्रेडिशन ऑफ राजस्थान, गुड़गांव, 2004, पृ. 89

## डीग के भवन: उत्तर भारत की 18वीं शताब्दी की ऐतिहासिक धरोहर का पुरातात्विक अध्ययन

डॉ. अशोक कुमार

डीग उत्तर भारत में 29°25' उत्तरी एवं 77°15' पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित है।<sup>1</sup> डीग राजस्थान के पूर्वी उत्तर में स्थित भरतपुर जिले में जिला मुख्यालय से 32 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर दिशा में स्थित है।<sup>2</sup> इसकी दूरी दिल्ली से 153 किलोमीटर एवं आगरा से 98 किलोमीटर है।<sup>3</sup> मध्य काल में डीग का क्षेत्र मुगलों के आधिपत्य में रहा। डीग नगर का प्रादुर्भाव 18 वीं शताब्दी में जाट शासकों के शासन काल में हुआ।<sup>4</sup> वर्तमान में डीग भरतपुर जिले का एक तहसील मुख्यालय है। यह नगर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 18वीं शताब्दी की अमूल्य धरोहर का भाग है। 18वीं शताब्दी के मध्य क्षेत्रीय शक्ति के रूप में जाट शक्ति का उदय हुआ। जाट शासक मुख्यतः सूरजमल के नेतृत्व में जाट राज्य का विस्तार हुआ एवं डीग में भव्य महल एवं भवनों का निर्माण हुआ।<sup>5</sup> सूरजमल के शासनकाल में डीग राजकीय नगर के रूप में कार्यरत रहा, परिणामस्वरूप इसका विकास निरन्तर होता रहा। डीग भारतवर्ष में महल एवं बगीचों के लिए जाना जाता है। डीग के भवन पुरातात्विक दृष्टिकोण से बेजोड़ एवं बेमिसाल हैं। सूरजमल ने डीग में एक भवन निर्माण परियोजना का आरम्भ किया, जिसका मुख्य निरीक्षक मंत्री जीवराम वंचारी था।<sup>6</sup> 1763 ई. में सूरजमल के मृत्यु के पश्चात् जवाहर सिंह ने भवन निर्माण परियोजना को पूर्ण करवाया। जवाहर सिंह के उपरांत डीग 1803-04 ई. में अंग्रेजों के आधिपत्य में आ गया।<sup>7</sup> जाट राजाओं के शासनकाल में डीग में कुछ महत्वपूर्ण भवन जैसे सूरजभवन, गोपाल भवन, किशन भवन, सावन-भादो, हरदेव भवन, नंद भवन आदि का निर्माण हुआ।<sup>8</sup> इन भवनों का निर्माण एक समूह के रूप में हुआ है। इन भवनों में प्रयुक्त स्थापत्य अद्भुत एवं अमूल्य है। जाट राजाओं के काल में प्रयुक्त भवन निर्माण तकनीकी, साजो-सज्जा आदि को जानने के उद्देश्य से डीग के भवनों के समूह में स्थित सावन-भादो एवं किशन भवन का पुरातात्विक सर्वेक्षण, अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र के अन्तर्गत भवनों की बनावट, संरचना, साजो-सज्जा, निर्माण सामग्री, क्षेत्र प्रबन्धन, सभी को ध्यान में रखते हुए भवनों का सर्वेक्षण एवं अध्ययन वैज्ञानिक तकनीकी से किया गया है।

**सावन-भादो मंडप**-गोपाल भवन के उत्तर में सावन एवं दक्षिण में भादो मंडप स्थित हैं। ये तीनों इमारतें एक क्रम में सीधी पंक्ति में स्थित हैं। इन दोनों मंडप के पश्चिम में गोपाल सागर स्थित है। सावन एवं भादो मंडप दो मंजिला हैं। पूरब के चबूतरे से देखने

पर सावन-भादो के एक ही मंजिल नजर आते हैं। दोनों मंडप पूरी तरह गोपाल सागर में निकाल कर बनाये गये हैं। सावन-भादो की नीचे की मंजिल पत्थरों की एक मंजिला बुनियाद पर आधारित है और यह बुनियाद गोपाल सागर के पानी में डूबी रहती है। इस बुनियाद पर आधारित नीचे की मंजिल स्तंभों एवं बरामदों के आधार पर बनाई गयी है, जहां मुख्य हॉल जिसकी तीन तरफ स्तंभ एवं मेहराब हैं, पर गलियारा बनाया गया है। बीच के मेहराब एवं स्तंभों पर आधारित हॉल का आकार पानी में आधा डूबे हुए पत्थर की बुनियाद के आकार के बराबर है एवं इस हॉल के तीनों तरफ की बुनियादें निकाल कर बनायी गयी हैं एवं उनको नीचे की पत्थरों की बुनियाद से उत्पत्तित आड़े ब्रैकेट्स पर आधारित किया गया है। गोपाल सागर से देखने में सावन-भादो की इस मंजिल में उत्तर-दक्षिण में चार मेहराब एवं सामने से सात मेहराब पर आधारित निकास नजर आते हैं। सावन-भादो की मंजिल के गलियारे में पानी की तरफ पत्थर की रेलिंग लगायी गयी है। इसके मंजिल के मुख्य हॉल के बीचों-बीच पानी के बहने के लिए पत्थर का एक हौज बनाया गया है, जो इस मंजिल के पूरब में स्थित मेहराबदार छोटे से चैंबर के सामने है, ये चैंबर सावन-भादो के पूरब में स्थित चबूतरे के अंदर स्थित है।

सावन-भादो मंडप देखने में एक झोपड़ी के आकार की है, जिसके ऊपर कई स्तूपी एक पंक्ति में स्थित हैं। ऊपर की मंजिल मुख्यतः एक हॉल है, जिसकी लम्बाई 10.97 मी. एवं चौड़ाई 7 मी. है। इस झोपड़ी के चारों तरफ की दीवारें स्तंभ एवं मेहराबों से बनायी गयी हैं, जिसमें लम्बाई वाले भुजा में 5 मेहराबों के निकास द्वार एवं चौड़ाई वाले भुजा में 3 मेहराबों के निकास द्वार दिये गये हैं। सबसे ऊपर की मंजिल का आकार नीचे की मंजिल के मुख्य हॉल के बराबर है। इसका निर्माण कुछ इस तरह किया गया है कि ये गोपाल भवन के ही भाग प्रतीत होते हैं। इन दोनों की ऊँचाई गोपाल भवन से नीची रखी गयी है एवं झोपड़ीनुमा मंजिल की छत बंगलादार बनायी गयी है, जो अपने-आप में राजपूत स्थापत्य कला का नमूना प्रस्तुत करती हैं। सावन-भादो की साजो-सज्जा में ज्यामिती नक्काशी का प्रमुख स्थान है। इन दोनों भवनों में मेहराबों का आकार-प्रकार एक सा रखा गया है, जिससे भवनों में एकरूपता नजर आती हैं। सावन-भादो भवन गोपाल सागर में उतने ही आगे अग्रसित हैं, जितना गोपाल भवन का भाग पानी में निकला है। सावन-भादो में प्रयुक्त स्तंभ अपने आप में बेजोड़ एवं अद्वितीय है, जो मुख्यतः शाहजहाँ के काल में प्रयुक्त स्तंभों की एक नकल है। सावन-भादो की बंगलादार छत बनाने में चूना एवं सुरखी का प्रयोग किया गया है। सावन-भादो की नीचे की मंजिल पर जाने के लिए भवनों में पत्थर की सीढ़ियां दी गयी हैं, जो समकोण पर मुड़कर नीचे मंजिल पर जाती है। वर्षा के मौसम में सावन-भादो मंडप में जल की समुचित व्यवस्थाएं अपने-आप चलने लगती हैं, जिसके कारण इन भवनों का नाम संभवतः सावन-भादो रखा गया।

**किशन भवन**-किशन भवन इन इमारतों के समूह के दक्षिण में तथा सरज भवन

एवं हरदेव भवन के पूर्व में स्थित हैं। किशन भवन की इमारत आयताकार क्षेत्र में बनी हुई है, जिसमें मुख्यतः दो बड़े-बड़े बरामदे रूपी हॉल एवं इन हॉलों के दोनों तरफ दो-दो कमरे का समूह है एवं मुख्य हॉल के दक्षिण के बीचों-बीच दक्षिण की तरफ निकला हुआ अष्टभुजाकार कमरा है। किशन भवन के दक्षिण में एक बगीचा दिया गया है, जिसका एक द्वार दक्षिण में खुलता है एवं इस बगीचे में जाने के लिए किशन भवन के पश्चिम में एक गलियारा निकला हुआ है। किशन भवन का मुख अन्दर की तरफ स्थित चारबाग की तरफ है। किशन भवन के सामने, किशन भवन की चौड़ाई का एक ऊँचा चबूतरा बनाया गया है एवं इस चबूतरे पर जाने के लिए इसके दक्षिण-पश्चिमी कोने पर ढाल बनाया गया है। किशन भवन एक मंजिला इमारत है। किशन भवन का मुख पाँच बड़े मेहराबों के रूप में बनाया गया है, जिसके पीछे दो बड़े हॉल एक के बाद एक बनाये गये हैं। इस हॉल की लम्बाई 19.20 मी. एवं चौड़ाई 16.45 मी. है। इस महल के अलंकरण में आरबेसक्यू (ज्यामितीय आधारित साजो-सज्जा) है। इस भवन के पष्ठ भाग में अष्टभुजाकार कमरा है, यह कमरा मुख्य इमारत से दक्षिण में बाहर की तरफ निकला हुआ है। दक्षिण की तरफ से देखने पर प्रमाणित होता है कि यह अष्टभुजाकार कमरा दो मंजिला है एवं दक्षिण की तरफ इसके पाँच मेहराबदार निकास दिये गये हैं। इन अष्टभुजाकार कमरों के दोनों मंजिलों की ऊँचाई किशन भवन के मुख्य इमारत की एक मंजिल के बराबर है। इन अष्टभुजाकार कमरों की मंजिल का प्रमाण बाहर की ओर निकले हुए छज्जों से मिलता है। इस मंडप का निर्माण भूरे रंग के पत्थर में किया गया है एवं इस मंडप में मेहराबों के ऊपर दो स्तरीय छज्जे दिये गये हैं, जिसमें नीचे का छज्जा बाहर की ओर निकालकर बनाया गया है एवं ऊपर का छज्जा बाहर की ओर सीधा निकाला हुआ है। ये छज्जे भी ब्रैकेट्स पर आधारित हैं। किशन भवन के मुख पर बाहर की ओर निकला हुआ एक बड़ा छज्जा ब्रैकेट्स की आधार पर बनाया गया है। इस छज्जे के ऊपर छत की सतह पर पत्थर की रेलिंग निर्मित है। इस रेलिंग में किशन भवन के दोनों कोनों की तरफ चन्द्राकार बालकोनी एवं मध्य में एक आयताकार बालकोनी बाहर की ओर निकालकर बनायी गयी है। कोनों पर बनी हुयी चन्द्राकार बालकोनी को कोरबेल तकनीकी से बनाया गया है।

### सन्दर्भ

1. के.के. सहगल : राजस्थान डिस्ट्रीक्ट गजेटियर-भरतपुर, जयपुर, 1971, पृ. 482
2. वही
3. एम.सी. जोशी : डीग, नई दिल्ली, 1982, पृ. 1
4. वही
5. जे.ए. देवनीश : द भवन, गार्डन्स एंड पैलेसेज ऑफ डीग, इलाहाबाद, 1903, पृ. 49
6. वही : पृ. 50
7. कालका रंजन कानूनगो : हिस्ट्री ऑफ जाट प्रथम कलकत्ता, 1925, पृ. 39
8. जे.ए. देवनीश : द भवन, गार्डन्स एंड पैलेसेज ऑफ डीग, पृ. 50

## एकलिंगजी और मेवाड़ राजवंश सम्बन्ध

डॉ. दिग्विजय भटनागर

बापा से लेकर वर्तमान तक मेवाड़ के सभी महाराणा भगवान एकलिंग को ही अपना ईष्ट देव मानते हैं। मेवाड़ के सभी पट्टों, परवानों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों आदि में सर्वप्रथम 'श्री एकलिंग जी, श्री राम जी' लिखकर ही इनका आरंभ किया जाता रहा है। भगवान एकलिंग के कारण ही मेवाड़ के राज्यकाल में सरकारी कार्यालयों में साप्ताहिक अवकाश भी सोमवार का होता था। महाराणा स्वयं शैया त्याग के बाद सर्वप्रथम भगवान एकलिंग के चित्र पट के दर्शन करते थे तथा बड़े उत्सवों पर स्वयं कैलाशपुरी पधारते थे। मंदिर में पहुँच कर दीवान के रूप में सोने की छड़ी धारण करते थे। ग्रीष्मकाल में स्वयं चांदी के घड़े में समीप स्थित बावड़ी से जल लाकर जलतरी में उंडेलते थे। सम्पूर्ण भारत में यहां की पूजा विधि विशिष्ट है जिसकी सर्वत्र प्रशंसा की जाती है। जिस स्थान पर मेवाड़ राज्य के प्रथम संस्थापक बप्पा को हारित ऋषि का आशीर्वाद तथा भगवान एकलिंग का कृपा-प्रसाद प्राप्त हुआ था उसी स्थान पर बप्पा ने सर्वप्रथम एक मंदिर का निर्माण कराया तथा भगवान के शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। उस समय यह मंदिर छोटा ही रहा था। इसका निर्माण बप्पा के शासनकाल ई.स. 734 में हुआ था।<sup>1</sup>

मुस्लिम शासनकाल में अनेकों मंदिर की भांति इस मंदिर पर भी कई आक्रमण हुआ एवं तोड़फोड़ की गई। मेवाड़ के महाराणाओं द्वारा इसकी रक्षा एवं समय-समय पर इस मंदिर का जीर्णोद्धार भी होता रहा। सर्वप्रथम वि.सं. 1478 से 1490 के मध्य महाराणा मोकल के राज्यकाल में गुजरात के बादशाह अहमदशाह ने विपुल सेना के साथ मेवाड़ पर आक्रमण किया तथा इस मंदिर को तोड़फोड़ दिया जिसका महाराणा मोकल ने जीर्णोद्धार कराया तथा इस मंदिर के चारों ओर एक सुदृढ़ परकोटा बनवाया।

विक्रम संवत् 1490 से 1525 के मध्य महाराणा कुम्भा के शासनकाल में भी इसका काफी निर्माण कार्य हुआ तो कुम्भलगढ़ के मामादेव की प्रशस्ति के श्लोक 240-241 से ज्ञात होता है। महाराणा कुम्भा ने ही इस मंदिर के भीतर का विष्णु मंदिर बनवाया जिसे आजकल गिरधर गोपाल का मंदिर अथवा मीराबाई का मंदिर कहते हैं।

इसी तरह महाराणा कुम्भा के पुत्र उदयकर्ण के समय विक्रम संवत् 1525 से 1530 के मध्य यह मंदिर गिर गया था। जिसको महाराणा रायमल ने विक्रम संवत् 1530 से 1566 के मध्य नये सिरे से बनवाया था तथा इसके भीतर भी वर्तमान चतुर्मुखी मूर्ति की प्रतिष्ठा विक्रम संवत् 1545 ईस्वी सन् 1488 में की थी। इसका उल्लेख इस मंदिर

के दक्षिण द्वार पर लगी प्रशस्ति के श्लोक 86 से ज्ञात होता है तब से यह मंदिर इसी रूप में विद्यमान है। महाराणा उदयसिंह ने अपने शासनकाल में कई बार एकलिंगजी की यात्रा की थी। उनको अपने ईष्टदेव एकलिंग जी में पूर्ण आस्था थी। 16 मार्च 1559 ई. वर्ष में महाराणा प्रताप की परमार रानी के गर्भ से अमरसिंह का जन्म हुआ। महाराणा उदयसिंह अपने पौत्र के जन्म की खुशी एवं दस माह पूर्ण होने पर बाल मुण्डन संस्कार के लिए चित्तौड़ से एकलिंगजी दर्शनार्थ पहुंचे उनके साथ महाराणा प्रताप व उनका पुत्र अमरसिंह एवं प्रमुख दरबारी भी साथ थे। महाराणा उदयसिंह इसी वर्ष पौत्र जन्म को अपने राज्य पक्ष के लिए शुभ मानते हुए मार्ग में वर्तमान उदयपुर शहर से एकलिंगजी के मार्ग पर उम्बेरी नामक स्थान पर पिपलाज माता के मंदिर पर ठहरे। जहां पर उन्होंने अमरसिंह का बाल मुण्डन संस्कार उत्सव बड़े धूमधाम से सम्पन्न कराया एवं ब्राह्मणों, साधुओं आदि को दान दिया। इससे सम्बन्धित शिलालेख आज भी अम्बेरी के निकट पिपलाज माता के मंदिर के अन्दर देखा जा सकता है। अम्बेरी से प्राप्त यह शिलालेख<sup>2</sup> उदयसिंह, प्रताप एवं अमरसिंह के जीवन के ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों में से एक है।

महाराणा उदयसिंह अकबर के चित्तौड़ अभियान के समय जब उदयपुर की पहाड़ियों में छिपकर रहे, उस वक्त एकलिंग जी के दर्शनार्थ गये थे। स्वयं महाराणा प्रताप ने जब अकबर की सेना का मुकाबला करने के लिए 18 जून 1576 में लोसिंग से हल्दीघाटी कूच किया था। उसके पूर्व उन्होंने अपने ईष्टदेव एकलिंगजी मंदिर जाकर दर्शन किये थे एवं युद्ध में विजय की मनोकामना की। अतः स्पष्ट है कि उदयपुर एवं गोगुन्दा को केन्द्र बनाकर राणा उदयसिंह एवं महाराणा प्रताप तथा उनके पुत्र अमरसिंह ने अपने राज्यारोहण, जन्मोत्सव एवं बाल मुंडन आदि शुभ कार्य किये थे। जिससे एकलिंगजी की महत्ता बढ़ती गयी। एकलिंगजी मंदिर के पूर्वी दिशा में इन्द्र सरोवर तालाब पर राणा जगतसिंह की पुत्री चन्द्रकुमारी जिसका विवाह जयपुर नरेश सवाई राजा जयसिंह के साथ हुआ था। उसकी रानी चन्द्रकुमारी ने रामचन्द्रजी का मंदिर बनवाया था<sup>3</sup> और ताम्रपत्र प्रदान किया था। इसके अनुसार रामचन्द्रजी मंदिर के लिये उसने सांगट गांव प्रदत्त किया, जिसकी अनुमानित आय 800 रुपये थी उसमें से आधी राशि दान में देने व बची हुई आधी राशि में से 100 रुपये पुजारी के लिये नियत किये थे।

महाराणा जगतसिंह प्रथम के शासनकाल में एकलिंग जी जन्मोत्सव पर सोमेश्वर ब्राह्मणों को पांच बीघा जमीन दी गयी थी जिसकी पुष्टि कुंवरबाई द्वारा प्रदत्त एक ताम्रपत्र व तत्कालीन शिलालेख से होती है।<sup>4</sup> महाराणा जगतसिंह प्रथम ने एकलिंगजी के मंदिर के शीर्ष भाग पर स्वर्ण कलश प्रतिष्ठित कर उस पर ध्वज दण्ड चढ़वाया<sup>5</sup> इसी समय जगतसिंह ने गांव एकलिंग के पास देलवाड़ा ठिकाने के अन्तर्गत ग्राम रूपावली को विक्रम संवत् 1695 के वर्ष में एकलिंगजी को शिवार्पण किया। इसी तरह राजसिंह ने भी अपनी दानशीलता एवं निर्माण कार्य के लिये प्रसिद्ध रहा, एकलिंग मंदिर के पूर्वी दिशा में स्थित इन्द्र सरोवर तालाब का जीर्णोद्धार करवाया एवं यहीं एक नवीन पाल तैयार

करवायी गयी। कवि रणछोड़ भट्ट लिखता है कि अकबर देवारी के राजपूतों का पक्षधर बनकर एकलिंगजी मंदिर के दर्शन युद्धोपरान्त करने हेतु रवाना हुआ था।

राजप्रशस्ति, मानविलास एवं मआसिरे-आलमगिरी इत्यादि ऐतिहासिक साक्ष्यों को तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि महाराणा राजसिंह ने मुगल सम्राट औरंगजेब के साथ 1679 ई. में देवारी के द्वार पर युद्ध किया<sup>6</sup> उस वक्त शाही सेना का प्रसिद्ध सेनापति आजम एकलिंगजी के मार्ग से उदयपुर की तरफ आया एक अन्य शहजादा अकबर देसुरी मार्ग से एवं स्वयं औरंगजेब तहवरखां को साथ लेकर चित्तौड़ मार्ग से आक्रमण करने आया। देवारी की लड़ाई में राजा राजसिंह की सेना परास्त हुई फलतः शाही सेना ने उदयपुर के प्रसिद्ध जगदीश मंदिर को क्षति पहुंचाने के साथ ही आस-पास के देवालियों को नष्ट किया जिसमें एकलिंग मंदिर भी शामिल था। जिसको मुगल सेना ने अपनी धार्मिक कट्टरता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से एकलिंग जी को क्षत-विक्षत कर दिया था। बाद में मेवाड़-मुगल संधि के बाद पुनः एकलिंग मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया गया।

संग्रामसिंह द्वितीय ने एकलिंग मंदिर की सेवा, समारोह एवं उत्सव आदि कार्य निमित्त हाथी, घोड़े, गायें आदि भेंट किये। इस प्रकार समय-समय पर मेवाड़ के शासक अपने ईष्टदेव के प्रति भक्ति भाषा प्रदर्शित करते थे। महाराणा भीमसिंह के समय प्रदत्त ताम्रपत्रों से एकलिंगजी के इतिहास के कतिपय पक्षों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।<sup>7</sup>

महाराणा भीमसिंह के समय वि.सं. 1851 माघ सुदी 9 के एक ताम्रपत्र से यह स्पष्ट होता है कि एकलिंगजी के मंदिर की सुरक्षार्थ मेवाड़ राज्य की तरफ से देलवाड़ा ठिकाने के सामन्तों को इसका दायित्व सौंपा हुआ था। एक अन्य ताम्रपत्र से ध्वनित होता है कि बागोर के महाराज शिवदानसिंह ने वि.सं. 1853 के वर्ष में छापरी ग्राम एकलिंग मंदिर को भेंट किया जिसका राजस्व रुपया 500 भेग पुष्प आदि शिवार्पण किये जाने का संकेत मिलता है। भीमसिंह कालीन ताम्रपत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण ताम्रपत्र विक्रम संवत् 1851 का माना जाता है।<sup>8</sup> क्योंकि उक्त ताम्रपत्र 31.5 फीट लम्बा है जिससे मेवाड़ के शासकों एवं राज परिवार तथा अन्य सामन्तों द्वारा एकलिंगजी के मंदिर के सेवा प्रबंधन में दिये गये दान की लम्बी सूची है। इस ताम्रपत्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वर्षों पहले गांव जो राणा कुम्भा, मोकल, रायमल, उदयसिंह व महाराणा प्रताप आदि द्वारा प्रदत्त थे इस समय तक खालसे हो गये थे। अतः महाराणा भीमसिंह ने एक बड़ा विस्तृत ताम्रपत्र बनवाकर एकलिंगजी के मंदिर को पूर्व शासकों द्वारा प्रदत्त गांवों की पुष्टि कर उनका नवीनीकरण किया। एकलिंग मंदिर के राजस्व प्रबंधन तथा देव स्थान शासन की जानकारी हेतु भीमसिंह कालीन ताम्रपत्र मूल्यवान् है।

महाराणा भीमसिंह के एक अन्य ताम्रपत्र विक्रम संवत् 1857 में<sup>9</sup> एक स्थल पर उल्लेख हुआ है कि इस वर्ष में महाराणा पधारे हुए थे तब उन्होंने एकलिंगजी के दर्शन कर स्वस्थ होने पर अंगोल्या कर कुछ द्रव्य शिवार्पण किया। इसकी पुष्टि एकलिंग

मंदिर के सम्मुख तत्कालीन एक शिलालेख विक्रम संवत् 1859 से होती है। इसी वर्ष महाराणा के स्वस्थ होने पर महाराणी देवकुंवर बाई ने सालेरा गांव एकलिंगजी के सेवार्थ भेंट किया। इन्हीं महाराणा ने एक ताम्रपत्र बनवाकर एकलिंग मंदिर को कतिपय गांव भेंट किये। जिसमें डबोक, हिमोरिया आदि का उल्लेख है।

राजस्थान पर मराठों के आक्रमण के दुर्दिनों में जब सिंधिया, दौलतराव ने उदयपुर में नाहर मगरा पर डेरा डाला एवं तत्कालीन ज्वलंत समस्या महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न पर मेवाड़ के अमीरखां ने हस्तक्षेप किया व उसने धमकी दी थी कि यदि कृष्णाकुमारी का विवाह का मामला नहीं सुलझाया जाता है तो वह निर्धारित समय पर मेवाड़ को उजाड़ देगा। भीमसिंह मराठों एवं अमीरखां से भयातुर हो उठा उसने एकलिंगजी के दर्शन कर बोलवा (मनौती) की एवं रावलया ग्राम इसी मंदिर को सेवार्थ दान किया।<sup>10</sup>

कृष्णाकुमारी के विवाह का प्रकरण राजस्थान पर मराठा आक्रमण के समय मेवाड़ के प्रसिद्ध मंदिर एकलिंगजी पर संकट था। तब महाराणा भीमसिंह की मानसिक दशा ठीक नहीं थी। इस अवसर पर महाराणा भीमसिंह ने विक्रम संवत् 1868 वैसाख द्वितीया वदी 9 का ताम्रपत्र बनवाकर भुवाणा गांव में हरचन्द्रेश्वर महादेव मंदिर की प्रतिष्ठा करवाई। जहां पर उसने एकलिंग मंदिर से गुसाई, आनन्दानंद, चंद्रकुंवर बाई एवं अन्य रानियों तथा राज्य के सरदारों को आमंत्रित किया। ताम्रपत्र की पंक्ति 10-11 में उल्लेखनीय है कि भुवाणा का चन्द्रशेखर मंदिर की व्यवस्था एकलिंग मंदिर के अन्तर्गत कर दी गई थी।<sup>11</sup> इस निमित्त उन्होंने बालभोग आदि के लिये आरूपां ग्राम भेंट किया, जिसके राजस्व से एकलिंग मंदिर में दीपक के तेल, घृत एवं पुष्पादि का प्रबंध किया।

उपरोक्त शिलालेखों, ताम्रपत्रों अन्य मूल अभिलेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एकलिंग जी मंदिर मेवाड़ राज्य में धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र है साथ ही राजनैतिक महत्व भी रखता था। उस समय पड़ोसी शासक मराठा नेता होल्कर सिंधिया एवं अमीरखां पिंडारी आदि भी एकलिंग मंदिर को मेवाड़ की राज्यपीठ की दृष्टि से महत्व देकर ही तत्कालीन महाराणा भीमसिंह पर दबाव डालते रहे। उधर स्वयं महाराणा भी इस विकट समस्या के समय ईष्ट देवता भगवान एकलिंग जी की दर्शनार्थ एवं राज्य की सुरक्षा हेतु मनोकामनाथ जाते रहे। अतः इस मंदिर की रक्षा करने का नैतिक निर्वाह उन्होंने भली भांति किया।<sup>12</sup> इसके लिए उन्होंने अपनी पुत्री कृष्णाकुमारी के बलिदान को भी स्वीकार किया। वस्तुतः 1810 ई. के वर्ष में अमीरखां की धमकी से भयातुर हो राजा ने कृष्णाकुमारी की सहमति भी मिल गयी। वस्तुतः कृष्णा ने राज्य, धर्म, संस्कृति व मेवाड़ की गौरवपूर्ण स्थली एकलिंग मंदिर की रक्षार्थ हेतु अपने प्राणों को न्यौछावर किया। इस दृष्टि से रानी पद्मिनी, कर्णावती एवं मीरा की ख्याति की भांति कृष्णा का महान त्याग अभी भी इतिहास के पन्नों में पढ़ने को नहीं मिलता है। एकलिंग मंदिर को मराठा व पिंडारी आक्रमणों से बचाने में कृष्णा का आत्मोसर्ग इतिहास में अन्यत्र पढ़ने को

नहीं मिलता है। उदयपुर नगर एवं एकलिंग मंदिर कहीं पर भी कृष्णाकुमारी की स्मृति में स्मारक बनवाना चाहिए। एकलिंगजी के आस-पास जो भूमि पूर्व में मेवाड़ नरेशों द्वारा दान में दी गई थी। उसके बारे में मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल जार्ज लारेन्स ने राज्य के सामन्तों के साथ किये एक कौलनामे (1854 ई.) में उल्लेख किया है कि उक्त भूमि निर्विवाद रूप से पूर्व में चले आ रहे भू-स्वामियों एवं उनके उत्तराधिकारियों के अधिकार में रहेगी।

महाराणा स्वरूपसिंहजी (1842-1861 ई.) के पूर्व एकलिंग मंदिर प्रबंध के लिए समुचित व्यवस्था नहीं थी। परन्तु इस दिशा में प्रथम बार स्वरूपसिंहजी ने कदम उठाया। नागदा एवं एकलिंगजी में ही वरन् इस वर्ष के पूर्व मेवाड़ के किसी भी मंदिर के लिए आय एवं प्रबंध की व्यवस्था नहीं थी। जिनके अधिकार में जो भी देव मंदिर होता था उसका प्रबंध वही करते चले आ रहे थे। पूर्व के महाराणाओं द्वारा जैसा पूर्वोक्ति ताम्रपत्रों से स्पष्ट है कि एकलिंग मंदिर को कई गांव-भूमि आदि भेंट की थी। परन्तु उनके राजस्व प्राप्त आय की कोई व्यवस्था नहीं थी। क्योंकि यह राशि राज्य की आय में नहीं जोड़ी जाती थी। महाराणा स्वरूपसिंहजी ने एकलिंग मंदिर का प्रबंध अपने हाथ में लेकर स्थानीय गोसाई का मासिक व्यय नियत कर दिया और मंदिर का भण्डार कायम किया जिससे उक्त मंदिर के जमा रुपये जमा रहते थे। उस वक्त तक भण्डार में लगभग 6,00,000 लाख (छः लाख) रुपया जमा था।<sup>13</sup>

महाराणा शंभूसिंह के शासनकाल में देव स्थान महकमे की स्थापना हुई थी। जिसमें मंदिरों व देव स्थानों की भूमि प्रबंध की तरफ ध्यान दिया जाने लगा। इसी महाराणा के शासनकाल में प्रधान केसरीसिंह कोठारी एवं उसके भ्राता छगनलाल कोठारी ने अपनी माता को माघ कृष्णा अमावस्या विक्रम संवत् 1922 को महोदधी पर्व के दिन तुला में बिठाकर उसके वजन के बराबर 10700 (दस हजार सात सौ) रुपये कलदार रुपये श्री एकलिंगजी में भेंट कर इस तरह का प्रबंध करा दिया कि उस धन के ब्याज से भगवान एकलिंग की तरफ से हमेशा सदाव्रत (साधु, संन्यासी, ब्राह्मण, अतिथियों का भोजन) की व्यवस्था कर दी।<sup>14</sup> इसके लिए महाराणा शंभूसिंह से प्रार्थना कर एक ताम्रपत्र भी करवा दिया जो 'कोठारी जी श्री बलवन्तसिंह-जीवन चरित्र' नामक पुस्तक में दिया हुआ है।

कोठारी श्री केसरसिंह ने महाराणा की भांति श्री एकलिंगजी को अपना ईष्ट देव स्वीकारा तथा उस पर दैनिक सेवा पूजा निमित्त चढ़ाये जाने वाले फल-पुष्प के लिये इन्द्र सरोवर पाल के नीचे एक बगीचा भेंट किया जिसमें भेरूजी उमरीया जी का स्थान है। साथ ही शंभूसिंह के समय नाथद्वारा तक पक्की सड़क बनवाई थी। जिससे एकलिंगजी के मंदिर का पर्यटनात्मक दृष्टि से महत्व बढ़ गया। सज्जनसिंह ने एकलिंगजी (कैलाशपुरी) में एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की जहां अध्ययनरत छात्रा को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी।<sup>15</sup> एकलिंगजी के विकास एवं आधुनिकीकरण में

उनकी रुचि विशेष उल्लेखनीय है। कोठारी श्री केसरसिंह ने इस अवधि में कैलाशपुरी में यात्रियों व दर्शनार्थियों के विश्राम हेतु एक बड़ी धर्मशाला निर्मित करायी। जिसका खर्च भी स्वयं उन्होंने वहन किया था। इसी तरह महाराणा फतसिंह के शासनकाल (1884-1930) में मेवाड़ राज्य के तत्कालीन प्रधान कोठारी श्री केसरसिंह मार्फत एकलिंग मंदिर की मूर्ति के धारण के लिए बहुमूल्य हीरों की जड़ाऊ आंगी बनवाई जिसकी कुल कीमत 3,43,326 (तीन लाख तैंतालीस हजार तीन सौ छब्बीस) रुपये थी।<sup>16</sup> मेवाड़ नरेशों में अंतिम महाराणा भूपालसिंह (1930-1955 ई.) ने अपने पूर्वजों की परम्परानुसार अपने ईष्टदेव एकलिंगजी धारण के लिए सुन्दर बहुमूल्य हीरे का नाग तथा धतूरे के पुष्प के आकार के स्वर्ण पुष्प बनवाये थे जो समय-समय पर आज भी धारण कराये जाते हैं।<sup>17</sup> इस तरह बापा से लेकर महाराणा भूपालसिंह ने उक्त मंदिर के प्रबंध में संरक्षण में सक्रिय योगदान दिया।

### सन्दर्भ

1. नन्दलाल दशोरा, एकलिंग गौरव, पृ. 34
2. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 2, पृ. 73
3. विक्रम संवत् 1791 माघ सुदि 14 का ताम्रपत्र
4. विक्रम संवत् 1836 का ताम्रपत्र
5. मोतीलाल मेनारिया (सं.), राज प्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 5, श्लोक 30
6. मोतीलाल मेनारिया (सं.), राज प्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 22, श्लोक 19-22
7. भीमसिंह द्वारा प्रदत्त वि.सं. 1851 माघ सुदि 9 का ताम्रपत्र
8. भीमसिंह द्वारा प्रदत्त वि.सं. 1853 का ताम्रपत्र
9. भीमसिंह द्वारा प्रदत्त वि.सं. 1863 का ताम्रपत्र
10. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 699
11. भीमसिंह द्वारा प्रदत्त वि.सं. 1866 कार्तिक वदि 7 का ताम्रपत्र
12. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 754-760
13. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उपरोक्त, पृ. 792
14. तेजसिंह कोठारी, कोठारी बलवन्तसिंह जी का जीवन चरित्र, पृ. 33
15. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 828-829
16. तेजसिंह कोठारी, कोठारी बलवन्तसिंह का जीवन चरित्र, पृ. 83
17. राघवानंद गोस्वामी, भगवान एकलिंग और हारित, पृ. 154

## मेवाड़ के महाराणा राजसिंह प्रथम के काल में साहित्य का विकास एवं प्रमुख साहित्यकार

दीपक चौधरी

साहित्य के विकास की दृष्टि से मेवाड़ प्राचीन काल से ही अत्यधिक समृद्धशाली रहा है। मेवाड़ में साहित्य सृजन में संस्कृत भाषा का प्रयोग अनेक अभिलेखीय साक्ष्यों से सिद्ध होता है।<sup>1</sup> यहाँ के शासकों की शिलाओं पर लिखी गई अनेक प्रशस्तियाँ हमें संस्कृत में मिलती हैं।<sup>2</sup> संस्कृत शिक्षा के विकास के लिए अनेक पारिवारिक<sup>3</sup> व सार्वजनिक<sup>4</sup> शिक्षण केन्द्र स्थापित करवाए गए। शासकों द्वारा अनुदान दिये जाने के कारण लोगों का संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रति लगाव भी उत्पन्न हुआ।

महाराणा कुम्भा स्वयं संस्कृत के विद्वान थे तथा उनकी संस्कृत रचनाएँ व टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं।<sup>5</sup> जैसे- (संगीतराज, संगीत मीमांसा, सूड प्रबन्ध, चण्डीशतक की व्याख्या की तथा गीत गोविन्द पर रसिक प्रिया नाम की टीका लिखी)। इसके उपरान्त युद्ध एवं अशान्ति की स्थिति बने रहने के कारण साहित्य सृजन का कार्य धीमा पड़ गया।<sup>6</sup> महाराणा राजसिंह के काल में संस्कृत साहित्य सृजन के क्षेत्र में एक बार फिर विकास होना प्रारम्भ हुआ।<sup>7</sup> इस काल को परम्परागत संस्कृत साहित्य व मौलिक साहित्य कर्मकाण्डीय साहित्य, पौराणिक साहित्य एवं विविध विषयक संस्कृत रचनाओं का अत्यधिक लेखन हुआ। महाराणा राजसिंह के काल में अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ (पाण्डुलिपियाँ) तैयार की गईं जैसे- यजुर्वेद हविर्यज्ञकाण्डम्, वाजसनेयी संहिता (प्रथम विंशतिका), वाजसनेयी संहिता (द्वितीय विंशतिका), प्रायश्चित्त मयूख, शुद्धि मयूख, नित्सय श्राव विधि, राम कल्पद्रुम, तीर्थरत्नाकरम्, चमत्कार चिन्तामरणी, गोवध व्यवस्थादीप, वाक्यदीप, सीमंत पद्धति, जातकमं पद्धति, उपवीत पद्धति, चतुर्थी कर्म धर्म, मातृ महालय, श्राद्ध पद्धति, सर्व कर्म साधारण प्रयोग, कार्णिण संहिता, मंथान भैरवागमनम् (प्रथम काण्ड), देव प्रतिष्ठा पद्धति, अनन्त ब्रतोद्यापनम् विधि, पारस्कर गृह्यसूत्रे प्रयोग पद्धति, शिवाचन विधि, कालिका पुराणम्, स्कन्द पुराणम् श्रवन्तिका खण्डम्, सेतु माहात्म्यम्, वराह संहिता, स्मृति सारः दर्शकर्म आदि ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार की गई थी जो सरस्वती भण्डार उदयपुर में विद्यमान हैं।<sup>8</sup> इनकी ग्रन्थ पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ गरीबदास, रणछोड़राय, रामराय आदि राजघराने के पुरोहितों ने करवाई थी। उक्त ग्रन्थ अधिकांशतः कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इससे स्पष्ट है कि इस समय मेवाड़ में हिन्दु कर्मकाण्डों की अच्छी व्यवस्था थी एवम् शुद्ध शास्त्रोक्त विधि से कर्मकाण्डीय क्रियाओं का सम्पादन होता था। इन सभी ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाये

जाने से ज्योतिष और वैदिक अध्ययन के प्रति शासकों का लगाव दृष्टिगोचर होता है। महाराणा राजसिंह के दरबार में अनेक साहित्यकार व कवि निवास करते थे। राजसिंह के दरबार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि रणछोड़ भट्ट थे। इन्होंने दो काव्य ग्रन्थों की रचना की—राजप्रशस्ति<sup>9</sup> महाकाव्य तथा अमरकाव्य<sup>10</sup> राजप्रशस्ति में महाराणा राजसिंह की उपलब्धियाँ हैं। इसी के साथ प्रारम्भ से महाराणा जगतसिंह तक के राणाओं तथा उनकी उपलब्धियों का वर्णन है।

प्रत्येक महाराणा के वर्णन प्रसंग में कवि से सम्बन्धित महाराणा की इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। महाकाव्य के प्रथम पांच सर्गों में राजसिंह के पूर्वजों का विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त कवि ने छठे सर्ग से महाराणा राजसिंह का इतिवृत्त प्रस्तुत करना आरम्भ किया है। सोलहवें सर्ग तक महाराणा राजसिंह के शासनकाल की प्रारम्भिक घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है। अन्तिम आठ सर्गों में औरंगजेब व राजपूतों के मध्य हुई सन्धि तक का वर्णन दिया गया है।<sup>11</sup> महाराणा राजसिंह की राजनैतिक उपलब्धियों के साथ-साथ कवि ने राजसमुद्र के निर्माण के महान् कार्य का भी विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। यह महाकाव्य 24 सर्गों में विभाजित है।

रणछोड़ भट्ट ने इस काव्य के सृजन का उद्देश्य कुछ विद्वानों ने विस्तार पूर्वक बताया है।<sup>12</sup> उनके अनुसार कवि ने उद्देश्य को उलझा दिया है, क्योंकि कवि ने सर्ग 1 श्लोक 10 में कहा है कि महाराणा राजसिंह ने माघ कृष्ण 7 वि.सं. 1719 (1 जनवरी सन् 1662 ई.) को राजसमुद्र के निर्माण की आज्ञा के साथ ही कवि को प्रस्तुत काव्य के प्रणयन की आज्ञा प्रदान की। अन्यत्र कवि ने बताया है कि महाराणा जयसिंह ने काव्य सुना एवम् इसे पाषाण पट्टिकाओं पर उत्कीर्ण करवाने की आज्ञा प्रदान की।<sup>13</sup> एक स्थान पर कवि ने कहा है कि जिस राणा ने काव्य सृजन की आज्ञा प्रदान की उसने काव्य को सुना व शिलोत्कीर्ण करवाने की आज्ञा दी।<sup>14</sup> इसके अतिरिक्त एक स्थान पर कवि ने कहा कि इस काव्य का सृजन उसने अपने भाइयों लक्ष्मण व भरत के लिए किया है।<sup>15</sup> अन्तिम सर्ग में उसने बताया है कि इस काव्य का सृजन लक्ष्मीनाथ आदि बालकों के पठनार्थ किया गया है।<sup>16</sup> कवि द्वारा प्रदत्त इन परस्पर भिन्न उद्देश्यों के कारण विद्वानों ने कहा है कि यह निश्चित करना कठिन है कि लेखक हमें क्या मानने हेतु कहता है। वस्तुतः इस शैली को ठीक से न समझने के कारण ऐसा भ्रम होता है क्योंकि कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना पौराणिक आख्यानों की शैली पर की है।<sup>18</sup> अन्तिम सर्ग में यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है, जहाँ कवि इस काव्य के पढ़ने से प्राप्त होने वाले पुण्य फलों का वर्णन करता है।<sup>19</sup> अतः कवि का मात्र उद्देश्य अपने सहोदरों अथवा लक्ष्मीनाथ आदि बालकों के पठनार्थ काव्य रचना करना नहीं रहा वरन् काव्य की रचना सर्व साधारण के लिए की गई है। जहाँ तक काव्य रचना के आरम्भ करने का आदेश का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि यह आदेश उसे अपने आश्रयदाता व काव्य के नायक राजसिंह से ही मिला था। चौबीस सर्गों में निबद्ध इस 1106<sup>20</sup> श्लोकों के काव्य की रचना में लम्बा समय लगा तब तक नायक की मृत्यु हो गई एवम् उसके उत्तराधिकारी महाराणा जयसिंह ने

काव्य से प्रभावित होकर उसे स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से शिलोत्कीर्ण करने का आदेश दिया। इस रचना में कवि ने अपना वंश परिचय भी स्थान-स्थान पर दिया है। तदनुसार रणछोड़ भट्ट कठौड़ी कुलोत्पन्न तैलंग ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम मधुसूदन तथा माता का नाम वेणी था।<sup>21</sup> अपने पिता के समान ही यह भी संस्कृत का अच्छा विद्वान था। विद्वता के कारण ही इसे महाराणा राजसिंह के दरबार में अच्छा सम्मान प्राप्त था। मधुसूदन, रणछोड़ तथा उनके परिवार के सदस्यों को मेवाड़ के राणाओं द्वारा समय-समय पर उदारता पूर्वक दान दिया गया।<sup>22</sup>

राजप्रशस्ति महाकाव्य पौराणिक आख्यान शैली का काव्य होते हुए भी निरर्थक कल्पनाओं एवम् अतिशयोक्ति में अछूता है। कवि ने काव्य-नायक राजसिंह का यथासम्भव यथार्थ इतिहास प्रस्तुत किया है, साथ ही घटनाओं की तिथियाँ देकर उसने इस ऐतिहासिक महाकाव्य को अधिक प्रामाणिक बना दिया है। इस प्रकार राजप्रशस्ति काव्य संस्कृत काव्य की एक अमूल्य निधि होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। रणछोड़ भट्ट की दूसरी रचना अमरकाव्य है। इस काव्य की रचना कवि ने राजसिंह के पौत्र अमरसिंह द्वितीय के काल में की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कवि ने सम्भवतः महाराणा अमरसिंह के जीवन काल की घटनाओं का वर्णन करने हेतु की थी, जैसा कि रचना के शीर्षक से प्रतिध्वनित होता है। लेकिन प्रस्तुत रचना में मात्र राजसिंह तक के राजाओं का ही संक्षिप्त वृत्तान्त है।<sup>23</sup> इससे प्रतीत होता है कि कवि अपनी, इस रचना को पूर्ण नहीं कर पाया था फिर भी रचना का सर्ग एवम् श्लोक कम व्यवस्थित नहीं है लेकिन काव्य सौष्टव की दृष्टि से यह राजप्रशस्ति की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। राजप्रशस्ति की तुलना में इसकी भाषा अधिक परिमार्जित एवम् प्रौढ़ है तथा विषय सामग्री भी अधिक व्यापक है। काव्य में लगभग 250 श्लोक हैं। प्रस्तुत काव्य की चार हस्तप्रतियाँ प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर शाखा में विद्यमान हैं।

राजसिंहकालीन दूसरा महत्वपूर्ण कवि सदाशिव था। सदाशिव ने राजरत्नाकार नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की।<sup>24</sup> राजरत्नाकार भी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। राजरत्नाकार की काव्य शैली राजप्रशस्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कवि का वर्णन शक्ति में अधिक सजीवता है, साथ ही शब्द योजना भी उच्च कोटि की है। कवि ने राजसमुद्र एवम् राजनगर का वर्णन अत्यन्त सजीवन और हृदयग्राही शैली में किया है। सदाशिव ने अपने इस काव्य में राजप्रशस्ति एवं अमरकाव्य के समान आरम्भ में मेवाड़ के महाराणाओं का संक्षिप्त इतिहास दिया है तदोपरान्त राजसिंह के विस्तृत इतिवृत्त का उल्लेख किया है। कवि का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाता व उसे पूर्वजों का यशगान करना रहा है। यद्यपि उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ भी दिया है, फिर भी इसकी रचना में हमें अनेक प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान भी होता है। रणछोड़ भट्ट के समान ही वह भी अपने काव्य में वंश पचियद देता है। कवि ब्राह्मण कुलोत्पन्न कृष्णजित का पुत्र तथा मण्डन का पौत्र था। सदाशिव के चारों ही पूर्वज संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। अपनी वंश परम्परा के अनुसार सदाशिव ने भी

वाराणासी में रहकर व्याकरण, गणित, छन्दशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन किया था। सदाशिव का गुरु भानुजित नामक विद्वान् था।<sup>25</sup> सदाशिव ने प्रशस्ति संग्रह नामक ग्रंथ में अनेक प्रशस्तियों का भी संग्रह किया था। इसी समय किसी लाल भाट नामक कवि ने महाराणा राजसिंह की प्रशस्ति में 101 छन्दों का राजसिंह प्रभा (प्रशंसात्मक) वर्णनम् नामक काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया।<sup>26</sup> इसी समय राजसिंहाष्टक नामक काव्य लिखा गया जिसका लेखक मुकुन्द था। इसमें आठ छन्दों में राजसिंह का प्रशस्ति-गान किया गया है। कविता की दृष्टि से यह सुन्दर कृति कही जा सकती है।<sup>27</sup>

महाराणा राजसिंह के काल में संस्कृत के समान ही हिन्दी एवम् राजस्थानी कवियों को भी आश्रय प्राप्त हुआ था। डिंगल काव्यों में प्रथम स्थान किशोरदास कृत राजप्रकाश का है।<sup>28</sup> किशोरदास दसौंथी शाखा का राव था। राजप्रकाश में कवि ने कुल 132 छन्द लिखे हैं। इनमें से प्रारम्भिक 56 छन्दों से आरम्भ से लेकर महाराणा जगतसिंह तक के महाराणाओं का संक्षिप्त वृत्तान्त है। शेष 76 छन्दों में महाराणा राजसिंह की टीका दौड़, राज्य प्रबन्ध, वैभव-विला एवम् शौर्य का वर्णन किया गया है। महाराणा राजसिंह के दरबार का चित्रण कवि ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया है। कवि ने अपने काव्य में अपनी आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है, अतः यह ग्रन्थ ऐतिहासिकता की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं वरन् समकालीन सांस्कृतिक इतिहासक की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है। इस रचना में दरबारी वैभव के साथ-साथ कवि ने सामान्य जन-जीवन पर भी कुछ प्रकाश डाला है। किशोरदास ने राजप्रकाश की रचना के अतिरिक्त कुछ डिंगल गीतों की भी रचना की थी। इन गीतों की प्रतिलिपियाँ साहित्य संस्थान, उदयपुर के संग्रह में उपलब्ध हैं।

किशोरदास के समान कवि मान ने राजविलास नामक काव्य की रचना की। ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से राजविलास<sup>29</sup> अधिक महत्वपूर्ण रचना है। जहाँ किशोरदास का उद्देश्य मात्र अपने आश्रयदाता का प्रशस्तिगान करना रहा है, वहाँ कविवर मान का उद्देश्य अपने काव्य के नायक की श्रमिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए उसके महत्व का निरूपण करता रहा है। मान की रचना शैली निश्चित रूप से राजस्थान की चारण शैली से मेल खाती है, लेकिन इसने ब्रज भाषा को अपने भाव-प्रकाशन का माध्यम बनाया है। कवि की प्रबन्ध योजना भी किशोरदास की अपेक्षा श्रेष्ठ है। समूचे इतिवृत्त को कवि ने अठारह विलासों (सर्गों) में विभाजित किया है। राजविलास में राजनैतिक इतिहास से सम्बन्धित तथ्यों के साथ-साथ सामान्य जन-जीवन की स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस काल की तृतीय महत्वपूर्ण रचना गिरधर आशिया कृत सगतरासों हैं।<sup>30</sup> सगतरासों का रचना काल संवत् 1720 (1668 ई.) के लगभग माना जाता है। इस रचना में कवि ने महाराणा प्रताप के अनुज शक्तिसिंह का चरित्र वर्णन लगभग 500 छन्दों में किया है। शक्तिसिंह के साथ-साथ प्रसंग वश कवि ने महाराणा प्रताप का भी चित्रण 74 छन्दों में किया है। इस ग्रन्थ में शुद्ध डिंगल भाषा का प्रयोग

हुआ है। दौलत विजय कृत खुमाण रासो ग्रन्थ का रचना काल भी हम महाराणा राजसिंह के काल के आसपास ही मानने हेतु बाध्य है। विद्वानों ने इसके रचना काल को अनुमानतः वि.सं. 1769 से 1790 (ई.सं. 1712-1733) के मध्य निर्धारित किया है।<sup>31</sup> लेकिन इसमें बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह के महाराणाओं का वर्णन है। यदि काव्य का रचना काल वि.सं. 1769 से 1790 के मध्य माना जाये तो राजसिंह के उत्तराधि-कारियों-क्रमशः जयसिंह व अमरसिंह का वर्णन भी होना चाहिए था।

मेवाड़ के महाराणाओं का विरूद्ध खुमाण रहा है, अतः कवि ने समस्त महाराणाओं का वर्णन करने के उद्देश्य से अपनी रचना का शीर्षक खुमाण रासो दिया है। इसका उद्देश्य किसी राणा विशेष के नाम के आधार पर ग्रन्थ लिखना प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में रचना काल वि.सं. 1760 मानने पर इस स्वभाविक शंका का समाधान नहीं हो पाता कि कवि ने राणा राजसिंह के परवर्ती राणाओं का वर्णन क्यों नहीं किया? ऐसी स्थिति में प्रस्तुत रचना को राणा राजसिंह के काल का तत्काल बाद की ही रचना स्वीकार करना समीचीन होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में संग्रहीत है।<sup>32</sup> काव्य का रचयिता श्वेताम्बर जैन तपागच्छीय साधु शान्ति विजय का शिष्य दौलत विजय है। दीक्षा लेने के पूर्व इसका नाम दलपत था।<sup>33</sup> कवि ने प्रस्तुत काव्य में शुद्ध डिंगल भाषा का प्रयोग किया है। मेवाड़ के शासकों के इतिहास की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाराणा राजसिंह से सम्बन्धित कतिपय गीतों का प्रकाशन महाराणा यश प्रकाश नामक ग्रन्थ में हुआ है।<sup>34</sup> इन डिंगल गीतों में महाराणा राजसिंह का शौर्य वर्णन एवम् उनकी कुछ विजयों का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्पादक ने गीतों का रचनाकाल व गीत रचयिताओं के नाम नहीं दिये हैं, अतः प्रस्तुत गीतों का रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है।

डिंगल एवम् पिंगल की काव्य रचनाओं के साथ-साथ इस कला में कतिपय गद्य रचनाओं की भी सृष्टि हुई थी। प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर शाखा के पुस्तकालय में कतिपय वंशावलियाँ संग्रहीत हैं। इनमें से दो वंशावलियों में महाराणा राजसिंह तक का वंश वर्णन उपलब्ध है।<sup>35</sup> इस आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि इन वंशावलियों की रचना महाराणा राजसिंह के काल अथवा उसके उत्तराधिकारी जयसिंह के माल के प्रारम्भिक वर्षों में हुई होगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि गद्यात्मक इतिहास लेखन की परम्परा का सूत्रपात मेवाड़ में इस समय तक हो चुका था।

### सन्दर्भ

1. नगरी (प्राचीन माध्यमिका) से प्राप्त शिलोलख।
2. वीर विनोद, भाग-1, पृ. 373-425, भाग-2, पृ. 53-58, 383-400
3. घोसुंडी की बावडी की प्रशस्ति, श्लोक 25, कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लोक 191-192
4. जी.एन. शर्मा सोशल लाइफ इन मेडिईवेल, राजस्थान, पृ. 268-270, 284
5. संगीतराज, संगीत मीमांसा, सूड प्रबन्ध, मेवाड़ी भाषा में रचित चार नाटक तथा संगीत



रत्नाकार की टीका।

6. जी.एन. शर्मा - राजस्थान का इतिहास, पृ. 526
7. जी.एन. शर्मा - मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 198
8. ग्रन्थ सूची, सरस्वती भण्डार, उदयपुर
9. एपिग्राफिया इण्डिका, वर्ष 29 तथा 30 के परिशिष्टांकों के रूप में प्रकाशित हुआ है।
10. इण्डियन हिस्टोरिकल रिकॉर्ड कमिशन, वर्ष 1945 में प्रकाशित जी.एन. शर्मा का लेख।
11. श्रीराम शर्मा- महाराणा राजसिंह एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 6
12. वही, पृ. 4-6
13. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 10, श्लोक 43
14. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 5, श्लोक 52
15. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 1, श्लोक 1
16. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 24, श्लोक 16
17. श्रीराम शर्मा- महाराणा राजसिंह एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 6
18. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 1, श्लोक 16-17
19. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 24, श्लोक 17-24
20. महाराणा प्रताप स्मृति अंक, मौलिक स्रोत, द्वितीय खण्ड, पृ. 20
21. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 1, श्लोक 30-31
22. राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 5, श्लोक 30,43,45,46,50, सर्ग 6, श्लोक 27,28,38,39,41,42,45 और 46
23. जी.एन. शर्मा - ए बिब्लिऑग्राफी ऑफ मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 64-65
24. वही, पृ. 65, सोशल लाइफ इन मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 254
25. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ, मौलिक स्रोत, द्वितीय खण्ड, पृ. 9
26. श्रीराम शर्मा- महाराणा राजसिंह एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 125; ओझा- उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 580
27. जी.एन. शर्मा- मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 199; राजस्थान का इतिहास, भाग 1, पृ. 527
28. जी.एन. शर्मा- मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स, पृ. 228; सोशल लाइफ इन मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 259
29. सरस्वती भवन उदयपुर में वि.सं. 1746 की हस्तलिखित प्रति।
30. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, मौलिक स्रोत, द्वितीय खण्ड पृ. 120
31. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, मौलिक स्रोत, द्वितीय खण्ड, पृ. 132; सोशल लाइफ इन मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 258।
32. जी.एन. शर्मा- सोशल लाइफ इन मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 258
33. महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, मौलिक स्रोत, द्वितीय खण्ड, पृ. 132
34. मलसीसर ठाकुर भूरसिंह शेखावत- महाराणा यश प्रकाश, पृ. 159-178 गीत संख्या 180-188
35. जी.एन. शर्मा- ए बिब्लिऑग्राफी ऑफ मेडिडैवल राजस्थान, पृ. 83-84।

## जोधपुर राजवंश की विवाह परम्पराएं (महाराजा अजीतसिंह एवं महाराजा मानसिंहजी के विशेष सन्दर्भ में) वन्दना बिस्सा

मारवाड़ में इतिहास-लेखन की सुदृढ़ परम्परा थी। पुरा लेखीय दस्तावेजों का महत्व अन्य साधनों से अधिक है क्योंकि ख्यातों और काव्यग्रंथों की कल्पना का इसमें प्रवेश पाने की गुंजाइश नहीं है। जोधपुर राजवंश बहियों का सूचीकरण किया गया है। ये बहियां राजाओं-महाराजाओं के जन्म-विवाह सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक विवरण प्रदान करती हैं। परम्पराओं का प्रामाणिक विवरण इन बहियों में प्राप्त होता है जो हमें समकालीन विवाह परम्पराओं नेग दस्तूर तथा राजपरिवारों की वैवाहिक परम्पराओं की जानकारी देते हैं। इन बहियों में महत्वपूर्ण बही महाराजा अजीतसिंह की बही में महाराजा अजीतसिंह तथा महाराजा मानसिंह की पुत्रियों के विवाह का वर्णन है। बाईजी सूरजकंवर जी के ब्याव से बही वि.सं. 1776 में विवाह परम्पराओं का वर्णन है।

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश संग्रह में 500 बहियां हैं। बही क्रमांक 833 में अजीतसिंह की पुत्री राजकुमारी सूरजकंवर के ज्येष्ठ कृष्ण 9, 1776 वि. अभयकंवर के आषाढ कृष्ण 8, 1847, महाराजा मानसिंह की पुत्रियों सिरकंवर का भाद्रपद कृष्ण 10, 1870 वि.सं., उदयकंवर का आषाढ शुक्ल 8, 1818 वि.सं. और स्वरूपकंवर का 1881 वि.सं. में हुए विवाह का वर्णन है। इस बही में विवाह में खर्च हुए रुपयों का विस्तृत विवरण दिया गया है। बही में राजघराने में सम्पन्न होने वाले राजकुमारियों के विवाह के रस्म एवं रीतिरिवाजों के बारे में व परम्पराओं का विस्तृत विवरण संलग्न है।

विवाह में बरातियों के ठहरने की व्यवस्था, उनके सत्कार, तोरण वन्दना, कन्या पक्ष के यहां माया गणेश की स्थापना, चंवरी का निर्माण, हथलेवा जोड़कर दूल्हे व दुल्हन द्वारा भांवर फेरे लेना, कन्या पक्ष की ओर से कन्यादान, प्रीतिभोज, लोक देवी देवताओं की पूजा, दहेज आभूषण, बर्तन, वस्त्र व अन्य वस्तुएं राजघराने से सम्बन्धित लोगों द्वारा कन्या व जंवाई को आभूषण व वस्त्रों की भेंट, विदाई कन्या पक्ष की ओर से सगे सम्बन्धियों देवस्थानों आदि पर मिठाइयों की थाल एवं रुपये की भेंट, ब्राह्मणों को दक्षिणा देना, मिठाइयां, वस्त्र आदि से सम्बन्धित बातों का वर्णन है। जोधपुर राजघराने के विवाह जयपुर, बूंदी, जैसलमेर, जामनगर जैसी बड़ी रियासतों से हुए। राजपूत परम्परा के अनुसार राठौड़ खांप के राजा अन्य खांपों जैसे भाटी, चौहान, सोढ़ा, कच्छवाहा, सिसोदिया इत्यादि में विवाह करते थे। सगोत्र विवाह निषिद्ध माना जाता था। राजकुमारियों और राजकुमार के विवाह की उम्र निश्चित नहीं होती थी। राजकुमारी की ग्यारह वर्ष के बाद

आम तौर पर शादी कर दी जाती थी। विवाह जैसे पवित्र बंधन के द्वारा एक राजा अपने राजनीतिक सम्बन्धों को रिश्तों का जामा पहनाता था। वैवाहिक सम्बन्ध के कारण उनके राजनीतिक सम्बन्ध मजबूत होते थे।

### राजघराने की विवाह सम्बन्धी परम्पराएं

जोधपुर राजघराने में विवाह सम्बन्धी अनेक छोटे-बड़े रीति-रिवाजों के सन्दर्भ मिलते हैं। राजवंश में लड़कियों के विवाह सम्बन्ध उच्च राजकुलों में ही तय किये जाते थे। जिस राजवंश में विवाह सम्बन्ध तय होता था वहां विवाह से पूर्व सगाई का नारियल भेजा जाता था। दूसरा उल्लेख बहियों में प्राप्त होता है। भादवा सुद 5, 1765 वि.सं. में महाराजा अजीतसिंह की पुत्री सूरजकंवर के सगाई का नारियल जयपुर महाराजा जयसिंह के लिए भेजा गया। जिसमें निम्न सामग्री थी—

नारियल दो सोने तथा चांदी से मंढ़े हुए ग्यारह सुपारियां, चांदी से मंढी हुई।

रोकड़ रुपये 1000/-

निछरावल के 500/-

नेगदारों के 500/-

सगाई के अवसर पर महाराजा जयसिंह के केसर का तिलक लगाकर अक्षत प्रोहित द्वारा चिपकाये गये।

वस्त्र, रोकड़, मिठाई, मेवा, फल, हाथी, घोड़े के साथ अन्य सामान सगाई हेतु भेजा जाता था।

बिरद विनायक-विवाह के पूर्व विनायकजी को लाया जाता था। सवा पाव मूंग गुड़ की डली मौली से बांधकर रखी जाती थी। बही के अनुसार विनायकजी के लिये खास खजाना से रोकड़ रुपया एक अन्न के कोठार से आखा मूंग घृत गुड़ श्रीफल कुमकुम चावल सुपारी इत्यादि लाये गये।

विनायकजी के लिये सूत की आटी दो और कुम्हार के लिये नेग में साफा कुम्हारी के लिए ओढ़ना घाघरा कांचली दी गई। इसका उल्लेख बही में मिलता है।

माया-माया वधू द्वारा मेहंदी लगे हाथों से निशान दीवार पर लगाये जाते थे। इसे माया मांडणा कहते थे।

बाने बिठाना या पाट बैठाने का दस्तूर-वधू को बाने बिठाने के पूर्व विनायक व माताजी को मेहंदी चढ़ाई जाती थी। बाने बैठने वाली राजकन्या लाल या केसरिया कोरवाली पोशाक पहनती थी। सुहागन स्त्रियां राजकन्या को बाजोट पर लाकर बिठाती थी और और चार सुहासने पीठी चढ़ाती थी। पीठी परम्परानुसार सर्वप्रथम पांव पर घुटनों पर, कंधों पर, और अंत में मस्तक पर चारों स्त्रियां बारी-बारी से दोनों हाथों से पीठी चढ़ाती थी।

माया-श्री सूरज कंवरी बाईसा रै ब्याव री बही में उल्लेख है कि माया थापना में कुंकुम, मोली, श्रीफल, सुपारियां, ज्वार, तिल, गुलाल, खारक, गुड़ पिसता, दाखां, बादाम गीरी, दही, मिसरी, लाल कपड़ा, चावल, सरसू आदि का प्रयोग किया गया। इसका उल्लेख श्री सूरज कंवर बाईसा रै ब्याव री बही में मिलता है।

बही के अनुसार-“श्री विनायकजी रे सामी बाजोट शादी बिछाई जिण पर श्री बाईजी लाल सा बिराजिया ने पागां हेटे व चरणां हेटे रुपया, श्रीफल धरीया, पछे पीठी रो दस्तूर डावड़ियां कियो।

छाजड़ों से दस्तूर-दो सुहागन स्त्रियां राजकन्या के सामने बैठायी जाती थी इन्हें केसरिया ओढ़ना ओढ़ा दिया जाता था। दोनों के हाथों में एक-एक छाजड़ा (सूप) होता था। छाजड़ों में रंगीन बेलन, हल्दी के सात गांठिये, मेहंदी के पत्ते, मूंग, ज्वार, चना, मोठ, सात धान रख दिये जाते थे फिर इसे बिना आवाज किये सोया जाता था।

धान को सूप या छाजड़े में डालकर रस्म करने का उल्लेख बाईजी सूरजकंवर बाईसा रै ब्याव री बही में मिलता है।

“व्यास फतेहचंद री बउ तीलक कियो। पछे धान्य चार छाज में घालने सोया।”

खोल भराई की रस्म-बाने बिठाने के पश्चात् माता या भुआ द्वारा राजकन्या की खोल भराई जाती थी। इस अवसर पर जनाना रिश्तेदार रोकड़ दस्तूर देते थे वह बाईजी लाल का होता था।

न्यौछावर के रुपये दासियों व नायण को दिये जाते थे। नेग देने का उल्लेख श्री सूरजकंवर बाईसा रै ब्याव री बही में मिलता है।

“भटीयांणीजी साहब मेलानां (महलां) री बडारणियां ने नालेर 1 (एक) दिव्यो बाई पदमावती जी ने आरती में मोहर एक 1) दीवी नै पछे व्यास जी बउ ने रुपयो नालेर एक तीलक रो दिया बडारणीया रा, पातरीयां रा नेक दियो।”

पीठी का धोना-इस दस्तूर में बाईजीलाल के हाथ व मुंह से पीठी धोकर साफ की जाती थी। पीठी धोने के पश्चात् राजकन्या के दाहिने पांव के नीचे कलदार रुपया रखा जाता था। पात्र में राजकन्या के पीठी के हाथ व पांव धुलाये जाते थे।

माहेरा-जिस रानी के पुत्र/पुत्री का विवाह होता, उसके पीहर से माहेरा (भात) आता था। इसमें कपड़े, गहने, रोकड़, पान के बीड़े, इत्र, मिठाइयों के थाल एवं घोड़े होते थे। सूरजकंवर के विवाह में इस प्रकार माहेरा आया—

सूरजकंवर के विवाह में मायरा करौली के जादव भोपालसिंह के बेटे चंद्रभाण जी आये, जिन्हें शहर में आसोप वाली हवेली में ठहराया गया।

इस अवसर पर श्रीजी (महा. अजीतसिंह) मायरा पहनने के लिए आसोप की हवेली में आये तथा चांदी के चौकी पर बैठे, जहां शामियाना लगा हुआ था। श्रीजी

(नरेश) को रोकड़ रुपये 4,000/- चार हजार नजर किये गये तथा 5,000/- की चांदी की चौकी दी गई। एक वागा, पगड़ी जरकस मदील की तथा जामा धोरादार लप्पा का एवं केसरिया रंग का कसुमल दुपट्टा भेंट किया गया। श्री भटियाणी (सूरजकंवर की माता) के लिए पोशाक एक तथा दो नारियल, चूड़ा एवं महल की अन्य स्त्रियों के लिए कांचलियां 28 दी गई।”

नगाड़खाने की पूजा-विवाह की रस्मों में नगाड़खाने की पूजा की जाती थी। नगरखाने की पूजा का उल्लेख मिलता है। सूरज कंवर बाईजी लाल रे ब्याव री बही संवत् 1776 में मिलता है।

पूजा व्यास, वेदिया, पुरोहित करते थे। नगारे की पूजा का थाल जनानी ड्योढ़ी की डावड़ियां लाती और विधिवत पूजा की जाती थी। इसका उल्लेख महाराजा मानसिंह की राजकुमारी सिरकंवर का विवाह संवत् 1870 रविवार जयपुर महाराजा जगतसिंह के साथ हुआ था, तब नगाड़खाने की पूजा हुई तथा रोकड़ दस्तूर रुपये दो खजाने से आये।

“बाईजी सरूपकंवर, राणीजी बड़ा भटियाणीजी रे बाईजी रा बूंदी रावराजा श्री रामसिंह ने परणायी, सो जान बूंदी सूं आई तरे नगरखाना री पूजा रो थाल राणीजी बड़ा भटियाणीजी रे घर सूं आये।”

गुल, घी, रोकड़ रुपया एक, श्रीफल, आखा गेहूं, कुमकुम, चावल, पुष्प इत्यादि ढोलों की पूजा सामग्री का बंदोबस्त किया गया। ढोलों की पूजा का उल्लेख इस बही में प्राप्त होता है।

“ढोलां री पूजा रो थाल खालसा री रावत री बहू लायी, लोट सरेजन ऊपर मुजब डोडीदार वारणा सूं ऊपर मुजब दा पांवडा (20 कदम) जाय ढोलां री पूजा कीवी, पछे पाछा रंगराग करता आया।”

ढोलियों को बधाने बैठाना-विनायकजी के दस्तूर के बाद नगरखाना ढोल पूजन सम्पन्न करने के पश्चात् ढोलियों नगरचियों को आदर सहित जाजम बिछाकर विवाह के गीत गाने के लिए बिठाया जाता था। ढोलणियां जनानी ड्योढ़ी पर बैठती थी।

कड़ाव की पूजा-विनायकजी को भोग लगाने से पूर्व कड़ाव की पूजा की जाती थी। कड़ाव की पूजा व्यास और राजपुरोहित करते थे पूजा के पश्चात् लापसी का थाल भरकर विनायकजी के भोग के लिये भेजा जाता था। पूजा की सामग्री में नारियल कुमकुम, मोली, चावल, फूल, पान, घी, रोकड़ इत्यादि कन्दोई को दिये जाते थे और मिसरू का थान पुरबियों को दिये जाने का सन्दर्भ मिलता है। कड़ाव पूजा की सामग्री अन्न कोठार से आती थी। पूजन का नेग कंदोइयों के चौधरी को दिया जाता था।

विनायक-लापसी भोग-विनायक लापसी जनानी ड्योढ़ी में प्रसाद के रूप में बांटी जाती थी। महाराजा अजीतसिंह की पुत्री सूरजकंवर के विवाह के अवसर पर विनायक स्थापना की 20 मन लापसी बांटी गई। इसका उल्लेख सूरज कंवर के ब्याव की बही में किया गया है।

गुड़ राजपरिवार के निकट संबंधियों राणियों, बाईजीलाल, पड़दायतों, राजपूतों की खांपों, चौहान, चांपावत, रावलोत, कूपावत, मेड़तिया, जोधा, जैतावत, करणोत, करमसोत, पातावत, बाला भाटी, सोनगरा, तुंवर, गहलोत, सिंघवी, भण्डारी, मुहणोत, मुहता, कोठारी, पंचोली, व्यास, श्रीमाली में बांटा गया।

खवास, पासवान, धांधल, बणियार, ढोली को बांटा गया। शुभ अवसर पर राजघराने के नौकरों को भी गुड़ दिया जाता था। दसनियां नाईनों गीत गाने वाले स्त्रियों ढोलणियों को भी गुड़ बांटा गया था। उकरड़ा नेतण री परम्परा-जोधपुर राजघराने के रीति-रिवाजों में ‘उकरड़ा’ नेतणे की रिवाज था। उकरड़ी कचरे का ढेर होता था क्योंकि कचरे पर ही कचरे डाला जाता था इसलिए ‘उकरड़ी बधे ज्यूं बधजो’ का आशीर्वाद दिया जाता था। मुगधणा बधाने का रिवाज-मुगधणा भोजन पकाने के लिए लकड़ियां जो विनायक स्थापना के पश्चात् लाई जाती थी। विवाह मंडने के बाद पहली बार जो रसोई में लकड़ियां जलाने के लिए लाई जाती थी। मुगधणा लाने वाले को गाजे बाजे के साथ बधाया जाता था। कुंकुम का तिलक लगाकर मोली व साफा पहनाया जाता था। इसका सन्दर्भ 1776 सूरज कंवर बाई रे विवाह री बही में मिलता है। गजानंद की पीठी-राजकन्या का विवाह हो तो पीठी चढ़ाने के बाद वे बाहर नहीं जा सकती थी। गजानंदजी और बाईजीलाल को पीठी चढ़ाई जाती थी। विवाह के दिन ही बाईजीलाल व गजानंदजी की पीठी उतारी जाती है। बड़बेड़ा तोरण, लाया जाता था थंब को रेत को पीपे में भरकर स्थापित कर दिया जाता था। तेल की पीठी उतारना व अठाल दस्तूर-पीठी घी से चढ़ाई जाती थी लेकिन विवाह के दिन पीठी तेल से उतारी जाती थी। अठाल दस्तूर के दिन महाराजा महारानी अपनी पुत्री के केशों में चांदी के प्याले में कच्चा दूध पानी मिलाकर डालते थे महाराजा चांदी के कंधे को अपनी पुत्री के बालों में फेरने का दस्तूर करते थे। नायन दस्तूर के बाद पीतल की परात, कांगसी मेट से केशों को धोती थी। नेग के रूप में रुपये नायन व रावतानी को दिये जाते थे। उसमें भी रोकड़ कलदार रुपये डाले जाते और वह नेग के रूप में नायन को दिये जाते थे।

मेहंदी का तेड़ा (निमंत्रण)-हर शाम जनाना सरदारों में मेहंदी घुमाई जाती थी, जिसे मेहंदी तेड़ा कहा जाता था, इस तरह जनाना सरदारों की विवाह वाले घर में शगुन के गीत गाने एवं वैवाहिक उत्सवों में आने का निमंत्रण दिया जाता था।

बंदोला-हर रात जनानी ड्योढ़ी में बंदोलों का आयोजन होता था। इसका उल्लेख बही में किया गया है। बही के अनुसार सगे सम्बन्धियों द्वारा बंदोला या बनोले दिये गये थे, नववधू को भोजन के लिये आमंत्रित किया गया था। “बाईजी श्री सूरजकंवर बाईजी रा ब्याव रा वनोला आया तीणरी बीगत गाजे बाजे गीत रांवता तलटी ऊं ऊपर आया राणीजी भटियाणीजी रे घरा आया।

मेला सायबा रा आया

राणी जी श्री राणावतजी री तरफ सु”

पडला बधाना-पडला में वर पक्ष की तरफ से फेरों के पूर्व वस्त्र, आभूषण, चूड़ा तथा अन्य सुहाग चिह्न आते थे। श्री सूरजकंवर बाई सा रै ब्याव री बही में पडले में जयपुर से आये वस्त्रों के नाम कीमत एवं पारम्परिक रंगों के नामों की विस्तार से जानकारी मिलती है। साड़ियों के पहनने की जानकारी भी मिलती है।

वागां री विगत में-गाघरो लालपटी लाल सजा व मांयली पीसता की लाल जरी री कीमत रुपया 66)

- गाघरो पारचा वो मूंगी बणारसी

1 साड़ी जरी री लाल विगत 76) रुपया

गहनों का उल्लेख "1 बोर जड़ाव रो कीमत 15/- रुपया

1 माला न एक हीरा रो 1 मोती नीचे घड़ीया री जोड़ी, हीरा माणक पन्ना कीमत 200) रुपया

नौसर हार मोतीयां रो सात लड़ रै।"

बही में वस्त्रों, गहनों और उनकी कीमत का उल्लेख है।

माया के कमरे में चूड़ा धारण-राजकन्या को स्नान के पश्चात् माया के कमरे में विनायकजी के सम्मुख बिठाकर चूड़ा व मूठिया धारण करवाया जाता है। मूठिया पहले दाहिने हाथ व बाद में बायें हाथ में सुहागन स्त्रियों द्वारा बाईजीलाल को धारण करवाया जाता है।

कांकण डोरड़ा - बाईजीलाल को कांकण डोरड़ा धारण करवाने का संदर्भ मिलता है।

तोरण-किले में राजकुमारियों के विवाह के समय तोरण बांधे जाने का उल्लेख मिलता है।

कांकड़ सामेला-बारात आने पर श्रीजी साहब, महाराज, सरदार, रावराजा, सिरायत, जागीरदार, मुत्सद्दी, एहलकार शहर से दूर बारात की अगवानी करते थे। जिसे कांकड़ सामेला कहा जाता था।

मिलनी दस्तूर व सांमेला-महाराजा अजीतसिंह की राजकुमारी का विवाह के समय बारात सूरसागर ठहरायी गयी थी। बारात ने फतेह पोल से किले में प्रवेश किया था। बारातियों का इत्र पुष्पमालाओं से स्वागत किया जाता था। महाराजा ने दूल्हे पर न्यौछावर किया। बारातियों से मिलकर मिलनी का दस्तूर किया। महाराज मिलनी के पश्चात् जंवाई को सिरोपाव नजर करवाते थे। मिलनी से पूर्व दूल्हे का घरियां व दासियों मंगल गीतों से स्वागत करती थी। दूल्हे की तरफ से सामेला में दासी के सिर पर चांदी का कलश होता था। कलश के मुंह पर मौली व ऊपर श्रीफल रखा जाता था। दूल्हे की तरफ से सामेले के कलश में रोकड़ दस्तूर किया जाता था। बही में जैसिंधजी द्वारा 20) डालने का उल्लेख है।

तोरण का दस्तूर-तोरण पर जंवाई द्वारा तलवार एवं छड़ी से हाथी पर बैठे हुए तोरण का दस्तूर करता था। दूल्हे के हाथ में एक हरी डाली होती थी। डाली माली द्वारा लायी जाती थी। तोरण खाती द्वारा लाया जाता था। तोरण दस्तूर के समय नाई तोरण को नीचे लटका कर रखता था ताकि दूल्हा सुविधापूर्वक अपनी तलवार से तोरण को छू सके। तोरण दस्तूर का उल्लेख श्री सूरज कंवर बाईसा रै ब्याव री बही में मिलता है।

"महाराजा जैसिंधजी रै ई लगन में मोहरें 2) रुपये घालियो (पछूं तोरण) रूपा रो बंधियो जो सुं तोरण ऊंचो ने राजाजी रे असवारी छोटी तिणसुं राजाजी अंबाड़ी बारै अने छड़ी तोरण सामां चलायी।

जंवाई को तोरण दस्तूर के पश्चात् जनानी ड्योढ़ी में ले जाया जाता था। उस समय महाराजकुमार को बरातियों के साथ आवश्यक रूप में बैठना पड़ता था। बही में सूरजबाई कंवर के भाई किशोरसिंधजी को बरातियों के साथ बैठना पड़ा। पडला लेने जाने बधाने का उल्लेख बही में मिलता है। "पडलो लेने व्यास फकीरचंद आयो तिणां ने रुपया 100) एक सौ दिराया।" पडला बधाने का नेग देने का रिवाज था। बरातियों का स्वागत-सूरज कंवर बाईसा की शादी में बरातियों का स्वागत केसर के पानी में छिड़काव किया गया था। महाराजा अजीतसिंह ने बरात को सूरसागर में ठहराया था। बारातियों के लाडकोड करने के लिए सूरसागर डेरे पर 40 घड़े केसर के भेजे गये थे।

सासू आरती-परदा प्रथा के कारण पुराने जमाने में राजपरिवार की महिलाएं जनानी ड्योढ़ी से बाहर नहीं आती थी, इसलिए महारानी के बदले सासू आरती पुरोहितानी जी द्वारा करने का रिवाज प्रचलित था। संवत् 1776 में सूरजकंवर बाईजीलाल के विवाह के समय तथा 1881 में बाईजीलाल स्वरूपकंवर का विवाह महाराजा रामसिंहजी बूंदी से हुआ था। तब 30 सोने की मोहरें प्रदान की गई थी।

सासू आरती के समय जंवाई को चांदी की चौकी या बाजोट पर खड़ा करके आरती की जाती थी।

सूरज कंवर बाईजीलाल के समय सासू आरती में 30 मोहरें दी गई थी।

आरती के बाद झेरना, नेतरा, बाड़ला, पूखणियों से पूखा जाता था।

बड़ी आरती-बड़ी आरती कन्यादान करने वाला करता था। मारवाड़ में राजकुमारियों का कन्यादान कई बार राजपुरोहितानी द्वारा किया जाता था। आरती के पश्चात् जंवाई थाल में रोकड़ रखता था जो आरती करने वाले के पास जाता था। दही दस्तूर-दाहिने हाथ की हथेली से सासू जंवाई के ललाट पर दही लगाये जाने का रिवाज था। चांदी का रुपया भी दही के साथ ललाट पर लगाने का दस्तूर था। दही लगाने के तुरन्त बाद जंवाई का नाक खींचने का दस्तूर भी किया जाता था।

झिलमिल आरती-इस आरती को करने का प्रयोजन जंवाई का नजर उतारना था।

बही में आरती का उल्लेख मिलता है।

मोतियां रा आषा चढाया नै आरती किवी। जिलमिल आरती में मोहरा बीस राजा जैसिंघजी घालिया। काकण डोरड़ा मौड़ बंधन, गठजोड़ा ने पड़ले के साथ आता था।

हथलेवा-दूल्हा-दुल्हन का हस्त मिलाप माया के कमरे में जोशी द्वारा करवाया जाता है। दुल्हन के दाहिने हाथ में कुमकुम से स्वास्तिक बनाया जाता था। मेहंदी चांदी का कलदार रुपया रखकर दूल्हे का दाहिने हाथ दुल्हन के हाथ से जोड़कर हस्तमिलाप किया जाता था। सूरज कंवर बाईजी लाल रो ब्याव री बही में इसका उल्लेख मिलता है। हथलेवा का दस्तूर होता था। चंवरी के मंडप के चारों कोनों पर पीतल, तांबा या मिट्टी के कलश रखे जाते थे। उसके ऊपर वाले कलश में मूंग व गुड़ डालकर ऊपर केसरिया कपड़ा बांधा जाता था। चंवरी की सजावट माली करता था।

नेग के रूप में उसे गेहूं, नारियल, गुड़, साफा दिया जाता था।

विवाह लगन-चंवरी में दूल्हा दुल्हन के लिये गादी समेत दो बाजोट लगाये जाते थे। दुल्हन को दूल्हे के दाहिने तरफ बिठाया जाता था। सूरज कंवर के विवाह में कन्यादान राजघराने के सगे सम्बन्धियों तथा कुछ विशिष्ट नौकरों द्वारा किये जाने का उल्लेख है।

चौथे फेरे के पश्चात् दूल्हा दुल्हन के बाजोट को बदल दिया जाता था।

फेरों के पश्चात् हथलेवा छूटने के बाद तथा कुंटुंबी कन्यादान में रोकड़ दस्तूर का उल्लेख मिलता है। बही में उल्लेख मिलता है कि महाराजा द्वारा गरुदान किया गया।

बही में उल्लेख है कि पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ तब उनकी आरती उतारी गयी। आरती में बारह सोने की मोहरें तथा सौ रुपये डाले गये वर वधू को देवस्थानों की जात (परिक्रमा) दिलवायी गयी। देवताओं को भेंट रखी गयी। बही में इसका उल्लेख किया गया है।

माया की पूजा करने पर कन्या पक्ष की ओर से जयसिंह के पुरोहित को दो सोने की कटारियां भेंट की गईं।

जयसिंहजी को निम्न आभूषण देने का उल्लेख है।

2 जीनोई दीया सोनेरा

1 मोती, सोना रा बाला

1 बींटी जड़ाव री

प्रीतिभोज-प्रीतिभोज में लड्डू, घेवर, मावे की मिठाइयां, दही पुड़ीयां आदि बनाई गईं। बारात के साथ मिठाई भेजी गई।

सीरावणी राजा जैसिंघजी नुं भेंट लीया तीणरी विगत तोला 29 रो जेठ बद 10

राजा जैसिंघ ने मिठाई नग दस विवाह के इस अवसर पर राजघरानों, सामन्तों, उमरावों, राजपूतों की विभिन्न खांपों के लोगों, नौकरों आदि की मिठाइयां के थाल भेंट

किये गये। इस अवसर पर राजघराने के सम्बन्धियों, सामन्तों, उमरावों, राजपूतों की विभिन्न खांपों के लोगों, राज के नौकरों आदि को मिठाइयों के थाल भेंट किये गये। बही से एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

उमरावां रे मीठाई

3।।।) खांप चांपावत रे मीठाई

1) रगहर नाथ आईदानोत

1) मगसिंह भगवानदासोत

1) बीजेसिंघ सबलसिंघोत

72) सूरजकरण आसथानोत रो

11) फेर आसीस नीवत

दहेज या दायजा-राजकुमारियों को दायजा दिया जाता था तथा उसे उसका प्रदर्शन बरात वालों के सामने किया जाता था। बाईजी लाल सूरज कंवर के विवाह की बही में महाराजा अजीतसिंह द्वारा जो स्वर्ण आभूषण दिये गये उसका विवरण मिलता है। बही के अनुसार बाईजी श्री सूरज कंवर को बहुत सा दहेज दिया गया। जड़ाव सोने व चांदी के आभूषण दिये गये। सोने-चांदी के बर्तन दिये गये। इसके अतिरिक्त हीरे पन्ने व जवाहरात भी दिये गये। आमेर नरेश सवाई राजा जयसिंहजी को भी बहुमूल्य आभूषण व वस्त्र भेंट किये गये। इन सबके अतिरिक्त हाथी, घोड़े, बैल व ऊंट भी दिये गये। सूरज कंवर को जड़ाव के निम्न आभूषण दिये गये-नथ, नवसरहार, कांकण, बींटियां, टीका, घड़िया, दुगदुगी जड़ाव की आदि। इन सब आभूषणों में हीरे पन्ने व मोती जड़े हुए थे।

बाईजी साहिबा को दहेज में बहुत से कीमती सोने-चांदी के बर्तन दिये गये। थाल, बाटका, जरजरीतो, कलसिया, डबियां आदि सोने के और थाल, बाटका, बाटकियां, रकेबी, पानदान, चरियां, कुंडी, बाजोट, प्याला, पीलसोत, पीकदानी, गुलाबदानी, मुतगां, चकलोतो, बेलण, चमचा, कलसिया, कूड़चिया, घड़ा, कुड़िया, चालणी आदि चांदी के बर्तन। बही में चांदी के बर्तनों का उल्लेख द्रष्टव्य है-

रूपा रा

1 थाल तोला 173।।/2

9 बाटका बाटकीया तोला 112।।/2

जयसिंहजी व उनके परिवार वालों को कपड़े देने का उल्लेख भी द्रष्टव्य है-पाघें पोतिया, बालाबंदी चूंदड़ियां, जरी की पाघें, जनाना जरी के वेश, केसरिया साड़ियां, जरी की पाघें, जनाना री जरी के वेश, केसरिया साड़ियां, लहंगा, कांचलिया आदि।

बही में ऐसे वस्त्रों का उल्लेख इस प्रकार है। तकीया बड़ी गादी मखमल का गदरा आदि बिस्तर दिये गये। दहेज में पशु धन देने का भी उल्लेख हुआ है-

2 हाथी

40 घोड़ा सोने की सागत रा-20 रूपा की सागत रा-20

1 रथ

1 बहेल 1 ऊंट

इस बही के अनुसार संवत् 1947 की आषाढ बदी 8 को अभयकंवर का प्रतापसिंह जी के साथ संवत् 1870 की भादवा सुदी 10 को महाराजा मानसिंहजी की पुत्री सिरिकंवर का जयपुर के राजा जगतसिंह के साथ, संवत् 1818 की आषाढ सुद 8 को उदयकंवर का बूंदी के हाड़ा उम्मेदसिंह के साथ, संवत् 1881 में स्वरूपकंवर का विवाह बूंदी के राजा रामसिंह के साथ सम्पन्न हुआ। ये सभी विवाह राजघराने के उन्हीं रीति-रिवाजों के साथ सम्पन्न हुए हैं जिन रीति-रिवाजों के साथ महाराजा श्री अजीतसिंहजी की पुत्री सूरजकंवर का विवाह हुआ।

राजकुमारी स्वरूप कंवर को दहेज में दिये गये आभूषणों का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

श्री बाईजी श्री सरूप कंवरजी रे दायजो दिरीजियो संवत् 1891 रा फागण सुद 1  
4 रावराजा जी रे रकमां जड़ाऊ

1 चोकड़ी 1 मोतीयां रो में मोती 4 चुनी 2 बड़ा कीमत 600) बा. रतन चंद रो  
खरीद फागण बद 6

परम्पराओं के अनुरूप मांग दस्तूर, ध्रुव तारा दर्शन, सासू पल्ला दस्तूर, कन्यावल तणी खोलने का दस्तूर किये जाते थे।

बाईजी लाल की चंवरी से विदाई के समय ड्योढ़ी की पूजा स्वास्तिक बनाकर की जाती थी। सीख विदाई के समय महारानी-महाराजा द्वारा बाईजी लाल को आशीर्वाद देते थे। लग्न के पश्चात् जनवासे के लिए विदा होने का वर्णन प्राप्त होता है। रिवाज के अनुसार जनवासे तक नाजर, ड्योढ़ीदार, राणीमंगा, वांकानवेश, नायन, खालसा वालियां, इत्यादि जाती थी तथा उन्हें इनाम जंवाई की तरफ से दिया जाता था।

बहियों से प्राप्त विवरणों से रीति-रिवाजों तथा उनके सामाजिक तथा समकालीन राजनीतिक परिवेश का ज्ञान प्राप्त हुआ जो सामाजिक व्यवस्थाओं विभिन्न जातियों के महत्व तथा समाज के सभी वर्गों को समान महत्व तथा उनके कार्यों की महता का पता चलता है। विभिन्न कार्यकलाप राजवंश, जमींदारों, सामन्तों, खांपों, विभिन्न वर्ग के मध्य समन्वय को इंगित करता है। बही में अंकित खर्च, दायजा, विभिन्न नेक दस्तूर के दिये गये रोकड़ राज्य का आर्थिक समृद्धि बताते हैं। बहियें ऐतिहासिक जानकारी का सर्वाधिक विश्वसनीय दस्तावेज है। हमारे प्राचीन इतिहास व परम्पराएं किस प्रकार थी और वर्तमान में क्या स्वरूप है। परम्पराओं के सामान्य व विशेष में अन्तर था। इसकी जानकारी प्राप्त होती है।

## सूरज कंवर बाईसा के व्याह की बही का विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ. किरण शेखावत

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश में संग्रहीत बहियों में राजपरिवार में होने वाली शादियों का खर्चा, तत्कालीन वैवाहिक रीति-रिवाजों की जानकारी जैसे-सगाई दस्तूर, टीका, पंचमासी, देवी-देवताओं की भेंटें, अगरणी इत्यादि की जानकारी है। इन बहियों में विवाह की सबसे पुरानी बही यहां 1776 की है जिसमें महाराजा अजीतसिंह (1709-1724 ई.) की पुत्री सूरज कंवर बाईसा का आमेर नरेश सवाई राजा जयसिंह जी के साथ हुए विवाह का वर्णन है। इस बही में महाराजा श्री अजीतसिंहजी की राजकुमारी सूरज कंवर के विवाह का विस्तृत रूप से उल्लेख हुआ है। इनका विवाह संवत् 1776 की ज्येष्ठ बदी 9 को सवाई राजा जयसिंह आमेर नरेश के साथ हुआ तथा डेरा (बारात के ठहरने का स्थान) सूरसागर के पास रखा गया। राजस्थान में विवाह के मुहूर्त एवं सम्पन्न होने के पूर्व तक गुड़ बांटने की परम्परा रही है। सूरज कंवर के विवाह के मुहूर्त पर भी गुड़ बांटा गया। गुड़ राजघराने के निकट सम्बन्धियों, रानियों, पड़दायतों, राजकुमारियों, राजपूतों की विभिन्न खांपों के विशिष्ट व्यक्तियों, जैन, ब्राह्मणों, खवास, धांधल, पणियार, ढोली, राजघराने के नौकरों, नाजर, पासवानों, दरजनियों, नाईनों, गीत गाने वाली स्त्रियों को भी बांटा गया। इस बही में विवाह मुहूर्त से लेकर विनायक पूजा, बनोला, तोरण बन्दना, फेरे, देवस्थानों पर जात देना, दहेज, आभूषण व भेंट आदि का भी वर्णन किया गया है। विवाह के मुहूर्त पर सर्वप्रथम विनायकजी (गणेशजी) की पूजा की गयी। कुम्हार के घर जाकर विनायक जी की मूर्ति लाई गई। वहां उसकी चाक की भी पूजा की गई। कुम्हार को नेग में गेहूं का दलिया चावल, कुकुंम, मैदा, गुड़ नारियल आदि दिये गये।

विनायकजी की पूजा कर सूरज कंवर के हाथों में कांकण डोरे बांधे गये। उन्हें पाट पर बिठा कर घी पिलाने की रस्म पूर्ण की गयी। तत्पश्चात् उनके तेल पीठी चढ़ायी गयी। इस अवसर पर नव वधू को निजर निछरावल कर के रुपये भी भेंट किये गये। इस अवसर पर राजघराने के नौकर की स्त्री ने निछरावल की उसका वर्णन भी बही में मिलता है। इससे पता चलता है कि उस समय नौकरों को भी पारिवारिक सदस्य माना जाता है। इस रस्म के बाद सभी जगह विनायकजी लापसी बांटी गई। बही में गढ़ ऊपर लापसी पर खर्च हुए रुपयों का विवरण भी मिलता है। इसके बाद माया मांड कर उसकी पूजा की। हवन में निम्न सामग्री काम में लाई गयी यथा कुंकुंम, मोली, श्रीफल, सुपारियां, ज्वार,

तिल, घी, गुलाल, खारक, गुड़, पिस्ता, दाखां, बादाम, गीरी, दही, दूध, मिसरी, लाल कपड़ा, चावल, सरसू आदि। तत्पश्चात् रात्रि जागरण दिया गया। उसमें विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की गयी। बही के अनुसार सगे सम्बन्धियों द्वारा बनोले दिये गये। विवाह के अवसर पर विशाल मण्डप बनाया गया। बही में चंवरी सजाने का भी उल्लेख है। तोरण वन्दन की रस्में दूल्हे के शक्ति परीक्षण के लिए की जाती थी। सूरज कंवर के विवाह के अवसर पर भी सवाई राजा जयसिंह जी ने तोरण की वन्दना की। तोरण वन्दना के पश्चात् चंवरी में सूरज कंवर व जयसिंह का हथलेवा जोड़कर विवाह सम्पन्न कराया गया। आरती में उन्होंने बारह सोने की मोहरें व एक सौ रुपये डाले। इसके बाद वर-वधू ने विभिन्न लोक देव स्थानों की जात दी। वहां रुपये भेंट किये। माया की पूजा करने पर जयसिंहजी के पुरोहित को कन्या पक्ष की ओर से दो सोने की कटारियां भेंट की गयी।

जयसिंह जी को भी विभिन्न आभूषण व वस्त्र भेंट किये गये। प्रीतिभोज के लिए लड्डू, घेवर, मावे की मिठाइयां, दही थड़ियां आदि बनाई गई। बारात के साथ भी मिठाई भेजी गयी। उसका विवरण भी बही में मिलता है। इस अवसर पर राजघराने के सम्बन्धियों, उमरावों, राजपूतों की विभिन्न खांपों के लोगों, राज के नौकरों आदि को मिठाइयों के थाल भेंट किये गये। बही के अनुसार बाईजी श्री सूरज कंवर के बहुत सा दहेज दिया गया। जड़ाव सोने व चांदी के आभूषण दिये गये। सोने चांदी के बर्तन दिये गये। इनके अतिरिक्त हीरे पन्ने व जवाहरात भी दिये गये। आमेर नरेश सवाई जयसिंहजी को भी बहुमूल्य व आभूषण व वस्त्र भेंट किये गये। इन सबके अतिरिक्त हाथी, घोड़े, रथ, बैल व ऊंट भी दिये गये। बाईजी साहिबा को दहेज में बहुत से सोने व चांदी के आभूषण जैसे बाजूबंद, गुजरिया, तिमणियां, बीटियां, मालाएं, काकणियां आदि कीमती बर्तन जैसे थाल, बाटका, जरजरती, कलासिया, पावदान, डलिया, बाटका, बाटकियां, पानदान, बाजोट आदि। जयसिंहजी व उनके परिवार वालों को कपड़े देने का उल्लेख भी बही में मिलता है जैसे पाघें बालाबंदी, चूंदड़ियां, जरी के पाघें, लहंगा, काचलियां आदि। इस बही से हमें तत्कालीन समाज की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, प्रशासनिक, सांस्कृतिक स्थिति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। यह बही तात्कालिक रीति-रिवाजों, परम्पराओं, मण्डप, तोरणादि कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

**आर्थिक महत्व**-सूरज कंवर बाईसा के विवाह के समय मारवाड़ राजघराने में अनेक कारखाने थे। इन कारखानों में नियुक्त व्यक्तियों ने इस विवाह में अपना पूर्ण सहयोग दिया जिसके बदले इन्हें नेग व ईमान इत्यादि प्रदान किये गये इस विवाह के अवसर पर कपड़ों के कोठार से न केवल राज परिवार के लिए वस्त्र तैयार किये गये अपितु राजमहल में कार्यरत सभी कर्मचारियों के लिए भी कपड़े बनवाये गये। देवी देवताओं के वस्त्र तैयार करने का कार्य भी दिया गया। इस तरह वागा के कोठार में जहां रानियों के वस्त्र सिले जाते थे सूरज कंवर बाईसा के विवाह के अवसर पर अलग-अलग रंग व प्रारूप के वस्त्र तैयार किये गये इन पर रानियों की पोशाकों में विशेषकर सोने,

चांदी के धागों से कसीदाकारी, तारकशी, गोटा किनारी, कलाबतू, सलमा-सितारा आदि लगाये गये। इस विवाह के अवसर पर तातेड़खाना तथा अबदानखाना से सुगंधित इत्र व गुलाब-जल तैयार करवाया गया। जवाहरखाने से न केवल सूरज कंवर बाईसा अपितु अनेक रानियों व महारानियों के लिए गहने बनाये गये। विवाह के लिए मांडे बरसाने के लिए हलके स्वर्णफूलों का निर्माण भी यही करवाया गया। फराशखाना में इस विवाह के लिए तंबू, कनोत, दरियां, जाजम तैयार करवायी गयी जो विवाह के अवसर काम में ली गयी। इस अवसर पर तंबोलखाना में कार्यरत सभी कर्मचारियों को बारातियों के स्वागत के लिए पानसुपारी, ईलायची आदि मुखवास की सामग्री विशेष तौर पर तैयार करने के लिए कहा गया। साथ ही उन पंडितों व ज्योतिषियों को भी दक्षिणा दी जाती जिन्होंने विवाह से सम्बन्धित नेगाचार किये थे।

**सामाजिक महत्व**-इस बही से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। इस बही के अध्ययन से पता चलता है कि राज वर्ग व आम जनता के बीच किस तरह के सामाजिक सम्बन्ध थे तथा समाज के विभिन्न लोगों द्वारा इस विवाह में किस प्रकार का योगदान दिया गया। उदाहरण के तौर पर विनायकजी की स्थापना के विवरण में बताया गया है कि विनायकजी की मूर्ति कुम्हार के यहां से लाकर स्थापित की गई। इस अवसर पर राज परिवार से महिलायें जाकर कुम्हार के चाक की पूजा कर फिर वहां से विनायकजी लेकर आती थी। इससे सामाजिक सौहार्द में वृद्धि होती थी, इसी तरह सुथार द्वारा तोरण का निर्माण किया जाता था जिसका राजा स्वयं नेग प्रदान करता था। इसी तरह जब बारात नगर में प्रवेश करती तब केवल राज परिवार के लोग ही नहीं अपितु आम व्यक्ति उनके स्वागत के लिए खड़े रहते थे। इससे हमें राज परिवार व आम जनता के बीच भावात्मक सम्बन्ध के बारे में जानकारी मिलती है। विवाह के प्रत्येक मांगलिक कार्य पर गुड़ बांटा जाता था। यह गुड़ केवल राजपरिवार के लोगों में ही नहीं, अपितु वहां उपस्थित सभी लोगों जैसे राजरानियों, राजकुमारियों, राजकुमारों, राजमाताओं, पासवानियों, खवासनियों, खालसा की सहेलियों, महलों की पड़दायतियों, बडारणियों, विभिन्न कारखानों के अधिकारियों और कर्मचारियों, मोची, मेहतारों, छीपों, वैद्य आदि सभी को दिया जाता था, जिससे यह स्पष्ट है कि बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी लोगों को विवाह में आमंत्रित कर उन्हें गुड़ बांटा जाता था।

**प्रशासनिक महत्व**-सूरज कंवर बाईसा के विवाह की इस बही से तत्कालिक प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी मिलती है। इस बही से न केवल राजकीय विभागों व विभागाध्यक्षों, प्रमुख अधिकारियों व कर्मचारियों की संख्या अपितु उनके नामों का उल्लेख भी मिलता है। बही से पता चलता है कि इस विवाह के अवसर पर प्रत्येक कर्मचारी को किस प्रकार का कार्य व जिम्मेदारी दी गयी। पुरुष कर्मचारी ही नहीं अपितु जनानी ड्योढ़ी की महिलाओं द्वारा भी यह कार्य किया गया। उदाहरण के तौर पर बडारण विवाह के इस मौके पर जनाना महल में प्रवेश करने वाली प्रत्येक स्त्री की सूची बनाया करती थी।

**सांस्कृतिक महत्व**—इस बही में विवाह संस्कारों के जिन विधिक्रमों का वर्णन मिलता है वह वैदिक परम्परा सभी लोगों में समान दिखती है। चाहे वह सामान्य जन हो या कोई राजा या महाराजा। इस बही से पता चलता है कि सूरज कंवर बाईसा के विवाह के अवसर पर उन सभी वैदिक कर्मकाण्डों को निभाया गया जो हमारी संस्कृति की पहचान हैं चाहे वह विवाह के लिए बनवायी गयी वेदी को निर्माण हो या उस पर बनाये जाने वाला मंडप। इन मंडपों में प्रयुक्त खम्भों को दृढ़ता प्रदान करने के लिए खम्भों पर आम, केले, बांस के पत्तों को लपेट कर बांधन व सजाने तथा द्वार आदि निर्माण में विधान परिजात नामक निबंध ग्रंथ और कुण्ड मंडप सिद्धि जैसे ग्रंथों के नियमों की अनुपालना तात्कालिक शास्त्रीय ज्ञान के साधारण जन में स्थिति को दर्शाता है। मंडप के ऊपर काष्ठ निर्मित कलश की स्थापना मंडपायन की छावन में खुवारा वृक्ष की शाखाओं तथा सिंदूरी रंग में रंगी सींदरी (रस्सी) के प्रयोग की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है एवं जोधा चौक के अलावा लोहापोल, मरदाना ड्योढ़ी, सिंदूरिया पोल, जनानी ड्योढ़ी और नागणेची माता के थान पर भी तोरण स्थापित किये गये थे। इन तोरणों की प्रमुख विशेषता यह थी कि ये सभी चांदी के बने हुए थे तथा इन तोरणों में मंगल कर्ता श्री गणेशजी की मूर्तियां और चोखटों में प्रतीक चिह्नों के रूप में कमल, सरू, छोतरे, तोते, मोर, केल, मोगरी, पुष्पजाली, महाराब, गुडहल, पुष्प, कमल कलियां आदि अलंकरणों से सजावट की गयी जो तात्कालिक कुशल कर्मकारों की अत्यधिक उच्च कल्पनाशीलता व रचनाधर्मिता का परिचय देती है। इस बही से पता चलता है कि उस समय विवाह के अवसर पर मांगलिक कार्य पर विशेष गीत गाये गये।

**धार्मिक महत्व**—इस बही से पता चलता है कि विवाह सम्पन्न होने के बाद दूल्हे व दुल्हन ने हाथी की सवारी पर विभिन्न देवताओं, देवियों व लोक देवी-देवताओं की परिक्रमा व पूजा की, इसमें गणेशजी, कालका माताजी, रामदेवजी, पाबूजी, गुंसाईजी, मल्लीनाथजी, गोगाजी, मेहाजी, चावंडाजी, रामचन्द्रजी, महादेवजी, ब्रह्माजी आदि प्रमुख थे। इन सभी को रुपयों की भेंट चढ़ाई गई। देवस्थानों में सतियोंजी, सीतारामजी, सदाशिवजी, नागणेचीजी, चावंडाजी, हिंगलाजजी आदि के मंदिरों में मिठाइयों के थाल एवं रुपये भेंट किये गये। विभिन्न देवियों के वस्त्र व आभूषण चढ़ाये गये तथा देवताओं से आशीष प्राप्त की। देवताओं की यह पूजा आज भी प्रत्येक दूल्हा-दुल्हन द्वारा विवाह के पश्चात् की जाती है। इस बही में राजघराने में सम्पन्न होने वाली विवाह रस्म का बड़े सुन्दर ढंग से विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार हम विवाह रस्म पर राजघराने में सम्पन्न होने वाले रीति-रिवाजों का बहुत ही बारीकी से अध्ययन कर सकते हैं। विवाह संस्कार राजस्थानी संस्कृति के वैशिष्ट्य का प्रमुख अंग कहा जा सकता है। वास्तव में इस बही में विवाह संस्कार का अच्छा वर्णन हुआ है। इससे राजघराने के लोगों को सामाजिक जीवन व सामान्य जनता के साथ व्यवहार प्रमुख रूप से उभर कर आया है।

## ओहदादारी का स्वरूप (मारवाड़ के सन्दर्भ में)

डॉ. संजय कुमार

विभिन्न तंत्रों-एकतंत्र से प्रजातंत्र तक राज्य को एक ऐसे संगठन की आवश्यकता रही है जिसके अन्तर्गत शासक की आज्ञाओं और राज्य की नीतियों का पालन कराया जा सके। इसलिये राज्य की उत्पत्ति के साथ ही ओहदादार/अधिकारी वर्ग/नौकरशाही का भी अनादिकाल से चोली-दामन का साथ रहा है। राज्य को व्यवस्थित रूप में रखने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है और इसीलिए सम्पूर्ण इतिहास के अनेकानेक चरणों में ये संस्था बनी रही। राज्य के बदलते मापदण्डों के आधार पर जो समयानुसार राजा के आदर्शों के अनुरूप बदलते रहे उसी अनुपात में ओहदादारी का स्वरूप भी बदलता रहा। ओहदादार<sup>1</sup> अरबी भाषा के उहद (नैक) तथा फारसी के कंत को मिलाकर बना है। जिसका अर्थ है एक ऐसा व्यक्ति जो सम्मानित पद पर बने हुये राज्य की सेवा करे।

राजस्थान में इसका उद्भव यूरोप के सामन्तवादोत्तर संकल्पना का परिणाम है। जहाँ यूरोप सामन्तवाद में पूर्णतया लिप्त था तो राजस्थान में भी सामन्तवाद व अभिजात वर्ग विद्यमान था। इस आधार पर राठौड़ ओहदादारी मध्यकालीन सामन्तवाद<sup>2</sup> और मध्यकालीन अभिजात तंत्र की उपज थी। ये कोई नये तत्व नहीं थे क्योंकि गुप्त काल में भी ओहदादारी की भी यही दो विशेषताएँ थी। केवल यही नहीं अपितु सल्तनत और मुगलकाल में भी ओहदादारी की ये विशेषताएँ बगैर किसी अवरोधन के बनी रही। सुल्तान बलबन निम्न वर्ग में उत्पन्न व्यक्ति को सम्मानित पद पर आरूढ़ होते हुए नहीं देख सकता था। मुगलकाल तो उच्च फारसी मुसलमानों को भरती करने का एक आदर्श युग था।<sup>3</sup> राठौड़ शासक मुगलों के छत्र छाया में काफी समय तक बाहरी आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों से सुरक्षित रहे और जाने-अनजाने में उनकी संस्थाओं को सामयिक परिस्थितियों में फेरबदल कर स्वीकार करते रहे और इसीलिये राठौड़ों की ओहदादारी मुगलों की मनसबदारी से प्रभावित रही।<sup>4</sup> परन्तु मनसबदारी जो श्रेणीबद्ध थी पर आधारित थी राठौड़ों ने उसे अस्वीकारा। इसके बाद भी मारवाड़ियत, जो इस क्षेत्र की पहचान थी वो बनी रही और औरंगजेब की नीति के फलस्वरूप और अधिक उभरी।<sup>5</sup>

नैणसी ने 17वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में मारवाड़ राज्य में 89 ओहदेदारों<sup>6</sup> की सूची दी है। इन ओहदेदारों में ओसवाल<sup>7</sup> जाति ही बहुमत में थी इनको राजस्थान में मुतसद्दी<sup>8</sup> संज्ञा से जाना जाता था। वि.सं. 1765-1805 के बीच सभी देश-दीवान ओसवाल जाति के थे।<sup>9</sup> इसी प्रकार वि.सं. 1820-1866 के काल में ओसवाल बख्शियों का बाहुल्य था।<sup>10</sup> वि.सं. 1805 व 1900 के बीच 27 बख्शियों में से



9 ओसवाल जाति के थे।<sup>11</sup> इसी प्रकार परगनों के हाकिमों में ओसवाल जाति के लगभग 90 प्रतिशत हाकिम ओसवाल ही थे।<sup>12</sup>

हमारे सम्मुख यह अबूझी गुल्थी है कि राठौड़ राज्य में भी ओहदादारी में राठौड़ों की भूमिका रही ही नहीं। सम्भवतः इसका कारण था कि राजपूतों के अनुरूप राठौड़ भी यह सोचते थे कि दान दक्षिणा अथवा पवित्र गंगा में स्नान से मुक्ति नहीं मिलती है अपितु युद्ध-क्षेत्र में अपनी वीरता प्रदर्शित करना ही उसका एक मात्र साधन है। ऐसी शौर्यपूर्ण विचारों से लबरेज जाति के लिए मात्र सैनिक मूल्यों से पूर्ण नवीन दिग्विजयासी विचारधारा की आवश्यकता थी। कर्नल टॉड उद्धृत करते हुए प्रतिभा जैन ने लिखा है कि “राठौड़ राजपूतों की तरह बनियापन अथवा भौमिया आधारित राज्य का विरोधी था।”<sup>13</sup>

राजस्थानी साहित्य में एक दोहा यहाँ की अनेक जातियों की विशेषताएँ बताते हुए लिखता है कि<sup>14</sup> -

*हाड़ा गाहड़ बंकड़ा, करतब बंका गौड़।*

*बलहट बंका देवड़ा, रण बंका राठौड़।।*

इसी प्रकार राजस्थानी साहित्य का एक और दोहा राजपूतों के मृत्यु के दृष्टिकोण को सम्बोधित करते हुए उनकी युद्ध प्रियता को दर्शाते हैं<sup>15</sup> -

*मरे सरब पण ठाकरां, मरणै भेद बहौत।*

*सूरा रण खेतां मरे, मांचे कायर मौत।।*

ये सब साहित्यिक रचनायें हैं और यद्यपि ये समसामयिक हैं परन्तु फिर भी इनका उपयोग सतर्कता से करना हितकर होगा। अब हम ओहदादारी की व्यवस्था और उसके स्वरूप का अध्ययन करेंगे हम केवल उच्च अधिकारियों को लेंगे सब अधिकारियों को लेने पर यह शोधपत्र शब्द सीमा से बिल्कुल बाहर हो जायेगा।

ओहदादारी वर्ग की ये विशेषता मुगलों के समान ही सैनिक, असैनिक व न्यायिक ओहदादारों में कोई फर्क नहीं था। हमारे अध्ययनकाल के कुछ समय पहले मुहणोत नैनसी जो दीवान था<sup>16</sup>। युद्ध अभियान पर भेजा था इसी प्रकार मुगलों के समय में टोडरमल असैनिक अधिकारी था परन्तु अभियान के लिए भेजा गया था। असैनिक अधिकारी भवानीराम दौलतराम को युद्ध के लिए भेजा गया था। कश्मीर के शासक जयसिम्मा के समय सुजजी एक न्यायिक अधिकारी होने के साथ एक सैनिक अधिकारी भी था।<sup>16</sup> ओहदादारों में सबसे प्रथम प्रधान था। जी.डी.शर्मा<sup>17</sup> ने प्रधान और मुसायब<sup>18</sup> को एक ही ओहदादार बताया है।

प्रधानगी का पद वंशानुगत था यद्यपि ये पद आसोप, आहुवा और पोकरण के ठिकानेदारों के वंशज में था। वि.सं. 1765-1860 तक 5 प्रधान पोकरण से, 1 आसोप से एवं 1 आहुवा से थे। महाराजा मानसिंह के काल में यही क्रम बना रहा।<sup>19</sup>

प्रधान को जागीर दी जाती थी जो कि वंशानुगत थी और इस आधार पर उसे

सामन्त वर्ग का भाग होने के साथ ही ओहदादारी में भी माना जाता था। विशेष अधिकारियों को कुरब प्रदान किए जाते थे और कभी-कभी चुनिन्दा व्यक्तियों को दरबार में बैठने का कुरब दिया जाता था अमर सिंह खीवसी रासावत को जो भण्डारी था, वि.सं. 1770 में प्रधान बनाते समय “बैठन रो कुरब” से सम्मानित किया गया।<sup>20</sup> इसी प्रकार देवीसिंह, महासिंह, भगवानदास को 1806 में “बैठन रो कुरब” दिया गया था।<sup>21</sup> समय-समय पर इनको तथा दूसरे ओहदादारों को बढ़ारा देकर उनके तन में वृद्धि की जाती थी। परम्परागत नीति के आधार पर प्रत्येक शासक के राज्यारोहण पर नये ओहदादारों की नियुक्ति होती थी जो स्वाभाविक थी क्योंकि प्रत्येक शासक के विश्वासपात्र दूसरे की अपेक्षा दूसरे ही होते थे। अजीत सिंह ने वि.सं. 1765 में देश दीवान, तन दीवान, बख्शी, दरोगा-ए-दतर व शिकदार के पदों पर नये ओहदादारों की नियुक्ति की थी।<sup>22</sup> इसी प्रकार अभय सिंह ने वि.सं. 1782 में प्रधान, दीवान, बख्शी, खानसामा, जोधपुर और मेड़ता के हाकीमों के पदों पर नयी नियुक्तियाँ की थी।<sup>23</sup>

उस समय की परिस्थितियों के आधार पर जबकि भर्ती के कोई उपयुक्त सिद्धान्त व साधन विद्यमान नहीं थे राठौड़ों ने प्रचलित व्यवस्था के अनुसार ओहदेदारों की नियुक्ति को वंशानुगत ही रखा परन्तु नियुक्तियों के पहले वंश की स्वामिभक्ति व राज में उनके योगदान को आंक लिया जाता था। उनकी ये मान्यता थी कि स्वामिभक्ति परिवार में ही निहित होती है और ओहदेदार के घर के वातावरण में सन्तानें जाने अनजाने में ओहदे की समस्त बारीकियों को जान लेते हैं। इसलिए राठौड़ों में समस्त ओहदे वंशानुगत अथवा वंश-प्रधान ही होते थे।<sup>24</sup> दीवान पद का भार सिंघवी इन्द्रराज के वंश में लगभग 21 वर्ष तक रहा।<sup>25</sup> इसके अतिरिक्त कई दीवान एक से अधिक बार इस पद पर रहे। सिंघवी फतेहराज ने 1873-1892 वि.सं. के बीच पांच बार दीवानी पद पाया।<sup>26</sup> ओहदेदारों की वरियता में बख्शी-दीवान के बाद आता था। यह पद भी दूसरे पदों के अनुरूप वंशानुगत ही था। सिंघवी भींवरज का परिवार लगभग चालीस वर्षों तक इस ओहदे पर रहा।<sup>27</sup>

बख्शी के पद की विशेषता थी कि जब राज्य में लगभग सब ओहदे “खालसा”<sup>28</sup> हो जाते थे तब भी ये पद कभी खालसा नहीं हुआ। इसका कारण था कि बख्शी जो राज्य की सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और 18वीं शताब्दी अशान्ति से भरपूर थी ऐसे समय इस पद को खालसा कर राज्य को अत्यधिक असुरक्षा की स्थिति में डालना उचित नहीं था। राज्य के उच्च ओहदेदारों को वृत्तिभोग की जागीर दी जाती थी और ये मात्र ओहदादारी के पद पर रहने तक ही सीमित थी। यह वृद्धि वंशानुगत नहीं था। निम्न वर्ग के ओहदादारों को नकद रूपतन का भुगतान किया जाता था।

मुगलों के विरोध में राठौड़ों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी जिसके आधार पर पदोन्नति दी जाती हो। मोटे रूप से स्वामिभक्त, स्वीकृत सेवा व राज्य के प्रति निष्ठा की कसौटी पर ही ये होता था। ये आवश्यक नहीं था कि ओहदादार सीढ़ी दर सीढ़ी उच्च ओहदे का अधिकारी हो। इसका एक मात्र निर्णायक शासक ही था। इस आधार पर यह

कहना कि ये व्यक्तिगत ओहदादारी व्यवस्था थी कुछ ठीक नहीं होगा क्योंकि परिवार जो ओहदेदारी में भरती का आधार थी। राज्य की उन पर सदैव कड़ी निगाह लगी रहती थी और उसकी योग्यता अथवा स्वामिभक्ति का परीक्षण कड़ाई के साथ होता था इसलिए इस सदृश अभ्यास के आधार पर ऐसे लोगों को चुनना आसान था जो राज्य की मांगों को पूरा कर सकें।

हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक शासक के राज्यारोहण के समय प्रमुख ओहदेदारों की नियुक्ति की जाती थी, क्योंकि अलग-अलग शासकों की अलग-अलग धारणाएँ थी जिससे प्रमुखतः राज्य के प्रति निष्ठा और स्वामिभक्ति प्रमुख मापदण्ड थे। मुगलों की तरह राठौड़ों में भी सैनिक व असैनिक पदाधिकारियों में कोई अन्तर नहीं था। एक बार ओहदादार बनाने के बाद उससे ये अपेक्षा की जाती थी कि वह हर प्रकार की सेवा के लिए तैयार रहेगा। हम यह कह सकते हैं कि मोरलैण्ड की तरह व्यक्ति को एक विशेष सेवा के लिए नहीं अपितु सेवाओं के लिए भर्ती किया जाता था।

हमारे अध्ययन काल से यह भी स्पष्ट है कि ओसवाल जाति के लोगों का ओहदेदारी में बाहुल्य था और ये वंशानुगत थी दीवानगी, बख्शीगिरी पद वंशानुगत ही थे। राज्य के अधिकतर पद खालसा कर दिए जाते थे परन्तु बख्शी के पद को कभी खालसा नहीं किया गया।

वंशीय व्यावसायिकता उस समय के सन्दर्भ में जब ओहदेदारों की नियुक्ति का कोई दूसरा विकल्प नहीं था यह एक स्वस्थ संकल्पना थी यदि चयन का क्षेत्र विस्तृत हो अन्यथा ये चुने हुए परिवारों के लिए एक अभिशाप का आधार बन जायेगा। उच्च श्रेणी के ओहदेदारों को वृत्ति भोग जागीर के रूप में तन दिया जाता था। जिसका अर्थ था कि तन केवल व्यक्ति के जीवन पर्यन्त तक ही होगा और आने वाले ओहदेदार को पुनः राज्य द्वारा दिए गए तन पर कार्य करना होगा साधारण ओहदेदारों को नकद के रूप में मासिक आधार पर नकद के रूप में तन दिया जाता था। अन्त में हम यहाँ कह सकते हैं कि फ्रांस के बारबीस शासकों की तरह राठौड़ों ने न तो कुछ भूला और न ही कुछ सीखा।

### संदर्भ

1. लालस, एस., राजस्थानी शब्द कोश ग्रन्थ-1 भाग-1 पृष्ठ 4183
2. मिश्रा, एच.के. ब्यूरोकेसी अन्डर द मुगल अध्याय-3
3. वही, पृष्ठ 2
4. वही, पृष्ठ 8
5. सहाय, एन.पी. पोलिटिक्स ऑफ पैट्रोनेज एण्ड प्रोस्टेस्ट, पृ. 54
6. मुहणोत नैणसी, मारवाड़ रे परगना दी विगत परिशिष्ट 6, पृ. 482-83
7. ओसवाल जैन धर्म को मानने वाले एक विशेष वर्ग के थे।  
लालस, एस. भाग-1, पृ. 482
8. मुत्सद्दी, प्रबन्धक, व्यवस्थापक राजस्थान के व ओसवाल जो देशी रजवाड़ों की राज

सत्ता में महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते थे। ये इन पदाधिकारियों के वंशजों का लकब भी था।

9. भूतोडिया मांगीलाल, इतिहास की अमरबेल: ओसवाल, पृ. 293-95
10. डी.ए.जे., ओहदाबही-1, एफ. 13-18  
कुल 23 बख्शीयों में 11 ओसवाल जाति के थे।
11. वही, एफ. 45
12. डी.ए.जे., ओहदाबही 2 एफ. 3-39
13. जैन, प्रतिभा, ऑनर, स्टेट्स एण्ड प्रोपर्टी, पृ. 265
14. लालस, एस. उपर्युक्त भाग-1 ग्रन्थ-2, पृ. 2819
15. जोशी, राजेन्द्र, द कानटेक्सट्रयन डायनमिक्स ऑफ कॉस्ट इन द राजपूत सिस्टम, पृ. 307  
इन रिलीयन एण्ड रायल्टी द्वसंपादितः सिंह, एन.के. व जोशी राजेन्द्र।
16. अल्लेकर, ए.एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 177
17. शर्मा, जी.डी., राजपूत पोलिटी, पृ. 131
18. मुसायब का अर्थ राज्य दरबार में एक पद से है। जो किसी राजा या रईस के पास मन बहलाने के लिए रहने वाला सहवासी (पार्श्ववती) था।  
लालस.एस. उपर्युक्त-1।। खण्ड तृतीय जिल्द पं. 3831
19. डी.ए.जे. (डिस्ट्रीक्ट अकाईव्ज जोधपुर) एफ. 18-21
20. आर.ए. (राजस्थान राज्य अभिलेखागार) हकीयत बही, एफ-1
21. वही
22. अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, जोधपुर की ख्यात, पृ. 11, 147, राठौड़ों-री पीढ़ियाँ  
री ख्यात, पृ. 168
23. ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर, पृ. 146
24. भण्डारी अमर सिंह पुत्र भण्डारी खिंवासी वि.सं. 1785-88 देश दीवान था। डी.ए.जे.  
ओहदाबही 1, पृ. 5
25. डी.ए.जे. ओहदाबही 1, पृ. 6-7
26. भूतोडिया, मांगीलाल, उपर्युक्त, पृ. 295
27. राय सुखसम्पत, ओसवाल जाति का इतिहास, पृ. 80-83
28. खालसा की स्थिति में ओहदेदार को मुक्त करने के बाद उसके स्थान पर मात्र काम काज देखने के लिए किसी को अस्थायी रूप से नियुक्त कर दिया जाता था। ओहदाबही नं. 1  
(एफ) पृ. 5-6

## जैसलमेर रियासत में पालीवालों की महत्ता— एक अध्ययन

अशोक गाड़ी

थार मरूस्थल में अवस्थित जैसलमेर को ऐतिहासिक महत्ता एवं समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के लिए विश्व पटल पर जाना जाता है।<sup>1</sup> यहाँ के लोगों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन सरस एवं सादगीपूर्ण रहा है, इसके साथ ही जैसलमेर अपनी कला संस्कृतिक वास्तुकला, भव्य इमारतों, सोनार किला, मरूस्थल के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं ऐतिहासिक स्थलों के कारण विश्व प्रसिद्ध पर्यटन स्थल है।<sup>2</sup> जैसलमेर नगर की नींव महारावल जैसल ने वि.सं. 1212 श्रावण शुक्ला 12 सन् 1155 ई. को रखी थी तथा स्वयं के नाम पर इसका नाम जैसलमेर रखा।<sup>3</sup>

पालीवाल जो कि अपने को गौड़ ब्राह्मण कहते हैं, इनको मूल निवासी पाली का बताया जाता है। मंडोर के पंवार राजाओं ने पालीवाल ब्राह्मणों को पाली ग्राम दान में दिया था। इनका मूल निवास गढ़ नानग था, पालीवाल लोग अत्यधिक परिश्रमी थे।<sup>4</sup> पुष्करणा पालीवाल राजपूतों के गुरु होते थे, इन्हें राजगुरु भी कहा जाता था। इनका सामाजिक जीवन उच्च कोटि का था, इनमें खानपान, रहन-सहन, मनुहार, दानशीलता एवं वीरता राजपूतों के समान थी, इनके घरों के आगे गाय-बैल बांधने के खूंटे, चारा एकत्रित करने के लिए कोठे, गाय-बैलों के चारा डालने एवं खिलाने के लिए ठाण बने हुए थे तथा गायों की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान कर देते थे। जुंझारों जंवरों के स्मारक लेख इस बात के साक्षी हैं।<sup>5</sup>

कर्नल टॉड के अनुसार जैसलमेर में पालीवालों की गणना वणिकों में होती थी, घरेलू एवं अंतरराज्यीय व्यापार-वाणिज्य के लिए इनका व्यापारिक सम्बन्ध सिन्ध, बलूचिस्तान व अफगानिस्तान से था।<sup>6</sup> यह लोग कृषकों को पहले रूपया देकर उनका धान खरीदते थे तथा जैसलमेर से ऊन व घी खरीदकर विदेशों में निर्यात करते थे। व्यापार के लिए ये लोग ऊंटों व बैलगाड़ियों को काम में लेते थे, कुलधरा तथा साभा गावों में पालीवालों की विशाल व्यापारिक मंडिया थी।<sup>7</sup> भाट बहियों के अनुसार पालीवाल ने श्रावण मास की पूर्णिमा को रक्षाबंधन के दिन पाली को हमेशा के लिए छोड़ दिया। इसी कारण पालीवाल ब्राह्मण रक्षाबंधन का त्यौहार नहीं मनाते हैं। पालीवालों ने अपनी रक्षा के लिए राठौड़ शासक राव सीहा को नियुक्त किया था। किसी मुसलमान बादशाह ने पाली को विजित कर पालीवालों से कर की मांग की तो पालीवालों ने कहा कि हम

ब्राह्मण हैं, कर नहीं देंगे इससे बादशाह क्रोधित हो गया, उसने पालीवालों के प्रमुख नेताओं को बंदी बना लिया।<sup>8</sup> जैसलमेर रियासत के दीवान सालिम सिंह ने अपने राज्यकाल में पालीवाल ब्राह्मणों पर अधिक कर लगाकर उनसे वूसली कठोरतापूर्ण करने लगा, इन पर होने वाले अन्यायों एवं अत्याचारों की प्रशासन में कोई सुनवाई नहीं होती थी, पालीवाल ब्राह्मण जिन्होंने जैसलमेर रियासत में अपनी कड़ी मेहनत एवं प्रतिभा से व्यापारिक गतिविधियों को समृद्धि तक पहुंचाया था।<sup>9</sup> दीवान सालिमसिंह की हठधर्मिता व क्रूरता एवं धनलिप्सा से त्रस्त होकर अपने गांव से एक ही रात में पलायन कर यहां से चले गये। इस सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है—

“खूंटे छोड़िया टोघड़ा, पींघे छोड़िया बाल  
दूध कड़ता छोड़िया, हलिया पालीवाल”<sup>10</sup>

दीवान सालिमसिंह ने पालीवालों की अपार धन सम्पदा पर अपना अधिकार जमा लिया था। पालीवालों ने पाली त्यागकर सबसे पहले जैसलमेर ओला ग्राम में निवास किया, यहां पर इन्होंने सौ यज्ञ पूर्ण किये तथा बरियाड़ा क्षेत्र में अपने गांव बसाये।<sup>11</sup> खडाल, नेवाण (नीचाई की जीमन), बुजकंठा (बुजखडीन) में इनके प्रमुख थे जो 84 ग्राम खेड़ों के नाम से प्रसिद्ध थे।<sup>12</sup> खेड़ा अर्थात् कुछ गांवों का समूह जो सामाजिक रीति-रिवाजों के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते थे। जैसलमेर रियासत में निवास करने वाली सभी जातियों के खेड़े होते थे और यह परम्परा आज भी जीवन्त है।<sup>13</sup>

पालीवालों का प्रमुख कार्य कृषि पालन के साथ-साथ गौ-पालन भी था जिसके प्रमाण इनके वीरान गांवों में मकानों के आगे गाय-बैल बांधने के खूंटे, घास संग्रह के स्थान, बछड़ों को बांधने के खूंटे प्रतीक स्वरूप प्राप्त होते हैं।<sup>14</sup> ये जिन स्थलों पर जाते थे वहां पर अपने पूर्वजों के गोत्रों के नाम से नया गांव, बावड़ी, तालाब, मन्दिर, सरोवर का निर्माण करवाते थे, इन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि का उपयोग गांवों को लूटपाट से बचाने के लिए मकानों को कतारबद्ध बनाया तथा इनमें पहले मकान से लेकर अंतिम मकान तक एक ही सीध में आर-पार आवाज पहुंचाने के लिए गोलाकार छेद बनाये। इसके अलावा कलात्मक सभाभवन और छतरियों का निर्माण भी करवाया।<sup>15</sup> जैसलमेर रियासत में सभी पालीवाल परिवार आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली थे, यदि इनके समाज के कोई गरीब परिवार होता था तो अन्य सभी धनवान परिवार चांदी का रूपया व जानवर देकर उसकी सहायता करते थे।<sup>16</sup> इनके घरों में अतिथि स्वागत कक्ष, पुरुषों की बैठक, बैलगाड़ी खड़ी करने का स्थान, लकड़ी की छत, मिट्टी का आंगन एवं अनाज रखने के लिए मिट्टी की कोठियां होती थी।<sup>17</sup> पालीवालों द्वारा जैसलमेर रियासत में एक ही रात में पलायन करने के पीछे विभिन्न मत, किंवदंतियां व साहित्यिक स्रोत उपलब्ध होते हैं जिनके अनुसार सालिमसिंह के अत्याचारों अधिक कर वसूलने, व्यापार-वाणिज्य को सुरक्षा न मिलने के कारण या फिर दीवान सालिमसिंह द्वारा पालीवालों को अपमानित करने के उद्देश्य से एक खूबसूरत पालीवाल कन्या का विवाह महारावल के साथ करने

का दबाव डालने पर पालीवालों ने इसे अपने धर्म के विरुद्ध समझा और पालीवालों के चौरासी खेड़ों के मुखिया ने एक रात में जैसलमेर रियासत त्यागने के लिए एक लोटो से नमक पीकर इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की कसम ली।<sup>18</sup> दीवान लखमीचन्द के अपनी तवारीख में परगना पालीवाल शीर्षक में लिखा है कि “पालीवालों ने ग्राम ओला में आकर जैसलमेर के चालीस कोस के क्षेत्र में हजारों रूपये खर्च करके कृषि योग्य भूमि खरीदी और मांगलिक पट्टे कराकर अपनी चौरासी खेड़े बसाए।<sup>19</sup> जैसलमेर रियासत के पहाड़ी इलाकों के बीच में वर्षा के जल को इकट्ठा करने की खड़ीन पद्धति उनकी बुद्धिमता की देन है, जिसमें कृषि कार्य करके लाखों रूपया की पैदावार की जाती थी। कुलधरा व खभा की सभ्यता आधुनिक समय में सामाजिक संगठन की मिसाल है, जहां पर सभी मकान एक ही नक्शा में बने हुए हैं, साथ ही गांवों की टेढ़ी-मेढ़ी गलियां आज भी सुरक्षा व्यवस्था की प्रतीक हैं।<sup>20</sup> पालीवालों का पलायन एक ऐतिहासिक त्रासदी थी। सारांशतः विश्व मानचित्र पर जैसलमेर की संस्कृति, स्थापत्य कला ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है, वहीं पालीवालों के प्राचीन गांव खाभा व कुलधरा गांवों में पालीवाल समाज की संस्कृति, नगर सभ्यता, जातीय एकता व जीवन शैली आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत है।

### सन्दर्भ

1. भाटी रघुवीरसिंह-विश्व प्रसिद्ध पर्यटक स्थल जैसलमेर, पृ.सं. 5
2. वही पृ. 5
3. वही पृ. 5
4. महेश्वरी हरिवल्लभ- जैसलमेर का मध्यकालीन इतिहास, पृ. 214
5. वही पृ. 214
6. वही पृ. 214
7. टॉड जेम्स- एनल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, भाग-2, पृ. 261
8. मंयक मांगीलाल- जैसलमेर राज्य का इतिहास, पृ. 175
9. लखमीचन्द - तवारीख जैसलमेर, पृ. 28
10. भाटी हरीसिंह - एनल्स ऑफ जैसलमेर, पृ. 445
11. मंयक मांगीलाल- पूर्वोक्त, पृ. 175
12. भाटी हरिसिंह- पूर्वोक्त, पृ. 439
13. शर्मा नन्दकिशोर- जैसलमेर राज्य का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
14. वही पृ 28
15. वही पृ. 27
16. लखमीचन्द, पूर्वोक्त पृ. 137
17. वही, पृ. 141
18. राजस्थान पत्रिका- जोधपुर संस्करण- पालीवालों के खण्डहर, आलेख-अरूण जगाणी
19. लखमीचन्द, पूर्वोक्त पृ. 152
20. वही, पृ. 152
21. स्वर्ण-रज-पत्रिका- पालीवालों का झुरावा पृ. 17

## अन्तःपुर तंत्र व ड्योढ़ी वाले ‘मेहताजी’ की भूमिका

डॉ. सुशीला शक्तावत

मेवाड़ की पूर्व राजधानी चित्तौड़ में जनानी ड्यौढ़ी का स्वरूप क्या रहा होगा ? अधिकारपूर्वक कहना कठिन है। यह भी सत्य है कि उस युग में महाराणा राजनैतिक कारणों से बहु विवाह करते थे। चित्तौड़ दुर्ग की अभेद्यता तोप के गोलों के सामने समाप्त हो गयी थी। महाराणाओं को दुर्ग छोड़ कर अन्य स्थानों पर जाना पड़ता था। ऐसी स्थिति में रनिवास को सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया जाता था। निश्चय ही उस काल में परिस्थितियाँ विकट रही होंगी। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में पर्दा प्रथा मेवाड़ में नहीं थी। रानियाँ सक्रिय रूप से सामाजिक एवं धार्मिक आयोजन में शरीक होती थी। युद्धकाल में आंतरिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलाने में सहयोग देती थी। आपातकाल एवं वन विचरण में सहभागिता का निर्वाह करती थी। राज्याभिषेक के समय महाराणा के साथ राजगद्दी पर बैठती थी।<sup>1</sup> राजपुरोहित एवं अन्य वरिष्ठ सरदारों के साथ आवश्यक मंत्रणा एवं नीति निर्धारण करती थी।<sup>2</sup> मध्यकाल में मुगल प्रभाव से सुरक्षा संबंधी कारणों से रानियों के लिये अलग महल एवं व्यवस्था का विकास होने लगा। इसे जनानी ड्यौढ़ी, रनिवास एवं रावला आदि नामों से जाना जाने लगा। यह रावला सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। रानियों के लिये निजी सुविधायुक्त कक्ष निर्मित हुए। सामूहिक त्यौहार कार्यों के लिये रावले के चौक में दो केन्द्र स्थापित हुए।

रावले के चौक में एक चबूतरे पर चौमुखा बना हुआ है, इसका निर्माण संवत् 1678 में महाराणा कर्णसिंह ने करवाया था। प्रातःकालीन सभा, उत्सव, भेंट यहा होती थी। जनाना दरीखाना यही लगता था। ओसरा रावले के पूर्वी भाग में स्थित लम्बा बरामदा है जिसे महाराणा कर्णसिंह ने संवत् 1678 में बनवाया था। सांयकालीन सभा, उत्सव, भेंट के कार्यक्रम इस स्थान पर होते थे। इन्हीं दो स्थानों को केन्द्र बना कर रावले में सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का पालन किया जाता था। रनिवास में पुरुष प्रवेश वर्जित था, कड़ी सुरक्षा व्यवस्था रहती थी। ड्यौढ़ी के प्रवेश द्वार के अन्दर एक खाट पर ड्यौढ़या ठाकर<sup>3</sup> बैठे रहते थे, उनका काम जाने वालों पर निगरानी रखना था। जनानी ड्यौढ़ी की सम्पूर्ण व्यवस्था का दायित्व ड्योढ़ी के मेहता पर था। यह पद अत्यन्त विश्वसनीय एवं पुश्तैनी था। ड्यौढ़ी के मुख्य द्वार पर इनकी बैठक थी। इस परिवार के व्यक्ति चौबीसों घंटे अपनी उपस्थिति बनाये रखते थे।

जनानी ड्यौढ़ी में प्रवेश करने के लिये सर्वप्रथम तोरण पोल द्वार आता है, उसके बाद एक चौक है, सामने की तरफ रसोड़े बने हुए हैं। बायीं तरफ ड्यौढ़ी का मुख्य द्वार है जहाँ ड्यौढ़ी के मेहता बैठते थे। यहाँ फिर एक चौक है और सामने एक गलियारा है। जिसमें होकर ड्यौढ़ी के मुख्य चौक में प्रवेश किया जाता है। इस गलियारे के पश्चिमी भाग में एक मंज की खाट पर 'ड्योढ़्या ठाकर' बैठा करते थे। यह दायित्व राठौड़ वंश के एक परिवार विशेष के पास रहा है, जिनके पास 'माताजी का खेड़ा' बेड़वास, फरारा, खाकरडा माचदा, डाबकुरा आदि गाँवों की जागीर रही है। मुख्य जागीर माता जी का खेड़ा थी, जिसकी हवेली भट्टयानी चोहट्टा में स्थित है, इस परिवार को ड्यौढ़ी की सुरक्षा का दायित्व कब मिला? इस संबंध में पारिवारिक परम्परा का विवरण इस प्रकार है।

राठौड़ वंश के राव धाडाजी के दो पुत्र हुए। राव सुलका ने गढ़ खेडपाट पर शासन किया और दूसरे पुत्र राव हाथीजी ने हट्टूडगढ बसाया, जो नष्ट हो गया तब यह शाखा कँवला (ईडर राज्य) में चली गयी। इन हाथीजी की पुत्री राजकंवर का विवाह सीसोदा की राणा शाखा के लक्ष्मणसिंह के साथ हुआ। राणी राजकंवर के साथ जो परिवार साथ आया उसे 'रनिवास' पर सुरक्षा के लिये नियुक्त किया गया। यह दायित्व महाराणा भूपालसिंह तक इनके पास रहा। हाथीजी के पुत्र नियालजी को देलवाड़ा की जागीर अरिसिंह ने प्रदान की, जो 84 साल रही इसके बाद कई जागीर परिवर्तन हुए। महाराणा जवानसिंह ने संवत् 1892 में 'माताजी का खेड़ा गाँव' का पट्टा दिया।<sup>4</sup> यदि यह मान लिया जाये कि राणी राजकंवर के साथ पीहर के परिवार के लोग मेवाड़ आये और कुछ जागीर गाँव दिये गये। साथ ही रनिवास की सुरक्षा का दायित्व दिया हो जिसे महाराणा हम्मीर ने चित्तौड़ पर अधिकार करने के बाद स्थायित्व प्रदान किया हो। जिस प्रकार ड्यौढ़ी के मेहता परिवार का इतिहास काफी पुराना है, उसी प्रकार ड्यौढ़्या ठाकर भी इस पद पर चित्तौड़ से काबिज रहे हैं। उदयपुर में इनकी चौबीस घंटे की नौकरी थी, इसलिये पास में बेड़वास गाँव दे दिया गया।<sup>5</sup>

जनानी ड्यौढ़ी की व्यवस्था में 'मेहताजी' का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था।<sup>6</sup> ड्यौढ़ी के मुख्य प्रवेश के द्वार पर वे उपस्थित रहते थे। यह दायित्व चौबीस घंटे चलता था, अतः परिवार के स्वजन बदलते रहते थे। परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर ड्यौढ़ी पर तैनात मेहता अपनी जगह छोड़ कर नहीं जाता था। ड्यौढ़ी संबंधी समस्त कार्यों का वह नियामक था। ड्यौढ़ी की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना, राजमाता, रानियों, कुँवरियों द्वारा बाइयों के साथ भेजे गये संदेश के अनुसार कार्य करता था। मेहता का पद और गरिमा इतनी सशक्त थी कि यदि वह ठीक नहीं समझे तो रनिवास के किसी आदेश को महाराणा से परामर्श किये जाने तक रोक सकता था। रनिवास में कार्यरत समस्त बाइयों, परिचारिकाओं पर उसका नियंत्रण रहता था। ड्यौढ़ी में प्रवेश करने वाली समस्त आगन्तुक महिलाओं का परिचय उनके साथ आयी बाई से पूछ कर लिखा जाता था। रानियों के निजी कामदार भी मेहताजी की मार्फत ही कार्य कर

सकते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि मेहताजी एक ऐसा पद था, जिस पर महाराणा एवं रानियों का समान विश्वास होना आवश्यक था। आश्चर्य की बात यह है कि मेवाड़ का एक ही परिवार एक लम्बी अवधि से इस दायित्व का निर्वाह करता रहा है इस परिवार ने युद्धों में भाग लिया।<sup>7</sup> नेतृत्व किया और अपने जनानी ड्यौढ़ी के नियमित कार्य को संपादित किया है। ड्यौढ़ी के मेहता अपना मूल पुरुष श्रवणजी को मानते हैं और मेवाड़ के राजकुल के साथ अपना रक्त संबंध होने से सिसोदिया मेहता कहलाते हैं। बड़े भाई सोनोजी के वंशज मेहता के टिम्बे पर रहते हैं और छोटे भाई अन्नोजी के वंशजों के पास जनानी ड्यौढ़ी का कार्य रहा है। मालदासजी और मौजीरामजी समकालीन थे। मौजीराम जी के दो पुत्रों गणराज जी और जवेरचन्दजी के वंश में तीन-तीन हवेलियाँ हैं। इन मेहताओं का रंगरूप, शरीर सौष्ठव क्षत्रियों के समान है। इनके घरों में पूर्व पुरुषों के राजसी लिबासों में भव्य चित्र लगे हुए हैं। इनके परिवार में यह भी मान्यता है कि चित्तौड़ के प्रथम जौहर में उनकी भूमिका थी एवं तीसरे शाके में इनके परिवार के सभी सदस्य युद्ध में काम आये थे। केवल मेहता मेघराजजी जो संवत् 1626 में उदयपुर आये। उन्होंने शीतलनाथ जी के प्रसिद्ध मंदिर का निर्माण करवाया।

महाजनों में ये लोडा साजन में आते हैं, और जब इनकी बिरादरी प्रसंगवशा एकत्रित होती है तो प्रथम तिलक इसी परिवार के वरिष्ठ सदस्य के किया जाता है। इस परिवार में दियाड़ी पूजन की परम्परा नहीं है। मेवाड़ के महाराणाओं का इस परिवार में अटूट विश्वास रहा है। महाराणा जब रनिवास में प्रवेश करते तो 'बदोबस्त' हो जाता था। इस बदोबस्त का दायित्व मेहताजी के पास रहना इस परम विश्वास का द्योतक है। प्रातः काल जब महाराणा के अपोढ़ी का समय होता तब मेहताजी, ड्योढ़्या ठाकर, मोसल और ड्यौढ़ी का दरोगा उपस्थित रहते थे। उस वक्त के संवाद इस प्रकार होते थे।<sup>8</sup>

ताला खोल कर मेहताजी आवाज देते - "कूण है शा बाया म्हुँ"

महाराणा के निकट बायी कहती - "ठेरो शा"

अन्दर की व्यवस्था एवं रानी के कक्ष छोड़ते के बाद वह जोर से बोलती - "पध गारो शा-पधारो शा" मेहताजी एवं दल के साथी आगे बढ़ने से पूर्व जोर से दो बार कहते-"आँवा-आई रिया हँ।" मेहताजी एकलिंगजी के चित्र के दर्शन करवाते और ड्यौढ़ी का दरोगा छायादान करवाता था। यह सिसोदिया मेहता परिवार महाराणा के अंतरंग था। कभी-कभी किसी मेहता को महाराणा ने पसन्द नहीं किया तो उसके स्थान पर उसी परिवार के दूसरे सक्षम व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था। प्रत्येक रानी के अपने कामदार रहते थे, जो बाईयों के माध्यम से उनके निजी कार्य एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

चौमुखा एवं ओसारा की व्यवस्था के लिये 'बड़ाण' एवं महिला दरोगा रहती थी। रानी की निजी परिचारिकाओं के अलावा जनानी ड्यौढ़ी की सेविकाओं पर इनका नियंत्रण रहता था। जनानी ड्यौढ़ी में एक रसोड़ा चलता था। भोजन बनाने के लिये

ब्राह्मण रसोडदारिने नियुक्त थी। रानियों के लिये जीमण सेविकाएं उनके कक्ष में ले जाती थी। महाराणा के खासा रसोडे से भी सामग्री भेजी जाती थी। कभी-कभी महाराणा किसी रानी के साथ जीमण अरोगने पधारते थे। रानियों को प्रतिमाह निजी खर्च की बंधी हुई रकम मिलती थी। इनकी अपनी निजी संपत्ति (डायचा में प्राप्त) रखने का अधिकार था। महाराणा की तरफ से समय-समय पर भेंट उपहार प्राप्त होते थे। कई रानियों ने अपनी बचत से मंदिर, देवालय बनवाये एवं दान पुण्य किये थे। विशेष अवसरों पर पाँडेजी की ओवरी (गेणा रो भंडार) से जड़ाऊ आभूषणों को पीतल के डबूसों (गोलाकार डिब्बे) में रख कर भेजा जाता था। गणगौर पर ड्यौढ़ी की 25 डावडियों के लिये स्वर्ण आभूषण तथा 2 चंवर करने वाली 2 खवासणों एवं एक विशेष कुल 30 सेट आते थे। इनमें पाँवों में पहनने के आभूषण चांदी के होते थे।<sup>10</sup>

रानियों का दरबार ओसारे में लगता था, जहाँ गादी मोडे लगाये जाते थे। सामान्यतया या विशेष अवसरों पर राजपरिवार से संबंधित भाई बेटों (हवेली) के जनाना दादीसा, माँजीसा, लाडीसा या बहुजी दर्शन<sup>11</sup> करने आती थी। इस प्रकार राजपुरोहित, वरिष्ठ अधिकारियों, मेहता मुत्सदी की पत्नियाँ भी आती थी। रानियाँ अपने से आयु मे बड़ी तथा रिश्ते में वरिष्ठता को आदर देते हुए 'पगोलागणा' से संबोधन करती थी एवं 'खुशी' पूछती थी। आने वाली वरिष्ठ महिलाएं आशीष देती एवं 'राजी' कहती थी। शेष स्त्रियाँ, रानियों को विशेष तरीके से ओढणी का पल्ला हाथ मे लेकर तीस बार जमीन पर हाथ लगा कर अभिवादन करती थी। बेन बेटियाँ वारण लेती थी। विशेष अवसरों पर नजर-नछरावल<sup>12</sup> होती, उस समय बडारण परम्परा के अनुसार 'रखवायो जावे' अथवा 'दूणो बक्षायो जावे' कहती थी। पान बीड़े दिये जाते थे। जनानी ड्योढी आने वाली ठकुराणियाँ एवं अन्य महिलाएं मेवाड़ी आकर्षक वेशभूषा पहन कर मियानों में बैठ कर आती थी, जिसे लाल चाँदनी से ढका जाता था। ठिकानेदार तलवार बँधायी की रस्म के बाद जनानी ड्यौढ़ी जाकर मेहताजी के मार्फत नजराना भिजवाते थे। वहाँ से पान बीडा मिलने पर वे अपनी हवेली जाते थे। सामान्य अवसरों पर भी जो सरदार-उमराव प्रतिष्ठित घरानों के लोग मुजरा अर्ज करवाते, उनके लिये रानियाँ कुशल क्षेम पूछवाती और चांदी की डिब्बी में पानबीडी और शर्बत का गिलास भिजवाती थी। यह केवल आतिथ्य का सूचक था। उल्लेखनीय है कि सीख की अर्ज करवा कर ड्यौढी से विदा होने की परम्परा थी। जनानी ड्यौढी में सभी उत्सव, त्यौहार, पर्व परम्परानुसार मनाये जाते थे। महाराणा की सालगिरह पर विशेष आयोजन होते थे।

रावले में एक कक्ष में चौथमाता का प्रतीकात्मक त्रिशूल अंकित है। स्मरणीय है कि चौथ माता (सौभाग्यदायिनी देवी) मानी गयी है। सुहागिन स्त्रियाँ वर्ष में बड़ी चौथ का व्रत रखती है एवं चन्द्र दर्शन के बाद पारणा करती है। मेवाड़ की स्त्रियाँ इस व्रत को श्रद्धापूर्वक करती थी। छोटी बड़ी तीज पर महाराणा एवं रानियों के साथ झूलने<sup>13</sup> की परम्परा रही है। वे पाटखडी<sup>14</sup> पर आमने-सामने रह घोडिये<sup>15</sup> लेकर झूले को गति देते हैं।

इस महफिल में ढोलणियां, डावडिया व परिवार की अन्य स्त्रियां उपस्थित रहती हैं, एवं अवसर के अनुकूल गाना-बजाना करती हैं झूलते वक्त महाराणा का केश अंगोछा (पगड़ी) नीचे गिर जाती है तो वह नेग नगरची को जाता है। इस वक्त नछरावलें भी होती है। भारतीय परम्परा में पति-पत्नी आपस में एक दूसरे को नाम<sup>16</sup> लेकर नहीं पुकारते हैं, परन्तु इन सावन के झूलों में हीन्दते<sup>17</sup> हुए जोड़े को परिवार की स्त्रियाँ फूलों की कोमल छड़ी के प्रतीकात्मक प्रहार से एक दूसरे को नाम लेने को बाध्य करती है। इस महफिल में खान-पान की मनुहार भी होती है।

इसी तरह होली पर फाग खेलने की परम्परा थी। इसके लिये पाँडेजी की ओवरी से विशाल चांदी की कुंडिया एवं पिचकारियाँ आती थी। रानियाँ गहने पहन कर फाग खेलती थी। उस समय धारण की गयी पोशाक नेग में जाती थी। महाराणा पिचकारियों और गुलाल गोदों की मार से उत्पन्न किलकारियों का आनन्द लेते थे। राजकुल मे कुँवर-कुंवरी के विवाह का विनायक स्थापन एवं चँवरी रावले में ही बनती थी। समस्त मांगलिक विधि विधान औसारे के चौपाड़ में सम्पन्न होते थे। रावले मे गमी (शोक) के समय के सिवाय प्रतिदिन ढोलणियाँ ढोलक पर पारम्परिक गीत गाती थी। इनके नेगचार निर्धारित थे। कभी-कभी रानियों के समक्ष बाइयाँ डांडिया एवं घूमर नृत्य करती थी। जब किसी कुँवर का विवाह होता और कुँवरानी ड्यौढ़ी में प्रवेश करती तो ढोलण्या उन्हें तब तक कुँवरानी की मान्यता नहीं देती, जब तक उनके पीहर से आया हुआ नेग (बाप दादा का सिरोपाव) उन्हें नहीं मिल जाता था। रानियों के पीहर, हवेलियों के भाई-बेटे, आशिका लेकर आने वाले पुरोहित, गुंसाई जब रावले में जाते तो ड्यौढ़ी का मेहता, ड्यौढ़या ठाकर व बडारण की शामलात रहती थी। रानियों के चँवर नहीं होते थे, परन्तु सोने-चांदी की छड़ी एवं गोटा रखने वाली बाइयाँ रहती थी। ड्यौढ़ी में पर्दे की इज्जत रखने के लिये सामान्य साड़ी के ऊपर लाल अंगोछा ओढने की परम्परा थी। ड्यौढ़ी में पाँव में सोना पहनना वर्जित था, बाद में जिन्हे सोना बख्सीस दिया गया वे पहन सकती थी। महाराणा भूपालसिंह के काल में उदारता आ गयी और सोना पहिने की इजाजत दी जाने लगी। रानियों के साथ डायचे में जो दासियाँ आती थी वे उनकी मुख्य विश्वस्त सेविकाए होती थी। रानियों की समस्त दिनचर्या एवं सेवा सुश्रुषा का दायित्व इन्हीं पर रहता था। दातौन स्नान, माथा गुंथना, जीमण की व्यवस्था रहती थी। ये परिवार यही बस जाते थे। सासुजी की डायचवाल को 'याजी' कहा जाता था। महाराणा जनाना महल में पधारते अथवा रानी को मर्दाना महल में आमन्त्रित किया जाता, उस वक्त बंदोबस्त हो जाता था। चाबी मेहताजी के पास रहती थी। महाराणा के शयन के ढोल्ये (पलंग) के पाये स्वर्ण मंडित होते थे। सिराहने की तरफ के दो पायों के नीचे मखमल के कपड़े में घास भरकर उस पर जरी का काम किया हुआ रखा जाता था। ड्यौढ़ी में बाइयाँ का काफी महत्व था और उनकी संख्या भी काफी रहती थी। एक बार किसी रानी के साथ जुड़ जाने पर वंशज 'खालसाऊनामें' में आ जाते थे। इन्हें 5 मन मक्की, 5 मन जौ और

10 रु. वार्षिक मिलता था। वर्ष में दो-तीन पोशाकें मिलती थी। इन्हें रोटिया अपने साथ लाना पड़ता था, सब्जियाँ दाल रसोड़े से मिलती थी। इनकी संख्या हजारों में रहती थी, अतः सब रोज नहीं आती थी, इनके ओसरे बँधे हुए थे। प्रत्येक का ओसरा तीसरे-चौथे दिन आता था।<sup>18</sup> उपरोक्त स्थिति में जो बात स्पष्ट है, वह यह कि जनानी ड्यौढ़ी का अस्तित्व था, और इसकी व्यवस्था और सुरक्षा के वैसे ही प्रबन्ध थे, जैसे कि उदयपुर में राजधानी स्थानान्तरित होने के बाद दिखायी देते हैं।

### संदर्भ

1. गौ.ही. ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग-1, पृ. सं. 205
2. इस संदर्भ महारानी पद्मिनी, कर्मवती के उदाहरण इतिहास एवं काव्य में मिलते हैं।
3. ड्यौढ़ी के मुख्य द्वार के अन्दर के हिस्से में मूँज की डोरी की गूँथण से बनी बैडोल माची (खटिया) पड़ी रहती थी।
4. राणीमंगा री पोथी पर आधारित।
5. मञ्जुमिका, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, अंक 31-32 सन् 1999, पृ. सं. 83
6. संपादक, हकुमसिंह भाटी, सीसोद वंशावली, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, पृ. 36
7. मेहता मालदास एवं मेहता मौजीराम इसी परिवार से थे। जिन्होंने महाराणा भीमसिंह के काल में वि. संवत् 1844 में हडक्याखाल के युद्ध में वीरगति पायी थी। मालदास गली इन्हीं के नाम पर है। बड़वा देवपाल सिंह की पोथी (जिरोक्स) प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर में सुरक्षित है। पृ. 20
8. मञ्जुमिका, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, अंक 31-32 सन् 1999, पृ. सं. 82
9. ड्यौढ़्या ठाकर के आगे द्वार के पास एक बाई बाहर के संदेश को अन्दर ले जाने के लिये बैठी रहती थी।
10. मञ्जुमिका, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, अंक 31-32 सन् 1999, पृ. सं. 75
11. मेवाड़ में उमरावों की ठकराणियाँ जनानी ड्यौढ़ी में सामान्यतया रानियों से मिलने नहीं जाती थी।
12. ड्यौढ़ी में नछरावल मखमल की लाल पोटली में रख कर की जाती थी।
13. तीज के हीन्दे रंग बिरंगी सूती धागों से बनी हुई रस्सियों के होते थे।
14. पाटखडी-लकडी की बनी रस्सी में फंसा कर झूलने का साधन, जिस पर गंगा जमनी चांदी का पतरा मढा होता था।
15. घोड़िये-घुटनों के जोर से झूले को गति देना।
16. किसी भी शुभ प्रसंग, वार तेवार पर गीत गाने का कार्य चुनिन्दा बाइयाँ करती थी, जिन्हें 'दायाँ गीतारण्या कहा जाता था।
17. हीन्दते- झूलते हुए।
18. मञ्जुमिका, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, अंक 31-32 सन् 1999, पृ. सं. 77-78

## जीनगर समाज का मारवाड़ राजघराने के प्रति योगदान

डॉ. सन्तोष आसेरी

प्राचीन भारत का इतिहास पुराणों में बहुत कुछ सुरक्षित पाया जाता है। ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड में अंकित है कि सिन्धु (सिन्ध) देश के नगर स्थान में सूर्यवंशीय राजा रत्नसेन राज्य करते थे, जो परशुराम के भय से अपनी 5 गर्भवती रानियों को लेकर दधीच ऋषि के आश्रम में रात्रि में भागकर शरण लेने के लिए आये। पांचों रानियों से क्रमशः पांच पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़ा जयसेन था। उसके बाद बिन्दुमान, विशाल, चन्द्रसाल और भरत का जन्म हुआ। जब पांचों राजकुमार 5 वर्ष के हो गये उस समय रत्नसेन परशुराम के हाथों मारे गये। बड़े कष्टों का सामना करने के पश्चात् जयसेन ने पुनः नगर स्थान का सम्राट पद प्राप्त किया। महाराजा रत्नसेन तक यह वंश सूर्यवंशी कहलाता था लेकिन जयसेन के सम्राट बनने के पश्चात् इस वंश का नाम जयनगर क्षत्रिय पड़ा जिसका अपभ्रंश जीनगर हो गया जो आज तक प्रचलित है। जयनगर क्षत्रिय की उपाधि हिन्गुला देवी ने दी थी तथा जयसेन को 10 पीढ़ी तक और एक हजार वर्ष तक राज्य करने का वरदान दिया था। अतः जीनगर सूर्यवंशी रत्नसेन के पुत्र जयसेन के वंशज हैं। इस वंश को शासन करते हुए जब एक हजार वर्ष पूरे हो गये थे तब इसी समय काल के दौरान म्लेच्छों ने जयनगर क्षत्रियों पर आक्रमण कर दिया था। इनके बड़े-बड़े योद्धा युद्ध में मारे गये और जयनगर से इनके पांव उखड़ गये। श्रुतसेन तथा विदुरथ जयनगर क्षत्रिय ने 9 दिन तक मां आशा देवी की आराधना की। आशादेवी ने प्रकट होकर कहा कि अब तो माता हिंगलादेवी का वरदान का प्रभाव समाप्त हो चुका है। परशुराम के शाप के कारण तुमको शस्त्र विद्या फलेगी नहीं और तुम्हारे भाग्य में अब राज्य करना नहीं लिखा है। देवी ने कहा कि आज से तुम्हारी आजीविका तुम्हारे हाथ में होगी। तुम हाथी, घोड़े, रथादि इनके सुन्दर झूले बनाना, घोड़े-हाथी की जीनें बनाना, रंग का काम, कपड़े छापने का काम, तलवार की म्यान बनाने का काम, तलवार-बंदूक धारण कर क्षत्रियोचित नौकरी तथा लकड़ी आदि शिल्प कार्यों द्वारा जीविका चलाना। इससे तुम सुखी रहोगे। जयनगर में तुम 100 वर्ष तक और रह सकोगे। आशादेवी के वरदान से जयनगर क्षत्रिय 100 वर्ष तक नगर स्थान पर रहे म्लेच्छों का पुनः आक्रमण हुआ। तब ये लोग अपने-अपने कुटुम्बों को लेकर जहां सुविधा मिली वहीं जाकर रहने लगे और जैसा उचित समझा वही शिल्प करने लगे थे।<sup>1</sup> जीनगर जाति के क्षत्रिय होने के प्रमाण सरकारी रिपोर्टों से भी मिलते हैं। मि. शेरिंग लिखते हैं-मारवाड़ी मोचियों के गोत्रों से स्पष्ट होता है कि ये लोग क्षत्रिय वर्ण के हैं, अल बत्ता इनके धंधे अलग-अलग होने से इनको

पन्नीगर, जीनगर, सिकलीगर, म्यानगर आदि नामों से पुकारते हैं। परन्तु इन सबका खान-पान शादी-व्यवहार परस्पर एक है। इनमें चौहान, राठौर, मूलू, गहलोत, चन्देल आदि सभी गौत्र क्षत्रियों को है।<sup>2</sup> मि. रसल लिखते हैं कि मोचियों की धंधे भेदों से कई जातियां कही जाती हैं जैसे सिकलीगर, जीनगर, पन्नीगर, जोड़ीगर आदि किन्तु सब एकही जीनगर जाति के क्षत्रिय हैं जिसका सबसे बड़ा प्रमाण इनके गौत्र हैं, जो प्राचीन क्षत्रियों और इनके एक ही पाये जाते हैं।<sup>3</sup>

### वर्ग भेद

मरदुमशुमारी राज मारवाड़ 1891 ई. के तीसरे हिस्से में मारवाड़ की कौमों का इतिहास, उनका खान-पान, रीति रिवाज आदि का विवरण दिया गया है। इस रिपोर्ट में जीनगरों के वर्गभेद का निम्नलिखित उल्लेख मिलता है।

1. **म्यांनगर**-छुरियां, तलवारों के म्यान, कमर पट्टे, परतले, बन्दूकों के सींग साज बनाते हैं। ये पहले चौहान, गोहिल और पंवार राजपूत थे।
2. **पन्नीगर**-सोने चांदी के तबक और कतीर की पन्नी बनाते हैं। ये पहले चौहान और डाबी थे।
3. **जीनगर**-ये घोड़ों की जीन बनाते हैं। इनमें ऊपर लिखी खांपों के अलावा राठौड़ और सांखला राजपूत आते हैं।
4. **जोड़ीगर**-जूते बनाते हैं। इनकी खांपें हैं-पंवार, खींची, मोहिल, मूलू, खत्री, डाबी, सोनगरा, सोलंकी, चौहान, सांखला, चितारा।
5. **थईगर**-जोगदानी और रुपये पैसे रखने की थैई बनाते हैं।<sup>4</sup>

### मोची कैसे कहलाये?

मरदुमशुमारी राज मारवाड़ का अध्ययन करने पर यह बात सामने आती है कि म्यांनगरों में से कुछ लोग जूते बनाने का काम जोधपुर के महाराजा श्री अजीतसिंहजी (वि.सं. 1763-1781; सन् 1706-1724 ई;) के समय से करने लगे हैं। पहले जूते बनाने का काम मुसलमान मोची ही किया करते थे किन्तु महाराजा श्री अजीतसिंहजी किसी बात पर मुसलमान मोचियों से नाराज हो गये और आदेश दिया कि हम मुसलमान मोची के हाथ का जूता नहीं पहनेंगे किसी हिन्दू से बनवाओ। तब एक म्यांनगर ने जूता बनाकर पहनाया। वह महाराज को पसन्द आया और इनाम भी खूब मिला। उसी समय से ये लोग जूते बनाने भी लग गये।<sup>5</sup>

बांकीदास चारण अपने ग्रंथ 'ऐतिहासिक बातें' में लिखते हैं कि हिन्दू मोची जो जीनगर कहे जाते हैं, यांकि खास उत्पत्ति क्षत्रिय कुल से ही है। परन्तु ई लोग परशुराम का डरसुं दूसरी जाति में गिणावा लागा फेर जुता बणावासूं मोची कहलाया।<sup>6</sup> जीनगर जाति भारत की एक प्रसिद्ध शिल्पिक जाति है और शिल्पिक जिस कार्य में मुनाफा देखते

हैं उसी को अपना लेते हैं। अजीतसिंहजी महाराजा के समय देवीसिंह म्यांनगर द्वारा महाराजा का जूता बनाने पर अच्छा इनाम मिलने के कारण ये लोग इस काम को करने लग गये। जूता बनाने के कारण इस जाति को भी लोग मोची कहने लग गये थे। ये लोग पका-पकाया साफ-सुथरा चमड़ा लाकर ही काम करते हैं। न तो कच्चे चमड़े को छूते हैं और न ही पुराने चमड़े की मरम्मत करते हैं।<sup>7</sup>

### जीनगरों की सांस्कृतिक स्थिति

जीनगरों का धर्म सनातन धर्म है। इनमें से कुछ शाक्तक, रामापीर के उपासक तथा कुछ आई जी के डोराबंद भी हैं। मातृभाषा मारवाड़ी है लेकिन जिस प्रान्त में रहते हैं वहां की भाषा भी जानते हैं और बोलते हैं। इनकी अलग-अलग कुलदेवियां हैं। इनमें आपस में शादी ब्याह होते हैं। इनमें ब्याह की न्यात वही कर सकता था जो हाथ में सोने के कड़े पहनता हो।<sup>8</sup> गमी के अवसर पर भी वही भद्र होता था। वर्तमान में न्यात वगैरह नहीं होती है और भद्र होने के लिए भी नियम सरल हो गये हैं। ये शांतिप्रिय, सरल, परिश्रमी हैं, इनके वस्त्राभूषण साधारण होते हैं।

### मारवाड़ राजघराने को दी गई जीनगर समाज की सेवायें

मारवाड़ के जीनगर समाज ने मारवाड़ राजघराने को भी महत्वपूर्ण सेवायें दी हैं। महाराजाओं के समय की लिखी गई बहियों में कपड़ों के कोठार की बहियां, जवाहर एण्ड मिण्ट की बहियां, सिलेहखाना की बहियों से इस बात की पुष्टि भी होती है। इस समाज के लोग महाराजाओं के जूते बनाते थे, घोड़ों की जीन बनाते थे तथा तलवारों की म्यान आदि बनाने का कार्य मुख्य रूप से करते थे। महाराजा मानसिंह के समय की सिलेहखाना जमा खरच की बही संख्या 68 से पता चलता है कि वि.सं. 1878 में तलवार की म्यान को सिलने के लिए धागा जीनबर आसिये के हस्ते लिया गया था। इसी बही से ज्ञात होता है कि तलवार की म्यान बनाने का कार्य भी जीनगर समाज के चार लोगों—कालू सेवा का पुत्र, रामा नेमा का पुत्र, डायला चेना का पुत्र, सरूप सिमरत का पुत्र ने किया जिनको 2 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से कुल 8 रुपये दिये गये थे। यह कार्य चैत्र माह की सुद 14-15 को किया गया था। बही में चमड़े की खरीद का उल्लेख भी मिलता है जो जीनगर आसिये, सोभा एवं जसा से खरीदा गया था। तलवार की म्यान की खांपे तैयार करने के लिए सेमल लकड़ी के 46 नग 4 रुपये में जीनगर आसिये से खरीदे गये थे। महाराजा तखतसिंह के समय जीनगर उदिया तलवार सम्बन्धी कार्य उत्तम कोटि का करता था। उसके द्वारा बनाये गये लोहे के बने तलवार के 12 चुंकले खरीदे गये और खजाने से कीमत चुकाई गई थी। वि.सं 1907 में जीनगर स्त्रियों ने तलवार की रकिया तैयार की जिनको प्रतिदिन के लिए 1 रुपया मजदूरी दी जाती थी।<sup>8</sup>

### संकट के समय मारवाड़ राजघराने को योगदान

शिल्पकार्यों के अलावा जीनगर समाज के लोगों ने संकट के समय भी मारवाड़



राजघराने को अपनी सेवार्यें दी है। गढ़ जोधपुर घेरे री बही से पता चलता है कि 30 मार्च 1807 ई. को जयपुर बीकानेर की सेना ने जोधपुर नगर को घेर लिया। 18 अप्रैल 1807 से जोधपुर दुर्ग का घेरा डाला गया। गढ़ का घेराव 5 महीने तक रहा। इस अवधि के दौरान किले के भीतर व्यापक व्यवस्था की गई थी। बही का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उस समय मारवाड़ की सभी जातियों ने अपना-अपना योगदान दिया था जीनगर (मोची) जाति के योगदान का भी उल्लेख इस बही से मिलता है। घेरे के समय इस जाति के लोग भी गढ़ में विद्यमान थे, जिनके नाम हैं—

1. मीया नगर लछो खरता रो कबीला रे सुधौ बे. सुद 8
2. मोची मोटियो नागौर रो कबीला सुधो बे. सुद 8
3. मोची हुकमो माईदास रो
4. बालीयो पोकर रो सा. वद 9
5. मोची केसरीयो कबीला सुधो।<sup>9</sup>

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जीनगर जाति का सम्बन्ध प्राचीन क्षत्रियों के वंश से ही रहा है। परशुराम के शाप के कारण शासन करने का इनका अधिकारी समाप्त हो गया और इनको शिल्प का काम अपनाना पड़ा। कालान्तर में जूते बनाने के कारण मोची कहे गये।

इस जाति के लोग अपने शिल्प कार्य में निपुण होने के कारण ही जोधपुर राजघराने ने भी इनकी सेवार्यें ली थी। जरूरत पड़ने पर संकट के समय भी इस समाज ने अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा के साथ निभाया था।

### सन्दर्भ

1. ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड, दाधीच सारस्वत ब्राह्मण प्रकरण, विष्णु पुराण, श्री मद्भागवत, नवम स्कन्द, महाभारत, आदि पर्व
2. शेरिंग, कास्ट ऑफ इण्डिया, जिल्द 2, पृ. 188
3. मि. रसल, ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ इण्डिया, भाग 2, पृ. 217
4. राय बहादुर मुंशी हरदयालसिंह, मरदुमशुमारी राज मारवाड़, जोधपुर 1891 ई. पृ. 543
5. पूर्वोक्त
6. बांकीदास चारण, ऐतिहासिक बातें, पृ. 2466, हस्तलिखित कॉपी जोधपुर राज्य महकमा तवारिख में सुरक्षित है।
7. स्मारिका, जीनगर समन्वय (मासिक) कोटा, 30 मई, 1999 के प्रकाशित अंक में पं. राधेश्याम जी महाराज के ग्रंथ क्षत्रिय जीनगर इतिहास से चयनित अंश
8. मरदुमशुमारी राज मारवाड़ 1895 ई. वृ. 544
9. डॉ. विक्रमसिंह भाटी, पुस्तक प्रकाश में संग्रहीत पुरालेखीय बहियों में तलवारों के विभिन्न सन्दर्भ, पृ. 7, 8, 9, 14, 15

## 18वीं सदी में मारवाड़ में बैंकिंग पद्धति - एक पुरातात्विक अध्ययन

डॉ. टी.सी. बैरवा

ऋग्वेद में ऋण<sup>1</sup> का उल्लेख है किन्तु इस काल में अधिकतर व्यक्ति जुआ खेलने के कारण<sup>2</sup> ऋणी हो जाते थे। ऋग्वेद में मूलधन का 1/16 या 1/8 भाग ब्याज के रूप में देने का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup> उत्तर वैदिक काल में धन उधार देने वाले साहूकार (कुसीदि) का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>4</sup> कौटिल्य के अनुसार जो धन व्यापार में लगाया जाए उस पर लाभ का आधा ब्याज के रूप में व्यापारी को साहूकार को देना चाहिए। यह धन प्रति वर्ष व्यापारी को ब्याज के रूप में साहूकार को देना चाहिए।<sup>5</sup> ऋण दो प्रकार के थे रक्षित और प्रतिभूति रहित। मनु के अनुसार यदि कोई व्यक्ति कर्जा नु चका सके तो उसका उत्तराधिकारी रक्षित कर्जे का ही देनदार होता है।<sup>6</sup>

18 वीं शताब्दी के दौरान राजस्थान (मारवाड़) में बैंकिंग व्यवस्था पूर्ण व्यवस्थित एवं उन्नत अवस्था में थी। यद्यपि आज की भांति उस समय आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था, एवं बैंक विद्यमान नहीं थे, फिर समकालीन पुरालेखिय स्त्रोंतों को देखने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि मारवाड़ के विभिन्न कस्बों में अनेक बैंकर्स थे, जो बैंकिंग का व्यवसाय करते थे। जिनको कोठीवाल और बोहरों के नाम से जाना गया। कोठीवाल जो शाह और सेठ भी थे, जो बैंकिंग व्यवसाय के नायक थे, वे बड़े-बड़े व्यापारियों के साथ शासकों को भी आवश्यकता पड़ने पर रूपया उधार दिया करते थे। इनके प्रमुख कार्य थे—रूपया उधार देना, हुण्डियाँ जारी करना या उनका भुगतान करना और दूसरे राज्यों के सिक्कों को स्थानीय प्रचलित मुद्रा में बदलना।

### ऋण देना

स्थानीय बैंकर्स का सबसे प्रमुख कार्य रूपया उधार देना था। ये लोग सामान्यतया महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों एवं कस्बों में रहा करते थे। कोठीवालों द्वारा बड़े-बड़े व्यापारियों एवं संदर्भ स्थानीय शासकों को ऋण दिये जाते थे। जोधपुर गजेटियर में उल्लेख मिलता है कि 1766 ई. में जोधपुर के नन्दवाना बोहरा ने 1,00,000 रूपये और 1806 में सेठ कुशालचंद ने 50000 रूपये ऋण के रूप में जोधपुर महाराज को दिये थे।<sup>7</sup> खास रूक्का परवाना बही नं. 01 में उल्लेख मिलता है कि सेठ दयाराम, रूपचंद जोधपुर के प्रसिद्ध बैंकर्स थे, जिन्होंने जोधपुर दरबार को वि.सं. 1847 में माराठा सरदार तुकोजी होल्कर को देने के लिए एक लाख रूपये अपनी फर्म से उधार दिये थे। यह ऋण 2½

महीने के लिए दिया गया था और इस ऋण की अदायगी के लिए महाराजा द्वारा दरीबा, नांवा, डीडवाना, परबतसर और मारोठ की सायर की आमदनी वसूल करने का अधिकार उपर्युक्त फर्म को दिया गया था।<sup>8</sup>

जैसलमेर के पालीवाल भी धनी बैंकर्स थे जिनसे अनेक स्थानीय व्यापारी रूपया उधार लिया करते थे।<sup>9</sup> लोकमणी संग्रह की बही नं. 05 में उल्लेख है कि वि.सं. 1830 में मेड़ता के बोहरे वृन्दावन व्यास द्वारा 61 रूपये 8 आना उसी कस्बे के बेनी कालानी महाजन को 15 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर गणेशजी कालानी की जमानत पर उधार दिये गये थे।<sup>10</sup> अधिकांश गांवों के किसानों और अन्य जरूरतमंद लोगों द्वारा बोहरों से ऋण लिया जाता था। किसान लोग बीज, बैल, कृषि उपकरण खरीदने एवं भूराजस्व चुकाने के लिए बोहरो से ऋण लेते थे। उदाहरण के लिए- सनद परवाना बही नं. 14 से हमें जानकारी मिलती है कि वि.सं. 1831 में ग्राम पीड़ोद के धारू जाट द्वारा उसी गांव के एक बोहरे से 82 रूपये का ऋण लिया गया था जिसके लिए उसको अपने खेते बोहरे के पास बंधक रखना पड़ा था।<sup>11</sup>

### मुद्रा विनिमय

18 वीं सदी के दौरान मुद्रा विनिमय भी बैंकर्स का एक प्रमुख व्यवसाय था। मुगलकाल में भी भू-राजस्व की नकदी वसूली के कारण एक वर्ग का उदय हुआ जिसे 'सर्पाफ' कहते थे जो अन्य कार्यों के साथ मुद्रा विनिमय का कार्य भी करता था। सर्पाफ का कार्य मुद्रा विनिमय का लेनदेन आदि के माध्यम से मुद्रा को चलन में बनाए रखना था। चूंकि राजस्थान को अलग-अलग राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के प्रचलित थे जो वजन और मूल्य में एक दूसरे से भिन्न होते थे। सर्पाफ बट्टा लेकर सिक्के बदलते भी थे। यह लाभकारी व्यवसाय था, परवाना बही नं. 14 में हमें उल्लेख मिलता है कि डीडवाना का सर्पाफ जेठमल मुद्रा विनिमय का कार्य बड़ी कुशलता से चलाता था।<sup>12</sup>

हुण्डियाँ (विनिमय पत्र) L.C. Jain (Indigenous Indian Banking) नामक अपनी कृति का अर्थ इस प्रकार बताया है- "हुण्डि या हुण्डवी एक लिखित आज्ञापत्र होता है, जिस पर किसी प्रकार की शर्त नहीं होती है। यह आज्ञापत्र किसी एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के मांगे जाने पर अदायगी के सिलसिले में जारी किया जाता था। इसमें किस व्यक्ति को कितनी अदायगी होनी है आदि सभी तथ्य उल्लेखित रहते हैं तथा उसी हिसाब से अदायगी की जाती है। G.N. Sharma ने "Social Life in Medieval Rajasthan" नामक अपनी कृति में हुण्डि का वर्णन करते हुए लिखा है कि "एक स्थान से दूसरे स्थान पर जब रूपयों की आवश्यकता होती थी, तो हुण्डि के द्वारा मुद्रा भेज दी जाती थी।<sup>13</sup> हुण्डियाँ हस्तान्तरित भी हो सकती थी। इनको खरीदा एवं बेचा जा सकता था। हुण्डियों की दूसरी विशेषता इनकी 'अनुमोदन प्रणाली' थी जिसके अन्तर्गत प्रत्येक हुण्डि, विक्रेता, आदेशित द्वारा हुण्डि को अस्वीकार करने की स्थिति में अगले खरीददार को मूलधन अदा करने का लिखित वचन देता था। सामान्यतया: हुण्डियाँ दो

प्रकार की होती थी दर्शन एवं मुदत्ती दर्शनी हुण्डि उसे कहा जाता था जिसको प्रस्तुत करते ही भुगतान करना पड़ता था, जबकि मुदत्ती हुण्डि, जिसका भुगतान उस हुण्डि में उल्लेखित अवधि के बाद ही किया जाता था।

### ऋण पद्धति

सूदखोरी की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। मौर्य युग में भी सूद पर रूपया लेने व देने की परम्परा थी। कौटिल्य के अनुसार एक सौ पण उधार देने पर सवा पण मासिक अर्थात् 15 प्रतिशत वार्षिक सूद लेना निश्चित था। मुगलकाल में सूदखोरी की परम्परा थी, लेकिन धार्मिक दृष्टि से इस्लाम में सूदखोरी निषिद्ध है। सूदखोरी तत्कालीन समाज की एक विशिष्टता थी, जिसका प्रचलन मुख्यतः कृषि एवं दस्तकारी क्षेत्रों में था। किसान वर्ग अपनी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होने के कारण, लगान चुकाने एवं कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए महाजनों से उंची ब्याज पर ऋण लेते थे। इरफान हबीब कहते हैं कि "दस्तकार सामान्यतः ऋण के लिए महाजनों पर आश्रित थे।

**ऋण के प्रकार :** 18वीं सदी में मारवाड़ में ऋण के जो तरीके प्रचलित थे उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है-

#### 1. गहना गिरवी रखकर

इस पद्धति में सोना या चांदी के गहने गिरवी रखकर ऋण दिया जाता था। लोकमणी संग्रह की बही नं. 5 में उल्लेख मिलता है कि मेड़ता के दीपचन्द मंत्री ने 9 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर से वृन्दावन व्यास के गहनों पर 26 रूपये का ऋण लिया।<sup>14</sup> दूसरा उदाहरण, सनद परवाना बही नं. 20 में उल्लेख मिलता है कि चेनाराम ने जोधपुर के माहेश्वरी मयाचंद से 50 रूपये का ऋण लिया, बदले में उसने सारे गहने गिरवी रखे।<sup>15</sup>

#### 2. व्यक्तिगत साख पर दिया जाने वाला ऋण

इस प्रकार के ऋण में एक मुश्त चुकाया जाने वाला ऋण और दूसरा किशतों में चुकाया जाने वाला ऋण था। प्रथम प्रकार में, ऋण में साहूकार ऋण लेने वाले व्यक्ति से चीज गिरवी के रूप में नहीं रखता था। वह या तो स्वयं की साख अथवा परिचित व्यक्ति की साख या गारंटी पर मुहैया करवाया जाता था। इस प्रकार के ऋण में ब्याज की रकम ज्यादा थी, सामान्यतया: 15 प्रतिशत से भी अधिक थी। सनद परवाना बही नं. 26 में उल्लेख है कि नागौर के चूड़ीगर अलादीन द्वारा नागौर के ही एक महाजन बिरधा से रहमत खां की साख पर 331 रूपये का ऋण लिया था।<sup>16</sup>

#### 3. किशतों में चुकाया जाने वाला ऋण

ऋण के रूप में ली गई राशि जब ब्याज सहित मासिक किशतों में चुकायी जाती थी तो उसे खन्दी, टिककी या रेहती के नाम से जाना जाता था।

#### 4. सम्पत्ति गिरवी रखकर दिया गया ऋण

मारवाड़ में 18 वीं सदी में सम्पत्ति गिरवी रखकर देने की प्रथा का प्रचलन था, इस प्रकार के ऋण में व्यक्ति की जमीन, मकान या दुकान गिरवी रखकर ऋण दिया जाता था। यदि ऋण की निश्चित समय में अदायगी नहीं होती तो सम्पत्ति पर साहूकार का कब्जा हो जाता था। मिजालिक फाइल नं. 06 (परवाना सांचौर) में उल्लेख है कि वि.सं. 1868 में मालजी अन्सानी ने बालाजी से 140 रूपये ऋण लिया, जिसके लिए स्वयं का मकान साहूकार के पास गिरवी रखा। अनाज के रूप में भी 18 वीं सदी के दौरान ऋण देने का प्रचलन रहा था।

#### संदर्भ

1. ऋग्वेद 2,24,7
2. वही, 10,34,10
3. वही 18,47,17
4. शतपथ ब्राह्मण 13,4,3,11
5. कौटिल्य 3,2
6. मनु 8,159
7. District Gazetteer of Jodhpur Pg. No. 204 & 206
8. खास रूक्का, परवाना बही नं 01, वि.सं. 1847 (1790 ई.)
9. कर्नल टॉड, भाग द्वितीय पृ. 230
10. लोकमानी संग्रह बही नं. 5 वि.सं. 1830 (1793 ई.) बीकानेर रिकॉर्ड, राजस्थान, राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
11. सनद परवाना बही नं. 14, पृ. 110, वि.सं. (1831 ई.) 1774 ई., जोधपुर रिकॉर्डिंग, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
12. सनद परवाना बही नं. 14, पृ. 110 (1831 ई.) 1774 ई. जोधपुर रिकॉर्डिंग, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
13. G.N. Sharma- Social Life In Medieval Rajasthan, Pg. No. 337-341
14. लोकमानी संग्रह बही नं. 5, वि.सं. 1830-1853, (1793 ई. -1796 ई.) राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
15. सनद परवाना बही नं. 20, पृ. 142, वि.सं. 1835 (1778 ई.-1796ई.) राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।
16. सनद परवाना बही नं. 26, पृ. 25, वि.सं. 1838 (1781) जोधपुर रिकॉर्डिंग, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।

## ‘पाणी पीछ’ – एक जल प्रबन्धन : बीकानेर राज्य के विशेष संदर्भ में

डॉ. राजेन्द्र कुमार

‘जल ही जीवन है’ इस वाक्यांश की सार्थकता से समस्त जन चिर-परिचित है। इसी जल की उपयोगिता का अध्ययन बीकानेर जैसे रेगिस्तानी क्षेत्र के संदर्भ में किया जाए तो इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। बीकानेर ‘कागद बहियात’ तत्कालीन जल प्रबन्धन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की सूचनाओं से भरा पड़ा है। इसी अनुक्रम में बीकानेर राज्य की कागद बहियों में ‘पाणी पीछ’ शब्द का उल्लेख बहुतायत में देखने को मिलता है। पाणी पीछ शब्द का अभिप्राय तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में सामान्यतः पीने के जल की व्यवस्था करने से लिया जाता था। बहियात में इस शब्द के समर्थन में अन्य शब्द कुवे री पीछ, पानी री पीछ तथा कोहर पीछ<sup>1</sup> आदि मिलते हैं। वर्तमान में जहाँ जल प्रबन्धन के कई स्रोत विद्यमान हैं जिनमें नहरें, ट्यूब वेल, हैण्डपम्प, नलकूप तथा कुएं आदि प्रमुख हैं। इन स्रोतों के माध्यम से आज जल मनुष्य की पहुंच में सरलता से आ गया है परन्तु मध्यकाल में बीकानेर राज्य में आधुनिक जलीय स्रोतों के न होने के कारण तत्कालीन प्रचलित स्रोतों कुओं, बावड़ियों व तालाबों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। स्थानीय जलीय स्रोतों में जलस्तर के नीचे होने, जल में खारेपन की अधिकता, साथ ही हर क्षेत्र में जलीय स्रोतों की उपलब्धता की कमी के कारण मानव जीवन के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी।

बीकानेर राज्य के पुरालेखीय दस्तावेजों के सूक्ष्म अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि यह दस्तावेज जल से सम्बद्ध अनेक व्यवस्थाओं व विवादों का विशेष उल्लेख करते हैं। तत्कालीन बहियात से ज्ञात होता है कि राज्य की सेना जब अपने राज्य के विभिन्न परगनों से होकर गुजरती थी तब सैनिकों व लश्कर में शामिल पशुओं के लिए राज्य प्रशासन उन गांवों में चारे व पानी की व्यवस्था करवाता था। प्रशासन के आदेश पर इनकी व्यवस्था गांव वालों को बेगार के रूप में करनी पड़ती थी। कई बार व्यापारिक काफिलों को राज्य के भीतर से होकर गुजरने हेतु प्रोत्साहन देने के लिए भी यह व्यवस्था करवाई जाती थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के कबीले भी जब किसी गांव में आकर बसते थे तो उनके लिए भी राज्य द्वारा जल की व्यवस्था करवाने के सख्त आदेश दिये जाते थे।<sup>2</sup> प्रशासन द्वारा समय-समय पर परगनों के हाकिमों, चीरों के हवलदारों व गांवों की व्यवस्था करने वाले चौधरियों व किसानों को आदेश प्रेषित किये जाते थे कि उनके सम्बन्धित क्षेत्रों में वे लोगों व पशुओं के लिए भलीभांति जल की व्यवस्था करें।<sup>3</sup>

आदेश की पालना न होने पर स्थानीय अधिकारियों को दरबार तलब किया जाता था।<sup>14</sup> तत्कालीन बहियात में ऐसी सूचनाओं की अधिकता से ऐसा विदित होता है कि तत्कालीन जीवन में जल की कमी थी तथा सभी लोगों व पशुओं को आवश्यकतानुसार जल की प्राप्ति हो जाए इसके लिए प्रशासन द्वारा विभिन्न प्रयास किये जाते थे। उक्त काल में कृत्रिम जलीय स्रोतों में कुएं, बावड़ी व तालाब प्रमुख थे। इनमें से मनुष्यों के लिए कुएं व बावड़ी का पानी काम में आता था उसी तरह पशुओं को पिलाने के लिए कुओं व तालाबों का पानी मुख्य रूप से काम में लिया जाता था।<sup>15</sup> इस तथ्य की पुष्टि कागद बही नं. 03, वि.सं. 1827 की एक सूचना से होती है जिसमें दरबार द्वारा राज्य के उमरावों व चौधरियों को स्पष्ट आदेश दिये गये थे कि नायक की बाळद<sup>6</sup> नमक लेकर राजगढ़ व रीणी जायेगी सो मार्ग में तालाब का पानी पिलाने की विशेष व्यवस्था की जाए।<sup>17</sup> बीकानेर जैसे रेगिस्तानी क्षेत्र में जल स्रोतों का अभाव देखने को मिलता है। कई गांवों में कुओं का पानी खारा होने के कारण वहाँ के लोगों द्वारा किसी अन्य गांव के कुओं से पानी लाकर पिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में कई बार ऐसे गांवों के लोगों को पानी ले जाने की मनाही कर दी जाती थी। उदाहरणार्थ गांव चाहनी के आनंदी रामसिंघोत नाथावत हमेशा से गांव चाहनी के कुएं से पानी पीते रहे थे जबकि पालीवालों ने अब उन्हें चाहनी के कुएं से पानी निकालने की मनाही कर दी। जबकि दरबार के आदेश पर जल की व्यवस्था नियमित की गई।<sup>18</sup> इसी तरह एक अन्य मामला गांव चिलकोई रे बास का था, जहाँ के लोग पास के ही गांव चिलकोई के कुएं से सदा पानी पीते रहे थे परन्तु वहाँ के भोगते भीमा व अणदा वणीरोत ने इन लोगों को मनाही कर दी थी। फिर दरबार के मधुस्थता करने पर उन्हें कुएं के जल की सुविधा पूर्ववत् जारी रखी गई।<sup>19</sup>

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अपने राज्य के लोगों व पशुओं के लिए जल की व्यवस्था करने का जिम्मा राज्य प्रशासन का होता था। बीकानेर राज्य की पृष्ठभूमि मरूस्थलीय होने के कारण यहां वर्षा का औसत सदैव न्यून रहा है एवं ६ रातलीय जल का स्तर भी काफी नीचे था।<sup>10</sup> ऐसी स्थिति में ऊँट जैसे विशालकाय जीव के लिए जल की व्यवस्था करना बड़ी समस्या थी जैसा तत्कालीन रिकॉर्ड से ज्ञात होता है कि राज्य में ऊँटों, घोड़ों व बैलों को खुराक में घी दिया जाता था जो राज्य में जल की अपेक्षा सरलता से प्राप्त हो जाता था।<sup>11</sup> इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सैकड़ों की संख्या में ऊँटों के झुण्ड को पानी पिलाना तब कितना मुश्किल होता होगा, इस तथ्य की पुष्टि कागद बही नं. 37 की इस सूचना से होती है जिसमें कहा गया है कि ऊँटों के काफिले के लिए पानी की व्यवस्था एक ही गांव में न करके आस-पास के विभिन्न गांवों में की जाए।<sup>12</sup> राज्य के सुतरखाने<sup>13</sup> के ऊँट व तोपखाने के बैलों के काफिले को चरने के लिए अन्यत्र परगनों व चौरों में भेजा जाता था तो उनके लिए गांव के चौधरियों को आदेश प्रेषित किए जाते थे।<sup>14</sup> कि वे उन ऊँटों व बैलों के काफिले हेतु गांवों के स्थानीय कुओं व नजदीकी खेतों में स्थित कुओं से जल की व्यवस्था करवाए।<sup>15</sup> इसी तरह रेबारियों के ऊँटों व जन सामान्य के ऊँटों के लिए भी प्रशासन द्वारा जल की

व्यवस्था की जाती थी परन्तु इनके ऊँट झुंडों द्वारा गांव की फसल को नुकसान पहुंचाने पर इन्हें उक्त गांव को छोड़कर 'पानी पीछ' कराने के आदेश दिये जाते थे। उदाहरणार्थ सीधासर गांव में रेबारी ऊँटों की टोली लेकर चराने के लिए आते थे परन्तु उनके द्वारा सीधासर गांव के खेतों में बिगाड़ किया जाता था। परिणामतः प्रशासन ने इनके ऊँटों के लिए पानी की व्यवस्था सीधासर में न करवा के अन्यत्र गांव में करने के आदेश दिये।<sup>16</sup>

तत्कालीन समय में कुओं से जल की निकासी कई सामूहिक रूप से मिलकर एवं चरस द्वारा करते थे तथा कुएं के पास बनी खेळियों<sup>17</sup> में पानी भरते थे जहाँ पशु पानी पीते थे। इससे विदित होता है कि राज्य प्रशासन अपने यहां रहने वाले लोगों व पशुओं के लिए जलापूर्ति को लेकर प्रतिबद्ध था। राज्य इसे अपनी जिम्मेदारी समझकर इसका सफलतापूर्वक निर्वहन करता था। राज्य में अकाल व सूखा जैसी विपदाओं के समय कुओं का पानी सूख जाता था। गांवों के लोग अन्यत्र पलायन कर जाते थे परिणामतः गांव के गांव सूने हो जाते थे।<sup>18</sup> ऐसी परिस्थिति में राज्य द्वारा कुओं का निर्माण करवाया जाता था एवं स्थानीय लोगों द्वारा कुओं के निर्माण करने हेतु बाहर से पत्थर व अन्य निर्माण सामग्री मंगवाने पर जगात माफ कर दी जाती थी।<sup>19</sup> राज्य में जल की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए समय-समय पर दिशा-निर्देश दिये जाते थे। उदाहरणार्थ वि.सं. 1875 में गांव कुचोर व रामसर के लोग संयुक्त रूप से कुएं का पानी निकालकर पीते थे परन्तु किसी कारणवश कुचोर गांव के लोगों द्वारा अपने हिस्से का पानी कुएं से नहीं निकाला गया तो इस संदर्भ की सूचना राज्य प्रशासन को की गई। परिणामतः प्रशासन द्वारा कुचोर गांव के पट्टेदार उदावतों को आदेश दिए गए कि अपनी बारी के अनुसार पानी कुएं से निकालकर पानी व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाये रखे।<sup>20</sup> इसी तरह वि.सं. 1875 में ही देशणोक गांव के देपासर कुएं की पीछ को लेकर डूंगरोत व उजलोत चारणों के बीच विवाद हो गया था। इसीलिए विवाद का निपटारा करने के लिए मामला पंचों के पास भेजा गया। इस मामले में पंचों ने पानी की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए दोनों वर्गों द्वारा कुएं से पानी निकालने की अवधि निर्धारित कर दी गई। पंचों के फैसले के विरुद्ध जाने वाले लोगों को 501/- रुपये जुर्माना देने को कहा गया।<sup>21</sup>

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन समय में राज्य प्रशासन जल की पर्याप्त आपूर्ति के प्रति सचेत था। इसके लिए विभिन्न कुओं व तालाबों का निर्माण किया जाता था व अन्य लोगों द्वारा निर्माण कार्य करने पर उन्हें पूर्ण सहयोग दिया जाता था। राज्य के पशुओं के लिए जल की व्यवस्था गांव के अधिकारियों द्वारा की जाती थी। कभी कभार यह व्यवस्था गांव के आमजन द्वारा बेगार के रूप में करनी पड़ती थी। इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विभिन्न उपायों का सहारा लिया जाता था। तत्कालीन बहियात में 'पाणी पीछ व कोहर पीछ' करने के आदेशों की भरमार को देखकर यह स्पष्ट होता है कि जल का विषय प्रशासन की दृष्टि में महत्वपूर्ण था। इसकी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रशासन द्वारा भरसक प्रयत्न किये जाते थे।

## संदर्भ

1. कोहर पीछ : कोहर का तात्पर्य कुएं से है अर्थात् कुएं के जल से पेयजल की व्यवस्था करना है।
2. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 14 एफ 2, बीकानेर रामपुरिया रिकॉर्ड
3. कागद बही, नं. 3, वि.सं. 1827, कागद बही, नं. 24, वि.सं. 1875, कागद बही, नं. 26, वि.सं. 1877, कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888
4. वही, पृ. 14 एफ 2, कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 14 एफ 2
5. वही, वि.सं.1827, नं.24, वि.सं.1875, नं.26, वि.सं.1877, नं.37, वि.सं. 1888
6. बफद : व्यापारिक बैलों के काफिले।
7. कागद बही, नं. 3, वि.सं. 1827, पृ. 51 एफ 2
8. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 4 एफ 1
9. पूर्व उद्धृत, पृ. 14 एफ 2
10. फैन रिपोर्ट के आधार पर।
11. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 28 एफ 1, पृ. 97 एफ 2
12. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 15 एफ 2 की इस सूचना से पता चलता है कि ऊँटों के लिए राज्य प्रशासन ने अनेक गांवों में यथा - गजरूपदेसर, नालीसर, कुमणीयां, सींझगुरु, सालमा, मूंडसर, साधासर, चरकड़ो, बेरासर, घट्टू, रामसर कुचोर व कूदसू आदि में 15-15 दिनों के लिए पेयजल की व्यवस्था करवाई।
13. सुतरखाना : ऊँटों का प्रबंध रखने वाला विभाग सुतरखाना कहलाता था।
14. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 88 एफ 1 की सूचनानुसार कई गांवों के चौधरियों को श्रीदरबार के ऊँटों की टोली के लिए पाणी पीछ अर्थात् पेयजल की व्यवस्था करवाने के आदेश दिए गए। इन गांवों में केली, छतरगढ़, राजासर, किस्तूरदेसर, मालिणिया, कुजटो, हाफासर, सतासर, करणीसर, खारो, राजपुरा, मोटासर, मालीसर, उतरंगदेसर व शेखसर थे।
15. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 88 एफ 2 के उद्धरणानुसार महाजन परगने व नोहर का झूठ ( जानवरों का झुंड) आपके गांवों में आयेगा। अतः इसके लिए 'पाणी पीछ' करवा देवे। ऐसे आदेश दिया गया।
16. कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 47 एफ 2
17. खेळियां : कुओं के पास में ही पशुओं के लिए पीने के पानी हेतु बनाए गए छोटे-छोटे कुण्ड आदि।
18. कागद बही, नं. 03, वि.सं. 1827, पृ. 53 एफ 2
19. कागद बही, नं. 3, वि.सं. 1827, पृ. 42 एफ 2, कागद बही, नं. 37, वि.सं. 1888, पृ. 40 एफ 1
20. कागद बही, नं. 24, वि.सं. 1875, पृ. 206 एफ 1
21. कागद बही, नं. 24, वि.सं. 1875, पृ. 30 एफ 1

## मुगलोत्तर काल में बीकानेर राज्य की डाक-व्यवस्था (1750-1950 ई.)

सुश्री कनिका भनोत

मुगलोत्तर कालीन बीकानेर राज्य<sup>1</sup> की डाक-व्यवस्था का अध्ययन भी इसी परिप्रेक्ष्य में अपनी विशेष प्रासंगिकता रखता है। बीकानेर स्थित राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संग्रहीत मूल पुरालेखीय स्रोत-सामग्री<sup>2</sup> तथा नगरश्री, चूरू में संरक्षित बहियों व दस्तावेजों<sup>3</sup> में ऐसी सूचनाएं तथा संदर्भ प्रचुर मात्रा में बिखरे पड़े हैं जिनसे हमें मुगलोत्तरकालीन बीकानेर राज्य की डाक-व्यवस्था को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।<sup>4</sup> इस स्रोत-सामग्री के अध्ययन से हमें यह विदित होता है कि मुगलोत्तर काल में बीकानेर राज्य की डाक व्यवस्था को एक व्यवस्थित एवं सुचारू ढंग से विकसित होने का अवसर मिला। राज्य की राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, व्यापारिक आवश्यकताओं के चलते यह अपने विविध स्वरूपों में विकसित होती दिखाई दी। दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता से सम्पर्क का माध्यम बनी 'वकील रिपोर्ट्स'<sup>5</sup> तथा अन्य पत्र-व्यवहार व संदेश प्रेषण और विविध फरमान,<sup>6</sup> निशान,<sup>7</sup> परवाने<sup>8</sup> तत्कालीन डाक-व्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान करने के माध्यम बने। सन् 1818 ई. में अंग्रेजी कम्पनी के साथ हुई संधि<sup>9</sup> और उसके फलस्वरूप बीकानेर राज्य द्वारा ब्रिटिश अधीनता स्वीकार कर लिये जाने के उपरांत तो यहाँ विद्यमान रही डाक-व्यवस्था को संगठनात्मक तथा कार्यात्मक दृष्टि से ओर अधिक विस्तार मिला।

सन् 1949 ई. में राजपूताना की रियासतों के राजस्थान राज्य में विलय से पूर्व पूर्ववर्ती बीकानेर राज्य का सम्पूर्ण क्षेत्रफल 23,317 वर्गमील था और राजपूताना के राज्यों में क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से इसका दूसरा स्थान था।<sup>10</sup> मुगलोत्तर काल से विलीनीकरण के पूर्व तक बीकानेर राज्य की सीमाएं उत्तर में पंजाब के फिरोजपुर, उत्तर-पूर्व में लौहारू राज्य और हिसार तथा उत्तर-पश्चिम में भावलपुर राज्य की सीमाओं से मिलती थी। बीकानेर राज्य के दक्षिण में जोधपुर, दक्षिण-पूर्व में जयपुर और दक्षिण-पश्चिम में जैसलमेर की रियासतें थी।<sup>11</sup> इस प्रकार बीकानेर राज्य जहाँ क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से अपने आप में काफी विस्तृत था वहीं कई पड़ोसी राज्यों की छूती सीमाओं के चलते उनसे सम्पर्क साधे रखने हेतु भी सक्रिय व सुचारू सूचना तंत्र का होना निहायत ही जरूरी था, जिसने यहाँ विद्यमान रही डाक-व्यवस्था के अध्ययन को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया था।

मुगलोत्तरकालीन बीकानेर राज्य के शुरुआती शासक के रूप में महाराजा गजसिंह (1745-1788 ई.) को उद्धृत किया जा सकता है।<sup>12</sup> तदनन्तर महाराजा सूरतसिंह (1787-1828 ई.) बीकानेर के शासक बने।<sup>13</sup> इन्हीं के शासनकाल के दौरान बीकानेर राज्य ने ब्रिटिश सरकार के साथ मित्रता की संधि की थी।<sup>14</sup> तदनन्तर, क्रमशः महाराजा रतनसिंह (1828-1851 ई.),<sup>15</sup> महाराजा सरदारसिंह (1851-1872 ई.),<sup>16</sup> महाराजा डूंगरसिंह (1872-1887 ई.),<sup>17</sup> महाराजा गंगासिंह (1887-1943 ई.)<sup>18</sup> तथा महाराजा शार्दूलसिंह (1943-1949 ई.) बीकानेर के नरेश रहे। महाराजा शार्दूलसिंह बीकानेर के अंतिम नरेश थे, जिनके समय में बीकानेर राज्य का भारतीय संघ में विलय हो गया था।<sup>20</sup> इस समूची कालावधि के दौरान बीकानेर राज्य में विद्यमान रही डाक-व्यवस्था से जुड़े विविध पक्षों का शोधपरक अवलोकन करने पर कई महत्वपूर्ण तथ्य हमारी जानकारी में आते हैं।

वैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश, समाचार तथा डाक प्रेषण का इतिहास बहुत पुराना रहा है।<sup>21</sup> प्राचीनकाल में दूतों या हरकारों<sup>22</sup> के माध्यम से यह कार्य संपादित कराया जाता था। एतदर्थ - 'परिमितार्थ दूत'<sup>23</sup> और 'शासन-हर'<sup>24</sup> शब्दों के उल्लेख भी मिलते हैं। इनका वाकपटु, विश्वसनीय और द्रुतगामी होना जरूरी था। कभी-कभी इनके द्वारा पहचान की प्रतीक कोई 'सहिदानी' (सहनाणी) भी साथ ले जाई जाती थी। समसामयिक बीकानेर राज्य में शासकीय डाक को लाने ले जाने की व्यवस्था के लिए डाक-चौकियां स्थापित थीं। कासिद (हलकारे) डाक को एक से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का कार्य करते थे।<sup>25</sup> बीकानेर राज्य की रामपुरिया रिकार्ड की कागदों की बहियों,<sup>26</sup> सावा बहियों<sup>27</sup> में प्रत्येक माह और वर्ष में कासिद खर्चों का उल्लेख देखने को मिलता है।<sup>28</sup> कासिद या हलकारे बिना रुके बहुत तेज चलकर या दौड़ कर दूरियां तय करते थे। वे बीकानेर से जयपुर तक की 170 मील की दूरी तीन रातों में चल कर तय कर लेते थे। इसके लिए उन्हें 9 रु. की राशि का भुगतान किया जाता था। 42 घंटों में अपनी उक्त यात्रा तय करने पर उन्हें 32 रु. की राशि दी जाती थी।<sup>29</sup> निःसंदेह, यहाँ पर पहले डाक की व्यवस्था कोई खास अच्छी नहीं थी। डाक किसी जगह पहुंचती तो कहीं पर नहीं भी पहुंचती थी। राज की डाक हलकारों (हरकारों) के द्वारा लाई ले जाई जाती थी। अंग्रेजी सरकार का डाकखाना भी राज्य में एक-दो स्थानों पर ही था अतः रियासत में बीकानेर, देशनोक, बीदासर, सुजानगढ़, रतनगढ़, रेणी, सरदारशहर, चूरू, राजगढ़, भादरा, नोहर, हनुमानगढ़, सूरतगढ़ आदि स्थानों पर अंग्रेजी सरकार के द्वारा डाकखाने खोले गए जो पोस्ट मास्टर के अधीन थे। इनके खुलने से डाक-व्यवस्था में काफी सुधार आया था। डाक में पार्सल, मनी ऑर्डर, बीमाशुदा पार्सल, रजिस्ट्री तथा सामान्य डाक आदि जाते थे। ऊँट सवार राज (सरकारी व्यक्ति) हरकारों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए उसके साथ भेजे जाते थे।<sup>30</sup> वि.सं. 1837 अर्थात् ई.सन् 1780 की बीकानेर राज्य की चिट्ठी खतों की बही 1/2 में अमला डाक का उल्लेख इस प्रकार देखने को

मिलता है - सुपरिन्टेन्डेन्ट, जमादार-05, गुमाश्ता-1, हरकारा-28, सवार-55 आदि।<sup>21</sup> गुमाश्ता केवल उसी जगह नियुक्त था जहाँ से तीन-चार जगह की थैलियां निकलती थीं। बाकी जगहों पर गुमाश्तान-तहसील ही डाक का काम सम्भालते थे। हमें खर्च सालाना डाक का खर्च रु. 11545 रु. होने का इन्द्राज भी देखने को मिलता है। अकसर ऊँट से कासिद भेजे जाते थे क्योंकि पैदल कासिद 24 घंटे में 40 कोस सफर ही तय कर पाते थे। हमें इस आशय का उल्लेख भी देखने को मिलता है कि महाजनों तथा व्यापारियों के द्वारा 'चिलका डाक'<sup>32</sup> तथा अपनी निजी डाक व्यवस्था भी संचालित की जाती थी।<sup>33</sup>

नगरश्री, चूरू के पोतेदार संग्रह<sup>34</sup> की बहियों तथा दस्तावेजों के अवलोकन से यह विदित होता है कि पत्र प्रेषक व्यापारी के द्वारा पत्रवाहक कासिद के नाम, पत्र पहुंच की समयावधि, कासिद को देय मजदूरी आदि के इन्द्राज अपनी बहियों में तो किये ही जाते थे, ऐसी सूचनाएं प्राप्तकर्ता को भी दे दी जाती थीं। कासिद की गलती के कारण पत्र की पहुंच में की गई देरी के लिए कासिद की मजदूरी में से कटौती भी कर ली जाती थी। मार्ग में इन्हें प्राकृतिक प्रकोप, चोर-डाकू से लुट जाने का भय भी बना रहता था, मगर वे बड़ी ही निर्भीकता से अपने दायित्व का निर्वहन करते रहते थे और डाक पहुंचाने के लिए दिन-रात दौड़ते रहते थे। एक उल्लेख से यह विदित होता है कि बीकानेर का एक हरकारा अमृतसर पहुंचा तो उसे जेठ बदि 12 को 6 रुपये इनाम के दिए गए। लेकिन जब यह हरकारा अमृतसर से बीकानेर को लौट रहा था, तो रास्ते में छिन जाने पर पुनः अमृतसर आया, जिस पर उसे एक पाग बंधाई गई एवं कुछ नगद पैसा दिया गया। इस पेटे कुल 2 रुपये 12 आना खर्च हुआ।<sup>35</sup>

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दौर में हरकारों के माध्यम से डाक लाने ले जाने की परम्परा कई वर्षों तक चलती रही थी। कम्पनी ने सन् 1837 के एक्ट XVIII के तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राज्य-सीमाओं के अंदर आम पब्लिक को भी सरकारी डाक-व्यवस्था की सुविधा उपलब्ध करा दी थी। इसके लिए पत्र के वजन एवं गंतव्य स्थान की दूरी के हिसाब से डाक-महसूल अग्रिम देना पड़ता था।<sup>36</sup> यद्यपि, पोतेदार संग्रह, चूरू की बहियों के अवलोकन से यह ध्वनित होता है कि कम्पनी सरकार की डाक व्यवस्था के अंतर्गत आम पब्लिक की डाक ले जाने की व्यवस्था सन् 1837 ई. से पूर्व भी विद्यमान थी, जो कम्पनी सरकार के सीमा क्षेत्र के अतिरिक्त कम्पनी के साथ संधियों के तहत जुड़े देशी राज्यों तक प्रभावी थी। डाक महसूल अग्रिम चुकाना भी अनिवार्य नहीं था, उसे पत्र सौंपते समय वसूल किया जा सकता था। चूंकि उस समय तक डाक टिकट नहीं चले थे अतः डाक महसूल नकदी में चुकाना होता था।<sup>37</sup> इस संग्रह की एक बही में आए उल्लेखानुसार, वि.सं. 1883/सन् 1826 ई. की आषाढ़ सुदि 4 को कलकत्ता से अंग्रेजी डाक में आने वाली 1 चिट्ठी, जिसका वजन 3 भरी (3 तोला) था, उसके लिए डाक महसूल 1 रु. 11 आना चुकाया गया।<sup>38</sup> अर्थात् 9 आना प्रति तोला की दर से डाक-महसूल अदा किया गया।

मुंशी सोहनलाल की 'तवारीख राजश्री बीकानेर' के अवलोकन से हमें यह विदित होता है कि समसामयिक बीकानेर राज्य में सर्वप्रथम सूरतगढ़-बीकानेर की डाक चौकी स्थापित की गई थी, जिसके पत्र नोहर तक जाते थे। इसकी उप-चौकियां निम्नांकित थीं - लूणकरणसर-सूरतगढ़-अनूपगढ़-मिरजावाला- हनुमानगढ़-नोहर। दूसरी डाक चौकी सुजानगढ़ में खोली गई थी जिसकी उप-चौकियां यह थीं - डूंगरगढ़-सुजानगढ़-रतनगढ़-चूरू-रैनी-सरदारशहर।<sup>39</sup> राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित सावा बही मण्डी सदर (बही क्र. 3) में आए उल्लेख से यह विदित होता है कि कासिद या हरकारों की वेतन की दृष्टि से तीन श्रेणियां थीं - दैनिक रोजगार, महीनेवार या महीनदार तथा वार्षिक रोजगार (आलीजा)। इसके अतिरिक्त विशेष या जरूरी संदेश प्रेषण के लिए विशेष रोजगार भी दिया जाता था। बीकानेर राज्य में डाक कार्य में संलग्न लोग निम्नांकित जातियों के थे - ब्राह्मण, स्वामी, घोड़ावन, मीणा, खीचड़, मेहेब, हुण्डा, खान, राजपूत आदि। सन् 1854 के एक्ट अनुसार कम्पनी सरकार का पूरा डाक विभाग एक ही डायरेक्टर जनरल के अधीन आ गया था। इसी वर्ष पहली बार डाक-टिकट का प्रचलन भी शुरू हुआ तथा समस्त दूरियों के लिए एक समान डाक दर निश्चित की गई। रेल की शुरुआत हो जाने से डाक का सम्प्रेषण रेल से भी होने लगा था। शनैः शनैः बीकानेर राज्य की डाक व्यवस्था काफी सुचारू और व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण करती हुई दृष्टिगत हुई।

### संदर्भ :

1. बीकानेर राज्य की स्थापना, जोधपुर से आए राव बीका ने वि.सं. 1545 की वैशाख सुदि बीज (12 अप्रैल, 1488 ई.) को बीकानेर नगर की नींव रख कर की थी।
2. बीकानेर बहियात शीर्षक के अंतर्गत इन बहियों की कई शृंखलाएं हैं जो मुख्यतः निम्नांकित हैं - चीरा बहियां; जगात बहियां; जमा-खर्च बहियां; लेखा बहियां; हासल बहियां; कागदों की बहियां; सावा बहियां; खालसा बहियां; पट्टा बहियां, परवाना बहियां आदि
3. नगरश्री, चूरू के पोतेदार संग्रह की विविध बहियां तथा दस्तावेज तत्सम्बन्धी मूल्यवान जानकारियां प्रदान करते हैं।
4. यह तथ्य तथा सूचनाएं, डाक व्यवस्था से सम्बन्धित विविध पहलुओं से सम्बन्ध रखती हैं।
5. केन्द्रीय दरबार तथा अन्य राज्यों में तैनात वकीलों द्वारा प्रेषित प्रतिवेदन, रिपोर्ट्स, पत्र आदि।
6. मुगल शासकों द्वारा जारी आदेश-पत्र
7. शहजादों के द्वारा जारी आदेश/पत्र
8. सरकारी/शाही अधिकारियों द्वारा जारी आदेश/पत्रादि
9. 9 मार्च, सन् 1818 ई. को इस संधि पर महाराजा सूरतसिंह तथा अंग्रेजों की ओर से सी.टी. मेटकॉफ ने हस्ताक्षर किये थे। द्रष्टव्य - अर्सकीन : गजेटियर ऑफ राजपूताना, भाग-3, पृ. 312-324; करणी सिंह : बीकानेर के राजघराने के केन्द्रीय सत्ता से सम्बन्ध (1465-1949 ई.), पृ. 149, बीकानेर, 1968
10. दि इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, भाग-8, पृ. 202; डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा :

राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था (1574-1818 ई.), पृ. 1-2, बीकानेर, 1981

11. डॉ. शिवकुमार भनोत : राजस्थान में पंचायत व्यवस्था, पृ. 5, जयपुर, 2000
12. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 335-360, अजमेर, 1939
13. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 367-407, अजमेर, 1940
14. द्रष्टव्य - फुटनोट क्र. 9
15. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 408-440, अजमेर, 1939
16. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 441-461, अजमेर, 1940
17. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 462-489, अजमेर, 1940
18. डॉ. जी.एच. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 492-601, अजमेर, 1940 ( डॉ. करणीसिंह : पूर्वोक्त, पृ. 242-344, बीकानेर, 1968
19. डॉ. करणीसिंह : पूर्वोक्त, पृ. 345-426, बीकानेर, 1968
20. वही
21. मरूश्री, शोध पत्रिका (सं. गोविन्द अग्रवाल), वर्ष 1985, अंक-4, पृ.-1, चूरू
22. फारसी भाषा के इस शब्द का आशय उस व्यक्ति से था जो संदेश/पत्र आदि को एक से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का कार्य सम्पादित करता था।
23. वह मौखिक संदेश/समाचार ले जाने का कार्य करता था।
24. वह लिखित संदेश/समाचार ले जाते थे।
25. मरूश्री, शोध पत्रिका द्दसं. गोविन्द अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ. 7
26. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित रामपुरिया रिकॉर्ड की कागदों की बहियों की कुल संख्या 80 है।
27. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में संरक्षित सावा बहियों में सावा बही मण्डी सदर-3, वि.सं. 1805/ई.सन् 1748 में काफी महत्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं।
28. एक उल्लेख द्रष्टव्य है - 12 रु. हलकारों रो दरोगो व्यास हरस करन वैशाख वद 8 सोम हुन्ता सावण वद 8 सुधा दिवस 80 माह 1 रु. 4 लेखे आखरा खरा।
29. अमरसिंह राजवी : मिडीवल हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, वोल्यूम-I, पृ. 748, बीकानेर
30. के.डी.अर्सकीन : राजपूताना गजेटियर्स, वोल्यूम-प्पु पृ. 354
31. चिट्ठी खता री बही 1/2, वि.सं. 1837/1780 ई., पृ. 32-ए, रा.रा.अ.बी.
32. सूर्य के सामने कांच को करके सांकेतिक भाषा में चिलका फँक कर संदेश प्रेषण की विधि।
33. मुंशी सोहनलाल : तवारीख राजश्री बीकानेर, पृ. 265, 294
34. नगरश्री, चूरू में पोतेदार संग्रह की बहियां तथा दस्तावेज संरक्षित हैं।
35. मरूश्री, शोध पत्रिका (सं. गोविन्द अग्रवाल), पूर्वोक्त, पृ. 7
36. वही
37. नगरश्री, चूरू में संरक्षित पोतेदार संग्रह की बहियां एवं दस्तावेज।
38. मरूश्री, पूर्वोक्त, पृ. 15
39. मुंशी सोहनलाल : तवारीख राजश्री बीकानेर, पृ. 284

## 18वीं सदी के आरम्भ में मारवाड़ में भण्डारियों व राजपूत दरबारियों के मध्य प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा (महाराजा अभयसिंह के शासन काल के संदर्भ में)

डॉ. दिनेश राठी

18वीं सदी में इतिहास एक निर्णायक मोड़ की ओर अग्रसर था। मराठों का पुनरुत्थान हो रहा था। एक ओर मुगलों की शक्ति कमजोर हो रही थी, दूसरी ओर राजपूत राज्यों की स्वयात्तता में वृद्धि हो रही थी। मारवाड़ की आंतरिक स्थिति भी विकट हो गई थी, कई सामंत विद्रोह की ओर अग्रसर हो रहे थे। उस समय मारवाड़ के राजदरबार में भण्डारियों व राजपूत सामंत-दरबार के मध्य भी प्रभुत्व की प्रतिस्पर्धा तीव्र हो गयी। शासकों के भाइयों व सम्बन्धियों के षड़यंत्र से स्थिति अत्यंत ही विकट बन चुकी थी। मराठों के आक्रमण 18वीं सदी के मारवाड़ को नया राजनीतिक परिदृश्य प्रदान कर रहे थे।

महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु के समय महाराजकुमार अभयसिंह दिल्ली में था। महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु की सूचना जब दिल्ली पहुंची तो महाराज कुमार अभयसिंह एवं सरदार मुत्यदियों ने मातम पोसी की रस्म वहीं अदा की एवं यमुना नदी में स्नान कर महाराज अजीतसिंह को श्रद्धांजलि प्रदान की।<sup>1</sup> तत्पश्चात् 3 जुलाई 1724 ई. को दिल्ली में ही अभयसिंह का राज्याभिषेक हुआ। जहां बादशाह ने अपने हाथ से केसर का तिलक किया, मोतियों के अक्षत चस्पा किए। अभयसिंह को सिरोपाव, हाथी, किलंगी वगैरह इनायत किए। सात हजारी मनसब प्रदान की। सदैव की भांति पद प्रतिष्ठा हुई और महाराजा अजीतसिंह के समय में जो परगने जब्त हुए, उनमें से सात परगने इन्हें प्रदान किए, ये थे-नागौर, केकड़ी, घड़ियाली, फूलिया, परबतसर, मारोठ तथा कुछ बाहर के परगने इत्यादि।<sup>2</sup> इतिहासकार इरविन लिखते हैं कि नवाब शमसुद्दौला की सिफारिश पर राजराजेश्वर की उपाधि और मनसब अभयसिंह को प्रदान किया गया।

राज्याभिषेक के पश्चात् अभयसिंह दिल्ली से सीधे जोधपुर नहीं आया बल्कि सवाई जयसिंह की पुत्री से विवाह करने लिए मथुरा चला गया। जहां 1 अगस्त 1724 ई. के दिन सवाई जयसिंह की पुत्री चित्रकंवर (चतुरकंवर) के साथ विवाह हुआ और फिर वह वृन्दावन यात्रा कर दिल्ली लौट आया।<sup>3</sup> सवाई जयसिंह के इस वैवाहिक निमंत्रण को स्वीकार कर महाराजा अभयसिंह ने अपने सरदारों से मनमुटाव कर लिया।

राठौड़ों की ख्यात के अनुसार सरदारों ने महाराजा से प्रार्थना की थी कि महाराजा पहले मारवाड़ आए तत्पश्चात् आमेर जाकर विवाह करे। परन्तु महाराजा अभयसिंह ने न सिर्फ मारवाड़ आने का प्रस्ताव ठुकराया बल्कि आमेर की बजाय मथुरा जाकर विवाह किया। सरदार चाहते थे कि महाराजा अजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् नए महाराजा अभयसिंह को सर्वप्रथम अपने राज्य मारवाड़ में आना चाहिए एवं तत्पश्चात् ही कोई अन्य शुभ कार्य करना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होने की वजह से कई सरदार नाराज हो गए एवं अपने-अपने ठिकानों में लौट गए और बहुत से सरदार महाराजा अभयसिंह के छोटे भ्राता आनन्दसिंह और रायसिंह के दल में जा मिले। इस प्रकार जब महाराजा अभयसिंह ने सरदारों की सलाह नहीं मानी तो विभिन्न राजपूत सरदार अपने-अपने ठिकानों पर चले गये।<sup>4</sup>

चम्पावत खांप के राजपूत सरदार, कुंपावत खांप के राजपूत सरदार, जैतावत खांप के राजपूत सरदार, करपोत खांप के राजपूत सरदार, मेड़तिया खांप के राजपूत सरदार, जोधा खांप के राजपूत सरदार, उदावत खांप के राजपूत सरदार, करमसोत खांप के राजपूत सरदार, भदावत खांप के राजपूत सरदार और भी अन्य कई सरदार थे जो अपने-अपने ठिकानों में चले गये। अन्य कई सरदारों ने महाराजा अभयसिंह के छोटे भाई आनन्दसिंह और रायसिंह का साथ दिया, जो महाराजा के विरुद्ध जगह-जगह विद्रोह कर रहे थे। इसके अलावा महाराजा अभयसिंह का एक और छोटा भाई राजवी किशोरसिंह ने छुट-पुट विद्रोह किया परन्तु बाद में अपने ननिहाल जैसलमेर चला गया।<sup>5</sup>

### राजपूत सरदारों की भंडारियों से पद प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में प्रतिद्वंद्विता

जो विवरण ऊपर दिया है कि विभिन्न राजपूत सरदारों ने महाराजा का साथ छोड़ दिया तथा अपने ठिकानों में चले गये या फिर महाराजा के छोटे भाई आनन्दसिंह और रायसिंह के साथ विद्रोह में सम्मिलित हो गए। राजपूत सामंतों के इस कृत्य के पीछे केवल उनकी अहम् की मानसिकता या अपनी प्रतिष्ठा की बात कार्य कर रही थी। यह अहम् या प्रतिष्ठा का प्रश्न इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि महाराजा के ज्यादातर निर्णय भंडारियों की सलाह अनुसार लिये जा रहे थे। जिसे राजपूत सामंतों ने अपने विशेषाधिकारों का हनन माना और उन्हें ऐसी स्थिति कतई स्वीकार नहीं थी। महाराजा से राजपूत सामंतों की दूरियां तो पहले से ही बढ़नी शुरू हो गई थीं। राजपूत सामंतों का महाराजा से मतभेद होने का कारण महाराजा का विवाह सम्बन्धी निर्णय था। यह निर्णय भंडारियों की सलाह पर लिया गया। राजपूत सामंतों के मन में यह बात घर कर गई थी कि महाराजा अजीतसिंह की हत्या आमेर के शासक सवाई जयसिंह के इशारे पर ही हुई है। अतः महाराजा अभयसिंह का सवाई जयसिंह की पुत्री के साथ विवाह, राजपूत सामंतों को स्वीकार नहीं था किन्तु भंडारी रघुनाथ की सलाह पर कार्य करते हुए महाराजा ने मथुरा जाकर जयसिंह की पुत्री से विवाह कर लिया। इस प्रकार जब राजपूत सामंतों ने देखा कि महाराजा उनकी सलाह या प्रार्थना पर तनिक भी विचार नहीं कर रहे हैं। इससे उनके



अहम् पर आघात पहुंचा तथा इसके साथ ही साथ भंडारियों के साथ उनकी (सरदारों की) वैमनस्यता बढ़ गई।<sup>6</sup>

### मारवाड़ में गृह कलह तथा भंडारियों को कैद करना

जिस समय महाराजा मथुरा और दिल्ली में था उस समय मारवाड़ में अनेक राजपूत सामंतों ने उसका (महाराजा का) साथ छोड़कर या तो अपने ठिकानों में चले गये अथवा उसके विद्रोही भाइयों आनन्दसिंह व रायसिंह के साथ जाकर मिल गये। उस समय तक इन दोनों भाइयों के छोटे-बड़े विद्रोह प्रारम्भ हो चुके थे तथा इस समय महाराजा अभयसिंह की अनुपस्थिति में सारा कार्य उनके छोटे भाई बख्तसिंह देख रहे थे। उसने इन विद्रोहों के दमन का प्रयास किया।<sup>7</sup>

बख्तसिंह ने इस दिशा में सर्वप्रथम ध्यान सोजत की ओर दिया। उस समय सोजत में महाराजा अभयसिंह के छोटे भाई रायसिंह और आनन्दसिंह उपद्रव कर रहे थे। उस समय सोजत का हाकिम धनरूप था। अतः बख्तसिंह ने सोजत हुकूमत को मारवाड़ राज्य के अधीन करने के लिए मनरूप को सेना सहित धनरूप की सहायता के लिए भेजा। दूसरी तरफ भंडारी विजैराम मारोठ की फौज लेकर सोजत पर भेजी सेना की सहायता को आ रहा था परन्तु इसी बीच सोजत के जो जैतावत और कूपावत राजपूत सरदार थे उन्होंने सोजत पर आनन्दसिंह का शासन स्थापित कर लिया था और जैतावत कूपावत सरदारों ने भंडारी धनरूप और मनरूप को कैद कर लिया। भंडारी विजैराम के साथ मारोठ के मेड़तिया राजपूत सरदार थे जिन्होंने उसे (भंडारी विजैराम को) कैद नहीं करने दिया और वे मेड़तिया सरदार, विजैराम सहित मारवाड़ आ गए।<sup>8</sup> इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि बख्तसिंह द्वारा भेजे गये अभियान, इन विद्रोहियों के कारण असफल होकर लौटे। सोजत की तरह ही जैतारण में भी ऐसी ही घटना घटित हुई। घटना का विवरण इस प्रकार है—उस समय जैतारण का हाकिम भंडारी गोरधन पुत्र मेघराज दीपावत था। हाकिम भंडारी गोरधन को जैतारण के उदावतों (राजपूत सरदारों) ने योजना बनाकर कैद कर लिया और जैतारण पर कब्जा कर लिया।<sup>9</sup>

बख्तसिंह इन विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों व घटनाओं की सफलता से अत्यन्त चिन्तित हो गया। वह यह भी जानता था कि इस प्रकार का गृह कलह कभी भी राज्य को शक्तिशाली व स्थिर न होने देगा। इसी समय बख्तसिंह ने अपनी सहायता के लिए राठौड़ सगतसिंह पुत्र आईदानसिंह, रोहट को बुलावा भेजा इस पर सगतसिंह ने बख्तसिंह से निवेदन किया कि वह सदैव से ही महाराजा अजीतसिंह और उनके पुत्रों का सेवक है किन्तु महाराजा अभयसिंह और आप (बख्तसिंह) भंडारियों की सलाह में कार्य कर रहे हो, वह ठीक नहीं है। इसके साथ ही सगतसिंह ने निवेदन किया कि राठौड़ भंडारियों से नाखुश हैं। इसलिए आप भंडारियों को कैद कर ले तो सरदार मान जायेंगे और देश का उपद्रव समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार का निवेदन जब बख्तसिंह ने स्वीकार कर लिया तो

राठौड़ सरदार सगतसिंह बख्तसिंह की सहायता हेतु उसकी सेवा में आ गया। तत्पश्चात् उसने भंडारियों को कैद करने का हुक्म दिया।<sup>10</sup>

राजपूत सरदारों अर्जुनसिंह और खीवसिंह ने जब यह आज्ञा सुनी तो वे स्वतः ही भंडारी खीवसी की हवेली चले गये। उन्होंने भंडारी थानसिंह तथा मुलकचन्द को मार दिया। जब यह समाचार बख्तसिंह और सगतसिंह के पास पहुंचा तो आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने अर्जुनसिंह और खीवसिंह से पूछा कि उन्होंने भंडारियों को कैद करने के स्थान पर उनकी हत्या क्यों की? इस सम्बन्ध में वे कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाये व उनका व्यवहार अभद्र था। अतः क्रोधित होकर सगतसिंह ने अर्जुनसिंह को मार डाला। खीवसिंह ने भागकर जैसलमेर में किशोरसिंह (महाराजा अभयसिंह का छोटा भाई) के यहां आकर शरण ली।<sup>11</sup>

अब राजपूत सामंतों का रोष भंडारियों के विरुद्ध बढ़ने लगा। जिस समय बख्तसिंह का डेरा कैसरीसिंह के झालरे (स्थान का नाम) पर था तो उस समय वहां पर उपस्थित विभिन्न भंडारियों को कैद कर लिया और कुछ को मार डाला गया। विजयराज एवं अनोपचन्द पुत्र रघुनाथ, व्यास दीपचंद, व्यास फतेचन्द को पकड़ कर कैद कर लिया। इसी अभियान की कार्यवाही के दौरान अनोपचन्द की मृत्यु धना की तलवार से हो जाती है। भंडारी भीव को चेला गोपी मार डालता है। इस तरह बख्तसिंह ने विभिन्न भंडारियों को कैद कर तथा उनकी हत्या करवा कर कुछ सीमा तक भंडारियों पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया। अभी तक उसके हाथ में भंडारी खीवसी नहीं आया जो कि उस समय मारवाड़ का मुख्य प्रभावशाली भंडारी था।<sup>12</sup>

अब बख्तसिंह ने भंडारी खीवसी को कैद करने के उद्देश्य से चम्पावत महासिंह को मेड़ता भेजा परन्तु महासिंह इस अभियान में सफल नहीं हुआ क्योंकि उणियारा के नरूका हरनाथसिंह ने खीवसी को शरण दे रखी थी। इस प्रकार जब मारवाड़ के भंडारियों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के बाद बख्तसिंह ने महाराजा अभयसिंह से निवेदन किया (इस समय महाराजा अभयसिंह मथुरा में थे) कि राजपूत सरदारों में उत्पन्न असंतोष को दूर करने के लिए भंडारियों को कैद कर लिया और मारवाड़ के प्रशासनिक कार्यों की देखरेख के लिए भंडारी खीवसी के स्थान पर पंचोली बगसीराम को नियुक्त किया गया।

इसके साथ ही साथ बख्तसिंह ने महाराजा अभयसिंह से यह भी निवेदन किया कि भंडारी रघुनाथ, जो कि उस समय महाराजा के पास मथुरा में ही मौजूद था, को भी कैद कर लिया जाये जिससे सभी राजपूत सरदार संतुष्ट हो जायेंगे तथा विद्रोह छोड़कर उनकी सेवा में आ जायेंगे।<sup>13</sup> महाराजा अभयसिंह ने बख्तसिंह की सलाह पर कार्य करते हुए भंडारी रघुनाथ को बुलाकर सम्पूर्ण हकीकत बताई और उससे कहा कि सरदारों का असंतोष समाप्त हो तब तक तुम डेरे में बैठे रहो। इस प्रकार भंडारी रघुनाथ को भी

नजरबन्द कर दिया। महाराजा अभयसिंह के इस निर्णय से राजपूत सरदार संतुष्ट हो गए और महाराजा के साथ हो गए।<sup>14</sup>

भंडारियों की शक्ति को प्रभावहीन बनाने के बाद पंचोली रामबगस को दीवान नियुक्त किया गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् वि. संवत् 1782 के ज्येष्ठ में (1724-25 ई.) में महाराजा अभयसिंह ने भंडारी रघुनाथ और भंडारी खींवसी तथा अन्य भंडारियों को कैद से मुक्त कर दिया। महाराजा के इस फैसले से राजपूत सरदार फिर नाराज हो गए तथा वे जालौर की तरफ चले गए। इस पर महाराजा ने उनको प्रसन्न करने के लिए भंडारी रघुनाथ और खींवसी को दुबारा कैद कर लिया।<sup>15</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूत सरदारों और भंडारियों के मध्य में जो तनाव व वैमनस्यता उत्पन्न हुई उससे राज्य की शक्ति अस्थिर हो गई और राज्य में अशांति का वातावरण उत्पन्न हो गया।

### सन्दर्भ

1. राठौड़ों की ख्यात, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, पृ. 1, सम्पादक-कैलाशदान उज्ज्वल, पुष्पेन्द्रसिंह
2. उपर्युक्त, अ, ब
3. कच्छवाह की ख्यात : वंशावली, परम्परा अंक 130-131 सम्पादक डॉ. हुकमसिंह भाटी, पृ. 92-128
4. राठौड़ों की ख्यात : राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर सम्पादक कैलासदान उज्ज्वल, पुष्पेन्द्रसिंह, पृ. 1, 2, 3, 4
5. उपर्युक्त
6. राठी, डॉ. दिनेश, अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में मारवाड़, पृ. 47
7. वही, पृ. 48
8. राठौड़ों की ख्यात, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, सम्पादक कैलासदान उज्ज्वल, पुष्पेन्द्रसिंह, पृ. 4-5
9. वही, पृ. 5
10. वही, पृ. 5-6
11. वही अ और ब
12. रेड, वी.एन., मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 332
13. राठौड़ों की ख्यात, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, सम्पादक कैलासदान उज्ज्वल, पुष्पेन्द्रसिंह, पृ. 6
14. रेड, वी.एन., मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 332
15. उपर्युक्त

## डूंगरपुर राज्य की स्थापत्यकला में नागर ब्राह्मणों तथा खड़ायतों का योगदान

डॉ. मलिका बोहरा

वागड़ के शिल्प स्थापत्यकला के वैभव में वड़नगरा नागर, हुमड़ महाजन तथा खड़ायतों का विशेष योगदान रहा है। डूंगरपुर शहर में बहुतसी जातियां महारावल डूंगरसिंह के समय (1331-1362ई.) बसी, जो अन्य स्थानों से आकर यहां आबाद हुई।<sup>1</sup> क्योंकि इन्हीं महारावल के काल में डूंगरपुर आबाद हुआ, बड़वे की ख्यात के अनुसार महारावल गोपीनाथ के समय (1425-49 ई.) नागर भामजी सेठ को अहमदाबाद से लाया गया, जिसके साथ 300 नागरों के घरों को डूंगरपुर में आबाद किया गया।<sup>2</sup> समय के साथ डूंगरपुर में 1000 नागरों के घरों की आबादी हो गई। यहां गेपसागर से लेकर कलेवर डूंगरा तक तलहटी में, कालीमाता के मंदिर, लाभगणेश के मंदिर, गवरीबाई के ढाले व फौज के बड़ले से रावल के मकान तक नागरों की आबादी थी। रावल के मकान के आसपास मेहता खांप के नागर रहते थे, इसलिए यह भाग 'मेहतासेरी' कहलाता था।<sup>3</sup>

डूंगरपुर राज्य के सागवाड़ा, जेठाना, खड़गदा, कोकापुर, पादरा, मेहतों का पारड़ा, अन्दरखेत और पाटड़ी आदि स्थानों पर नागरों की आबादी होना पाया गया है। ये नागर बड़े विद्वान व कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इस जाति के लोग दूर-दराज के क्षेत्रों में व्यापार किया करते थे। इसी से वे बड़े वैभवशाली कहलाये। इनके बनवाये हुए बड़े-बड़े तालाब, बावड़ियां व मंदिर आज भी मौजूद हैं।

### वड़नगरा नागर

डूंगरपुर राज्य में वड़नगरा नागरों के बसने के समय में इतिहास में ये वृत्तान्त मिलते हैं कि ये लोग पहले उत्तरी गुजरात के सौराष्ट्र की राजधानी कुशस्थली जो कभी आनर्तपुर या आनंदपुर<sup>4</sup> कहलाती थी, वहां रहते थे। वहां सुबेदार के रूप में अपने योग्य सेनापति अलप खां को नियुक्त किया तब वहां खूब लूटखसौट हुई। कई मंदिरों को विध्वंस किया गया तथा धर्मान्तरण हुआ, ऐसे में कुछ वड़नगरा नागर गुजरात छोड़कर समीपवर्ती प्रदेश वागड़ में बस गये। वड़नगरा के होने से वे वड़नगरा नागर कहलाये। इन्होंने वागड़प्रदेश को अपना वतन ही माना तथा कई उन्नत साहित्यों, कलावैभव के खजानों का सृजन किया, इनमें महारावल गोपारावल के समय (1425-40 ई.) में मेघ नामक वड़नगरा नागर जाति के ब्राह्मण ने बनवाया था। इसकी पुष्टि ओझाजी तथा

वागड़िया सूरजमल ने डूंगरपुर राज्य का इतिहास तथा डूंगरपुर राज्य में दी है। वागड़ की मीरा कही जाने वाली गवरीबाई भी वड़नगरा नागर ब्राह्मण थी, जिन्होंने कृष्णभक्ति में लीन होकर मीरा बाई की तरह पद रचे। वड़नगरा नागर कई शाखाओं में विभक्त थी। इनमें डूंगरपुर राज्य में दवे (द्विवेदी) तथा त्रवाडी (त्रिवेदी) नागर अधिक थे।

### दवे (द्विवेदी) नागर

वि.सं. 1653 (सन् 1597) में महारावल सैंसमल के राज्यसमय में डूंगरपुर के धनेश्वर शिवालय के अन्तर्गत रघुनाथ का मंदिर बनवाने वाली नानीबाई, उसके पिता जीवा और भाई गदादर थे। मांडव गांव के पास का रणोली गांव दवे नागर रघुनाथ को पुण्यार्थ मिला हुआ गांव था। इस गांव में उन्होंने वि.सं. 1666 (सन् 1609) में कर्मसिंह द्वितीय के समय में सुन्दर बावड़ी बनाई, जो अब जीर्णशीर्ण दशा में है। डूंगरपुर के रहने वाले दवे शाखा के नागर काशीदास के वंशजों ने वि.सं. 1670 (सन् 1613) में महारावल पूंजराज के समय में सरोदे के पारड़े गांव में नीलकंठ महादेव का शिवालय बनाया, यहीं नागर गेला के वंशजों ने वि.सं. 1729 (1662 ई.) में महारावल जसवंतसिंह प्रथम के समय में नीलकंठ महादेव शिवालय के अन्तर्गत देवली बनवाई।<sup>16</sup>

वि.सं. 1794 (सन् 1737) में महारावल शिवसिंह के समय में डूंगरपुर के सारणेश्वर महादेव मंदिर के अन्तर्गत विश्वेश्वर महादेव की देवली बनवाने वाली शगुणीबाई का पति हरिराय दवे शाखा का नागर ब्राह्मण था। डूंगरपुर के गेपसागर तालाब की पाल पर गौरीश्वर महादेव की एक देवली जो गवरीबाई नागर ने महारावल शिवसिंह के समय (सन् 1730-1785 ई.) में बनवाई, वह आज भी मौजूद है। इसमें वि.सं. 1852 (सन् 1798) की एक प्रशस्ति पर दवे शाखा के विष्णुदास, करूणाशंकर, मायाशंकर और गिरधर आदि नागरों के नाम खुदे हुए थे।<sup>17</sup> वर्तमान में यह प्रशस्ति नष्ट है। दवे शाखा के नागरों के अलावा यहां मेहता, पंचोली, जौनी व शुक्ल शाखा के नागर ब्राह्मण भी थे। इनका भी डूंगरपुर राज्य के इतिहास से धनिष्ठ सम्बन्ध रहा। मेहता शाखा का नागर भामल वि.सं. 1649 (सन् 1596) में महारावल सैंसमल के राज्य समय में सुरपुर में बने विष्णुमंदिर जो 'माधवरायजी मंदिर'<sup>18</sup> के नाम से जाना जाता है। इस मंदिर की प्रतिष्ठा वि.सं. 1648 कार्तिक शुक्ला 15 को हुई थी। इस अवसर पर उसने राधेकृष्ण मंदिर बनाया, जो भग्न दशा में है, मगर इसमंदिर के शिलालेख को वर्तमान में डूंगरपुर शहर के रामबोला मठ में स्थापित करा दिया गया है, जिसमें मेहता भामल, उसके पुत्र गोपीनाथ व भामल के पिता के नाम का उल्लेख है। महारावल सैंसमल ने उसके पुत्र सोमनाथ व पौत्र गोपीनाथ को घोड़ा वराड़ सहित मालपुरा गांव पुण्यार्थ दिया था। मेहता शाखा के नागर शेषकरण के पुत्र काशीदास ने वि.सं. 1686 में महारावल पूंजराज के समय में पारड़ा इटीवाल में एक मंदिर बनवाया।<sup>19</sup> मेहता खांप के नागरों के नाम से राज्य में दो गांव 'मेहतों का करवा' व 'मेहतों का पारड़ा' प्रसिद्ध था। इससे सिद्ध होता है कि ये गांव उन्हें यहां के शासकों से पुण्यार्थ मिले होंगे तथा यहां उनकी अच्छी खासी आबादी

भी रही होगी। वि.सं. 1786 (1729 ई.) में महारावल रामसिंह के राज्यसमय में डूंगरपुर में मगनेश्वर महादेव का शिवालय बनवाने वाला मगन पंचोली शाखा का नागर था।<sup>10</sup> जानी शाखा के नागरों के नाम से इस राज्य में जानी का पारड़ा गांव था, जिसमें उनकी आबादी ज्यादा थी। यह गांव भी यहां के शासकों ने उन्हें पुण्यार्थ दिया था।<sup>11</sup> शुक्ल शाखा के नागरों में कानजी नागर बड़ा सम्पन्नशाली नागर था, जिसने डूंगरपुर में कानजी की बावड़ी बनवाई, जो अब नहीं है।

### त्रवाड़ी (त्रिवेदी) नागर

द्विवेदी नागरों की तरह यहां के शिल्प स्थापत्य के निर्माण में त्रिवेदियों का भी बड़ा योगदान रहा है। डूंगरपुर के मांडव गांव के निकट नाहलवाड़े से मिले एक बलवाड़िया पत्थर के आधाट पर सन् 1450 (वि.सं. 1508) भादों कृष्णा 1 (प्रतिपदा) शुक्रवार के दिन महारावल सोमदास ने अपने पिता महारावल गोपीनाथ के श्रेय में निर्मित त्रवाड़ी (कान्ह) कन्हैया को नाहलवाड़ा गांव पुण्यार्थ देने और इस हेतु साक्षी के रूप में अपने मंत्री शाल्हाशाह का उल्लेख किया है।<sup>12</sup> इस आधाट में कान्ह को वड़नागरा त्रवाड़ी शाखा का नागर बताकर उसे राज्य के ऊंचे पदों पर आरूढ़ किया। उसे बड़ा वैभव सम्पन्न व कर्मनिष्ठ ब्राह्मण बताया है, इसीलिए यहां के नरेशों ने उसे नाहरवाड़ा गांव पुण्यार्थ दिया था। यह मेवाड़ा दामोदर के पुत्र पुरूषोत्तम ने डूंगरपुर में वि.सं. 1700 में चैत्र मास में 'चक्रपाणी' नामक ग्रंथ की रचना की थी।

वि.सं. 1701 (1655 ई.) में महारावल पूंजराज के शासनकाल में पादरा गांव में लक्ष्मी नारायण मंदिर त्रवाड़ी नागर लक्ष्मीचन्द ने बनवाया। इसी महारावल के समय में सन् 1657 में डूंगरपुर का महाकालेश्वर मंदिर त्रवाड़ी कालीदास ने बनवाया। वि.सं. 1717 (1660 ई.) में महारावल खुमाणसिंह के समय में डूंगरपुर में लक्ष्मीनारायण मंदिर का उ)र त्रवाड़ी नागरणी नानीबाई व उनके पति विद्वलजी ने करवाया था। वि.सं. 1786 (1730 ई.) में महारावल रामसिंह के समय में डूंगरपुर में मगनेश्वर शिवालय बनवाने वाले पंचोली नागर मगन के साथ उसकी पत्नी गलालबाई तथा उसके पीहर पक्ष वाले गौतम व मंगलजी त्रवाड़ी का नाम आता है, जिन्होंने उक्त मंदिर के निर्माण में अपना सहयोग दिया था।<sup>13</sup> इसी तरह से वि.सं. 1834 (सन् 1781 ई.) में महारावल शिवसिंह के शासनकाल में डूंगरपुर के महाकालेश्वर मंदिर के अन्तर्गत केदारेश्वर की देवली का जीर्णोद्धार दुःखभजन त्रिवेदी नामक नागर ब्राह्मण ने करवाया था।

महारावल शिवसिंह के समय में (1730-1785 ई.) दयाराम खवास नामक तम्बोली ब्राह्मण जो महारावल का मंत्री था। जब सन् 1730 में डूंगरपुर पर मराठों के आक्रमण की तैयारियां होने लगी तब महारावल ने अपने दूत दयाराम को मराठों के होल्कर सेनापति रामदीन से शांतिवार्ता करने सतारा भेजा था। यह वार्ता सफल भी हुई, जिससे खुश होकर उन्हें सुथारवाड़ा में एक हवेली भेंट की थी, जिसे खवासजी की हवेली कहते हैं।

महारावल फतहसिंह (1790-1808 ई.) के राज्यसमय में तथा महारावल जसवन्तसिंह द्वितीय के शासनकाल के आरंभ के कई परवानों पर स्वरूप त्रवाड़ी व रखव (ऋषभदास) त्रवाड़ी का नाम मिलता है, जिन्होंने सिंधियों के आक्रमण के समय महारावल जसवन्तसिंह द्वितीय की अच्छी सेवाएं की तथा सिंधियों को डूंगरपुर राज्य से बाहर निकालने के लिए सूरमा गलालसिंह के साथ होल्कर सेना के रामदीन की सहायता लेने वह इंदौर भी गया, जिसका उल्लेख चारण किशनदास के 'उदयप्रकाश' ग्रंथ में मिलता है, जो महारावल उदयसिंह द्वितीय (1845-1898 ई.) के शासनकाल में लिखा गया। डूंगरपुर में ठाकरड़ा हवेली मौजूद है, इसे ऋषभदास त्रवाड़ी का मकान बतलाया गया है। कहते हैं कि दिवाली के समय वह अपनी हवेली की छत पर सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात सुखाता था व फावड़े से इकट्ठा करता था। उसने उदयपुर के महाराणा के लिए विभिन्न प्रकार के सिक्कों को ऊंट में भरकर उदयपुर पहुंचाये। उसके पुत्र नहीं था केवल पुत्री थी, जिसके विवाह के समय 15 दिन तक सारे डूंगरपुर शहर को जिमन जिमाया, उस दौरान तीन दिन तक लगातार वर्षा हुई तो उसने शहर को मेणियों से ढक दिया था,<sup>14</sup> लेकिन उक्त बातों में सत्यता कम प्रतीत होती है, मगर हां इतना जरूर है कि वह वैभव सम्पन्न ब्राह्मण रहा होगा। ऋषभदास ने सिंधियों के आक्रमण के समय अच्छी सेवाएं की, इसलिए उसके अधिकार बढ़ गये, मगर उस समय एक अन्य मंत्री किशनदास उससे इर्ष्या करने लगा, इसलिए उसने उसे अपने मार्ग का कांटा समझते हुए उसे विश देकर मार डाला।<sup>15</sup>

महारावल उदयसिंह द्वितीय के समय (1845-1898 ई.) में हरिकृष्णलाल (दाणा) का नाम मिलता है, जिसके घर से वागड़िया सूरजमल को 1940 ई. में एक जन्म कुण्डली जो महारावल उदयसिंह द्वितीय की थी, वह मिली थी, जिसे देवजी चितेरे ने चित्रित की थी। इस कुंडली में चित्रित चित्र डूंगरपुर के जूनामहल के आमखास में बने वि.सं. 1921 के चित्रों से मेल खाते थे। देवजी चितेरे का उल्लेख भी 'उदयप्रकाश' ग्रंथ में हुआ है। इस जन्म पत्रिका में जन्म नक्षत्र के अनुसार महारावल उदयसिंह का नाम लक्ष्मणसिंह, लाभसिंह व लालसिंह बताया है, मगर उन्होंने उदयसिंह ही रखा था।<sup>16</sup> वड़नगरा नागरों ने वैभवशाली ईमारतों का निर्माण किया। यह जाति साधन सम्पन्न रही। जब महारावल फतहसिंह के समय मराठा सरदार सदाशिवराव भाऊ की अध्यक्षता में सन् 1805 में मराठों ने डूंगरपुर राज्य पर आक्रमण किया तथा लूटखसोट की ऐसे समय में राज्य की आर्थिक स्थिति निर्बल हो गई, तब इन पर महारावल ने कर लगाना शुरू किया, जिससे नागर जाति के अधिकांश लोगों ने डूंगरपुर छोड़ दिया तथा बांसवाड़ा तथा आसपास के क्षेत्रों में बस गये।<sup>17</sup>

### खड़ायता

डूंगरपुर राज्य में वड़नागरा नागरों की विभिन्न जातियों के समान खड़ायतों में भी उच्च कोटी की धार्मिक भावनाएं रहीं। उन्होंने भी राज्य में बड़े-बड़े शिव व विष्णुमंदिर,

सरोवर व बावड़ियां बनवाई। खड़ायता जाति की उत्पत्ति के विषय में 'पदमपुराण' के अबुर्द महात्म्य में बताया गया है कालमोचन के समय महादेव ने यज्ञ के लिए 18 ब्राह्मणों को बुलाया। जब यज्ञ शांतिपूर्वक सम्पन्न हो गया तो महादेव ने उनसे वर मांगने को कहा तब वे उनके सम्बन्ध में निश्चित नहीं कर सके तथा अपनी पत्नियों से पूछने गये इस बीच उनमें आपस में खटपट हो गई, इसलिए उनका नाम 'खड़ायता'<sup>18</sup> पड़ा। बाद में उन 18 ब्राह्मणों को महादेव ने दो-दो सेवक बुलाकर दिये। वे खड़ायता (वैश्य) महाजन कहलाये। खड़ायता जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जनश्रुति<sup>19</sup> है कि प्राचीन समय में वड़नगरा ग्राम में 84 गौत्र के महाजन रहते थे। एक ही समय में एक साथ बहुत से महाजनों ने अनजाने में महादेव का प्रसाद उठा लिया, जिसके कारण उनकी जाति वालों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। फिर उनमें से 12 गौत्र के 36 महाजनों व 7 गौत्र के 18 ब्राह्मणों को जातिवालों ने कहा कि तुम शिव निर्माल्य प्रसाद लेने से दूषित हुए हो, इसलिए कोट्यक तीर्थ जाकर शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करो। ऐसा ही हुआ। कोट्यक भगवान के आशीर्वाद से इस जाति की संख्या में वृद्धि हुई। इसी तीर्थ में मूल द्विप्रथमऋ 36 महाजनों के आने से इस नगर का नाम 'शड़ायत' पड़ा। समयान्तर के साथ यह नगर अग्नि से स्वाहा हो गया तब यहां के निवासी अलग-अलग स्थानों पर भागे व आबाद हुए। अतः 'शड़ायत' ही खड़ायत और आगे जाकर खड़ायता बने। खड़ायतों के गूदाणुं, मेरवाणुं सालीस्याणुं, वशीआणुं, नाणुं, नदीआणुं, सावलाणुं, नावेलुं, परसाणुं, कल्याणुं, कमराणुं कुल 12 गौत्र हैं तथा नेशुगणमयी, नरेश्वरी, तुच्यो, नित्यां, नंदिनी, नरसिंही, विश्वेश्वरी, महिपालनी, भंडादरी, शंकरी, सूरेश्वरी, कामाज्ञी तथा कल्याणी देवियां हैं। कोट्यक भगवान उनके आराध्य देव हैं, जिनका मंदिर गुजरात के हिम्मतनगर से अहमदाबाद जाने वाले रास्ते पर वीजापुर गांव के पास महुड़ी गांव में स्थित हैं।

वि.सं. 1634 (1571 ई.) में महारावल आसकरण के राज्य समय में खड़ायता जगमाल और यादव ने डूंगरपुर के कानेरा बाजार के बीच जागेश्वरजी का विशाल शिवालय बनवाया,<sup>20</sup> तथा उसमें ब्रह्मा विष्णु व शिवजी के सुन्दर मंदिर बनवाये। उस समय डूंगरपुर राज्य में यही एक ब्रह्मा मंदिर था। वि.सं. 1649 (1582 ई.) में सैंसमल के राज्यसमय में कल्याणजी खड़ायता ने सुरपुर के माधवराय मंदिर में आधे शिव व आधे विष्णु के स्वरूपवाले हरिहर का मंदिर बनवाया।<sup>21</sup> अब यह मंदिर ध्वस्त है। वि.सं. 1670 (1623 ई.) में महारावल पूंजराज के समय में सरोदा के रहने वाले खड़ायता अचलदास तथा अमरा ने सरोदे के पारड़े में एक तालाब व त्रिविक्रमराय का मंदिर बनवाया। इन्हीं महारावल के समय जगमाल खड़ायता के पुत्र रामजी खड़ायता ने पूंजपुर गांव में माधवराय मंदिर बनवाया। डूंगरपुर का धनेश्वर का शिवालय महारावल सैंसमल के समय में वि.सं. 1653 (1598 ई.) में बना।<sup>22</sup> वि.सं. 1726 (1669 ई.) में महारावल जसवन्तसिंह प्रथम के राज्यसमय में खड़ायता मूंगा के वंशजों ने इसी शिवालय के अन्तर्गत एक शिवमंदिर बनवाया। इसी महारावल के समय में वि.सं. 1730 (1673

ई.) में खड़ायता माधवजी ने डूंगरपुर में सारणेश्वर शिवालय, जिसे वड़नगरा नागरों ने बनवाया था, इसका जीर्णोद्धार कराया। 123 इसी महारावल जसवन्तसिंह के राज्यकाल में डूंगरपुर में राजपुर गांव में गांगली व सांपण नदी के संगम पर खड़ायता राधवजी के मरने पर उनकी स्त्री सती हुई, उसकी स्मृति में यहां छतरी बनी, जो सन् 1937 में बाढ़ आने के कारण नष्ट हो गई। वि.सं. 1738 (1681 ई.) में खड़ायता ईसरा आदि ने मांडवा गांव के पास बावड़ी बनवाई। वि.सं. 1744 (1687 ई.) में खड़ायता मनोहरदास ने उदयपुर के धुलेव गांव में केशरियाजी के मंदिर के अन्तर्गत त्रिविक्रमराय के मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया।

वि.सं. 1749 (1695 ई.) महारावल खुमाणसिंह के राज्यसमय में खड़ायता जालमजी के वंशजों ने नवाड़ेरा (शिवपुरी) गांव के निकट साबेरा तालाब की पाल पर एक देवली बनवाई,<sup>24</sup> जो अब नष्ट है। उदयपुर के ऋषभदेव गांव के भगवान ऋषभदेव के 52 डेरियों वाले विशाल मंदिर परिसर में खड़ायता मनोहरदास ने भगवान त्रिविक्रमराय का छोटा मंदिर बनवाया, जो आज अच्छी दशा में है। सर्वेक्षण के दौरान मुझे इस मंदिर के गर्भगृह के द्वार की दीवार पर वि.सं. 1744 शाके 1610 वैशाख सुदि 7 गुरु पुष्य नक्षत्र (26 अप्रैल 1688 ई.) की प्रशस्ति लगी मिली है। इस पर महारावल जसवन्तसिंह, उनकी रानी वीरपुरी फूलकुंवरी कुंवर खुमाणसिंह सहित आगे की पीढ़ियों के व्यक्तियों के नाम उनकी भार्या सहित खुदे हुए हैं। इस प्रशस्ति पर गजधर, रणछोड़ का नाम भी खुदा हुआ है। वि.सं. 1879 (1822 ई.) में महारावल जसवन्तसिंह द्वितीय के राज्यसमय में भीलूड़ा के रहने वाले खड़ायता कुबेर, वेलजी, वलमजी व नवलचन्द ने भीलूड़ा के रघुनाथराय मंदिर के सभामण्डप के उपर शिखर बनवाया।<sup>25</sup> इसी महारावल के समय खड़ायता वल्लभदास व उनकी पत्नी वेलबाई ने डूंगरपुर में जागेश्वर शिवालय के पीछे नोहरा (वाड़ी) बनवाई जिसे खड़ायता जाति को भेंट की, जिसे 'वेलबाई की बाड़ी' कहा जाता है।

वर्तमान में खड़ायता जाति की आबादी डूंगरपुर, सागवाड़ा, भीलूड़ा, सरोड़ा, पूंजपुर, आसपुर सहित कई गांवों में है। यहां के खड़ायता लधु शाखा में से है और डूंगरपुर की नवन्यातों<sup>26</sup> के अन्तर्गत उनकी गणना की जाती है। इस जाति के अधिकतर लोग व्यापार करते हैं, कुछ राजकीय सेवाओं में भी हैं। ये जाति साधन-सम्पन्न व पढ़ी-लिखी हैं। इस जाति के कुछ लोग रियासतकाल में राज्यमंत्री भी रहे तथा बड़ी स्वामी भक्ति से राज्य की सेवाएं भी की। डूंगरपुर के जागेश्वर शिवालय बनवाने वाला जगमाल खड़ायता महारावल आसकरण का पूंजपुर गांव में माधवरायजी का मंदिर बनाने वाला रामजी खड़ायता महारावल पूंजराजजी का, धुलेव में शभदेवजी मंदिर के अन्तर्गत त्रिविक्रमराय के मंदिर का जीर्णोद्धार करने वाला मनोहरदास खड़ायता महारावल जसवन्तसिंह प्रथम का तथा निहापुरे में मुरलीधर का मंदिर बनवाने वाला निहालचन्द खड़ायता महारावल उदयसिंह द्वितीय का राज्यमंत्री रहा था।<sup>27</sup>

वि.सं. 1924 (1884 ई.) में महारावल उदयसिंह द्वितीय के राज्यसमय में खड़ायता निहालचन्द ने पूंजपुर गांव के पास निहालपुरा में मुरलीधरजी का मंदिर बनवाया। उनकी पत्नी गंगाबा ने वि.सं. 1929 (1871 ई.) में गंगाबावड़ी डूंगरपुर में बनवाई, जो आज भी मौजूद है। उन्होंने गेपसागर तालाब पर गवरीबाई नागर द्वारा बनवाई गई देवली का भी जीर्णोद्धार करवाया था। निहालचन्द खड़ायता महारावल उदयसिंह द्वितीय कायोग्य मंत्री था जिसने उक्त महारावल के काल में (1846-1898 ई.) में सन् 1859 से 1872 तक सेवा की। डूंगरपुर राज्य के प्रतिष्ठित घरानों में खड़ायता निहालचन्द का घराना महत्वपूर्ण था। इस घराने का सम्बन्ध नरसांग गौर के खड़ायता महाजनों से है। इनकी क्रमबद्ध वंशावली वालजी दाणा, जो निहालचन्द खड़ायता (शाह) के पितामह थे। वालजी के दूसरे पुत्र भोगीदास थे। भोगीदास दाणा के दो पुत्र निहालचन्द व कृपाचन्द थे, निहालचन्द खड़ायता महारावल उदयसिंह द्वितीय के नाबालिगी की उम्र में डूंगरपुर राज्य का प्रबन्धक रहा था। उसकी इन्हीं सेवाओं के बदले में महारावल ने उसे खेड़ा सामोर गांव की जागीर भी प्रदान की थी। निहालचन्द ने बड़ी योग्यता, कुशलता तथा स्वामीभक्ति से छिन्न भिन्न हुई डूंगरपुर राज्य की राजनैतिक व प्रशासनिक व्यवस्थाओं को संभाला था, इसलिए उक्त महारावल ने उसे 1860 ई. में पावों में सोने के पोंछे पहनने की इजाजत दी तथा माणक चौक में एक हवेली जो कामदार की हवेली के नाम से जानी जाती है, वह वर्तमान में यह हवेली बेहतर दशा में है, प्रदान की। सन् 1872 ई में उक्त महारावल तथा उदयपुर के महाराणा शंभुसिंह ने उसे एक पांव में सोने का लंगर पहनने की इजाजत दी थी।<sup>28</sup> इस अवसर पर महाराणा ने उसका सम्मान किया। निहालचन्द खड़ायता के कोई पुत्र नहीं होने से उसने अपनी पुत्री के पुत्र कस्तुरचन्द को गोद लिया था, जिसे उक्त महारावल ने सन् 1874 में निहालचन्द की मृत्यु के बाद अपना मंत्री बनाया था। वह महारावल उदयसिंह द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महारावल विजयसिंह के समय में (1898-1918 ई.) भी मंत्री रहा तथा स्वामीभक्ति से सेवा की। कस्तुरचन्द के पुत्र मोहनलाल शाह महारावल लक्ष्मणसिंह के समय (1918-47 ई.) नगरपालिका बोर्ड का अध्यक्ष तथा राज प्रबन्धकारिण सभा व विजय धर्मसभा का सदस्य रहा। महारावल उदयसिंह के समय खड़ायता कस्तुरचन्द जिसे महारावल उदयसिंह 'भाणाभाई' कहकर पुकारते थे, की माता केसरबाई ने अपने पिता निहालचन्द की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में सुरपुर में अगासिया (अगस्तनाथ) शिवालय के अन्तर्गत छतरियां बनवाई।<sup>29</sup>

महारावल फतेहसिंह की महारानी मारुणी चमनकुंवरी की स्मृति में डूंगरपुर में चमनबाग बना, जहां महारावल जसवंतसिंह द्वितीय की रानी गुमानकुंवर ने एक बावड़ी बनवाई, जिसे 'राणीवाव' कहते हैं। उक्त वाव व बावड़ी की प्रतिष्ठा वि.सं. 1883 में की गई। इस संबंध में यहां वि.सं. 1883 (सन् 1826) वैशाख शुक्ला 7 गुरुवार की प्रशस्ति लगी हुई है। बावड़ी की प्रतिष्ठा के अवसर पर करदरू गांव पंड्या श्यामदत्त<sup>30</sup>

(घाटिया ब्राह्मण) को पुण्यार्थ दिया गया। जिसका उल्लेख उक्त प्रशस्ति में किया गया है। इसके अलावा इस प्रशस्ति पर महारावल शिवसिंह, महारावल वैरिशाल, महारावल फतहसिंह, महारावल जसवंतसिंह द्वितीय तथा उनकी महारानियों, पटरानियों तथा खवासणों के, महारानी गुमानकुंवरी के पीहर पक्षवालों के, बाईराज सूर्यकुंवरी तथा महारावल जसवंतसिंह द्वितीय के राज्य समय के कामदार, खवास, धायमा, पुरोहितों, भट्टमेवाड़ा, ड्योढ़ीवान, दासदासियों व पासवानों के नाम भी दिये गये हैं।

उक्त राज्य मंत्रियों के अलावा खड़ायता जवाहरचन्द महारावल फतहसिंह (1790-1808 ई.) का राज्यमंत्री था। उक्त महारावल के समय के मिले लेखों से ज्ञात होता है कि जब महारावल फतहसिंह की मां मेड़तनी शुभकुंवरी के विपक्षियों ने होल्कर के सेनाध्यक्ष रामदीन को, जो सेना लेकर बांसवाड़ा में पड़ा था, उसे डूंगरपुर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया तब राजमाता ने इस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए जवाहरचन्द खड़ायता को बहुतसा धन देकर रामदीन के पास भेजा तथा विपक्षियों का साथ छोड़ देने को कहा। रामदीन ने धन लेकर ऐसा ही किया व चला गया। जवाहरचन्द की हवेली के दो मकान सन् 1835 में जमनाबाई प्रेमानंद व निहालचन्द ब्राह्मण को पुण्यार्थ दे दिये गये। भट्टमेवाड़ा जगदीश से प्राप्त एक परवाने के अनुसार इन मकानों के कचहरी के मौके में पड़ने के कारण इनके बजाय 1865 ई. में उक्त ब्राह्मणों को राज्य से 'मेहताजी की हवेली' दी गई। वर्तमान में यह परवाना महारावल विजयसिंह शोध अभिलेखागार में मौजूद है।

उक्त सभी वास्तु निर्माण यहां के स्थानीय खानों से मिलने वाले बलवाड़िया, श्वेत खड़िया, डाबड़ा पत्थरों से हुआ है। बारीक शिल्पकारी का सुन्दर ढंग से उत्खचन कार्य गहरे नीले मुलायम पारेवा पत्थरों पर हुआ है। इन वास्तु निर्माण में यहां के सोमपुरा शिल्पियों ने भारतीय वास्तुशास्त्रों में उल्लेखित नियमों का पूरी तरह से निर्वाह किया है।

### संदर्भ

1. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार मिति पेश शुक्ला अष्टमी सं. 1997 पृ-11
2. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार 5 जनवरी 1941 पृ-12
3. उपरोक्त वही : पृ-12
4. 1. जयकृष्ण दवे : गुजराती साहित्य का इतिहास (1963) पृ-1  
2. गवरीबाई : मथुराप्रसाद अग्रवाल एवम् ज्योतिपूज पृ-30
- 6-7. डूंगरपुर राज्यपत्र : शनिवार मिति अषाढ शुक्ला एकादश संवत 1998 पृ-11
- 8-9. 1. उपरोक्त वही 2. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार 5 दिसम्बर 1943 पृ-55
10. डूंगरपुर राज्यपत्र : गुरुवार मिति ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी सं. 1997 पृ-13
11. डूंगरपुर राज्यपत्र : शनिवार 5 जुलाई 1941 पृ-12
12. डूंगरपुर राज्यपत्र : गुरुवार 5 जून 1941 पृ-12
13. डूंगरपुर राज्यपत्र : गुरुवार मिति ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी संवत 1997 पृ-13
14. वही

15. ओझा : डूंगरपुर राज्य का इतिहास पृ-148
16. डूंगरपुर राज्यपत्र : गुरुवार 5 जून 1941 पृ-14
17. ओझा : डूंगरपुर राज्य का इतिहास पृ-140
18. तत्स्ये ब्राह्मणाः सर्वेस्त्रियः पुश्टुंगहे गताः।  
ताभि सांठे खट्टपट्टे संप्रते पुनः पुनः।।  
ततः सर्वे द्विजा जाताः खड़ायतेति संज्ञा।
19. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार 5 अक्टूबर 1941 पृ-71
20. ओझा : डूंगरपुर राज्य का इतिहास पृ-75
21. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार मिति अश्विन शुक्ला पूर्णिमा वि.सं. 1998 पृ-10
22. डूंगरपुर के धनेश्वर महादेव की वि.सं.1653 शाके 1518 वैशाख सुदि 5, 11 अप्रैल 1567 सोमवार मृगशीर्ष नक्षत्र की प्रशस्ति
23. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार मिति अश्विन शुक्ला पूर्णिमा वि.सं. 1998 पृ-110
24. उपरोक्त वही
25. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार 5 अक्टूबर 1947 पृ-11
26. डूंगरपुर राज्य के प्राचीन लेखों में वीसा हुमड़, दसा हुमड़, दसा पोरवाल, विसा पोरवाल, नृसिंहपुरा, नागदरा, खड़ायता, कन्दोई, श्रीमाली, सोनी, तरूआगड़िया (नातरिया) व कसारों का नवन्यातों में समावेश मिलता है।
27. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार मिति अश्विन शुक्ला पूर्णिमा वि.सं. 1998 पृ-12
28. डूंगरपुर राज्यपत्र : रविवार 5 अक्टू. सन् 1941 पृ-11
29. उपरोक्त वही।
30. डूंगरपुर राज्यपत्र : मंगलवार मिति मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी वि.सं. 1999 पृ-50

## राजस्थान के संग्रहालयों में संग्रहीत ' भक्तामर स्तोत्र ' की सचित्र पोथियां

श्री धर्मपाल मीणा

जैन धर्म का दर्शन, न्याय तथा संस्कृति ये भारतीय परम्परा के बड़े समृद्ध और प्राचीनतम तत्व हैं। इस स्थिति का प्रमाण जैन साहित्य है, जो प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत एवं राजस्थानी आदि कई भाषाओं में मिलता है। यह साहित्य, आगम, पुराण, कथा, चरित्र निबंध आदि के रूप में उपलब्ध है। कुछ साहित्य ऐसा है जो कविताओं, कथाओं तथा गीतों के द्वारा जैन धर्म के गूढ़ सिद्धान्तों का समाजोद्धार और राष्ट्रोत्थान के स्वर को मुखरित करने में सहयोगी सिद्ध हुआ है। कथायें जनमानस के लिए सदा ही प्रिय और आह्लादकारी रही हैं। धर्म प्रवर्तकों, धर्माचार्यों तथा प्रचारकों ने मानव मन के इस मूलभूत मनोविज्ञान को सावधानी से पहचाना और जो धार्मिक साहित्य की अधिकांश कथा-कहानियों में है। जैन धर्म की अनेक चित्र, पोथियां 1100 ई. से लेकर 1500 ई. के मध्य विशेष रूप से लिखी गईं। इस प्रकार की पोथियों से भविष्य की कलाशैली की एक आधारशिला तैयार होने लगी थी इस कलाधारा की ऐतिहासिक महत्व है।

' भक्तामर स्तोत्र ' मूलतः संस्कृत भाषा में निबद्ध एक धार्मिक काव्य ग्रन्थ है। ' भक्तामर स्तोत्र ' जैनाचार्य मानतुंग द्वारा रचित एक अमर भक्ति रचना है जिसमें तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव की स्तुति की गई है। (स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्)<sup>1</sup> इसका प्रत्येक श्लोक भक्ति रस के अद्भुत संयोजन से विशिष्ट चमत्कारी प्रभाव रखता है। लाखों जैन बंधु प्रतिदिन अत्यन्त भक्ति भावपूर्वक इस स्तोत्र का पाठ करते हुए भगवान आदिनाथ की स्तुति एवं भक्ति करके अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं।<sup>2</sup>

' भक्तामर स्तोत्र ' का असली नाम ' आदिनाथ स्तोत्र ' है। इसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की भक्तिभाव पूर्ण स्तुति की गई है। इसके प्रारम्भ में ' भक्तामर ' शब्द का प्रयोग होने से इस स्तोत्र का नाम भी ' भक्तामर स्तोत्र ' प्रसिद्ध हो गया।<sup>3</sup> स्तोत्र का छन्द वसन्तलिका है, जो संस्कृत साहित्य में मधुर एवं श्रेष्ठ माना जाता है।<sup>4</sup>

इस स्तोत्र की रचना सर्वप्रथम प्राप्त तथ्यों के अनुसार 7वीं शती में किसी समय हुई। जैन स्तोत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध आवैर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मान्य है। आचार्य मानतुंग जन्मतः ब्राह्मण थे। बाद में श्वेताम्बर दीक्षा धारण की। उनके शरीर में भयंकर रोग हो गया था। जो एक दिगम्बर साधु ने ठीक किया। इसलिए उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।<sup>5</sup> ऐसा कहा जाता है कि राजा द्वारा भक्त मानतुंगाचार्य को

48 कोठरियों में बन्द कर लोहे की बेड़ियों से बांध दिया था। मानतुंगाचार्य ने प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए 48 श्लोकों की रचना की। एक-एक श्लोक की रचना के एक-एक बन्धन टूटता गया व कोठरियों के ताले भी भक्ति के चमत्कार से टूट गये और मानतुंगाचार्य बन्धन मुक्त हो गये।<sup>6</sup> श्वेताम्बर परम्परा में 44 बन्धन व 44 श्लोकों का प्रचलन है।<sup>7</sup> वस्तुतः भक्त हृदय की उन भावनाओं का जिनमें वह श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में विभोर होकर स्तुति की, उसे लिपिबद्ध किया गया है। जिसे ' भक्तामर स्तोत्र ' के नाम से जाना जाता है।

प्रस्तुत स्तोत्र सजीव, भक्तिमय, हृदयग्राही होने के कारण 7वीं शती से 19वीं शती तक अर्थात् एक हजार वर्षों से भी ज्यादा की दीर्घ अवधि तक अनेक जैनाचार्यों और अन्य लेखकों द्वारा यह रचना अनेक रूपों तथा विविध भाषाओं में निर्मित एवं अनूदित होती रही। आकर्षक, सरस व सहज बोधगम्य कथानक प्रस्तुत करने के अभिप्राय से कुछ प्रतियों के पत्रों पर मूल पाठ के साथ-साथ सम्बन्धित चित्र भी अंकित हुए हैं।

' भक्तामर स्तोत्र ' की लोकप्रियता का यह ज्वलंत उदाहरण है कि इसकी कई स्वर्णाक्षरी और सचित्र प्रतियां भी जैन भण्डारों में प्राप्त हैं। इनमें से सचित्र प्रतियां तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।<sup>8</sup> 15वीं शती से 19वीं शती तक की 5 सचित्र प्रतियों के चित्र राजस्थान के सर्वेक्षण से प्राप्त हुए, इन सचित्र प्रतियों में 44 से 52 तक चित्र बने हुए हैं। इन प्रतियों के मूल पाठ संस्कृत व प्राकृत भाषा में हैं। संस्कृत भाषा के मूल पाठ के साथ संस्कृत टीका, हिन्दी पदानुवाद, प्रत्येक श्लोक मंत्र विधि, प्रत्येक श्लोक का मंत्र, प्रत्येक श्लोक की पूजा, प्रत्येक मंत्र द्वारा प्राप्त फल की कथा आदि का लेखन प्रायः सभी प्रतियों में किया गया है। चित्रांकन की दृष्टि से सभी प्रतियों का निजत्व भिन्न है। पूर्वकालीन प्रतियों की तुलना में यह उत्तरकालीन प्रतियों में परिमार्जित होता चला गया। बाद की प्रतियां तो इतनी सजीव एवं कलात्मक हैं कि वह भारतीय चित्रकला के इतिहास के स्वर्णिम उदाहरण कहे जा सकते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन प्रतियों में मूल रूप से स्तुति की है जिसमें श्लोक संख्या 1 और 2 में लक्ष्य को निश्चय से प्राप्त करने का ध्येय, श्लोक संख्या 3 में साध की लघुता, श्लोक संख्या 4 से 7 में साधक का परमात्मा से सम्बन्ध, श्लोक संख्या 8 में सम्बन्ध के बाद साधक की स्थिति, श्लोक संख्या 9 में आराधना में समस्त दुःख दूर होना बताया है। श्लोक 10 से 37 तक में परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण, श्लोक 38 से 47 तक विविध भय, श्लोक संख्या 48 में स्तोत्र करने का फलितार्थ आदि श्लोकों के भावों को चित्रकारों ने अपने चित्रों में चित्रित किया है।

भक्तामर स्तोत्र की सचित्र पोथियां निम्नलिखित हैं—

- बूंदी के निजी संग्रह में संग्रहीत पोथी
- भरतपुर में श्री दिगम्बर जैन मंदिर में संग्रहीत पोथी
- जयपुर के श्री दिगम्बर जैन तेरहपंथी बड़ा मंदिर में संग्रहीत पोथी

- बीकानेर के कमलचन्दजी रामपुरिया के निजी संग्रह की पोथी
- ब्यावर में संग्रहीत पोथी
- श्री दि. जैन श्री चन्द्रप्रभुजी के मंदिर, जयपुर में संग्रहीत पोथी

इन चित्रों में मुगल कलम जैसी सुकुमारता, मनमोहकता व सुरुचिता प्रकट होती है। पृष्ठभूमि में धुंधले रंगों का प्रयोग व चित्रों में आकृतियों में भीड़-भाड़ भी कुछ चित्रों में है। चित्रों में विषयगत आकृतियों का अंकन है। सौन्दर्य की दृष्टि से किसी प्रकार का अंकन नहीं किया गया है। इन चित्रों में स्त्री आकृतियों के चित्रण का पूर्णतः अभाव है।

भगवान आदिनाथ सम्मुख मुद्रा में गोल चेहरा, कर्ण स्पर्श करते नेत्र, कन्धों को स्पर्श करते कर्ण, अत्यधिक विशाल उठे हुए वक्ष, क्षीण कटि, जिनका प्रायः पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए अंकन किया गया है। अन्य आकृतियों में सुन्दर-सुगठित शरीर, एक चरमिय मुखाकृति, सुकोमल गलमुच्छा एवं मूँछों का अंकन किया गया है।

उपर्युक्त सभी पोथियों में चित्रों की शैलीगत विशेषताओं में विविधता है, फिर भी भक्ति भावना उनकी मूल अभिव्यक्ति के रूप में अवश्य सभी चित्रों में समायी हुई है। 15वीं शती से 19वीं शती तक के लम्बे समय में इन चित्रों का अंकन हुआ, पर कलाकारों की यह विशेषता रही है कि उन सभी ने भक्तामर स्तोत्र के मूल श्लोकों के भावों को ही चित्रण का विषय बनाया, अपनी तरफ से कुछ अलग जोड़ने का प्रयास नहीं किया। बस समय के प्रभाव व कलाकार की सृजन शक्ति से इन चित्रों के अनेक रूप उत्पन्न हो गये हैं क्योंकि इनकी मूल विशेषता भक्ति आराधना रही है। विस्तृत श्लोक शब्दों को चुन-चुन कर चित्तेरों द्वारा विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पहलुओं को दर्शाने वाले चित्रों का विन्यास किया गया है। इन चित्रों को देखने मात्र से ही अन्तर्मन में तीर्थकर भक्ति के पुष्प अंकुरित हो उठते हैं।

### सन्दर्भ

1. रायमल्ल, जैनाचार्य मानतुंग रचित भक्तामर स्तोत्र, जयपुर, 2005, पृ. 7
2. चन्द सुराना, भक्तामर स्तोत्र महामण्डल पूजा विधान, जयपुर, 1996, पृ. अंतिम
3. उपाध्याय अमर मुनि, भक्तामर स्तोत्र, आगरा, पृ. 3
4. जैन हीरालाल 'कौशल', भक्तामर स्तोत्र महामण्डल पूजा विधान, दिल्ली, 1999, पृ. 4
5. जैन शीतल चन्द्र, आचार्य मानतुंग विरचित भक्तामर स्तोत्र, जयपुर 2005, पृ. 1
6. साध्वी दिव्य प्रभा, भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि, जयपुर 1992, पृ. 3
7. गुणरत्नसूरीश्वरजी, सचित्र श्री भक्तामर महास्तोत्र, मुंबई 1997, पृ. 1
8. जैन मोहनलाल शास्त्री, भक्तामर विधान, भोपाल 2002, पृ. 2

## बीकानेर संग्रहालय : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. मुकेश हर्ष

बीकानेर का अधिकांश भाग एक सूखा प्रदेश है। परन्तु पुरातत्व व कला कौशल की दृष्टि से भारत का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यहां की संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से सर्वशक्तिमती थी।<sup>1</sup> डॉ. टैसीटोरी ने 1916-17 में इसके बाद डॉ. आरेल स्टेइन, डॉ. एच. गोएट्ज ने इस क्षेत्र का अध्ययन किया।<sup>2</sup> प्रागैतिहासिक युग के बाद इसी क्षेत्र में आरंभिक गुप्त काल की अमूल्य मृण्मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिन्हें एकत्रित करने का श्रेय डॉ. टैसीटोरी को है। इनका सर्वश्रेष्ठ संग्रह बीकानेर के राजकीय संग्रहालय (गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम) में सुरक्षित है।<sup>3</sup> बीकानेर के तीन संग्रहालयों में राजकीय संग्रहालय के अलावा जूनागढ़ किले का करणी म्यूजियम व श्री सार्दुल म्यूजियम में इतिहास से जुड़ी दुर्लभ व आकर्षक वस्तुओं का संग्रह किया हुआ है।<sup>4</sup>

**करणी म्यूजियम** : यह संग्रहालय बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ किले के गंगानिवास में स्थित है। बीकानेर के शासकों के जीवनवृत्त से जुड़ी घटनाओं और राठौड़ वंश के राज्य चिन्ह व प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों के संग्रह की दृष्टि से करणी म्यूजियम का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संग्रहालय में महाराजा गंगासिंहजी द्वारा विदेशों से लाई गई अनुपम वस्तुओं का संग्रह है। करणी म्यूजियम की बहुमूल्य वस्तुओं में बेल्जियम से महाराजा गंगासिंह द्वारा 1914 में लाया गया आईना उल्लेखनीय है।

**सार्दुल म्यूजियम** : बीकानेर के लालगढ़ पैलेस के एक भाग में ही बने इस संग्रहालय में प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों, राजसी पोशाकों तथा देशी-विदेशी सिक्कों के अलावा कला-संस्कृति और इतिहास से संबंधित विभिन्न प्राचीन व दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह है। बीकानेर के तत्कालीन महाराजा सार्दुलसिंह के लिए लालगढ़ पैलेस में सन् 1911 में उनके नाम से ही महल के एक हिस्से को संबोधित किया जाता था, उस हिस्से को ही बाद में सार्दुल म्यूजियम बना दिया गया। संग्रहालय में सीढ़ियों के ठीक ऊपर कैमरे से ली गई बीकानेर के पूर्व शासक महाराजा सरदारसिंह का छायाचित्र लगा हुआ है। जानकार कहते हैं कि राजस्थान में कैमरे से लिया गया यह पहला चित्र है। राजस्व वसूल करने के लिए ऊंट पर रखकर ले जाने वाला करीब एक क्विंटल वजनी पीतल का टोकणा भी दर्शनीय है। संग्रहालय में ही एक छोटे से कक्ष में पुरानी फिल्मों का पुस्तकालय भी बना हुआ है, जिसमें तत्कालीन महाराजाओं द्वारा उस समय देखी जाने वाली फिल्मों को सुरक्षित रखा हुआ है। इसी कक्ष में 35 एम.एम. का साउण्ड फिल्म प्रोजेक्टर भी रखा हुआ है। संग्रहालय में संस्कृत के जहां 6 हजार 682 ग्रन्थ हैं वहीं



राजस्थानी की हस्तलिखित 359 पांडुलिपियों व हिन्दी की 554 पांडुलिपियां भी संगृहीत हैं।

### बीकानेर संग्रहालय से जुड़े विशिष्ट तथ्य<sup>5</sup>

- महाराजा गंगासिंह के राज्यारोहण की स्वर्णजयंती समारोह के अवसर पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो द्वारा 5 नवम्बर, 1937 को गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम का औपचारिक उद्घाटन हुआ था।
- कला दीर्घा में लकड़ी से निर्मित कलात्मक सामग्री लाख, ऊंट की खाल से निर्मित सामग्री पर भव्य कलात्मक कार्य, शतुरमुर्ग के अण्डों पर कलात्मक कार्य, प्रस्तर पर नक्काशी का मनमोहक कार्ययुक्त झरोखा व स्तम्भ, मोर की लड़त, बीकानेर की मिट्टी से निर्मित कांच की सामग्री, इक्का, हुक्का पीते हुए शाही मुद्रा में पुरुष, नोहर के मृण्मय पात्र, वाद्ययंत्र, ढोलक, नगारा, झांझर, मोरचंग, पाबूजी के माटा आदि प्रदर्शित हैं।
- इन ऐतिहासिक घटनाक्रम के चित्रों में प्रदर्शित किया गया है। बीकानेर के संस्थापक राव बीकाजी (1472-1504) का जोधपुर के अपने पैतृक राज्य चिन्ह विषयक चित्र, राव जैतसिंह का बाबर के पुत्र कामरान के साथ रात्रिकालीन युद्ध का सजीव चित्रांकन, राजा रायसिंह द्वारा गुजरात के गवर्नर मिर्जा मुहम्मद हुसैन के वध का चित्रांकन काफी सशक्त है। महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिये अकबर को पत्र द्वारा संदेश भेजा लेकिन अकबर के दरबार में पृथ्वीसिंह (पीथल) ने पत्र की विश्वसनीयता पर संदेह प्रकट कर वास्तविक स्पष्टीकरण के लिये अकबर को राजी करते हुए महाराणा को जोश में भरा मान-मर्यादा पूर्ण पत्र लिखा। इस ऐतिहासिक घटनाक्रम ने महाराणा के चरित्र को उभार कर इतिहास के पृष्ठों को बदल दिया। इसी घटनाक्रम पर आधारित दो चित्र मूलर ने बनाये, जो दीर्घा में प्रदर्शित हैं। हिन्दू धर्म रक्षार्थ राजा करणसिंह का शाही नावों को तोड़कर जय जांगलधर बादशाह की उपाधि प्राप्त करने का दृश्य चित्र काफी महत्वपूर्ण है।
- स्थानीय भाषा में पहचान वाली 'रामचंगी' बंदूक लगभग 8 फीट लंबी है। प्रदर्शित तलवारों में विशेषकर फारसी, अरबी, गुजराती, धूप, खुरासानी, करणसाही, हकीमसाही, किर्च आदि हैं। कोफ्त तथा तहनिशा काम की तलवारें भी द्रष्टव्य हैं। महाराजा अनूपसिंह द्वारा आदूनी (दक्षिण भारत) की लूट में प्राप्त एक तलवार को मूंट सर्प, मयूर, सिंह और हाथी आदि पशुओं की आकृति से बनी है।
- महाराणा गंगासिंह की सेवाओं के सम्मानार्थ भारतीय सेना के मुख्य सेनापति द्वारा प्रदत्त तोप भी कक्ष की शोभा बढ़ा रही है।
- इस क्षेत्र से प्राप्त भारत प्रसिद्ध संगमरमर की प्राचीन जैन सरस्वती की प्रस्तर प्रतिमा कला की सर्वोत्तम कृति है। अमरसर ग्राम से प्राप्त धातु प्रतिमाओं से ज्ञात होता है

कि मध्यकाल में बीकानेर क्षेत्र धातु मूर्ति निर्माण कला में भी समृद्ध था। ये मूर्तियां 8 से 11वीं शताब्दी की कलाकृतियां हैं तथा इनमें से कुछ मूर्तियों पर तत्कालीन कुटिल लिपि में लेख भी उत्कीर्ण हैं।

- 18वीं शताब्दी में चित्रित बारहमासा का पूरा सैट महत्वपूर्ण है, जिन पर गोविन्द कवि के ब्रजभाषा के छंद भी अंकित हैं। लोक कला दीर्घा में चित्र, वस्त्र, जन जीवन को प्रदर्शित करने वाले मॉडल, पाबूजी की फड़ व अन्य कलात्मक सामग्री प्रदर्शित है।

### राजकीय बीकानेर संग्रहालय

बीकानेर संग्रहालय का श्रीगणेश भूतपूर्व महाराजा गंगासिंहजी के स्वर्ण-महोत्सव के अवसर पर सन् 1937 में 'गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम' के नाम से हुआ। राजस्थान में यह संग्रहालय संग्रह, सजावट एवं भवन के दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ संग्रहालयों में से एक है। यह संग्रहालय छोटे-बड़े कुल 10 विभागों में बंटा हुआ है— 1. महाराजा गंगासिंहजी गैलेरी, 2. कला विभाग (क), 3. कला विभाग (ख), 4. ऐतिहासिक विभाग, 5. शस्त्रागार, 6. पुरातत्व विभाग, 7. कांस्य मूर्ति कक्ष, 8. चित्रशाला, 9. शिलामुद्रित चित्रशाला एवं 10. लोक कला गैलेरी। अतः अब इस संग्रहालय की कुछ आकर्षक एवं अमूल्य वस्तुओं का सूक्ष्म वर्णन निम्न प्रकार है—

**ऊंट के चमड़े की कुप्पियां**—बीकानेर की प्रसिद्ध चित्रकला, पत्थर व लकड़ी पर बारीक खुदाई के अतिरिक्त ऊंट के चमड़े की, लाख के काम की कुप्पियां जगत् प्रसिद्ध हैं। इन कुप्पियों पर बेल बूटेदार असली सोने का उभरा हुआ काम अत्यन्त आकर्षक होता है, जिसकी कीर्ति विदेशों तक फैली हुई है। हाल ही में इस संग्रहालय के वरिष्ठ कलाकार श्री हिसामुद्दीन उस्ता को कुप्पी-कला की विशेषता पर भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित किया गया था। इस प्रकार का काम यहां के उस्ता (कलाकार) वर्ग में परम्परा से चला आता है। केवल कुप्पियों ही नहीं बल्कि इनका लाख (लेकर) का काम लकड़ी, पत्थर, कांच की चित्रकारी में भी अद्वितीय है। उस्ता निर्मित कलाकृतिपूर्ण सामग्री आज भी संग्रहालय में सुरक्षित है और इसकी कारीगरी देखते ही बनती है।

**मुगल बादशाह जहांगीर का चित्रित अंगरखा**—यह अंगरखा इतिहास और कला की दृष्टि से इस संग्रहालय की (16वीं शताब्दी) की अमूल्य निधि है। बीकानेर के सुप्रसिद्ध योद्धा राजा रायसिंहजी अकबर एवं जहांगीर काल के पंचहजारी मनसबदार थे। शहजादा जहांगीर के, इस संग्रहालय में सुरक्षित, एक फरमान से सिद्ध है कि यह रेशमी अंगरखा (फरगल) राजा रायसिंहजी को जहांगीर द्वारा पुरस्कार स्वरूप भेजा गया था। कपड़े पर बने युवक-युवतियों के चित्रों के साथ फारसी लिपि में शेर, अत्यन्त सुन्दर कला का नमूना है। यह कपड़ा फारस के बादशाह के निजी कारखाने में बना हुआ सिद्ध किया गया है।<sup>6</sup> आज से लगभग 250 वर्ष पूर्व का यह अंगरखा देखने योग्य है। मुगल फरमान (ई. 16-17वीं शती) बादशाह जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब द्वारा बीकानेर

नरेशों को सम्बोधित किये गये फरमानों की मूल प्रतियां इतिहास की दृष्टि से अध्ययन योग्य वस्तु हैं। बीकानेर के राजा रायसिंहजी को शहजादा जहांगीर का लिखा फरमान यह सिद्ध करता है कि अकबर की मृत्यु के समय उक्त राजा का अविलम्ब आगरे पहुंचना गद्दीनशीनी के लिये कितना महत्वपूर्ण समझा गया था। इसके अतिरिक्त जहांगीर द्वारा फरमान के आरम्भ में बीकानेर के राजा सूरसिंहजी को उनकी महानता की प्रशंसा करते हुए 'रावजी, राम-राम' से सम्बोधित करना अत्यन्त घनिष्ठता एवं मित्रभाव का सूचक है। कूटनीतिज्ञ औरंगजेब द्वारा बीकानेर के महाराजा अनूपसिंहजी को, उनके कनिष्ठ भ्राता महाराजा पद्मसिंहजी की वीर गति पर, शोक-पत्र के रूप में 'भाई राव अनूपसिंहजी परवर दिगार आपको लम्बी उम्र बख्शे' सम्बोधित करते हुए आगे किन शब्दों में संवेदना प्रकट की गई है, यह संग्रहालय में सुरक्षित फरमान को पढ़ने से औरंगजेब की विद्वता और कूटनीतिज्ञता का परिचय मिलता है।<sup>7</sup>

**मृणमूर्ति (टैराकोटा) संग्रह**-पुरातत्व कक्ष का यह अद्वितीय संग्रह है। बीकानेर क्षेत्र की ये सुरक्षित मिट्टी की मूर्तियां आज से लगभग 1600 वर्ष प्राचीन उच्च कोटि की सभ्यता का एक जीता-जागता उदाहरण है, जिनमें धार्मिक एवं जन-जीवन की झांकियां अध्ययन करने योग्य हैं। इन मृणमूर्तियों में ईसा की चौथी सदी में कृष्ण लीला अंकन, पुरातत्वविदों के लिये एक महत्वपूर्ण सामग्री है।

**सरस्वती प्रतिमा (10वीं-11वीं शती)**-बीकानेर के पल्लू ग्राम से प्राप्त यह विशाल संगमरमर की, एक हजार वर्ष प्राचीन, जैन सरस्वती जगत् प्रसिद्ध है। इस प्रतिमा का आकर्षण नख-शिख शृंगार एवं भाव-भंगिमा केवल विदेशी पर्यटकों के लिये ही नहीं, वरन् भारतीय दर्शकों के लिये भी कौतूहल पैदा करने वाली कारीगरी का नमूना है। यह प्रतिमा बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित है।<sup>8</sup>

### सन्दर्भ

1. राजस्थान भारती, भाग 3, अंक 3-4, जुलाई 1953, पृ. 12, डॉ. सत्यप्रकाश
2. द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, ए-गोयट्ज़, पृ. 9
3. मृणमूर्तियों में राजस्थानी लोक संस्कार, राजस्थान भारती : लोक संस्कृति विशेषांक, भाग 12, अंक 3-4, जून-सितम्बर, 1970
4. सुजस, सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय, राजस्थान सरकार, 2008
5. वही
6. द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, ए-गोयट्ज़, पृ. 122
7. लेख-'जर्नल ऑफ द राजस्थान इंस्टीट्यूट ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च', वोल्यूम 5, नं. 3, पृ. 41
8. वैचारिकी (शोध त्रैमासिकी), भाग 1, अंक 2-3, जनवरी 9172 ई., बीकानेर, पृ. 84

## रंगों के आधार पर वस्त्रों की सांस्कृतिक पहचान

डॉ. कल्पना शर्मा

मानव के शृंगार में वस्त्र एवं परिधान का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह कला और विज्ञान का वस्तुपरक समन्वय है जिसके द्वारा मानव सभ्यता और संस्कृति की पहचान होती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ आवश्यकता ने मनुष्य को वस्त्र परिधान के प्रयोग की और निरन्तर रखा। वस्त्र यद्यपि शीत, ताप निवारण और लज्जा आच्छादन के उद्देश्य से आविष्कृत हुए होंगे। लेकिन शृंगार निरूपण की दृष्टि से भी इनके महत्व को परखा जा सकता है।

शृंगार में रंग-बिरंगे वस्त्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। परिधानों के निर्माण में रंग के आधार पर परिधानों का वर्गीकरण किया जा सकता है। रंग के आधार पर 'पीलिया' व कुसुमल रंगों से कई तरह के परिधानों का निर्माण किया जाता था, जो इस प्रकार है।

### पीलिया रंग

पीला रंग कई तरह का होता था। जैसे अनार के छिलकों को उबालकर उसमें हल्दी सोड़ा कास्टिक व फिटकरी डालकर पीला रंग बनाते थे। हल्के पीले रंग के लिए मुलतानी मिट्टी का प्रयोग होता था। पीले रंग से कई वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। जिसमें पीलिया (पोमचा) प्रमुख था। बेटे के नाम पर महिला के लिए मातृपक्ष की ओर से पीलिया ओढ़ाया जाता था। जोधपुर की रानियों के लिए पीहर से पीलिया तो आता था साथ ही दूसरी रानियाँ पड़दायतें रानी को पीलिया ओढ़ाती थी। पीलिया का बड़ा महत्व था कि जिस प्रकार कमल की जड़ चारों तरफ फैलती है। वैसी नवविवाहित या जच्चा का परिवार सुख समृद्धि से आगे बढ़े। गीतों में भी पीलिया व पीले रंग का वर्णन मिलता है।<sup>1</sup>

**परिधान** - पुरुषों के परिधानों में पीले रंग की पाग पसन्द की जाती थी। पीले या बसन्ती रंग की पाग शुभ अवसर पर पहनी जाती थी। जन्मोत्सव या विवाहोत्सव पर पीले रंग की पाग पहनी जाती थी। अंगरखी, जामा व दुपट्टा या पीले रंग का पहना जाता था। गीतों में पीले दुपट्टा का वर्णन मिलता है। धार्मिक अवसरों पर पीले रंग की धोती पहनी जाती थी। स्त्रियों के परिधानों में पीलिया (ओढ़नी) प्रमुख थी। पीले रंग की साड़ियाँ भी पसन्द की जाती थी। वागड़ मेवाड़, व मारवाड़ में पीले रंग के लहरिया भी पहने जाते थे।

उदयपुर<sup>2</sup>, वागड़<sup>3</sup>, प्रतापगढ़<sup>4</sup> व मारवाड़<sup>5</sup> में अलग-अलग तरह के पोमचे पहने

जाते थे। मुख्य रूप से पीलिया पोंमचा दो प्रकार से बनता था। लाल गुलाबी व लाल पीला दोनों ही प्रकार में चारों और लाल किनारा और लाल रंग से ही गोल फूल बने होते थे। जमीन गुलाबी पीली हो सकती थी। अतः परिधानों में पीलिया या पीला रंग लोगों को ज्यादा पसन्द था।

### कसुमल रंग (लाल रंग)

कसुमल रंग की लोकप्रियता जितनी थी उतनी किसी भी रंग की नहीं। कसुमल रंग के लिए मरु देश में एक गीत प्रसिद्ध है।

*मारु थारे देश में उपजे तीन रत्न।*

*ढोला, मारवन व तीसरा कसुमल रंग।।*

कसुमल कसुमी (लाल रंग) से बनता था। हरसिंगार के केशरिया में केशु के फूल डाल दे तो लाल रंग बन जाता था। कसुमल रंग सुहागिनों का सबसे मनपसन्द रंग था। स्त्रियाँ अपने प्रियतम से लाल रंग की चुन्दड़ी मंगाती थी। तो मारवाड़ के लोग कसुमल रंग को ही अधिक पसन्द करते थे। 'गणगौर' उत्सव पर आम तौर पर गाया जाने वाला गीत भी कसुमल रंग को ही अधिक महत्व देता था। गीतों में कसुमल रंगों का वर्णन किया गया है<sup>7</sup>। अतः रंग के आधार पर कसुमल रंग ज्यादा पसन्द किया जाता था।

**परिधान**-पुरुषों के परिधानों में कसुमल रंग की पाग पहनी जाती थी। कसुमल रंग की पगड़ी शुभ अवसरों पर बांधी जाती थी। अंगरखी, पटका भी कसुमल रंग का पहना जाता था व स्त्रियों कसुमल रंग की चुन्दड़ी पसन्द करती थी। शादी के समय दुल्हन के लिए 'बेस' आता था। वह भी लाल रंग का होता था। मेवाड़, वागड़ मारवाड़ में स्त्रियों उत्सव व त्योहारों पर लाल रंग की ओढ़नी, कांचली व घाघरा पहनती थी। राजस्थान में नहीं पूरे भारत में दुल्हन को लाल रंग के ही परिधान पहनाये जाते हैं<sup>8</sup>।

पीलिया व कसुमल रंगों से समाज में सांस्कृतिक पहचान बनती है। समाज में उत्सव व त्योहारों पर पीलिया कसुमल रंग पहना जाता है। विशेषकर स्त्रियों - शीतला सप्तमी के दिन पीली ओढ़नी पहनती थी। देवस्थान बही में शीतला माता को दिए गए वस्त्रों का विवरण मिलता है जिसमें 'शीतला माता जी कपड़े का भण्डार से' चैत्र में शील सप्तम के दिन पीलों अद्वाडों दिया<sup>9</sup>।

गणगौर के अवसर पर पीले व कसुमल रंग के परिधान पहने जाते थे। स्त्रियों के परिधानों में कसुमल पीले रंग के बेस भड़कीली ओढ़नी चुनरी घाघरे पहनते का रिवाज था<sup>10</sup>। जन्मोत्सव पर शासक वर्ग में जोधपुर में लाल (कसुमल) रंग की पाग जिस पर सोने के गोटे का काम किया हुआ हो और सोने गोटे का चौकारा लगा हुआ था तथा सोने का तुरा लगा हुआ हो पहनी जाती थी। अतः रंग के आधार पीलिया व कसुमल रंग समाज की सांस्कृतिक पहचान है। यह रंग समाज के हर्ष उल्लास व प्रेम का प्रतीक है<sup>11</sup>।

### संदर्भ

1. गीत- "बाई रा बीरा , पीलो धण ने केसरिया रंगदोजी हो ही पीच रंग पीले वाली, म्हारी जच्चा राणी" ओ जी ओ म्हने पाणिड़ो पोंमचियों रंगा दे मोरी माप, झालो था ने देस्या जी, केसरिया दुपट्टा रो
2. उदयपुर-जो पोंमचे बनते थे। उनका आंगन पीला, लाल, कोरपल्ले, बीच में दीर्घ चन्द्रमा, घेवर व खाने तथा चारों कोनों पर अर्द्ध चन्द्र होते थे। इसमें चारों कोने लाल बंधेज के बने होते थे। मोर, पपीहा और बीच में घेवर भी बांधे जा सकते हैं। इसे पंखी तथा कोर गोटे से ही सजाया जाता है।
3. वागड़-में पीले रंग का पोंमचा पहना जाता है। उस पर पाँच डिजाइनें होती है पल्लों पर पील्या कोर पील्या बुटा, कोर लाल रंग वाले छपे जाते हैं। जबकि दोनो पल्लों के बीच के भाग में जिसे गाला कहते हैं में लाल फूल और हरी चिड़िया छपी जाती है।
4. प्रतापगढ़-में पोंमचा ओढ़ती है। वह सपाट सादे रंग के होते हैं। दो पल्लो के महत्व सपाट लाल या पीला रंग होता है। यह पोंमचा (लल्या पोंमचा) कहलाता है
5. मारवाड़- में पोंमचा पीले रंग का होता है। कोर किनारी फीके काले रंग की होती है। लाल व सुनहरे रंग के फूल छपे जाते हैं।
6. महाराजा विजय सिंह के कपडो रे कोठार री बही वि. स. 1840 ई. से 1783 ई. पत्र संख्या 146 संग्रह ( म.मा.पु.प्र.शो.के. )
7. गीत- कोइज केवे बांध जी ज्या रे लाल कसुमल पाग चपक बरखो बाघजी ज्यारें लाल कसुमल पाग, "म्हारे तो लीली कांचली काई प्यारे कसुमल पागओ राजा। कसुमल पाग केसरिया बागा कसुमल पाग केसरिया।
8. भीमविलास किसना आढ कृत पृ. 295 कपड़ कुतूहल (ह.प्र.) पत्र 7-9, महाराजा भीमसिंह जी री वही वि. स 1853 (1796ई.) पत्र संख्या - 207 अप्रकाशित
9. मारवाड़ रा परगना री विगत भाग 2 पृ.-455 (सं. डा. नारायणसिंह भाटी)
10. शर्मा धर्मपाल मेवाड़ संस्कृति व परम्परा पृ. 32
11. महाराजा तख्तसिंह रे पोशाखों प्रदान की बही वि. स - 1910 (1853 ई.) पत्र संख्या 84 (म.मा.पु.प्र.शो.के.) जोधपुर

## महाराजा मानसिंह की भटियाणी रानियों का सांस्कृतिक योगदान

(महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन में संग्रहित बहियों के विशेष संदर्भ में)  
- डॉ. ज्योत्सना व्यास

रानियों के इतिहास के बारे में जानकारी हमें विशेषकर राणी मंगा भाटों की बही से प्राप्त होती है। इस ऐतिहासिक स्रोत में रानियों के नाम व उनके पीहर के वंश का सम्पूर्ण विवरण उल्लेखित किया गया है। रानियों के जीवन का सम्पूर्ण इतिहास रानीमंगा भाट लिखा करते थे। यह वह भाट होते थे जो कि सिर्फ रानियों से मांग कर अपना जीवन व्यापन करते थे तथा उनके द्वारा किए गए महत्वपूर्ण कार्यों का लेखा जोखा रखते थे। वे अपनी पोथी में रानी कहाँ की है, किसकी बेटी हैं, कहाँ और कब शादी हुई थी, कब सती हुई थी तथा उनके द्वारा करवाए गए सार्वजनिक कार्यों का उल्लेख करते थे। महाराजा मानसिंह की इन भटियाणी रानियों का राणीमंगा भेरूदान था। उसने इन रानियों के द्वारा कराए गए सार्वजनिक कार्यों का उल्लेख किया है तथा इन रानियों द्वारा स्वयं को दी गई भेटों का भी उल्लेख किया है। महाराजा मानसिंह पु. प्र. में संग्रहित कुछ बहियों तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों से इन भटियाणी रानियों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कला तथा साहित्य से सम्बन्धित गतिविधियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। वह इस प्रकार है-

**भटियाणी रानियों का परिचय-** हमें विदित है कि तत्कालीन रनिवास में पांच रानियाँ भाटी वंश की थी। महाराजा की पहली रानी भटियाणी ही थी। उनका नाम रायकंवर था जो कि जैसलमेर के खारिया ठिकाने के ठाकुर सूरजमलजी की पुत्री थी। दूसरी (लाडी) भटियाणी रानी गेनकंवर थी जो कि जैसलमेर के गाजू ठिकाने के ठाकुर लिच्छमण सिंह जी की पुत्री थी। तीसरी भटियाणी यानि तौजा भटियाणी प्रताप कंवर थी जो कि जाखण ठिकाने के गोयन दास जी की पुत्री थी। इसी प्रकार चौथी भटियाणी रानी अनूपकंवर सिद्धू ठिकाने के ठाकुर हरिसिंह जी की पुत्री थी तथा पांचवी भटियाणी रानी जंसकंवर बीकानेर के गोठड़ा ठिकाने के ठाकुर मोबतसिंहजी की पुत्री थी। ऐसे में यह अनुमान लगाना निरर्थक नहीं है कि तत्कालीन समय के रनिवास में भाटी वंश की रानियों का वर्चस्व रहा होगा। इन रानियों के जीवन के विभिन्न योगदान इस प्रकार है-

**राजनैतिक योगदान-** मारवाड़ में राव जोधा के समय से राठौड़ सत्ता को स्थायित्व मिला तथा तभी से मारवाड़ में जनाना ड्योढियों व उसमें रहने वाली रानियों के

संदर्भ में जानकारी मिलनी प्रारम्भ होती है। रानियों ने समय-समय पर पर्दे में रहने के बावजूद राजनैतिक क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राव जोधा के समय से दरबार कक्ष के पिछवाड़े के जालीदार झरोखों से रानियाँ राजकीय गतिविधियों पर नजर रखती थी तथा समय-समय पर राजा इनसे सलाह-मशविरा लेते थे। इन रानियों व राजकुमारियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। महाराजा मानसिंह के समय (1807-08) में रानियों से तोपे खींचवाने तथा बंदुकों से गोलियाँ चलवाने का भी उल्लेख है। इस घटना के अतिरिक्त महाराजा मानसिंह जी के देहान्त के बाद उनकी रानियों से तख्तसिंह को गोद लेने के सम्बन्ध में भी उनकी सहमति ली गई। इस कार्य के लिए तत्कालीन जोधपुर के पॉलिटिकल एजेण्ट सदरलैण्ड ने गढ़ पर जाकर रानियों से गद्दी की हकदारी सम्बन्धी स्वीकृति मांगी। तथा महाराजा मानसिंह की रानियों ने स्वयं पत्र लिखकर तख्तसिंह को गोद लेने के लिए बुलवाया तथा उस समय के घटनाक्रम में उनकी निर्णय क्षमता, राजनैतिक दक्षता और प्रशासन में योगदान को जाना जा सकता है। सभी रानियों ने एक जुट होकर यह निर्णय लिया उसका श्रेय हम बड़ी भटियाणी रानी को दे सकते हैं।

**सामाजिक योगदान-** भारतीय समाज, संस्कृति व सभ्यता, इन सबका आधार भूत यहाँ के रीति-रीवाज, रस्में, संस्कार व परम्पराएँ रही हैं। इसी प्रकार मारवाड़ के सामाजिक जीवन का आधार संतम्भ यहाँ के सदियों से मनाए जा रहे तीज-त्यूहार और व्रत-महोत्सव है। इन्हीं परम्पराओं के कारण मारवाड़ राजस्थान में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। राजवंश की स्त्रियाँ राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में भी रूचि लिया करती थी। इन रानियों के सामाजिक कार्यों का उल्लेख हमें मारवाड़ के इतिहास में कई जगह मिलता है। मगर इस शोध पत्र में महाराजा मानसिंह की भटियाणी रानियों पर ही प्रकाश डाला गया है। महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन में संग्रहित बही क्रम संख्या (246) जो कि महाराजा मानसिंह की बड़ी रानी भटियाणी साहिबा रायकंवर के हाथ खर्च की बही है। इस बही में 59 पृष्ठ हैं। इसका लिपिकाल वि.सं. 1921 (1864 ई.) श्रावण वदी प्रतिपदा से चैत्र सूदी पूर्णिमा तक का है। इस बही में लेखक का नाम उल्लेखित नहीं है। इस बही की भाषा राजस्थानी व लिपि महाजनी है।

प्रस्तुत बही में महारानी भटियाणी जी के सामाजिक कार्यों के हाथ खर्च का विवरण है। इस बही में विभिन्न पर्वों एवं उत्सवों पर मन्दिरों में ब्राह्मणों को, अपने परिजनों को मिठाईयों, रूपए एवं वस्त्र भेंट किए, उनका विवरण है। राजपरिवार में विवाह एवं उत्सवों पर ब्राह्मणों को जो दक्षिणा दी जाती थी उसे 'भूरसी' दक्षिणा कहते थे। इस दक्षिणा का इस बही में उल्लेख है। मारवाड़ में प्राचीन समय से ही विभिन्न पर्व मनाए जाने की परम्परा रही है। इन पर्वों पर महारानी भटियाणी ने विशिष्ट रूप से मिठाईयाँ, रूपए एवं अन्य चीजें वितरित की हैं। उदाहरणतः उपरोक्त बही में छमछरी (संवत्सरी) (बही में पत्र संख्या-3), नाग पंचमी (बही में पत्र संख्या-5), रक्षा बन्धन

(पत्र संख्या - 7), जन्माष्टमी (पत्र संख्या-8), बछवारस (पत्र संख्या-9), श्राद्ध पक्ष (पत्र संख्या - 13), गोगानम व होली (पत्र संख्या - 55) जैसे व्रत त्यौहारों का उल्लेख किया गया है। इन सभी उत्सवों में महारानी भटियाणी द्वारा दिए गए उपहार, दान, भेंट, मिठाईयाँ, बेस आदि का ब्यौरा दिया गया है।

बछ बारस पर महारानी भटियाणी ने अपने परिजनों एवं ब्राह्मणों को रूपए व सोने की मुहरे भेंट की। इस त्यौहार को बड़े-धूम धाम से मनाया, संभवतः पुत्र प्राप्ति हेतु ही इस त्यौहार को विशेष महत्व दिया होगा। इसके अलावा राजघराने में धर्म पर भी विशिष्ट खर्च किया जाता रहा है जैसे कि जो भी साधु-सन्यासी उपवास करते थे, उन्हें भी रानी द्वारा भेंट दिए जाने का उल्लेख इस बही में पत्र संख्या 16 पर किया गया है। इस बही में राजघराने में विवाह की रस्मों पर भी महारानी भटियाणी द्वारा खर्च किए गए रूपयों का उल्लेख है। उदाहरणतः पत्र संख्या 10 में राजघराने सम्बन्धित चवाण (चौहान) सा के पुत्र रणजीत सिंह के विवाह पर बनोला तथा दूल्हे की मां को भेंट किए गए बेस पर खर्च का भी उल्लेख इस बही में किया गया है। इस तरह के भी कई खर्चों का उल्लेख इस बही में है।<sup>12</sup> निष्कर्षतः इस बही में भटियाणी रानी ने कुछ विशिष्ट पर्वो-उत्सवों, रस्मों एवं त्यौहारों पर व्यक्तिगत रूप से रूपए खर्च किए गए हैं, उसका उल्लेख है। इस बही में ऐसे पर्वों पर ही प्रकाश डाला गया है जो कि तत्कालीन राजघराने में धार्मिक दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखते होंगे। इस बही से यह भी प्रमाणित होता है कि महारानी भटियाणी के मस्तिष्क में धार्मिक विचार कूट-कूट कर भरे हुए थे। महारानी ने कई अवसरों पर ब्राह्मणों को गायें तक दान दी है, ऐसा भी इस बही से प्रमाणित होता है। इस बही में तत्कालीन राजघराने में मनाए गए पर्वों, उत्सवों, रस्मों आदि के साथ-साथ महारानी भटियाणी के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को भी समझा जा सकता है। इस बही में राजघराने में सम्पन्न होने वाले रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। अगर तत्कालीन मारवाड़ के रीति-रिवाजों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह बही वरदान साबित हो सकती है। इसी प्रकार रानी प्रताप कंवर (तीजा) भटियाणी जी ने ईदर कंवर बाई सा<sup>3</sup> को गोद लिया था तथा हर साल अपने नौहरे में उनकी वर्ष गांठ का उत्सव मनाती थी, इसका उल्लेख राणी मंगा भाटों की बही में किया गया है। इस उपलक्ष में दी गई दान दक्षिणा का भी उल्लेख हमें मिलता है। जब तीजा मांजी वि.सं. 1909 में नागौर गई तब भी उन्होंने राणी मंगा भेरूदान को सिरोपाव दिया इसी प्रकार जब तीजा भटियाणी जी गंगा की तीर्थ यात्रा पर गए तब भी खूब दान दक्षिणा दी। तथा उन्होंने राणी मंगा, भेरूदान के पांचों बेटों के विवाह पर भी दस्तूर दिया। इस प्रकार इन भटियाणी रानियों की सामाजिक तथा धार्मिक विचारों पर महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशन में संग्रहित बहियों व ग्रन्थों से भरपूर जानकारी मिलती है।

**कला में योगदान**-इन भटियाणी रानियों का कला के क्षेत्र में भी बहुत बड़ा योगदान है। इन उपरोक्त रानियों द्वारा स्थापत्य कला में योगदान का उल्लेख हमें म. मा. पु. प्र. में संग्रहित बही क्रम संख्या 145 महाराजा मानसिंह की ख्यात, राणी मंगा भाटों

की बही तथा महाराजा तख्तसिंह की ख्यात में भी मिलता है। महाराजा मानसिंह की बड़ी रानी भटियाणी रायकंवर द्वारा पदमसर तालाब पर नाथजी का मन्दिर संवत् 1865 में निर्माण करवाया<sup>4</sup> तथा इस बात का उल्लेख महारानी साहिबां ने राणीमंगा भेरूदान को सिरोपाव देकर मण्डवाया इस पर महाराज साहब ने स्वयं आकर होम में विराजकर प्रतिष्ठा करावयी तथा मन्दिर का नाम निज मन्दिर रखा। इस उपलक्ष में रानी मंगा भेरूदान को पचरड़ा गांव पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए भेंट दिया। इसी प्रकार दूसरी भटियाणी रानी (लाडी भटियाणी) गेनकंवर ने भी अपना नाम राणी मंगा की बही में उल्लेखित करवाने के लिए भेरूदान को सरवाड़ गांव में कृषि के लिए कुआं (ढीबड़ों) दान में दिया। इन्होंने तेज सागर (बच्चा सागर) की पाल पर जलधर नाथजी का मन्दिर बनवाया तथा वि.संवत् 1888 में आषाढ़ सुद नवमी को मन्दिर की प्रतिष्ठा कर चरण पधाराए। इस मन्दिर का नाम अभय मन्दिर रखा जिसका अंकन राणी मंगा भेरूदान की बही में करवाया। इसी तरह तीसरी रानी भटियाणी प्रताप कंवर ने भी स्थापत्य की दृष्टि से अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया महाराजा के स्वर्गवास के पश्चात् वह पूर्णतया भक्ति में समर्पित हो गई। 1843 ई. में महाराजा मानसिंह की मृत्यु के छह वर्ष पश्चात् चंद्र ग्रहण होने वाला था, अतः इस अवसर पर दान देने के संकल्प से रानी ने 1846 ई. में गुलाब सागर तालाब की पाल पर एक मन्दिर का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया जिसमें जयपुर से मंगवा कर राम, सीता और लक्ष्मण की प्रतिमाएं स्थापित की। 1849 ई. में चंद्रग्रहण हुआ तो रानी ने नागौर के निरंजनी सम्प्रदाय के महंत मोतीराम को रथ भेजकर बुलवाया और संकल्प लेकर मन्दिर उसे भेंट कर दिया कुछ समय पश्चात् ही यह मन्दिर जमीन में धंस गया। अपना संकल्प खण्डित होते देख कर रानी (तीजा मांजी), ने घास मण्डी क्षेत्र में गिरवी रखी जमीन को खरीद कर एक नया मन्दिर बनवाया, जो अब तीजा मांजी का मन्दिर कहलाता है।<sup>5</sup> आठ साल की अवधि में एक लाख चांदी के रूपये खर्च कर यह मन्दिर बना। 1857 ई. में इस मन्दिर की प्राण प्रतिष्ठा हुई तब राजमाता प्रताप कुंवरी तथा जोधपुर नरेश तख्तसिंह तीन दिन तक लगातार मन्दिर परिसर में रहे।<sup>6</sup>

इस मन्दिर के गर्भ गृह में भगवान राम, जानकी और लक्ष्मण की प्रतिमाएं हैं। रामजी की मूर्ति काले कसौटी पत्थर की तथा जानकी एवं लक्ष्मण की मूर्तियाँ सफेद संगमरमर की बनी हुई हैं। मन्दिर की भीतरी छत पर भव्य चित्रकारी की गई है जिसमें भगवान राम के जन्मोत्सव से राज्यभिषेक तक की सम्पूर्ण कथा अंकित है। महाराजा तख्तसिंह ने इस मन्दिर को बावड़ी गांव की दो बीघा जमीन भेंट की थी जिसकी आय इस मन्दिर को सुचारू रूप से चलाने के लिए व्यय की जाती थी। तीजा मांजी का मन्दिर तत्कालीन जोधपुर का भगवान राम का एक मात्र भव्य मन्दिर था।<sup>7</sup> महाराजा मानसिंह की पांचवी भटियाणी रानी जसकंवर जी ने वि.सं. 1915 में सावन वद तेरस को गंगश्यामजी के मन्दिर में भारी सोने का झूला (2,000 रूपए) बनवा कर भेंट किया। इस भटियाणी रानियों ने ऐसे बहुत सारे धार्मिक कार्य स्थापत्य कला से सम्बन्धित किए। इन रानियों का मन्दिर स्थापत्य में अविस्मरणीय योगदान सराहनीय है।

**साहित्यिक योगदान-** मारवाड़ की जनानी ड्योडी में रानियों, राजकुमारियों व पासवानों द्वारा अनेक साहित्यिक ग्रन्थ एवं काव्य रचनाएं भी की गयी हैं। राजघराने की महिलाओं को विभिन्न भक्ति ग्रन्थों का ज्ञान ज्ञानिजनों द्वारा करवाया जाता था। राजवंशीय इन स्त्रियों के लिए ईश्वर शक्ति एवं प्रेम का प्रतीक था। साथ ही जीवन की विषमताओं से मुक्ति का माध्यम भी था जो उन्हें दुख से छुटकारा दिलाकर आनन्द की प्राप्ति कराता था। जैसा कि उपरोक्त यह वर्णन किया जा चुका है कि महाराजा मानसिंह की तीसरी रानी भटियाणी प्रतापकंवर जो तीजा मांजी के नाम से भी जानी जाती थी, वह राम की भक्त थी। चूंकि उनका वैवाहिक जीवन अल्पकालीन था, उसकी निराशा के कारण तीजां भटियाणी अपना सर्वाधिक समय भागवत भजन तथा दान पुण्य इत्यादि सुकर्मों में लगाती थी। इन तीजां भटियाणी ने साहित्य जगत में भी विशेष ख्याति अर्जित की। उन्होंने अपनी साधना से अनेक ग्रन्थों की रचना कर राजस्थानी साहित्य के भण्डार में अभिवृद्धि की और अपने पट्टे के गाँवों की आय का उपयोग चारण आदि कवियों को दान देने में किया उनकी लगभग 14 रचनाएं प्रकाश में आई हैं जो मुख्यतः ज्ञान व राम भक्ति से ही सम्बन्धित हैं। वह इस प्रकार हैं- 1. ज्ञान सागर 2. ज्ञान प्रकाश 3. प्रताप पच्चीसी 4. प्रेम सागर 5. रामचन्द्रनाम महिमा 6. राम गुण सागर 7. रघुवर स्नेहलीला 8. राम प्रेम सुखसागर 9. रामसुजस पच्चीसी 10. रघुनाथ जी रा कवित 11. भजन पद हरजस संग्रह 12. प्रताप विनय 13. श्री रामचन्द्र विनय 14. हरिजस<sup>०</sup> इस प्रकार इनका साहित्यिक योगदान भी सराहनीय है। तीजा भटियाणी प्रताप कंवर के अलावा किसी दूसरी भटियाणी रानी के साहित्यिक पक्ष के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है। अंततः इस शोध पत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाराजा मानसिंह की इन पांच भटियाणी रानियों का तत्कालीन मारवाड़ में सांस्कृतिक योगदान अमूल्य व अमिट है।

### संदर्भ

1. बही क्रम सं. 246, महाराजा मानसिंह की रानी भटियाणी साहिबा रे हाथ खर्च री बही, वि. सं. 1921 श्रावण बदी प्रतिपदा से चैत्र सुदी पूर्णिमा तक
2. राणीमंगा भाटों की बही (सम्पादित), सम्पादक कृ. महेन्द्रसिंह नगर, 2002, पृ. 72-76
3. महाराजा मानसिंह री ख्यात (सम्पादित), सम्पादक - डॉ. नारायणसिंह भाटी, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर- 1997, पृ. 89, 142, 228-229, 235-236
4. बही क्रम संख्या 145, महाराजा मानसिंह की महारानी तीजा (तृतीय) भटियाणी साहिबा ठाकुर जी रो मंदिर बणवायो उण री बही, वि.सं. 1905 श्रावण बही प्रथमा से
5. महाराजा तख्तसिंह री ख्यात (सम्पादित), सम्पादक - डॉ. नारायणसिंह भाटी, राज.प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर - 1993, पृ. 28-269
6. डॉ. हुकुम सिंह भाटी, भाटी वंश का गौरवमय इतिहास, भाग द्वितीय, पृ. 227
7. डॉ. (कृ.) महेन्द्रसिंह नगर, जोधपुर के प्रमुख पूजा-स्थल, पृ. 32, 33
8. मोती लाल मेनारिया, राजस्थान की भाषा और साहित्य, पृ. 328-29

## जयपुर रियासत के सांस्कृतिक एवं कलात्मक उन्नयन में सवाई जयसिंह द्वितीय (1699-1743 ई.) द्वारा स्थापित 36 कारखानों का योगदान

डॉ. ममता रोकना

आमेर एवं जयपुर रियासत के सभी शासक कलाप्रेमी रहे। कला के उन्नयन और संरक्षण के लिए यहां विशेष प्रयास किये गये और शास्त्रीय एवं ललित कलाओं को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया गया। आपसी सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के लिए भी विभिन्न कलाओं, हस्तशिल्पों व दस्तकारियों को माध्यम बनाया गया।

जयपुर राजघराने के सभी शासकों ने मुगल दरबार के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये। वस्तुतः जयपुर के शासकों की मुगल दरबार में महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। विचारों और उपहारों के आदान-प्रदान ने जयपुर में पल रही कलाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। जयपुर की चित्र परम्परा, आभूषण, वस्त्र, शिल्प आदि की निर्माण पद्धति व रूपाकारों में मुगलिया एवं फारसी नफासत स्पष्ट नजर आने लगी।

### 36 कारखानों की परम्परा

जयपुर की समृद्धि और सम्पन्नता आमेर के राजा भारमल (1547) के अकबर की अधीनता स्वीकार करने के साथ आरम्भ हुई थी और सवाई जयसिंह के समय में वह अपनी चरम सीमा पर थी। अपने महल के आसपास के चौकों में ही जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह ने छत्तीस कारखाने स्थापित किये थे। राज्य की 'बावन कचहरियां' और छत्तीस कारखाने जयपुर निवासियों की जुबान पर बार-बार आते थे। जब तक राजाओं का राज रहा, जयपुर में कोई भी छुट्टी या तामील तभी मुक्कमिल मानी जाती थी, जब छत्तीस कारखाने भी बन्द रहे और कोई काम-काज न हो।

सवाई जयसिंह ने ही कारखानों की कल्पना की और इसे मूर्त रूप दिया। किन्तु जैसा अन्य बातों में उनका दृष्टिकोण था, कारखानों की स्थापना में भी जयसिंह ने मुगलिया नफासत के साथ राजस्थानी संस्कृति व परम्पराओं को भी संरक्षित रखा। अपनी कलात्मक वस्तुओं के विशाल संग्रह और आवश्यकताओं को देखते हुए उसने कारखानों की संख्या 36 निर्धारित की।<sup>1</sup>

इस परिकल्पना का आधार तो मुगल दरबार में पूर्व प्रचलित कारखाने ही थे। सवाई जयसिंह ने इसी आधार पर अपने कारखाने स्थापित किये होंगे और सवाई माधोसिंह

ने कदाचित् उनका पुनर्गठन किया होगा। इन 36 कारखानों की स्थापना के पीछे उद्देश्य यही था कि विद्वान, कवि, लेखक, चित्रकार, गायक, वादक और नर्तक, कलाकार, शिल्पीजन, दस्तकार सभी को राजकीय संरक्षण दिया जाये व उन्हें प्रशिक्षित कर अच्छी कलाकृतियां व अन्य आवश्यक वस्तुएं तैयार कराई जा सके। जयपुर में इन कारखानों में ललित कलाओं तथा उपयोगी कलाओं को भरपूर संरक्षण मिला। 36 कारखानों के नाम सर्वथा नये थे किन्तु ऐसे जो जयपुर के जनसाधारण की समझ में आये। बखतराम साह इस सम्बन्ध में हमें बताते हैं—

ऊंचे दरवाजे सुगम वाट।

कंचन सम जटिल बने कपाट।।

लगते बनवाये चौक ईस।

तहाँ रहै कारखाने छत्तीस।। 151

यह हुतौ कारखाने तनौस।

पारसी नाम ता मध्य दास।।

नृप काढि हिंदवी नाम कीन।

गृह संग्या यह ठानी नवीन।। 152

स्पष्ट है कि कारखानों की व्यवस्था तो स्पष्टतः मुगल या फारसी अनुकरण पर की गई थी, पर उनके नाम दोषपूर्ण जानकर जयसिंह ने 'हिंदवी' नाम ही रखे और उनकी संख्या अपनी आवश्यकतानुसार व सुविधा के अनुसार निश्चित की। पंडित गोपाल नारायण बहुरा के अनुसार उन दिनों के कारखानों की पूरी सूची तो अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाई है।<sup>3</sup> किन्तु जयसिंह के पुत्र माधोसिंह प्रथम ने इस ओर ध्यान दिया था। उनकी आज्ञा से दलपति राय ने संस्कृत में राज-रीति निरूपण शतकम् नामक ग्रंथ लिखा जिसमें 'यवन परिपाट्यानुसार' कारखानों के नामों की सूची दी गई।<sup>4</sup> गोपाल नारायण बहुरा ने अपनी पुस्तक में राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर, जयपुर के कपड़द्वारा और अन्य सूत्रों से प्राप्त जानकारी के आधार पर 24 कारखानों की सूची दी है जो माधोसिंह प्रथम (1750-67 ई.) के समय में या उससे भी पहले स्थापित हुए थे।<sup>15</sup>

सूची इस प्रकार है—

1. कपड़द्वारा-जिसमें (अ) किरकिरा खाना (ब) जरगरखाना (स) तोशाखाना (द) खजाना बहेला थे। 2. पोथी खाना, 3. सूरत खाना, 4. ख्याल खाना, 5. सिलह खाना, 6. फर्शा खाना, 7. पालकी खाना, 8. फील खाना, 9. बग्घी खाना, 10. शूतर खाना, 11. रथ खाना, 12. तवेला, आतिश, 13. ग्वालेरा या गौखाना, 14. शिकार खाना, 15. रसौड़ा, 16. मोदी खाना, 17. तातेड़ खाना, 18. तम्बोल खाना, 19. ओखद खाना, 20. इमारत, 21. मिस्त्री खाना, 22. नक्कार खाना या नौबत खाना, 23. गुणीजन खाना, 24. कारखाना पुण्य, 25. बागायत, 26. खबर, 27. तारकशी (गोटा किनारी), 28. खुशबू खाना (इत्र की ओरी), 29. नक्खास (घोड़ों का क्रय-विक्रय), 30. मशाल

खाना, 31. पतंग खाना, 32. पातर खाना, 33. रंग खाना, 34. रोशन चौकी।

इन नामों से प्रकट हैं, इन कारखानों में से कुछ तो जयपुर रियासत की रोजमर्रा की जरूरतों की पूर्ति करते थे जैसे रसौड़ा, तम्बोल खाना, तातेड़ खाना आदि वहीं कुछ का योगदान राजसी शान-ओ-शौकत में रहता था जैसे नक्कारखाना, रथ खाना, मशाल खाना आदि। बागायत का कारखाना राजकीय बाग-बगीचों की देखभाल करता था, ख्याल खाना और पतंग खाना जैसे कारखाने राजा के व्यक्तिगत शौक को पूरा करते थे और ये दोनों सम्भवतः रामसिंह द्वितीय (1835-80 ई.) द्वारा स्थापित किये गये थे।<sup>16</sup> सब कारखानों के समन्वय और कार्य प्रणाली की देखरेख के लिए एक पृथक विभाग था 'कारखाना जात'। इसके अन्तर्गत ये कारखाने अलग-अलग या समूह बन कर जयपुर रियासत के वर्तमान राजस्थान में विलीन होने तक निरन्तर अस्तित्व में थे।

उपरोक्त वर्णित कारखानों में से महत्वपूर्ण कारखानों का संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है—

**कपड़द्वारा**—सवाई जयसिंह ने जो छत्तीस कारखाने स्थापित किये उनमें कपड़द्वारा एक ऐसा कारखाना था जिसका रिकार्ड 1949 तक, जब तक कि 'राज सवाई जयपुर' कायम रहा, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों, रीति-रिवाजों, आदान-प्रदान, कानून-कायदों को जानने के लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमें जरगर खाना, किरकिराखाना, तोशाखाना और खजाना बहेला नामक 4 उपविभाग हुआ करते थे।

**जरगर खाना**—इसमें सोने-चांदी के जेवरात, बर्तन, कसीदाकारी, तारकशी, सलमा-सितारा, गोटा-किनारी और कलाबूत के काम होते थे।

**किरकिरा खाना** में जवाहरात व बेशकीमती कपड़े रहते थे।

**तोशाखाना** में राजाओं की पोशाकों का भण्डार रहता था।

**खजाना बहेला** एक ऐसा कोष था जिसमें से राजा जब चाहे किसी भी काम में खर्च कर सकता था।

कपड़द्वारा में जौहरी, मुनीम, सुनार, जड़िये, दर्जी, कशीदाकार व अन्य दस्तकार बराबर अपने-अपने काम में जुटे रहते थे। राज परिवार में शादी-ब्याह, गमी व अन्य अवसरों पर निभाये जाने वाले रीतिरिवाज व खर्चों का ब्यौरा कपड़द्वारा के कागजातों से मिलता था।

**पोथी खाना**—जयपुर राजघराने के संग्रह में सुरक्षित दुर्लभ ग्रंथों की व्यवस्थित देखरेख व रचना के लिये पोथीखाना की स्थापना सम्भवतया आमेर में ही की जा चुकी थी। सवाई जयसिंह ने अपने 36 कारखानों में इसे प्रमुख स्थान दिया। 'पोथीखाना' को पुस्तकालय के स्थान पर कारखाना मानने के पीछे दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसका प्रयोजन यही था कि दुर्लभ ग्रंथ न सिर्फ संरक्षित हों अपितु उनका लेखन और सृजन निरन्तर बना रहे।

पूर्व में 'सूरतखाना' एवं 'ख्यालखाना' भी पोथीखाना के ही विभाग थे। पोथीखाना साहित्य, कला और शिल्पकारी (दस्तकारी) का त्रिवेणी संगम था। इसके पीछे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राजा मानसिंह प्रथम (1589-1614 ई.) से लेकर महाराजा मानसिंह द्वितीय (1922-1970 ई.) तक आमेर तथा जयपुर के सभी शासक विद्यावान एवं पुस्तक प्रेमी अवश्य थे और उन सभी की अपने पूर्वजों से प्राप्त पाण्डुलिपियों, चित्रों एवं ग्रंथों के विशाल संग्रह को सम्मान संरक्षण देने का हर सम्भव प्रयत्न किया।<sup>7</sup>

**पोथीखाना का पहला भाग 'खास मुहर'**-इसमें लगभग 8 हजार हस्तलिखित ग्रंथ और पाण्डुलिपियां हैं। खास मुहर यानि हर राजा के समय की व्यक्तिगत मुहर (सील) युक्त पोथी या पाण्डुलिपियां, जिसे राजा की मृत्यु के समय सील कर दिया जाता था। सवाई प्रतापसिंह के पश्चात् इन ग्रंथों की सुरक्षा के लिए जिल्द बंधवाये जो कि छौंठ, पारचे, अतलस कपड़े व चमड़े के बने थे। इस संग्रह में राजा रामसिंह द्वितीय (1880) के समय तक के ग्रंथ मिलते हैं।

दूसरे भाग में पोथीखाना का 'खासा संग्रह' है। इसमें लगभग साढ़े तीन हजार हस्तलिखित और अनेक बहुमूल्य चित्रों से सुसज्जित ग्रंथ हैं। यह वे ग्रंथ हैं जो राजाओं ने अपने-अपने समय में लिखवाये, खरीदे या भेंट स्वरूप प्राप्त हुए। फौजी तथा अबुलफजल कृत महाभारत का फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' इसी संग्रह का अमूल्य ग्रंथ है। फौजी तथा अबुलफजल कृत तथा शाही रामायण जो फारसी भाषा में अकबर दरबार के दूसरे विद्वानों ने तैयार की, सवाई माधोसिंह (प्रथम) के समय पोथीखाना की संपत्ति बनी। 1965 में जब पाकिस्तान का हमला हुआ तो 169 और 172 चित्रों से सुसज्जित इन दुर्लभ ग्रंथों सहित पोथीखाना की सुरक्षा को लेकर सवाई मानसिंह (द्वितीय) सर्वाधिक चिंतित थे। जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के गुरु रत्नाकर पुंडरीक महाशब्दे का संग्रह पोथीखाने का तीसरा महत्वपूर्ण विभाग है। इसमें भी लगभग ढाई हजार पाण्डुलिपियां संग्रहीत थी। इसे पुंडरीक संग्रह के नाम से ही जाना जाता है। महाराजा रामसिंह (1835-1880 ई.) के समय में इसमें अनेक ग्रंथ लिखे और संरक्षित किये गये। 'वैदिक वैष्णव सदाचार' व 'सज्जन मनोनुरंजनम्' आदि ग्रंथ इसमें संग्रहीत हैं।

पोथीखाना का चौथा विभाग लीथो से छपे व अन्य मुद्रित ग्रंथों को संग्रहीत करता है। यह वह समय था जब भारत में प्रिंटिंग प्रेस चालू हो गये थे और इस विभाग में महाराजा रामसिंह ने लीथो में छपे कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित 'बिबलियोथिका इंडिका सीरीज' तथा 'इंडियन आर्ट सीरीज' की लगभग सभी पुस्तकों को खरीद कर शामिल किया। जयपुर रियासत के हर शासक के समय में धर्म, दर्शन, योग, भक्ति, खगोल विद्या, ज्योतिष एवं अन्य विषयों पर लिखित, चित्रित व मुद्रित दुर्लभ व महामूल्य ग्रंथ पोथीखाना में संरक्षित व संग्रहीत किये गये।<sup>8</sup>

महाराजा ईश्वरीसिंह, प्रतापसिंह, रामसिंह द्वितीय के काल में पोथीखाना अत्यन्त समृद्ध हुआ। पोथीखाने और संग्रहालय का वर्तमान स्वरूप महाराजा मानसिंह (द्वितीय)

की देन है। उन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑफ दि इण्डियन फोर्सेज' लिखा जिसे 1967 में ओरियन्ट लॉगमेंस ने प्रकाशित किया।

**सूरत खाना**-यह जयसिंह के छत्तीस कारखानों में से एक था और पोथीखाना का ही एक भाग था। स्थापत्य कला का जयपुर में जैसा उन्नयन हुआ वैसा ही कलम का जौहर भी जयपुर शैली की चित्रकला में देखने को मिला। सवाई प्रतापसिंह (1778-1803 ई.) के समय यह अपने चरमोत्कर्ष पर था। औरंगजेब की नीति से परेशान होकर जब शाही संरक्षण पाने वाले मुसव्विर और सूरतगर दिल्ली व आगरा छोड़कर आश्रय खोज रहे थे तो जयपुर जैसे कला प्रेमी शासकों के राज्य में उन्हें भरपूर संरक्षण मिला।

पोथीखाना के समान ही सूरतखाने के वैभव को भी संसार के सामने प्रकट हुए अधिक समय नहीं हुआ। महाराजा मानसिंह (द्वितीय) के समय में जयपुर की रीजेंसी काँसिल ने पहली बार सूरतखाने की छह बड़ी तस्वीरों को फर्स्ट ऑल इंडिया आर्ट एक्जीबिशन में भेजा, तब कला प्रेमियों ने राजपूत शैली के विकसित रूप को जाना। सवाई जयसिंह व महाराजा प्रतापसिंह के आदमकद चित्रों को अब तक सात हिन्दू आकृति चित्रों में सर्वोत्तम नमूना माना जाना चाहिए।<sup>9</sup> ऐसे ही दुर्लभ चित्र गोवर्धन लीला व रास मण्डल के हैं। स्याह कलम में बने रेखा चित्र हो या राजसी वस्त्रों, शान-औ-शौकत को दर्शाते रंगीन चित्र, सभी अद्वितीय हैं। 'मिनियचर' या लघु-चित्र तो सभी जगह बने हैं, लेकिन आदमकद व्यक्ति जयपुर के 'सूरतखाने' की देन है।

जिस प्रकार पोथीखाने के चार भाग हैं उसी प्रकार सूरतखाने के भी तीन प्रमुख भाग हैं। पहले भाग में वे चित्र हैं जो बाहर से लकार यहां संग्रहीत किये गये। इसमें आगरा, दिल्ली के मुगल शैली के तथा बूंदी की विख्यात कलम का विशाल संग्रह प्रमुख हैं। दूसरे विभाग में वे चित्र हैं, जो सवाई जयसिंह और उनके परवर्ती राजाओं ने यहां के सूरतगरों व मुसव्विरों को आज्ञा देकर बनवाये। रास मंडल, गोवर्धन धारण, राजाओं के व्यक्ति चित्र इसमें विशेष हैं। तीसरा विभाग उन कलाकृतियों का है जो समय-समय पर चित्रकारों ने अपनी इच्छा से बनाकर राजाओं को भेंट किये। पोथीखाना की तरह ही सूरतखाने को भी प्रतापसिंह ने ही व्यवस्थित रूप दिया और हजारों चित्रों के संग्रह के विषयवार मुक्के (एलबम) बनवाये। प्रतापसिंह के पश्चात् रामसिंह के समय में चित्रकारों को बहुत संरक्षण और प्रोत्साहन मिला। रामसिंह के समय में रामचन्द्र (मुसव्विर) चित्रकार का बड़ा नाम था। जिस प्रकार रामसिंह के समय में स्थापत्य में यूरोपीय प्रभाव है, वैसा ही उस समय के चित्रों में भी झकलता है। मुगलकाल का 1857 ई. में पूरी तरह पटाक्षेप हो चुका था और अंग्रेजों से बढ़ते सम्बन्धों के कारण इस समय में अंग्रेज पुरुषों और महिलाओं तथा उसके पालतू पशु-पक्षियों के चित्र भी यहां बने। धार्मिक विषयों पर आधारित चित्रों में भी यूरोपीय छाया प्रकाश युक्त चित्र शैली देखी जा सकती है। रामसिंह के समय प्रेम-युगल, ऊंट सवार, हाथी, घोड़ों पर शाही सवारियां, शासकों व राजकुमारों के विशाल चित्र बने। 1880 में रामसिंह की मृत्यु के पश्चात् यह



परम्परागत शैली लुप्त होने लगी। किन्तु जयपुर शैली के चित्र निरन्तर बनते रहे। आज भी जयपुर शहर में लगभग 3500 से अधिक चित्रकार जयपुर शैली की चित्रकला में संलग्न हैं।

**गुणीजनखाना**—प्रतिभावान गायकों, वादकों एवं नर्तकों को राज्याश्रय व संरक्षण प्रदान करने के लिए 'गुणीजन खाना' स्थापित किया गया। आमेर जयपुर के शासकों ने लेखक, कवि, चित्रकार और अन्य अनेक कलाकारों व शिल्पियों को प्रोत्साहन दिया वैसा ही अवसर संगीतज्ञ और नर्तकों को भी प्रदान किया। जयपुर की खयाल गायकी व कथक नृत्य इसी राज्याश्रय में परवान चढ़ा।<sup>10</sup>

सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित 'मान चरित्र' में अमृत राय कवि ने यहां के राजप्रासादों में गूंजने वाले गीत संगीत का सुंदर वर्णन किया है। पुण्डरीक विठ्ठल कृत 'राग मंजरी' माधोसिंह एवं 'हस्तक रत्नावली' (नृत्य मुद्राओं पर आधारित) रामसिंह प्रथम के समय लिखी गई। प्रतापसिंह के पूर्व गुणीजन खाना के बारे में विशेष विवरण नहीं प्राप्त हुए हैं किन्तु प्रतापसिंह (1778-1803) का समय जैसे पोथी खाने का स्वर्ण युग था ठीक वैसे ही गुणीजन खाने के लिए भी स्वर्ण काल रहा। उस समय दरबार में कवि-बाईसी, वीर बाईसी, वैद्य बाईसी और पंडित बाईसी के साथ ही 'गान्धर्व बाईसी' (गायक समूह) भी मौजूद थे। गान्धर्व बाईसी के प्रधान उस्ताद चांद खां या दूलह खान थे। जिन्हें 'बुध प्रकाश' के सम्मान से नवाजा गया। उन्होंने संगीत ग्रंथ 'स्वर-सागर' की रचना की।

सवाई प्रतापसिंह के समय में 'राधेगोविन्द संगीत सार' व राग रत्नाकर जैसे संगीत विषयक ग्रंथ छपे। स्वयं प्रतापसिंह अपने आराध्य श्री गोविन्द की भक्ति में लीन होकर पद रचते व उन्हें संगीतबद्ध कर गाते भी थे।<sup>11</sup> महाराजा रामसिंह (द्वितीय) के समय गुणीजन खाने का विस्तार हुआ। उन्होंने स्वयं रजब अली से वीणा-वादन सीखा।<sup>12</sup> डागर घराने के प्रमुख उस्ताद बहराम खां के अंतिम संरक्षक भी महाराजा रामसिंह ही बने। हीरानन्द व्यास द्वारा इनके समय में संगीत रत्नाकर व संगीत राग कल्पद्रुम ग्रंथों की रचना की गई। रामसिंह के राज्यकाल में गुणीजन खाने में 161 वेतन भोगी कलाकार, वाद्य यंत्रों को बनाने सुधारने के लिए बढ़ई व कुम्हार भी थे जिन्हें पूरा सम्मान मिलता था व मृत्यु पश्चात् पेंशन का भी प्रावधान था।<sup>13</sup> संगीत के साथ-साथ जयपुर के नर्तकों ने कथक नृत्य की 'जयपुर घराना' शैली का विकास किया। हरिहर प्रसाद, हनुप्रसाद, नारायण प्रसाद यहां विशिष्ट कथक नृत्यकार थे।<sup>14</sup>

डॉ. जयचंद शर्मा व डॉ. चन्द्रमणि के अनुसार कथक नृत्य की जयपुर घराना शैली की दो शाखाएं हैं और दोनों के प्रवर्तक चुरू जिले के रहने वाले थे।<sup>15</sup> गायकों व नर्तकों में महिला कलाकार भी थी जिन्हें समुचित सम्मान दिया जाता था। गौहर जान के साथ कुल 38 गायिकाएं व नर्तकियां गुणीजन खाने में नौकरी पर थी। जयपुर रियासत के विलय के साथ ही गुणीजन खाना भी गुणी व प्रतिभावान कलाकार विभिन्न क्षेत्रों में जा

बसे और जयपुर घराने के नृत्य व गायन (कथक व ध्रुवपद) के विकास हेतु निरन्तर कार्यरत रहे।

रसोड़ा या रसोवड़ा, फर्राशखाना तथा मशाल खाना, बग्घीखाना, रथखाना, आतिश (खासा घुड़सवार), ग्वालैरा (डेयरी), शिकारखाना, ओखदखाना (यूनानी औषधालय), मोदीखाना (रसद विभाग), तातेड़खाना (जलदाय विभाग), तम्बोलखाना (पानों का बाजार), इमारत, मिस्त्रीखाना, कारखाना-पुण्य, बागायत, तारकशी (गोटा किनारी), खबर (खुफिया विभाग), ईत्र की ओरी आदि वे अन्य कारखाने थे जो जयपुर रियासत के भव्य राजप्रासादों में रहने वाले शासकों के राजसी शान-औ-शौकत, शौक व पसंद को तथा दैनिक जरूरतों को पूरा करने के लिए निरन्तर कार्यशील रहे।<sup>16</sup>

इन्हीं कारखानों की व्यवस्था ने राजप्रासादों में आश्रय लेने वाली गुणीजनों, मिस्त्रियों, मजदूरों व शहर के एक बड़े वर्ग को आजीविका का आधार प्रदान किया। सवाई जयसिंह द्वितीय की स्वप्न नगरी 'जयपुर' अपने स्थापत्य, सौन्दर्य एवं वैभव के लिए ही नहीं वरन् सांस्कृतिक धरोहर की सर्वोन्मुखी उन्नति के लिए भी विश्व प्रसिद्ध है। 36 कारखानों के संचालन की अवधारण जयपुर के शासकों के सांस्कृतिक प्रेम की प्रतीक है। वर्तमान में महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय में जयपुर की वैभवशाली कला परम्परा व 36 कारखानों की बानगी देखी जा सकती है।

### सन्दर्भ

1. नन्दकिशोर पारीक, राजदरबार और रनिवास राज. पत्रिका प्रा. लि., 1984, पृ. 45
2. बुद्धि विलास, राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जोधपुर 1964 ई.
3. लिटरेरी हेरीटेज ऑफ दि रूलर्स ऑफ आमेर एण्ड जयपुर, पृ. 13
4. वही, पृ. 416-17
5. गोपाल नारायण बहुग, राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर
6. नन्दकिशोर पारीक, पूर्वोक्त, पृ. 48
7. वही, पृ. 50
8. लिटरेरी हेरीटेज ऑफ दि रूलर्स ऑफ आमेर एण्ड जयपुर, पृ. 13
9. स्टेडीज इन इण्डियन पेंटिंग, बम्बई, 1926, पृ. 32
10. पुरुषोत्तम दास मित्तल, ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 454-55
11. ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृ. 48-49
12. कल्चरल हेरीटेज ऑफ जयपुर, 1979, पृ. 99
13. वही
14. नन्दकिशोर पारीक, पूर्वोक्त, पृ. 79
15. मरु श्री त्रैमासिक, जनवरी-जुलाई 1982, चुरू कलवरी के कथक
16. नन्दकिशोर पारीक, पूर्वोक्त, पृ. 80

## हाड़ौती के आदिवासी राज्य

डॉ. याकूब अली खान

हाड़ौती क्षेत्र में विद्यमान शैलाश्रयों की खोज से यह तथ्य सामने आता है कि आज से लगभग चालीस हजार वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक काल में एक विशाल मानव समूह हाड़ौती क्षेत्र के विभिन्न स्थानों पर निवास करता था। शनैः शनैः बुद्धि विकास एवं परस्पर सहयोग की आवश्यकतानुसार मानव ने समूहों में निवास करना शुरू किया। कालान्तर में गांवों एवं शहरों का विकास हुआ। बढ़ती हुई जनसंख्या ने प्रशासनिक व्यवस्था को जन्म दिया परिणाम स्वरूप अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित होते गये। इन प्रारम्भिक मानव समाज के वर्गों को अनेक आक्रान्ता जातियों ने पराजित कर इन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर इनको दासता का अपमानजनक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में इनको अनेक नामों से संबोधित किया गया है।<sup>1</sup> इन्हीं नामों को सामूहिक रूप से आधुनिक भारत में आदिवासी (जनजाति) कहा जाता है।<sup>2</sup>

हाड़ौती प्रदेश की सबसे प्राचीन जनजाति 'भील' है। 'भील' नाम द्रविड़ भाषा से संबंधित कन्नड़ भाषा के शब्द 'बील' से लिया गया है। जिसका अर्थ है-धनुष। भील जाति धनुष विद्या में पारंगत होती है इसलिए इस जाति का नामकरण भी इसी गुण के आधार पर हुआ है। रसेल एवं हीरालाल के मतानुसार यह भील शब्द सन् 600 ई. से ही प्रयोग में होता चला आ रहा है। इससे पूर्व इस जनजाति को पुलिन्द तथा वन-पुत्र के नाम से जाना जाता था।<sup>3</sup> एक किवदंती के अनुसार भीलों की उत्पत्ति महादेव से भी मानी जाती है।<sup>4</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में विद्यमान प्रागैतिहासिक काल के शैलाश्रय निवासियों के वंशज ही यह भील जाति है। समय-समय पर विभिन्न विदेशी आक्रान्ताओं ने इन्हें पराजित कर उनके प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जता कर उन्हें जंगलों, पहाड़ों में निर्वासित कर दिया। आर्यों के अलावा मालव, मोखरी क्षत्रप, गुप्त, मौर्य और अन्त में परमार वंशी राजपूतों ने इस जाति पर निरंतर अपना प्रभुत्व बनाये रखा। पूर्व मध्य युग में हाड़ौती प्रदेश मालवा के परमार राजाओं के अधिकार में था। जब धीरे-धीरे इन परमार राजाओं की शक्ति कमजोर होती गई तो हाड़ौती प्रदेश की स्वतंत्रता प्रिय जनजाति को स्वयं के कई छोटे-छोटे राज्य इस क्षेत्र में स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त होता चला गया। इस प्रदेश में स्थित मुकन्दरा पर्वत श्रेणी से ये भील राज्य अकेलगढ़ (कोटा) से लेकर खाताखेड़ी (मनोहरथाना) तक फैले हुए थे। इसके अतिरिक्त बारां जिले में स्थित नाहरगढ़ के निकट आसलपुर में भी एक भील राज्य विद्यमान था। उपलब्ध स्रोतों

के आधार पर इस आदिवासी राज्यों से संबंधित निम्नांकित जानकारी मिलती है—

### 1. अकेलगढ़ का भील राज्य

वर्तमान कोटा नगर से केवल आठ किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण दिशा में चम्बल नदी के दाहिने किनारे अकेलगढ़ नामक स्थान पर उजला गोत्र के भीलों का एक छोटा-सा राज्य विद्यमान था जो तीस से चालीस मील की परिधि में फैला हुआ था।<sup>5</sup> अकेलगढ़ के इस भील राज्य का नाम 'भिलवाड़ी' था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कोटा राज्य के प्रथम हाड़ा शासक माधोसिंह प्रथम ने जब कोटा नगर के चारों तरफ नगर प्राचीर का निर्माण कराया, उस समय अकेलगढ़ की ओर स्थित दक्षिण दरवाजे का नाम 'भिलवाड़ी पोल' रखा गया था जिसको बाद में बदलकर 'किशोरपुरा' दरवाजा किया गया।<sup>6</sup> इस राज्य में भीलों के दो दुर्ग विद्यमान थे जो ध्वस्त हो गये हैं।<sup>7</sup> इस राज्य की राजधानी अकेलगढ़ थी जिसका राजा भील जाति का कोटिया नामक व्यक्ति था।<sup>8</sup> हालांकि कर्नल टॉड ने इस भील राजा का नाम नहीं लिखा है परन्तु यह इशारा जरूर किया है कि यह कोटिया नाम भील जाति का था।<sup>9</sup> इस कोटिया भील की स्मृति में बूंदी शासक जैतसिंह ने आधुनिक कोटा नगर बसाया।<sup>10</sup> जिस स्थान पर आज कोटा का महल विद्यमान है उस स्थान पर भील राज्य के समय इस जाति के कुछ झोपड़े विद्यमान थे। इस स्थान का नाम 'चोर झोपड़ा' था।<sup>11</sup>

इस भील राज्य के पड़ोसी में मीणा जनजाति का बूंदी राज्य स्थित था। जहां से मीणा शासक को हाड़ा वंशी देवसिंह (देवा) ने हराकर एक हाड़ा राज्य की स्थापना की। राव देवा ने विस्तारवादी नीति का परिचय देते हुए अपने आसपास के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया। इससे अकेलगढ़ के भील राज्य को अपने अस्तित्व पर खतरे का अहसास हो गया था। कोटिया भील ने इस नव स्थापित हाड़ा राज्य के शासक को संकट में घेरे रखने हेतु चम्बल नदी पार करके बूंदी के प्रदेश में उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया परन्तु इस हाड़ा शासक ने इस कठिन विपत्ति के समय अपने धैर्य को बनाये रखते हुए इस समस्या के समाधान का हर संभव प्रयत्न किया। भीलों को सबक सिखाने हेतु सर्वप्रथम हाड़ा समरसिंह ने उन पर एक प्रचण्ड हमला किया जिसमें करीब 3000 भील सैनिक मारे गये और भीलों की शक्ति को कम करके समरसिंह ने अकेलगढ़ के निकटवर्ती क्षेत्र में स्थित कैथून, सीसवाली, बड़ौद, रेलावन, रामगढ़, मऊ और सांगोद के परगनों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। इन प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमाकर समरसिंह अपने राज्य में लौट रहा था तब भीलों ने चम्बल के तट पर उसका रास्ता रोक कर हमला कर दिया। एक बार फिर भयंकर युद्ध हुआ जिसमें नौ सौ भील एवं तीन सौ हाड़ा सैनिक खेत रहे। कोटिया भील को प्राणरक्षा हेतु जंगलों में भागना पड़ा।<sup>12</sup>

हालांकि भील हाड़ाओं द्वारा दो बार पराजित किये जा चुके थे तथापि वे अपनी स्वतंत्रता खोने को तैयार नहीं थे। समरसिंह के पुत्र जैत्रसिंह (जैतसिंह) ने हर संभव प्रयास से अकेलगढ़ के भीलों का सर्वनाश करने का इरादा किया जो कि बूंदी राज्य के

लिए ये संकट बने हुए थे। इनका पूर्ण नाश करने हेतु जैत्रसिंह ने अकेलगढ़ के निकटतम पड़ोसी कैथून के तंवर शासक दुल्हाराय की सहायता ली थी जो कि जैत्रसिंह का श्वसुर था।<sup>13</sup> हाड़ा एवं तंवर सेना ने एकजुट होकर अकेलगढ़ पर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया। इस संकटपूर्ण घड़ी में भी कोटिया भील ने हार नहीं मानी और वीरतापूर्वक इनका सामना किया। लेकिन इस विशाल एवं शक्तिशाली सेना का सामना कोटिया न कर सका एवं वीरगति को प्राप्त हुआ। भील पराजित होकर भाग निकले। अकेलगढ़ के भील राज्य का सदैव के लिए अन्त हो गया।

इस युद्ध में जैत्रसिंह के स्वामी भक्त पठान सरदार सालारखां गाजी ने वीरता का परिचय देते हुए कोटिया भील पर एक खण्डे का तीव्र वार करके उसका सर धड़ से अलग कर दिया था। कोटा के गढ़ महल के निर्माण के समय महल के मुख्य द्वार का नाम 'सालार गाजी द्वार' रखा गया था।<sup>14</sup> कोटिया भील की पराजय के बाद यह प्रदेश पूर्ण रूप से बूंदी के हाड़ा शासकों के अधीन हो गया। जैत्रसिंह ने इस स्थान पर एक नया नगर बसाकर उसका नाम कोटिया भील की स्मृति में कोटा रखा जिसकी स्थापना बैसाख सुदि 3, संवत् 1321 (1264 ई.) में की गई थी।<sup>15</sup>

इस प्रकार अकेलगढ़ के भील राज्य का अस्तित्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया एवं इस प्रदेश पर बूंदी नरेशों का आधिपत्य कायम हुआ।

## 2. खाताखेड़ी (मनोहरथाना) का भील राज्य

हाड़ौती प्रदेश का दूसरा भील राज्य खाताखेड़ी का राज्य था जो कि कोटा नगर से करीब 150 मिलोमीटर की दूरी पर स्थित मनोहरथाना से लगभग 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस राज्य का नाम 'भीलवाड़' था।<sup>16</sup> खाताखेड़ी एवं मनोहरथाना में भीलों के दुर्ग थे। यह भील राज्य मालवा के राजा भोज के समय से लेकर कोटा के राजा भीमसिंह प्रथम तक अस्तित्व में रहा।<sup>17</sup>

मध्यकाल में यह प्रदेश मालवा प्रान्त के अन्तर्गत था। मुगल सम्राट शाहजहां के समकालीन इस भील राज्य का शासक भागीरथ था। उसके पास विशाल सेना एवं एक सुदृढ़ दुर्ग होने के कारण वह घमण्डी हो गया था। यहां तक कि वह मालवा के सूबेदारों के आदेशों की भी अवहेलना नहीं करता था। उस समय मालवा का गवर्नर नसीरीखां था<sup>18</sup> जिसको शाहजहां ने 'खान दौरा' की उपाधि से विभूषित किया था।<sup>19</sup> नसीरी खां ने भागीरथ की उदण्डता का अन्त करने हेतु एक विशाल सेना के साथ खाताखेड़ी के भील राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई। जब भील शासक को मालवा गवर्नर के इरादों की जानकारी मिली तो उसका सामना करने से असमर्थ पाकर उसने गिन्नूर के जर्मीदार के माध्यम से संधि प्रस्ताव भेजा। जिसको स्वीकार करके नसीरी खां ने खाताखेड़ी का दुर्ग अपने कब्जे में ले लिया जहां उसने बड़े पैमाने पर उसमें तोड़-फोड़ की। यह संधि हिजरी सन् 1042 (1632-33 ई.) में हुई थी।<sup>20</sup>

औरंगजेब के शासन काल में खाताखेड़ी का शासक भील चक्रसेन था। वह एक शक्तिशाली शासक था जिसकी प्रभुता समाप्त भील जाति खाताखेड़ी से लेकर मेवाड़ के पठारी प्रदेशों तक मानते थे। मुगल बादशाह के समय में यह परगना मनोहरखां अथवा मुनव्वरखां को जागीर में दिया गया था जिसने स्वयं के नाम पर मनोहरथाना आबाद किया।<sup>21</sup> बाद में भीलों ने इस पर अपना प्रभुत्व जमाकर परवन एवं काकर नदी के संगम पर एक छोटा परन्तु सृदढ़ दुर्ग बनाया जो वर्तमान में भी स्थित है।<sup>22</sup>

औरंगजेब ने बूंदी शासक शत्रुशाल की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र भावसिंह को बूंदी का राजा माना उसके छोटे भाई भगवंतसिंह हाड़ा को जो उसका कृपा पात्र था, बारां एवं मऊ मैदाना का अलग राज्य दिया। जिसमें खाताखेड़ी समेत अन्य सात परगने भी शामिल थे।<sup>23</sup>

नैणसी भी खाताखेड़ी में भील शासक चक्रसेन का राज्य बताता है जो भगवंतसिंह की जागीर में था।<sup>24</sup> वंश भास्कर से ज्ञात होता है कि जब भगवंतसिंह को मऊ मैदाना का राज्य मिला था तब इसके साथ-साथ वह चाचुरणी एवं खाताखेड़ी का भी शासक बना। भगवंतसिंह ने भील शासक चक्रसेन को हराकर उसके सात परगने अपने अधिकार में ले लिये।<sup>25</sup> इससे यह साफ जाहिर होता है कि चक्रसेन ने भगवंतसिंह से पराजित होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। सन् 1666 ई. में भगवंतसिंह की मृत्यु होने पर उसका पुत्र कृष्णसिंह (किशनसिंह) हाड़ा मऊ राज्य का राजा बना।<sup>26</sup> कृष्णसिंह के देहान्त पर (अप्रैल 1682 ई.) इस मऊ राज्य का अन्त हो गया क्योंकि कृष्णसिंह के पुत्र अनिरुद्धसिंह ने बूंदी के शासक के रूप में शासन किया।

इस सुअवसर का लाभ उठाकर खाताखेड़ी के भील राजा चक्रसेन ने अपनी खोई हुई शक्ति को सुदृढ़ कर लिया क्योंकि मुगल शासन भी औरंगजेब के कमजोर उत्तराधिकारियों के समय में अत्यन्त शिथिल हो गया था। उस समय कोटा के शासक भीमसिंह प्रथम ने जो मुगलों का मनसबदार भी था, इस भील राज्य को सदा के लिए खत्म करने का संकल्प किया। भील राजा चक्रसेन को एक भीषण युद्ध में पराजित कर भील राजा को कोटा राज्य में शामिल कर लिया गया। चक्रसेन मालवा की तरफ भाग निकला जहां उसके वंशजों ने मानधाता और औंकारनाथ में अपने राज्य स्थापित किये।<sup>27</sup>

## 3. आसलपुर का भील राज्य

हाड़ौती प्रदेश का तीसरा मुख्य भील राज्य आसलपुर का था। यह नगर बारां जिले में नाहरगढ़ से 8 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर दिशा में वर्णी नदी के किनारे स्थित था। वर्तमान में यह नगर खण्डहरों के रूप में है। इसको देखने से प्रतीत होता है कि उस समय में यह नगर एक समृद्धिशाली नगर रहा होगा जिसका राजा भोजा भील नामक एक आदिवासी था जिसको बूंदी के राव रतन ने मारकर इस नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था<sup>28</sup> एवं जिसे बूंदी राज्य के अधीन कर लिया।

#### 4. बंबावदा का मीणा राज्य

हाड़ौती की दूसरी प्रसिद्ध जनजाति मीणा है। वैदिक साहित्यानुसार मीणाओं की उत्पत्ति मत्स्य जाति के मनुष्यों से हुई है।<sup>29</sup> टॉड का मानना है कि प्राचीनकाल में बूँदा के निवासी एवं राजा पछवारा मीणा जनजाति के लोग थे। जो कालान्तर में पांच भागों में विभाजित हो गईं जिनमें से एक उसारा गौत्र के मीणा थे। पूर्व मध्यकाल में अजमेर से लेकर यमुना नदी तक के विस्तृत पर्वतमाला प्रदेश को 'कालीखोह' कहते थे। इस पर्वतीय प्रदेश में खोगांव, माच इत्यादि अनेक मीणा राज्य थे।<sup>30</sup>

12वीं शदी ई. में राजपूतों के उदय के कारण मीणों ने इस प्रदेश को त्याग कर अन्य प्रदेशों में शरण ली। उसारा जाति के मीणाओं ने मालवा के पठारी क्षेत्र को अपना निवास बनाया। आगे चलकर बूँदी नगर की घाटी में, जो चारों तरफ से पर्वतमालाओं से घिरा है, स्वयं के अस्तित्व के लिए सुरक्षित मानकर इस स्थान को अपना केन्द्र बनाया और परमारों की निर्बल शक्ति का लाभ उठाकर अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।<sup>31</sup> ऐसा कहा जाता है कि बूँदी नगर एवं उसके पड़ोसी क्षेत्रों में बूँदा मीणा का शासन था।<sup>32</sup> वंश भास्कर के अनुसार जिस समय बम्बावदा में बंगदेव हाड़ा का शासन था उसी समय बूँदी में उसारा जाति के मीणा शासक जैता का राज्य था। जिसके पिता का नाम गोल्ला<sup>33</sup> और पितामह का नाम बूँदा था।<sup>34</sup> बूँदा के नाम पर ही इस घाटी का नाम बूँदानाल पड़ा था।<sup>35</sup> घाटी में बसे गांव का नाम बूँदी था। उसका शासन बूँदी के अलावा 12 छोटे-छोटे ग्रामों पर भी था।

बम्बावदा के शासक बंगदेव हाड़ा के ज्येष्ठ पुत्र देवसिंह द्वारा मीणों से बूँदी विजित करने के अलग-अलग स्रोतों में अलग-अलग विवरण मिलते हैं। वंश भास्कर का मानना है कि जैता मीणा ने अपने पुत्रों का विवाह अपने कामदार जसराज चौहान की पुत्रियों से करना चाहा, जसराज इसका विरोध करने में असमर्थ था उसने देवीसिंह से सहायता की प्रार्थना की। देवीसिंह ने उससे मीणों के बारे में पूरी जानकारी ली।<sup>36</sup> उसने यह भी जाना कि मीणा सिर्फ गंगदेव खीची से भयभीत रहते हैं। सर्वप्रथम राव देवा ने मीणों को खीची शासक गंगदेव से मुक्ति दिलाकर उनका विश्वास जीता<sup>37</sup> और जसराज की कन्याओं से उसके पुत्रों का विवाह करने का ढोंग रचा जिसका आयोजन उमरथून गांव में हुआ<sup>38</sup> जहां पर एक बाड़े में उनको शराब पिलाकर मदहोश करके आग लगा दी जहां अधिकांश मीणा जलकर मर गए शेष तलवार के घाट उतार दिये गये। इस तरह से राव देवा ने बूँदी पर (1241 ई.) अपना आधिपत्य जमा लिया।<sup>39</sup> यह तिथि सही प्रतीत नहीं होती<sup>40</sup> क्योंकि देवा के परदादा विजयपाल का एक शिलालेख बूँदी के निकट क्वादरेश्वर महादेव के मंदिर से मिला है जो 1353 सम्वत् का है। टॉड ने बूँदी विजय करने की तिथि सम्वत् 1398 (1341 ई.) बताई है जो सही प्रतीत होती है।<sup>41</sup>

नैणसी राव देवा द्वारा बूँदी विजय का वर्णन अलग तरह से प्रस्तुत करता है उसके अनुसार उस समय बूँदी में एक ब्राह्मण परिवार रहता था जिसकी कन्या से मीणा शासक

विवाह करना चाहता था। ब्राह्मण ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करके राव देवा से सहायता मांगी। विवाह का ढोंग रचाकर मीणों को एक बाड़े में बन्द करके आग लगा दी गई। इसमें कई व्यक्ति जलकर मर गये शेष तलवार के घाट उतार दिये गये।<sup>42</sup> अन्य वर्णन में कहा गया है कि देवा ने अपनी पुत्री की शादी चित्तौड़गढ़ के राणा से की थी। उसकी सहायता से उसने मीणों को पराजित कर बूँदी पर अपना अधिकार जमाया था।<sup>43</sup>

एक अन्य विवरण में नैणसी कहता है कि बूँदी के मीणा शासक हरराज डोड की अधीनता में थे जो उनसे प्रतिवर्ष 'नालबंदी' कर के रूप में अपार धनराशि ले जाता था। मीणों ने इससे छुटकारा पाने हेतु राव देवा से सहायता मांगी। राव देवा ने डोड शासक को हराकर एक संधि कर ली एवं अपनी कन्या का विवाह डोड शासक से करने का वादा किया। मीणों ने कहा कि तुम्हारी कन्या से हम विवाह करेंगे जिसका विरोध राव देवा ने किया। युक्ति से मीणों से निपटने के लिए वहीं विवाह का स्वांग रचा गया। वही बातें हुई जो ऊपर वर्णित की गई हैं। उनको नष्ट कर राव देवा ने बूँदी पर अधिकार कर लिया।<sup>44</sup> इस प्रकार राव देवा द्वारा बूँदी विजय करने संबंधी अनेक वृत्तान्त हैं। जिनकी सत्यता की खोज करना अति आवश्यक है। लेकिन यह सत्य है कि राव देवा ने मीणों को नष्ट कर बूँदी में हाड़ा राज्य की स्थापना की।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि हाड़ौती क्षेत्र में प्राचीन भील एवं मीणा जनजाति के अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे। इन जनजातीय राज्यों का अन्त हाड़ा शासकों के द्वारा ही हुआ। एक बार परास्त होने के बाद ये आदिवासी शासक दुबारा राज्य सत्ता का आनन्द नहीं ले सके एवं हमेशा के लिए हाड़ौती से इनकी सत्ता समाप्त हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति कर यह प्रदेश हाड़ा वंशी राजपूत राजाओं की जन्म एवं कर्म स्थली रहा।

#### सन्दर्भ

1. एल.पी. विद्यार्थी एवं राय, दी ट्राअबल कल्चर ऑफ इण्डिया, पृ. 26
2. वही, पृ. 25
3. महेशचन्द्र शाण्डिल्य, भील, पृ. 3
4. वही, पृ. 3
5. एम.एल. शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 60
6. ठाकुर लक्ष्मणदान (हसतलिखित) कोटा राज्य का इतिहास, पृ. 8
7. कोटा राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 33
8. सूर्यमल्ल मिश्रण, वंश भास्कर, भाग 3 एवं ठाकुर लक्ष्मणदान, पृ. 2
9. कर्नल जे. टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजपूताना, भाग 3, पृ. 1468
10. वंश भास्कर, भाग 2, 1709
11. टॉड, भाग 3, पृ. 1468
12. वंश भास्कर, भाग 3, पृ. 1678
13. ठाकुर लक्ष्मणदान, पृ. 3
14. वही, पृ. 3-4

15. वही, पृ. 3
16. बन्दोबस्त राजगढ़ स्टेट, सन् 1907 ई., इन्द्रमल जिन्दाणी, तारीख राज झालावाड़, पृ. 31, टॉड, भाग 3, पृ. 1524
17. टॉड, भाग 3, पृ. 1524
18. इनायत खां, शाहजहां नामा, पृ. 89
19. वही, पृ. 115
20. वही, पृ. 89
21. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 2, पार्ट 2, पृ. 1474
22. जे.एस. गहलोत, राजपूताने का इतिहास, 2, कोटा राज्य, पृ. 32
23. मेहता लज्जा राम शर्मा, पराक्रमी हाड़ा राव, पृ. 230
24. मुंहता नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 103
25. वंश भास्कर, पृ. 2786
26. पराक्रमी हाड़ा राव, पृ. 238
27. कोटा राज्य का इतिहास, 1, 2.33
28. वही, पृ. 300-301
29. बी.एन. धोंदियाल, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बूंदी, पृ. 19-20
30. टॉड, भाग 3, पृ. 132, 1333, 1334
31. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बूंदी, पृ. 30
32. गहलोत, बूंदी राज्य, पृ. 42
33. वंश भास्कर, पृ. 1611
34. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बूंदी, पृ. 1
35. वही, पृ. 1
36. वंश भास्कर, भाग 3, पृ. 1611-12, मेहता लज्जाराम, उम्मेदसिंह चरित्र, पृ. 8
37. वंश भास्कर, भाग 3, पृ. 1612-13, 14
38. वंश प्रकाश, पृ. 34
39. वंश भास्कर, भाग 3, पृ. 1624
40. गहलोत, राजपूताने का इतिहास, 2, बूंदी राज्य, पृ. 43
41. टॉड, भाग 3, पृ. 1467
42. नैणसी की ख्यात, 1, पृ. 105' 106
43. वही, पृ. 106
44. वही, पृ. 107-8

## जयपुर के मीनाकारों का मीनाकारी हस्तकला को योगदान (1800 ई. से वर्तमान तक)

पूजा नेगी

जयपुर की हस्तकला में मीनाकारी का अपना पृथक मुकाम है। मीनाकारी हस्तकला राजस्थान में मुगल काल से ही प्रचलन में रही। राजा मानसिंह द्वारा लाहौर से सिक्ख मीनाकारों को आमेर दरबार में स्थापित किया गया, इन मीनाकारों में जोरावरसिंह, जवाहरसिंह, सुखसिंह तथा बिशनसिंह प्रमुख थे।<sup>1</sup> आमेर से यह कला कच्छवाहों की नवीन राजधानी जयपुर में सवाई जयसिंह द्वारा प्रचलित की गई। इस प्रकार जयपुर महाराज के संरक्षण द्वारा मीनाकारी अपने विस्तार को प्राप्त करती रही। जयपुर के भिन्न-भिन्न शासकों तथा ब्रिटिश कलाप्रेमियों ने मीनाकृत वस्तुओं को प्रोत्साहन द्वारा मीनाकारी को समृद्ध बनाया। जयपुर नरेशों के अतिरिक्त मीनाकारों द्वारा इस हस्तशिल्प को नए आयाम प्रदान किए।

### जयपुर के प्रमुख मीनाकारों का योगदान

जयपुर के अनगिनत मीनाकारों ने इस हस्तशिल्प को नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया। जयपुर की स्थापना से वर्तमान तक अनेक कलाकारों ने अपनी कलात्मक कृतियों के सृजन के माध्यम से इस हस्तकला को विख्यात किया। 18वीं सदी के प्रमुख मीनाकारों गुमानमल का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>2</sup> इनके द्वारा मीनाकला को इस कालन में निरन्तरता के साथ जारी रखा। गुमानीमल मीनाकार महाराजा प्रतापसिंह (1778-1803) के काल में प्रमुख रहे। दस्तूर कौमवार के एक विवरण में मौजेजैराम नामक मीनाकार<sup>3</sup> का उल्लेख मिलता है। जो महाराजा रामसिंह (1835-1880) के शासनान्तर्गत रहे। मौजेजैराम ने मीनाकृत कलाकृतियों में बेलबूटे, पुष्प, पल्लव आदि अलंकरण का समाहित किया।

**किशनसिंह**-जयपुर में सिक्ख मीनाकारों की परम्परागत मीनाकारी का निर्वहन किशनसिंह द्वारा किया गया। महाराजा रामसिंह जी के शासनकाल में मीनाकारी में उत्कृष्ट योगदान के लिए किशनसिंह को याद रखा जाएगा। रामसिंह के शासनान्तर्गत जयपुर में एक कला प्रदर्शनी का आयोजन किया गया जिसमें देश के विभिन्न कलाकारों ने भाग लिया। जयपुर से मीनाकार किशनसिंह ने इस प्रदर्शनी में 24 कैरेट सोने की प्लेट और आमेर एवं जयपुर का नक्शा मीनाकारी से बनाया। इस मीनाकृत वस्तु के लिए इन्हें प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ और पुरस्कार स्वरूप 5 तोले का स्वर्ण पदक मिला।<sup>4</sup>

**गोमासिंह**-किशनसिंहजी के पुत्र गोमासिंहजी ने महाराजा माधोसिंह द्वितीय (1880-1922 ई.) के शासन काल में अपना कला कौशलता का परिचय दिया। इनके द्वारा स्कूल ऑफ आर्ट में शिक्षक का कार्य सक्रिय रूप से किया गया। गोमासिंह रजत, चांदी पर मीनाकारी करने में विशेषज्ञ थे।<sup>5</sup> गोमासिंह ने 1896 ई. में लंदन में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में भाग लिया। इस प्रदर्शनी में उन्हें मीनाकारी युक्त स्वर्ण प्लेट के लिये योग्यता प्रमाण पत्र प्राप्त हुआ।<sup>6</sup> इनके प्रशंसनीय कार्यों ने मीनाकारी को नई पहचान दी।

**दीनदयाल मीनाकार**-जयपुर की मीनाकारी हस्तकला दीनदयाल मीनाकार के बिना अधूरी है। इनके अतुलनीय योगदान ने मीना कला को विशिष्टता प्रदान की है। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् 1951 ई. में यह परिवार सहित जयपुर आ बसे।<sup>7</sup> इसी के साथ जयपुर में भी मीनाकारी का इतिहास रचा जाने लगा। दीनदयाल जी द्वारा अपने जीवन में सदैव ऐसी कलाकृतियां निर्मित की गईं जो सदैव स्मरणीय रहेगी। इन्होंने सन् 1951 ई. में तीन सौ ग्यारह तोला वजनी और बारह इंच लम्बे सोने के तोते पर अद्भुत मीनाकारी कर न केवल अपना कला कौशल सिद्ध किया बल्कि इतिहास भी बनाया।<sup>8</sup> 1968 ई. में दीनदयाल मीनाकार को राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया तथा 1969 ई. में अखिल भारतीय हस्तशिल्प मण्डल कला प्रदर्शनी में भाग लिया एवं 1970 में राजस्थान सरकार द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ।<sup>9</sup> दीनदयालजी द्वारा मीनाकारी को जीवन्त बनाए रखने के लिए राज्य सरकार द्वारा संचालित मीनाकारी कला प्रशिक्षण संस्थान में कई युवकों को प्रशिक्षण भी दिया तथा स्वतंत्र रूप से कार्य भी किया। इनके द्वारा कलाकृति में सफेद चलवां, बूंद तिला नामक की मीनाकारी की किस्मों का प्रयोग किया गया।

**सरदार कुदरतसिंह**-कुदरतसिंह मीनाकारी हस्तकला में वह नाम है जिन्होंने मीनाकला को भारत में विख्यात बनाया। इनके द्वारा अपने पिता रावलसिंह जी से मीनाकारी का प्रशिक्षण लिया गया तथा स्वतंत्र रूप से कार्य किया गया। अपनी कला कौशलता के लिए कुदरतसिंह को 24 वर्ष की अवस्था में महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स द्वारा प्रशंसा पत्र प्राप्त हुआ।<sup>10</sup> इनके द्वारा लाल मीना में महारत हासिल की गई तथा शतरंज, ट्रे, सुराही, प्याले, अम्बाबाड़ी के हाथी के कलात्मक नमूनों द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की गई। सरदार कुदरतसिंह की उत्कृष्ट मीनाकारी ने सम्पूर्ण भारत में पहचान बनाई। 1966 ई. में इन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया।<sup>11</sup> इनके द्वारा मीनाकारी के प्रति पूर्णतया समर्पण कला साधना के लिए 1968 ई. में राजस्थान सरकार द्वारा राजकीय पुरस्कार, सन् 1973 ई. में अखिल भारतीय हस्तशिल्प मंडल का विशिष्ट पुरस्कार, सन् 1982 ई. में राजस्थान श्री, 1986 ई. में रत्न, 1987 में मेवाड़ फाउण्डेशन का महाराजा सज्जनसिंह पुरस्कार तथा विदेशों में भी सम्मान प्राप्त हुआ।<sup>12</sup> 1988 ई. में सरदार कुदरतसिंह को सरकार द्वारा पद्मश्री से अलंकृत किया गया।<sup>13</sup> इस प्रकार कुदरतसिंहजी

ने अपनी कला योगदान के बल पर मीनाकारी को नवीन आयाम प्रदान किए।

**मुन्नालाल मीनाकार**-दीनदयाल मीनाकार के पुत्र मुन्नालाल मीनाकार मीनाकारी हस्तकला के सिद्धहस्त कलाकार रहे। मुन्नालाल मीनाकारी की किस्मों के अन्तर्गत सफेद चलवां, लाल जमीन, बूंद तिली और तैयारी में निपुण रहे।<sup>14</sup> इनके कार्य की ख्याति के कारण सन् 1969 ई. में उन्हें गणेशजी की स्वर्ण प्रतिमा और सन् 1973 ई. में आम की आकृति वाली स्वर्णहार की लटकन पर मीनाकारी के लिए अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड का योग्यता प्रमाण पत्र प्राप्त हुआ।<sup>15</sup> सन् 1975 ई. में उन्हें राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत कर उनकी कला को राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित किया गया।<sup>16</sup> अतः मीनाकारी हस्तशिल्प में मुन्नालाल मीनाकार का योगदान अतुलनीय है।

**इन्दरसिंह**-सरदार कुदरतसिंह जी के पुत्र इन्दरसिंह ने भी वर्षों पुरानी अपनी वंश परम्परागत हस्तकला को अपना कर सम्मान दिया। इनके द्वारा पारम्परिक मीनाकारी के प्रत्येक पक्ष को बनाए रखा गया। इन्होंने देशी मीना के कार्य को जयपुर ही नहीं बल्कि विश्व में प्रसिद्ध किया। इन्दरसिंहजी के कार्यों के लिए इन्हें राज्य स्तरीय तथा 2012 ई. में राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त हुआ।<sup>17</sup>

**राजकुमार मीनाकार**-दीनदयाल मीनाकार के अन्य पुत्रों में राजकुमारजी का नाम सम्माननीय है। राजकुमारजी ने सभी प्रकार के मीना (रंगों) को प्रयोग कर आकर्षक कलाकृतियों का निर्माण किया। इनके द्वारा मीनाकारों की सोसाइटी का गठन कर इस वर्ग के कलाकारों को एक मंच प्रदान किया गया। मीनाकारी को अपनी अगली पीढ़ी तक पहुंचाने के साथ ही अन्य युवकों को भी प्रशिक्षण प्रदान करने का कार्य भी किया। इनके मीनाकारी कला में योग्य कार्यों के लिए इन्हें राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान से नवाजा गया।<sup>19</sup>

**दीपक संकेत**-दीनदयाल मीनाकार जी की तीसरी पीढ़ी के मीनाकार दीपक संकेत परम्परागत हस्तशिल्प को वर्तमान में जारी रखे हुए हैं। दीपकजी द्वारा परम्परागत मीनाकारी के साथ ही आधुनिक मीनाकारी को भी नए प्रयोग के साथ प्रारम्भ किया। मीनाकृत आभूषणों में दीपक नए आकृति को शामिल करते हैं। इनके मीनाकारी के प्रति योगदान के लिए इन्हें नेशनल मैरिट अवार्ड से सम्मानित किया गया। कला प्रदर्शन के माध्यम से इन्होंने मीनाकारी को प्रसिद्ध बनाया।

**प्रीति संकेत**-जयपुर में मीनाकारी कला क्षेत्र के अन्तर्गत दीनदयालजी की पोती प्रीति ने अपनी अलग पहचान बनाई है। प्रीति संकेत इस हस्तकला को महिलाओं के मध्य लाई तथा उन्हें प्रशिक्षण द्वारा मीनाकारी के लिए प्रेरित किया। प्रीति संकेत द्वारा आधुनिक मीनाकारी को अपनाया गया। इसी नवीन कार्य के लिए इन्हें स्मॉल इण्डस्ट्री कॉर्पोरेशन की ओर से स्टेट मैरिट अवार्ड से नवाजा गया। इनके द्वारा आभूषणों में हार, अंगूठी पर नई मीनाकारी की जा रही है। वर्तमान में प्रीति जी स्वयं मीनाकारी करती हैं अन्य को भी प्रशिक्षित कर रही हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जयपुर की

मीनाकारी को पहचान देने में जितने योगदान यहां के शासकों का है उतना ही योगदान मीनाकारों का भी है। समय-समय पर भिन्न-भिन्न कलाकारों ने कला परम्परा को निरन्तरता को बनाए रखा। अनगिनत मीनाकारों ने जयपुर की स्थापना के साथ ही इस क्षेत्र में अद्भुत कार्य कर वर्तमान तक के मीनाकारों ने अपनी अलग-अलग भूमिका का निर्वाह किया।

### सन्दर्भ

1. Arts and Crafts, chapter XVIII in Jaipur Album or AI about Jaipur, 1935, Rajasthan Directors Publishing House, Jaipur
2. दस्तूर कौमवार जिल्द संख्या 23, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
3. दस्तूर कौमवार जिल्द संख्या 23, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
4. कमलेश माथुर, हस्तशिल्प कला के विविध आयाम, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1997, पृ. 118
5. Gills, Tillotson, Jaipur Nama, Tales from the pink city, Penguin Books, 2006, p. 151
6. इन्दरसिंहजी (मीनाकार) से दिनांक 19.11.2008 को साक्षात्कार से ज्ञातव्य तथ्य
7. प्रीति काला (मीनाकार) से दिनांक 06.01. 2011 को वार्तालाप से ज्ञात तथ्य
8. राजकुमार मीनाकार से दिनांक 07.01. 2011 को साक्षात्कार से ज्ञातव्य तथ्य
9. वही
10. राजस्थान की हस्तकलाएं द राजस्थान स्मॉल इण्डस्ट्रीज लिमिटेड, जयपुर
11. इन्दरसिंहजी (मीनाकार, कुदरतसिंहजी के पुत्र) से दिनांक 19.11.2008 को वार्तालाप से ज्ञातव्य तथ्य
12. कमलेश माथुर, पूर्वोक्त, पृ. 119
13. इन्दरसिंह जी (मीनाकार) से दिनांक 19.11.2008 को साक्षात्कार से ज्ञातव्य
14. राजकुमार मीनाकार से दिनांक 06.01. 2011 को साक्षात्कार से ज्ञातव्य तथ्य
15. H. Bhishnapal, Handicrafts of Rajasthan, Publication Division, 1984, p. 53
16. देवदत्त शर्मा, पुरखों की विरासत है मुन्ना की मीनाकारी, राजस्थान सुजस, संचय सूचना एवं जनसम्पर्क निदेशालय, जयपुर, 1998, पृ. 886
17. राजस्थान पत्रिका, जयपुर नव., 2012
18. दीपक संकेत (मीनाकार) से दिनांक 06.01.2011 को साक्षात्कार से ज्ञातव्य तथ्य
19. प्रीति काला (मीनाकार) से दिनांक 06.01.2011 को वार्तालाप से ज्ञात तथ्य

## पश्चिमी राजस्थान में विधवा पुनर्विवाह व विधवाओं की स्थिति में सुधार हेतु संस्थागत व निजी प्रयास

सुमेस्ता

विवेच्य काल में सम्पूर्ण राजस्थान में प्रचलित बाल विवाह व बेमेल विवाह जैसी कुरीतियों के कारण कम उम्र में ही लड़कियां विधवा हो जाती थी। 1923 ई. में 10 से 15 वर्ष तक की उम्र वाली विधवाओं की संख्या 2,23,032 थी।<sup>1</sup> 1941 ई. की जनगणना रिपोर्ट से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि राजस्थान में 9500 विवाहित महिलाएं ऐसी थीं जिनकी शादी 15 वर्ष की या उससे कम उम्र में हो चुकी थी एवं इनमें से 680 लड़कियां विधवा थीं।<sup>2</sup> विधवाओं की इतनी अधिक शोचनीय स्थिति होने के बावजूद पश्चिमी राजपूताना की तथाकथित उच्च जातियों यथा राजपूतों, ब्राह्मणों, महाजनों, जैनियों आदि में विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था। विधवा द्वारा विवाह न करना सांस्कृतिक परम्परा का आदर्श एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक समझा जाता था।<sup>3</sup> इसके विपरीत समाज के अन्य वर्गों यथा कृषक व श्रमिक वर्ग (जाट, ढोली, रेबारी, गूर्जर, कुम्हार इत्यादि) में बाल व बेमेल विवाह की अधिकता के होते हुए भी विधवा पुनर्विवाह 'नाता', 'पल्लै लगाई', 'घर में घालना' इत्यादि के रूप में प्रचलित होने के कारण विधवाओं की स्थिति इतनी खराब नहीं थी। दूसरी तरफ जिन वर्गों में नाता, पल्लै लगाई इत्यादि की प्रथा प्रचलित थी उनसे राज्य प्रशासन कर की वसूली करता था उदाहरणतः बीकानेर में रीठ, जोधपुर नाताकागली<sup>4</sup> लगाकर कानूनी रूप से इसे मान्य किया हुआ था, किन्तु व्यवहारिक तौर पर कर लगाना इस प्रकार के विवाहों पर कर लगाने से पहले से ही आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों (विधवा पुनर्विवाह प्रचलन वाले) को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा हतोत्साहित करने का कार्य करता था। इतना ही नहीं शासकीय वर्ग, राजकीय अधिकारी, सामंत, महाजन, ब्राह्मण वर्ग विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से देखते और इसे निम्न कार्य मानते थे।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य अध्ययन-काल में विधवाओं को शोचनीय स्थिति से उबारने के लिए विभिन्न सुधारकों एवं समाज सुधारक संस्थाओं के प्रयासों का आधुनिक समाज के निर्माण में योगदान को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के तौर पर प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। इसके साथ ही इस शोध-पत्र में उक्त विषय पर उपलब्ध अभिलेखीय सामग्री (ऑफिसियल और नॉन ऑफिसियल) जिसका पहले उचित इस्तेमाल नहीं हुआ है, के

आधार पर विधवा-विवाह एवं विधवाओं की स्थिति में सुधार के अशासकीय प्रयासों का विवेचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

जहां तक विधवाओं को शोचनीय स्थिति से बाहर निकालने, उनको समाज में सामान्य लोगों जैसा समझा जाने व विधवा पुनर्विवाह को चौतरफा स्वीकार करने के लिए चलाई जाने वाली मुहिम का प्रश्न है, वो बहुत से समाज सुधारकों के व्यक्तिगत प्रयासों व समाज-सुधारक संगठनों के सामूहिक प्रयासों से (बहुत धीरे-धीरे ही सही) विधवाओं को पुनः एक नया जीवन आरम्भ करने का अवसर प्राप्त हुआ! जाहिर है उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में होने वाले सुधार आंदोलनों का पश्चिमी राजस्थान पर भी प्रभाव पड़ा। 13 फरवरी 1881 ई. में आर्य समाज की स्थापना अजमेर में की गई तथा इसकी शाखाएं जोधपुर, बीकानेर, चूरू इत्यादि में खोली गई।<sup>6</sup> स्वामी दयानन्द ने अपने समाज-सुधारक कार्यक्रमों में अभिजात वर्ग को विशेष रूप से जोड़ा क्योंकि उन्होंने समझा कि शासक तथा जागीरदार ही सुधारों को नेतृत्व प्रदान कर सकते थे तथा पश्चिमी राजस्थान की जनता की रूढ़िवादिता तोड़ने में भी वे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। अतः उन्होंने शासकों व जागीरदारों में अपने भाषणों के माध्यम से व सामान्य जन में, अनाथालय (जिनमें भरण पोषण किया जाता व जीविकोपार्जन की शिक्षा दी जाती), वनिता आश्रम आदि खोलकर व समाचार पत्रों के माध्यम से ऐसा माहोल पैदा किया जिससे विधवा पुनर्विवाह सुगमता से मान्य हो जाए। 23 जून 1881 ई. से 17 अगस्त 1881 ई. में स्वामीजी ने मसूदा में पुनर्विवाह के औचित्य पर व्याख्यान दिये।<sup>7</sup>

जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह द्वितीय (1873-1896 ई.) व उनके छोटे भाई प्रतापसिंह, स्वामी दयानन्द के भाषणों व शिक्षाओं से प्रभावित हुए तथा उन्होंने लोगों को शिक्षित करने के लिए नोबल्स स्कूल, वैदिक कन्या पाठशाला और आर्य अनाथालय खोलने में रुचि ली।<sup>8</sup> स्वामी दयानन्द ने वेदों की और लौटो का नारा दिया व वेदों के अनुसार ही विधवा पुनर्विवाह को व्याख्यत किया तथा स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए वैदिक कन्या पाठशालाएं खोलने तथा लड़की की न्यूनतम विवाह आयु 16 वर्ष व लड़के की 25 वर्ष निर्धारित की। साथ ही उच्च वर्ग में निषेधित विधवा विवाह के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने में मुख्य नायक की भूमिका अदा की।<sup>9</sup> 1883 ई. में स्वामीजी की मृत्यु के बाद भी उनके अनुयायियों ने आर्य समाज को सक्रिय रखा। 1926 ई. से पहले इस संस्था द्वारा कोई भी विधवा पुनर्विवाह नहीं करवाया जा सका, किन्तु आर्य समाज ने अपने प्रमुख पत्र आर्य मार्तण्ड में 1923 ई. में ही ब्राह्मण, राजपूत एवं महाजन विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए निःशुल्क विज्ञापन छापने प्रारम्भ कर दिये थे।<sup>10</sup> उदाहरणतः 29 मई 1923 ई. में आर्य मार्तण्ड में 18 व 16 वर्ष की दो माहेश्वरी विधवाओं के लिए विज्ञापन छपा तथा 26 जनवरी 1926 ई. में एक सात वर्ष की विधवा के लिए उसके पिता ने विज्ञापन छपवाया।<sup>11</sup>

विज्ञापनों से समाज के लोगों में विधवा पुनर्विवाह के प्रति रुचि पैदा हुई और

लचीलापन आया। श्री चांदकरण शारदा ने आर्य मार्तण्ड में 'गर्भवती विधवाओं की रक्षा करो' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित करवाया व उसमें बताया कि विधवाओं की मुफ्त सेवा की जाएगी। यदि आपको कोई गर्भवती व विवाह की इच्छुक विधवा स्त्री मिले तो उसे 'सर गंगाराम भवन' अजमेर में भेज दें।<sup>12</sup> आर्य समाज ने अपने वार्षिक अधिवेशनों में भी इन कुरीतियों के विरुद्ध भजनों, भजनोपदेशकों व व्याख्यानों के माध्यम से समाज में जागरूकता पैदा करने व साथ ही धनाढ्य लोगों से आर्य समाज की इस मुहिम को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने का बीड़ा उठाया।

1926 ई. में पहली बार 'दयानन्द अनाथालय' द्वारा (जिन पांच विधवाओं का भरण-पोषण किया जा रहा था) दो विधवाओं का पुनर्विवाह किया गया।<sup>13</sup> जोधपुर में आर्य समाज के मंत्री सोहनलालजी सारस्वत ने घरवालों के विरोध और सारस्वत कन्या मिलने पर भी विधवा ब्राह्मणी से ही विवाह करने से उन्होंने समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया।<sup>14</sup> दयानन्द अनाथालयों की तर्ज पर ही 1 अप्रैल 1920 ई. में राजस्थान वनिता आश्रम की स्थापना अजमेर व 1928 ई. में महारानी वनिता आश्रम की स्थापना मारवाड़ में की गई।<sup>15</sup> वनिता आश्रम की एक शाखा 1928 ई. में बीकानेर में पंडित प्यारेलाल के रिहायसी निवास में की गई। इस संस्था द्वारा 10 अप्रैल 1929 ई. में दो विधवाओं तथा जुलाई 1929 ई. में पांच विधवाओं का पुनर्विवाह करवाया गया। इस संस्था के प्रबंधक जय भगवान की सेवाओं की तरुण राजस्थान (हिन्दी साप्ताहिक) में जमकर तारीफ की गई थी।<sup>16</sup> बीकानेर के अनाथालय व वनिता आश्रम द्वारा बहुत सी राजपूत, जैन व ब्राह्मण विधवाओं के विवाह करवाये गये।<sup>17</sup>

मारवाड़ व बीकानेर में ये अपनी तरह की पहली संस्थाएं थी जो गरीब, बेघर, दरिद्र, अभावग्रस्त व अन्य तरीकों से उत्पीड़ित उच्च वर्गीय हिन्दू विधवाओं को जीविकोपार्जन की शिक्षा दे रही थी और उनकी देखरेख में रुचि ले रही थी। 1933 ई. में 12 महिलाएं (रोजाना औसतन) इस प्रकार के आश्रमों में निवास करने व सहायता पाने आती थी।<sup>18</sup>

आर्य मार्तण्ड पत्रिका के अनुसार 1930 ई. के दशक में अजमेर में स्थापित 'सर गंगाराम विधवा भवन' में जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर आदि राज्यों से भी महिलाएं वहां रहने आती थी। उन विधवाओं का विवाह भी यह संस्था करवाती थी। इस संस्था ने 22 विधवा स्त्रियों का विवाह उनकी बिरादरी में उनकी इच्छानुसार व 11 विधवाओं का विवाह भवन से बाहर सहयोगी कार्यकर्ताओं द्वारा करवाया गया। आर्य मार्तण्ड पत्रिका में आर्य समाज की यह उपलब्धि 'अजमेर में विधवा विवाह की धूम' नामक लेख के माध्यम से छपी। इससे प्रभावित होकर बीकानेर, जोधपुर आदि के आर्य समाजियों ने भी विधवा पुनर्विवाह सम्पन्न करवाये।<sup>19</sup>

आर्य समाज ने शारदा महिला आर्य प्रतिनिधि सभा एवं उसकी उपशाखाएं भी स्थापित की जिनमें श्रीमती गुलाब देवी, गंगादेवी, कल्यंत्रि सिद्ध कुंवरबाई, कृष्णा देवी, सुखदा देवी, सत्यवती देवी, जानकी देवी बजाज, आनन्दी देवी आदि ने सामाजिक



दोषों को दूर करने एवं स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए जागरूकता उत्पन्न की।<sup>20</sup> 1932-33 ई. में दयानन्द अनाथालय ने 8 विधवाओं के पुनर्विवाह करवाये।<sup>21</sup> इस संस्था की वार्षिक रिपोर्टों से स्पष्ट होता है कि यह संस्था 1940 ई. के दशक के अंत तक पुनर्विवाह करवाने में पूरी तरह सक्रिय भूमिका निभाती रही।<sup>22</sup>

विधवा पुनर्विवाह के प्रति समाज की प्रतिक्रिया मिली-जुली रही उदाहरणतः बाल कृष्ण पुरोहित जो बहुत ही प्रतिष्ठित व्यक्ति थे उन्होंने बृज कुमारी बाई (वनिता आश्रम की सक्रिय कार्यकर्ता) से विवाह किया जो उन्हें संकीर्ण मानसिकता वाले लोगों द्वारा जाति बहिष्कृत कर दिया गया, परन्तु बुद्धिजीवियों व जागरूक लोगों ने इस शादी का समर्थन किया और इस विवाहित जोड़े को दुल्हन के रिश्तेदारों ने भी ससम्मान स्वीकार किया।<sup>23</sup>

1936 ई. तक व उसके बाद भी समाज में विधवा पुनर्विवाह के प्रति यह मताग्रही स्थिति जारी रही, किन्तु 1936 ई. में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह देखा गया कि जोधपुर राज्य के महकमा खास के सामान्य लोगों की पुनर्विवाह के लिए याचिकाएं व अर्जियां आनी प्रारम्भ हो गई थी।<sup>24</sup>

हिड़ौन आर्य समाज के 200 व्यक्तियों ने चांदकरण शारदा के बाल विवाह निषेध एवं विधवा विवाह के प्रस्ताव स्वीकार किये और सुधार कार्यों का स्वागत किया।<sup>25</sup> 1939-1941 ई. के दौरान आर्य समाज के कार्यकर्ताओं ने जागरूकता पैदा करने के लिए पुस्तकें एवं भजन पत्रावलियां प्रकाशित की और उन्हें मेलों व अधिवेशनों में लोगों को जाग्रत करने के लिए गाकर सुनाया। बीकानेर के जयभगवान आर्य ने 'विधवा-विवाह विचार' के माध्यम से विधवाओं की स्थिति, भारत सरकार द्वारा विधवा-विवाह के लिए बनाये गये कानूनों का प्रचार व विधवा-विवाह सभी जातियों में मान्य करवाये जाने का भरपूर प्रयास किया।<sup>26</sup>

1940 ई. में आर्य समाज की नागौर शाखा द्वारा व 1941 ई. में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा अजमेर के भजन उपदेशकों द्वारा 'सुधार भजनावलियां' निकाली गई तथा जागृति पैदा की गई। 'फागुन सुधार भजनावली' में प्रकाशित गायन नं. 8 में 'विधवा-विलाप' नाम से विधवाओं की स्थिति को सुधारने के लिए कहा गया जो कुछ निम्न प्रकार से था-

*पनघट पर बैठा रहे गुण्डा, मुख सूं बोले भूँडा भूँडा।।*

*पति हीना मोय जाण, मसकरी कर रहना भारी जी।।3।।*

*पुर्नव्याह करणो चित च्हावे, पिण जाति का यों धमकावे।।<sup>27</sup>*

**जाति सभाओं द्वारा क्षेत्रीय स्तर पर विधवाओं की स्थिति में सुधार के प्रयास** : समाज-सुधार आन्दोलनों, पत्र-पत्रिकाओं, साहित्यिक रचनाओं से प्रेरित होकर पश्चिमी राजपूताना के शिक्षित मारवाड़ी वर्ग, नवयुवकों व मध्यम वर्ग के लोगों ने जातीय,

उपजातीय व नवयुवक संगठनों का गठन किया। ये सभाएं अखिल भारतीय व क्षेत्रीय प्रवृत्ति की थी जो 1877 ई. से 1949 ई. के मध्य स्थापित हुईं।

1887 ई. में लखनऊ में स्थापित 'अखिल भारतीय कायस्थ महासभा' की शाखाएं प्रांतीय स्तर पर (प्रांतीय कायस्थ सभा राजपूताना) 1891 ई. में अजमेर में की गईं। इस सभा ने अच्छी शिक्षा के माध्यम से समाज में फैली अन्य कुरीतियों के साथ-साथ विधवाओं की शोचनीय स्थिति को दूर करने के भी प्रयास किये।<sup>28</sup>

1890-91 ई. में जोधपुर व बीकानेर में पुष्करणा ब्राह्मण सभा, सिद्ध समाज, श्रीमाली समाज इत्यादि की स्थापना हुई।<sup>29</sup> श्री पुष्करणा नवयुवक मण्डल जोधपुर ने विधवाओं की स्थिति व समाज सुधार के लिए पुस्तकें व संगीत संग्रह (जैसे सुन्दर-संगीत संग्रह) प्रकाशित करवाये व भजनों के माध्यम से समाज को सुधारों के लिए प्रेरित किया।<sup>30</sup>

जैन समाज द्वारा भी 1893 ई. में भारतवर्ष दिगम्बर जैन महासभा की जैन मित्र, नारी पत्र एवं जैन हितकारी पत्रिकाओं के माध्यम से सुधार कार्यों की चेतना उत्पन्न की जाने लगी, जोधपुर व बीकानेर में भी जैन सभा की क्षेत्रीय शाखाएं स्थापित की गईं व जैन सभा की उपशाखाएं अन्य राज्यों में खोली गईं।<sup>31</sup> 1924 ई. में 'श्री महावीर मंडल' का तृतीय अधिवेशन बीकानेर में शुक्ल 3,4,5 को हीरालालजी रायपुरिया के सभापतित्व में हुआ। ओसियां मंडली ने समाज सुधार गायन द्वारा व पंडित जयदयालजी शर्मा शास्त्री, जंगम युग के प्रधान भट्टारक श्री जिन चरित्र सूरी जी व वाचस्पति तथा श्रीमान लक्ष्मीचंदजी डागा (सभापति), श्री चिम्नलालजी एम.ए. के समाज-सुधार व्याख्यानों द्वारा जागृति पैदा की गई।<sup>32</sup> परिणामस्वरूप जैन समाज में भी विधवाओं की स्थिति में सुधार हुआ। 1927 ई. में बीकानेर में श्री श्वेताम्बर स्थानक वासी जैन कांफ्रेंस का 8वां अधिवेशन 6, 7, 8 व 9 अक्टूबर को हुआ तथा इसमें समाज-सुधार व उच्च आदर्शों पर चलने का वायदा किया। जैन समाज ने समाज सुधार के लिए 'समाज सुधार गायन', 'हंस गायन माला', 'सुधार-संगीत', 'मनोहर पुष्पावली' जैसी पम्पलेट्स निकाली व उनके भजन तथा गीत मेलों, सभाओं और अधिवेशनों में गाकर विधवाओं की स्थिति व उसमें सुधार हेतु व अन्य समाज सुधारों के लिए जन सामान्य को जागृत किया जाता। 1936 ई. में श्रीनाथ मोदी 'विशारद' (व्याख्याता-इन्सट्रक्टर, गवर्नमेंट टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल, जोधपुर) ने समाज में फैली कुरीतियों तथा विधवाओं की स्थिति व आंकड़े प्रस्तुत करते हुए उनके निवारण हेतु 400 स्थानों पर व्याख्यान दिया और 'जादू की लालटेन' नाम से 44 स्लाइडों में पुस्तकें छपवायी।<sup>33</sup>

'अखिल भारतीय रावणा राजपूत सभा' का गठन 1920 ई. में किया गया और इसका मुख्य केन्द्र किशनगढ़ रखा गया व पुष्कर मेले के समय इसके अधिवेशन रखे जाते व जनजागृति फैलायी जाती। 1926 ई. में इसके 17, 18, 19 नवम्बर में हुए अधिवेशन में संगठित विधवा आश्रम स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया और उनकी स्थिति

सुधारने का प्रयास किया गया।<sup>34</sup>

निःसन्देह विवेच्य काल में पश्चिमी राजस्थान में विधवाओं को शोचनीय स्थिति से बाहर निकालने, विधवा पुनर्विवाह को प्रचलन में लाने के लिए उपरोक्त सभी गैर सरकारी संस्थाओं व व्यक्तियों का सराहनीय व सकारात्मक प्रयास रहा। परिणामस्वरूप विधवाओं को आर्थिक सुरक्षा, सामाजिक सम्मान व उच्च नैतिक जीवन जीने का अधिकार मिल पाया।

### सन्दर्भ

1. डॉ. आर.के. सक्सेना, एजुकेशन एंड सोसियल एमूलियरेशन ऑफ वूमैन, ए स्टडी ऑफ राजस्थान 1818-1935, संघाई प्रकाशन, जयपुर, 1978, पृ. 167
2. ए.डब्ल्यू.टी. वेब, दीज टेन इयरस, पृ. 96
3. श्रीमती मन्जु कच्छल, उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक परिवर्तन, पृ. 71-72
4. बी.एल. पानगड़िया एवं एन.सी. पहाड़िया (एडिटिड), राजस्थान पोलिटी, इकानॉमी एण्ड सोसायटी, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1996, पृ. 149
5. कागद री बही नं. 12, वि.सं. 1859/1802 ई., पृ. 69बी, 70, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर; बही जमा खर्च री डीडवाना, वि.सं. 1885; जोधपुर रिकार्ड्स, महकमा खास, सामाजिक बस्ता नं. 6, फाइल नं सी 2/10 सन् 1928-38 रा.रा.अ.बी.; मारवाड़ मर्दुमशुमारी रिपोर्ट 1891, पृ. 40 और 105; मारवाड़ सेन्सस रिपोर्ट, पृ. 105
6. सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य समाज का इतिहास, वॉल्यूम द्वितीय, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1984, नं. 8, पृ. 113
7. पं. लेखराम, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पृ. 583
8. जोधपुर रिकार्ड्स, हकीकत बही नं. 31, पृ. 333; नं. 37, पृ. 25 एवं 222, रा.रा.अ.बी.
9. भागवत दत्ता, दयानन्द सरस्वती : पत्र और विज्ञापन, पृ. 372; पंडित लेखराम, पूर्व उद्धृत, पृ. 583
10. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 103-104; आर्य मार्तण्ड 18 अप्रैल 1929
11. आर्य मार्तण्ड 29 मई 1923; 26 जनवरी 1926
12. प्रकाश व्यास, राजस्थान का सामाजिक इतिहास (सातवीं शताब्दी से 1950 ई. तक), पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2001, पृ. 286-87
13. अनाथ रक्षक (हिन्दी) अप्रैल, 1926
14. चाँद, जून 1929, पृ. 262
15. महकमा खास, फाइल नं. सी 2/15, सामाजिक बस्ता नं. 7, रा.रा.अ.बी.; चाँद, जून 1929, पृ. 262
16. तरुण राजस्थान 22 अप्रैल 1929; आर्य मार्तण्ड 8 अगस्त 1929
17. चाँद जून 1929, पृ. 2
18. द लिडर, 12 सितम्बर 1933
19. आर्य मार्तण्ड 9 अक्टूबर 1931 एवं 23-25 नवम्बर 1930
20. आर्य मार्तण्ड, 15 अगस्त 1929, पृ. 6
21. विधवा बन्धु (हिन्दी) सितम्बर 1933, पृ. 7

22. अनाथ रक्षक (हिन्दी), पृ. 7; द लीडर, अगस्त 1940 में छपे विवरण के अनुसार 43 पुनर्विवाह इस अकेली संस्था द्वारा करवाये गये।
23. वही, 1 जनवरी 1933
24. महकमा खास, जोधपुर फाइल नं. सी 2/10, बस्ता नं. 6, 1928-38, रा.रा.अ.बी.
25. आर्य मार्तण्ड, 12 मार्च 1937, पृ. 7
26. हरिनन्दन आयुर्वेदाचार्य, विधवा-विवाह विचार, काव्य तीर्थ, न्याय तीर्थ (पुस्तिकाएं), प्रकाशक जयभगवान आर्य (प्रधान-आर्य समाज बीकानेर), बीकानेर
27. भगवती प्रसाद, फागुण सुधार भजनावली, अभय श्री श्रद्धानन्द पुस्तकालय, आर्य समाज, नागौर द्वारा प्रकाशित, श्री सुमेर प्रिंटिंग प्रेस, जोधपुर, सम्बत् 1997, पृ. 5, 12, रा.रा.अ.बी.
28. रिपोर्ट ऑफ टेन्थ नेशनल सोशल कांफ्रेंस 1897, पार्ट 2, पूना, 1898, पृ. 59
29. वही, पृ. 41; द टाइम्स ऑफ इंडिया 22-4-1938
30. सुन्दर संगीत संग्रह, प्रथम भाग (नवयुवक पुस्तकमाला का 15वां पुष्प), प्रकाशक श्री पुष्करणा नवयुवक मण्डल, जोधपुर, वि.सं. 1998 (1941 ई.)
31. रिपोर्ट ऑफ दी टेन्थ नेशनल सोशल कांफ्रेंस 1897, पार्ट 2, पूना, 1898, पृ. 41; द टाइम्स ऑफ इंडिया 22-4-1938
32. तरुण राजस्थान 29 जून 1924
33. श्रीनाथ मोदी 'विशारद', 70/जैन समाज सुधार, समाज सुधार कैसे हो? जादू की लालटेन, पुस्तिकाएं भाषण नं. 1, ज्ञान भण्डार जोधपुर, सुमेर प्रिंटिंग प्रेस, सन् 1936 ई., पृ. 11
34. तरुण राजस्थान 22 नवम्बर 1926

## जयपुर राज्य में ईसाई मिशनरी और स्त्री शिक्षा

### अभिलाषा

जयपुर राज्य में स्त्री शिक्षा की पृष्ठभूमि तैयार करने में अनेक तत्त्वों जैसे - ब्रिटिश अधिकारियों, ईसाई मिशनरियों, समाज सुधार संगठनों, जयपुर रियासत के महाराजाओं आदि का अहम योगदान रहा। ईसाई मिशनरियों का मुख्य ध्येय ईसाई धर्म का प्रचार करना तथा निम्न जाति एवं पीड़ित लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित करना था। अपने इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए लोगों को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करना आवश्यक था और लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ईसाई मिशनरियों ने छः तरीके अपनाए जिनमें से प्रमुख हैं - अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से प्रचार, अनाथालय स्थापित कराना, सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन, उपदेश देना इत्यादि।<sup>1</sup>

ईसाई मिशनरियों ने राजपूताना समाज में प्रचलित अनेक रूढ़ियों और कुरीतियों का विरोध कर नारी समाज को शिक्षा प्राप्त करने और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की प्रेरणा दी।<sup>2</sup> मिशनरियों ने स्त्री-पुरुष समानता पर बल दिया तथा नारी को घर की चहारदीवारी से बाहर निकालकर शिक्षित होने के लिए प्रेरित किया। ईसाई मिशनरियों ने नारी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए असंख्य सहशिक्षा संस्थान और पृथक् से गर्ल्स स्कूल खुलवाए। 1859 ई. में दो ईसाई पादरी शूलब्रेड और स्टील राजपूताना के ब्यावर शहर में मिशनरी केन्द्र स्थापित करने हेतु भेजे गए। यूनाइटेड प्रेस्बिटेरियन मिशन अपने धर्म प्रचार हेतु मिशन शिक्षा को एक मुख्य साधन मानता था। ईसाई धर्म प्रचार के लिए अगस्त 1860 ई. में रे. शूलब्रेड ने ब्यावर में प्रथम मिशन स्कूल स्थापित किया।<sup>3</sup> 1862 ई. में लेडी ऐमिली ने नसीराबाद में एक गर्ल्स स्कूल खोला। ईसाई मिशनरीज द्वारा स्थापित गर्ल्स स्कूलों में पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ सिलाई, बुनाई एवं कशीदा का काम सिखाया जाता था।<sup>4</sup> 1863 ई. में श्रीमती फिलिप्स ने अजमेर में एक गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। इस स्कूल के संचालकों ने नगर के ओसवाल जैन परिवार की स्त्रियों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया और उनमें शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न की। 1864 ई. में ईसाई मिशनरी ने ब्यावर में अपना लियो प्रेस स्थापित किया, जहां पाठ्य पुस्तकें और धार्मिक साहित्य छपा जाता था। ईसाई मिशनरियों ने अनेक सांस्कृतिक एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षा केन्द्रों की भी स्थापना की; अजमेर में गवर्नमेण्ट कॉलेज में 1868 ई. में, जयपुर में महाराजा कॉलेज में 1873 ई. में और जोधपुर में जायसवाल कॉलेज 1880 ई. में स्थापित की गई। इन शिक्षण संस्थानों में सहशिक्षा की व्यवस्था थी।<sup>5</sup> 1867 ई. में महाराजा रामसिंह के समय डॉ. विलियम कोलीन वेलेंटाइन जयपुर आए। वेलेंटाइन पेशे से डॉक्टर

होते हुए भी समाज सेवा से जुड़कर कार्य किए और 1872 ई. में एक स्कूल खोला। 1872 ई. में जॉन ट्रेल और 1876 ई. में मैकालिस्टर जयपुर स्थित स्कॉटिश मिशन से जुड़ गए। जॉन ट्रेल के समय 1872 ई. में 10 मिशनरीज स्कूल थे उनमें 2 पूर्णतः लड़कियों के लिए थे। इनका कार्यक्षेत्र सौहार्द वातावरण में ही समाज सेवा और शिक्षा देना था। जार्ज मैकालिस्टर के समय स्त्री-पुरुष शिक्षा के महान प्रयास किए गए। मिस्टर लॉज ने इनके उत्तराधिकारी के रूप में मिशन से जुड़कर सद्भावनापूर्वक कार्य किया।<sup>6</sup> सवाई माधोसिंह के समय चांदपोल में चर्च की स्थापना की गई। मिस्टर लॉज चांदपोल स्थित चर्च संस्था में सभी लोगों से जुड़कर सक्रिय रहे। यह संस्था लड़कियों के पिछड़ेपन पर बहुत चिंतित थी और लड़कियों की शिक्षा के लिए विशेष प्रयास किए। 1876 ई. में जयपुर में दो एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल भी स्थापित किए गए जिनमें कुल 649 विद्यार्थी थे उनमें से 32 लड़कियां थीं। 1886 ई. में मिस कैथरीन मिलर ने जयपुर में मिशन संस्था में उल्लेखनीय कार्य किए तथा लड़कियों को घर-घर जाकर भी शिक्षित करने के अभूतपूर्व प्रयास किए। कैथरीन मिलर ने महिलाओं के पति और बच्चियों के माता-पिता को शिक्षा का महत्त्व बताते हुए स्त्री शिक्षा पर बल दिया। स्त्री शिक्षा के लिए कैथरीन मिलर और मिस हैलन सदैव स्मरणीय रहेंगे।<sup>7</sup>

ईसाई मिशनरियों के सामाजिक कार्यों में राजपूताने के सामाज में शिक्षा का प्रचार करना तो था ही किंतु शिक्षा के माध्यम से लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित करना भी था। ब्यावर के नया नगर क्षेत्र में पादरी शूलब्रेड ने बाबू चिंताराम जो पूर्व में ईसाई धर्म ग्रहण कर चुका था, के सहयोग से एक स्कूल खोला जिसमें हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। प्रथम वर्ष में ही इस स्कूल में 69 बच्चों ने प्रवेश ले लिया, इनमें से 54 हिन्दू, 10 मुस्लिम और 5 लड़कियां थीं। यह स्कूल शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया क्योंकि यहां सभी जाति के बच्चों को निःशुल्क प्रवेश दिया जाता था। एक वर्ष के अन्दर ही स्कूल में छात्रों की औसत उपस्थिति 100 से भी अधिक हो गई तथा स्कूल की प्रगति संतोषजनक थी।<sup>8</sup> 1872 ई. तक ब्यावर, अजमेर, जयपुर, नसीराबाद और देवली में एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलें और 58 वर्नाक्यूलर स्कूलें खोली गईं जिनमें से 6 स्कूलें लड़कियों के लिए थीं। 1876 ई. में सांभर व फुलेरा में भी मिशन स्कूल स्थापित किए गए।<sup>9</sup> 1872 में मिशनरीज ने लड़कियों के लिए दो गर्ल्स स्कूल खोले जिसमें 32 लड़कियां अध्ययनरत थीं। मिशनरियों ने सायंकालीन स्कूलें भी खोलीं।<sup>10</sup> मिशनरी स्कूलों में फीस नाममात्र की ली जाती थी, जो एक आना से 8 आना प्रतिमाह थी। गरीब छात्राओं को पुस्तकें एवं पाठ्यसामग्री मुफ्त वितरित की जाती थी।<sup>11</sup> आर्य समाज की जागृति के कारण मिशनरी स्कूलों में हिन्दू छात्राओं की कमी हुई, परंतु मुस्लिम छात्राओं के नामांकन में वृद्धि देखी गई।<sup>12</sup> ब्यावर में मिशनरीज ने वर्नाक्यूलर प्राइमरी गर्ल्स स्कूल खोला जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समुदाय की छात्राएं शिक्षाएं लेती थीं। इसमें डॉ. सोलबर्ड ने अच्छा कार्य किया। ईसाई मिशनरियों ने स्कूल और प्रेस स्थापित

किए और विदेशी भाषा में शिक्षा दी। प्रारंभिक मिशनरी स्कूल उदार थे। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के सत्ता में आने पर बदलाव आए और उसने सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया।<sup>13</sup>

1909 ई. में डॉ. लियास थामस को मिशन में महिला चिकित्सा कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया। उन्होंने भी चिकित्सा के साथ-साथ महिलाओं में शिक्षा के प्रति रूचि जाग्रत की, आगे चलकर मिशन ने लड़कियों के लिए हाई स्कूल खोले जो एंग्लो-वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुए। लड़कियों के लिए अलग से छात्रावासों की व्यवस्था भी की गई। इसके अलावा मिशन ने अपने भाषणों एवं प्रदर्शनों के द्वारा लड़कियों को शिक्षित होने के लिए प्रेरित किया। ईसाई मिशन का मुख्य लक्ष्य रहता था कि सभी श्रेणियों के लोग साथ-साथ सद्भावना और प्रेम से रहे।<sup>14</sup> 1914 ई. में बांदीकुई में लड़कियों के लिए मिशनरी स्कूल खोली गई। 1915 ई. तक मिशनरी संस्थाओं में परीक्षण के तौर पर फीस ली गई। 1919 ई. में बी. एस. पाल और एस. पी. एंड्रूज के समय शिक्षा के द्वारा छात्र-छात्राओं का चहुंमुखी विकास किया गया।<sup>15</sup> सेंट ऐंजेल गार्ल्स स्कूल अजमेर में मुख्य रूप से लड़कियों के लिए खोली गई। 1926 ई. में सेंट ऐंजेल गार्ल्स स्कूल को अजमेर से जयपुर स्थानान्तरित किया गया। जयपुर में घाटगेट के पास स्थित यह स्कूल 1927 ई. में दुर्घटना का शिकार बनी। बाद में धन्यवती इस स्कूल की प्रधानाध्यापिका बनी और हिंदुओं के लड़के पढ़ने लगे। 1931 ई. में सेंट ऐंजेल गार्ल्स स्कूल को मिडिल स्कूल के रूप में मान्यता मिल गई।<sup>16</sup> सेंट जेवियर, सेंट मेरी और सेंट ऐंजेल गार्ल्स स्कूल जयपुर राज्य में आज भी हैं जो सभी प्रकार की शिक्षा का आधार बनी। ईसाई मिशनरियों द्वारा 1934 ई. में जयपुर राज्य के चांदपोल में स्कूल खोला गया, जिसे 1944 ई. तक सरकारी अनुदान प्राप्त था। ईसाई मिशनरीज ने कायस्थ समुदाय की लड़कियों के लिए जनाना मिशनरी स्कूल खुलवाया। मिशनरीज ने रनिवासों अर्थात् उच्च घरानों में स्त्री शिक्षा के लिए भी जनाना मिशनरी खुलवाए। इनके अन्तर्गत पर्दे में शिक्षा दी जाती थी।<sup>17</sup>

ईसाई मिशनरियों तथा ईसाई धर्म प्रचारकों ने जयपुर राज्य में नारी समाज में प्रचलित अनेक रूढ़ियों व कुरीतियों जैसे सती प्रथा, कन्या वध, बाल विवाह, अस्पृश्यता, बहुपत्नी विवाह, देवदासी प्रथा आदि की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया। ईसाई धर्म प्रचारकों ने राजपूताने की स्त्रियों की दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर निकालकर कार्य करने की स्वतंत्रता का समर्थन किया।<sup>18</sup> ईसाईयत ने स्त्री समाज में प्रचलित बाल विवाह एवं बहुविवाह पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया तथा विधवा एवं अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया। इससे राजपूताने के समाज में पत्नी को मित्र और सहयोगी की महत्ता पुनः प्राप्त हुई। जे. एन. सरकार के अनुसार, “19वीं शताब्दी में पाश्चात्य संस्कृति व ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से जयपुर राज्य ने ऐसे कानून बनाए, जिनके कारण जनमत बदल गया और स्त्रियों को

हीन समझने वाले राज्य उनका आदर करने लगे। रखैल स्त्रियों के हाथ को जो घातक प्रभाव बच्चों पर पड़ता था, उसे खत्म कर दिया गया। इसी समय स्त्री शिक्षा की भी स्वतंत्रता मिल गई जिससे राष्ट्र की शक्ति दुगुनी हो गई।”<sup>19</sup> ईसाई मिशनरीज के कार्यक्रमों में प्रमुख है – सभी समुदायों के लोग सद्भाव व प्रेम से रहे, बाल कल्याण, अच्छे नागरिकों का निर्माण, आपसी धैर्य एवं सामाजिक सामंजस्य बनाए रखना और परोपकारी कार्य इत्यादि।<sup>20</sup> 1901 ई. के बाद जयपुर राज्य के सीमित साधनों को ईसाई मिशनरियों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में लगा दिया गया। ईसाई मिशनरियों एवं अंग्रेजों के द्वारा संचालित कन्या विद्यालयों में अच्छे परिवारों और उच्च कुल की लड़कियां बहुत कम जाती थी क्योंकि यह समझा जाता था कि यह संस्थाएं निम्न वर्गों के बच्चों को ईसाई धर्म सिखाने के लिए खोली गई हैं।<sup>21</sup> कुछ सामाजिक भेदभाव और कुछ इस शिक्षा की उपयोगिता की अनुपयोगिता लड़कियों को आधुनिक शिक्षा की ओर आकर्षित नहीं कर सकी। लड़कियों में यह शिक्षा बीसवीं सदी में ही लोकप्रिय हो सकी वह भी उसी स्थिति में जब स्थानीय लोगों अथवा संस्थाओं ने शिक्षा संस्थाएं खोली और उनमें अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजा।<sup>22</sup>

ईसाई मिशनरीज स्कूलों पर आरोप लगाया गया कि इन्होंने ईसाई धर्म प्रचार एवं बाइबिल पढ़ाने का उद्देश्य रखा। यद्यपि प्रारम्भिक चरण में उनका लक्ष्य कुछ सीमा तक सीमित रहा हो परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में तथा विशेषतः स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र में अजमेर में जेवज केरी ने, व्यावर में शूलब्रेड ने, नसीराबाद में मार्टिन ने, जयपुर में डॉ. कोलिन वेल्लेटाइन ने, उदयपुर में निक्सन ने, खेरवाड़ा में थामसन का योगदान उल्लेखनीय रहा है। लेकिन उनको शिक्षा के प्रसार में अनेक बाधाओं का भी सामना करना पड़ा, जैसे – विषम जलवायु, साधनों की कमी, योग्य स्त्री-पुरुष शिक्षकों की कमी, संचार साधनों की कमी, पर्याप्त कार्यालयों का अभाव, लोगों का अंधविश्वास आदि।<sup>23</sup> फिर भी ईसाई मिशनरियों का स्त्री शिक्षा में सराहनीय योगदान रहा। मिशनरियों ने छात्र-छात्राओं के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण, आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता में योगदान, शिक्षण में विविधता, धर्मनिरपेक्षता की भावना का विकास तथा छोटे कस्बों तक शिक्षा का प्रसार किया। ईसाईयत ने सहशिक्षा के साथ-साथ स्त्री शिक्षा के लिए अलग से व्यवस्था की। ‘वूमन इंडस्ट्रीयल होम्स’ में पीड़ित छात्राओं को आत्मनिर्भर बनाने की शिक्षा दी गई। ईसाई मिशनरियों द्वारा निम्न वर्ग के लिए भी शिक्षा का प्रावधान किया गया चाहे उन्हें वह वर्ग ईसाई प्रचार के लिए मिला हो। मिशनरियों ने हिन्दू समाज में फैली बुराईयों – सती प्रथा, बाल विवाह, कन्या वध, बहुविवाह इत्यादि रूढ़ियों का विश्लेषण बड़े तर्क संगत ढंग से किया तथा सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने हेतु जनमानस को तैयार किया। ईसाई मिशनरियों से प्रभावित होकर ही भारतीय समाज में आर्य समाज, ब्रह्म समाज और रामकृष्ण मिशन आदि आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ।<sup>24</sup> हालांकि ईसाई मिशनरीज की शिक्षा की धुरी

अजमेर-मेरवाड़ा और जयपुर तक सीमित रही।<sup>25</sup> उत्तर-पश्चिमी राजपूताना इसके प्रभाव से वंचित ही रहा। फिर भी मिशनरी पादरियों ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने में अहम भूमिका अदा की। उन्होंने नारी शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सकें। मिशनरियों के शैक्षणिक, मानवतावादी और सामाजिक क्षेत्र में किए गए रचनात्मक कार्यों ने आधुनिक समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया।<sup>26</sup> आज भी प्रदेश में सेंट जेवियर, सेंट एंजेला, सेंट मेरी और सोफिया जैसे मिशनरीज विद्यालय शिक्षा का प्रसार कर रहे हैं।

### सन्दर्भ

1. व्यास, डॉ. प्रकाश, राजस्थान का सामाजिक इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 2001 पृ. 273
2. नागौरी, एस. एल. एवं नागौरी, श्रीमती कान्ता, राजस्थान का इतिहास पोइंटर पब्लिशर्स, जयपुर 1999 पृ. 192
3. वही, पृ. 193, पृ. 181
4. शर्मा, डॉ. कालूराम, उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1974, पृ. 148
5. जैन, एम. एस., आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, पृ. 131
6. Jain, Kesharlal Ajmera, The Jaipur Album, Chapter XIX, The Rajasthan Directories Publishing House, Jaipur City, 1935 Page-5
7. Ibid, Chapter XIX Pate-6
8. व्यास, डॉ. पूर्वोक्त, पृ. 275
9. शर्मा, डॉ. कालूराम एवं व्यास, डॉ. प्रकाश, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 2002 पृ. 387
10. Verma, G.C., Modern Education, Publication Scheme, Jaipur-Indore, 1984, P. 78
11. व्यास, डॉ. प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. 275-276
12. Verma, G.C., Ibid, P. 72
13. Verma, G.C., Ibid, P. 63, 53
14. Jain, Kesharlal Ajmera, Ibid, P. 6
15. Verma, G.C., Ibid, P. 77, 78, 79
16. Verma, G.C., Ibid., P. 93, 94
17. Verma, G.C., Ibid, P. 103, 78, 79
18. नागौरी, एस. एल. एवं नागौरी, श्रीमती कान्ता, पूर्वोक्त, पृ. 192, 193
19. वही, पृ. 191, 193
20. Jain, Kesharlal Ajmera, Ibid, Chapter XIX P. 6
21. दिवाकर, प्रो. बी. एम. राजस्थान का इतिहास, साहित्यागार, जयपुर, पृ. 382
22. जैन, एम. एस., पूर्वोक्त, पृ. 252
23. Verma, G.C., Ibid, P. 240-246, 95-102
24. नागौरी, एस. एल. एवं नागौरी, श्रीमती कान्ता पूर्वोक्त, पृ. 193
25. Verma, G.C., Ibid, P. 102
26. व्यास, डॉ. प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. 278

## अलवर रियासत में आधुनिक शिक्षा-एक अध्ययन (ब्रिटिश प्रभाव के सन्दर्भ में)

श्रीमती मीना अम्बेश

अलवर जिसका प्राचीन नाम उलूर था, की एक राज्य के रूप में स्थापना 25 दिसम्बर 1775 ई. को सूर्यवंशी कछवाहा राजपूत राजवंश की लालावत नरूका शाखा के प्रतापसिंह ने की।<sup>1</sup> अलवर राज्य के संस्थापक प्रतापसिंह निःसन्तान था, अतः उसने 1790 ई. में थाना के ठाकुर धीरसिंह के छोटे पुत्र बख्तावरसिंह को गोद लेकर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया।<sup>2</sup> बख्तावर ने गद्दी पर बैठते ही अलवर को जयपुर, पिंडारी, गोरखों, सिक्खों व मराठों से घिरा हुआ पाया।<sup>3</sup> मराठों ने दौलतराव सिन्धिया के सेनापति अम्बाजी ईगले के नेतृत्व में 27 अक्टूबर 1803 को अलवर के कठूमर क्षेत्र पर हमला कर उसे तहस-नहस कर दिया। इन परिस्थितियों में अलवर नरेश बख्तावरसिंह ने मराठों से अलवर रियासत की सुरक्षा को ध्यान में रखकर 14 नवम्बर 1803 को अंग्रेजों के साथ एक प्रतिरक्षात्मक सन्धि की।<sup>4</sup> इस सन्धि की निम्न शर्तें थीं -

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मित्र व शत्रु, एक दूसरे के मित्र व शत्रु समझे जायेंगे। 2. कम्पनी सरकार राज्य प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगी। 3. आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी सरकार के साथ अधीनस्थ सहयोग करेंगे तथा सैनिक सहायता देंगे।<sup>5</sup>

इस सन्धि के पश्चात् इस रियासत में राजाओं की स्थिति 'अधीनस्थ श्रेणी' में आ गई। अलवर नरेश बख्तावर सिंह ने 16 जुलाई 1811 को अंग्रेजों के साथ पुनः सन्धि की। इस सन्धि के पश्चात् अलवर रियासत किसी अन्य राज्य से बिना अंग्रेजों की अनुमति के राजनीतिक समझौता नहीं कर सकती थी। परिणामस्वरूप अंग्रेजों को रियासत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने तथा प्रशासन का प्रबन्ध करने का अवसर मिल गया।<sup>6</sup>

ब्रिटिश सत्ता के प्रवेश ने यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से परम्परागत सामाजिक ढांचे तथा उससे जुड़ी व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना, विस्तार तथा स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से बनायी गयी राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक व सामाजिक-सांस्कृतिक नीतियों ने परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को गहराई तक प्रभावित किया। अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक-प्रशासनिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए आधुनिक शिक्षा की शुरुआत की। अलवर में आधुनिक शिक्षा के आरम्भ से पूर्व परम्परागत व मुस्लिम शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। परम्परागत

शिक्षा गाँवों व कस्बों में चटशाला, पाठशाला, नेशाल, चौकी, पोसाल, जैन उपासरो, मन्दिरों व मकतबों में दी जाती थी।

परम्परागत शिक्षा के अन्तर्गत हिन्दी पाठशालाएँ, जिन्हें चटशालाएँ कहते थे, अनगिनत थीं। चटशालाओं के पाठ्यक्रम का मुख्य विषय प्राथमिक अंकगणित होता था, जो पट्टी और बोर्ड पर लिखना, पढ़ना सिखाया जाता था। इसके लिए किताबों का प्रयोग नहीं के बराबर किया जाता था।<sup>7</sup> राजपूताना में स्थित इन पाठशालाओं में प्रवेश के कोई निश्चित नियम नहीं थे और न ही किसी प्रकार की परीक्षा प्रणाली थी, न कोई निश्चित शुल्क था और न ही कोई स्कूल गणवेश होती थी। शिक्षा की इस परम्परागत पद्धति में गुरु पूर्णिमा को विद्यार्थी रुपया, अट्ठनी व चवन्नी, नारियल तथा पुष्पमाला अपने गुरु को भेंट करके उसकी पूजा करते थे। सप्ताह में रविवार, बुधवार अथवा गुरुवार को प्रत्येक विद्यार्थी दो पाई लाकर अपने चन्दे से नारियल, गुड़ व शक्कर का भोग लगाकर देवी से विद्या प्राप्त करने की प्रार्थना करता था।<sup>8</sup>

मुस्लिम शिक्षा पद्धति भी रियासत में प्रचलित थी, जिस पर मुगल प्रभाव देखने को मिलता है। इस पद्धति के तहत शिक्षा मकतबों में दी जाती थी, जो एक शिक्षक पाठशालाएँ होती थीं। मकतबों में फारसी व्याकरण तथा प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा दी जाती थी। इन दोनों शिक्षा पद्धतियों में शिक्षक के कोई नियमित वेतन का भुगतान नहीं किया जाता था। शिक्षकों के वेतन का उत्तरदायित्व गाँव व कस्बों के स्थानीय लोगों पर था। शिक्षक को समय-समय पर सम्पन्न लोगों से मिलने वाले उपहार भी पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होते थे। मुगल काल में यहाँ राजभाषा उर्दू व फारसी का अध्ययन अनिवार्य हो गया। इस प्रकार अलवर में आधुनिक शिक्षा लागू होने से पूर्व शिक्षा की समृद्ध परम्परा व्याप्त थी, लेकिन 1803 व 1811 की सन्धि के पश्चात् अलवर पर ब्रिटिश संरक्षण स्थापित हो गया, परिणामस्वरूप यहाँ के राजनैतिक, आर्थिक, प्रशासनिक नीतियों के साथ शैक्षणिक नीतियों पर भी ब्रिटिश प्रभाव देखने को मिलता है।

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश सरकार ने पहली बार शिक्षा के प्रति राजकीय उत्तरदायित्व को वहन करते हुए भारतीय क्षेत्रों में साहित्य, विज्ञान तथा विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपया खर्च करने की व्यवस्था की।<sup>9</sup> इसके अलावा इस एक्ट द्वारा इंग्लैण्ड के व्यापारियों व ईसाई मिशनरियों को संचालन समिति की अनुमति से नियमित रूप से भारत में आने व बसने की छूट प्रदान कर दी।<sup>10</sup> 1835 में लार्ड मेकाले (गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक की परिषद् का कानूनी सदस्य) इस एक लाख की धनराशि का उपयोग अंग्रेजी भाषा के माध्यम से देशज आबादी को अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने में खर्च करने का पक्षधर था। अतः गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने मेकाले के विचारों का अनुमोदन करते हुए 7 मार्च 1835 को एक प्रस्ताव जारी कर अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को अपनाया।<sup>11</sup> इस दिशा में आगे कदम उठाते हुए 1835 ई. में ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजी को राजकीय भाषा घोषित कर दिया

जिससे अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा मिला। बैंटिक पहला गवर्नर-जनरल था जिसने यह आज्ञा दे दी और नियम पारित कर दिया कि भविष्य में सारा पत्र-व्यवहार फारसी की जगह अंग्रेजी भाषा में होना चाहिए।<sup>12</sup> लार्ड बैंटिक के इस प्रस्ताव के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अपनी शिक्षा नीति में जनशिक्षा व गाँवों के पुराने स्कूलों की पूरी तरह अवहेलना करना आरम्भ कर दिया। अब देशी भाषा के शिक्षा संस्थाओं को वित्तीय सहायता देना बन्द कर दिया गया। सरकार के खर्च पर प्राच्यविद्या सम्बन्धी पुस्तकों की छपाई पर रोक लगा दी। साथ ही प्राच्य विद्या के छात्रों को छात्रवृत्ति देना बन्द कर दिया गया। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गई कि सुधारों के बाद जो धनराशि जनशिक्षा समिति के पास बचेगी, उसे वह स्थानीय लोगों को अंग्रेजी भाषा में अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने में लगायेगी।

1844 ई. में लार्ड हार्डिंज के अंग्रेजी भाषा व पाश्चात्य शिक्षा को राज्य सेवा की अनिवार्यता घोषित करने के परिणामस्वरूप उक्त रियासत में भी अंग्रेजी शिक्षा का तेजी से विकास हुआ। समाज का मध्यम वर्ग रोजगार प्राप्त करने के प्रलोभन में अंग्रेजी शिक्षा की तरफ आकर्षित हुआ। ब्रिटिश प्रभाव के फलस्वरूप अलवर में महाराव बन्नेसिंह ने 1842 ई. में राजपूताना का पहला आधुनिक विद्यालय खोला।<sup>13</sup> 1858 ई. से पूर्व इस विद्यालय में हिन्दी व उर्दू पढ़ायी जाती थी।<sup>14</sup> 1857 के विप्लव का प्रभाव इस रियासत की शिक्षा व्यवस्था पर पड़ा। इस विद्रोह के पश्चात् अलवर के पॉलिटिकल एजेन्ट कैप्टन इम्पे का मानना था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे, अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति अधिक भक्त होंगे। अतः 1858 में अपनी राजनैतिक, प्रशासनिक व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यहाँ के तत्कालीन पॉलिटिकल एजेन्ट ने अंग्रेजी विषय को इस विद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल कर दिया, जिसके निम्न कारण थे -1. अंग्रेज अधिकारियों को स्थानीय नरेशों व सामन्तों के साथ फारसी भाषा में होने वाले पत्र व्यवहार में कठिनाई होती थी। इसके लिए उन्हें दुभाषिये रखने पड़ते थे। 2. अपनी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के तहत अपने व्यापारिक हितों की पूर्ति करने के लिए ब्रिटिश सरकार को अंग्रेजी जानने वाले किराणा व्यवसायियों तथा एजेन्टों की जरूरत थी। 3. रियासत का प्रशासनिक ढांचा ब्रिटिश शासन पद्धति के अनुरूप ढालने के लिए अंग्रेजी में प्रशिक्षित बहुसंख्यक लोगों की आवश्यकता थी।

इस प्रकार 1858 ई. को अंग्रेजी को पाठ्यक्रम में शामिल करने से अलवर रियासत में परम्परागत शिक्षा का ह्रास होना आरम्भ हो गया तथा शिक्षा का स्वरूप दो प्रकार का हो गया। (1) देशी प्रकार (वर्नाक्यूलर स्कूल) (2) अंग्रेजी शिक्षा (एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल)। इन दोनों प्रकार के स्कूलों में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था को लागू कर दिया गया।

सितम्बर 1863 में अलवर रियासत का प्रशासन अलवर महाराव शिवदानसिंह द्वारा अपने हाथ में लिया। महाराव द्वारा आधुनिक शिक्षा के विकास में विशेष रुचि ली

गई, जिसके फलस्वरूप अलवर में आधुनिक शिक्षा का तेजी से विकास हुआ। 1863 तक अलवर में शिक्षा मद पर खर्च होने वाली राशि में से कुछ राशि पुस्तकालय तथा छात्रवृत्तियों पर भी खर्च होने लगी। साथ ही विद्यार्थियों को अगली कक्षा में प्रवेश हेतु परीक्षा प्रणाली भी लागू कर दी गई। महाराव द्वारा भूराजस्व पर एक प्रतिशत 'पाठशाला उपकर' लगाकर तथा ऐसे बच्चों के अभिभावकों से जो कृषक नहीं होने के कारण पाठशाला उपकर नहीं दे रहे थे, उनसे एक निश्चित शुल्क लेकर उसे रियासत में शिक्षा के विकास पर लगाया।<sup>15</sup>

अलवर महाराव व पॉलिटिकल एजेन्ट केप्टन हेमिल्टन स्कूल में वार्षिक परीक्षाओं के दौरान मौजूद रहकर परीक्षाओं का सफल आयोजन करवाना आरम्भ किया। परीक्षा के उपरान्त पुरस्कार का वितरण किया जाता था। इसके लिए सक्षम परीक्षकों की एक समिति का गठन किया गया, जो विद्यालयों का दौरा व कक्षाओं का निरीक्षण करती थी। आधुनिक शिक्षा को बढ़ावा देने के कारण रियासत में 1873-74 में स्कूलों की संख्या 76 हो गई, जिसमें 16 तहसीली व 60 हल्काबन्दी स्कूल थे जहाँ 3403 विद्यार्थी अध्ययनरत थे। राज्य द्वारा 1873 में 24,000 तथा 1874 में इसमें वृद्धि करते हुए 26,587 रुपये शिक्षा पर व्यय किये गये जो उस समय राजपूताना अथवा मध्य भारत के किसी भी राज्य में (जयपुर को छोड़कर) शिक्षा पर खर्च की गई सर्वाधिक राशि थी।<sup>16</sup>

ब्रिटिश सरकार रियासत के राजकुमारों, जागीरदारों व सामन्तों को भावी शासक मानकर उन्हें पश्चिमी रंग में रंगने को आबुद्ध थी ताकि उनमें ब्रिटिश ताज के प्रति स्वामिभक्ति उत्पन्न हो सके। इस उद्देश्य से महाराव ने इस आधुनिक शिक्षा पद्धति में राजाओं, राजकुमारों, सामन्तों व जागीरदारों की शिक्षा को आमजन की शिक्षा पद्धति से भिन्न रखते हुए जनवरी 1871 ई. में इस कुलीन वर्ग के लिए ठाकुर स्कूल की स्थापना की।<sup>17</sup>

1872 ई. में अलवर में आधुनिक शिक्षा का पहला कन्या स्कूल की शुरुआत करते हुए अलवर राज्य परिषद् के सदस्य व हाईस्कूल के प्राध्यापक पंडित रूपनारायण शर्मा ने दो प्राथमिक कन्या स्कूल खोले। 2 वर्ष पश्चात् 1874 ई. में पंडित रूपनारायण ने दो और कन्या विद्यालय खोले। 1896-97 की अलवर की प्रशासनिक रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि रियासत में स्थित कुल 111 स्कूलों में से 20 स्कूलों का स्कूल निरीक्षक द्वारा दौरा किया गया जबकि दो डिप्टी निरीक्षकों द्वारा अपने वृत्त के सभी स्कूलों का दौरा किया।<sup>18</sup> इस आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में शिक्षकों की योग्यता के मानदण्ड निश्चित किये गये। राज्य में उत्तम शिक्षण की व्यवस्था करने के उद्देश्य से जहाँ 1875-76 में मेजर पाउलेट ने शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए नार्मल स्कूल खोला, जिसमें एक समय में 10 शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाता था।<sup>19</sup>

राज्य द्वारा योग्य शिक्षक प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक परीक्षाओं का आयोजन किया गया, जिसमें असफल शिक्षकों को शिक्षक पद से हटा दिया गया। शिक्षक अपने

शिक्षण कार्यों को कुशलता से करें, इसके लिए शिक्षकों के वेतन में समय-समय पर वृद्धि की गई।

राज्य के योग्य व प्रतिभावान छात्रों को राज्य द्वारा छात्रवृत्ति प्रदान की गई। इसके अलावा राज्य खर्च पर उच्च शिक्षा हेतु विद्यार्थियों को मेयो कॉलेज, अजमेर, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, इंग्लैण्ड तथा हिन्दू कॉलेज बनारस भेजा गया।<sup>20</sup> 1894-95 ई. में अलवर हाईस्कूल के 11 पूर्व छात्रों को 91 रुपये प्रति छात्र छात्रवृत्ति प्रदान कर उच्च अध्ययन हेतु आगरा कॉलेज व लाहौर मेडिकल कॉलेज भेजा गया।<sup>21</sup> रियासत में स्त्री शिक्षा को और अधिक प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 1886 में अलवर रियासत की तीन छात्राओं को छात्रवृत्ति प्रदान कर, आगरा मेडिकल कॉलेज में अध्ययन हेतु भेजा गया।<sup>22</sup>

राज्य द्वारा तकनीकी, औद्योगिकी एवं व्यवसायिक प्रशिक्षण के लिए भी छात्रवृत्ति स्वीकृत की गई। शिक्षा पद्धति में सुधार करते हुए अलवर हाईस्कूल के छात्रों के लिए 'वाद-विवाद क्लब' खोला तथा शिक्षकों के आपसी विचार-विमर्श हेतु शिक्षक संघ (टीचर एसोसिएशन) का गठन किया गया, जिससे शिक्षक अब शिक्षा की पद्धति में सुधार पर विचार-विमर्श के लिए एक स्थान पर एकत्रित होने लगे।<sup>23</sup> इस आधुनिक शिक्षा में खेलों का समावेश करते हुए अलवर में खेलकूद प्रतियोगिताओं का आयोजन तथा पुरस्कारों के माध्यम से विद्यार्थियों में शारीरिक शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। 1911-12 में रियासत में शिक्षा का पुनर्गठन कर शारीरिक विज्ञान के पाठ्यक्रम को और अधिक विस्तृत कर दिया गया।<sup>24</sup> शारीरिक शिक्षा के तहत छात्रों को स्कूल समय में शारीरिक व्यायाम, शरीर विज्ञान, साफ-सफाई का महत्व एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी दी जाने लगी। छात्रों को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रखने के लिए तीन माह के नियमित अन्तराल में उनके शरीर के सीने, ऊँचाई एवं वजन इत्यादि की माप की जाने लगी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्कूलों में वजन मापने एवं ऊँचाई मापने के यंत्र की व्यवस्था भी की गई।<sup>25</sup>

1927-28 ई. में भारतीय खेलों व व्यायाम को राज्य के सभी स्कूलों में शामिल कर दिया गया। खेलों के अलावा स्काउटिंग गतिविधियों को भी अलवर हाईस्कूल तथा राजगढ़ के एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल में आरम्भ किया गया।<sup>26</sup> अलवर हाईस्कूल में 'लीग ऑफ ऑनर' से स्काउट गतिविधियाँ संचालित की गईं। 1925-26 में इस स्काउट्स दल का नाम 'जयेंद्र दल' कर दिया गया।<sup>27</sup> अलवर में एक से अधिक शिक्षक वाले स्कूलों में पुस्तकालय खोले गये।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने आधुनिक शिक्षा को लागू कर रियासत में परम्परागत शिक्षा का ह्रास कर दिया। अब शिक्षा के केन्द्र के रूप में चौपाल, झोंपड़ियाँ या मन्दिर न रहकर स्कूल के भवन होने लगे, परीक्षाओं का आयोजन होने लगा, साथ ही स्कूलों का निरीक्षण, छात्रवृत्ति व खेलकूद को आधुनिक शिक्षा में शामिल कर इसे आधुनिक स्वरूप प्रदान किया गया। अब संस्कृत, फारसी व उर्दू के स्थान पर अंग्रेजी भाषा का

प्रचलन आम हो गया। इस प्रकार ब्रिटिश संसर्ग के पश्चात् अलवर में आधुनिक शिक्षा आरम्भ हुयी, जिसने लोगों में राजनैतिक चेतना जागृत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। परिणामस्वरूप अलवर के शिक्षित लोगों ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। आधुनिक शिक्षा के अप्रत्यक्ष प्रभावस्वरूप स्थानीय लोगों को लोकतांत्रिक साहित्य का अध्ययन कर, लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्वयं में आत्मसात् करने में मदद की।

### सन्दर्भ

1. मायाराम, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स अलवर, पृ. 405
2. श्यामलदास, वीर विनोद, भाग 4 मेवाड़ गर्वनमेंट पब्लिकेशन 1886 पृ. 1379
3. जैन, महावीर प्रसाद-अलवर की जागृति का इतिहास, पृ. 10
4. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि अलवर स्टेट 1915-16, पृ. 1
5. जैन, महावीर प्रसाद, वही
6. पनगडिया, बी. एल., राजस्थान का इतिहास (प्राचीन काल से 1995), पृ. 116
7. मायाराम-वही, पृ. 578
8. शर्मा, गोपीनाथ-आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 296
9. सैयद नूरुल्ला एण्ड नायक, ए हिस्ट्री ऑफ एज्यूकेशन इन इण्डिया, पृ. 67
10. जैन, एम.एस.- आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 177
11. चोपड़ा, पुरी, दास, भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 244
12. सुन्दरलाल, भारत में अंग्रेजी राज, पृ. 181
13. मायाराम, वही, पृ. 578
14. पंडित सुरेश, माथुर राजेश-अलवर कल आज और कल, पृ. 82
15. नीरज, जयसिंह-विनय पत्रिका, अलवर अंक पृ. 212
16. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि अलवर स्टेट, 1872-73 पृ. 54
17. जोशी, अनिल (अनुवादक) अलवर का पाउलेट गजट 1878, कुसुम प्रकाशन, पृ. 70
18. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि अलवर स्टेट, 1896-97, पृ. 80
19. मायाराम, वही, पृ. 570
20. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि अलवर स्टेट, 1894, पृ. 64-65
21. वही
22. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि अलवर स्टेट 1887-88, पृ. 106
23. वही, 1914-15, पृ. 24
24. वही, 1911-12, पृ. 24
25. वही, 1918-19, पृ. 13
26. वही, 1920-21, पृ. 37
27. वही, 1925-26, पृ. 31

## बीकानेर रियासत में शिक्षा का विकास (1887-1942 ई.)

डॉ. बिन्दु भसीन

महाराजा गंगासिंह जी से पूर्व बीकानेर राज्य में शिक्षा की प्रगति प्रायः अवरुद्ध अवस्था में थी एवं इसका विस्तार एक कठिनतम कार्य था।<sup>1</sup> पूर्व नरेशों ने न तो राज्य के विकास हेतु शिक्षा की प्रगति की आवश्यकता को समझा और न ही आय के सीमित स्रोतों और राज्य की ऋणग्रस्त अर्थव्यवस्था से इसका विस्तार सुगमतापूर्वक सम्भव था। पूर्ववर्ती किसी भी महाराजा के शासन काल में शिक्षा के निमित्त अलग से (पृथक्) बजट नहीं रखा गया। यदि इस हेतु कोई व्यय किया भी जाता तो वह धार्मिक कार्यों हेतु स्वीकृत राशि से ही होता था<sup>2</sup> जो कि अत्यल्प था। 1872 ई. तक तो समूचे बीकानेर राज्य में एक भी सरकारी विद्यालय नहीं था। 1885 ई. में महाराजा श्री डूंगरसिंह के शासन काल में एक नया विद्यालय स्थापित किया गया जिसमें अंग्रेजी भाषा सिखाने की व्यवस्था थी।<sup>3</sup> स्वयं सुशिक्षित<sup>4</sup> एवं शिक्षानुरागी<sup>5</sup> महाराजा गंगासिंहजी ने ऐसी विषम परिस्थितियों से अनवरत् संघर्षरत रहते हुए रियासत में शिक्षा की प्रगति में विशेष रुचि ली। सरकारी नीतियों और योजनाओं की सफलता इसी में अंतर्निहित है कि प्रजा में उनको समझने और क्रियान्वयन हेतु अनुकूलताएं उत्पन्न करने की प्रतिभा विद्यमान हो और यह सभी शिक्षा की प्रगति द्वारा ही सम्भव है। महाराजा गंगासिंहजी ने योग्य शिक्षा अधिकारियों की नियुक्तियां, व्यावसायिक और व्यापारिक शिक्षा प्रबंध, उच्च शिक्षा की प्रशंसनीय व्यवस्था, छात्रों की छात्रवृत्तियां, शिक्षण संस्थाओं को अनुदान, प्रोत्साहन एवं संरक्षण आदि नीतियों का अवलम्बन कर रियासत में शिक्षा की चहुंमुखी उन्नति एवं प्रसारण को सम्भव बनाया। नारी शिक्षा को विशेष महत्व देते हुए महाराजा ने इसकी प्रगति हेतु भी प्रभावी कदम उठाए।<sup>6</sup> महाराजा द्वारा पूर्ण राज्याधिकार (1898 ई.) प्राप्ति के समय बीकानेर राज्य में कुल 29 शिक्षण संस्थाएं, 49 अध्यापक, 1606 अध्ययनरत छात्र एवं 18126 रु. वार्षिक शिक्षा व्यय तथा 80 निजी पाठशालाएं थी।<sup>7</sup> शिक्षा के क्षेत्र में बीकानेर में जो उन्नति हुई उसे सारणी क्र. 1 से जाना जा सकता है<sup>8</sup>—

### सारणी क्र. 1 : शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति (वर्षवार)

वर्ष	शिक्षण संस्थाएं	अध्यापक	अध्ययनरत छात्र	वार्षिक शिक्षा व्यय
1	2	3	4	5
1897-98	29	49	1606	18126



1911-12	43	96	3056	62040
1918-19	60	169	3512	84299
1920-21	74	205	5238	14162
1925-26	71	211	4795	138735
1930-31	108	328	7701	241537
1935-36	122	386	9361	292357

1943 ई. तक राज्य में 141 राजकीय महाविद्यालय, 137 अनुदान प्राप्त एवं 191 मान्यता प्राप्त निजी विद्यालय और एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय था जिसमें अद्य यनरत छात्र संख्या 29,803 तक पहुंच चुकी थी।

### शिक्षा विभाग संगठन, योजना और निरीक्षण

राज्य में शिक्षा के विस्तार विषयक आवश्यक सुधार एवं विशेषज्ञ परामर्श के लिये 1912 ई. में निदेशक शिक्षा विभाग का नव पद सृजित किया<sup>9</sup> और मेयो कॉलेज अजमेर के उपाचार्य हर्बर्ट येरिंग की नियुक्ति इस पद पर की।<sup>10</sup> दिसम्बर 1918 ई. में एक नवीन शिक्षा योजना<sup>11</sup> राज्य में लागू की गई जिसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित थी—

1. कॉलेज शिक्षा को लोकप्रिय बनाना।
2. वाल्टर नोबल्स स्कूल का स्तर<sup>12</sup> मैट्रिकुलेशन स्तर तब बढ़ाना।
3. डूंगर मेमोरियल कॉलेज एवं जिलों के वर्नाक्यूलर विद्यालयों के स्टाफ में वृद्धि करना।
4. नये सरकारी विद्यालय खोलकर एवं निजी विद्यालयों को उदार अनुदान प्रदान कर प्राथमिक शिक्षा का और विस्तार करना।
5. नारी शिक्षा के लाभों का विस्तार करना।
6. स्थानीय पुरोहित वर्ग को ज्योतिष, व्याकरण, कर्मकाण्ड का प्रशिक्षण देने एवं संस्कृत अध्ययनार्थ व्यापक सुविधाएं प्रदान करने के लिये वस्तुतः सक्षम संस्कृत अध्यापकों द्वारा संचालित संस्कृत पाठशाला खोलना।
7. स्थानीय व्यक्तियों को राज्य के भीतर एवं बाहर कलाओं और व्यवसायों में प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु सुविधाएं प्रदान करना।

इस योजना के विवेकपूर्ण क्रियान्वयन ने राज्य में शैक्षणिक प्रगति की गति को तीव्र कर दिया। सन् 1919-20 में शाला निरीक्षक एवं उप-शाला निरीक्षक ने वर्ष में क्रमशः 90 और 120 दिन भ्रमण कर अधिकांश शालाओं का निरीक्षण-कार्य सम्पादित किया।

### प्राथमिक शिक्षा

राज्य भर में नये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा विद्यालय<sup>13</sup> एवं डिस्ट्रिक्ट विद्यालय,<sup>14</sup> कन्या विद्यालय<sup>15</sup> तथा हिन्दी प्राइमरी विद्यालय<sup>16</sup> स्थापित कर प्राथमिक शिक्षा को व्यापक बनाया गया। राज्य के सेठ, साहूकारों और धनाढ्य लोगों को भी इस हेतु अभिप्रेरित और प्रोत्साहित किया गया कि वे शिक्षण संस्थाओं के निर्माण, संचालन में सहयोग एवं अनुदान प्रदान करें। फलस्वरूप सेठ-साहूकारों ने संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिये संस्कृत पाठशालाएं खोली। इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले छात्रों के रहने, खाने एवं पीने की मुफ्त व्यवस्था थी। संस्कृत पढ़ाने के लिये देश के विभिन्न भागों से विद्वानों को बुलाकर इन पाठशालाओं में नियुक्त किया गया जिससे संस्कृत पाठशालाओं का संचालन व्यवस्थित हो सके<sup>17</sup> जो सारणी क्र. 2 में द्रष्टव्य है—

#### सारणी क्र. 2

#### राज्य में स्थापित संस्कृत पाठशाला

क्र.सं.	पाठशाला का नाम	वर्ष
1.	भगवानदास बागला संस्कृत पाठशाला, चूरू	1890
2.	टीकमानी संस्कृत पाठशाला, राजगढ़	1894
3.	पचीसिया संस्कृत पाठशाला, नोहर	1902
4.	मंत्री संस्कृत पाठशाला, चूरू <sup>18</sup>	1905
5.	संस्कृत पाठशाला, बीकानेर <sup>19</sup>	1910 से पूर्व
6.	मोहता संस्कृत पाठशाला, बीकानेर	1910 से पूर्व
7.	महालका संस्कृत पाठशाला, रतनगढ़	1910 से पूर्व
8.	संस्कृत पाठशाला, हनुमानगढ़	1910 से पूर्व
9.	जैन दिगम्बर संस्कृत पाठशाला, चूरू	1914
10.	लुहारीवाला संस्कृत पाठशाला, भादरा <sup>20</sup>	1915
11.	ऋषिकुल ब्रह्मचारी आश्रम (संस्कृत पाठशाला), चूरू	1918
12.	तापड़िया संस्कृत पाठशाला, रतनगढ़	1926
13.	हनुमान संस्कृत पाठशाला, सरदारशहर <sup>21</sup>	1930

सन् 1928-29 में एक उल्लेखनीय कदम राज्य द्वारा एक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम<sup>22</sup> लागू किया गया जाना था इसके अनुसार राज्य की विविध नगरपालिकाओं को इस हेतु आवेदन किया गया कि वे अनिवार्य प्राथमिक शालाएं खोलकर उन पर होने वाले कुल व्यय का 2/3 भाग राज्य से अनुदान स्वरूप प्राप्त कर सकती हैं। यह योजना बहुत सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुई जिसकी सफलता सारणी क्र. 3 में द्रष्टव्य आंकड़ों से आंकी जा सकती है<sup>23</sup>—

सारणी क्र. 3

वर्षवार पाठशालाओं और छात्रों की संख्या

वर्ष	पाठशालाएं	अध्ययनरत छात्र
1937-38	18	1501
1938-39	18	1902
1939-40	18	1691
1940-41	19	1647
1941-42	21	1808
1942-43	27	2256

हिन्दी प्राइमरी स्कूल, अनुदान एवं मान्यता प्राप्त निजी प्राथमिक शालाओं की संख्या एवं उनमें अध्ययनरत छात्र संख्या की प्रगति इससे आंकी जा सकती है कि जहां सन् 1897-1898 में राज्य में इनकी संख्या क्रमशः 29 व शून्य थी वहां 1942 व 1943 ई. में यह संख्या 48 एवं 08 तक पहुंच गई थी। बालक व बालिकाओं को मांटेसरी पद्धति द्वारा प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने हेतु सन् 1941 में राजधानी में गंगा बाल विद्यालय की स्थापना की गई। सरकार द्वारा स्वीकृत योजनानुसार प्रतिवर्ष 5 नये ग्रामीण विद्यालय खोले गए और एक ही अध्यापक द्वारा संचालित बहुत से विद्यालयों को एक और अतिरिक्त अध्यापक प्रदान किया गया। इसी के समानान्तर ग्रामीण क्षेत्रों में कन्या शिक्षा को भी लोकप्रिय बनाया गया।

### उच्च प्राथमिक शिक्षा

इसके समुचित विस्तार हेतु राज्य के विभिन्न भागों में स्टेट एंग्लो-वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल, अनुदान प्राप्त मिडिल स्कूल एवं मान्यता प्राप्त मिडिल स्कूल की स्थापना की गई।<sup>24</sup> सन् 1897-98 में राज्य में सार्दुल हाई स्कूल, वाल्टर नोबल्स स्कूल, लेडी ऐलिंग स्कूल, मोहता मूलचन्द विद्यालय एवं चूरू, रतनगढ़ के मिडिल स्कूल ही उच्च प्राथमिक शिक्षा प्रदान करते थे किन्तु महाराजा के शासन के उत्तरार्द्ध काल में इसमें उल्लेखनीय प्रगति हुई जिसमें रतनगढ़, हनुमानगढ़ और लालगढ़ जं. रेलवे वर्कशॉप और लूणकरणसर के उच्च प्राथमिक विद्यालयों में उर्दू शिक्षा प्रारम्भ की गई।

### हाई स्कूल शिक्षा

सन् 1897-98 में जहां राज्य में दरबार हाई स्कूल<sup>25</sup> ही एकमात्र हाई स्कूल शिक्षा संपादन करने वाली संस्था थी वहां सन् 1942-43 तक राज्य में हाई स्कूल की संख्या 31 तक पहुंच गई जिनमें से 8 राजकीय हाई स्कूल एवं 3 अनुदान प्राप्त निजी हाई स्कूल थे। जैसे-सार्दुल हाई स्कूल, वाल्टर नोबल्स हाई स्कूल, चूरू हाई स्कूल, गंगानगर हाई स्कूल, सुजानगढ़ हाई स्कूल, सरदारशहर हाई स्कूल, राजगढ़ हाई स्कूल, जाट हाई स्कूल संगरिया थे। अनुदान प्राप्त हाई स्कूल दो राजधानी में और एक रतनगढ़ में था।

### डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

1928 ई. में डूंगर मेमोरियल महाविद्यालय एक इन्टरमीडिएट महाविद्यालय के रूप में प्रारम्भ किया गया। सन् 1935 में इसे डिग्री महाविद्यालय का स्वरूप प्रदान कर दिया गया। लगभग 1.5 लाख रु. की लागत से एक भव्य और विशाल भवन इस हेतु निर्मित किया गया। अतिरिक्त निर्माण व सुधार कार्यों के कारण इसकी लागत 2 लाख 11 हजार 549 रु. तक पहुंच गई। 53456 रु. लागत से निर्मित 32 छात्रों के लिये आवासीय सुविधायुक्त व भावी विस्तार की क्षमता रखने वाले एक छात्रावास के साथ ही एक अध्ययन कक्ष महाविद्यालय भवन से जुड़ा हुआ था।<sup>26</sup> 1940 ई. में रसायन और भौतिक विज्ञान ओर 1942 ई. में जीव विज्ञान की मान्यता राजपूताना बोर्ड अजमेर से मिली। जुलाई 1942 ई. में एम.ए. (स्नातकोत्तर) की कक्षाएं भी प्रारम्भ कर दी गई।

### राज्य से बाहर उच्च शिक्षा-सुविधाएं

जिन पाठ्यक्रमों के शिक्षण की सुविधा राज्य में उपलब्ध नहीं थी उन पाठ्यक्रमों में अध्ययनार्थ बीकानेरी छात्रों को राज्य से बाहर अन्यत्र कहीं जाने पर राज्य की ओर छात्रवृत्तियां प्रदान की गईं। ये छात्रवृत्तियां विधि, शिक्षक प्रशिक्षण, आचार्य, ड्राईंग, शारीरिक शिक्षा, कृषि, सिविल इंजीनियरिंग, एम.बी.बी.एस., वैटरनरी प्रशिक्षण, आयुर्वेद, सैन्य प्रशिक्षण आदि से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों में अध्ययनार्थ स्वीकृत की गईं। ये छात्रवृत्तियां-आगरा, अजमेर, दिल्ली, कलकत्ता, बनारस, जयपुर, मद्रास, बंगाल, कराची, लखनऊ, लन्दन, बम्बई, इन्दौर आदि में कॉलेजों में अध्ययनार्थ के लिये दी गईं।

### नारी शिक्षा

सन् 1897-98 में जहां राज्य में मात्र दो ही कन्या विद्यालय (लेडी ऐलिंग गल्स स्कूल और मोहता मूलचन्द विद्यालय से जुड़ा एक निजी कन्या विद्यालय) दो अध्यापिकाएं, 60 अध्ययनरत छात्राएं और 18,126 रु. कुल वार्षिक शिक्षा व्यय था वहां सन् 1942-43 तक राज्य में कुल 41 कन्या महाविद्यालय स्थापित हो चुके थे जिनमें अध्ययनरत छात्राओं की संख्या भी 4077 तक पहुंच चुकी थी। 1942-43 ई. में मात्र नारी शिक्षा पर ही 55,919 रु. खर्च किये जो कि 1897-98 ई. के कुल शिक्षा व्यय के तीन गुने से भी अधिक था। सन् 1898-99 में एक विशिष्ट योजना स्वीकृत कर कार्यान्वित की गई जिसके अनुसार कठोर पर्दे की अनुपालना करने के कारण विद्यालय न जा सकने वाली कन्याओं को घर में जाकर पढ़ाने हेतु भ्रमणशील अध्यापिकाओं की नियुक्ति की गई। नारी शिक्षा को राज्य के हर भाग में व्यापक बनाने हेतु 2000 या उससे अधिक आबादी वाले हर खालसा गांव में एक कन्या विद्यालय स्थापित कर दिया गया।

### हर हाईनेस द महारानी नोबल्स गल्स स्कूल

राज्य के राजपूत सरदारों एवं उमरावों की कन्याओं की कठोर पर्दा प्रथा के अन्तर्गत शिक्षा प्रदान करने हेतु स्थापित यह विद्यालय सम्पूर्ण राजपूताना में अपने किस्म

की एक अनूठी संस्था थी। 1934-35 ई. में 92,459 रु. की लागत से इस शाला के लिये एक भव्य भवन का निर्माण किया गया और सन् 1935 में इसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया गया।<sup>27</sup> यह विद्यालय कन्याओं को एंग्लो हिन्दी मिडिल स्टेण्डर्ड तक की शिक्षा प्रदान करने और यू.पी. बोर्ड की सम्बन्धित परीक्षाओं हेतु परीक्षार्थी तैयार करता था। राजधानी स्थित लेडी एलिंग स्कूल और सरदारशहर स्थित गर्ल्स स्कूल में महिला प्रशिक्षण कक्षाएं प्रारम्भ की गईं।

### अन्य शैक्षणिक गतिविधियां

**प्रौढ़ शिक्षा**—कन्या शालाओं में नियुक्ति हेतु अध्यापिकाओं की आवश्यकता पूर्ति हेतु उदार वृत्तियां प्रदान कर प्रौढ़ महिलाओं को शालाओं में शिक्षा प्राप्त कर यू.पी. बोर्ड की लोअर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने हेतु प्रेरित और प्रोत्साहित किया गया।

**व्यापारिक कक्षाएं**—शिक्षा विभाग द्वारा राजधानी में संचालित इन कक्षाओं में प्रशिक्षणार्थियों को आशुलिपि और टंकन का प्रशिक्षण दिया जाता था।<sup>28</sup>

**संस्कृत शिक्षा**—सन् 1918 में राजधानी में गंगा संस्कृत पाठशाला स्थापित की गई जिसमें कर्मकाण्ड, ज्योतिष, व्याकरण आदि के अध्ययन की व्यवस्था थी और यह पाठशाला बनारस संस्कृत कॉलेज द्वारा आयोजित परीक्षाओं हेतु परीक्षार्थी तैयार करती थी।

**व्यावसायिक शिक्षा**—मौखिक अंकगणितीय गणना और बहीखाता पद्धति के अध्ययन की सुविधा प्रदान करने वाली ये संस्थाएं सामान्यतः बानिका विद्यालय के नाम से जानी जाती थी। निजी संस्थाओं द्वारा संचालित होने पर भी इन्हें राज्य द्वारा समुचित संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया जाता था।

**शारीरिक शिक्षा एवं छात्रों का स्वास्थ्य-परीक्षण**—शिक्षण संस्थाओं में प्रतिदिन आधा घंटा अनिवार्य रूप से शारीरिक व्यायाम कराया जाता था। छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण वर्ष में 2 बार किया जाता था तथा बीमार छात्रों की सूचना हैडमास्टर एवं संरक्षक को दी जाती थी और आवश्यक चिकित्सा सुविधाएं प्रदान की जाती थी।<sup>29</sup>

**तकनीकी शिक्षा**—विविध कलाओं और दस्तकारी की तकनीकों का प्रशिक्षण देने हेतु राजधानी में विलिंगटन टैक्नीकल इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई।

**स्काउटिंग**—छात्रों में सेवा-भाव और आत्म-अनुशासन प्रवृत्ति जागृत करने के लिये राज्य में सहशैक्षणिक गतिविधि को समुचित प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया गया।

**शिक्षण प्रशिक्षण**—सन् 1940-41 में राजधानी में एक शिक्षक प्रशिक्षण और अभ्यासरत मिडिल स्कूल खोला गया जिसे योग्य स्टाफ सम्पन्न बनाया गया।

**पुस्तकालय**—1 मार्च 1937 ई. को द किंग एम्परर जॉर्ज पंचम सिल्वर जुबली पुस्तकालय राज्य में स्थापित किया गया। 1942-43 ई. तक इसमें उपलब्ध पुस्तकों की संख्या और आने वाली विविध पत्रिकाओं की संख्या क्रमशः 8,391 एवं 38 तक पहुंच

गई थी। राज्य में अन्य निजी पुस्तकालयों को उनकी महत्ता के अनुरूप 3 रु. से 5 रु. प्रति महार अनुदान प्रदान किया जाता था। अनूप संस्कृत पुस्तकालय<sup>30</sup> मूल पाण्डुलिपियों के बहुमूल्य भण्डार के रूप में राज्य में विद्यमान था। इस पुस्तकालय का प्रबन्ध शिक्षा निदेशक की सीधी देख-देख में होता था। संस्कृत पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की योजना के क्रियान्वयन हेतु गंगा ओरियण्टल सीरीज का उद्घाटन किया गया।

बीकानेर राज्य की शिक्षा-प्रणाली की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि राज्य में शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जाती थी और समसामयिक भारतीय रियासतों में निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से उल्लेखनीय तीन रियासतों (कोटा, नवानगर, बीकानेर) में से बीकानेर एक थी।<sup>31</sup> महाराजा के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप राज्य ने साक्षरता के अनुपात और शिक्षण संस्थाओं की संख्या-वृद्धि की दृष्टि से अद्वितीय कीर्तिमान स्थापित कर दिये। 1941 ई. में राज्य की कुल आबादी 11,10,434 थी जिसमें 5 वर्ष या इससे अधिक आयु के 92821 लोग (78,505 पुरुष और 14,316 स्त्रियां) शिक्षित थे।

शिक्षा की प्रगति हेतु महाराजा द्वारा जो भी कार्य किये गए उसमें उनके अन्दर की आत्मिक प्रेरणा, अदम्य उत्साह, राज्य का शैक्षणिक विस्तार कर उसे एक आदर्श राज्य बनाने की प्रबल इच्छा अंतर्निहित थी। शिक्षा के विस्तार के फलस्वरूप जहां एक ओर राज्य के नागरिकों में कर्तव्यनिष्ठा और कर्तव्य पालन बोध के अंकुर प्रस्फुटित हुए वहां राज्य के विविध रोजगारों और सेवाओं हेतु योग्य एवं शिक्षित स्थानीय व्यक्तियों की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में सम्भव बन सकी। शिक्षा की चहुंमुखी प्रगति में यदि कोई कमी दृष्टिगोचर होती है तो यह कि तकनीकी शिक्षा की प्रगति हेतु कोई विशेष प्रभावी कार्यक्रम नहीं बनाया गया तथापि बीकानेर राज्य में शैक्षणिक जागृति एवं चहुंमुखी प्रगति का सर्वाधिक श्रेय निर्विवाद रूप से महाराजा गंगासिंहजी को ही जाता है।

### सन्दर्भ

1. महाराजा गंगासिंह जी शताब्दी ग्रन्थ, पृ. 45
2. पाउलेट-अजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट, पृ. 101; देवड़ा, जी.एस.एल., बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था 1574-1818 ई., पृ. 220-221
3. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 462
4. पन्नीकर, के.एम., हिज हाइनेस द महाराजा ऑफ बीकानेर ए बायोग्राफी, पृ. 31; ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, पूर्वोक्त, पृ. 494-495
5. फोर डिकेड्स ऑफ प्रोग्रेस इन बीकानेर, 1937, पृ. 41; एड. रिपोर्ट 1908-09 ई., पृ. 33-34
6. एज्यू. फाईल, बंडल नं. 19, फा.नं. 1-39; पन्नीकर, के.एम., पूर्वोक्त, पृ. 125; फोर डिकेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 48; एड. रिपोर्ट 1942-43 ई., पृ. 110-111
7. फोर डिकेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 43; एड. रिपोर्ट 1898-99 ई., पृ. 30; सिंह, वाई.पी.

- , सन ऑफ द सोयल महाराजा गंगासिंह, पृ. 98
8. बीकानेर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ. 342-343
  9. पन्नीकर, के.एम., पूर्वोक्त, पृ. 133; एड. रिपोर्ट 1913-14 ई., पृ. 49; एड. रिपोर्ट 1915-16 ई., पृ. 39; एड. 1916-17 ई., पृ. 44; एड. रिपोर्ट 1917-18 ई., पृ. 53
  10. सिंह, वाई.पी., पूर्वोक्त, पृ. 128
  11. फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 41-42
  12. वाल्टर नोबल्स स्कूल सामन्तों के पुत्रों के लिये था। जन-साधारण के पुत्र यहां पर शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे।
  13. एज्यू. फा. ब.नं. 19, फा.नं. 1-78; फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 44
  14. एड. रिपोर्ट 1904-05 ई., पृ. 40-41, 74
  15. एज्यू. फा. ब.नं. 19, फा.नं. 1-39; एड. रिपोर्ट 1938-39 ई., पृ. 74
  16. एड. रिपोर्ट 1936-37 ई., पृ. 73; एड. रिपोर्ट 1937-38 ई., पृ. 76
  17. शर्मा, गिरिजा शंकर, मारवाड़ी (सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण) बीकानेर के सन्दर्भ में, पृ. 145
  18. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर 1916 ई., फा. नं. ए. 18-30, पृ. 97, 119
  19. महकमा खास, बीकानेर 1910 ई. फा.नं. 1501, पृ. 63-70
  20. होम डिपार्टमेंट, बीकानेर 1916 ई., फा. नं. ए. 18-30, पृ. 102, 122
  21. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, चूरू, पृ. 286, 287
  22. एज्यू. फा. ब.नं. 36ए, फा.नं. 1-17; फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 44
  23. एड. रिपोर्ट 1937-38 ई., पृ. 76-77; वही 1938-39 ई., पृ. 71; वही 1939-42 ई., पृ. 108; वही 1942-43 ई., पृ. 107
  24. फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 44
  25. यही बाद की अवधि में क्रमशः डूंगर मेमोरियल स्कूल, डूंगर मेमोरियल कॉलेज बना। सन् 1928 में इसके स्कूल भाग को पृथक् कर उसका नाम सार्दुल हाई स्कूल और कॉलेज भाग का नाम डूंगर कॉलेज रख दिया गया।
  26. एज्यू. फा. ब.नं. 24 फा.नं. 1-37; फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 45-46, 106
  27. फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 48; एड. रिपोर्ट 1935-36 ई., पृ. 75
  28. एड. रिपोर्ट 1936-37 ई., पृ. 73; एड. रिपोर्ट 1939-42 ई., पृ. 108
  29. फोर डिक्लेड्स, पूर्वोक्त, पृ. 49; एड. रिपोर्ट 1910-12 ई., पृ. 68; एड. रिपोर्ट 1935-36 ई., पृ. 77; वही 1936-37 ई., पृ. 73
  30. यही पुस्तकालय पहले फोर्ट संस्कृत पुस्तकालय कहलाता था।
  31. बीकानेर सेन्सस रिपोर्ट 1941 ई. पृ. 67, 69

## ईसाई मिशनरियों की कोटा रियासत के पिपलोदा ग्राम के संदर्भ में गतिविधियां

डॉ. हुकमचन्द जैन

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश सरकार ने ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म प्रचार की अनुमति दी। इस चार्टर एक्ट के पारित होने के बाद बहुत-सी मिशनरियों और पादरियों को भारत भेजा गया। मिशनरियों के कार्यों का प्रधान कार्यालय कलकत्ता में खोला गया। मिशनरी के पादरी भारतीयों का धर्म परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बनाने के प्रयत्नों में लग गये। 1857 के महान विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् राजस्थान में ईसाई मिशनरियों ने सुनियोजित ढंग से ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। वैसे राजस्थान में इससे पूर्व ही शिक्षा के क्षेत्र में अपनी गतिविधियां प्रारम्भ कर दी थी। शिक्षा के प्रसार के माध्यम से ईयाइयत का प्रचार करने के उद्देश्य से सेरामपुर के प्रसिद्ध ईसाई पादरी विलियम कैरे के पुत्र जबेज कैरे को कोटा भेजा गया। उसने कोटा में मई, 1819 में एक स्कूल की स्थापना की। उसने कोटा क्षेत्र में अन्य स्कूल भी खोले। इन स्कूलों में विशेष प्रगति नहीं होने के कारण इन्हें 1827 ई. में बन्द कर दिया गया, किन्तु कोटा का स्कूल 1831 ई. तक चलता रहा। इस प्रकार मिशनरियों का कोटा क्षेत्र में शिक्षा के प्रसार का प्रथम प्रयास असफल रहा। 1836 ई. में पुनः कोटा में स्कूल की स्थापना की गई, जिसे जनवरी 1843 में बन्द कर दिया गया। वर्ष 1846 के अंत में उत्तर-पश्चिम प्रान्त का लेफ्टिनेंट गर्वनर थॉमसन जब कोटा आया तब उसने यहां फिर से स्कूल की स्थापना की जरूरत समझी। अतः उसके सुझाव पर 1851 ई. में एक स्कूल स्थापित किया। फ्रांसीस विलियम, जो शिक्षा समिति का अध्यक्ष भी रहा, उसके प्रयासों से कोटा में लड़कियों की एक पाठशाला की स्थापना हुई, जो वर्तमान में रामपुरा में राजकीय सीनियर सैकण्डरी कन्या विद्यालय के नाम संचालित है। इसके पश्चात् 1860 ई. में कोटा में मिशनरियों ने एक औद्योगिक एवं व्यावसायिक स्कूल तथा एक आर्ट स्कूल की स्थापना की, किन्तु वे जयादा चल नहीं सके।

3 मार्च, 1860 को ईसाई पादरी शूलब्रेड ब्यावर पहुंचा। राजस्थान में ईसाई मिशनरी का पहला केन्द्र भी ब्यावर में खोला गया। इसके बाद अजमेर, टोंडगढ़, जयपुर, देवली एवं आशापुरा (नसीराबाद) में मिशनरी केन्द्रों की स्थापना की गई। एक दशक के अन्दर ही राजस्थान में 6 मिशनरी केन्द्रों की स्थापना, ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सौदेश्य की गई, इसमें सन्देह नहीं है।

1886 ई. में देवली से फादर विलियम बोनर ने कोटा आकर अपने मिशनरी कार्यों की शुरुआत की। 1889 ई. के अकाल में फादर बोनर एवं उसकी पत्नी ने कोटा में गरीबों एवं दीन दुःखियों की सेवा की। इस संबंध में हमें कुछ वृत्तान्त मुंशी मूलचन्द द्वारा लिखित पुस्तक 'तवारीखे राजगान कोटा' में मिलता है। फादर बोनर एवं पास्टर टुडहोप ने मिलकर यहां मिशन स्कूल की स्थापना की जहां पर 8वीं तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी। इसके बाद आगे की पढ़ाई के लिए बच्चों को अजमेर एवं नसीराबाद पढ़ने भेजा जाता था।

फादर बोनर द्वारा कोटा में चर्च की स्थापना के प्रयास का पहला वर्णन उसके द्वारा कोटा में पॉलिटिकल एजेन्ट कर्नल डब्ल्यू एच.सी. वायली को 15 अप्रैल, 1891 के लिखे पत्र से मिलता है। इस पत्र की प्रतिलिपि महाराव साहब कोटा के प्राइवेट सेक्रेटरी कार्यालय की फाइल संख्या 13/12 ग्रुप एक में उपलब्ध है। इस पत्र में फादर बोनर ने ब्यावर के जॉन रॉबसन के पत्र का जिक्र किया है। जॉन रॉबसन ने फादर बोनर को सूचित किया था कि जून में बोर्ड की बैठक होने वाली है तथा उन्हें कोटा में चर्च निर्मित करने के लिए सहायता देने हेतु प्रार्थना पत्र प्रस्तुत कर देना चाहिए। अपने अगले पत्र में फादर बोनर ने कर्नल वॉयली को लिखा कि मुझसे अधिक मेरी पत्नी कोटा में चर्च निर्मित करने के लिए लालायित है। अतः आप सोच सकते हैं कि इस कार्य को शीघ्र पूरा करने में कितनी अतीव इच्छा है। फादर बोनर के इस पत्र के उत्तर में कर्नल वॉयली ने दिनांक 17 मई, 1891 के पत्र में लिखा कि कोटा में चर्च निर्माण के लिए जमीन देने की बात सिद्धान्ततः स्वीकार ली है, परन्तु इसके लिए महाराव साहब के मेयो कॉलेज, अजमेर से अध्ययन कर लौटने का इन्तजार करना पड़ेगा। कर्नल वॉयली ने फादर बोनर को, साथ ही, यह लिखा कि कोटा राज्य की काउन्सिल की स्वीकृति इस बात के लिए पर्याप्त है कि आप बोर्ड को चर्च निर्माण के लिए सहायताथ लिख सकते हैं। 26 अगस्त, 1891 को अजमेर में बोर्ड की बैठक में फादर बोनर को कोटा में चर्च बनाये जाने की अनुमति मिल गई। इधर, कोटा महाराव के 1892 ई. में अजमेर से लौटने के पश्चात् चर्च की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया। अन्ततः यूनाइटेड प्रेसबिटेरियन मिशन चर्च, कोटा के लिए महाराव ने सनद पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। आज यह चर्च कोटा शहर के मध्य पुरानी सब्जी मण्डी के पास स्थित है।

कोटा में ईसाई मिशनरी गतिविधियों के सन्दर्भ में यह एक रोचक तथ्य है कि कोटा रियासत के ग्राम पिपलोदा की स्थापना के पीछे उनका ही हाथ रहा। ग्राम पिपलोदा वर्तमान में बारां जिले के अन्तर्गत आता है किन्तु 1991 ई. से पूर्व यह कोटा जिलान्तर्गत आता था क्योंकि तब बारां जिला पृथक नहीं था। कोटा-बीना रेलवे लाइन पर अन्ता स्टेशन के बाद एक छोटा-सा स्टेशन 'पिपलोदा रोड' आता है। यह स्टेशन 1961 ई. में बन गया था। वैसे, यह गांव अटरू से 8 किमी. दूर स्थित है। जब पिपलोदा रोड स्टेशन नहीं बना था, तब लम्बे समय तक लोग बैलगाड़ियों से अथवा पैदल रास्ते से ही

पिपलोदा पहुंचते थे। पिपलोदा रोड से 3 किमी. दूर पिपलोदा गांव स्थित है। पिपलोदा ग्राम के पूर्व में मुख्य नदी पार्वती है, तो पश्चिम में 5 किमी. दूर पर नहर है, जो पार्वती नदी पर बांध बांध कर निकाली गई है।

राजस्थान में 'छपनिया अकाल' की प्रतिछाया में पिपलोदा गांव की नींव पड़ी। ऐसे भयानक अकाल में मिशनरी बेबस लोगों की सहायतार्थ आगे आयी। कोटा में भी लगभग इसी समय मिशनरी की गतिविधियों में इजाफा हुआ। 1901 ई. में पादरी डब्ल्यू. मिलर कोटा दरबार महाराव उम्मेदसिंह द्वितीय से गांव छजावा बसाने की स्वीकृति लेकर ब्यावर गये। पादरी विलियम बोनर एवं पादरी डब्ल्यू.एस. टुडहोप, जो कोटा में मिशनरी थे, गांव छजावा की देख-रेख के लिए नियुक्त किये गये। यहां की पड़त भूमि को कृषि योग्य बनाने का निश्चय किया गया। अप्रैल, 1903 में पादरी टुडहोप कोटा से आशापुर पहुंचे। वहां से 40 लड़कों को कृषि कार्य करने के लिए लेकर आये। इन्हें कृषि कार्य में प्रशिक्षण के साथ मिट्टी के बर्तन बनाने, मकान चुनने तथा कपड़ों की सिलाई करने का काम सिखाने को निर्णय हुआ। स्थानीय लोगों को साथ लेकर कृषि कार्य किया जाने लगा। कृषि भूमि के विस्तार की भावी आवश्यकताओं को देखते हुए पादरी बोनर ने कोटा महाराव उम्मेदसिंह द्वितीय से खेती योग्य अधिक भूमि की मांग की। महाराव ने इस हेतु छजावा के निकट पिपलोदा गांव में बस जाने की सलाह दी, जहां 67 हजार बीघा पड़त जमीन थी, इसमें 3000 बीघा काश्त के लिए उपयुक्त थी। इस तथ्य का वर्णन महकमा खास, इंग्लिश ऑफिस, ऑल्ड रिकॉर्ड, बस्ता नं. 9, फाइल संख्या 111 में दर्ज है। महाराव ने ईसाई मिशन को पिपलोदा ग्राम में भूमि का कबूलियत एवं पट्टा विधिवत रूप से प्रदान किया। इस पट्टे से हमें कोटा राज्य में माल में काम में आने वाली भाषा लिपि, भूमि नियम, काश्त, लगान आदि की पर्याप्त जानकारी मिलती है। इसे अस्सिस्टेंट माल श्री गौरीसहाय ने तैयार किया था। यह पट्टा कुल 07 पृष्ठों का है। इसकी भाषा ठेठ देशी हाड़ौती है एवं लिपि नागरी है। (जगतनारायण : महाराव उम्मेदसिंह द्वितीय, पृ. 107) मिशन जमीन का कड़ता जमा करती थी और निश्चित रकम को दो किशतों में तहसील में जमा करती थी। इस कार्य को पटेल मोतीराम करता था।

पिपलोदा गांव में सर्वप्रथम पास्टर बी.एन. पाल का निवास स्थान, एक डाकखाना एवं कुछ जवानों के रहने के घर बनाये गये। जून, 1905 मिशनरी को छजावा से पिपलोदा स्थानान्तरित कर दिया।

प्रारम्भ में जवानों ने पिपलोदा में काश्त के योग्य जमीन तैयार की, वह 200 एकड़ थी। 60 इंच वर्ष हो जाने से फसल भी अच्छी हुई। यीशु को भेंट स्वरूप 40 मन अनाज शुकुगुजारी के रूप में चर्च में दिया गया तथा 40 मन लोगों ने और अलग से भेंट किया। गांव में काश्तकारी के साथ-साथ शिक्षा देने की भी आवश्यकता अनुभव की गई, इस हेतु समसन सुकरवा और सुलेमान सुक्खा दो अध्यापक 6 रुपये माह वेतन पर

रखे गये। उन दिनों अध्यापकों को उस्ताद एवं अध्यापिकाओं को उत्सानजी कहकर बुलाया जाता था। मिशनरी ने यह व्यवस्था पृथक् से रखी कि शादी के बाद अध्यापक के बच्चे पैदा होने पर उसे 2 रुपये प्रति बच्चे दिया जावे। लगभग इसी समय गांव में डाकखाना प्रारम्भ किया गया। पोस्ट मास्टर को वेतन के रूप में 5 रुपये सरकार से और 4 रुपये मिशन से दिया जाता था। जो जवान यहां आये, उनमें से 12 जवानों की शादियां अगस्त, 1905 में हुईं। इस प्रकार ईसाइयों की भावी पीढ़ी गांव में ही तैयार की गई।

वर्ष 1906 में कोटा दरबार उम्मेदसिंह द्वितीय पिपलोदा गांव पधारे। उनका भव्य स्वागत किया गया। इस अवसर पर फादर बोनेर तथा डी. लाइटिन ने उन्हें नजराना पेश किया। वर्ष 1907 में पिपलोदा गांव के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जुड़ गया, जब स्थानीय ईसाइयों ने मिल कर 'पिपलोदा मण्डली' की स्थापना की। बालूराम को प्रथम एल्डर और मोतीलाल सेशन सेक्रेटरी चुने गये। मोतीलाल के प्रयासों से मण्डली के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी। गांव पिपलोदा, मिशनरी हेतु मर्दाना एवं जनाना बंगला निर्माण द्वारा, सुसज्जित हो गया।

वर्ष 1908 में मिशनरी द्वारा संचालित कृषि कार्यों में इजाफा हुआ क्योंकि पार्वती नदी पर पुल एवं गांव से साढ़े तीन किमी. की दूरी पर 5 नदियों के पानी को रोक कर बांध (बन्दा) का निर्माण हुआ। इसी बांध से जो नहर निकली उससे गांव के आस-पास के क्षेत्र को सिंचित होने का लाभ मिला। इसी समय अन्ता-बारां रेलवे लाइन बनकर तैयार हुई और 1909 तक रेलगाड़ी चलने लगी। रेलमार्ग से जुड़ जाने पर पिपलोदा वासियों की मिशनरी गतिविधियों में तेजी आई तथा कोटा, जयपुर, फुलेरा, अजमेर, ब्यावर, नसीराबाद जैसे मिशनरी केंद्रों पर जाना-आना सुगम हो गया।

फादर बोनेर के लम्बे समय से बीमार रहने के कारण उन्हें 1909 में स्वदेश लौटना पड़ा, इससे पिपलोदा मण्डली की गतिविधियों को काफी क्षति पहुंची। ऐसे समय में कोटा में कार्यरत पादरी टुडहोप को 16 जनवरी, 1910 को पिपलोदा मण्डली का मॉडरेटर नियुक्त किया गया। इसी समय 18 जनवरी, 1912 को जे.डब्ल्यू. कॉकबर्न मिशनरी तथा करीमुल्लाह प्रचारक बनकर आये। 17 जनवरी 1912 को करीमुल्लाह को पिपलोदा चर्च का प्रथम पादरी बनाया गया। अभी चर्च बिना छतर का बना हुआ था। आराधना, बैठकों तथा सेशन कार्यों के लिए मेढ़ी बनाई गई, जिसमें ब्यावर वाले पं. जोनाथन पढ़ाया करते थे और मंगला कुम्हार बच्चों को बारह खड़ी सिखाता था।

पिपलोदा ग्राम में कृषि कार्य को गति देने के लिए खाद एवं बीज के भण्डार गृह बनाये गये। वर्ष 1912 में एक और महत्वपूर्ण कार्य हुआ। मिशन की ओर से काश्तकारों के लिए बैंक की स्थापना हुई और एक कमेटी का गठन हुआ। सचिव पद के लिए जॉन सलातिएल चुना गया। इस बैंक के माध्यम से कम सूद पर रुपया और बीज किसानों को उपलब्ध कराया जाने लगा। 1915-16 में पिपलोदा मण्डली के 5 बच्चे आगे पढ़ने के लिए गये, जिनमें तीन ब्यावर बोर्डिंग में एवं दो दिल्ली भेजे गये। मिशनरीज ने भी बढ़ते

बच्चों की संख्या को देखते हुए लड़के एवं लड़कियों का प्राथमिक स्तर का स्कूल पृथक्-पृथक् खोलने का निर्णय लिया।

पिपलोदा गांव की मिशनरी की 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध की गतिविधियों से जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(1) मिशनरी ने अपने उद्देश्य पूरा करने के लिए सार्वजनिक बाजारों में प्रचार, शिक्षा के माध्यम से प्रचार, चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करके, धार्मिक साहित्य बेचकर, अनार्थों को सम्बल प्रदान करके, प्राकृतिक विपदाओं के समय आमजन को सहायता प्रदान करके तथा आन्तरिक क्षेत्रों में समय-समय पर जाकर लोगों से सम्पर्क करना, उपदेश देना, रात्रि जागरण करना आदि माध्यम अपनाये।

(2) वर्ष 1918-19 में पिपलोदा गांव 'इन्फ्लून्जा' नामक बीमारी के प्रकोप से बुरी तरह ग्रसित हो गया। छोटे-से गांव में 36 लोगों की जानें चली गईं। स्थिति ऐसी हो गई कि एक मृतक को दफनकार आते कि दूसरा मृतक तैयार मिलता। ऐसे समय में मिशनरी की सेवाएं प्रशंसनीय रही। इसी प्रकार 31 जुलाई 1923 में गांव में बाढ़ से पानी भर आया। पार्वती नदी पूरे उफान पर थी। इस बाढ़ से आस-पास के गांवों को काफी नुकसान हुआ। मिशनरीज के सहयोग से पल्लाफंड की स्थापना कर बाढ़ पीड़ितों की सहायता की गई।

(3) 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक तक पिपलोदा गांव मसीही गांव के रूप में विकसित हो चुका था। यहां के कार्यों की तारीफ जब इंग्लैण्ड की महारानी कोटा आयी थीं और उसने पादरी टुडहोप मिले थे, तब उन्होंने की थी।

(4) पिपलोदा मण्डली गाने-बजाने आदि के माध्यम से ईसाई मत के प्रचार में काफी आगे थी। नये पादरी जगन्नाथ, जो मई, 1915 में पिपलोदा आये थे, को गाने-बजाने का खूब शोक था। गणेशीलाल तबला मास्टर थे। यहां की मण्डली प्रभु यीशु मसीह के प्रचार हेतु आस-पास के गांव में अक्सर जाती रहती थी। 1930 में गांव में गायन सभा की स्थापना की गई। इसका नाम 'सज्जन सभा' रखा गया। गायन सभा में रामचन्द्र भाई मधुर आवाज में गाते-बजाते थे, उन्हें पिपलोदा कोकिला की पदवी से नवाजा गया। बाइबिल के प्रचार करने के लिए पिपलोदा में नाट्य मण्डली बनी हुई थी। बालूराम पटेल को नाटक लिखने की दक्षता थी। गांव में नाट्य मंचन में भाग लेने वालों का रिकार्ड आज भी उपलब्ध है। बालूराम बाजा बजाने और गाने में तथा अय्यूब, जीवन, बिहारी रतना एवं रामनाथ ढोलक बजाने में उस्ताद थे। आम भाषा में नाटक का मंचन किया जाता था। समुएल समसून की नाटक में बड़ी प्रभावशाली भूमिका हुआ करती थी।

(5) कार्य को मिलजुल कर करना, मिशनरी की कार्यप्रणाली का अंग था, चर्च निर्माण का कार्य हो या कृषि। पिपलोदा गांव में पहले खुली छत वाला चर्च था, किन्तु

1931 में जब नया चर्च बना तो सबने मिलकर दान इकट्ठा किया, निर्माण में हाथ बंटाय। सारा कार्य समसून मिस्त्री की देख-रेख में हुआ और जिम्मेदारी लाइटिन को सौंपी गई।

(6) आंचलिक खेलों के माध्यम से भी मिशनरी लोगों को जोड़ने का काम किया करती थी। क्रिसमिस के अवसर पर इस प्रकार के आयोजन किये जाते थे। यहां फुटबॉल का खेल विशेष प्रिय था। बड़े दिन के अवसर पर बुजुर्गों और जवानों के मध्य फुटबॉल मैच होता था। यहां के खिलाड़ियों ने राजस्थान एवं अन्य राज्यों में फुटबॉल में पिपलोदा गांव की ख्याति फैलाई। ऐसे 21 खिलाड़ियों की सूची गांव के मिशनरी के रिकॉर्ड में मिलती है।

(8) 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में पिपलोदा में साइकिल का चलना बड़ी बात थी। साइकिल के चलन से दूरी को मापने में मदद मिली, साथ ही ईसाइयत के प्रचार में गति आई। इसी समय मिशनरी के लिए स्प्रिंगदार बग्घी और स्प्रिंगदार बैलगाड़ी तैयार की गई, जिससे मिशनरी लोगों को अटरू से पिपलोदा गांव के उबड़-खाबड़ रास्तों से होकर आने-जाने में मदद मिली।

(9) मिशनरी के सम्पूर्ण कार्य स्थानीय परिवेश में हुआ करते थे। पिपलोदा में जब दूसरा चर्च निर्मित हुआ तो उसका नाम परम्परा के अनुसार अंग्रेज मिशनरी के नाम पर लाइटिन चर्च रखा जाना प्रस्तावित था, परन्तु स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उसका नाम 'जंगल-मंगल मण्डली चर्च पिपलोदा' रखा गया।

(10) 20वीं शताब्दी के चौथे दशक में पिपलोदा में शिक्षा को व्यवसाय से जोड़ा गया। लड़कों के स्कूल के बच्चों को सीखो-कमाओ योजना के अन्तर्गत खेती का काम सिखाया जाता था। खेती सिखाने के लिए सुलेमान को इलाहाबाद में नैनी ट्रेनिंग सेंटर पर भेजकर प्रशिक्षित कराया गया। वह 'एक्सपर्ट ट्रेनर' के रूप में वहां से प्रशिक्षण लेकर आया। दर्जी के काम के लिए सादिक आबिद को रखा गया। खाती के कार्य के लिए धूलचंद बाबू को रखा गया। पढ़ाई के साथ-साथ विद्यालय में व्यवसायपरक काम सिखाये जाते थे ताकि विद्यार्थी हुनरमंद बन सकें। इसके अलावा समय चक्र में मसीही शिक्षा हेतु एक कालांश अनिवार्य था। लड़कियों को भी स्कूल में पढ़ाई के साथ दस्तकारी का काम सिखाया जाता था। छात्राओं को सिलाई-बुनाई सिखायी जाती थी। इस कार्य के लिए अध्यापिका सोनी जोहरी थी, जो 1917 से कार्यरत थी। यह ज्ञातव्य है कि पिपलोदा गांव में शिक्षा के प्रति कितनी जागृति थी, इसका प्रमाण अटरू जहसील में पिपलोदा गांव में सर्वप्रथम 1932 में मिडिल स्कूल बना। इस स्कूल में आस-पास के गांवों के बच्चे भी पढ़ने आते थे।

(11) पिपलोदा गांव में बड़े दिन के अवसर पर मेले का ऐसा आयोजन होने लगा, जिसे राजस्थान के मसीही मेलों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाने लगा। यह मेला तीन दिन

भरता था। इसमें आस-पास और कोटा तक के दुकानदार आकर सजावट करते थे। बच्चों के झूले, चकरी आदि भी होते थे। पिपलोदा गांव के जो लोग बाहर नौकरी आदि करते थे, वे भी इस अवसर पर आकर मेले का लुत्फ उठाते थे। इस प्रकार मसीही प्राचार के लिए मेले अच्छे एवं लोकप्रिय साधन साबित हुए।

(12) गांव के झगड़ों को भी पिपलोदा मण्डली सुलझाया करती थी। यह काम बालूराम पटेल की अगुवाई में होता था। मण्डली के मतभेद, जमीन-जायदाद एवं आपसी मनमुटाव के झगड़े तथा अन्य जातियों से मतभेद को बालूराम ने जिस सूझ-बूझ और दक्षता से निबटारा किया, वह उल्लेखनीय है। यही कारण है कि पिपलोदा गांव के निवासी लम्बे समय तक कोर्ट-कचहरी से सामान्यतः दूर रहे।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मण्डली अपने उद्देश्यों की आपूर्ति में सफल रही। अबाध रूप से आत्मिक जागरण चलता रहा। 1954 में मसीही कन्वेंशन की स्थापना हुई। सारा खर्च मण्डली उठाने लगी। 1954 में ही पिपलोदा निवासियों ने मण्डली के सहयोग से पिपलोदा की स्थापना के 50 वर्ष पूर्ण होने पर स्वर्ण जयंती मनाई। इसी वर्ष स्वर्ण जयंती की स्मृति में पिपलोदा जुबली टूर्नामेंट की स्थापना की गई। आज इस गांव को एक शताब्दी से अधिक बसा हुआ हो गया। आज भी यह गांव जीवंत है और अधिकांश आबादी ईसाइयों की है।

## स्वतंत्रता आंदोलन युगीन राजस्थान की प्रेरक एवं चेतनापूर्ण काव्य रचनाएं एवं उनका प्रभाव

डॉ. आशा बागोटिया

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध यहां के शासकों एवं सेनानियों ने अदम्य साहस एवं वीरता के जौहर दिखाए तथा शौर्य एवं बलिदानों के उच्च प्रतिमान स्थापित किए जो विश्व इतिहास में अद्वितीय हैं। वहीं दूसरी ओर आंदोलन के दौरान चारण-भाटों और गीतकारों ने अपनी कलम से गंभीर प्रहार करते हुए अपनी काव्य रस धारा के प्रवाह से शासकों में प्रेरणा एवं चेतना जागृत करने में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया। यहां के कवियों की रचनाओं ने युद्ध वर्णन द्वारा योद्धाओं को प्रेरणा प्रदान करने का कार्य किया और आजादी की अलख ही नहीं जलायी, अपितु उसे जाज्वल्यमान बनाए रखने का पुनीत कार्य भी सम्पन्न किया। राजस्थान में प्रारम्भ से ही कवियों का यह दायित्व माना गया है कि वे राजाओं को युद्ध करने एवं आक्रमणों का वीरता से सामना करने के लिए प्रेरित करें। वीर रस यहां की भूमि एवं साहित्य का विशिष्ट अंग रहा है।

मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से यहां के शासन के सामंतीय स्वरूप में परिवर्तन आया। राजपूत राजाओं की ब्रिटिश शासकों से संधि होने के परिणाम स्वरूप मुगल-पठान, मराठे-पिण्डारियों आदि के यहां के रजवाड़ों पर आक्रमण प्रायः समाप्त से हो गए। इसका परिणाम साहित्यकारों के जीवन और दशा पर भी पड़ा। अब युद्धों के परम्परागत वर्णनात्मक रचनाओं की आवश्यकता नहीं रह गई। अतः साहित्यकारों का पराभव होने लगा। इसका कारण उन्हें अंग्रेजी शासन की स्थापना प्रतीत होने लगी। अतः उन्होंने इस दशा से मुक्ति का उपाय ब्रिटिश शासन की समाप्ति को ही समझा और इस हेतु उन्होंने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति को कलम द्वारा ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध प्रयुक्त किया।<sup>1</sup>

केसरीसिंह बारहठ<sup>2</sup> ने राजाओं को लक्ष्य करके उद्बोधनात्मक सोरठे लिखते हुए कहा—

हुकुमत गी हाथ घर में खूँगे घालिया।  
बालक भी या बात जाण चुक्या जग माहिने।।  
जीवन अहलो जाय सहल शिकार सलाम में।  
मांटी मौज उड़ाय परजा बिलखै पेट में।।

इसी प्रकार देशी राजाओं की अंग्रेजों से संधि के कारण विदेशी सत्ता स्थापना के खतरों को चुनौती देते हुए बांकीदास<sup>3</sup> ने कहा—

आयो इंगरेज मुल्क रे ऊपर आहंस लीधा खैचि उरा।  
धणिया मरे न दीधी धरती, धणिया ऊभां गई धरा।।

(अंग्रेज का नाम शैतान हमारे देश में चढ़ आ गया है। उसने देश रूपी शरीर की चेतना खूनी अधरों से चूस ली है। पहले धरती के स्वामियों ने मरकर भी धरती नहीं दी अब जीते जी ही धरती चली गई।)

भरतपुर में भी अंग्रेजों के खिलाफ ऐतिहासिक संग्राम लड़ा गया। ब्रिटिशों की प्रथम हार से उल्लास की तरंगें जनकण्ठों की वाणी में इस प्रकार प्रस्फुटित हुई—

आछो, गोरा हट जा! राज भरतपुर को रे गोरा हट जा  
भरतपुर गढ बांको किलो रे बांको रे गोरा हट जा।<sup>4</sup>

बांकीदास<sup>5</sup> ने इस प्रसंग में डिंगल गीत की रचना की—

अराबां तणो असबाब अपणावियो, भट कलकत्ता तणो भागौ।  
आड रोपी वज्रद झीक वागौ असंभ, लीक टोप पटक पंथ लागौ।।

1857 के विद्रोह ने सर्वाधिक गंभीर चुनौती दी। इस विशिष्ट भूमिका में आउवा के ठाकुर खुशालसिंह को अपार जनसमर्थन मिला। इसके प्रतीक लोकगीत<sup>6</sup> बन गए—

जनकंठा में जोयलो ख्यातां मंडियौ खास।  
देश प्रेम सूं दीपतौ, आऊवा रौ इतिहास।।

आऊवा के संघर्ष का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

बारली तोपां रा गोळा धूङ्गढ में लागे ओ।  
मांयली तोपां रा गोळा तंबू तोड़े ओ।  
मांयली तोपां तो छूटै आडावलो धूजै ओ।  
आउवे रा नाथ तो सुगाली पूजै ओ।।<sup>7</sup>

इसी संबंध में फागण गीत रचे गए—

ढोल बाजै, थाली बाजै, चंग बाजै, भेळो बाजै बांकियो  
अंजट ने ओ मारने दरवाजे नांकियो, जूझे आउवो।<sup>8</sup>

इसका प्रभाव जनमानस पर इस प्रकार पड़ा—

थिर रण अरियां योगणो, नधपुर पूगो नाम।  
आउवो खुसियाल इल, गावै गांमो गाम।।<sup>9</sup>

आऊवा की ख्याति दूर तक फैल गयी। जो कुर्बानियां उन लोगों द्वारा दी गईं उन भावों को इस प्रकार व्यक्त किया—

आउवो ने आसोप धणियां मोतियां री माळा ओ।।<sup>10</sup>

कवि गिरवरदान<sup>11</sup> ने आऊवा की वीरता का वर्णन इस प्रकार किया—



सह मंत्री मिल सला, थाप जुध करण थटाई,  
होणहाण ज्यूं होय, मिटै किण भांत मिटाई।  
भरोसे खुसाल सक्ति भिड़ण, संभियो सगळ्या नाथ रै,  
आजाद हिंद करवा उमंग, निडर आउवा नाथ रै।

आऊवा की कीर्ति का परिणाम है कि प्रथम स्वतंत्रता शताब्दी के अवसर पर 1957 में आऊवा के गढ़ के सामने राज्य सरकार ने कीर्ति स्तंभ निर्मित करवाया।

जोधपुर महाराजा मानसिंह<sup>12</sup> ने अंग्रेजों से संधि (22 दिसम्बर 1803) की पर अहदनामे पर हस्ताक्षर नहीं किए और जसवंतराय होल्कर को अपने यहां शरण दे दी। गीतों में कहा गया—

नृपत मान धन तपोबल, मुर धारण नाथ निज, राइयां आभरण दइब गया।  
बडेरां जिंकां खय करण होता विदा, ऊबरण जकै तो सरण आगा।।  
कविवर बांकीदास जी ने मानसिंह के लिए लिखा दोहा—  
देख गरुड़ अंगरेज दल, बणिया नृप अन ब्याल।  
जठै मान जोधाहरो, भूप हुओ चंद्र भाल।।<sup>13</sup>

चांपावत अभैसिंह चिमनसिंह भाइयों ने अंग्रेजों के खजाने व डाक को लूटा एवं डूंगजी जवारजी की मदद की। इस कारण जोधपुर राजा ने उनकी जागीर छीन ली लेकिन वे अंग्रेजों से लड़ते रहे। कवि आढा जादूराम<sup>14</sup> ने कहा—

डाकर कर फिरंग फेरै ढोला जे खग ठाकर केम झलै ?  
ऊभा पाखर बलू अभनमौ, भाखर ढांगो केम भलै ?

ऐसे ही वीरतापूर्ण गीत गोपालसिंह खरवा के सम्बन्ध में मेहडू गुलाबसिंह ने लिखे। मीसण सूरजमल की रचनाओं ने चेतना उत्पन्न की। रावत जोधसिंह चूंडावत, सलूमबर ने स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से डटकर मुकाबला किया।

ऐसे ही केसरीसिंह बारहठ<sup>15</sup> ने उदयपुर महाराणा फतहसिंहजी जब 1903 में दिल्ली दरबार में सम्मिलित होने जा रहे थे तो 'चेतावणी रा चूंगटिया' रचना के द्वारा उन्हें सचेत किया—

मानं गोद सीसोद, राजनीत बल राखणौ।  
गवरमिन्ट री गोद, फल मीठा दीठा फता।।

इसका परिणाम यह हुआ कि फतहसिंहजी दिल्ली स्टेशन से उतर कर उदयपुर लौट आए।

ये गीत हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में ज्वाला का कार्य कर सेनानियों में उत्साह, चेतना तथा देश प्रेम भावना को जलाए रखने में कारगर हुए। इन काव्य रचनाओं की विरासत हमारी भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत और हमारी संस्कृति का भान कराएगी। यद्यपि आज हम स्वतंत्र हैं फिर भी स्वतंत्रता के मूल्य को समझने एवं उसे निरन्तर बनाए

रखने में हमारे इस प्रेरक साहित्य का सदैव महत्व रहेगा।

अंत में जयनारायण व्यास की स्वतंत्रता प्रेम पंक्तियां—

नहीं रहेगी सत्ता तेरी बस्ती तो आबाद रहेगी।  
जालिम तेरे सब जुल्मों की उसमें कायम याद रहेगी।<sup>16</sup>

### सन्दर्भ

1. जहूरखां मेहर, राजस्थान में स्वतंत्रता संघर्ष, 1991, जगदीशसिंह गहलोत शोध संस्थान, जोधपुर, पृ. 5
2. केसरीसिंह बारहठ, चाकुक स्पर्श, केसरीसिंह बारहठ व्यक्तित्व एवं कृतित्व भाग 1, पृ. 130, उद्धृत-कन्हैयालाल राजपुरोहित, स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान की आहूतियां, जोधपुर, 1991, पृ. 13
3. नाथूराम खडगावत, राजस्थान रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 18757, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेंट गवर्नमेंट ऑफ राजस्थान जयपुर, 1957, पृ. 107; बांकीदास जोधपुर के प्रसिद्ध नरेश मानसिंह के कवि थे।
4. संपादक डॉ. नारायणसिंह भाटी, स्वतंत्रता आंदोलन की राजस्थानी प्रेरक रचनाएं, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1997, पृ. 57
5. पूर्वोक्त, पृ. 63
6. कन्हैयालाल राजपुरोहित, स्वाधीनता संग्राम में राजस्थान की आहूतियां, जोधपुर, 1991, पृ. 43
7. संपादक डॉ. नारायणसिंह भाटी, स्वतंत्रता आंदोलन की राजस्थानी प्रेरक रचनाएं, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1997, पृ. 72
8. पूर्वोक्त, पृ. 72, ज्वाला (साप्ताहिक) दिनांक 2 सितम्बर 1978 का अंक में प्रकाशित बी.एल. पानगड़िया-राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, 1985, पृ. 11
9. पूर्वोक्त, पृ. 74
10. पूर्वोक्त, पृ. 71
11. पूर्वोक्त, पृ. 76, गिरवरदान जी जोधपुर की जैतारण तहसील के निवासी थे।
12. संपादक डॉ. नारायणसिंह भाटी, स्वतंत्रता आंदोलन की राजस्थानी प्रेरक रचनाएं, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1997, पृ. 81
13. पूर्वोक्त, पृ. 82
14. जादूराम जी पांचेटिया गांव के निवासी थे और महाराजा मानसिंह के समकालीन थे।
15. संपादक प्रो. जहूरखां मेहर-चेतावणी रा चूंगटिया, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012, पृ. 8
16. संपादक डॉ. नारायणसिंह भाटी, स्वतंत्रता आंदोलन की राजस्थानी प्रेरक रचनाएं, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर, 1997, पृ. 171

## पूर्वी राजस्थान में गांधी युगीन चेतना तथा महिलाओं की सहभागिता

डॉ. स्मिता मिश्रा

गांधी चिंतन में किसी भी चुनौती अथवा समाज सुधार कार्यक्रम के लिये जन-भागीदारी तथा जन-सहमति अनिवार्य थी। जन-समर्थित सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया ही अंततः साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति तथा समाज सुधार कार्यक्रम को सफल बना सकती थी। गांधी की समाज सुधार की उपरोक्त दृष्टि को ध्यान में रखकर ही प्रजामंडल आंदोलनों ने पूर्वी राजस्थान में कांग्रेस की तरह समाज के विभिन्न वर्गों की (विशेषकर कमजोर समझे जाने वाले) जन-भागीदारी को बहुत महत्व दिया गया। इन आंदोलनों में व्यापक जन भागीदारी में द्विमुखी उद्देश्य पूरे हुए। प्रथम, प्रजामंडल आंदोलनों से बड़े पैमाने पर जनशक्ति के जुड़ने से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक शक्ति संगठित हुई। द्वितीय, बड़े पैमाने पर जन-सामान्य के एक लक्ष्य के लिये जुड़ने, मांगें प्रस्तुत करने, सभाओं का प्रतिनिधित्व करने, जेल जाने, प्रशासन की गलत नीतियों की निंदा करने, जुलूसों में सम्मिलित होने आदि के माध्यम से जन सामान्य में चेतना पैदा हुई। इस चेतना ने सामाजिक चिंतन को, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक पहलुओं पर अधिक शिक्षित, व्यवस्थित तथा रचनात्मक बनाया। 1938 में, पूर्वी राजस्थान में प्रजामंडलों तथा प्रजापरिषदों की स्थापना के साथ ही, महिलाओं को अपने जन आंदोलन से जोड़ने के प्रयास, गांधीवादी नेतृत्व का प्रमुख उद्देश्य रहा। उदाहरण के लिए अलवर राज्य में 1938 में प्रजामंडल की स्थापना के तुरंत बाद हुई बैठक की अध्यक्षता सुशीला देवी ने की थी।<sup>1</sup> इसी प्रकार अलवर राज्य में शिक्षण शुल्क के खिलाफ चले आंदोलन के सिलसिले में 22 जून 1938 की प्रजामंडल की एक सभा में सुशीला देवी ने अपने भाषण में महिलाओं को<sup>2</sup> राष्ट्रीय सामाजिक मुद्दों से जुड़ने का आह्वान किया। इसी प्रकार 15 मार्च, 1938<sup>3</sup> तथा 9 अप्रैल 1938<sup>4</sup> को पुरजन विहार में आयोजित जन सभाओं में भी सुशीला देवी ने शिक्षा के महत्व, खादी प्रचार तथा राष्ट्रीय उत्थान आदि विषयों पर अपने विचार रखे। 26 अक्टूबर 1938 को दिल्ली से अलवर पधारी पार्वती देवी ने ओजपूर्ण भाषण में अंग्रेजी सरकार की आर्थिक नीतियों की आलोचना तथा उत्तरदायी सरकार की मांग की।<sup>5</sup>

1 अक्टूबर 1941 को अलवर राज्य में विशाल खादी प्रदर्शनी के आयोजन के अवसर पर दिल्ली से सत्यवती देवी ने भाग लिया।<sup>6</sup> इस प्रदर्शनी के क्रम में चल रहे

आयोजनों में 25 सितम्बर 1941 को अलवर राज्य में खादी भंडार तथा महिला संघ का उद्घाटन सत्यवती देवी से कराया गया।<sup>7</sup>

उपरोक्त खादी प्रदर्शनी में वनस्थली विद्यापीठ से श्रीमती रतन शर्मा, 15 लड़कियों के साथ अलवर आई।<sup>8</sup> प्रदर्शनी के दौरान 2 अक्टूबर का दिन केवल महिलाओं को खादी प्रदर्शनी देखने के लिये रखा गया।<sup>9</sup> अलवर राज्य में ही 1946 को नारी जागृत संघ के तत्वावधान में प्रजामंडल नेताओं के साथ शंति देवी,<sup>10</sup> शोभा देवी<sup>11</sup> ने जागीरी क्षेत्र खेड़ा मंगलसिंह में प्रजामंडल नेताओं के साथ प्रभात फेरी निकाली तथा कैलाश बुर्ज पर सरकार के अत्याचारों के विरोध में सभा की। इस सभा में अलीगढ़ से आयी तारादेवी तथा जगरानी के भाषण हुए।<sup>12</sup>

8 फरवरी 1946 को सरकारी दमन चक्र के खिलाफ अलवर राज्य में आयोजित 'विरोध दिवस' के अवसर पर प्रजामंडल के जुलूस में महिलाओं तथा विद्यार्थियों की काफी भागीदारी थी। इस जुलूस में करीब 20-25 हजार व्यक्ति सम्मिलित थे।<sup>13</sup> अलवर प्रजामंडल के आर्थिक दृष्टि से सबल बनाने हेतु महिलाओं ने इस राज्य में अपने आभूषण देकर योगदान किया। 12 फरवरी 1946 को आम सभा में शोभाराम की पत्नी ने प्रजामंडल को अंगूठी भेंट की जिसे सदाराम हलवाई ने 600 रुपये में खरीद कर यह पैसा प्रजामंडल आंदोलन कोष के लिये दिया।<sup>14</sup> उक्त सभा में करीब 400-500 महिलायें थी।<sup>15</sup> इसमें कृपादयाल की पत्नी 11 रुपये तथा प्रेमप्यारी ने 11 रुपये दिये।<sup>16</sup> 23 अगस्त 1946 को प्रजामंडल द्वारा चलाये गये सत्याग्रह आंदोलन में काफी महिलायें गिरफ्तार हुईं। इनमें शांति गुप्ता, कमला जैन, उमा माथुर, कैलाशवती तथा कमला देवी प्रमुख थी।<sup>17</sup>

भरतपुर राज्य में भी महिलाओं की भूमिका प्रजामंडल आंदोलन में काफी उत्साहवर्द्धक थी। 9 अप्रैल 1939 को 'अल्टीमेटम दिवस' पर (प्रजामंडल भरतपुर के तत्वावधान में) त्रिवेणी देवी (पत्नी ठाकुर देशराज), भगवती मित्तल (पत्नी गौरीशंकर मित्तल) आदि गोकुल वर्मा के साथ तत्कालीन भरतपुर दीवान टोटनहेम से मिली।<sup>18</sup> 8 मई 1939 की जनसभा में त्रिवेणी देवी ने 'भरतपुर जागो' शीर्षक से कविता सुनायी।<sup>19</sup> 1939 में भरतपुर प्रजामंडल के पंजीकरण के लिये चल रहे भरतपुर राज्य में आंदोलन के दौरान 21 जून 1939 की आम सभा में शीला देवी, कृष्णा देवी तथा त्रिवेणी देवी अपने बच्चों के साथ पहुंची।<sup>20</sup> उक्त आंदोलन में सत्याग्रही जत्थों की भूमिका विशेष सराहनीय थी, जो प्रजामंडल के हक में, भरतपुर राज्य में जन भागीदारी दर्शाते थे। इस प्रकार के कई सत्याग्रही जत्थे महिलाओं द्वारा भी तैयार किये गये। उदाहरण के लिये 21 जुलाई 1939 के सत्याग्रह जत्थे में चमेली देवी, सत्यवती, अशरफी तथा रतन देवी आदि ने भाग लिया। उपरोक्त जत्थे को मुख्य बाजार से गुजरते वक्त प्रशासन द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। इन महिलाओं के साथ<sup>21</sup> छोटे बच्चे भी थे जिन्हें उनकी माताओं के साथ कैद रखा गया। जुलाई के अंत में, उपरोक्त गिरफ्तार महिलाओं को 'गर्ल्स स्कूल' भरतपुर से

‘सेवार जेल’ में स्थानांतरित कर दिया गया तथा उनके साथ कैद बच्चों को अनाथालय भेज दिया गया।<sup>22</sup> महिलाओं का इसी प्रकार का एक सत्याग्रही जत्था, भरतपुर राज्य में 2 अक्टूबर 1939 को रवाना हुआ जिसमें भौती देवी, प्रीतम कौर, चमेली देवी तथा चिरंजी आदि स्त्रियों थीं। शहर के मुख्य बाजार से गुजरते वक्त बासन दरवाजे पर उक्त सत्याग्रही महिला जत्थे को गिरफ्तार कर लिया गया।<sup>23</sup> महिलाओं के बढ़ते उत्साह को देखते हुए भरतपुर राज्य में सौंख नामक स्थान पर 1939 में सत्याग्रहियों के लिये चल रहे प्रशिक्षण शिविर में महिला सत्याग्रहियों के प्रशिक्षणार्थ अलग शाखा खोली गई।<sup>24</sup> भरतपुर राज्य में 1940 में दिल्ली में आयोजित 6 अखिल भारतीय महिला कांग्रेस में कुछ महिलायें भाग लेने पहुंची।

उक्त कांग्रेस से महिलाओं के अधिकारों के प्रति सजग होकर लौटी स्त्रियों ने भरतपुर राज्य की अन्य स्त्रियों को भी उनके अधिकारों के प्रति सजग किया।<sup>25</sup>

1941 में 17 तथा 18 मई को भरतपुर राज्य में कुम्हरे नामक स्थान पर प्रथम राजनीतिक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में महिलाओं की सभा भी हुई जिसमें सत्यवती देवी तथा प्रियवंदा चतुर्वेदी आदि ने पर्दा प्रथा समाप्ति, महिला शिक्षा एवं महिलाओं की राष्ट्रीय हित में सामाजिक भागीदारी आदि विषयों पर महिलाओं के साथ मिलकर विचार-विमर्श किया।<sup>26</sup> इसी प्रकार 20-21 मार्च, 1941 को भरतपुर राज्य के बयाना में आयोजित राजनीतिक सम्मेलन में भी ‘महिला कांग्रेस’ अलग से रखी गई। सरस्वती बोहरा की अध्यक्षता में दो दिवसीय इस महिला कांग्रेस में महिलाओं की राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भागीदारी पर विचार-विमर्श हुआ।<sup>27</sup> 1942 के ‘भारत छोड़ो’ आंदोलन की लहर से भरतपुर राज्य भी प्रभावित हुआ। आंदोलन के दौरान 13 अगस्त 1942 को भरतपुर शहर में आयोजित जन सभा में सरस्वती देवी अध्यक्ष रही। इस जन सभा में शांति देवी का सामाजिक विभेदों को दूर कर, स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ने से सम्बन्धित महत्वपूर्ण भाषण हुआ।<sup>28</sup> 2 सितम्बर 1942 में भरतपुर शहर में लक्ष्मण मंदिर पर आयोजित जनसभा में शांति देवी किरण देवी ने भाग लिया। इस सभा में कुम्हरे में जेल सत्याग्रहियों की खराब स्थिति पर चिंता जतायी गयी।<sup>29</sup> 8 सितम्बर 1942 को भरतपुर शहर में आर्य समाज स्कूल की प्रधानाध्यापिका शांतिदेवी ने अपने पद से त्यागपत्र देकर, भरतपुर प्रजापरिषद के नेतृत्व में चल रहे सत्याग्रह आंदोलन से पूरी तरह जुड़ने का ऐलान किया।<sup>30</sup> इसी क्रम में 12 सितम्बर 1942 को भरतपुर शहर में कुछ माली व कोली जाति की महिलाओं ने ब्रिटिश राज्य के प्रति वफादार हिन्दुस्तानियों को धिक्कारते हुए नारे लगाये गये एवं जुलूस निकाला।<sup>31</sup> भरतपुर राज्य में ही बयाना नामक स्थान पर 19 सितम्बर 1942 को 15 महिलाओं का एक जत्था सड़कों पर राष्ट्रभक्ति के गीत गाता हुआ गुजरा।<sup>32</sup> 18-19 जून 1944 को भरतपुर में कुम्हरे नामक स्थान पर स्त्रियों के लिये अपर्याप्त शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाओं तथा उनकी दयनीय स्थिति पर, भरतपुर प्रजापरिषद द्वारा आयोजित राजनीतिक सम्मेलन में चर्चा की गयी। स्त्रियों के

हकों एवं अधिकारों के लिये इस सम्मेलन में प्रस्ताव भी पारित किये गये।<sup>33</sup> 1947 में भरतपुर में ‘बेगार विरोधी आंदोलन’ के दौरान भी उक्त राज्य की महिलाओं की सक्रिय भूमिका रही। 15 जनवरी 1947 को इस आंदोलन के दौरान राज्य में आयोजित ‘धरने’ में पुलिस लाठी चार्ज में पुरुषों के अतिरिक्त तीन महिलायें भी घायल हुईं।<sup>34</sup>

पूर्वी राजस्थान में गांधी युगीन चेतना तथा महिलाओं की सहभागिता बहुआयामी थी। संक्षेप में इस सहभागिता को निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है—

प्रथम, पूर्वी राजस्थान में महिलाओं ने प्रजामंडलों तथा प्रजापरिषदों के नेतृत्व में आयोजित सभाओं में अध्यक्षता से लेकर सत्याग्रह, जुलूसों तथा धरनों आदि में भाग लेकर महिला सहभागिता के विस्तृत एवं बहुआयामी भूमिका को इतिहास में अंकित किया। उदाहरण चाहे अलवर राज्य में सुशीला देवी द्वारा प्रजामंडल की अध्यक्षता का हो या भरतपुर राज्य में महिला कांग्रेस की अध्यक्षता सरस्वती बोहरा के द्वारा हो इस बात के उदाहरण हैं कि महिलाओं की इन राज्यों में सक्रिय भागीदारी रही।

द्वितीय, विभिन्न जन आंदोलनों में महिलाओं की पूर्वी राजस्थान में सक्रिय भागीदारी दिखाई देती है। बात चाहे जेल जाने की हो या अन्याय के खिलाफ खड़े होने की, महिलाओं ने पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर अपनी उपस्थिति दर्ज की।

तृतीय, पूर्वी राजस्थान में महिला सहभागिता में आनुपातिक रूप से मध्यम वर्ग की महिलाओं का प्रतिनिधित्व अधिक था किन्तु निम्न वर्ग की महिलाओं की भूमिका भी उल्लेखनीय रही। विशेषकर 1942 में कुछ माली, कोली जाति की महिलाओं द्वारा ब्रिटिश वफादार हिन्दुस्तानियों के विरोध में जुलूस निकालकर नारे लगाये।

चतुर्थ, महिलायें पूरी संवेदनशीलता के साथ राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी जिसमें प्रजामंडल को आभूषण देकर तथा अपनी छोटी-छोटी जमा पूंजी देकर अपनी विशिष्ट सहभागिता प्रदर्शित की।

पंचम, पूर्वी राजस्थान में, राजस्थान तथा राजस्थान के बाहर देश के अन्य हिस्सों की महिलाओं से भी समर्थन एवं सहयोग प्राप्त हुआ। अलवर राज्य में दिल्ली, अलीगढ़ तथा वनस्थली विद्यापीठ से महिलाएं आयी तथा सामाजिक जनजागृति व महिला चेतना को विकसित करने में मदद की। दूसरी तरफ 1940 में दिल्ली में आयोजित ‘अखिल भारतीय महिला कांग्रेस’ में भरतपुर राज्य से कुछ महिलायें भाग लेने पहुंची।

षष्ठम, पूर्वी राजस्थान में महिलाओं ने सामाजिक विभेदों को दूर करने, रचनात्मक कार्यक्रम जैसे—खादी, दलितोद्धार, बेगार विरोध तथा महिलाओं में जागृति लाने, जागीरी क्षेत्रों में अत्याचार जैसे मुद्दों पर अपनी सहभागिता सक्रिय रूप से प्रदर्शित की।

सप्तम, पूर्वी राजस्थान में महिलाओं की सहभागिता का एक अन्य पहलू उनकी संगठनात्मक शक्ति के रूप में भी पता चलता है। जैसे यहां महिला संघ, नारी जागृत संघ, महिला सत्याग्रही जत्थे, महिला कांग्रेस आदि के रूप में उनकी सक्रिय भागीदारी प्रकट

होती है।

इस प्रकार पूर्वी राजस्थान में गांधी युगीन चेतना ने महिलाओं को राष्ट्रीय आंदोलन, समाज सुधार एवं स्थानीय मुद्दों से जोड़कर उनकी भागीदारी सुनिश्चित की।

### सन्दर्भ

- तेज प्रताप, 18 मई 1938, रा.रा.अभि. अलवर में सुशीला देवी प्रसिद्ध कांग्रेस कार्यकर्ता लक्ष्मण स्वरूप त्रिपाठी की पत्नी थी।
- यादव कमल, देशी रियासतों में राजनैतिक चेतना और जन आंदोलन, पृ. 108, रिटु पब्लिकेशन्स, जयपुर 1998
- फा.नं. 8-एस-121, पृ. 92, सी.आई.डी. डायरी दिनांक 17 मार्च 1938, रा.रा.अभि. अलवर
- वही फाइल, पृ. 100 सी.आई.डी. डायरी, रा.रा.अभि. अलवर
- पूर्वोक्त फाइल, पृ. 392, सी.आई.डी. डायरी, रा.रा.अभि. अलवर
- फा.नं. 28/बी.के.-292, रा.रा.अभि. अलवर
- पूर्वोक्त फाइल, पृ. 295, रा.रा.अभि. अलवर
- गुप्ता, शोभाराम, गांधीजी और राजस्थान, राजस्थान राज्य गांधी स्मारक निधि, भीलवाड़ा, 1983, पृ. 309
- फा.नं. 28/बी.के.-295, रा.रा.अभि. अलवर
- शांतिदेवी अलवर राज्य में स्वतंत्रता सेनानी लाला काशीराम की सबसे बड़ी पुत्री थी।
- शोभा देवी अलवर राज्य में स्वतंत्रता सेनानी पृथ्वीराज भार्गव एडवोकेट की पुत्री थी।
- फा.नं. 34-एल/पी/46, पृ. 119, रा.रा.अभि. अलवर
- पूर्वोक्त फाइल, पृ. 129, रा.रा.अभि. अलवर
- फा.नं. 43-एल/पी/46, पृ. 273, रा.रा.अभि. अलवर
- पूर्वोक्त फाइल, पृ. 270, रा.रा.अभि. अलवर
- अलवर पत्रिका, दिनांक 16 फरवरी 1946, पृ. 5, रा.रा.अभि. अलवर
- (1) फा.नं. 15/178/ए, रामचन्द्र उपाध्याय से साक्षात्कार, रा.रा.अभि. अलवर  
(2) यादव, कमल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 163
- भरतपुर मूवमेंट, ग्रुप बी, फाइल नं. 3, रिचर्ड टोटनहेम टू थॉम्पसन दिनांक 26 जून 1939, पृ. 163, रा.रा.अभि. बीकानेर
- आई.एन.सी. मूवमेंट इन भरतपुर स्टेट 20 मई से 30 मई 1939 तक दिनांक 9 तथा 11 मई 1939, पृ. 285-286, ग्रुप बी नं. 2, रा.रा.अभि. बीकानेर
- आई.एन.सी. भरतपुर मूवमेंट ग्रुप बी पार्ट-3 फा.नं. 3, सीक्रेट पुलिस रिपोर्ट्स, पृ. 404-424, रा.रा.अभि. बीकानेर

- मिश्रा, एस.सी., नेशनल मूवमेंट इन ए प्रिंसली स्टेट, पोइन्टर पब्लिकेशंस, जयपुर, 1993
- पेपर्स कटिंग्स फाइल 44/1939, पृ. 4, रा.रा.अभि. बीकानेर
- वही
- आई.एन.सी. भरतपुर मूवमेंट फा.नं. 3, एम.सी. सीक्रेट दिनांक 12-10-1939, रा.रा.अभि. बीकानेर
- महकमा खास, फा.नं. सी-4, बी-7, द नेशनल कॉल, दिल्ली दिनांक 23 जनवरी 1940, पृ. 59, रा.रा.अभि. बीकानेर
- वही फाइल, वीर अर्जुन, दिल्ली, दिनांक 23-5-1941, रा.रा.अभि. बीकानेर
- आई.एन.सी. मूवमेंट फाइल नं. 9/बी ग्रुप बी कान्फीडेन्शियल, आई.एन./126, 13वीं वीकली रिपोर्ट दिनांक 29-3-1941, पृ. 126-127, रा.रा.अभि. बीकानेर
- भरतपुर प्रजापरिषद मूवमेंट सी-2, 66 नं. 50/बी, एम.सी. सीक्रेट रिपोर्ट, पृ. 407 से 451, रा.रा.अभि. बीकानेर
- भरतपुर मूवमेंट, फा.नं. 501/बी, एम.सी. सीक्रेट रिपोर्ट, दिनांक 4-9-1942, पृ. 557-581, रा.रा.अभि. बीकानेर
- वही फाइल, एम.सी. सीक्रेट रिपोर्ट दिनांक 11-9-1942, पृ. 590-628, रा.रा.अभि. बीकानेर
- उपरोक्त फाइल पृ. 649-65, रा.रा.अभि. बीकानेर
- वही फाइल, पृ. 735-748, रा.रा.अभि. बीकानेर
- भरतपुर स्टेट कान्फीडेन्शियल ग्रुप ए-461 बी, एम.सी. सीक्रेट भेंट कुम्हेर के राजनैतिक सम्मेलन पर दिनांक 24 जून 1944, पृ. 1561, रा.रा.अभि. बीकानेर
- मिश्रा, एम.सी., वही पुस्तक, पृ. 219

## अलवर राज्य की स्वाधीनता आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका

सोनल मीणा

जयपुर राज्य के ढाई गांव के जागीरदार रावराजा प्रतापसिंह नरूका ने 1775 ई. में अलवर रियासत की स्थापना की थी। उनके उत्तराधिकारी नरेश बख्तावर सिंह ने 1803 ई. में अंग्रेजों से सन्धि करके, अंग्रेज सत्ता के बढ़ते वर्चस्व को स्वीकार कर लिया था हालांकि इस संधि से नरेश को राजकाज चलाने की स्वतंत्रता थी किन्तु 16 जुलाई 1811 ई. को दूसरी संधि में अलवर नरेश को यह स्वीकार करना पड़ा कि वे अंग्रेजी शासन की सहमति के बिना किन्हीं अन्य राज्यों से राजनीतिक व्यवहार नहीं रख सकता था। इस प्रकार अंग्रेजी शासन अब देशी रियासतों पर हावी होने लगा था।

ऐसी परिस्थितियों में साधारण-जन को तिहरी गुलामी झेलनी पड़ी थी। एक गुलामी राजा महारराजा की थी तथा दूसरी अंग्रेज रेजीडेंट की और उसके माध्यम से अंग्रेजी-सरकार की। जागीरदारी क्षेत्र में तीसरी गुलामी सामन्त-जागीरदार की। 1920 ई. में विजयसिंह पथिक ने अजमेर में राजस्थान सेवा संघ की स्थापना की जिसका उद्देश्य रियासतों में सुधार एवं जागृति लाना था। 1920 ई. में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने रियासतों में लोकप्रिय शासन की मांग की थी। गांधीजी ने ये भी स्पष्ट कर दिया था कि कांग्रेस देशी रियासतों को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहती है, वह सुधार चाहती है। 1938 ई. में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में रियासतों में प्रजामण्डल की स्थापना पर बल दिया। कांग्रेस ने यह भी कहा कि वह रियासतों में उनके संघर्ष में सहयोग देना शुरू करेगी। अलवर में प्रजामण्डल की स्थापना के प्रयास 1937 ई. में हुए। इसके प्रमुख कार्यकर्ता डॉ. मोहम्मद अली, रामजीलाल, सालिग राम और अब्दुल गफ्फार जमाली का उल्लेख मिलता है।<sup>1</sup> उनका उद्देश्य था रियासत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना, सामाजिक और आर्थिक सुधार लाना तथा मजहबी व साम्प्रदायिक मामलों से दूर रहना। 10 मई 1938 को अलवर प्रजामण्डल की स्थापना हुई जिसकी अध्यक्षता सुशीला देवी ने की। प्रजामण्डल ने स्थापना के बाद से ही जनविरोधी नीतियों का विरोध करना प्रारंभ कर दिया था। राज्य ने उसी वर्ष सरकारी पाठशालाओं में फीस वृद्धि की। प्रजामण्डल ने इस वृद्धि का विरोध किया और आन्दोलन छेड़ दिया।<sup>2</sup> 18 जून 1938 को जयनारायण व्यास अलवर आये। उन्होंने इस शिक्षण शुल्क वृद्धि का विरोध किया और कहा कि नगर पालिका में 5 लाख साल करों से आमदनी होती है। इससे पहले तीन पैसा प्रति रुपये के

हिसाब से शिक्षा पर लगान के साथ कर लिया जाता है। ऐसी स्थिति में फीस लेना अनुचित है।

अन्जुमन खादीमुल-इस्लाम जैसी संस्था ने भी सरकार के इस कदम की आलोचना की। सुशीला देवी ने महिलाओं को भी आगे आने के लिए प्रेरित किया। उनके नेतृत्व में छात्रों ने अलवर में हड़ताल कर दी। महिलायें उन्हीं की प्रेरणा से ही इस संघर्ष में आगे आईं। महाराजा के पुत्र जन्मोत्सव पर जनता ने बधाई संदेश में इस शुल्क को समाप्त करने की मांग की जिसका महाराजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सरकार ने 29 जून 1938 को सेडिशियस मीटिंग्स एण्ड पब्लिकेशन एक्ट 1921 के अन्तर्गत प्रमुख कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इन कार्यकर्ताओं को जेलों में अपमानित किया गया और न ही इन्हें अपने वकील से मिलने दिया गया। रामनारायण चौधरी ने भी इस संदर्भ में इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस से बात की लेकिन उन्हें प्रत्युत्तर यह मिला कि ये खुली अदालत में ले जाने लायक नहीं है, क्योंकि ये राष्ट्रीय भावना के गीत गाते हैं। 18 जुलाई को इसके बाद का फैसला हो गया जिसमें अधिकांश व्यक्तियों को दो साल की कैद व बाँण्ड भरवाने के आदेश दिये। सरकार ने दमन चक्र को मजबूत करने के लिए विद्यार्थियों व उनके संरक्षकों से बाँण्ड भरवाये जिसमें लिखा था कि “अगर कोई छात्र राजनीति में भाग लेगा तो उसके संरक्षक जिम्मेदार होंगे।

यह आन्दोलन सुशीला देवी, रामचन्द्र उपाध्याय व मास्टर भोलानाथ के नेतृत्व में चलता रहा। कांग्रेस ने भी सजा में कुछ रियायत देने की मांग की।

श्रीमती कौशल्या देवी ने जागीरदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। उनका विवाह अप्रैल 1940 में पंडित श्रवणलाल के सुपुत्र श्री अनन्तराम के साथ सम्पन्न हुआ। जागीरदारों द्वारा महिलाओं से बेगार ली जाती और उन्हें काम के बदले पैसे देना तो दूर उन्हें भूखे पेट ही दिन भर काम करने के कारण कौशल्या देवी को भारी मानसिक वेदना होती थी। उनके पति भी सामन्ती शासन के विरोधी एवं अंग्रेजों के विरोधी थे। वे गांव-गांव घूमकर प्रजामण्डल के कार्यकर्ताओं के रूप में जागीर विरोधी एवं सामन्ती शासन विरोधी प्रचार किया करते थे। कौशल्या देवी जी ने महिलाओं को जागीरी जुल्मों के विरोध में संगठित करना प्रारंभ किया जिसके परिणामस्वरूप इनके ससुराल पक्ष ने इन्हें अपने पीहर टोडानगर भेज दिया। इन्होंने वहां जाकर भी जागीरदारों के अत्याचारों के विरोध में आम लोगों को संगठित करना शुरू किया। इनके पति को भी जागीरदारों ने ग्राम छोड़ने पर विवश कर दिया। आखिरकार कौशल्या देवी व इनके पति अलवर के पास आकर रहने लगे। इस मकान में रहने वाले सभी पुरुष-महिलाओं का काम एक ही प्रकार से विदेशी शासन और सामन्ती सत्ता के जुल्मों के विरोध में वातावरण तैयार करना था। ये भी श्रीमती शांति गोठडिया, रामेश्वरी देवी, रामप्यारी आदि के साथ जलसे जुलूसों में भाग लेने लगी।<sup>3</sup>

दिल्ली कांग्रेस कमेटी की सलाह पर अलवर में 9 जनवरी को “चाइना-डे” मनाया गया। इसी दिन चीन के हाथ लोगों की मदद के लिए चन्दा इकट्ठा करने का अभियान प्रारंभ किया गया। आम लोगों में जागृति लाने के लिए कांग्रेस ने धार्मिक उत्सवों का भी सहारा लिया। 15 मार्च 1938 को पुरजन विहार में धार्मिक व सामाजिक भावना पर आधारित सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता सुशीला देवी ने की। इस सभा में सरकार के अत्याचारों का उल्लेख किया गया। जनता में एकता की भावना को जागृत करने का प्रयास किया गया। शिक्षा के महत्व को और खादी के प्रचार पर भी जोर दिया गया। अभी तक सरकार ने प्रजामण्डल का रजिस्ट्रेशन नहीं किया था। प्रजामण्डल पर अंकुश रखने के लिए उसने जनवरी 1939 को "The Alwar Registration of Public Association Act of 1939" पार कर दिया।<sup>4</sup>

सरकार चाहती थी कि प्रजामण्डल अपना उद्देश्य परिवर्तित कर दे तथा अब उसका उद्देश्य “उत्तरदायी शासन के बजाय जनता व शासन में प्रगतिशील सहयोग रहे।” जयनारायण व्यास ने भी प्रजामण्डल के शीघ्र रजिस्ट्रेशन पर बल दिया। रामनारायण चौधरी व हरिभाऊ के समझाने पर प्रजामण्डल ने अपने उद्देश्य में परिवर्तन किया। सरकार ने प्रजामण्डल के समक्ष शर्त रखी कि प्रजामण्डल का राज्य के बाहर की किसी राजनैतिक संस्था के साथ संबंध नहीं होगा, प्रजामण्डल किसी राजनैतिक झंडे का प्रयोग नहीं करेगा, प्रजामण्डल का उद्देश्य शांतिमय और कानूनी साधनों द्वारा राज्य के शासन के साथ लोगों का प्रगतिशील सहयोग हासिल करना होगा। अलवर सरकार ने 1 अगस्त 1940 को अलवर राज्य प्रजामण्डल का रजिस्ट्रेशन कर दिया किन्तु वास्तव में अलवर प्रजामण्डल का कार्यक्षेत्र वैसा ही बना रहा।

अगस्त 1942 में भारत के अधिकांश भागों में भारत छोड़ो आन्दोलन की गतिविधियां आरम्भ हुईं। बिहार उत्तर प्रदेश में टेलिफोन के तार तोड़ दिये गये, रेलवे स्टेशन पर डाकघरों पर हमले किये। बिजली के तार व खंभे तोड़ दिये गये। महात्मा गांधी ने रियासतों के प्रजामण्डल के नेताओं को कहा था कि इस संघर्ष का नारा होगा—“अंग्रेजों भारत छोड़ो” और रियासतों में नारा होगा “राजाओं अंग्रेजों का साथ छोड़ो”। अलवर में भी इस आन्दोलन का प्रभाव रहा। रामचन्द्र उपाध्याय, कृपा दयाल माथुर व शोभा राम अपनी अपनी वकालत छोड़ कर इस आन्दोलन की गतिविधियों में शामिल हो गये।

इस आन्दोलन में श्रीमती गंगा देवी डाटा ने महत्वपूर्ण भागीदारी की। श्रीमती गंगा देवी डाटा प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी श्री शान्तिस्वरूप डाटा की धर्मपत्नी थी। अलवर रियासत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए महिलाओं को जागृत करने में इनकी अहम भूमिका थी। श्रीमती शोभा भार्गव, उमाजी माथुर, कमलाजी जैन, कलावती जी और रामप्यारी जी आदि देशभक्त महिलाओं के साथ इन्होंने महिला मण्डल का गठन किया जिसका उद्देश्य भारत छोड़ो आन्दोलन के लिए धरना प्रदर्शन, जुलूस तथा तिरंगा झण्डा फहराना था। गंगादेवी ने पर्दा प्रथा तथा बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों के

विरोध में भी आवाज उठाई।<sup>5</sup>

श्रीमती रामप्यारी देवी जी का विवाह देशभक्त बाबू शोभाराम के साथ हुआ। 1943 ई. में बाबू शोभाराम वकालत छोड़कर राजनीति में सक्रिय हो जाने पर इन्होंने विषम परिस्थितियों में परिवार का भरण पोषण किया। पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ ये चरखा संघ, महिला शिक्षा तथा राजनीतिक क्रियाकलापों में भाग लेती रही।<sup>6</sup> इसी प्रकार कलावती शर्मा का योगदान भी अविस्मरणीय है। इन्होंने अल्पायु से ही छात्र-छात्राओं के साथ मिलकर प्रजामंडल के कार्यक्रमों में भाग लेना प्रारंभ कर दिया था। 1942 के आन्दोलन में इन्होंने भूमिगत रहकर कार्य किया। इनके प्रमुख केन्द्र मुण्डावर और खैरथल थे। इन्होंने एक स्थान से दूसरे स्थान पर पच्चे बांटना, पोस्टर लगाना तथा क्रान्तिकारियों तक गुप्त संदेश पहुंचाने जैसे कार्य किये थे। महिलाओं में इनकी प्रमुख सहयोगी श्रीमती शान्ति गुप्ता, जगरानी, ओमकार, रमादेवी पांडे, शान्ति गोठडिया, श्रीमती रूकमणी देवी, कमलेश शर्मा, कमला डाटा, कमला जैन व विमला शर्मा प्रमुख थी सत्याग्रही महिलाओं को पकड़ने के लिए सरकार की तरफ से न तो कोई विशेष जेल बनाई गई थी न ही कोई महिला पुलिस की व्यवस्था की गई थी। इसलिए सरकार इन्हें ट्रकों में भरकर दूर दराज के जंगलों में छोड़ आती थी। जहां प्रजामंडल के ट्रक पीछे पीछे जाते हुए इन्हें वापिस ले आते थे और पुनः सत्याग्रह में शरीक हो जाती थी। इन पर धारा 144 तोड़ने पर लाठी चार्ज भी हुआ था। श्रीमती शान्ति गोठडिया ने भी भारत छोड़ो आन्दोलन में महत्वपूर्ण भागीदारी की। इन्होंने 1943 में रामगढ़ में प्रजामण्डल की एक सभा में मंच पर खड़े होकर पर्दा त्याग की घोषणा की। तत्कालीन समय में यह एक बहुत बड़ी घटना थी क्योंकि परम्परागत समाज में ऐसी घोषणा क्रान्तिकारी मानी गयी। इन्हें पारिवारिक विरोध का भी सामना करना पड़ा।

सुश्री उमा माथुर ने भी इस आन्दोलन में भागीदारी की इनका जन्म 1 नवम्बर 1929 को तिजारा में हुआ था और इनकी आयु भारत छोड़ो आन्दोलन के समय मात्र 13 वर्ष थी। ये रेल तथा तार व टेलिफोन के तार काटने में प्लास आदि पकड़ने का कार्य किया करती थी। इनको पोटेसियम परमैंगनेट और ग्लिसरीन दी गई, जिसको पोटली या कागज में लपेट कर लैटर बक्सों में आग लगाई, पोस्टर पैम्पलेट आदि भी इन्होंने चिपकाये। इन्होंने न केवल राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी की बल्कि सामाजिक कुरीतियों को रोकने का भी प्रयास किया। इन्होंने अनमेल विवाह रूकवाया, जिसके एक अथेड उम्र के पुरुष के साथ एक अल्पायु की लड़की का विवाह हो रहा था। इसी प्रकार एक युवा मुस्लिम महिला की एक अल्पायु के साथ होने वाले विवाह को भी रूकवाया।<sup>7</sup>

1942 के आन्दोलन में एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना यह हुई कि महादेव देसाई जो प्रजामण्डल के प्रमुख कार्यकर्ता थे उनकी मृत्यु हो गई। इस घटना का अलवर की जनता को प्रबल आघात लगा। 17 अगस्त को हड़ताल का आयोजन किया गया जिसमें सारे स्कूल व कॉलेज बन्द करवा दिये गये। विद्यार्थियों में भी इस आंदोलन को लेकर बहुत

उत्साह था। अपनी परीक्षा की उत्तरपुस्तिका में भी छात्रों ने “वन्देमातरम्” अंग्रेजों भारत छोड़ो व भारत स्वतंत्र हो आदि नारों को लिखा था। प्रजामण्डल के नेताओं ने अपने भाषणों के माध्यम से आजादी की भावना को बढ़ाया था।

सन् 1943 ई. में प्रजामण्डल ने महात्मा गांधी का जन्मोत्सव अलवर के विभिन्न भागों में मनाया इसका उद्देश्य था जनता में राष्ट्रीय भावना का प्रसार करना वर्तमान राजनीतिक स्थिति से जनता को अवगत कराना, खादी को प्रोत्साहन देना व हरिजनोत्थान का प्रयास करना था। इस प्रकार प्रजामण्डल कार्यकर्ताओं, अलवर की जनता व वहां की महिलाओं ने 1943 तक योगदान दिया। किन्तु यह संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ था। अगस्त 1946 में अलवर प्रजामण्डल ने “गैर जिम्मेदार मिनिस्ट्रों कुर्सी छोड़ो” आन्दोलन आरंभ किया। इसकी तैयारियों में कार्यकर्ताओं को निर्देश दिये गये कि आन्दोलन को प्रारंभ करने के लिए तहसील केन्द्रों पर प्रदर्शन जुलूस निकालने का कार्य कार्यकर्ता अपने स्तर पर करें।<sup>1</sup> अलवर में विभिन्न स्थानों पर “गैर जिम्मेदार मिनिस्ट्रों कुर्सी छोड़ो” के स्टैंसिल कटवा कर रामगढ़ पहुंचे। रातभर दीवारों पर उन्हें चिपकाया गया। महिलाएँ भी इस आन्दोलन में आगे रही। सुश्री उमा माथुर ने विभिन्न पैम्पलेट आदि चिपकाये तथा सिगरेट के टिन के डिब्बों में चूड़िया रखकर अफसरों के मकानों पर चुपके से रख आती। सत्याग्रह के लिए इन्होंने महिलाओं को एकत्रित किया। उमा माथुर के समान रमा बाई देश पाण्डे, कलावती शर्मा, शांतिगुप्ता, उमा माथुर, शोभा भार्गव, कमला डाटा, कमला जैन, रामेश्वरी देवी आदि के साथ सत्याग्रह में खुलकर भाग लिया। श्रीमती विमला देवी का इस आन्दोलन को महत्वपूर्ण योगदान रहा। चूंकि उस समय में अलवर की जेल में न तो महिलाओं को रखने की न ही महिला पुलिस की व्यवस्था थी। इन्हें अन्य महिलाओं के साथ ट्रक में भरकर 8-10 किलोमीटर दूर जंगलों में छोड़ दिया जाता था। जहां से वापिस आने के लिए वाहन व्यवस्था न होने पर कई बार पैदल ही अलवर आना पड़ा। कभी कभी पुलिस से छिपकर इनकी सहयोगी महिलाएं इनके घर पर भी छिप जाती थी। इनकी इन गतिविधियों के कारण इनके परिवार के अन्य सदस्यों को पुलिस की यातनाओं का शिकार होना पड़ता।

इस प्रकार महिलाओं ने आजादी के लिए संघर्ष में कदम कदम पर भागीदारी की। गांधीजी का भी मानना था कि आन्दोलन में उनके महत्वपूर्ण योगदान की आवश्यकता है। जब महिलायें सत्याग्रह आन्दोलन में शामिल होगी तभी पुरुष भी आन्दोलन में पूरा योगदान दे पायेंगे। गांधीजी के इन विचारों को व्यवहारिक रूप देने में महिलाओं ने तन-तन-धन से योगदान दिया।

### संदर्भ

1. बी.एल. पानगडिया, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, प्रकाशक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1985, पृ. 103
2. यादव, कमल, देशी रियासतों में राजनैतिक चेतना और जन आन्दोलन, रितु पब्लिकेशन्स,

जयपुर, 1998, पृ. 105

3. पानगडिया, बी.एल., राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2007, पृ. 65
4. सैनी हरिनारायण, आजादी का आन्दोलन और अलवर, प्रकाशक अलवर जिला स्वाधिनता स्वर्ण जयंती समारोह समिति, 1998, पृ. 221
5. फा.नं. 162/सी/142/39, पृ. 26, रा.रा. अलवर
6. राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में आयोजित प्रदर्शनी राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में आयोजित स्वतंत्रता सेनानियों पर आयोजित प्रदर्शनी।
7. सैनी हरिनारायण, आजादी का आन्दोलन और अलवर, अलवर जिला स्वाधीनजा स्वर्ण जयंती समारोह समिति, 1998, पृ. 218
8. वही, पृ. 126

## महिला सशक्तीकरण

डॉ. उर्मिला शर्मा

राजस्थान में पुनर्जागरण एवं जनजागृति का दौर बिजोलिया किसान आन्दोलन से प्रारम्भ हुआ। इस समय सर्वप्रथम जो जागृति महिलाओं में आई उसे बिजोलिया किसान आन्दोलन में देखा गया।<sup>1</sup> राजस्थान के सन्दर्भ में महिलाओं को जागृत करने के कार्य पर दृष्टिपात करने पर महिलाओं को जागृत करने में सबसे पहले जो नाम लिया जाता है वह है विजयसिंह पथिक।<sup>1</sup> पथिक 1917 ई. में हुए किसान आन्दोलन को प्रारम्भ करने वाले व्यक्तियों में से एक थे। उनके विचार थे कि किसान आन्दोलन की सफलता के लिए महिलाओं में भी जागृति उत्पन्न होना आवश्यक है। पहली बार पथिक जी ने अनुभव किया कि किसी भी कार्य को पूर्णता के साथ अंजाम तक पहुंचाने के लिए महिलाओं का साथ होना आवश्यक है। यानी इस प्रकार यह बात तो स्पष्ट है कि विकास में महिला उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है जितना कि पुरुष। इस प्रकार महिला जागृति के प्रणेता विजयसिंह पथिक की सोच थी कि महिला दृढ़ नहीं रही तो पुरुष पूरी ताकत लगा कर अपने कार्य को अंजाम नहीं दे पाएगा। उन्होंने पहली बार जनसभाओं में महिलाओं की उपस्थिति को प्रेरित किया। परिणाम स्वरूप महिलाएं आन्दोलन का हिस्सा बनने लगी और बड़ी संख्या में महिलाएं उनकी जनसभाओं में जाने लगी। उन्होंने महिलाओं को जागरूक करने के लिए गीतों की रचना की। महिलाएं बड़े उत्साह से पथिकजी द्वारा रचे गये गीतों को गा-गा कर आन्दोलन में हिस्सा लेती थी। महिलाओं को जागृत करने का श्रेय पथिकजी को जाता है। 1917 ई. में यह आन्दोलन माणिक्यलाल वर्मा व साधु सीताराम के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी रही। राजस्थान में स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए पृष्ठभूमि इसी किसान आन्दोलन ने तैयार की। यह आन्दोलन जो कि जागीरदारों के खिलाफ था देखते ही देखते इस आन्दोलन ने अंग्रेजों के खिलाफ जनआन्दोलन का रूप ले लिया।<sup>2</sup> महिला जागृति के परिणाम स्वरूप 1918 ई. में महिलाओं ने बेगार देना बन्द कर दिया।<sup>3</sup> बिजोलिया की आन्दोलनकर्ता किसान महिलाओं से प्रेरणा लेकर मेवाड़ के पारसोली, अमरगढ़ व बेगू की कृषक महिलाओं ने भी आन्दोलन में भाग लिया। चूंकि यह आन्दोलन केवल बिजोलिया तक ही सीमित नहीं रहा इसका प्रभाव मेवाड़ की उन जागीरों पर भी पड़ा जिसके कारण यहां भी आन्दोलन में पुरुषों के साथ-साथ महिलाएं हिस्सा लेने लगी।

असंख्य महिलाएं अनेकों अत्याचार सहते हुए आन्दोलन में हिस्सा लेती रही।<sup>4</sup> अमरगढ़ में श्री राजनारायण चौधरी की पत्नी श्रीमती अंजना चौधरी महिला आन्दोलनकर्ता

के रूप में मुख्य भूमिका में देखने को मिलती है।<sup>5</sup> मेवाड़ का प्रथम ठिकाना बेगू तथा वहां के किसान बेगार श्रेणी का व ऊंचे लगान से परेशान थे। 1922 ई. में यहां भी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया।<sup>6</sup> घोर अत्याचार के बाद भी बेगू में 'रतनी भीलनी' ने आम किसान महिलाओं में चेतना जागृत करने का कार्य किया। ये इतनी बहादुरी से आन्दोलन में हिस्सा ले रही थी कि इन्होंने अंग्रेज अधिकारियों का डटकर सामना किया।<sup>7</sup> प्रजामण्डल आन्दोलन में 1938 ई. को उदयपुर में सत्याग्रह आन्दोलन द्वारा मेवाड़ प्रशासन तथा साथ ही ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों का विरोध किया गया। इस आन्दोलन में श्रीमती नारायणी देवी, रमा देवी ओझा, भगवती देवी, स्नेहलता वर्मा आदि कई महिलाओं ने भी आन्दोलन में हिस्सा लेते हुए गिरफ्तारियां दी। भरतपुर में सत्यवती शर्मा भी इस समय गिरफ्तार हुईं।

1942 ई. आते-आते राजस्थान में जागृति की लहर जोरों पर रही। परिणाम स्वरूप राजस्थान भी स्वतंत्रता आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा। 1942 ई. में स्वतंत्रता आन्दोलन भी काफी प्रगति की ओर बढ़ रहा था। ऐसे में इस दौर में राजस्थान की महिलाओं में गिरजा देवी, सावित्री देवी भाटी, सिरे कंवर व्यास व राज कौर की भूमिका प्रमुख रही।<sup>8</sup> श्रीमती गंगा बाई जो कि नाथद्वारा क्षेत्र में थी स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।<sup>9</sup> ये महिलाएं जनआन्दोलन में सक्रिय रही इसलिए भारतीय राजनीति में विशेष स्थान रखती हैं। कुछ चुनिंदा महिलाएं जो भारतीय राजनीति में सक्रिय रही उनको इस प्रकार देखा जा सकता है।

1. **भारती देवी वाजपेयी**—इन्होंने प्रजामण्डल सत्याग्रह में भाग लिया। ये तथा इनका परिवार राष्ट्रीय विचारधारा रखते थे। कांग्रेस विचारधारा रखने वाली ये महिला आजादी के दिनों में तीन महिनों तक जयपुर सेन्ट्रल जेल में रही।<sup>10</sup>

2. **नारायण देवी वर्मा** – ये प्रजामण्डल के नेतृत्वकर्ता माणिक्यलाल वर्मा की धर्मपत्नी थी। ये राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित थी। बिजोलिया आन्दोलन के दौर में नारायणी देवी ने समाज सुधार व महिला शिक्षा उत्थान कार्य किया। सन् 1942 ई. में प्रजामण्डल आन्दोलन के दौर में ये जेल गईं। वर्माजी के निर्वासनकाल के दौरान उन्होंने प्रजामण्डल आन्दोलन का नेतृत्व किया। भीलवाड़ा में महिला आश्रम की स्थापना कर उन्होंने इस आश्रम के माध्यम से महिला जागृति अभियान चलाया। उन्होंने आदिवासी छात्रावासों की स्थापना की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्होंने लम्बे समय तक संसद सदस्य रहते हुए भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।<sup>11</sup>

3. **श्रीमती शांता त्रिवेदी**—समाजवादी नेता परसराम त्रिवेदी की पत्नी शांता देवी त्रिवेदी स्वतंत्रता सेनानी रहीं। उन्होंने सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष में महिलाओं का नेतृत्व प्रदान किया। वे रिहेबिलिटेशन बोर्ड की सदस्य थीं। इन्होंने उदयपुर में 1947 ई. में महिला परिषद की स्थापना की। वे समाजवादी आन्दोलन में 1951 से 64 तक अग्रणी रही। इन्होंने पिछड़ी जाति की महिलाओं के लिए सुधार कार्य किए।



4. **श्रीमती गौरजा देवी जोशी**-जोधपुर में गौरजा पहली स्वतंत्रता सेनानी थी। 1942 में उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन में हिस्सा लिया। उस समय उन्होंने परम्परागत पौशाक को त्याग कर हाथ में तिरंगा झण्डा लेकर सत्याग्रह के समर्थन के लिए सड़कों पर प्रदर्शन किया। उनके भाषणों से श्रोताओं में उत्साह उत्पन्न होता था। उनके आन्दोलन में भाग लेने के कारण अनेकों महिलाओं ने इसे प्रेरणा प्राप्त कर आन्दोलन में हिस्सा लिया। ये छोटी बाई या बा के नाम से प्रसिद्ध हुई। आन्दोलन के दौरान वे 9 महीने तक जेल में रही। आजादी के बाद इन्होंने जीवन पर्यन्त महिलाओं को जागृत करने का कार्य किया।<sup>12</sup>

5. **श्रीमती सुशीला त्रिपाठी**-जोधपुर में श्रीमती त्रिपाठी ने आन्दोलन में हिस्सा लेकर 6 महीने तक गिरफ्तार रही।<sup>13</sup>

6. **श्रीमती अंजना देवी चौधरी**-उन्होंने 20 वर्ष की आयु में पर्दा त्याग कर देश सेवा का व्रत लेते हुए अपने पति राजनारायण चौधरी के राजनैतिक कार्यों में पूर्ण सहयोग किया। अंजना चौधरी पहली कांग्रेस महिला थी जो देशी रियासतों से गिरफ्तार व निर्वासित हुई। उन्होंने मेवाड़ व बूंदी राज्यों के अन्दर 1921-24 तक स्त्रियों में राष्ट्रीयता के प्रति जागृति उत्पन्न करने तथा समाज सुधार कार्य किया। इन्हें अमरगढ़ से गिरफ्तार किया और बूंदी से निर्वासित किया गया था। उनके द्वारा 500 महिला सत्याग्रही को लेकर बिजोलिया किसान आन्दोलन में नेतृत्व किया गया। न केवल इतना ही बल्कि जो किसान भाई गिरफ्तार किए गए थे उनको छुड़वाया। ये दो बार 1932-35 तक राष्ट्रीय सत्याग्रह के दौरान जेल गई। इन्होंने भील सेवा का कार्य भी किया।

7. **श्रीमती शकुन्तला त्रिवेदी**-बांसवाड़ा के स्वतंत्रता सेनानी भूपेन्द्र नाथ त्रिवेदी की पत्नी शकुन्तला ने बचपन से ही स्वाधीनता आन्दोलन में भावनात्मक जुड़ाव रखा। मारवाड़ में लोकनायक जयनारायण व्यास ने विद्रोह का झण्डा उठाया तो उन्होंने उस समय उनका साथ दिया जिसके कारण वहाँ की रियासत सरकार ने इन्हें 7 साल तक गिरफ्तार रखा। उसके बाद इन्होंने बोम्बे में अपने पति के कार्यभार में हाथ बंटया। पुत्र बिछड़ने के सदमे से उनकी मृत्यु हो गई।<sup>14</sup>

8. **श्रीमती भगवती देवी**-इन्होंने 1938 ई. में प्रजामण्डल में हिस्सा लिया। इन्हें उदयपुर कोतवाली में गिरफ्तार कर 10 दिन रखने के बाद अजमेर सीमा पर छोड़ा था। 1942 ई. के भारत छोड़ो आन्दोलन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। उस समय इन्हें गिरफ्तार कर 4 माह तक उदयपुर सेन्ट्रल जेल में नजरबन्द किया। इन्होंने महिला शिक्षा व समाज सुधार के पर्याप्त कार्य किए।<sup>15</sup>

9. **श्रीमती दुर्गा देवी शर्मा**-उनका सार्वजनिक जीवन उस समय प्रारम्भ हुआ जब वे अपने पति चन्द्रभान शर्मा के साथ असहयोग आन्दोलन में हिस्सा लेने लगी। इन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत नमक सत्याग्रह से उस समय की जब

उन्होंने अपने विवाह के सभी कीमती वस्त्र जला दिए। वो तीन माह तक 1931-32 ई. में जेल में रही।<sup>16</sup>

10. **श्रीमती रतन शास्त्री**-वे राजस्थान की गिनी चुनी महिला स्वतंत्रता सेनानियों में प्रमुख रही। उनके पति पं. हीरालाल शास्त्री राजस्थान के प्रमुख मुख्यमंत्री थे। इनकी भूमिका प्रजामण्डल के समय बहुत ही प्रभावी रही। वे वनस्थली विद्यापीठ की देखरेख करती थी। वनस्थली विद्यापीठ महिला शिक्षा का केन्द्र था। इन्होंने वनस्थली की छात्राओं का दिल्ली जाकर 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा तथा आज्ञा प्रदान की। वनस्थली द्वारा दिया गया योगदान महिला शिक्षा के क्षेत्र में सदैव याद किया जाता रहा है।<sup>17</sup> आचार्य कर्वे द्वारा स्थापित बोम्बे में महिला विश्वविद्यालय के बाद वनस्थली विद्यापीठ ही महिला शिक्षा का एकमात्र केन्द्र था और इसे विश्वविद्यालय के समकक्ष होने की मान्यता प्राप्त है।

11. **श्रीमती कमला क्षोत्रीय**-इनकी स्वतंत्रता आन्दोलन तथा महिला शिक्षा में अग्रणी भूमिका रही। वे लम्बे समय तक विधानसभा की सदस्य भी रही।

12. **श्रीमती नगोन्द्र बाला**-उन्होंने हाड़ौती के जनजागृति का बिगुल बजाया। वे स्वतंत्रता के बाद विधायक भी बनीं। वे केशरीसिंह बारहठ के क्रांतिकारी परिवार से थीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी का एक यथार्थ इतिहास है। कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय स्तर पर अनेकों महिलाएं आन्दोलन में भाग ले रही थीं। यह कोई अजूबा घटना नहीं थी, लेकिन यदि राजस्थान के स्तर पर महिलाओं का स्वतंत्रता आन्दोलन में हिस्सा लेना बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। क्योंकि राजस्थान में पिछड़ापन व सामन्तवादी शासक के खिलाफ जाकर महिलाओं ने इस आन्दोलन में भाग लेकर शौर्य का परिचय दिया। ठीक है राजस्थान में हंसा मेहता तथा कमला देवी चट्टोपाध्याय जैसी राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महिलाएं नहीं थी, परन्तु जो महिलाएं राजस्थान में आन्दोलन में हिस्सा ले रही थी उनकी राज्य स्तर पर उल्लेखनीय उपस्थिति रही है। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि जब 21वीं सदी में राजस्थान में रूढ़ियां, अशिक्षा, अन्धविश्वास ने महिलाओं को घेरे रखा हो तो आजादी के पहले की स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। उस समय निम्न वर्ग की महिलाओं का पर्दा त्याग कर आन्दोलन में हिस्सा लेना एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह बात अवश्य है कि इन महिलाओं की संख्या कम देखने को मिलती है, परन्तु जितनी भी महिलाओं ने आन्दोलन में हिस्सा लिया वह सराहनीय कदम है।

राजस्थान में महिलाओं का स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा लेना यदि श्रेष्ठ कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। क्योंकि दृष्टिपात करें तो स्वतंत्रता आन्दोलन में हिस्सा लेने वाली महिलाएं सम्पूर्ण भारत में वो महिलाएं थी जो या तो राजनीति से जुड़े परिवारों से थी या फिर वे उच्च कुलीन व राजसी परिवारों से सम्बन्ध रखती थी। इसके विपरीत

राजस्थान में देखा गया है कि राजस्थान की गरीब, किसान व भील महिलाएं स्वयं ही बिना किसी मसीहा के सामन्ती व ब्रिटिश अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन करती रही। वे महिलाएं अडिग रहते हुए आन्दोलन में हिस्सा ले रही थी।

### सन्दर्भ

1. प्राचीनकाल में दाम्पत्य जीवन प्रमुख स्मृतियों के परिप्रेक्ष्य में, डॉ. अंजना सिन्हा, पृ. 3
2. भारतीय समाज में नारी के विविध स्वरूप, डॉ. सोनिया मिश्रा, पृ. 13
3. भारतीय नारी : संघर्ष और मुक्ति, डॉ. हरिनिवास पाण्डेय, पृ. 20
4. सक्सेना, शंकर सहाय, बिजोलिया किसान आन्दोलन का इतिहास, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, 1972
5. नारी सशक्तिकरण दश एवं दिशा, डॉ. रविन्द्र नाथ यादव, पृ. 25
6. भारतीय इतिहास काल में विभिन्न कालों में नारी की स्थिति, डॉ. कंचन लता यादव, पृ. 36
7. ग्रामीण महिला सशक्तिकरण में पंचायतीराज की भूमिका, डॉ. सुमन सिंह, पृ. 73
8. भारत में महिला सबलीकरण, दीपिका केटियार, पृ. 83
9. महिला सशक्तिकरण में स्त्री की भूमिका, डॉ. रश्मि पाण्डेय, पृ. 96
10. एक नारी की वास्तविकता सशक्तिकरण की दिशा में, डॉ. दीप्ति गुप्ता, पृ. 99
11. महिला सशक्तिकरण-एक विवेचन, डॉ. अजयसिंह, पृ. 116
12. भारत में महिला सशक्तिकरण की दशा एवं दिशा, सिंह अरुण कुमार लक्ष्मण, पृ. 157
13. महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूहों का योगदान, राजेश कुमार, सीमा अवस्थी, पृ. 180
14. वर्मा माणिक्यलाल : बिजोलिया किसान सत्याग्रह के संस्मरण (डॉ. जी.एन. माथुर के निजी संग्रह से), पृ. 47 से 57
15. स्त्री शिक्षा और नारी सशक्तिकरण, डॉ. चन्द्रप्रकाश सिंह, उपासना सिंह, पृ. 191
16. बौह साहित्य में नारी सशक्तिकरण, डॉ. रानी वर्मा, पृ. 226
17. मेनारिया, शिवशंकर, राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानी (शिल्पी प्रकाशन, 1985), पृ. 12

## राष्ट्रीय आंदोलन में मेहतर जाति की भूमिका

डॉ. कमलेश कुमार सारसर

राजस्थान के जाति तंत्र में मेहतर जाति का स्थान अछूत श्रेणी में था। इस प्रकार मेहतर जाति वर्ण व्यवस्था से बाहर अवर्ण है। अन्य निम्न जातियों की तुलना में मेहतर जाति का स्थान सामाजिक स्तर पर निम्न था, वे अनुसूचित जातियों में सबसे ज्यादा मलिन थे। जाति तंत्र को संचालित करने वाले शुद्धता और प्रदूषण के नियम सिर्फ छूने में लागू होते थे, वरन् दूर खड़े होने पर भी लागू होते थे। भंगी लोग दूरी बनाकर रहते थे। मेहतर ऐसी कुछ जातियों में से एक थी, जिनके देखने मात्र से सवर्ण हिन्दू अपवित्र हो जाते थे। इसी अस्पृश्यता की वजह से भंगियों को उच्च जाति के हिन्दुओं के घरों में, मंदिरों और सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। अन्य अछूतों की तरह वे भी उनके तालाबों और कुओं का उपयोग नहीं कर सकते थे। उच्च जातीय हिन्दुओं की तरह भंगी लोग भी अन्य अछूत जातियों जैसे खटीक, कोली, मेघवाल और मजबी लोगों से दूर रहते थे और उन्हें छूते नहीं थे। उन पर अनेक सामाजिक और धार्मिक नियोग्यताएं भी थोपी गई थी जैसे कि उन्हें सवर्ण हिन्दुओं के स्कूलों में प्रवेश नहीं दिया जाता था। उन्हें सोने या चांदी के आभूषण पहनना मना था। उन्हें अपने निजी पक्के मकान बनाना मना था। भंगी अच्छे कपड़े नहीं पहन सकते थे। ये लोग उच्च जाति के मल-मूत्र व साफ सफाई का कार्य करते थे। जिसके बदले में उन्हें कोई खास पैसा न देकर बल्कि उन्हें खाने को बचा-कुचा व झूठन (भोजन) दिया जाता था। इसके अतिरिक्त मेहतर लोग गांव की सीमाओं के बाहर अपनी बस्तियों में रहते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहास में अब तक विकसित गांव जातीय भेदभाव के प्रतीक हैं, आज भी पूरे राज्य की यही सच्चाई है।

स्वतंत्रता संग्राम में मेहतर जाति के योगदान अर्थात् उनकी सहभागिता को अनुभव करने के लिए 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में उनकी भूमिका को जानना जरूरी है। 1857 के संग्राम का आगाज करने वाला सिपाही मंगल पाण्डे को चर्बी लगे हुए कारतूसों के बारे में जानकारी देने वाला बैरकपुर छवनी का हवलदार मातादीन भंगी था।<sup>1</sup> इसी प्रकार कानपुर में अंग्रेजी फौजों का मुकाबला करने वाला बाबा गंगादीन उर्फ गंगू मेहतर था, जिसे बाद में अंग्रेजों ने कानपुर के चौराहे पर फांसी दी थी।<sup>2</sup>

### राजपूताना के मेहतरों का स्वतंत्रता आन्दोलन में योगदान

प्रो. श्यामलाल के अनुसार “तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य में मेहतर समाज तो धन, धरती और धन्धे से भी वंचित था। गुलामी, बेरोजगारी तथा रात-दिन की कड़ी

मेहनत के बाद दो-चार आने की मजदूरी पर अपने बाल-बच्चों के साथ जीवन निर्वाह करता था। स्वतंत्रता संग्राम में सहयोग देने के लिए उसके पास भला क्या था? यातना के लिए जर्जर शरीर, आहुति के लिए प्राण। यही था उसका देश के प्रति सच्चा स्नेह और बलिदान। फिर भी मेहतर समाज ने यथासम्भव अपनी दयनीय स्थिति में भी गांधी और कांग्रेस को आजादी की लड़ाई के लिए आर्थिक सहयोग दिया।<sup>13</sup>

भारतीय वार्षिक रजिस्टर के अनुसार, 22 जुलाई 1931 को कानपुर नगरपालिका के सफाई मजदूरों द्वारा सार्वजनिक सभा में गांधी को 11000 रुपये की थैली भेंट की गई। उसी दिन संध्याकाल प्रार्थना सभा में 51 रुपये, 13 आना और दिया। 23 जुलाई 1931 को मेहतर सभा ने पुनः संग्रह करके 3242 रुपये सवा 15 आने और भी दिये। 25 जुलाई 1931 को उन्नाव रेलवे सफाई कर्मचारियों ने गांधी को रेलवे स्टेशन पर 282 रुपये की थैली भेंट की। 25 जुलाई 1934 को गांधी के लखनऊ आने पर मेहतरों ने 3945 रुपये पौने 12 आने की थैली भेंट की। इटावा से 732 रुपये, फर्रुखाबाद से 645 रुपये, मुरादाबाद से 322 रुपये 8 आना, जालोन से 601 रुपये, आगरा से 9 रुपये साढ़े 5 आने, सीतापुर से 301 रुपये सवा 9 आने, बांदा से 185 रुपये 2 आने की थैलियां भेंट की। इसके अलावा अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से उस दिन मेहतर समाज के लोगों ने गांधी को 10943 रुपये साढ़े 7 आने भी दिये। 26 जुलाई 1934 को कानपुर में 3592 रुपये 13 आने भेंट किये। 27 जुलाई 1934 को कांशी से 122 रुपये 6 आने 11 पाई भेंट किये। 28 जुलाई 1934 को गोरखपुर के मेहतर समाज ने 951 रुपये की थैली भेंट की। 31 जुलाई 1934 को कांशी के हरिजन विद्यार्थियों ने सार्वजनिक सभा में अपने अध्ययन के पैसों से बचत करके गांधी को 5000 रुपये की थैली भेंट की। 1 अगस्त को शेष छात्रों ने 37 रुपये 9 आने 4 पाई की राशि और भेंट की। उड़ीसा के फटे हाल मेहतरों ने पाई-पाई जोड़कर गांधी और कांग्रेस को चन्दा दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण अखण्ड भारत के सफाई मजदूरों ने आजादी के आन्दोलन में आम जनता के साथ-साथ धन दिया। इसी प्रकार बाद में 'कस्तूरबा राष्ट्रीय फण्ड' एवं 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस फण्ड' में भी इस मेहतर समाज ने धन का सहयोग दिया।<sup>14</sup>

इसी प्रकार सरकारी अभिलेख सूचना विभाग उत्तरप्रदेश, लखनऊ के अनुसार 29 जुलाई 1934 को कांशी की एक सभा में गांधी ने मेहतरों की प्रशंसा करते हुए कहा 'मेरी दृष्टि में एक पाई देने वाला 10 से 50 हजार देने वाला घनश्याम दास बिड़ला से भी उस 1 पाई की कीमत अधिक है। हजारों रुपयों की अपेक्षा मुझे तो गरीब की गांठ की कोड़ी ही पाकर अधिक आशा और प्रसन्नता हुई।' इसी प्रकार मेहतर समाज ने गांधी और कांग्रेस को अपनी शक्ति से भी अधिक धन प्रदान कर सहयोग दिया।

### जोधपुर रियासत और राष्ट्रीय आन्दोलन

जहां तक राष्ट्रीय आन्दोलन में राजपूताना और विशेषकर मारवाड़ के भंगियों के आर्थिक सहयोग का सवाल है तो यह कहा जा सकता है कि 6 जुलाई 1934 को जब

महात्मा गांधी अपनी हरिजन यात्रा के दौरान अपने दल बल सहित अजमेर व व्यावर होते हुए लूनी रेलवे जंक्शन पहुंचे तब स्वतंत्रता सेनानी जयनारायण व्यास एवं पूनाराम जावा के नेतृत्व में भंगियों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने उनका रेलवे स्टेशन पर गर्म जोशी के साथ स्वागत किया। लखारों के बास के भंगियों ने इस अवसर पर गांधी को रेलवे स्टेशन पर अपनी सामर्थ्यानुसार 993 रुपये की थैली भेंट की।<sup>15</sup>

1942 में जोधपुर रियासत में राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियां जयनारायण व्यास के नेतृत्व में संचालित हो रही थी। जयनारायण व्यास और उनके सहयोगियों ने यह महसूस किया कि प्रजामण्डल आन्दोलन की गतिविधियों को योजनाबद्ध तरीके से यदि संचालित करना है, तो इसके लिए सबसे सुरक्षित स्थान भंगियों की बस्ती हो सकती है। साथ ही जयनारायण व्यास जोधपुर के भंगियों को भी इस आन्दोलन में जोड़ना चाहते थे। जयनारायण व्यास, अचलेश्वर प्रसाद शर्मा, अमरकिशन व्यास, मथुरादास एवं अन्य आन्दोलनकारी भंगियों की बस्ती में जाकर अपने आगामी योजना की रूपरेखा तैयार करते थे। कुछ दिनों बाद जोधपुर के पुष्करणा ब्राह्मणों को इस बात की भनक लगी तब उन्होंने जयनारायण व्यास को जाति से बहिष्कृत कर दिया, वे उन्हें भंगी कहकर बुलाने लगे।<sup>16</sup>

### जोधपुर के भंगियों का संगठन

जोधपुर में भंगियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से 1945 में मारवाड़ मेहतर सुधार सभा का गठन किया गया। इस संगठन में 6 सदस्य थे—प्रभुदयाल धारू इसके अध्यक्ष, भगवानदास गुनद उपाध्यक्ष, श्रीराम सरवटे सचिव थे, इसके अतिरिक्त नरसिंह देव गुजराती, श्री अचलूराम बारासा, श्री रूपचंद चांवरिया इसके सदस्य थे। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य जोधपुर के भंगियों में व्याप्त सामाजिक बुराइयों को दूर करना था जैसे कि मरे हुए जानवरों को उठाना, मृतक पर डाले गये कफन को उठाने पर पाबन्दी, मद्य निषेध आदि।

1946 में इस संगठन ने जयनारायण व्यास के नेतृत्व में चलाये जा रहे सिविल लिबर्टी मूवमेंट में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। जब सारे जोधपुर राज्य के कर्मचारियों ने इस आन्दोलन में आम हड़ताल करके सहयोग दिया। जयनारायण व्यास और एम.डी. माथुर ने लखारों के बास भंगी बस्ती में एक मिटिंग बुलाई जिसमें यह तय हुआ कि मारवाड़ मेहतर सुधार सभा भी इस आन्दोलन में सहयोग करेगी। इस प्रकार जोधपुर के भंगियों ने भी हड़ताल करके इस आन्दोलन में अपना योगदान दिया।<sup>17</sup>

### अलवर रियासत और राष्ट्रीय आन्दोलन

भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद देश की राजनैतिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आने लगा। इसका प्रभाव तत्कालीन राजपूताना की देशी रियासतों में भी पड़ा। शोभाराम कुमावत के नेतृत्व में पिछड़े वर्ग ने भी अलवर राज्य में उत्तरदायी शासन की मांग की।

जिसके अन्तर्गत राज्य में अनेक स्थानों पर प्रजामण्डल के नेताओं के द्वारा कार्यक्रम रखे गये। 23 जनवरी 1946 को होप सर्कस पर सभा हुई। जिसे जनता को नेताओं ने सम्बोधित किया। जिसका प्रभाव राजगढ़ निजामत में भी देखने को मिलता है। प्रजामण्डल आन्दोलन के नेता जुलूस के साथ राजगढ़ पहुंचे वहां के हरिजनों ने भी 31 रुपये उन्हें भेंट किये।<sup>8</sup> प्रजामण्डल आन्दोलन के नेताओं ने रियासत के अनेक कस्बों एवं गांवों में जनसभाओं का आयोजन किया। परिणामस्वरूप तत्कालीन सरकार ने अपना दमन चक्र चलाया किन्तु प्रजामण्डल आन्दोलन जारी रहा। 2 फरवरी 1946 को खेड़ा मंगल सिंह में एक आम सभा का आयोजन किया गया। प्रजामण्डल के अनेक कार्यकर्ताओं ने जिनमें पृथ्वीराज, वकील कैलाश बिहारी, शादीलाल, लक्ष्मीनारायण, नानकचन्द आदि ने राजगढ़, भरतपुर, अनेक स्थानों पर सभाएं की। फूलचन्द जमादार ने रामगढ़ में सभा की। तत्कालीन सरकार ने प्रजामण्डल के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण रियासत में उत्तेजना फैल गई, अनेक स्थानों पर धरने, प्रदर्शन हुए। राजगढ़ निजामत में फूलचन्द जमादार के नेतृत्व में राजगढ़ के भंगियों ने हड़ताल कर दी।<sup>9</sup> उन्हें डराया-धमकाया गया परन्तु उन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। अलवर राज्य प्रजामण्डल के प्रमुख नेता शोभाराम कुमावत, पं. जयकिशन शर्मा (थानागाजी), रामदयाल, रामस्वरूप गुप्ता, राजजीलाल शर्मा, सेठ श्यामलाल, कन्हैयालाल दीक्षित, जुगल किशोर पाण्डे आदि थे। ये सभी नेता हरिजन बस्ती, राजगढ़ में कल्लू राणा के तबारे में रात के समय आते और आगामी योजनाओं को अंजाम देते।<sup>10</sup> इन आन्दोलनकारियों को चाय-पानी व खान-पान की व्यवस्था भंगी बस्ती के द्वारा की जाती थी।

### जयपुर रियासत और राष्ट्रीय आन्दोलन

1945 में जयपुर के तत्कालीन शासक द्वारा एक मेहतर बाबू ललिता प्रसाद जेदिया को जयपुर प्रतिनिधि सभा का सदस्य मनोनीत किया।<sup>11</sup> बाबू ललिता प्रसाद जेदिया ने जयपुर के प्रसिद्ध वकील चिरंजीलाल के नेतृत्व में प्रजामण्डल आन्दोलन में सक्रिय रूप से कार्य किया। बाबू ललिता प्रसाद ने मेहतर यूनियन के साथ मिलकर जयपुर के मेहतरों व मेहतरानियों को मूलभूत सुविधाएं दिलवाने में अपना अमूल्य योगदान दिया। जयपुर राज्य लेजिस्लेटिव असेम्बली में 27 अगस्त 1947 को जयपुर हरिजन (रिमुवल ऑफ डिस्पैबिलिटीज) बिल पारित किया। इस बिल के परिणामस्वरूप दलितों से नागरिक प्रतिबन्धों को हटा लिया गया तथा मंदिरों, तालाबों और कुओं के उपयोग की उन्हें स्वतंत्रता प्रदान की गई। सामाजिक इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण घटना थी।

राजनीतिक हथियार के रूप में जिस सत्याग्रह का प्रयोग गांधी ने किया था, वह अछूतों को राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा में लाने का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया था। उस समय उच्च जातीय लोगों को जोड़ने के लिए बाध्य किया जाता था। इसमें कांग्रेसी कार्यकर्ताओं और राजनैतिक नेताओं को अछूतों में समान विचारों का प्रचार करने

के लिए अवसर प्रदान किया। उसी समय 8 अगस्त 1942 को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी ने भारत छोड़ो आन्दोलन का सूत्रपात किया। अधिक से अधिक अछूतों को इस आन्दोलन में कांग्रेस द्वारा शामिल किया गया। राजपूताना की देशी रियासतों में भी इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा। राजपूताना हरिजन सेवक संघ की स्थापना के बाद राजस्थान में अछूत जातियां गांधी व कांग्रेस की प्रबल समर्थक बन गईं। राजपूताना हरिजन सेवक संघ द्वारा आरम्भिक अभियान सामाजिक-धार्मिक और शैक्षणिक सुधारों पर आधारित था। जबकि हीरालाल शास्त्री, टीकाराम पालीवाल, शिव प्रसाद तिवारी, चिरंजीलाल अग्रवाल और अन्य लोग, जो गांधी-कांग्रेस के समर्थक थे वे इस समय डॉ. अम्बेडकर का पुरजोर विरोध करते थे। जयपुर के दलित कार्यकर्ताओं में इससे संवेग पैदा हो गया। मुनीश्वरानन्द, भूरालाल पटेल, रामचन्द्र, मनपुजारी, हरिशंकर सिद्धार्थ शास्त्री (सभी तोपखाना जयपुर निवासी) आदि युवा अछूतों का दल कांग्रेसी नेताओं के साथ था किन्तु कुछ शिक्षक युवकों का एक दल जिनमें बैरवा मांगीलाल लाडवाल (कल्याणजी का रास्ता, जयपुर), रामचन्द्र (गोशाला, जयपुर), रामनाथ गाडवासी (चाकसू), गंगादास (सूरतपुर, निवाई), कुछ रैगर-रामचन्द्र जरूसारिया, घासीलाल मास्टर और रामपाल (सभी रैगर मोहल्ला, जयपुर)। बलाई-हरिनारायण और कुछ कोली-मेवाराम, मांगीलाल और डालचन्द (सभी रैगर बस्ती, जयपुर)। इसके अतिरिक्त भंगियों में कालूराम और रामनारायण (दोनों गन्दी मोरी, जयपुर) अम्बेडकर की विचारधारा से प्रेरित थे। इसने दलित मत का ध्रुवीकरण कर दिया था। इनमें मुख्य रूप से जो ज्यादा अम्बेडकर के समर्थक माने जाते थे, वे रामनाथ आर्य थे, जो मूलतः बैरवा थे। अम्बेडकर की विचारधारा को मानने वाले इन दलित युवकों ने अम्बेडकर के भाषणों और लेखों से प्रेरणा लेकर अम्बेडकर समर्थक युवकों को अनौपचारिक रूप से संगठित किया। इनका लक्ष्य हिन्दुओं के सामाजिक-आर्थिक अत्याचारों पर अछूतों को जागरूक कर उनको नेतृत्व देना था। उन्होंने शम्बूक ऋषि पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम और एकलव्य पर गुरु द्रोणाचार्य के अन्याय की कहानियां सुनाकर लोगों को जागरूक किया।<sup>12</sup>

मेहतरों ने अन्य अछूतों की भांति राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ये लोग आन्दोलन करने वालों को छिपकर मदद करते थे। वे उनके पत्रों और सन्देशों को गुप्त रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाते थे और यथासम्भव आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए प्रयासरत रहते थे।

इस प्रकार स्वतंत्रता आन्दोलन में राजस्थान के मेहतरों की भूमिका उपलब्ध साक्ष्यों, तथ्यों व आंकड़ों के आधार पर इतिहास की दृष्टि से अनदेखा नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास की कड़ी में मेहतर समाज एवं सम्पूर्ण दलित समाज के योगदान पर शोध की आवश्यकता महती रूप से परिलक्षित होती है। इतिहासकारों की दृष्टि इस ओर गई ही नहीं है जबकि इतिहासकार आज सबाल्टर्न हिस्ट्री पर विशेष ध्यान देने की बात तो करते हैं किन्तु सदियों से उपेक्षित, अभिशापित

मेहतर समाज के राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान पर किसी भी इतिहासकार ने चिन्तन व मनन करने का प्रयास तक नहीं किया है।

### सन्दर्भ

1. के.के. सारसर, आलेख राष्ट्रीय आन्दोलन में दलितों की वास्तविक भागीदारी (1857 के महासंग्राम में मेहतर जाति का योगदान), इण्टरनेशनल जर्नल, शोध समीक्षा और मूल्यांकन, वोल्यूम 7, अगस्त 2010, पृ. 278
2. वही, पृ. 279
3. श्यामलाल, सामाजिक न्याय एवं दलित राजनीति, सबलाइन पब्लिकेशन, जयपुर 2004, पृ. 34-35
4. श्यामलाल, सामाजिक न्याय एवं दलित राजनीति, सबलाइन पब्लिकेशन, जयपुर 2004, पृ. 34-35
5. वही, पृ. 35
6. श्यामलाल, कास्ट एण्ड पोलिटिकल मोबीलाईजेशन द भंगीज (विद रेफरेन्स टू द भंगीज ऑफ जोधपुर), पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1981, पृ. 48-49
7. श्यामलाल, कास्ट एण्ड पोलिटिकल मोबीलाईजेशन द भंगीज (विद रेफरेन्स टू द भंगीज ऑफ जोधपुर), पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1981, पृ. 48-49
8. कमल यादव, देशी रियासतों में राजनैतिक चेतना और जन आन्दोलन (अलवर राज्य के विशेष सन्दर्भ में), रिटु पब्लिकेशन, जयपुर, 1998, पृ. 155
9. साक्षात्कार, फूलचन्द जमादार, हरिजन बस्ती, राजगढ़, अलवर दिनांक 10 अक्टूबर 2010
10. वही
11. डॉ. रामप्रसाद व्यास, सम्पादित स्वतंत्रता संग्राम में राजस्थान का योगदान, प्रकाशक-राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2004 में लेख प्रो. विजयकुमार वशिष्ठ, राजस्थान के दलितों में सामाजिक जागृति एवं स्वतंत्रता आन्दोलन में योगदान, पृ. 219-220
12. श्यामलाल, भारत में अछूत आन्दोलन, अनुवाद कंवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ. 108-109

## ढूंढार जनता के शान्त आक्रोश का साक्षी- अल्बर्ट हॉल

डॉ. कनुप्रिया कुमावत

राजस्थान के इतिहास व संस्कृति में ढूंढार क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान डिंगल शब्द राय-स्थान एक संस्कृत का रूप है, जिसका अर्थ-राजाओं का स्थान है। पहाड़ों व मैदानी इलाकों व अपने क्षेत्रीय विभाजनों व राजाओं के साथ पहली बार 'राजस्थान' शब्द का उल्लेख विक्रम संवत् 1765 (1708 ई.) के अभिलेख में मिलता है।<sup>1</sup> मध्यकालीन साहित्यिक, पुरालेखीय व ऐतिहासिक स्रोतों में आमेर-जयपुर राज्य को ढूंढार नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है।<sup>2</sup>

- ढूंढार के विषय में : प्रभाकर शास्त्री का मत था प्राचीन काल में निर्जन/सुनसान स्थान होने के कारण ही सम्भवतः यह क्षेत्र ढूंढार कहलाया होगा।<sup>3</sup>
- या फिर ढूंढ नामक राक्षसी के निवास स्थान होने के कारण इसे यह नाम मिला।<sup>4</sup>
- पर प्रमाणित गोपीनाथ शर्मा का कथन ज्यादा सही प्रतीत होता है कि जोबनेर के निकट ढूंढ टीले या ढूंढ नदी के कारण इसका नाम ढूंढार पड़ गया हो।<sup>5</sup>

कुछ इतिहासकारों का विचार ढूंढार क्षेत्र पर कछवाहा वंश का शासन था। कहते हैं कि सूर्यवंशी इक्ष्वाकु वंशज रामायण के नायक राम के ज्येष्ठ पुत्र कुश से यह अपनी उत्पत्ति मानते हैं।<sup>6</sup> श्यामसिंह रत्नावत ने अपने लेख में शिलालेखों व साहित्यिक स्रोतों में आने वाले कूर्म, कछवाहा, कच्छपघात, कच्छपारि, कछवाहा आदि शब्दों का उल्लेख करते हुए यही सिद्ध किया कि यह सब कछवाहों का ही रूप है।<sup>7</sup>

अन्ततः ढूंढार के इतिहास के झरोखे से देखें तो जगतसिंह की 1818 ई. में मृत्यु के 5 माह के बाद उनका पुत्र जयसिंह तृतीय का जन्म हुआ, पर वह भी असमय अकाल मृत्यु का भाजक बना। उस समय उपद्रवों, भ्रष्टाचार, दरबारी षडयंत्रों के काल में 1835 ई. में उनकी हत्या करवा दी गई। ऐसी परिस्थिति में रामसिंह द्वितीय गद्दी पर बैठा। जिसने अराजकता समाप्त कर, लाखों रुपये से सड़कों, नहरों, महलों, किलों, मंदिरों और जयपुर शहर को सुन्दर तथा दुरुस्त करवाया। रामसिंह द्वितीय के समय रामनिवास बाग अल्बर्ट हॉल, म्यूजियम, मेयो अस्पताल, सार्वजनिक पुस्तकालय, महाराजा स्कूल, रामप्रकाश थियेटर तथा कॉन्सिल के लिए नई इमारत का निर्माण करवाया गया। वहीं सामाजिक कुप्रथाओं को-सती प्रथा, कन्या वध, विवाह में अनावश्यक खर्चों को बन्द करवाया तो दूसरी तरफ 1869 के अकाल के समय जनता की मदद की।<sup>8</sup> 1880 ई. में

उनकी मृत्यु के बाद माधोसिंह द्वितीय ने भी कला, शिल्प और प्राचीन वस्तुओं की भी प्रदर्शनी लगवाई जो आगे चलकर एल्बर्ट हॉल म्यूजियम का हिस्सा बनी। इन्होंने भी 1899 ई. में अकाल के दौरान पीड़ितों को राहत पहुंचाई। इन सभी विपरीत परिस्थिति में ढूंढार की जनता ने अपने संरक्षकों के प्रति अपना विश्वास तथा आस्था की डोर को टूटने नहीं दिया।

सामाजिक दृष्टि से परम्परावादी, पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार वाला ढूंढार संभाग था। समाज में जहां ब्राह्मणों को सर्वोपरि स्थान था पर पुरोहिती कार्य में जीवन यापन कष्ट से गुजार लेने के कारण ये कृषि कार्य भी करते थे। जिनमें ढूंढार के बागड़ा ब्राह्मण अधिकतर कृषिकार्य करते थे।<sup>9</sup>

ब्राह्मणों के बाद राजपूत वर्ग आता था। पर सेना में अन्य जातियों के भर्ती के कारण राजपूत भी उदरपूर्ति के लिए कृषि का कार्य करने लगे। सामाजिक स्वरूप में देखें तो इसके अन्तः निहित आर्थिक स्वरूप का आधार कृषि था। यह भी ढूंढार का प्रमुख धंधा था। भूमि का स्वामी राजा जिसे भूमि प्रदान करने तथा जब्त करने का अधिकार था। किसानों से भूमि कर उपज कर का 1/3 या 1/4 भाग लिया जाता था। मुगलों के निकट होने से राहदारी, बाब, पेशकश, जकात, गनीय, बराड़ जैसे कर लिये जाने लगे। ऐसी परिस्थिति में जहां अचानक हुए आक्रमण, चोर-डाकू की लूट-खसोट व आये दिन अकालों से किसानों का जीवन काफी कष्टप्रद था। ऐसे अवसर आ जाने पर भूमिहीन, शिकयी, काश्तकार व ठेके पर खेती करने वाले किसानों का जीवन और भी दुःखमय और दयनीय होने लगा।<sup>10</sup>

यहां एक विशेष उल्लेख किया जाना आवश्यक होगा कि सामन्ती व्यवस्था में सामन्त द्वारा बेगार (लाग-बाग) भी लिया जाता था। जनता का जीवन कष्टों से घिरा था। फिर भी उनके मन में आक्रोश नहीं था। बदलते समय के दौर में जहां ब्रिटिश संरक्षण की प्रवृत्ति ने ढूंढार क्षेत्र के सामाजिक-आर्थिक ढांचे को काफी हद तक प्रभावित किया। कालान्तर में ब्रिटिश संरक्षण के बाद जहां सामन्त स्वतंत्र शासक की भूमिका का निर्वाह करता हुआ शासन करता था। अब उसे यह सब कुछ त्यागने पड़े। जिन खालसा भूमि पर कब्जा किया गया उसे वापस ले लिया गया। राजा सामंतों से नकद रुपये लेने लगे, सेना भी हटा ली गई। व्यापारियों के द्वारा दिया जाने वाले शुल्क पर रोक लगा दी।

कुल मिलाकर जागीरदारी स्थिति में गिरावट आई। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी था। ढूंढार क्षेत्र की समृद्धि 18वीं सदी तक होती रही अपवाद के रूप में मराठों से छुटपुट युद्ध होते रहे। जहां 18वीं सदी के आरम्भ में मराठों व पिण्डारियों के हमलों, विध्वंस व विनाश से हम मुगलों की मैत्री व सहयोग से लड़ते रहे और स्वयं का आत्मविश्वास जगाते रहे पर मुगलों के पतन के साथ ही राजनीतिक शून्य को ढूंढार के कच्छवाह और राजपूत नहीं भर पाये। ऐसे में ढूंढार के शासकों ने 1818 ई. में अंग्रेजों से संधि कर ली। ढूंढार की सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक पृष्ठभूमि पर ढूंढार के साधारण जनता या

जन साधारण की अनूठी ही स्थिति या दृष्टिकोण था। भारतीय मानस का प्राचीन काल से ही जीवन दर्शन शांति, संतोष, सदाचरण, निस्पृहता के आदर्श मूल्यों में जीवित रहा और ढूंढार की जनता इन्हीं आदर्शों से सदैव प्रेरित भी रही।<sup>11</sup>

परम्परावादी मूल्यों के सर्वोपरि मानकर चलना भारतीय जन के लिए भौतिक सुख से अधिक आध्यात्मिक सुख रहा है।<sup>12</sup> इसी आध्यात्मिक सुख की पूंजी कृषि थी। सामन्त व्यवस्था तो सदैव कृषि के साथ रही अर्थात् शहर या गांव हर वर्ष फसल की अवस्था जीवन की खुशहाली को ही निर्धारित करती थी और ढूंढार की जनता का खुशहाली को मापना यहां के बाजारों की कीमत जानकर प्राप्त हो जाती थी। अच्छी बारिश अच्छा बाजरा, ज्यादा समृद्धि पर आंकड़े देखें तो सबसे अच्छी कीमत 1782 में रबी में चालीसी अकाल पड़ा। तब बाजरे की कीमत 1 रुपये में 7.5 सेर दूसरे बाजरे की सबसे कम 1798 में 63.5 सेर प्रति रुपये में।

डॉ. हैण्डले के आंकड़े हमें रबी और खरीफ के दौरान गेहूं, जौ और बाजरे की कीमत बतलाते हैं, और यह आंकड़े 1761 ई. से 1897 ई. तक के हैं। ये सभी जयपुर बाजार के हैं।<sup>13</sup>

बाजारों से पहली गई रिपोर्ट को निरख बाजार कहते थे। यह सारे रिकार्ड बीकानेर के अभिलेखागार में सुरक्षित है। यह 1665-1827 ई. तक के समय के हैं। दूसरी तरफ टी. होलबीन हैण्डले ने 1761-1897 ई. तक की कीमतों की सूची तैयार की जो इनकी पुस्तक में संकलित है।<sup>14</sup> असीम कुमार राय ने यही माना कि जब-जब बाजरा 1 रुपये में 20 सेर या उससे कम में बिका यहां अकाल के दिन आये। ढूंढार में ऐसी परिस्थिति 1761 से 1897 करीब 45 साल अकाल के दिन आये। पर सुखद आश्चर्य की बात यह है कि सारी कठिनाइयों को बिना प्रतिरोध के ढूंढार की प्रजा इसीलिए स्वीकारती है क्योंकि वो इसे अपनी नियति मानकर चलती है। उनके जीवन के दर्शन का मूल उनका धर्म है। जो उन्हें अधिकार नहीं कर्तव्य सिखाता है। जहां अब सामंती ढांचे के जर्जर होने पर उनका 'माईबाप' सामन्त अब शोषणकर्ता बन गया फिर भी यहां की जनता काफी शान्त थी। जहां ढूंढार की जनता ने इहलोक से अधिक परलोक की चिन्ता अधिक की। जहां उसे भौतिक मूल्यों में वृद्धि जरूरी नहीं लगी परन्तु उसने परम्परा व धर्म शास्त्रीय नैतिकता को आत्मा से आत्मसात किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण जयपुर के किसी भी भित्तिचित्रों, पाण्डुलिपि में उत्कीर्ण, महलों, हवेलियों, भवनों, राजप्रासादों, मंदिरों या साधारण से घरों में कभी भी शोक सन्तप्त चित्रांकन, दुर्भिक्ष के करुणा, युक्त चित्र या अकाल मृत्यु के विभीषिका का चित्रांकन कतिपय दृष्टिगोचर नहीं होता है। ढूंढार की प्रजा और यहां के संरक्षक के अगाध प्रेम ईश्वरीय भक्ति और शांति के महासागर के हिलोरे की कर्ण हवाने का साक्षी जयपुर में कच्छवाहा शासक रामसिंह द्वितीय का निर्मित अल्बर्ट हॉल सदैव साक्षी रहेगा और इसकी इमारत ढूंढार के जन साधारण के इस अद्भुत शान्त आक्रोश का बखान करता रहेगा।

**सन्दर्भ**

1. सरदार म्यूजियम जोधपुर-देखें शर्मा, गोपीनाथ, सोशल लाईफ इन मिडिवल राजस्थान (1500-1800), लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1968, पृ. 1
2. वही, पृ 2, पाद टिप्पणी 16
3. शास्त्री, प्रभाकर, जयपुर की संस्कृत साहित्य की देन, राजस्थान विश्वविद्यालय की डी. लिट्. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध (अप्रकाशित) 1970, पृ. 15
4. शर्मा, विनोद बिहारी, जयपुर की वेदाध्ययन की देन, राजस्थान विश्वविद्यालय की पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध (अप्रकाशित) 1989, पृ. 10
5. शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वोक्त, पृ. 28
6. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया भाग 13, पृ. 384, सरकार जदुनाथ, हिस्ट्री ऑफ जयपुर, पृ. 25, शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, पृ. 104
7. रत्नावत, श्यामसिंह, कछवाहों की उत्पत्ति तथा राजस्थान में राज्य संस्थापन पुनर्संधान एवं मूल्यांकन, जिज्ञासा-जिल्द 9, 2003, पृ. 120  
1949 ई. को जयपुर राजस्थान का अंग बना लिया गया था।
8. गुप्ता, टी.एन. तथा खंगारोत, आर.एस., आमेर, जयपुर, ए ड्रीम इन द डेजर्ट, क्लासिक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1994, पृ. 43
9. मेरा स्वयं का पी-एच.डी. का पत्र-दूंदार क्षेत्र की दृश्य कलाओं में जन जीवन-एक ऐतिहासिक अध्ययन, 16वीं-19वीं सदी तक, पृ. 31
10. शर्मा, गोपीनाथ, पृ. 288-296
11. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, 1983, पृ. 447
12. डॉ. कुमावत कनुप्रिया का रिसर्च पत्र, पृ. 113
13. रॉय ए.के., हिस्ट्री ऑफ जयपुर सिटी, मनोहर नई दिल्ली, 2006, पृ. 211-218
14. ए.जनरल, मेडिवल हिस्ट्री ऑफ राजपूताना (कलकत्ता-1990)

## राजपूताना रियासत की जन-चेतना के विकास में प्रेस की भूमिका

डॉ. राधाकिशन एवं नीलम

राजपूताना में बीसवीं शताब्दी में हिन्दी एवं उर्दू पत्र-पत्रिकाओं का राजपूताना के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में विशेष योगदान रहा था। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती भाषी समाचार पत्रों के पश्चात उर्दू समाचार पत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। जहां तक राजपूताना के संदर्भ में अध्ययन करते हैं तो हम पाते हैं कि टोंक, जयपुर, एवं अन्य स्थानों से समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संचालन हुआ। यह समाचार पत्र ज्यादातर यहां के राजाओं, नवाबों, ब्रिटिश रेजीडेंट्स, एजेंसियां, राजनीतिक, आर्थिक, नौकरशाही, सामाजिक एवं सम-सामयिक घटनाओं के बारे में समसामयिक लेख लिखते थे। प्रेस के ही माध्यम से विभिन्न समाज सुधारक, राजनीतिक नेताओं ने अपने विचारों को आम लोगों तक फैलाने में सफलता प्राप्त की। सरकार की वास्तविक नीति को, उसकी दोहरी चालों की कटु आलोचना को जनता तक पहुंचाने वाला प्रेस ही था। प्रेस को एक महत्वपूर्ण संस्था माना गया है। समाचार पत्र जनता के मध्य रचनात्मक भूमिका निभाते हैं। 19-20वीं शताब्दी में प्रेस का मुख्य उद्देश्य जन-जागरण था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में सक्रिय भूमिका तथा उल्लेखनीय कार्य किए।

राष्ट्रीय आन्दोलन के हर चरण को, उसके प्रत्येक पहलु एवं राजनीतिक गतिविधियों को प्रेस ने प्रमुखता दी। रियासतों में स्वतंत्रता आन्दोलन तथा राष्ट्र निर्माण में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका रही, इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने, उसके प्रत्येक रूप को विकसित करने, जनता को लोकतांत्रिक संस्थाओं से अवगत कराने, सरकार की नीतियों की समीक्षा कर जनता को प्रभावित करने, जनमत के निर्माण तथा विभिन्न दलों के विचारों से रियासतवासियों को परिचित कराने, रियासत के विभिन्न भागों में सामाजिक वर्गों के बीच व्यापक विचारों का आदान-प्रदान कराने, प्रादेशिक लोगों के मध्य एक मानसिक संबंध स्थापित कराने, राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों को सफल बनाने, राजपूताना संस्कृति तथा साहित्य का विकास करने, विभिन्न कुरीतियों जैसे जाति-प्रथा, बाल विवाह, छुआछूत, डाकन-प्रथा, कन्या-वध, सती प्रथा आदि को दूर करने, जनतांत्रिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों से लोगों को अवगत कराने, संसार एवं भारत में होने वाली घटनाओं से रियासतवासियों को परिचित कराने और उन पर अपनी विचारधारा निर्मित

करने और जनता के विचारों से सरकार को अवगत कराने का महत्वपूर्ण एवं कठिन कार्य उस काल में प्रेस ने अत्यन्त कुशलता तथा सफलता से पूरा किया।

राजस्थान के परम्परावादी सामंती समाज ने भी प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को अधिक प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी यहां के लोगों में स्वाधीन होने की प्रबल आकांक्षा किसी भी शक्ति द्वारा बाधित नहीं हो पाई। आत्म सम्मान व स्वतंत्रता प्रेम यहां के निवासियों के चरित्र का प्रमुख हिस्सा है। अति दमनात्मक नीतियों के बावजूद अपने अधिकारों के लिए स्वतंत्रता प्रेमी संघर्ष करते रहे हैं।

इन्हीं रियासतों में कई बड़ी रियासते ऐसी थी जहां मुगलकाल से राजाओं के दरबार में फारसी भाषा का प्रयोग होता था और आहिस्ता-आहिस्ता रियासतों के दफ्तर में फारसी भाषा में काम किया जाने लगा था। यह स्थिति अंग्रेजी काल में भी रही, सन् 1830 के बाद अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के दफ्तरों में उर्दू भाषा में काम करने की आज्ञा प्रदान कर दी थी तो राजपूताना की देसी रियासतों के दफ्तर में भी उर्दू में काम किया जाने लगा। चूंकि इन रियासतों में प्रारंभ में फारसी और उर्दू जानने वाले लोक सरकारी विद्वान भी शामिल थे। इसलिए राजपूताना की विभिन्न रियासतों में सरकारी दफ्तरों में उर्दू के चलन को बल मिला और इस प्रकार राजपूताना में उर्दू जुबान ने अपने पैर पसारने शुरू किए। इसके अलावा 19 वीं शताब्दी प्रारम्भ होने के पश्चात लोग रोजी-रोटी की तलाश में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में आने लगे, जिनमें बेहतरीन उर्दू शायर और लेखक भी शामिल थे। जिनके आने से भी भी राजपूताना में उर्दू साहित्य के क्षेत्र में रियासत अलवर, भरतपुर, जयपुर, टोंक, और अजमेर में उर्दू के शायरों और लेखकों के पहुंचने के पश्चात उर्दू शायरी की प्रगति हुई।

तब इसी समय से राजपूताना में टोंक, जयपुर, अजमेर, बीकानेर, भरतपुर से कई स्थानों से उर्दू की पत्र-पत्रिकाएं भी जारी हुईं। इन पत्र-पत्रिकाओं में दैनिक अथवा साप्ताहिक, पाक्षिक की संख्या भी बहुत कम रही। परंतु मासिक और त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएं अनेक स्थानों से प्रकाशित हुईं। 1885 ई. में राजपूताना गजट, 1889 ई. में राजस्थान समाचार, 1920 में राजस्थान केसरी, 1922 ईस्वी में नवजीवन, 1932 ईस्वी में प्रभात, 1927 ईस्वी में हरिभाऊ उपाध्याय ने त्याग भूमि का प्रकाशन गांधीवादी विचारधारा का प्रचार करने के उद्देश्य से किया था। समाचार पत्रों के अलावा राजस्थान के साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से जनजागृति पैदा की थी।

Dainik Navajyoti was started from Ajmer by the fighter Capt. Sarga Prasad Chaudhary. It was started on 2nd oct, 1936 on the birth date Mahatma Gandhi to write against the British Raj in India. Earlier it was a weekly newspaper later it became daily. Presently it is publishing from Jaipur, Ajmer, Jodhpur & Kota covering Rajasthan.

उदाहरण स्वरूप मुंशी सोहललाल एवं अयोध्या प्रसाद ने अजमेर से एक साप्ताहिक अखबार खैर-ख्वाह-खलाईक के नाम से जारी किया गया था। इसमें राजनैतिक खबरें भी छपती थीं। सन् 1900-1950 के दौरान जारी होने वाली पत्र-पत्रिकाएं अधिक समय तक जारी नहीं हो सकी। एक बात यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राजपूताना की कुछ रियासतों के गजट जो अंग्रेजी एवं उर्दू में छपते थे। जिनमें कानूनी व्याख्या के साथ रियासत खबरों को भी शामिल किया जाता था। चाहे वो आर्थिक हो या राजनैतिक उद्देश्य की।

राजस्थान रियासतों में जन चेतना के लिए समाचार पत्रों के साथ साथ समाज सुधारक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें, संचार-संसाधनों आदि घटनाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके विपरीत हम ब्रिटिश नीतियों को भी उत्तरदायी मानते हैं।

राजपूताना से जारी होने वाली पत्र-पत्रिकाएं अधिक समय तक जारी नहीं रह सकी। कुछ तो ऐसी पत्र-पत्रिकाएं रही, जिनके नाम-मात्र दो चार अंक ही प्रकाशित हुए। इसका मुख्य कारण आर्थिक और राजनीतिक तंगी और असहयोग रहा। इन पत्र-पत्रिकाओं के लंबे समय तक नहीं चल पाने के पीछे कुछ राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां भी हो सकती हैं, क्योंकि राजपूताना के राजाओं, महाराजाओं का संबंध अंग्रेजों से था। अतः अंग्रेजों के विरुद्ध किसी को भी किसी प्रकार की बात कहने तक की इजाजत नहीं थी। दैनिक पत्रिकाओं में राजनैतिक खबरे भी प्रकाशित होती थी और अंग्रेजों के खिलाफ भी बात कही जा सकती थी। विशेष रूप से देश की आजादी के संबंध में आवाज उठायी जा सकती थी।

यहां पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना ब्रिटिश शासन की देन है? मेरा मानना है ब्रिटिश शासन न होता तो क्या भारत में राष्ट्रवाद और आन्दोलन पैदा ही न होते?

अतः पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रकार की खबरे छापना संभव नहीं था। जब किसी अखबार में आजादी कही बात कही गई अथवा अंग्रेजों के खिलाफ कुछ लिख गया तो उस अखबार को बंद कर दिया गया और उसके संपादक को सजा दी गई। अतः ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इस अखबार को बंद कर दिया इसके संपादक को सजा भी दी। इसके बाद किसी अखबार की यह हिम्मत नहीं हुई कि वो आजादी की बात कह सकें। इससे पूर्व भरतपुर के राजा बलवंतसिंह सन् 1825-1853 के शासन काल में भरतपुर में मौलवी ने सन् 1851 में सफदर अली ने मतवा सफदरी यानि प्रेस सन् 1851 में कायम किया। उसी प्रेस से एक अखबार में मजहूर सुरूर उसी साल सन् 1851 में जारी किया था। जो कि दो कॉलम में छपता था, एक कॉलम उर्दू और दूसरे कॉलम में वहीं खबर भाषा देवनागरी लिपि में छपती थी। इससे भी पूर्व सन् 1848 में एक साप्ताहिक अखबार 'रोजातुत्वारिख' के नाम से जयपुर से प्रकाशित हुआ।



भारतीय भाषाई समाचार पत्रों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए लॉर्ड लिटन ने वर्नाकूलर प्रेस एक्ट लागू किया था। इसके दो प्रभाव पड़े प्रथम समाचार पत्रों पर इसका बुरा प्रभाव दूसरा भारतीयों में एक नई चेतना का संचार हुआ। इस एक्ट का परिणाम निकला कि भारत में इतने बड़े आधार पर पहले कभी राजनीतिक उथल-पुथल नहीं हुआ और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत में एकता तथा जागरूकता आई।

इतिहास का अंततः सबसे बड़ा लाभ यही हो सकता है कि वह समाज के मूल अन्तरविरोधों को उजागर कर संघर्ष की दिशा दिखाए, परन्तु ऐसा तब ही संभव होगा जब न केवल इतिहास जनता को केन्द्र मानकर लिखा जाए बल्कि जनता के लिए भी लिखा जाए। वरना आज की तरह ही विद्वान इतिहासकारों की पुस्तकें पुस्तकालयों में धूल चाटती रहेगी और आम आदमी चटपटी पत्र-पत्रिकाओं में मिलने वाली सनसनीखेज महलों और राजाओं की कहानियों को ही इतिहास मानता रहेगा।

### सन्दर्भ

1. जैन, डॉ. एम.एस. आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. सं. 282-83
2. शुक्ल, रामलखन, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ.सं. 398
3. यंग इंडिया और हरिजन
4. रोजातुत्तवारीख साप्ताहिक 1848
5. नैय्यरे राजस्थान साप्ताहिक हकीम सलीम खां खत्ता 1859
6. दैनिक नवज्योति दैनिक कप्तान दुर्गाप्रसाद चौधरी 1936
7. रोशनी दैनिक मौलवी सईद हुसैन 1935
8. इकबाल दैनिक 1949
9. मशरिक दैनिक 1950
10. जयपुर गजट इयर 1926

## स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान की देशी रियासतों में राजनैतिक चेतना (जयपुर राज्य के विशेष सन्दर्भ में)

ललिता भीमवाल

### प्रारम्भिक

स्वतंत्रता से पूर्व का काल राजस्थान के इतिहास में संक्रमण का काल कहा जा सकता है क्योंकि इस समय एक ओर जहां देशी रियासतों के नरेश ब्रिटिश शासक के अधीन अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहते थे वहीं दूसरी ओर नागरिक स्वतंत्रता के लिए राजस्थान की विभिन्न रियासतों में उत्तरदायी शासन हेतु जन आन्दोलन व राजनीतिक संगठनों की स्थापना हो रही थी। प्रदेश की अधिकांश रियासतों में प्रजामंडल, प्रजा परिषद, लोक परिषद नामक राजनीतिक संगठन बन गये थे। प्रशासन में महत्वपूर्ण हो रहे थे। राजस्थान की देशी रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया चल रही थी। जिसकी पुष्टि 1945 में जयपुर में प्रांतीय सभा के कार्यकाल की स्थापना से होती है क्योंकि यह प्रदेश के भावात्मक एकीकरण की ओर पहला कदम था। स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान छोटी-बड़ी 19 रियासतों में बंटा हुआ था। उनमें क्षेत्रफल, आमदनी और जनसंख्या की दृष्टि से जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर की रियासतें बड़ी व प्रमुख थी। राजस्थान की सभी रियासतें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से काफी पिछड़ी हुई थी। राजा-महाराजाओं को अपनी रियासतों में निरंकुश व अबाध सत्ता प्राप्त थी। राज्य कोष का अधिकतर भाग शासकों के वैभव और विलास पर खर्च होता था। राजा-महाराजाओं के व्यक्तिगत खर्च और सार्वजनिक कार्यों पर होने वाले खर्च के बीच कोई सीमा रेखा नहीं थी।

राजा-महाराजाओं के अतिरिक्त रियासतों में जागीरदारों का एक शक्तिशाली वर्ग था। जागीरदार रियासतों के बहुत बड़े भू-भाग पर काबिज थे। वे यों तो राजा-महाराजाओं के मातहत थे किन्तु उन्हें अपनी प्रजा को सताने और उसकी लूट-खसोट करने की पूरी स्वतंत्रता थी। जागीरदार अपनी प्रजा से तरह-तरह के लाग-बाग वसूल करते थे और भेंट व बेगार लेते थे। प्रजा की प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और स्वतंत्रता सब कुछ उनकी दया पर निर्भर था। किसी को भी जेल में डाल दिया जाता और अमानुषिक यातनाएं देने में कोई संकोच नहीं किया जाता था।<sup>1</sup>

रियासतों की प्रजा को तिहरी गुलामी में रहना पड़ता था। अंग्रेजों की सर्वोपरि गुलामी तो थी ही, उसके बाद राजा-महाराजाओं की और अंत में उनके सामंतों अर्थात्

जागीरदारों की गुलामी। रियासती प्रजा स्वतंत्रता के नाम की वस्तु से सर्वथा अपरिचित थी। राजा-महाराजा ब्रिटिश राज्य के स्तम्भ बन गये थे। ब्रिटिश सत्ता ने जब उन्हें संरक्षण प्रदान कर दिया तो वे प्रजा की ओर से उदासीन हो गए। उनकी उपेक्षा करने लगे। सार्वभौम सत्ता के नाते ब्रिटिश सरकार की यह जिम्मेदारी थी कि वह रियासतों में कुशासन की रोकथाम करती, किन्तु उसने यह घोषित कर दिया था कि वह रियासतों के भीतरी प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करेगी। अतः राजा-महाराजाओं के मनमानी करने की छूट मिली हुई थी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि ब्रिटिश सरकार अपनी जरूरत के लिए रियासतों में हस्तक्षेप नहीं करती थी। अगर कोई राजा स्वतंत्र चेता हुआ, होता तो उसे दबाने के लिए जरूरी हस्तक्षेप किया जाता था। उदाहरण के लिए अलवर के राजा जयसिंह और भरतपुर के राजा किशनसिंह को ब्रिटिश सरकार ने पदच्युत करके उनकी रियासतों से निर्वासित कर दिया था। इसके अलावा ब्रिटिश सरकार रियासतों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए महत्वपूर्ण पदों पर अपने आदमी नियुक्त कर देती थी। उनमें अंग्रेज भी होते थे और भारतीय भी, जो राजनीतिक विभाग के इशारे पर काम करते थे।<sup>12</sup>

रियासतों में नागरिक स्वतंत्रता का सर्वथा अभाव था व लिखने, बोलने और संगठन की आजादी नहीं थी। न कोई समाचार पत्र प्रकाशित किया जा सकता था और न कोई सभा सम्मेलन हो सकता था। रियासती प्रजा को दम घोटू वातावरण में जीना पड़ता था। ब्रिटिश भारत में राजनीतिक जागृति की लहर पैदा हुई तो रियासती शासकों ने अपनी रियासतों को उससे अछूता रखने की पूरी कोशिश की। उन्हें यह भी गवारा नहीं था कि उनकी रियासतों में शिक्षा का प्रसार हो और लोग नये विचारों से परिचित हो। आर्य समाज जैसी समाज सुधार की प्रवृत्ति को भी अनेक रियासतों में शंका की दृष्टि से देखा जाता था और उसके प्रचार पर रोक लगा दी गई थी। रियासतों में एक प्रकार से भय व आतंक का राज था। यही कारण था कि राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने शुरू में ब्रिटिश भारत में स्थित अजमेर को अपना केन्द्र बनाकर रियासतों में राजनीतिक चेतना पैदा करने का प्रयास किया।<sup>13</sup> रियासतों में जनजागृति को कुचलने के लिए जेल, मारपीट, निर्वासन, सम्पत्ति की जब्ती और सभी दमनकारी उपाय काम में लिए जाते थे। ब्रिटिश भारत से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों में रियासती प्रशासन की चर्चा होती। उनका रियासतों में प्रवेश रोक दिया जाता। उनके संवाददाता छिपे रूप से संवाद भेजते थे और रियासती अधिकारी उन्हें खोज निकालने के लिए बेचैन रहते थे। देश में जो क्रांति की लहर उठी उससे फिर राजस्थान की रियासतें भी अप्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। राजस्थान में राष्ट्रीयता का बीज बोने वालों में सबसे पहले अर्जुन लाल सेठी का नाम जबान पर आता है। उन्होंने जयपुर में अपने वर्धमान विद्यालय द्वारा युवकों को देश भक्ति का मंत्र दिया। अजमेर, मेरवाड़ा के गोपालसिंह क्रांतिकारी प्रयास में शामिल हुए और अंग्रेजों द्वारा नजरबंद रखे गये। ठाकुर केसरीसिंजी बारहठ को क्रांतिकारी हलचलों में भाग लेने के कारण आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया, उनकी जागीरें व मकान जब्त कर लिए गए। उनके होनहार पुत्र प्रताप अंग्रेजों की जेल में शहीद हुए और उनके भाई ठाकुर जोरावरसिंह

आजीवन फरार रहे। बारहठ राजस्थान की शाहपुरा रियासत के निवासी थे और उनके परिवार ने स्वतंत्रता आंदोलन में जो योगदान दिया वह इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों से लिखा जाना चाहिए। ब्यावर के उद्योगपति दामोदरदास राठी को भी आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति थी और उन्होंने अपने ढंग से उनकी सहायता की। इन देशभक्तों को हम राजस्थान में राष्ट्रीयता के जनक कह सकते हैं जिन्होंने जोखिम उठाकर स्वतंत्रता में योगदान दिया और अवसर आने पर त्याग व कष्ट सहने में पीछे नहीं रहे।<sup>14</sup>

राजस्थान की रियासतों में सबसे पहला सामूहिक जन आन्दोलन बिजोलिया में हुआ। बिजोलिया उदयपुर रियासत की एक जागीर थी और यहां के किसानों ने सामंती शोषण और अत्याचारों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया। सौभाग्य से बिजोलिया के किसानों को विजयसिंह के रूप में एक अच्छे नेता मिला गया था। गांधीजी ने देश में अपने सत्याग्रह और असहयोग के प्रयोग किए उससे पहले ही बिजोलिया के किसानों ने सत्याग्रह का अवलम्बन किया। उन्होंने लाग-बाग देने और पेट बेगार करने से इंकार कर दिया और अपने प्रतिरोध को सफल बनाने के लिए जमीन तक नहीं जोती। सरकारी खजाना खाली हो गया। गिरफ्तारियां हुईं, सत्याग्रहियों को मारा पीटा गया और आतंकित किया गया किन्तु वे अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। बिजोलिया के इस सत्याग्रह में गांधीजी ने भी दिलचस्पी ली और अपने निजी सचिव महादेव भाई देसाई को उसका अध्ययन करने के लिए भेजा था। चार-पांच साल तक यह सत्याग्रह चला और अंत में सन् 1922 में एक समझौते के साथ वह समाप्त हुआ। उसके फलस्वरूप अनेक अनुचित लाग-बाग खत्म हुईं, बेगार की अमानुषी प्रथा का अंत हुआ और किसान पंचायत को मान्यता दी गई।

बिजोलिया के प्रयोग ने सामंती शोषण और अत्याचारों से त्रस्त रियासती जनता को मुक्ति का नया मार्ग दिखाया। लोगों में साहस पैदा हुआ और उन्होंने शोषण को समाप्त करने के लिए आवाज बुलंद की। मेवाड़ के अनेक क्षेत्र इस आन्दोलन से प्रभावित हुए। लाखों व्यक्ति उसमें शामिल हुए। कहीं बल प्रयोग करके तो कहीं कुछ रियासतें देकर रियासती हुकुमत से इस आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया गोलियां चली, लाठियां बरसी व सैकड़ों की संख्या में गिरफ्तारियां हुईं। किन्तु आन्दोलन फैलता गया। इस आन्दोलन का नेतृत्व राजस्थान सेवा संघ ने किया था और उसके सिलसिले में कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए, जिनमें हरिभाई किंकर, रामनारायण चौधरी, साधु सीताराम, प्रेमचंद भील, माणिक्यलाल वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बेगूं के रूपाजी और कृपाजी धाकड़ इसी आन्दोलन में शहीद हुए।<sup>15</sup>

मेवाड़ के किसानों के आन्दोलन के साथ-साथ भीलों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन के नेता मोतीलाल तेजावत थे। भील आन्दोलन केवल रियासत तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सिरौही, पालनपुर, जोधपुर आदि रियासतों में भी फैल गया। इस आन्दोलन का उद्देश्य लाग-बाग को समाप्त करना और लगान में राहत प्राप्त करना

था। समाज सुधार भी उसका अंग था। मेवाड़ के मौमट इलाके में और सिरोंही में शासकों ने भीलों के विरुद्ध बल प्रयोग किया। गोलीकांड हुए और सिरोंही में दो गांवों को आग लगा दी गई। सैकड़ों भील मारे गये अथवा घायल हुए। जब यह आन्दोलन शांत हो गया तो उसके नेता तेजावत को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें उदयपुर ने सात वर्ष तक जेल में बंद रखा। जेल से रिहा करने के बाद भी कई वर्षों तक उन्हें उदयपुर नगर की म्युनिसिपल सीमा में नजर बंद रखा गया। उन पर भीलों को अगाधा विश्वास था और यदि उन्हें भीलों में काम करने दिया जाता तो वह समाज सुधार के पक्ष में एक बड़ी शान सिद्ध होते।<sup>6</sup>

सन् 1925 में अलवर रियासत में नीमूचाना हत्याकांड हुआ जिसकी तुलना कुछ अंग्रेजों के जलियावाला बाग से की जा सकती है। अलवर रियासत के राजपूत किसानों ने एक राजपूत कमेटी बनाई और अपनी शिकायतों के बारे में एक स्मरण पत्र लिखकर अंग्रेज रेजिडेण्ट को दिया था। किसान बढ़ा हुआ लगान कम करना और अपने अधिकार सुरक्षित रखना चाहते थे। महाराजा की कोपाग्नि भड़क उठी। ये किसान नीमूचाना के गांव में जमा हुए थे। रियासत की फौज ने इस गांव को घेर लिया और बिना किसी चेतावनी के गोलियां चला दी। गैर सरकारी जांच के अनुसार इस हत्याकांड में 95 व्यक्ति जान से मारे गये और 250 व्यक्ति घायल हुए। गोली वर्षा के अलावा गांव को आग लगा दी गई, जिसके फलस्वरूप 343 मकान जल गये और करीब एक लाख रुपये की सम्पत्ति जल कर राख हो गई। इसी सिलसिले में 50 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए जिनमें से दो की जेल में मृत्यु हो गई। गांधीजी ने इस हत्याकांड को दुहरी डायर शाही की संज्ञा दी थी। इस हत्याकांड ने तत्कालीन रियासत हुकुमत के माथे पर स्थायी कलंक का टीका लगा दिया। जिसके बाद रियासती जनता ने अनुभव किया कि जब तक रियासतों में निरंकुश शासन रहेगा, ऐसी दुर्घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं रुक सकेगी।<sup>7</sup>

### कांग्रेस की नीतियां

ब्रिटिश भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का संचालन कांग्रेस कर रही थी। कांग्रेस अंग्रेजों और राजा-महाराजाओं से दो मोर्चों पर एक साथ टक्कर नहीं लेना चाहती थी। रियासती प्रजा के साथ कांग्रेस को सहानुभूति अवश्य थी, किन्तु उसने रियासतों के मामलों में सीधा हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई हुई थी। कांग्रेस के नेताओं की यह धारणा थी कि स्वराज्य का प्रश्न हल होने पर देशी रियासतों की समस्या भी आसानी से हल हो जाएगी। किन्तु रियासतों में राजा-महाराजाओं की निरंकुशता और सामंती शोषण के विरुद्ध असंतोष बढ़ता जा रहा था और असंतोष अब यत्र:तत्र जन आंदोलन के रूप में प्रकट हो रहा था। रियासती कार्यकर्ता यह अनुभव करते थे कि रियासतों को उनके हाल पर छोड़ दिया गया और प्रजा को सचेत व संगठित नहीं किया गया तो यह रियासतें शेष भारत के गले में चक्की का पाट बनकर रह जायेगी। अंग्रेज अपनी सत्ता को टिकाये रखने के लिए राजा-महाराजाओं को अपने हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे।

उसकी यह नीति थी कि रियासतों को ब्रिटिश भारत में चलने वाले आन्दोलन के प्रभाव से अछूता रखा जाए। ब्रिटिश सरकार का राजनीतिक विभाग राजा-महाराजाओं पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रजा आन्दोलनों को न पनपने देने के लिए दबाव डालता था।<sup>8</sup>

रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति को ध्यान में रखकर रियासती नेताओं ने 1925 में अखिल भारतीय देशी राज्य लोकपरिषद के नाम से अलग अखिल भारतीय संगठन की स्थापना की। इस संस्था ने रियासती-कुशासन का देश और विदेश में पर्दाफाश किया और रियासती जनता की आवाज को बुलंद किया। राजस्थान के लिए भी इस संगठन की प्रादेशिक शाखा बनी। आगे चलकर राजस्थान की रियासतों में प्रजा मंडलों, प्रजा परिषदों, लोक परिषदों को एक सूत्र में बांध कर रखा व उनका पथ-प्रदर्शन भी किया। देशी राज्य लोक परिषद के कांग्रेस के साथ भी ताल-मेल कायम रखा और अनेक कांग्रेसी नेताओं के अध्यक्ष के रूप में संचालन किया। राजस्थान की रियासतों में प्रजाकीय आन्दोलन ने नया मोड़ लिया। हरिपुर के अधिवेशन में कांग्रेस ने इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया था कि रियासती प्रजा को अपने राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई स्वयं ही लड़नी होगी और इसके लिए वह अपने स्थानीय संगठन बना सकती है। अब तक रियासती प्रजा के आन्दोलनों का संचालन ब्रिटिश भारत से होता था। कांग्रेस के इस संकेत के बाद रियासतों के भीतर राजनीतिक संगठन कायम हुए। रियासतों में नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध लगे हुए थे, उन्हें हटाने के लिए राजनीतिक संगठनों को रियासती हुकुमतों को लोकमत के सामने झुकना ही पड़ा।<sup>9</sup>

### जोधपुर रियासत

जयपुर राज्य के निवासियों ने ब्रिटिश भारत में जाकर व्यवसायिक कौशल का परिचय दिया और सम्पन्नता प्राप्त की। उन्होंने अपनी कमाई का एक हिस्सा अपनी जन्मभूमि में सार्वजनिक लोकहितकारी कार्यों पर खर्च किया। फलस्वरूप जयपुर रियासत में औषधालयों, शिक्षणालयों, सेवा समितियों आदि की स्थापना हुई और उनके द्वारा जनजागृति का काफी काम हुआ। अखिल भारतीय चरखा संघ ने भी जयपुर को खादी कार्यों का मुख्य केन्द्र बनाया और उसके लिए रियासती शासन से सहानुभूति प्राप्त की। राजनीतिक जागृति के क्षेत्र जयपुर व समस्त राजपूताना के राज्य पिछड़े हुए रहे जबकि ब्रिटिश प्रांतों में यह राजनीतिक विचारधारा अच्छी प्रगति पर थी, इसका कारण शिक्षा की कमी, सामंतवादी प्रवृत्तियों और योग्य नेतृत्व का अभाव था। सन्देह नहीं है कि देश के शेष भागों की घटनाओं का प्रभाव क्षेत्र पर भी पड़ा था और लोग अपने राज्य की सरकार में भागीदारी की बात सोचने लगे थे।<sup>10</sup>

### जयपुर राज्य में राजनैतिक चेतना का प्रादुर्भाव

जयपुर राज्य राजपूताना के अग्रण्य राज्यों में से एक था, जहां राजनैतिक चेतना का प्रादुर्भाव लोगों में होने लगा था। इसकी शुरुआत महाराजा मानसिंह के अल्प वयस्क शासन काल से हो चुकी थी। इससे पूर्व भी जागीरदारी गांवों में कुछ सेवा समितियां बन

चुकी थी। ये जागीरदार अपनी प्रजा पर बेहद जुल्म करते थे। अतः दूसरे कार्यों की आड़ में एक राजनैतिक संगठन था जो इन अत्याचारों के विरोध में खड़ा हुआ था। इन जागीरी गांवों की हालात खालसा के गांवों से बदतर थी। विशेषरूप में सीकर, खेतड़ी के क्षेत्र इससे आक्रोश राज्य में शासक के विरुद्ध जनता में असंतोष व्याप्त था। इस दिशा में जयपुर में 1922 ई. के आरम्भ में संघर्ष की शुरुआत हो चुकी थी जो हर वर्ष बढ़ता ही गया।<sup>11</sup> अब लोगों ने शासक पर सुधारों के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। 1 सितम्बर 1927 ई. को जयपुर नगर में हजारों की संख्या में लोग एकत्र हुए और उन्होंने भ्रष्ट शासन द्वारा आरोपित नये करों के विरुद्ध प्रदर्शन किया। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाई जिससे एक व्यक्ति की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। ब्रिटिश रेजिडेंट ने नगर में फौजें तैनात कर दी। दूसरे दिन एक आम सभा का आयोजन किया गया जिसमें पुलिस की ज्यादती की भर्त्सना व कटु आलोचना की गई और मांग की गई कि घटना की निष्पक्ष जांच करवाई जाए। जयपुर नगर में पांच दिन तक हड़ताल चलती रही व अंत में रेजिडेंट के व्यक्तिगत आश्वासन पर नगर में पुनः शांति स्थापित हुई।

5 अप्रैल, 1931 ई. को मोतीलाल दिवस जयपुर में मनाया गया। इसमें सम्मिलित होने वाले खादी भंडार के कार्यकर्ता गुलाबचन्द चौधरी, कुंदनलाल और किशोरसिंह को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें कड़ी सजाएं दी गईं। स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए तथा निरंकुश शासक के अन्यायपूर्ण व्यवहार और बिखरते हुए आन्दोलन को ध्यान में रखकर कुछ कार्यकर्ता कपूरचंद पाटनी के नेतृत्व में आगे आये। उन्होंने यह उचित समझा कि इस आन्दोलन को राजनैतिक स्तर से उठाकर सामाजिक, आर्थिक स्तर पर पहुंचा दिया जाए। इस बात को ध्यान में रखकर उसी वर्ष 1931 ई. में प्रजामंडल की स्थापना हुई।<sup>12</sup>

### जयपुर प्रजामंडल की स्थापना

वैसे तो 1931 में कपूरचंद पाटनी ने प्रजामंडल की स्थापना कर दी थी लेकिन यह सोच पूर्णतया निष्क्रिय रही। प्रारम्भ में जयपुर राज्य प्रजामंडल ने अपनी गतिविधियां सामाजिक सुधार और खादी की उन्नति एक सीमित रखी जिसका प्रभाव यह हुआ कि खादी जयपुर राज्य की जनता में प्रिय हो गया। इन सबके बावजूद यह कहना उचित होगा कि जैसे प्रजामंडल की शुरुआत हुई थी, उसके मुताबिक उसका काम नहीं चलाया गया और 5-6 साल ऐसे ही बीत गए। आगे चलकर अक्टूबर 1936 में यह विचार किया गया कि प्रजामंडल को पुनः संगठित किया जाये। इस कार्य में जमनालाल बजाज ने प्रक्रियात्मक सहयोग दिया। नवम्बर 1936 में जयपुर प्रजामंडल के कार्य को अधिक व्यापक बनाया गया। इसके कार्यक्रम को जन आधार प्रदान किया जा सके, इसके लिए रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया। वनस्थली जीवन कुटीर (निवाई) के संस्थापक पंडित हीरालाल शास्त्री ने भी अब प्रजामंडल के कार्यों में रुचि लेना आरम्भ किया।<sup>13</sup> अब प्रजामंडल के उद्देश्य नीति निर्धारण के अन्तर्गत जयपुर राज्य में मंडल के ज्यादा से

ज्यादा सदस्य बनाकर मंडल के संगठन को मजबूत करना, जनता की परेशानियों की जानकारी हासिल करना और उन्हें राज्य कर्मचारियों तक पहुंचाकर, पुस्तकालय खोलना, रचनात्मक सहयोग नीति के अनुसार कार्य करना अर्थात् विरोध, निंदा और खंडन की भावना का परित्याग करके जनता के सम्पर्क में आना, जनता के कष्टों को सही-सही पता लगाना तथा उनको दूर कर जनता का ज्ञात बढ़ाना, उसमें आत्मविश्वास और बल का संचार करना आदि कार्यक्रम रखे गये।<sup>14</sup>

इस वर्ष मंडल का संगठन काफी व्यापक हो चुका था और इसके सदस्यों की संख्या 5000 से भी अधिक हो चुकी थी। जयपुर शहर व रियासत के प्रत्येक कस्बे व जिले में सुसंगठित प्रजामंडल की कमेटियां बन चुकी थी। सभी स्थानों पर जिला अधिकारियों से सुव्यवस्थित कार्यालय स्थापित हो चुके थे। सम्पूर्ण राज्य में जनता की आवश्यकताओं व समस्याओं का अध्ययन किया गया तथा इनको यथा सम्भव राजकर्मचारियों तथा ठिकानेदारों के सामने रखा गया। 1938 ई. इस तरह से कई घटनाओं का वर्ष रहा जबकि एक ओर इण्डियन स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस को पूरी मदद देने का आश्वासन दिया और दूसरी ओर जयपुर प्रजामंडल ने संवैधानिक सुधारों और कृषि सुधारों के लिए आन्दोलन की शुरुआत कर दी। यहां यह उल्लेखनीय है कि किसान सभा नामक एक संस्था थी जो प्रजामंडल के विरोध स्वरूप खड़ी हुई थी। इसका एक कार्यक्रम कृषकों के हितों की रक्षा करना था। आगे चलकर इस सभा का प्रजामंडल में विलय हो गया जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजामंडल की गतिविधियों को जनता का उचित सहयोग मिला। इस समय चिरंजीलाल मिश्र प्रजामंडल के अध्यक्ष थे। बाद में जमनालाल बजाज इसके अध्यक्ष बने और हीरालाल शास्त्री सचिव बनाये गये।<sup>15</sup> प्रजामंडल को अब एक नया जीवन मिला और उसकी गतिविधियां तेजी से आगे बढ़ने लगी, मार्च 1938 में पुनर्गठित जयपुर प्रजामंडल का प्रथम वार्षिक अधिवेशन की तैयारियां शुरू कर दी गईं। प्रजामंडल को अपने अस्तित्व के लिए लड़ाई लड़नी पड़ी थी क्योंकि जयपुर के आन्दोलन का दमन करने के लिए 30 मार्च 1938 ई. का जयपुर बजट में 'पब्लिक सोसाइटी रेग्यूलेशन' नाम का एक नया कानून सदस्य बनता है जो सरकार द्वारा पंजीकृत और स्वीकृत संगठन नहीं है तो वह आपराधिक व दण्डनीय माना जायेगा।" जयपुर राज्य की जनता में यह कानून 'काला कानून' के नाम बदनाम हुआ।<sup>16</sup>

प्रजामंडल के अधिवेशन की तैयारी के दौरान यही समझा गया कि यह कानून प्रजामंडल की कार्यवाहियों को दबाने के लिए पास किया गया था यद्यपि प्रजामंडल को -पब्लिक सोसायटीज रेग्यूलेशन' सख्त नापसंद था तथापि राज्य अधिकारियों से बातचीत होने पर तथा उनके इस आश्वासन पर कि आवेदन पत्र देते ही प्रजामंडल को स्वीकार कर लिया जाएगा। तब प्रजामंडल का वार्षिक अधिवेशन, मई 1938 को सेठ जमनालाल बजाज के सभापतित्व में जयपुर शहर में बड़ी धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ। अधिवेशन के साथ जयपुर राज्यकला उद्योग प्रदर्शनी भी हुई। इस अधिवेशन और प्रदर्शनी में प्रजामंडल को अभूतपूर्व सफलता मिली। जिसका राज्य की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इसमें प्रजामंडल का उद्देश्य इस प्रकार परिभाषित किया गया “प्रतिनिधि उत्तरदायी सरकार की स्थापना, लोगों के लिए नागरिकता का अधिकार को प्राप्त करना और जयपुर का सर्वांगीण विकास करना। इस अधिवेशन की सफलता से यह सिद्ध हो गया था कि जयपुर की जनता प्रजामंडल के साथ है। इसी बीच सीकर में आन्दोलन शुरू हो गया और जमनालाल बजाज को सीकर जाना पड़ा।<sup>17</sup>

अक्टूबर 1938 में नये म्यूनिसिपल कानून के अनुसार जयपुर शहर के म्यूनिसिपल बोर्ड का चुनाव हुआ। यह नया कानून भी अत्यन्त असंतोषजनक था, फिर भी प्रजामंडल ने चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करने का निश्चय किया। चुनाव प्रचार के लिए सभाएं करने की इजाजत प्रजामंडल को मिल गई और प्रजामंडल के उम्मीदवारों को सफलता में कोई शक नहीं रह गया, लेकिन इसी समय राज्य की ओर से गुप्त सक्वैलर निकलने का पता चला। इस आदेश के अनुसार राज्य कर्मचारियों पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि वह अपना वोट अपनी इच्छा से किसी उम्मीदवार को नहीं दे सकते। साथ ही यह स्पष्ट किया गया कि राज्य कर्मचारियों द्वारा गया वोट गुप्त नहीं रह सकेगा। राज्य की इस कार्यवाही का विरोध करने हेतु प्रजामंडल को अपने उम्मीदवारों को पुनः लेने का निश्चय करना पड़ा। फलस्वरूप जयपुर शहर की जनता ने म्यूनिसिपल चुनाव का क्रियात्मक बहिष्कार कर दिया।<sup>18</sup>

सन् 1938-39 में राजस्थान के अन्य भागों की तरह ही जयपुर राज्य में अकाल पड़ा। प्रजामंडल के अध्यक्ष श्री बजाज ने नवम्बर 1938 को एक विज्ञापित जारी कर प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं से अपील की कि उन्हें अपनी सभी प्रवृत्तियां स्थगित कर राज्य में अकाल राहत कार्य में लग जाना चाहिये। उन्होंने इस समाचार का खण्डन किया कि प्रजामंडल निकट भविष्य में कोई आन्दोलन छेड़ने वाला है। अकाल की भीषणता का अनुभव कर प्रजामंडल के सभापति जमनालाल बजाज ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसके अन्तर्गत यह बताया गया कि प्रजामंडल दूसरे कार्यों में न उलझ कर सिर्फ अकाल सेवा का कार्य करेगा। जमनालाल बजाज के प्रयत्न से कलकत्ता की राजपूताना अकाल सेवा समिति का अमूल्य सहयोग जयपुर राज्य में अकाल राहत कार्य/सेवा का कार्य, प्रजामंडल के तत्वावधान में किया जाए परन्तु कुछ समय बाद ही इस कार्य में विघ्न आ गया। इसी बीच सरकार द्वारा 16 सितम्बर 1936 ई. को जमनालाल बजाज के जयपुर राज्य में प्रवेश पर रोक लगा दी गई।<sup>19</sup> प्रजामंडल के सभापति जमनालाल बजाज जब जनरल और कार्यकारिणी कमेटियों की बैठकों में शामिल होने तथा अकाल सेवा के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए जयपुर आ रहे थे, तभी 29 दिसम्बर 1938 ई. को सवाई माधोपुर रेलवे स्टेशन पर पहुंचते ही उन पर जयपुर राज्य में प्रवेश करने की पाबंदी के आदेश की पालना की गयी। इस प्रकार अचानक बिना कारण लगाई गई पाबंदी को जमनालाल बजाज ने अनुचित समझा तथा राज्य सरकार से अपने निर्णय पर पुनः विचार करने का कहा और इस कारणवश उन्होंने एक दिन के लिए अपना जयपुर राज्य में प्रवेश

टाल दिया।<sup>20</sup> तत्पश्चात् जमनालाल बजाज ने 7 जनवरी 1928 ई. को एक पत्र प्रेसिडेन्ट कौंसिल ऑफ स्टेट जयपुर के नाम लिखा जिसमें उन्होंने पाबंदी उठा लेने की अपील की और यह भी स्पष्ट किया कि यदि 31 जनवरी 1928 ई. तक पाबंदी नहीं उठाई गई तो पाबंदी की आज्ञा को तोड़ना पड़ेगा।

जब जयपुर राज्य की ओर से जमनालाल बजाज को कोई उत्तर नहीं मिला तब इसी बीच 12 जनवरी 1940 के जयपुर बजट में यह घोषणा की गई कि प्रजामंडल का अपनी मुख्यता के लिए किया हुआ आवेदन पत्र अस्वीकार कर दिया गया।<sup>21</sup> इसके अस्वीकार करने का जो कारण बताया गया, उसका सार यह था कि प्रजामंडल का उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना करना है जो महाराज मानसिंह द्वितीय की निगाह से ठीक नहीं है इसलिए ऐसे उद्देश्य रखने वाली संस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। 18 जनवरी 1939 ई. को ‘पब्लिक सोसायटीज रेग्यूलेशन’ के स्थान पर ‘पब्लिक सोसायटीज’ नामक एक नया कानून प्रकाशित किया। जिसका उद्देश्य संस्थाओं को रजिस्टर करना था, परन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य सार्वजनिक जीवन का दमन करना था। प्रजामंडल के सभापति जमनालाल बजाज ने अपनी अनुपस्थिति में काम चलाने के लिए एक सत्याग्रह समिति बना दी और पूर्व निश्चय के अनुसार फरवरी 1938 ई. को जयपुर स्टेशन पहुंचे। राज्य के अधिकारियों ने जमनालाल बजाज को गिरफ्तार कर लिया किन्तु उन्हें जयपुर में नहीं रखा गया बल्कि कई सौ मील दूर घुमाने के बाद मथुरा ले जाकर छोड़ दिया गया।<sup>22</sup> फिर भी जमनालाल बजाज नहीं माने और 5 फरवरी 1938 ई. को दुबारा जयपुर राज्य में प्रवेश करने का प्रयास करने लगे। इस बार उन्हें ‘बावड़ी टीकरियां’ रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया, उन्हें विश्वास दिलाया गया कि उनको पहले की भांति बाहर नहीं ले जाया जाएगा परन्तु इस आश्वासन के बावजूद भी उन्हें एक बार फिर राज्य ले जाकर छोड़ दिया गया।<sup>23</sup>

सेठ जमनालाल बजाज ने 12 फरवरी 1939 को तीसरी बार जयपुर राज्य में प्रवेश करने की कोशिश की इस बार उन्हें गिरफ्तार करके ‘मोरां’ में नजरबंद कर दिया गया। इनके साथ अन्य नेताओं को भी गिरफ्तार किया गया। प्रजामंडल ने इसका विरोध किया और सत्याग्रह आरम्भ कर दिया।

### 1939 ई. का सत्याग्रह

सरकार के दमनात्मक रवैये को देखकर जयपुर की जनता ने 5 फरवरी 1939 ई. से सत्याग्रह आरम्भ कर दिया गया। इस सत्याग्रह की मांग थी कि जयपुर राज्य में एक लेजिस्लेटिव असेम्बली का गठन किया जाए और राज्य की अनुमति के बिना एकत्रित होने का अधिकार दिया जाए। इसके अलावा प्रेस को आजादी दी जाये और स्थानीय लोगों के लिए रोजगार महकमा स्थापित किया जाये और लाग-बाग को गैरकानूनी घोषित करने और अकाल पीड़ित वाले स्थानों में राजस्व वसूली नहीं करने के सम्बन्ध में कदम उठाये जाये।

11 फरवरी 1939 ई. को प्रजामंडल की कार्यकारिणी समिति के पांच सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। प्रजामंडल के प्रमुख कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के बाद जयपुर राज्य में सत्याग्रह के संचालन का कार्य अन्य कार्यकर्ताओं द्वारा उत्साह पूर्वक चलाया गया।<sup>24</sup> इसमें गुलाबचन्द कासलीवाल और दौलत भंडारी ने उत्साहवर्धक नेतृत्व किया। इससे सत्याग्रह की गति और तीव्र हुई। जयपुर शहर में राज्य सरकार के बढ़ते हुए अत्याचारों के विरुद्ध हड़ताल हुई। राज्य के कई जिलों में गिरफ्तारियां दी। जमनालाल चाहे प्रत्यक्ष रूप से जयपुर में उपस्थित नहीं थे परन्तु उनका प्रेरणादायी नेतृत्व जयपुरवासियों को प्रतिदिन मजबूती प्रदान कर रहा था। राज्य सरकार सत्याग्रहियों को पकड़ कर थोड़ी सी अदालती कार्यवाही के बाद लगातार सजा दे रही थी परन्तु इससे सत्याग्रहियों का मनोबल टूट रहा था।<sup>25</sup> महात्मा गांधी ने प्रेस के माध्यम से इसका विरोध किया और यह चेतावनी दी कि अगर राज्य के अधिकारियों को नहीं छोड़ा तो इण्डियन नेशनल कांग्रेस के पास जयपुर को एक अखिल भारतीय संघर्ष बिन्दु बनाने के अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा। गांधीजी के इस बयान के फलस्वरूप तथा प्रजामंडल की तीव्रता देखकर राज्य द्वारा जमनालाल बजाज को 9 अगस्त 1939 को जेल से रिहा कर दिया गया।<sup>26</sup> इसके साथ ही अब प्रजामंडल को पंजीकृत करने के सम्बन्ध में भी बातचीत शुरू कर दी गयी। इस विषय में प्रधानमंत्री सर व्यूचाम्प ने कुछ सख्ती दिखाई जिसके परिणामस्वरूप इसे अपने पद से हटा दिया गया और इसके स्थान पर राजा ज्ञाननाथ को इस पर पर नियुक्त किया गया।<sup>27</sup>

अंत में बहुत विचार-विमर्श के बाद में प्रजामंडल को पंजीकृत कर दिया गया। यह पंजीयन पब्लिक सोसायटीज एक्ट के अन्तर्गत 1940 में किया। इस समझौते के अनुसार प्रजामंडल अब जयपुर के उन लोगों को जो जयपुर के बाहर रहते थे, सदस्य बनाने के लिए स्वतंत्र थे। इस प्रकार लोगों को अपना संघ बनाने तथा उत्तरदायी सरकार की अनुमति के लिए आन्दोलन करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इससे जयपुर के राजनैतिक इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। यहां यह उल्लेखनीय है कि 1940 ई. में जागीरदारों के विरुद्ध शेखावाटी में एक बड़ा आन्दोलन शुरू हुआ। इसके नेता सरकार हरलाल सिंह और प्रजामंडल के दूसरे कार्यकर्ता थे। जयपुर प्रजामंडल ही एक ऐसा मंडल था जिसने स्वतंत्रता संघर्ष 1939 बड़ी ही दृढ़ता से शुरू किया था।<sup>28</sup>

जनवरी 1940 में इस आन्दोलन ने एक पत्रिका जारी की जिसमें राज्य की दमनकारी नीति की बुराई की गयी थी और उत्तरदायी सरकार की मांग दोहरायी गयी थी। प्रजामंडल की इस कार्यवाही से नया प्रधानमंत्री ज्ञाननाथ भयंकर परिणामों की चेतावनी दी बल्कि पुलिस को राज्य के प्रजामंडल कार्यालय पर छापा मारने का आदेश भी दिया अंत में जैसे-तैसे समझौता हो गया। अब प्रजामंडल ने 2 अप्रैल 1940 ई. को एक नये ढंग से अपना पंजीकरण करा लिया। इसके पश्चात् प्रजामंडल ने सभाओं और जुलूसों को सिलसिला फिर से शुरू कर दिया।

25 मई 1940 को एक जलसे में भाषण करते हुए जमनालाल बजाज ने कहा था कि हमें तत्व चाहिए केवल छाया नहीं। उत्तरदायी सरकार का यह तत्व है राजनैतिक शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न रहे क्योंकि यह शक्ति जनता की है। इस समय प्रजामंडल में कुछ मतभेद उजागर हुए जिसके फलस्वरूप प्रजामंडल प्रोग्रेसिव पार्टी का जन्म हुआ। इसके अध्यक्ष चिरंजीलाल अग्रवाल थे। आगे चल कर हीरालाल शास्त्री प्रजामंडल के अध्यक्ष बने तब ये मतभेद समाप्त हुए। इसका वार्षिक सम्मेलन 1941 में हुआ।<sup>29</sup>

### 1942 सर मिर्जा इस्माइल व प्रजामंडल का समझौता

सर मिर्जा ने अपनी पुस्तक माई पब्लिक लाईफ में लिखा है ब्रिटिश जब भी देशी रियासतों की बात करते हैं तो उनके दिमाग में केवल राजा होते हैं वहां की जनता नहीं। पोलिटिकल डिपार्टमेंट शासन के साथ जनता को जोड़ने की किसी भी कोशिश को हतोत्साहित करता है और प्रशासन को संवेदनशील बनाने का भी विरोध करता है। वे कहते हैं कि मेरा यही अनुभव मैसूर में रहा और जयपुर में तो और भी ज्यादा, यदि महाराजा का सशक्त समर्थन मुझे नहीं होता तो मैं जयपुर छोड़ देता। वास्तव में महाराजा का पूरा समर्थन सर मिर्जा को प्राप्त था और सर मिर्जा इसे महाराजा का पर्याप्त साहस मानते थे—महाराजा एक प्रबुद्ध एवं सहिष्णु नरेश हैं जो अपने वायदे के अनुसार मुझे अपना समर्थन देते रहे हैं। किन्तु यह सब बाद की बातें हैं।<sup>30</sup> जून 1942 में सर मिर्जा की नियुक्ति के तत्काल बाद अंग्रेजों भारत छोड़ो आन्दोलन का समय आया था। बम्बई में कांग्रेस महासमिति की बैठक के समय देशी रियासतों की एक बैठक भी वहां 7-8 अगस्त को हुई थी। पं. हीरालाल शास्त्री के अनुसार किसी ने राजाओं को लिखे जाने वाले एक पत्र का समविदा तैयार किया था जिसमें कहा गया था कि या तो वे अंग्रेजों से लड़े या चौबीस घंटों के भीतर उन्हें मतलब प्रजामंडल या लोकपरिषद को राज संभला दे। इस मसविदे पर विचार होने से पूर्व ही गांधीजी व अनय नेता पकड़े जा चुके थे और इस विषय में कोई फैसला नहीं हुआ था कि देशी रियासतों में क्या हो। शास्त्रीजी ने बम्बई से जयपुर लौट कर अपने साथियों से सलाह मशविरा किया और प्रजामंडल की कार्यसमिति तथा महासमिति की बैठकें की गई जिसमें देश की आजादी की मांग को पूर्ण समर्थन करते हुए नेताओं की गिरफ्तारी की निंदा की गई और जयपुर में शीघ्र उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की गई।

महाराजा की ओर से सर मिर्जा ने प्रजामंडल को लिखा कि महाराजा पहले से ही राजकाज में जनता को शामिल करने की नीति पर चलते रहे हैं। पं. शास्त्री को महाराजा को यह अल्टीमेटम देना ठीक नहीं लगता था कि या तो अंग्रेजों से लड़ो या 24 घंटों में राज संभला दो।<sup>31</sup> अतः महाराजा को प्रजामंडल की ओर से यह लिखा गया कि मंडल को राष्ट्रीय धारा में चलते हुए ब्रिटिश विरोधी और युद्ध विरोधी कार्यवाही करनी पड़ेगी और इसके परिणाम स्वरूप महाराजा व प्रजामंडल के बीच भी संघर्ष छिड़ जाएगा।

फरवरी 1942 में सेठ जमनालाल बजाज का देहांत हो जाने के बाद पं. हीरालाल शास्त्री प्रजामंडल के सर्व-प्रमुख प्रवक्ता हो गए थे। जब सरकार को प्रजामंडल की ओर से उक्त पत्र मिला तो सर मिर्जा ने उसी दिन शास्त्रीजी को मिलने को बुलाया और पूछा कि यदि उनकी ब्रिटिश विरोधी और युद्ध विरोधी कार्यवाही में कोई दखल न दिया जाए तब भी क्या वे महाराजा और उनकी सरकार से लड़ेंगे?<sup>32</sup> इस सवाल ने प्रजामंडल कार्यकर्ताओं को पुनः सलाह मशविरा करने को विवश कर दिया फिर सर मिर्जा से बात हुई और जो समझौता हुआ, वह शास्त्रीजी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखा है—

1. जयपुर राज्य में ब्रिटिश विरोधी और युद्ध विरोधी प्रचार के लिए राष्ट्रीय झंडे के साथ प्रभात फेरियां व जुलूस निकाले जाएंगे तो राज्य सरकार की ओर से कोई बाधा नहीं पहुंचाई जायेगी।
2. युद्ध के लिए अंग्रेजों को जयपुर राज्य की ओर से जन-धन की नई सहायता नहीं दी जाएगी।
3. ब्रिटिश भारत में चल रहे आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले कोई भी लोग जयपुर राज्य में आएंगे तो उन्हें प्रजामंडल की ओर से सब तरह की सहायता दी जाएगी और जयपुर सरकार उनमें से किसी को भी गिरफ्तार नहीं करेगी।
4. जयपुर महाराजा की ओर से जनता को उत्तरदायी शासन देने की दृष्टि से कार्यवाही जल्दी से जल्दी शुरू की जाएगी।
5. महाराजा की ओर से यह सब कुछ होगा तो जयपुर प्रजामंडल की ओर से महाराजा के खिलाफ सीधी कार्यवाही नहीं की जाएगी।<sup>33</sup>

जयपुर में भले आदमियों के इस करार का सरकार और प्रजामंडल ने बखूबी पालन किया। यह बात अलग है कि प्रजामंडल के कुछ नेताओं और कार्यकर्ताओं को महाराजा के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करने और गिरफ्तार हुए बिना चैन नहीं मिल रहा था। उन्होंने आजाद मोर्चे बनाकर गिरफ्तारियां भी दी और प्रतिदिन जुलूस भी निकाले, विशेषतः विद्यार्थियों के, जो इंकलाब जिंदाबाद और अंग्रेजों भारत छोड़ो के नारे लगाते हुए अपने-अपने विद्यालयों तथा महाविद्यालयों से चलते थे, सारे शहर में कूच करते हुए जाते थे और रोजाना शहर के बाहर एक घोषित स्थान पर पहुंच कर तितर-बितर हो जाते थे। शास्त्रीजी का कहना है कि दूसरे मित्रों की कार्यवाही जिस ढंग से चली उसमें उनमें से कुल मिलाकर 4-5 गिरफ्तार हुए।<sup>34</sup>

जैसे प्रजामंडल पर करो या मरो के नारे क्रियान्वित करने के लिए आजाद मोर्चा बनाने वालों का दबाव था वैसे ही जयपुर सरकारी पर पोलिटिकल डिपार्टमेंट का दबाव पड़ रहा था। पोलिटिकल सेक्रेटरी सर हेनरी क्रेक स्वयं भी जयपुर आया था, किन्तु महाराजा और उनका प्रधानमंत्री इस सारे दबाव को किसी भी तरह से झेल गए। जयपुर में वास्तव में न कोई दबाव हुआ और न आतंक फैला। समझौते का पालन करने के लिए

प्रतिबद्ध शास्त्रीजी व उनके साथ अपने ढंग से काम करते रहे और बाबा हरिश्चन्द्र शर्मा व उनके सहयोगी आजाद मोर्चा के तत्वावधान में जुलूस व प्रदर्शन का काम चलाते रहे। जयपुर में 1942 का आन्दोलन हुआ भी और नहीं हुआ भी, किन्तु यह सच है कि कहीं भी कोई तनाव, उग्रता और हिंसा नहीं देखने में आई। सर मिर्जा ने जनता को ब्रिटिश विरोधी लहर को रोकने की कोई चेष्टा नहीं की, कहीं कोई बाधा नहीं डाली और अकारण कोई गिरफ्तारी भी नहीं की। शास्त्रीजी के प्रत्यक्ष जीवन शास्त्र के अनुसार जयपुर प्रजामंडल के पास आने वाला एक भी आन्दोलनकारी जयपुर राज्य में गिरफ्तार नहीं किया गया। खेजड़े के रास्ते में सुरक्षित शास्त्री सदन और वनस्थली दोनों के द्वारा उनके लिए हर घड़ी खुले थे। जयपुर राज्य कई प्रकार से युद्ध का बेस जैसा बन गया था और 1942 के आन्दोलन के सम्बन्ध में खुला और पोशीदा जितना और जैसा काम जयपुर प्रजामंडल की तरफ से हुआ, उतना और वैसा काम शायद ही किसी देशी राज्य में हुआ होगा।<sup>35</sup>

शास्त्री व मिर्जा इस्माइल के बीच जो समझौता हुआ, उस आधार पर शास्त्रीजी ने कहा कि जयपुर महाराजा और जयपुर प्रजामंडल ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध वस्तुतः बहुत हद तक एक हो गये थे। शास्त्रीजी का दावा भ्रमात्मक ही माना जायेगा। प्रजामंडल की मात्र एक मांग थी कि महाराजा ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध विच्छेद करे। समझौते में इसका उल्लेख नहीं है, अतः समझौता वस्तुतः समझौता था ही नहीं। इसे सम्मानजनक भी नहीं कहा जा सकता। मिर्जा इस्माइल एक चतुर राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने बिना कुछ दिए, लिये ही प्रजामंडल को क्षत-विक्षत कर दिया। प्रजामंडल को निष्क्रिय बनाने में उसे सफलता मिल गई।<sup>36</sup>

प्रजामंडल में हीरालाल शास्त्री के कई सहयोगी इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। सन् 1942 में जब सारा देश राजनीतिक आन्दोलन की तैयारी में था। कुछ लोग इस कारणवश हीरालाल शास्त्री पर कई प्रकार के दोषारोपण कर रहे थे। माणिक्यलाल वर्मा ने शास्त्री की नीति की भर्त्सना की। शास्त्री के विरोधी ने उन पर विश्वासघात और धोखे के आक्षेप लगाये।<sup>37</sup>

शास्त्री ने भारत छोड़ो आन्दोलन की पूर्व संध्या पर गांधीजी द्वारा राजाओं को अंग्रेजों से संबंध विच्छेद करने को कहा, उसे व्यवहारिक नहीं माना। वस्तुतः शास्त्री को अपनी स्वयं की क्षमता पर विश्वास नहीं था। यह भी संभव है कि शास्त्री को भय था कि यदि आन्दोलन चलाया जाता है तो उसके द्वारा वनस्थली में स्थापित शिक्षा संस्थान को क्षति पहुंचेगी। शास्त्री द्वारा अपनाये गये मार्ग के फलस्वरूप भारत छोड़ो आन्दोलन में जयपुर की भूमिका नाम मात्र की रही है।

जयपुर सरकार ने 1942 के अक्टूबर महीने में संवैधानिक सुधारों के लिए एक समिति का निर्माण किया। अप्रैल 1943 ई. में समिति ने अपनी रिपोर्ट राज्य सरकार को प्रेषित कर दी परन्तु सरकार ने दो वर्षों तक इस रिपोर्ट पर विचार नहीं किया। 1945 ई.

में समिति के सुझावों के अनुसार प्रशासनिक परिवर्तन किये गये। नये विधान के अनुसार द्विसदन की प्रणाली की स्थापना की गई थी। विधान सभा के दोनों सदनों में धर्म, व्यवसाय और जागीरदारों को इस ढंग से प्रतिनिधित्व प्राप्त था कि सत्ता जन प्रतिनिधियों को दिया जाना संभव नहीं था। 1945 ई. के निर्वाचनों में प्रजामंडल को कोई विशेष सफलता नहीं मिल पाई थी। प्रतिनिधि सभा में 125 सदस्यों में से प्रजामंडल के मात्र 27 सदस्य थे। इसी प्रकार विधान सभा के 51 सदस्यों में से प्रजामंडल के केवल 3 सदस्य थे। इससे स्पष्ट है कि प्रजामंडल के नेतृत्व में जनता को विश्वास नहीं था। नेहरूजी की प्रेरणा से आजाद मोर्चा प्रजामंडल में विलीन हो गया, प्रजामंडल इस से सशक्त बना।

15 मई 1946 को प्रजामंडल के अध्यक्ष देवीशंकर तिवारी को राज्य मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। कुछ समय बाद एक अन्य प्रजामंडल के सदस्य दौलतमल भण्डारी को मंत्री बनाया गया। 27 मार्च 1947 को जयपुर राज्य के शासन में कुछ और सुधार किये गये। अब एक नया मंत्रिमण्डल बना जिसमें दीवान के अतिरिक्त 6 सदस्य रखे गये। दीवान की नियुक्ति महाराजा के द्वारा होनी थी इस मंत्रिमंडल में हीरालाल शास्त्री मुख्य मंत्री बने और देवीशंकर तिवाड़ी एवं दौलतमल भण्डारी तथा टीकाराम पालीवाल प्रजामंडल की ओर से मंत्री थे।

गीजगढ़ के ठाकुर कुशलसिंह और अजयराजपुरा के रावल जागीरदारों का प्रतिनिधित्व करने वाले थे। वी.टी. कृष्णाचार्य दीवान के पद पर कार्यरत रहे। वृहद राजस्थान के निर्माण होने तक यह लोकप्रिय मंत्रिमंडल बना रहा।<sup>38</sup>

### सन्दर्भ

1. हरिभाऊ उपाध्याय अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 28, 29
2. पूर्णिमालाल, राजस्थान में स्वाधीनता संग्राम, पृ. 204, 206
3. एस.ए. जैस, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 199, 300
4. पूर्णिमालाल, राजस्थान में स्वाधीनता संग्राम, पृ. 211
5. आधुनिक भारत का वृहत् इतिहास खण्ड, डॉ. रामप्रसाद व्यास, पृ. 226
6. डॉ. रामप्रसाद व्यास, आधुनिक भारत का वृहत् इतिहास खण्ड, पृ. 272
7. हरिभाऊ उपाध्याय, अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 33
8. पूर्णिमालाल, राजस्थान में स्वाधीनता संग्राम, पृ. 222
9. पूर्णिमालाल, राजस्थान में स्वाधीनता संग्राम, पृ. 219-222
10. मुंशी राधालाल कृत इतिहास, जयपुर, पृ. 89 हस्तलिखित, रा.रा.अभि. बीकानेर
11. भगवानदास केला, देशी राज्यों की जनजागृति, पृ. 24, 25
12. भगवानदास केला, देशी राज्यों की जनजागृति, पृ. 24
13. सुमनेश जोशी, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, पृ. 290
14. भगवानदास केला, देशी राज्यों में जनजागृति, पृ. 252, 253
15. किसान सभा के दो बड़े नेता, हरलाल सिंह और नेताराम, हीरालाल शास्त्री से मिले और उन्होंने किसान सभा को प्रजामंडल के विलीन करने का निर्णय किया, सुमनेश

- जोशी-राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, पृ. 549
16. जयपुर पब्लिक सोसायटीज रेग्यूलेशन, 1938 धारा-2 ताड़केश्वर शर्मा, शेखावाटी किसान जाट पंचायत द्वारा हुए कार्यों का सिंहावलोकन, जून 1938 से 1939, पृ.5
  17. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 1938 जमनालाल बजाज का अध्यक्षीय भाषण, जो प्रजामंडल के प्रथम वार्षिक समारोह पर दिया था। यह सम्मेलन जयपुर में 8 मई, 1938 को हुआ था।
  18. राम पाण्डे, जोधपुर राज्य प्रजामंडल, शोधक 1994, पृ. 50
  19. भगवानदास केला, देशी राज्यों की जनजागृति, पृ. 254
  20. पंडित हीरालाल शास्त्री, प्रत्यक्ष जीवनशास्त्र भाग 2, अनुपम प्रकाश मंदिर, जयपुर 1970, पृ. 67
  21. बी.एल. पानगड़िया, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, पृ. 52, 53
  22. मुंशी राधालाल कृत इतिहास जयपुर, पृ. 94, हस्तलिखित, रा.रा.अभि. बीकानेर
  23. पं. हीरालाल शास्त्री, जयपुर-प्रजामंडल की रिपोर्ट, पृ. 29
  24. डॉ. पेमाराम, शेखावाटी किसान आन्दोलन का इतिहास, पृ. 168
  25. पं. हीरालाल शास्त्री, जयपुर-प्रजामंडल की रिपोर्ट, 1938-40, पृ. 29
  26. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 जनवरी 1939
  27. दी हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 जनवरी 1939
  28. राम गोपाल शर्मा, जयपुर राज्य प्रजामंडल आंदोलन, पृ. 177
  29. राम गोपाल शर्मा, जयपुर राज्य प्रजामंडल आंदोलन, पृ. 150
  30. माई पब्लिक लाईफ, सर मिर्जा इस्माईल, पृ. 76
  31. पं. हीरालाल शास्त्री, प्रत्यक्ष जीवनशास्त्र, पृ. 70, 71
  32. राम गोपाल शर्मा, जयपुर राज्य प्रजामंडल आंदोलन, पृ. 177
  33. पं. हीरालाल शास्त्री, प्रत्यक्ष जीवनशास्त्र, पृ. 71
  34. बी.एल. पानगड़िया, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम, पृ. 177
  35. राम पाण्डे, जयपुर राज्य प्रजामंडल आंदोलन, पृ. 177
  36. डॉ. रामप्रसाद व्यास, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 347
  37. उपरोक्त, पृ. 347
  38. एम.एस. जैन, पृ. 361-62, बी.एल. पानगड़िया, पृ. 87, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम



## ठाकुर केसरीसिंह बारहठ : 1914 का अभियोग और हजारीबाग सेन्ट्रल जेल का बंदी जीवन (1914-19)

प्रमोद कुमार

“मैंने अपने आप में गंगा का प्रादुर्भाव किया और स्वयं उसी की धारा में बह चला। जो बह चला वह रुक नहीं सकता और न रुकने के लिए ही बहा.....।”<sup>1</sup>

उपर्युक्त उद्गारों को अभिव्यक्त करने वाले ठाकुर केसरीसिंह बारहठ का स्थान राजस्थान के इतिहास में एक महान क्रांतिकारी, कवि एवं नवजागरण के सूत्रधार के रूप में सुरक्षित है। आप न केवल स्वयं बल्कि आपका सम्पूर्ण परिवार-अनुज भ्राता जोरावरसिंह, पुत्र प्रतापसिंह एवं जामाता ईश्वरदान आशिया ब्रिटिश विरोधी एवं क्रांतिकारी गतिविधियों में संलग्न थे। आपका हजारीबाग सेन्ट्रल जेल का बंदी-जीवन भी आपके क्रांतिकारी जीवन की तरह महान साहस, दृढ़ निश्चय, त्याग एवं बलिदान का जीवंत उदाहरण रहा है। आपकी क्रांतिकारी एवं ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों के कारण अंग्रेजी सरकार द्वारा आपको गिरफ्तार कर कोटा की स्पेशल अदालत में महंत प्यारराम हत्याकांड, राजद्रोह एवं राजनैतिक षड़यंत्र का मुकदमा चलाया गया था।

केन्द्रीय खुफिया विभाग के पदाधिकारी मिस्टर आर्मस्ट्रांग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि राजपूताने में राजद्रोह फैलाने में दो व्यक्तियों-केसरीसिंह और अर्जुनलाल सेठी का प्रमुख हाथ है। वे शैक्षणिक गतिविधियों की आड़ में नवयुवकों में क्रांतिकारी विचार भरते हैं। उन्होंने राजपूताने से राजनैतिक अपराध कर्म करने के लिए देहली में अमीरचंद के पास विचारोन्मुख नवयुवक भेजे हैं। वस्तुतः राजपूताने के क्रांतिकारियों में सबसे प्रमुख केसरीसिंह ही हैं। उनकी यह योजना थी कि जहां कहीं राजपूत रेजिमेंट तैनात हैं वहां जाकर उनमें राजद्रोह के विचार फैलाए जाएं।<sup>2</sup>

इसके साथ ही केसरीसिंहजी ने राजपूताने के नवयुवकों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार द्वारा नवचेतना उत्पन्न करने और उन्हें ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने हेतु प्रेरित किया। सर चार्ल्स क्लीवलैंड ने पूरे देश की जो साप्ताहिक गुप्त रिपोर्ट जुलाई, 1914 में वायसराय की एकजीक्यूटिव कारंसेल को भेजी, जिससे वायसराय स्वयं अवगत होते थे, में केसरीसिंह के लिये ‘राजपुताना का शिक्षाविद’ (The Rajputana Educationalist) लिखा था।<sup>3</sup>

इन्हीं सब कारणों से कोर्ट द्वारा केसरीसिंह को बीस वर्ष के आजीवन कारावास की सजा सुनाई गई। राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में प्राप्त गुप्त अभिलेखों से प्रकट होता है कि आजन्म कारावास के साथ-साथ केसरीसिंह को Transportation for Life यानि अंडमान (कालापानी) भी भेजा जाना था। लेकिन उन्हें कालापानी की सजा के लिए अंडमान केवल इसलिये नहीं भेजा जा सका क्योंकि वे इसके लिए निर्धारित चालीस वर्ष की आयु सीमा कुछ वर्ष पूर्व ही पूर्ण कर चुके थे।

केसरीसिंह के विरुद्ध इस मुकदमे की चर्चा सारे देश में हुई। सन् 1916 में ऑल इंडिया कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये जब लोकमान्य तिलक की स्पेशल ट्रेन पूना से कोटा पहुंची तो वालंटियर्स ने कहा—“कोटा आ गया।” उस पर तिलक ने पूछा—“कौन सा कोटा? केसरीसिंहजी वाला कोटा!” उस समय के प्रत्यक्षदर्शी कांग्रेस के दो वालंटियर्स के संस्मरणों के अनुसार तिलक प्लेटफार्म पर एक कम्बल बिछाकर बैठे और भोजन किया।<sup>4</sup> इतिहासकार जगदीशसिंह गहलोत ने फतहसिंह मानव को बताया था कि अमृतसर अधिवेशन में लोकमान्य तिलक ने केसरीसिंह जी की रिहाई के लिये प्रस्ताव रखा था। कोटा में केसरीसिंह जी के प्रभाव एवं लोकप्रियता से ब्रिटिश सरकार काफी भयभीत थी अतः कोटा राज्य पर दबाव डालकर उन्हें बिहार की हजारीबाग जेल में भेज दिया गया।<sup>5</sup>

मार्च 1914 में जब मिस्टर आर्मस्ट्रांग ने केसरीसिंह को गिरफ्तार किया था तो उसी समय उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि अन्न ग्रहण करूंगा तो सिर्फ अपनी पत्नी मणि के हाथ का बना हुआ ही।<sup>6</sup> हजारीबाग जेल में जहां उन्हें काल कोठरी (सोलिटरी जेल) में रखा गया था, उन्होंने अन्न लेने से इनकार कर दिया और फल तथा दूध की मांग की। लेकिन जेल अधिकारियों द्वारा उनकी मांग ठुकरा दी गई। हरिप्रसाद अग्रवाल लिखते हैं—“निरन्तर 28 दिन निराहार बीते। .....29वें दिन उन्हें थोड़ा सा दूध दिया गया। लेकिन एक सप्ताह बाद ही फिर से अनशन करने पर विवश होना पड़ा। महीनों तक रबर की नली से पानी में थोड़ा सा चावल का मांड मिलाकर पेट में उंडेला जाता रहा। यह युद्ध निरन्तर 18 महीनों तक चलता रहा। इतनी अवधि तक उन्हें उनकी काल कोठरी से बाहर भी नहीं निकालना गया।” लेकिन अंत में केसरीसिंह की तपस्या और दृढ़ संकल्प के आगे ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा। इस दौरान जिस अभूतपूर्व साहस का परिचय उन्होंने दिया उसे देखकर बिहार-उड़ीसा की जेलों के प्रधान अधिकारी (आई.जी.) भी दंग रह गये। उन्होंने कहा—“केसरीसिंह! राणा प्रताप की हिस्ट्री से हम मेवाड़ के पानी की ताकत को पहले ही जानते थे। शाबाश बहादुर! तुम जीत गये, सरकार हार गई। आज से दूध ही मिलता रहेगा।”<sup>7</sup> इसके बाद केसरीसिंह ने पांच वर्ष के अपने जेल जीवन के दौरान सिर्फ दूध को ही अपना आहार रखा और अपना दृढ़ संकल्प निभाया।<sup>8</sup>

केसरीसिंह का जेल जीवन एक तपस्वी का जीवन रहा। उनके आत्मबल, संयमित जीवन और सद्व्यवहार ने कैदियों, जेल कर्मचारियों और अधिकारियों को समान

रूप से प्रभावित किया। जेल में उन्होंने चने की दाल एवं अनाज के दोनों से अशिक्षित कैदियों को अक्षर-ज्ञान करवाया और भारत का मानचित्र बनाकर देश के भूगोल से परिचय करवाया।<sup>12</sup>

एक क्रांतिकारी कैदी के प्रति जेल के लोगों की कितनी श्रद्धा थी, यह उनकी जेल के वार्डन (प्रहरी) राधासिंह द्वारा लिखे गये पत्र<sup>13</sup> से प्रकट होता है—“हम अपने हृदय से आपको कभी नहीं बीसारेते हैं। आप एक अपने युगल चरणों के दर्शन दे दीजिये जिससे हम कृतार्थ हो जाएं।”

केसरीसिंह को सजा होने के कुछ समय बाद ही उनके क्रांतिकारी पुत्र प्रतापसिंह को भी गिरफ्तार कर लिया गया था और उनको बरेली जेल में रखकर साथी क्रांतिकारियों का भेद जानने के लिये कई प्रकार की यातनाएं दी जा रही थीं। किन्तु कोई भी यातना और प्रलोभन उस 25 वर्ष के वीर नवयुवक का मुंह नहीं खुलवा सके। ब्रिटिश अधिकारियों को विश्वास था कि जेल में अपने पिता की भीषण कष्टदायक दशा को देखकर प्रतापसिंह अपना धैर्य और विश्वास खो बैठेगा। अतः प्रतापसिंह को एक दिन अपने पिता से मिलने हेतु हजारीबाग जेल में लाया गया। केसरीसिंह इस बात को भांप गये। वे बोले, “प्रताप जानता है कि वह केसरीसिंह की संतान है। वह प्राणों के मोह अथवा अन्य किसी प्रलोभन से विश्वासघात नहीं कर सकता।”<sup>14</sup> प्रताप कुछ नहीं बोले, मौन साधे रहे और एक दिन उस अदम्य मौन साधना में ही नृशंस यातनाओं का शिकार होकर वह नवयुवक मातृभूमि की आजादी के लिये कुर्बान हो गया।

उन्हीं दिनों आजीवन कारावास हो जाने के पश्चात् कोटा सेंट्रल जेल में सन् 1915 में ठाकुर केसरीसिंह ने अपनी पुत्री चंद्रमणि को जो पत्र<sup>15</sup> लिखा वह उनकी महान देशभक्ति और उत्कट आत्मबलिदान की भावना का परिचायक है। उन्होंने लिखा था—“भारत में जन्म लेने के साथ ही जो कर्तव्य मानव जीवन के साथ अविच्छिन्न प्राप्त होते हैं, जो ऋण प्रत्येक देश संतान पर, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सब पर रहता है, उसी कर्तव्य को पूर्ण करने, उसी ऋण से मुक्त होने में हमारा कल्याण है।....तुम अवश्य यह जानकर संतुष्ट होगी कि भारत के एक महत्वपूर्ण प्रदेश में जाग्रति होने का प्रारम्भ अपने परिवार की महान आहुति से ही हुआ है। इस राजसूय यज्ञ में हम लोगों की बलि मंगलरूप हुई है।”

केसरीसिंह जी की संयमित, सात्विक एवं तपस्वी जीवनचर्या तथा तेजस्वी व्यक्तित्व से हजारीबाग जेल के जेलर कर्नल मीक और उनकी पत्नी भी काफी प्रभावित हुए तथा उनके बीच मेल-मिलाप बढ़ा। केसरीसिंह के साहित्य, दर्शन और इतिहास आदि के विपुल ज्ञान से लाभ प्राप्त कर कर्नल मीक और उनकी पत्नी उनके साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा किया करते थे। श्रीमती मीक ने उनसे संस्कृत भाषा का अध्ययन किया।<sup>16</sup> कर्नल मीक ने केसरीसिंह की रिहाई के लिये प्रयास किया और उनकी अपील को अपनी सिफारिश के साथ वायसराय के पास भिजवाया। जिसके फलस्वरूप

केसरीसिंह जी को लगभग पांच वर्ष का कारावास भुगतने के पश्चात् 19 जुलाई 1919 ई. को रिहा कर दिया गया।<sup>17</sup>

केसरीसिंह जी का बंदी जीवन अपूर्व धैर्य, संयम, साहस और बलिदान का उत्कृष्ट उदाहरण था। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी द्वारा उनके वर्धा आने के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विचार द्रष्टव्य हैं—“केसरीसिंह जी आएंगे तो मुझे खुशी होगी। उनके उत्कृष्ट जेल-जीवन का मुझसे सर तेज बहादुर सपू ने जिक्र किया था।”<sup>18</sup>

### सन्दर्भ

1. केसरीसिंह द्वारा कोटा महाराव उम्मेदसिंह को दिसम्बर, 1913 ई. में लिखा गया पत्र।
2. क्रांतिकारी बारहठ केसरीसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 29-30
3. फतहसिंह मानव, केसरीसिंह बारहठ, पृ. 36
4. Confidential Notes, Political-A., March, 1920, Nos. 169 and K.W. उद्धृत वही पृ. 39
5. वही, पृ. 38
6. श्री फतहसिंह मानव केसरीसिंह बारहठ की पौत्री राजलक्ष्मी साधना के पति हैं। आप एक वरिष्ठ आर.ए.एस. अधिकारी रहे हैं।
7. मेनारिया, शिवचरण, राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानी, पृ. 120
8. केसरीसिंहजी को यह भय था कि अंग्रेज अधिकारी उनके आत्मबल को कमजोर करने के लिये भोजन में विषाक्त पदार्थ मिलाकर खिलवा सकते हैं।
9. आजादी के दीवाने, पृ. 9
10. केसरीसिंह द्वारा पत्रकार यज्ञदत्त शर्मा को दिये गये साक्षात्कार के अंश। उद्धृत-राजस्थान केसरी ठा. केसरीसिंह बारहठ, पुण्य स्मरण, पृ. 95
11. मेनारिया, शिवचरण, पूर्वोक्त, पृ. 120
12. केसरीसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 85
13. यह पत्र 2 अप्रैल 1933 ई. को हजारीबाग जेल में केसरीसिंह की काल कोठरी के वार्डन रहे राधासिंह ने जिला शाहाबाद (आरा) से लिखा था। यह पत्र भोजपुरी भाषा में है।
14. फतहसिंह मानव के संस्मरण।
15. यह पत्र केसरीसिंह ने 1914 ई. के अंत में आजन्म कारावास हो जाने के बाद कोटा सेंट्रल जेल से अपनी पुत्री चंद्रमणि देवी को लिखा था।
16. सक्सेना, शंकर सहाय, 'देश जिन्हें भूल गया', पृ. 139
17. वही, पृ. 139-40
18. चौधरी, रामनारायण, बीसवीं सदी का राजस्थान, पृ. 186

## 19वीं सदी में मारवाड़ राज्य की व्यापार एवं वाणिज्य के प्रति नीति

सुखाराम

किसी भी राज्य की वाणिज्यिक गतिविधियाँ वहाँ के शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियों पर निर्भर करती थीं। उन्नीसवीं सदी में मारवाड़ राज्य के शासकों ने राज्य में वाणिज्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के लिए समय-समय पर विभिन्न उपाय किए थे।

### मारवाड़ राज्य द्वारा व्यापार की सुरक्षा व प्रोत्साहन हेतु उठाए गए कदम:-

1. व्यापार एवं वाणिज्य विकास व प्रोत्साहन के लिए सुरक्षा पहली आवश्यकता थी। राज्य में व्यापारिक मार्गों से व्यापारिक माल के आते-जाते चोरी होने या डाका पड़ने की आशंका रहती थी। अतः राज्य की ओर से ऐसे स्थानों पर थानों की स्थापना की जाती थी। थाने में सिपाहियों द्वारा व्यापारिक माल को अपने क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक सुरक्षित पहुंचाया जाता था।<sup>1</sup> जोधपुर दरबार की ओर से स्थानीय जागीरदारों और जगात चौकियों पर नियुक्त कर्मचारियों को उनके अधिकार क्षेत्र से गुजरने वाले व्यापारियों व उनके माल की सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने की हिदायतें दी जाती थी।<sup>2</sup> माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुरक्षित पहुंचाने के लिए थानों व चौकियों से घुड़सवारों को व्यापारियों के साथ भेजा जाता था।<sup>3</sup> राज्य के थाने सूचना मिलने पर चोरों व डाकुओं पर कार्यवाही करते थे जिससे व्यापारिक माल का सुचारू व सुरक्षित परिवहन सुनिश्चित हो सके। जोधपुर दरबार की ओर से मार्गों को सुरक्षित बनाए रखने का हरसंभव प्रयास किया ताकि व्यापारी बिना किसी व्यवधान के अपना व्यापार करते रहे।<sup>4</sup>
2. किसी भी माल या अन्य सामान की चोरी होने पर प्रशासन की ओर से यह प्रयास किया जाता था कि उसे वापस प्राप्त करके उसके मालिक को दिया जाए। इसके लिए दरबार की ओर से सम्बन्धित कचेड़ी, सायर की चौकी या थाने को पत्र लिखकर माल का पता लगाने को कहा जाता था।<sup>5</sup> राज्य द्वारा चोरी हुए माल का पता लगाकर उसे बरामद किया जाता था। यदि कहीं पर चोरी या डाका पड़ने की सूचना प्रशासन को मिलती तब प्रशासन की ओर से “वाहर” भेजकर माल बरामद किया जाता था।<sup>6</sup> प्रशासन द्वारा पूरी छानबीन करने के बाद ही किसी को गुनहगार ठहराया जाता था और इसके बाद ही खेर या गुनहगार पर जुर्माना या

दण्ड का निर्धारण किया जाता था।<sup>7</sup>

3. राज्य के मेवाड़ व सिरोही के सीमावर्ती क्षेत्रों के आदिवासी भील व मीणाओं द्वारा अपने क्षेत्रों से निकलने वाले व्यापारिक कारवाओं से ‘भोलावा’<sup>10</sup> की वसूली करते थे। गुजरात व मुंबई से आने वाले माल पर यह कर लगता था तथा राज्य की ओर 1875 ई. में एक नया कानून बनाकर व्यापारियों से मीणाओं को भोलावा देने की व्यवस्था की ताकि शांतिपूर्ण व्यापार जारी रह सके। लेकिन अंग्रेजों द्वारा इसे बंद कर देने से भीलों ने व्यापारिक कारवाओं को लूटना शुरू कर दिया। 1886-87 ई. में पदिया, जसिया व घाटिया आदि कुख्यात लुटेरों को राज्य द्वारा पकड़ लिया गया।<sup>11</sup> भारी प्रयासों के बाद 1850 ई. तक इन अपराधों को कम करने से व्यापारिक मार्ग कुछ सीमा तक सुरक्षित हो गए।
4. चोरों का पता लगाकर उन्हें पकड़ने व चोरी हुए माल को पुनः प्राप्त करने के लिए जागीरदार आपस में एक दूसरे की मदद लेते थे। चोर जिस जागीर क्षेत्र में मिलते थे तो उस क्षेत्र के जागीरदार का यह कर्तव्य होता की वे चोरों को पकड़वाने में प्रशासन की मदद करें तथा माल को पुनः प्राप्त करने में सहायता करें अन्यथा चोरे गए माल का हर्जाना उसी जागीरदार को देना होता था। इसी कारण कोई भी जागीरदार चोरों व धावड़ियों को अपनी जागीर में छिपाकर हर्जाना नहीं देना चाहता और न ही शासक को नाराज करना चाहता था। प्रत्येक जागीरदार प्रशासन को सहयोग प्रदान करता था और अपने क्षेत्र में अशांति व अराजकता फैलाने वाले किसी भी कार्य को अंजाम देने से परहेज करता था क्योंकि ऐसी स्थिति में जागीरदार को वित्तीय हानि तो होती थी, साथ ही शासक की नाराजगी के चलते अपनी जागीर से भी हाथ धोना पड़ सकता था।
5. व्यापारियों के माल की चोरी या लूटपाट के अलावा जालसाजी के उदाहरण भी हमारे सामने हैं।<sup>12</sup> राज्य द्वारा व्यापारियों की सुरक्षा के साथ-साथ ही उनके माल की सुरक्षा का भी पूरा ध्यान रखा जाता था और उनके साथ होने वाली किसी भी ठगी, जालसाजी या लूट को रोकने का राज्य सरकार द्वारा पूरा प्रयास किया जाता था और इन सबके बावजूद भी अगर ऐसी कोई वारदात हो जाती थी तब राज्य द्वारा उचित कदम उठाकर व्यापारियों व अन्य पीड़ित पक्षों को न्याय दिलाकर राहत प्रदान करने का पूरा प्रयास किया जाता था।
6. राज्य के जागीरदार अपनी जागीर की सीमा में व्यापारिक माल के काफिलों को सुरक्षित निकासी के लिए प्रबन्ध करते थे तथा इसके बदले व्यापारियों से राहदारी, मापा व दाण आदि विभिन्न कर लिए जाते थे। कई व्यापारी स्वयं अपने कारवाओं की रक्षा का प्रबन्ध करके चलते थे। इस हेतु वे बड़ी संख्या में एक साथ यात्रा करते तथा चारणों व सशस्त्र सैनिकों को भी साथ में रखते थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में राज्य के प्रयासों से रेल, डाक व तार आदि

सुविधाओं का विकास हुआ। इन सभी सुविधाओं के विकास का सीधा सम्बन्ध भले ही व्यापारियों से न रहा हो फिर भी इन साधनों के विकास के कारण व्यापारिक माल का परिवहन शीघ्र सुगम व सुरक्षित हो गया।

7. राज्य द्वारा समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर कई मेलों व हाट बाजारों का आयोजन किया जाता था। इन मेलों में मूंडवा, परबतसर व तिलवाड़ा के मेले प्रमुख थे। जिनमें व्यापारियों को वहां पर बुलाने, उनको मेलों में दुकानों का आवंटन करने तथा मेले में किसी भी प्रकार की चोरी इत्यादि की वारदातों को रोकने के लिए पुलिस चौकियों का गठन किया जाता और वहां के जागीरदारों व भूमियों की व्यवस्थार्थ मेले में नियुक्त किया जाता था।<sup>13</sup>

### राज्य द्वारा व्यापारिक करों में छूट व दी जाने वाली अन्य सुविधाएँ

राज्य की ओर से व्यापारियों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ व छूटों की विवरण राजस्थान अभिलेखागार बीकानेर व जिला अभिलेखागार जोधपुर के रिकार्ड्स में मिलते हैं। सनद बही जोधपुर के अनुसार व्यापारियों को हासल-सायर, दाण, राहदारी इत्यादि करों में चौथाई व आधी छूट के आदेश दरबार की ओर से दिए जाते थे।<sup>14</sup> इस प्रकार राज्य द्वारा व्यापारियों को विभिन्न करों में कई प्रकार की छूट देकर व्यापार को प्रोत्साहित करने का कार्य करता था। राज्य की कोशिश रहती थी कि वाणिज्यिक वर्ग को नाराज न किया जाए। यहाँ पर बार-बार पड़ने वाले अकाल व सुविधाओं के अभाव में जब कोई व्यापारी या शिल्पकार कस्बा छोड़कर चला जाता था तो यहाँ के शासक द्वारा उन्हें मनाकर वापस बसने तथा अपना कार्य पुनः शुरू करने के लिए कहा जाता और पुराने बकाया करों को भी माफ कर दिया जाता था।<sup>15</sup> इस प्रकार राज्य सरकार व जागीरदारों द्वारा अपने व्यापारियों व शिल्पकारों का पूरा ध्यान रखा जाता था। जोधपुर दरबार की ओर से बाहर से आकर यहाँ बसने वाले व्यापारियों को विभिन्न करों में छूट के अलावा राज्य की ओर से दुकानें व रहने के लिए मकान बनाने के लिए जमीन भी दी जाती थी और व्यापारियों को भरोसा दिलाया जाता था कि उनसे किसी भी प्रकार की गैर कानूनी वसूली व परेशानी नहीं होगी। राज्य का प्रयास रहता था कि जो व्यापारी राज्य में व्यापार कर रहे हैं वे अच्छी तरह से व्यापार करते रहे तथा बाहरी व्यापारी भी यहाँ आकर अपना व्यवसाय शुरू करें। इसी कारण राज्य व्यापारियों को आश्वस्त करना चाहता था कि उनको यहाँ पर किसी भी प्रकार की कोई परेशानी का सामना नहीं करना पड़ेगा। व्यापार से राज्य को आय होती थी इसी कारण राज्य की ओर से यह कोशिश रहती थी कि अधिक से अधिक व्यापारी उनके यहाँ पर आकर रहे तथा अपना व्यवसाय करें। जोधपुर महाराजा की ओर से व्यक्तिगत रूप से भी ऐसे प्रयास किए जाने के उदाहरण हमें मिलते हैं। महाराजा मानसिंह ने तो नाथ संप्रदाय के गुरुओं के माध्यम से राज्य के बाहर रने वाले व्यापारियों को बुलाकर जोधपुर राज्य में व्यापार करने के लिए आमंत्रित किया और उन्हें राज्य की ओर से हर संभव सुविधाएँ दिलाने का आश्वासन दिया।<sup>16</sup>

राज्य के कई व्यापारी राज्य से बाहर अपनी व्यापारिक गतिविधियों का संचालन करते थे लेकिन अपने परिवार में होने वाली शादियों का आयोजन वे अपने मूल स्थान पर आकर ही करते थे। बाहर का कोई व्यापारी यहाँ पर शादी या अन्य कार्यों के लिए यहाँ आता तब राज्य द्वारा उससे बकाया पैसे की तत्काल वसूली को रोकने का उपाय किए जाते थे और कार्य सम्पन्न हो जाने के बाद बकाया धन के बारे में फैसला किया जाता था।<sup>17</sup> व्यापारियों के घर पर शादी व अन्य विशेष अवसरों पर आवश्यक सामान पर राज्य द्वारा करों में पूरी या आधी छूट दी जाती थी। ऐसे मामलों में राज्य की ओर से संबंधित सायर को पत्र लिखा जाता था कि अमुक व्यापारी के घर शादी के लिए ये सामान जाएगा जिस पर राहदारी, दाण व मापा आदि करों में छूट दें या वसूली ही न करें। व्यापारी व राज्य एक दूसरे के हितों का पोषण करते थे। इसी कारण राज्य की ओर से ऐसे फरमान जारी किए जाते थे जिससे व्यापारियों को खुश रखा जा सके और राज्य की वाणिज्यिक गतिविधियों को भी प्रोत्साहन मिले। व्यापारियों के आपसी, राज्य व व्यापारियों या किसी अन्य पक्ष के साथ विवाद या झगड़े की स्थितिहाँ उत्पन्न हों जाती तो राज्य की ओर से ऐसे विवादों को सुलझाने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाता था।<sup>18</sup> राज्य इस हेतु सम्बन्धित कचेड़ी या चौतरे को पत्र लिखकर आदेश देता कि वे इन मामलों में आवश्यक हस्तक्षेप करके तथा पंचों के द्वारा फैसला करवाकर विवादों को निपटाने हेतु आवश्यक कदम उठाएँ। इन मामलों में संबंधित कचेड़ी या चौतरे द्वारा इन विवादों को शीघ्रता ने निपटाया जाता था।<sup>19</sup> राज्य की ओर ऐसा करने पीछे उद्देश्य यह रहता था कि ऐसे विवादों के द्वारा व्यापारिक वर्ग को किसी भी प्रकार की कोई परेशानी न हो तथा राज्य की वाणिज्यिक गतिविधियों पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिकूल असर न पड़े और व्यापारियों के मन में भी राज्य के प्रति आस्था व भरोसा बना रहे। दूसरी तरफ गड़बड़ी करने या झूठे विवाद उत्पन्न करने वाले व्यापारियों के मन में भी यह भय बना रहता था कि उन्होंने कुछ गलत किया और दोषी पाए गए तो राज्य की ओर उन्हें दण्डित किया जा सकता है। इस तरह राज्य के हस्तक्षेप से व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता और नकारात्मक तत्वों पर रोक लगती थी।

### राज्य द्वारा व्यापारियों को सम्मानित करना

जोधपुर राज्य की ओर से व्यापारियों को सम्मान सूचक कुछ भेंट दी जाती थी जिनके उदाहरण हमें अभिलेखागारीय बहियों में मिलते हैं। हकीकत बही के अनुसार रियों के सेठ चाँदमल के बेटे को सिरोपाव का हुकम हुआ जिसके तहत राजकीय खजाने से 553 रू. दिए गए।<sup>20</sup> हकीकत बही के अनुसार अजमेर के सेठ समीरमल व उनके साथ आए अन्य व्यक्तियों को कंठी, दुपटा, पालखी, सोने का कड़ा, मोती, दुसाला, पगड़ी तथा मोहर इत्यादि उपहार देकर विदाई दी गई।<sup>21</sup> यदि कोई व्यापारी अपना सामान बेचने के लिए आता और सामान शासक को पसंद आ जाता तो उसे भी शासक की ओर से सम्मानित किया जाता था।<sup>22</sup> अगर कोई व्यापारी राज्य में किसी काम के लिए आते थे

तब भी दरबार की ओर से इन व्यापारियों की खातिरदारी का पूरा ध्यान रखा जाता और वापस जाते समय उन्हें भेंट स्वरूप कुछ वस्तुएँ देकर सीख (विदाई) दी जाती थी। शादी व भात के अवसर पर भी जोधपुर महाराजाओं द्वारा राजकीय खजाने से विशेष उपहार व सिरोपाव दिए जाते थे।<sup>23</sup> जब भी कोई व्यापारी अपने परिवार या रिश्तेदारों के यहाँ आता था तब भी राज्य की ओर से उन्हें उचित सम्मान दिया जाता और यथायोग्य भेंट दी जाती थीं।

### राज्य द्वारा व्यापारियों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाहियाँ

मारवाड़ राज्य द्वारा समय-समय पर वाणिज्यिक वर्ग को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ और सम्मान प्रदान किए जाते थे। राज्य प्रशासन की ओर से व्यापारियों का हरसंभव ध्यान रखा जाता था लेकिन कई बार परिस्थितियाँ भिन्न हो जाती थी और राज्य प्रशासन की ओर से हस्तक्षेप करना पड़ता था। कई व्यापारियों द्वारा राज्य में अवैध व्यापार किया जाता था तथा बार-बार नियमों को अनदेखा किया जाता था तब राज्य को भी उनके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए विवश होना पड़ता था। ऐसे अनेकों उदाहरण हमें राज्य व जिला अभिलेखागारीय बहियों में मिलते हैं-सनद परवाना बही के अनुसार कई व्यापारी राहदारी, बटवाली व दाण इत्यादि कर न चुकाकर राज्य के करों की चोरी करते थे। अतः राज्य द्वारा सम्बन्धित थानों को उनके कारवांओं को रोकने व जब तक कर न चुका दे तब तक आगे न जाने देने के निर्देश दिए जाते थे और कई बार तलब बिठाई जाती थी।<sup>24</sup>

कई व्यापारी कारवाँ करों से बचने के लिए राज्य द्वारा निर्धारित मार्ग व चौकियों से न होकर कुछ अन्य रास्तों से होकर गुजरते थे लेकिन ऐसे मार्गों पर उनके लूटे जाने का भय हमेशा बना रहता था और राज्य को भी करों की हानी होती थी। इसी कारण जोधपुर दरबार की ओर से सम्बन्धित कचेडियों व थानों के आदेश दिये जाते थे कि वे व्यापारी राज्य के निर्धारित मार्ग से ही जाए तथा निर्धारित स्थान पर राज्य द्वारा निर्धारित कर को चुकाएँ।<sup>25</sup> राज्य की ओर से चारणों व भाटों आदि को करों में छूट दी जाती थी। इन लोगों को अपने स्वयं के उपयोग हेतु किसी भी माल पर राज्य को कर चुकाने से छूट दी जाती थी। लेकिन चारणों द्वारा इसका दुरुपयोग किया जाने लगा और ये लोग अन्य व्यापारियों का सामान लाने ले जाने का गैर कानूनी काम करने भी लग जाते थे। इसलिए राज्य की ओर से कचेडियों को आदेश दिया कि ऐसे लोगों को पहचान कर नाम सहित उनका पूरा विवरण भेजा जाए। आगे से अगर कोई चारण माल लेकर आए तो उनसे सायर व थाने के करों की वसूली की जाए। आगे से चारणों को भाड़े या स्वयं के लिए माल न भरवाया जाए।<sup>26</sup>

व्यापारियों द्वारा कई प्रकार के गैर कानूनी कार्य भी किए जाते थे। राज्य का यह दायित्व था कि इस प्रकार की गैर कानूनी गतिविधियों पर रोक लगाए। सनद परवाना बही के अनुसार जोधपुर शहर में जब कई प्रकार का नकली माल बेचा जाने लगा तो राज्य

ने आदेश जारी किए कि उन व्यापारियों को बुलाया जाए तथा उनकी दुकानों में अगर नकली माल पाया जाता है तो उसे जब्त किया जाए। व्यापारियों को इस बात के लिए पाबंद किया जाए कि भविष्य में वे नकली सामान न तो बाहर से मंगवाएंगे और न ही बेंचेंगे। जोधपुर चौतरे को इसकी पूरी व्यवस्था करने के आदेश दिए गए।<sup>27</sup> ऐसे आदेश जारी करने के पीछे राज्य का उद्देश्य यह होता था कि व्यापारियों द्वारा जनता को ठगा न जाए और अवैध व्यापार को रोका जाए। ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट है कि राज्य के द्वारा न केवल व्यापारियों का ध्यान रखा जाता था बल्कि उसे राज्य की आम जनता की भी उतनी ही चिन्ता रहती थी। कई व्यापारी गैर कानूनी कार्य करते थे जैसे-सायर में सामान कम बताना और अधिक सामान ले जाना, सायर व चौकियों पर अनावश्यक झगड़ा करना, निध आरित कर से कम कर चुकाना, जिससे राज्य को करों में घाटा उठाना पड़ता, कई बार कुछ सर्राफों द्वारा ऐसी हुण्डी जारी कर दी जाती जिसका भुगतान नहीं हो पाता था। जब पीड़ित पक्ष की ओर से ऐसी शिकायतें राज्य प्रशासन को मिलती थी तब प्रशासन की ओर से आवश्यक कार्यवाही की जाती थी। कार्यवाही के तहत थालों, सायर व चौतरे को आवश्यक निर्देश जारी करना, राज्य की ओर से तलब बिठाना, किसी विशेष मामले पर पंचों की नियुक्ति कर समझौता करवाना और आवश्यक होने पर दोषी पक्ष से हर्जाना या दण्ड वसूली करना आदि कार्य शामिल होते थे। ऐसी कार्यवाहियाँ राज्य के लिए आवश्यक हो जाती थी क्योंकि ऐसा न करने पर अवैध व्यापारिक गतिविधियों को बल मिलता तथा आम जनता के साथ-साथ राज्य को भी आर्थिक हानि होती थी।

उपर्युक्त कार्यवाहियों के बावजूद भी राज्य की ओर से व्यापारियों के प्रति नरम रूख ही अपनाया जाता था। आवश्यक होने पर राज्य की ओर से व्यापारियों को वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध करवाई जाती थी जो राज्य की ओर से दी जानी संभव होती थी।

अतः कहा जा सकता है कि राज्य प्रशासन की ओर से राज्य में व्यापार एवं वाणिज्य को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न प्रकार से सुरक्षा उपाय किए जाते थे। व्यापारिक माल व व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के प्रबन्ध राज्य करता था। धाड़े व चोरियों पर अंकुश लगाने की व्यवस्था की जाती थी लेकिन फिर भी चोरी हो जाती तो माल बरामद कर दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जाती थी। व्यापारियों को राज्य में व्यापार करने के लिए आकर्षित व प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें वाणिज्यिक करों में छूट देने के साथ ही समय-समय पर विभिन्न प्रकार से सम्मानित भी किया जाता था। राज्य गैर कानूनी व अवैध रूप से व्यापार करने वाले व्यापारियों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाहियाँ करने में भी परहेज नहीं करता था।

### संदर्भ

1. यहाँ पर घुड़सवाल पुलिस दल रहता था जो अपने अधिकृत क्षेत्र में शांति व कानून व्यवस्था को बनाए रखता था। सनद परवाना बही सं. 118, वि.सं. 1908/1851, जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 660

2. सनद परवाना बही सं. 116, वि.सं. 1906/1849, जो. रि. रा.रा.अ.बी., पृ. 383
3. वही, पृ. 452 ब
4. सनद परवाना बही सं. 126, वि.सं. 1914/1857 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 458ब
5. वही
6. सनद बही सं. 308, वि.सं. 1866/1809 ई., जो. रि. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 166
7. चोरों से माल को पुनः प्राप्त करने के लिए भेजा गई एक छोटी सैनिक टुकड़ी। सनद बही सं. 308, वि.सं. 1866/1809 ई. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 253
8. सनद परवाना बही सं. 115, वि.सं. 1905/1848 ई., माध शुक्ल 15, बुधवार, जो. रि. जो. रि. रा. रा. अ. बी., 284
9. सनद बही सं. 106, वि.सं. 1900/1843 ई. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ.446
10. आदिवासी क्षेत्रों से व्यापारिक कारवाओं की सुरक्षित निकासी के बदले आदिवासी जातियों द्वारा लिया जाने वाला एक कर।
11. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ जोधपुर, 1886-87, पृ. 55, सर प्रताप द्वारा इन पर कार्यवाही की गई।
12. सनद परवाना बही सं. 145, वि.सं. 1932/1875, जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 317अ
13. सनद परवाना बही, जोधपुर सं. 115, वि.सं. 1905/1848 ई., जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 280
14. सनद परवाना बही, जोधपुर सं. 115, वि. सं. 1905/1848 ई. जो. रि. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ 280
15. जोधपुर दरबार की ओर से चौतरा नागौर को लिखा गया पत्र- सनद परवाना बही सं. 106, वि.सं. 1900/1843 ई., जो. रि. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ 170।
16. अर्जी बही सं. 03 वि. सं. 1866/1809 ई., जेठ कृष्ण जो. रि. जो. रि. रा. रा. अ. बी., पृ. 37 अ
17. सनद परवाना बही सं. 126, वि. सं. 1914/1857 ई. जो.रि.रा.रा.अ.बी.,पृ. 358
18. सनद परवाना बही सं. 106, भादवा बद 10, वि.सं. 1900/1843 ई., जो.रि.रा. रा.अ.बी., पृ 221
19. सनद परवाना बही सं. 115, वि.सं. 1905/1848 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 19
20. हकीकत बही सं. 38, वि.सं. 1956/1899 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 01अ
21. वही, पृ. 132 ब
22. हकीकत बही सं. 34, वि.सं. 1944/1888 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ 306अ
23. हकीकत बी सं. 34, वि.सं. 1944/1888 ई. जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 335-36
24. सनद परवाना बही सं. 115, वि. सं. 1905/1848 ई. जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ 285, 287, 558
25. उपर्युक्त, पृ. 565
26. सनद परवाना बही सं. 118, वि. सं. 1908/1851 ई., जो.रि.रा.रा.अ.बी.,पृ. 546
27. सनद परवानाबही सं. 124 वि.सं. 1912/1855 ई. जो.रि.रा.रा.अ.बी., पृ. 32

## बीकानेर में प्रचलित व्यापार एवं वाणिज्य के विविध रूप

(महाराजा सूरतसिंह के कार्यकाल के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. राजशेखर पुरोहित

प्राचीन जांगल प्रदेश<sup>1</sup> के रूप में अभिहित बीकानेर राज्य मध्यकाल से ही एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक और आवागमन व्यापार की गतिविधियों के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा। बीकानेर के प्रारम्भिक शासकों से लेकर आद्यतन् शासकों ने राज्य की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए व्यावसायिक गतिविधियों में विशेष रुचि ली तथा स्वर्णिम मिट्टी से आच्छादित इस भूमि पर समग्र भारत भर के उद्यमियों और व्यापारियों को आमंत्रित किया,<sup>2</sup> जिससे कि बीकानेर राज्य के साथ-साथ यहां के उद्यमी और कर्मठ निवासियों को रोजगार के अतिरिक्त आर्थिक समृद्धि और सुरक्षा मिल सके। बीकानेर में व्यापार एवं वाणिज्य को नई दिशा देने में 18वीं सदी के महत्वपूर्ण शासक महाराजा सूरतसिंह का विशेष योगदान रहा।<sup>3</sup> महाराजा सूरतसिंह ने न केवल बीकानेर से पलायन करने वाले बल्कि प्रतिष्ठित व्यापारिक वर्ग को भी यहां आमंत्रित किया। इस अभियोजन हेतु महाराजा ने व्यापारिक वर्ग को राज्य की ओर से हर सम्भव सहयोग दिया तथा नए-नए उद्यमों को विकसित करने की योजनाएं भी क्रियान्वित की।<sup>4</sup> परिणामस्वरूप बीकानेर की जनता को स्थानीय स्तर पर ही अपना रोजगार उपलब्ध होने लगा। इस प्रकार बीकानेर राज्य और यहां के व्यावसायिक वर्ग की विशेष रुचि के चलते ही राज्य में व्यापार के विभिन्न रूप प्रचलन में आए जो कि सामान्य होते हुए भी अपना विशिष्ट महत्व रखते थे, यथा—

### 1. धार्मिक आस्था से जुड़े आयोजन (मेले)

पूर्व बीकानेर राज्य में लोक देवताओं तथा अन्य देवी-देवताओं से जुड़े धार्मिक मेलों का आयोजन काफी पुराना माना जाता है। इस प्रकार के मेलों में भैरुजी (कोडमदेसर), रामदेवजी (सुजानदेसर), कपिल मुनीश्वरजी (श्रीकोलायतजी), गोगामेड़ी, मुकाम, करणीजी (देशनोक) आदि मेलों के स्थान मुख्य हैं, जहां वर्ष में एक बार मेला अवश्य भरता था तथा राज्य के छोटे-बड़े व्यापारियों के साथ-साथ राज्य के बाहर से भी व्यापारी इन मेलों में अपना सामान बेचने आते थे।<sup>5</sup> बीकानेर की तालक मण्डी की जमा जोड़ बही से विदित होता है कि श्रीकोलायतजी के मेले में बाहर के व्यापारी विलायती सामान बेचने के लिए आते थे। इसी प्रकार राज्य के चुरू तथा नोहर के व्यापारी मारवाड़

(जोधपुर) में आयोजित होने वाले मेलों में अपना सामान बेचने जाते थे।<sup>6</sup> राज्य से बाहर आयोजित होने वाले मेलों में चांदखेड़ी का मेला, उम्मेदागंज का मेला, सिवाना का मल्लिनाथजी का मेला आदि अपनी विशिष्ट पहचान रखते थे। इसी भांति मूंडवा में आयोजित होने वाले रामदेवजी मेले में बीकानेर के अलावा कोटा, जयपुर, जैसलमेर, किशनगढ़, मेवाड़, कंधार, मुल्तान व सिंध के व्यापारियों के आने का उल्लेख मिलता है। पुष्कर में आयोजित होने वाले मेलों में तो समग्र राजपूताना के व्यापारी अपना माल बेचने को आते थे।<sup>7</sup> राज्य सरकार द्वारा इन व्यापारियों को आयोजित मेलों में अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान की जाती थी। इन मेलों से राज्य सरकार को भी अच्छा राजस्व प्राप्त होता था। उल्लेखनीय है कि संवत् 1831 में राज्य को इन व्यापारिक मेलों से जहां 4561 रुपये 8 आने की आमदनी हुई वहीं संवत् 1840 में 4874 रुपये 12 आने की आमदनी हुई।<sup>8</sup>

## 2. व्यावसायिक ठेका प्रणाली (मुकाता)

मुकाता (ठेका) एवं हुवाला व्यवस्था भी राज्य में प्रचलित व्यापार प्रबंध का एक अभिन्न हिस्सा थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्व में राज्य के व्यापारी एवं धनाढ्य वर्ग को खालसा भूमि के कुछ गांवों की वसूली का दायित्व हुवाले के रूप में सौंप दिया जाता था। यह कार्य इन व्यापारियों को एक सुनिश्चित समय पर करना होता था। इस कार्य में संलग्न लोगों को हुवालदार के नाम से जाना जाता था। लेकिन कालान्तर में इन हुवालदारों ने अपना यह हुवाला (वसूली का अधिकार) उस स्थान के महाजन अथवा साहूकारों को मुकाते पर देना प्रारम्भ कर दिया। बीकानेर राज्य की तत्कालीन जगात चौकी बहियों से जानकारी मिलती है कि 18वीं सदी के दौरान राज्य में भूमिकर के अलावा प्रायः व्यापारिक शुल्क वसूली कार्य भी मुकाते पर दिया जाता था। राज्य की श्रीमण्डी की जगता बहियों से यह उल्लेख भी मिलता है कि बीकानेर राज्य में जगात व भू-राजस्व के अतिरिक्त पत्थर का खानों (पोखोण), मेट की खान, तांबे की खान से खनन करने का भी व्यापारिक मुकाता होता था।<sup>9</sup> इसके अतिरिक्त कपड़े की दलाली का मुकाता, ताकड़ी का मुकाता, साजी का घड़त का मुकाता आदि भी प्रचलन में थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी के मध्य राजस्थान के प्रत्येक महाजन, साहूकार एवं समृद्ध तथा प्रतिष्ठित व्यापारी मुकातेदारों की श्रेणी में शामिल हो गए। ये वर्ग मुकाता लेने के कार्य में धन लगाना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद मानते थे। इसी कारण मुकाता लेने के लिए मुकातेदारों एवं व्यापारियों में प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती थी।<sup>10</sup>

## 3. कमीशन एजेन्ट (दलाली व्यवसाय)

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बीकानेर राज्य में प्रचलित व्यापार के विभिन्न रूपों में कमीशन एजेन्ट अथवा दलाली का कार्य भी एक प्रमुख व्यवसाय तथा आय का माध्यम बन गया था। राज्य में व्यापारी अपने पुश्तैनी व्यापार के साथ-साथ विभिन्न उपयोगी वस्तुओं की दलाली का कार्य करते थे। मुख्य रूप से राज्य में व्यापारीगण ऊन की दलाली, सूती कपड़े की दलाली, सोने-चांदी की दलाली, खूटे की दलाली, अफीम की

दलाली, चारे-पानी की दलाली, ताकड़ी की दलाली, कीयाली की दलाली, जोखू की दलाली तथा पूणोत की दलाली आदि का कार्य करते थे।<sup>11</sup> विविध प्रकार के दलाली में लगे व्यापारियों से राज्य सरकार राजस्व भी वसूल करती थी।<sup>12</sup> बीकानेर में कमीशन पर आधारित यह व्यवसाय मुख्यतः 19वीं सदी पूर्वार्द्ध तक चलता रहा, लेकिन उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राज्य भर के पारगमन व्यापार के संकुचित हो जाने पर राज्य में यह कमीशन (दलाली) आधारित व्यवसाय लगभग समाप्त होता चला गया।

## 4. सट्टा सौदा

कमीशन व्यवसाय की भांति बीकानेर के अनेक व्यापारी विविध प्रकार की वस्तुओं को माध्यम बनाकर सट्टा एवं सौदेबाजी का व्यवसाय भी करते थे। राज्य में मुख्यरूप से मेह (बरसात) और अफीम का सौदा प्रसिद्ध था।<sup>13</sup> प्रायः वर्षा होगी या नहीं, इसे आधार मानकर सट्टा किया जाता था। आंशिक रूप से यह सट्टा आज भी चोरी-छिपे बीकानेर में प्रचलित है। राज्य में अफीम का सौदा भी व्यापारियों के लिए विशेष महत्व रखता था, लेकिन विशेष बात यह भी थी कि राज्य में कहीं भी अफीम के भाव की नीलामी प्रारम्भ होने के साथ ही राज्य में मोल भाव (सट्टा) प्रारम्भ हो जाता था और निश्चित भावों की नीलामी के साथ ही राज्य में अफीम के सौदे समाप्त हो जाते थे। उल्लेखनीय है कि इस दौरान कलकत्ता सट्टा व्यवसाय का मुख्य केन्द्र था, अतः कलकत्ता से निश्चित सूचना प्राप्त न होने तक राज्य के सट्टा व्यवसायी बड़ी उत्सुकता से भावों की सूचना के इन्तजार में रहते थे। इस समय बीकानेर में तार व टेलीफोन जैसी व्यवस्थाओं का अभाव था। अतः राज्य के प्रबुद्ध व्यावसायियों ने अफीम के भावों की सूचना प्राप्त करने का एक नया तरीका इजाद कर लिया था, जिसे 'चिलका डाक' कहा जाता था।<sup>14</sup> पूर्व में यह व्यवस्था बीकानेर और अजमेर तथा चुरू और जयपुर के बीच संचालित थी। ऐसा माना जाता है कि राज्य की चिलका डाक के माध्यम से अजमेर से मात्र आधे घंटे में भाव प्राप्त हो जाते थे। लेकिन उन्नीसवीं सदी में टेलीग्राफ, टेलीफोन लाईनों के बिछने के साथ ही चिलका डाक का अस्तित्व भी समाप्त हो गया।

## 5. ऋण एवं ब्याज व्यवस्था

ऋण तथा ब्याज पर रुपया लेन-देन का कार्य प्राचीन समय से चला आ रहा है। बीकानेर राज्य में 19वीं सदी से पूर्व रुपये उधार देने का कार्य साहूकारों द्वारा किया जाता था। इसके अलावा मंदिर के महन्त एवं बड़े मठाधीश भी ब्याज पर रुपया देने का कार्य करते थे।<sup>15</sup> इन साहूकारों और ब्याज पर ऋण देने वालों को राज्य सरकार पट्टे प्रदान करती थी तथा इन व्यावसायियों से सरकार भाछ नामक शुल्क भी प्राप्त करती थी।<sup>18</sup> साहूकारों व ऋणदाताओं द्वारा ब्याज पर रुपया देने का कार्य व्यवस्थित था, जिसके अन्तर्गत उधार देते समय एक ऋण-पत्र लिखने का प्रावधान था, जिस पर ऋण लेने वाले का नाम व हस्ताक्षर, ठिकाना तथा साक्षियों के हस्ताक्षर लिए जाते थे। ऋण-पत्र पर दी गई राशि, ब्याज दर, अवधि एवं ऋण देने की तारीख तथा ऋणदाता का नाम भी अंकित

होता था। ऋण देने वाले व्यापारी ऋण देने के पश्चात् यह सारा विवरण अपनी दैनिक बही (रोजनामचा) में भी नकल कर लेते थे। ऋण-पत्र के अनुसार दोनों पक्षों को लेन-देन की शर्तों की पालना करनी अनिवार्य थी।<sup>17</sup>

राजस्थान राज्य अभिलेखागार में उपलब्ध विभिन्न पट्टों एवं बहियों से विदित होता है कि तत्कालीन बीकानेर के शासक भी समृद्ध साहूकारों से ब्याज पर ऋण लेते थे। 17वीं सदी की एक बही से यह ज्ञात होता है कि बीकानेर महाराजा करणसिंह ने गुजराती बोहरों से हजारों रुपये उधार लेकर राज्य के अनेक गांव उनके पास गिरवी रखे। इसी भांति 1827 ई. में तत्कालीन महाराजा सूरतसिंह ने भी चूरू के सेठ मिर्जामल पौद्दार व पुरोहित हरलाल से चार लाख रुपये उधार लिए थे।<sup>18</sup>

निष्कर्षतः विभिन्न तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि महाराजा सूरतसिंह के कार्यकाल में बीकानेर राज्य में व्यापार एवं वाणिज्य को एक नई दिशा मिली, जिसके चलते व्यापार और वाणिज्य के विभिन्न रूप प्रचलन में आए, साथ ही स्थानीय निवासियों और छोटे उद्यमियों को भी इनसे लाभ मिला तथा स्थानीय स्तर पर भांति-भांति के रोजगार के अवसरों की सम्भावनाएं भी विकसित हुईं।

### सन्दर्भ

- (अ) महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 9, श्लोक 33  
(ब) ओझा, जी.एच., बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 1
- कागद बही सं. 30 संवत् 1881 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- शर्मा, दशरथ, दयालदास री ख्यात, भाग 2, पृ. 107
- पुरोहित, डॉ. राजशेखर, बीकानेर राज्य में उद्योग एवं व्यापार (1787-1947) परिशिष्ट सं. 2 पृ. 252 (शोधग्रंथ)
- बीकानेर रै तालके रो जमा जोड़ संवत् 1840 नं. 43 पृ. 2-3 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- सावा बही मण्डी सदर संवत् 1802 पृ. 3-4 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- शर्मा, डॉ. देवदत्त, राजस्थान के प्रमुख मेले, पृ. 6 दिल्ली 1989
- श्रीमण्डी रे जमाखर्च री बही संवत् 1831, पृ. 3-4 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- कागद री बही संवत् 1840 मिति काती बद 7 नं. 6 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- सावा बही सूरतगढ संवत् 1881-84 नं. 4 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- श्रीमण्डी रे गोलक रो जमाखर्च संवत् 1855 नं. 54 पृ. 2-3 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- श्रीमण्डी रे गोलक रो लेखो संवत् 1855 नं. 61 पृ. 1-2 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- पाउलेट, गजेटीयर ऑफ दी बीकानेर स्टेट, पृ. 145
- अग्रवाल, गोविन्द, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, पृ. 468-69
- बही चिट्ठा खाता री संवत् 1888 नं. 19 पृ. 3 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- कागद बही संवत् 1867 नं. 16 पृ. 18-19 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- तन खर्च कोटा भण्डारा नं. 19 बस्ता नं. 3 संवत् 1820 नं. 1/1 पृ. 1-45 (रा.रा.अ. बीकानेर)
- अग्रवाल गोविन्द, पोतेदार संग्रह (अप्रकाशित कागजात), पृ. 34-35

## बीकानेर राज्य में छोटे साहूकार वर्ग का उदय एवं विकास (1750 ई. से 1850 ई.;

डॉ. कुलवन्तसिंह शेखावत

18वीं शताब्दी में मुगल सत्ता के पराभव के पश्चात् सभी राजपूत रियासतें अपने मूल राज्य (वतन जागीर) में शासन करने लगीं। राजपूत शासकों को अपने राज्यों के निर्माण एवं सुदृढ़ीकरण करने के लिए प्रशासनिक सैनिक संगठनों के साथ ही भवनों के निर्माण में होने वाले व्यय एवं अन्य आर्थिक आवश्यकताओं के लिए ऋण पर भी निर्भर होना पड़ा। राजपूत राज्य के शासकों के भी बड़े साहूकारों से प्रगाढ़ एवं घनिष्ठ सम्बन्ध थे।<sup>1</sup> बीकानेर राज्य के शासक भी चूरू के पोद्दार सेठों से समय-समय पर ऋण लेते थे। भादवा बदी 2 वि.सं. 1884 (1827 ई.) में बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह ने चूरू के प्रसिद्ध सेठ मिर्जामल पोद्दार से चार लाख रुपया उधार लिया।<sup>2</sup> राज्य का साहूकारों से ऋण लेन-देन की व्यवस्था में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ नवीन प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। जिसमें राज्य ने अल्पावधि के न्यून राशि ऋण ऊंची ब्याज दरों पर लेना प्रारम्भ किया जिससे राज्य में छोटे साहूकार वर्ग का उदय होता दिखाई देता है इसमें गुंसाई, पुरोहित, व्यास, चोटिया, बैरागी एवं आचारज आदि ब्राह्मण वर्ग के लोग साहूकार के रूप में कार्य करने लगे।<sup>3</sup> जिसकी राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर में उपलब्ध बीकानेर राज्य की चिट्ठा खाता री बहियों एवं कागदों री बहियों में विस्तृत जानकारी मिलती है। इन बहियों से प्राप्त दस्तावेजों के अध्ययन से पता चलता है कि राज्य में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इस साहूकार वर्ग से राज्य के ऋण सम्बन्ध थे। महाराजा सूरतसिंह के शासनकाल (1787 ई.-1827 ई.) में राज्य को आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप राज्य को बड़े साहूकारों के साथ छोटे साहूकारों से वृहद् स्तर पर ऋण लेना पड़ा।<sup>4</sup> राज्य में यह साहूकार वर्ग 19वीं शताब्दी के तीसरे, चौथे दशक में तेजी से विकसित होता दिखाई देता है जिसकी पुष्टि विभिन्न कागदों री बहियों एवं चिट्ठा खातों री बहियों में प्राप्त ऋण पत्रों से होती है।

### उदय एवं विकास के कारक

बीकानेर राज्य के द्वारा साहूकारों से सदैव समय-समय पर ऋण लेन-देन सम्बन्ध रहे थे परन्तु निरूपित अध्ययन काल में नवीन साहूकार वर्ग का उदय एवं विकास के सम्भवतः निम्न कारण थे—

- महाराजा सूरतसिंह (1787 ई.-1827 ई.) के शासनकाल में सामन्तों का विद्रोह



एवं राजनैतिक समस्याओं के कारण राज्य आर्थिक समस्याओं में उलझ गया। जिसके फलस्वरूप बड़े साहूकारों के साथ छोटे साहूकारों से भी ऋण लेने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।<sup>5</sup>

2. बीकानेर राज्य की विभिन्न बहियों में प्राप्त ऋण पत्र सम्बन्धी दस्तावेजों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यह ऋणदाता वर्ग प्रतिष्ठित साहूकारों एवं राजकीय पदाधिकारियों को जमानती के रूप में मध्यस्थ रखता था। जिससे ऋण वसूली के भय से मुक्ति रहती थी। उदाहरणार्थ 1827 ई. में जेठमल पुरोहित ने अर्जुनदास एवं चतुर्भुज जोशी ने नथमल मेहता के मार्फत राज्य को ऋण दिया था।<sup>6</sup>
3. ऋणों पर ऊंची ब्याज दरें मिलने से भी ऋण देने के लिए प्रेरित हुए जिससे साधारण पुजारी भी साहूकार बन गये। इन ऋणों पर 24 प्रतिशत वार्षिक अधिकांशतः 36 प्रतिशत वार्षिक दर से ब्याज मिलता था।<sup>7</sup> इस तरह उधार देना एक लाभप्रद व्यवसाय बन गया।
4. राज्य के द्वारा साहूकार को ऋण की अदायगी के लिए आश्वस्त करने हेतु राज्य की आय के विशिष्ट स्रोत को उनके नाम आरक्षित कर दिया जाता था। राज्य अमुख स्रोत से राशि प्राप्त होने पर सर्वप्रथम साहूकार को भुगतान कर देगा।

### साहूकार वर्ग की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

भारतीय समाज में प्रारम्भिक तौर पर साहूकारी व्यवसाय वैश्य वर्ग तक सीमित रहा था। पूर्व मध्यकाल से ही समाज में व्यवसायिक गतिशीलता प्रारम्भ हो जाती है जिसकी अनुमति स्मृतिकारों ने भी दी है। मध्यकालीन राजस्थान में पालीवाल नन्दवाणा पारीक ब्राह्मण वर्ग साहूकारी व्यवसाय में संलग्न था। कुछ साहूकार तो व्यापारी के रूप में भी प्रतिष्ठित थे वह राज्यों को ऋण उपलब्ध करवाते थे। मारवाड़ के मेड़ता में 17वीं 18वीं शताब्दी के दौरान पारीक ब्राह्मण बोरगत (ऋण लेन-देन) का कार्य करते थे वह मूलतः मंदिर के पुजारी वर्ग था इनकी बोरगत बहियां 'लोकमणी संग्रह' के नाम से जानी जाती है।<sup>8</sup>

बीकानेर में उदयमान साहूकार वर्ग सामाजिक रूप से गुंसाई, पुरोहित, बैरागी, आचारज, चोटिया एवं व्यास ब्राह्मण वर्ग से सम्बन्धित था जिनका मूल रूप से परम्परागत कार्य पूजा-पाठ एवं पोथियां लिखना था।<sup>9</sup>

यह साहूकार वर्ग किसी प्रकार के व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न नहीं थे अपितु संभवतः अपने द्वारा की गई बचत को राज्य को ऋण के रूप में मुहैया करवाते थे। ऋण की वसूली नहीं होने पर यह अत्यन्त आर्थिक समस्याओं में गिर जाते थे, राज्य के दस्तावेजों के अध्ययन करने पर यह स्पष्ट है कि अधिकतर ऋणदाताओं को बार-बार उल्लेख नहीं आता जिससे स्पष्ट है कि इनमें से अधिकतर निरन्तर एवं नियमित ऋण लेन-देन में संलग्न नहीं थे।

**ब्याज दर**-इन साहूकारों के द्वारा राज्य को जो ऋण उपलब्ध करवाया गया उस पर 24, 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर वसूली गई जिसमें अधिकांशतः 36 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरों का प्रचलन था। सामान्यतया उस काल में 12, 15 एवं 18 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दरों पर राज्य ऋण लेते थे। इस प्रकार की अधिक ब्याज दरों का कारण ऋण की अवधि कम होना था।

ऋण के सही समय पर भुगतान नहीं होने पर यह साहूकार चक्रवृद्धि ब्याज भी वसूलते थे जिसे 'कटवामिति' के नाम से जाना जाता था। पुरोहित जेठमल द्वारा 5501 रुपये उपलब्ध करवाये उसमें कटवामिति ब्याज का उल्लेख किया गया है।<sup>10</sup>

### ऋण वसूली की पद्धति

राज्य की आय के विभिन्न स्रोतों जैसे जगात, पेशकशी एवं अन्य शुल्कों से होने वाली आय को राज्य एवं साहूकार के लिए आरक्षित कर देता था जिनसे ऋण लिया गया है। यह पद्धति साहूकारों द्वारा ऋण वसूली की विशिष्टता परिलक्षित करती है जिसमें मूलधन के साथ ब्याज भी राशि में जोड़कर उस अनुमानित आय के बराबर विशिष्ट स्रोतों को राज्य द्वारा आरक्षित कर दिया जाता था। वसूली के समय बड़े साहूकार अपने मुनीम गुमाशतों को सम्बन्धित क्षेत्र में राजस्व पदाधिकारियों की सहायता ऋण वसूली हेतु ऋण वसूली की सहायता हेतु भेजे देते थे।<sup>11</sup> इन छोटे साहूकारों के ऋण की अदायगी की जिम्मेदारी सम्बन्धित राजस्व अधिकारी की होती थी। उदाहरणतः चिट्ठा खाता री बही नं. 1 वि.सं. 1820 (1763 ई.) से ज्ञात होता है कि बीकानेर राज्य के महाजन क्षेत्र से प्राप्त रुखवाली री भाछ की राशि से 2000 रुपये साहूकार अणदू व्यास को ऋण अदायगी के रूप में दिये गये।<sup>12</sup> इसी प्रकार चूरू थाने से प्राप्त जगात की राशि से रुघनाथ माणक के 200 रुपये अदा किये गये।<sup>13</sup> जब कभी राज्य के द्वारा ऋण की अदायगी सही समय पर ना हो पाती तब गुंसाई बैरागी आदि साहूकार राज दरबार के समक्ष अपनी पीड़ा व्यक्त करने हेतु अत्यन्त विलाप करते थे। 'तवारीख राजश्री बीकानेर' में मुंशी सोहनलाल द्वारा उद्धृत है कि साहूकार 'नालां' फिरते थे अर्थात् रोते धोते थे।<sup>14</sup> ऐसी स्थिति में राज्य के द्वारा किशतों के द्वारा भी भुगतान की व्यवस्था की जाती थी। 1797 ई. में बीकानेर राज्य ने अनोपदास बैरागी के 17 रुपये ऋण अदायगी 8 माह की किशतों में बांटकर भुगतान करने का आदेश दिया था।<sup>15</sup>

तालिका संख्या-1

राज्य के ब्राह्मण साहूकारों की सूची

क्र.सं.	समय	साहूकार का नाम
1.	1763 ई.	अणदु व्यास
2.	1763 ई.	रुघनाथ माणक
3.	1763 ई.	जगन्नाथ आचारज

4.	1797 ई.	अनोपदास बैरागी
5.	1815 ई.	चीमनगीर गुंसाई
6.	1820 ई.	सेवाराम पुरोहित
7.	1821 ई.	सुल्ताणमल गुंसाई
8.	1825 ई.	संतोषगीर गुंसाई
9.	1827 ई.	गुलखगीर गुंसाई
10.	1827 ई.	सुल्ताणमल गुंसाई
11.	1827 ई.	चतुर्भुज जोशी
12.	1827 ई.	जेठमल पुरोहित
13.	1827 ई.	हिन्दुमल चोटिया
14.	1827 ई.	नथमल चोटिया
15.	1827 ई.	सरीरोम पुरोहित
16.	1830 ई.	खुशालगीर गुंसाई
17.	1830 ई.	कल्याणीर गुंसाई
18.	1830 ई.	गुमानसिंह गुंसाई
19.	1830 ई.	चीमनगीर गुंसाई
20.	1838 ई.	जीवलगीर गुंसाई
21.	1838 ई.	हरदास पुरोहित
22.	1842 ई.	भरतगीर गुंसाई

स्रोत : राजस्थान राज्य अभिलेखागार में उपलब्ध कागदों की बहियों एवं चिट्ठा खातां की बहियों से प्राप्त दस्तावेज।

#### तालिका संख्या-2

बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह के शासनकाल में लिया ऋण

क्र. सं.	वर्ष	नाम	ऋण राशि	ब्याज दर	समयावधि
			मय	ब्याज	दर
			वर्षिक		
1.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	कल्याणगीर	301	36	1 माह
2.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	पुरोहित सुल्ताणमल	51	36	1 माह
3.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	चतुरभुज जोशी	1001	36	1 माह
4.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	पुरोहित जेठमल	5501	36	-
5.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	हिन्दुमल चोटिया	1200	36	-
6.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	नथमल चोटिया	3101	36	-

7.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	पुरोहित जेठमल	3500	24	-
8.	वि.सं. 1884(1827 ई.)	सरीरोम पुरोहित	516	36	-

स्रोत : कागदों की बही नं. 33/2 वि.सं. 1884 बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर

#### सन्दर्भ

1. राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में उपलब्ध कागदों की बही, चिट्ठा खातां की बही, बोहरा की लेखा बही, सनद परवाना बहियों, खास रुक्का परवाना बहियों में राजपूत राज्यों—बीकानेर, कोटा एवं जोधपुर के शासकों के द्वारा ऋण लेने की विस्तृत सूचना मिलती है।
2. महाराजा सूरतसिंह व सेठ मिर्जामल पोद्दार के बीच ऋण पत्र भादवा बदी 2 वि.सं. 1884 (1827 ई.) लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगरश्री, चूरू, गोविन्द अग्रवाल, चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास, चूरू, 1976, पं. 486-89
3. शोध आलेख की तालिका सं. 1 द्रष्टव्य है
4. कागदों की बही नं. 33/2 वि.सं. 1884 (1827 ई.) बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर तातिका संख्या 2 देखें
5. डॉ. गिरजा शंकर शर्मा, मारवाड़ी व्यापारी, कृष्ण जन सेवी एण्ड को., बीकानेर, 1988, पृ. 81
6. कागदों की बही नं. 33/2 वही
7. तालिका संख्या 2 देखें।
8. लोकमणी संग्रह बही, भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर
9. रिपोर्ट मरदुमशुमारी राजमारवाड़ 1891 ई., महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर द्वितीय संस्करण, 2010 पृ. 234
10. पुरोहित जेठमल का ऋण पत्र सावण बदी 8 कागदों की बही नं. 33/2 वही
11. बीकानेर राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के हवलदारों को भेजे गये शासकीय आदेश भादवा बदी 2 वि.सं. 1884 (1827 ई.) कागदों की बही नं. 33/2 वही
12. चिट्ठा व खातां की बही नं. 1 वि.सं. 1820 (1763 ई.) बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
13. वही
14. मुंशी सोहनलाल कृत तवारीख राजश्री बीकानेर, 1898, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर, पृ. 228
15. कागदों की बही नं. 18 वि.सं. 1854 (1797 ई.) बीकानेर रिकार्ड्स, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर

## बीकानेर राज्य में कृषक वर्ग एवं कृषि जनित अन्य जातियाँ (18-19 वीं शताब्दी)

डॉ. कैलाश चन्द गुर्जर

मध्य कालीन बीकानेर राज्य में कृषक अनाज व अन्य व्यावसायिक फसलों का उत्पादन करता था। इरफान हबीब के अनुसार “कृषक वर्ग से तात्पर्य उन बहुसंख्यक लोगों से है जो अपने औजार तथा हथियार और अपने श्रम का उपयोग कर स्वयं खेती करने का उत्तरदायित्व निर्वाह करते थे”<sup>1</sup> पर मध्यकालीन बीकानेर राज्य कृषि व्यवस्था में ऐसे कृषक भी थे, जिनके न अपने औजार थे और न उनकी अपनी स्वयं की जमीन थी। वे मात्र कृषि कर्म से ही अपना व अपने परिवार का पेट पालते थे। इतिहासकार मोरलैण्ड के अनुसार किसान से तात्पर्य समाज के उस वर्ग से है जो अपने लाभ के लिए, अपने परिवार वालों तथा मजदूरों की सहायता से खेत जोतता है चाहे उसकी भूमि पर स्वामित्व या स्थायित्व की शर्तें किसी प्रकार की क्यों न हो।<sup>2</sup> इस संदर्भ में कैथलीक गफ का यह मानना है कि किसान से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो प्राचीन या आदिम साधनों से कृषि या सम्बन्धित उत्पादन करते हो और अपनी उपज का एक भाग अपने पास रखते हों तथा उसके ही बराबर भाग जर्मीदार अथवा राज्य के प्रतिनिधि को सौंपते हों।<sup>3</sup> एक अन्य इतिहासकार डेनियल थर्नर ने इस बारे में लिखा है कि किसान समाज का वह वर्ग है, जो खेती करता है और जिसकी स्थिति बड़े भू-स्वामियों तथा भूमि हीनों के मध्य की है।<sup>4</sup> कृषकों की उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ आंशिक दृष्टि से सत्य अवश्य हैं, पर पूर्णतः सत्य नहीं हैं। वास्तव में जो भी व्यक्ति जमीन पर कृषि कर्म द्वारा अपनी जीविका चलाता था, वह कृषक कहलाता था।<sup>5</sup>

मध्य कालीन बीकानेर राज्य में कृषि सर्वप्रथम व्यवसाय था। अतः राज्य के सभी ग्रामीण क्षेत्रों में जमीन पर कृषि कर्म करने वालों का एक बड़ा वर्ग या समुदाय रहता था। गांव में रहने वाला यह कृषक वर्ग जमीन से अवश्य जुड़ा हुआ था, पर इन सभी किसानों के पास जमीन का मालिकाना हक हो, यह निश्चित नहीं था।<sup>6</sup> लेकिन यह कहा जा सकता है कि उन किसानों की रोजी-रोटी अवश्य ही जमीन से जुड़ी हुई थी। इस प्रकार राज्य में जमीन पर काम करने वालों का एक विशाल समुदाय इस काल में गांवों में ही रहता था। मुगल काल में बीकानेर राज्य में ग्राम समुदाय की अवधारणा भूमि के पट्टे और गांव में रहने वाले कृषि सम्बन्धी और गैर कृषि सम्बन्धी लोगों के बीच सम्बन्धों पर निर्भर करती थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि ग्राम समुदाय में गैर कृषि लोग प्रायः कम ही होते थे, उसमें अधिकांशतया कृषि कार्य से जुड़े कृषक लोग ही रहते थे।<sup>7</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में खेती करने वाले ये किसान गाँव में सामूहिक रूप से रहते थे तथा सामूहिक रूप से ही काम करते थे और इस सामूहिक कार्य कलाप के लिए उन्होंने जो सामूहिक संख्या बनाई उसे ग्राम समुदाय कहा जाता था।<sup>8</sup> इस काल के गाँवों में कृषकों की सर्वाधिक संख्या होती थी। सामान्यतः गाँवों में कृषकों की विभिन्न जातियाँ होती थी फिर भी गाँव की बसावट संभवतः एक ही जाति के लोगों की होती थी। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि गाँव के किसान अधिकांशतः एक जाति के ही नहीं अपितु एक ही जाति की विभिन्न शाखाओं के सदस्य होते थे। इस कारण वे आपस में भाईचारे के सम्बन्धों से जुड़े रहते थे। इस प्रकार बीकानेर राज्य में, कृषक द्वारा नियंत्रित भू-क्षेत्र के विस्तार, उनके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले भाड़े के श्रम की अधिकता, सम्पत्ति-सम्बन्धों तथा धन-सम्पत्ति के आधार पर, कृषक समुदाय स्पष्ट रूप से तीन वर्गों में विभाजित था। खुद काश्त, पाही काश्त तथा मुजारियान।<sup>9</sup> इनके अतिरिक्त भूमिहीन कृषकों का एक वर्ग भी प्रत्येक गाँव में पाया जाता था। जो कि अपनी श्रम शक्ति के द्वारा अपना जीवन-यापन करते थे।<sup>10</sup>

### खुद काश्त

खुद काश्त किसान को राज्य के सरकारी दस्तावेजों जैसे कागद व हासल बहियों में इस प्रकार परिभाषित किया गया है- वह जो बैल आदि के लिए धन का भुगतान स्वयं करने के पश्चात् रियाया से खेती करवाता है और जो वहां खेती करता हो अर्थात् जिसका जर्मीदारी भूमि में घर हो और वहाँ खेती करता हो उसके खुद कास्त या गारूहाला या गोवेति कहा जाता है।<sup>11</sup> खुद-कास्त शब्द का अर्थ है- किसानों द्वारा उस भूमि पर जिसका कि वह मालिक है, अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से स्वयं खेती करता हो, उसे खुद काश्त कहा जाता था।<sup>12</sup> इस प्रकार खुद कास्त किसान के लिए यह आवश्यक था किसी भी जर्मीदारी क्षेत्र में उसकी स्वयं की खेती योग्य जमीन हो, खेती के साधन हल व बैल आदि सामग्री हो और जिसका उस क्षेत्र में मकान हो और उसे अपनी जमीन को बचने, हस्तान्तरित करने व बटाई पर देने का पूर्ण अधिकार हो। वह उस भूमि के भू-राजस्व का भुगतान जब तक करता रहे, उसे इस भूमि से अलग नहीं किया जा सकता था पर यदि उस जमीन पर वह लम्बे समय तक अनुपस्थित रहता है तब राज्य उसकी जमीन को हस्तगत कर सकता है। अन्यथा खुदकाश्त किसान अपनी जमीन का स्वयं ही मालिक होता था।<sup>13</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में खुदकाश्त किसान को अपनी जमीन पर अन्य किसानों तथा कृषि श्रमिकों से खेती कराने का अधिकार प्राप्त था।<sup>14</sup> कागद बहियों से ज्ञात होता है कि खुद काश्त किसान यदि अपनी जमीन पर अन्य किसानों से खेती कराता है तो स्थानीय अधिकारी (चौधरी, पटवारी) खुदकाश्त पर पाबंदी का आदेश दे देते थे, क्योंकि खुद काश्तकार पर भू-राजस्व का निर्धारण रियायती दरों पर होता था।<sup>15</sup> पर विशेष परिस्थितियों एवं अवसरों पर जैसे फसल की कटाई आदि के समय खुद

काश्तकार किसान श्रमिकों से काम करवा सकता था। अतः मध्य कालीन बीकानेर राज्य में सम्पन्न किसान जिनके पास बड़ी जमीन थी, वे निम्न वर्गीय किसान मजदूरों से अपनी जमीन पर कार्य करवाते थे और इस कार्य के बदले में उन्हें हिस्सा देते थे।<sup>16</sup> इस प्रकार राज्य के खुदकाश्त किसान अपनी खेती में श्रमिकों की सेवाओं का प्रयोग करते थे, उन किसानों में महँगे और अधिक पैदावार देने वाले साधन जुटाने की क्षमता थी तथा वे अच्छी नस्ल के पशुओं एवं अधिक भूमि के स्वामी थे।<sup>17</sup> वे प्रायः बँटाई पर खेती करवाते थे यदि बीज आदि का प्रबन्ध भू-स्वामी किसान द्वारा किया जाता था तो कृषिगत श्रमिक उपज का एक तिहाई भाग पाता था, यदि बीज आदि की व्यवस्था श्रमिक द्वारा की जाती थी तो वह उपज का दो-तिहाई भाग प्राप्त करता था तथा भू-स्वामी किसान एक-तिहाई भाग प्राप्त करता था।<sup>18</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में खुद-काश्त किसान को कृषि भूमि पर रियायती भू-राजस्व के अतिरिक्त अन्य अनेक सुविधाएँ भी मिलती थी। खुद-काश्त किसानों को कभी-कभी उन दस्तूरों से भी मुक्त रखा जाता था, जो सामान्य किसानों को देने पड़ते थे।<sup>19</sup> इसके अतिरिक्त इनको अपने गृह पर गृह कर भी नहीं देना पड़ता था। इन खुद-काश्त किसानों की ग्रामीण समाज में अपनी प्रतिष्ठा होती थी। ग्रामीण समाज में ये स्थानीय काश्तकार प्रशासनिक इकाई के अंग भी होते थे। ये समाज के भद्र एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे।<sup>20</sup> इनके पास ग्रामीण रजिस्ट्रार दर्ज निर्धारण मुक्त भूमि के अतिरिक्त भी भूमि होती थी, जो कानूनन रूप से वैध मानी जाती थी।

इन विशेषाधिकारों के साथ उन खुद काश्त किसानों के कुछ उत्तरदायित्व भी होते थे। भू-राजस्व का भुगतान उनका प्रमुख उत्तर-दायित्व होता था।<sup>21</sup> यदि कोई खुदकाश्तकार या मिराशदार अपने बकाया भुगतान में असमर्थ होता तो इस दायित्व का भार इसके खुदकाश्तकार या मिराशदार को लेना पड़ता था। यदि वह भुगतान न करने की स्थिति में गाँव छोड़ देता था तो उसकी जमीन अधिक-से-अधिक तीन वर्ष के लिए दूसरे को दे दी जाती थी तथा वह काश्तकार अपनी बकाया राशि का भुगतान करके वह अपने पूर्व अधिकार को प्राप्त कर लेता था।<sup>22</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में राज्य के कुल क्षेत्र का लगभग 80 प्रतिशत से अधिक भाग विभिन्न कुल-मुखियों व अधीनस्थ सामन्तों के अधिकार में था तथा राज्य की अधिक उपजाऊ भूमि पर भी इन्हीं सामन्तों का स्वामित्व होता था।<sup>23</sup> ये सामन्त भी खुद-काश्त किसानों की श्रेणी में आते थे। अन्तर केवल इतना था कि ये खेती पर श्रम नहीं करते थे। ये सामन्त “ठिकाणों” के “ठिकानेदार” भी कहलाते थे।<sup>24</sup> ये सामन्त अपने ठिकाणों की भूमि पर खेती अन्य खुद काश्त किसानों के द्वारा करवाते थे। ये खुद-काश्त किसान इन सामन्तों के ही सगे-सम्बन्धी होते थे। इन खुद-काश्त किसानों को भूमि पर सभी अधिकार प्राप्त होते थे।<sup>25</sup>

## पाही-काश्त

इस प्रकार मध्यकालीन बीकानेर राज्य के गाँवों में किसानों का एक दूसरा वर्ग पाही-काश्त होता था। किसानों का दूसरा वर्ग “पाही” या ऊपरी (अर्थात् बाहरी) कहलाता था। “पाही-काश्त किसानों से तात्पर्य उन कृषकों से था जो दूसरे गाँव में जाकर कृषि कार्य करते थे तथा वहाँ उनकी अस्थायी झोंपड़िया होती थी।<sup>26</sup> दूसरे शब्दों में पाही-काश्त किसानों की जोत उस गाँव में नहीं होती थी जिसमें उन किसानों का स्थायी निवास होता था। बल्कि वह दूसरे गाँव में अस्थायी निवास ग्रहण करके खेती करते थे।<sup>27</sup> इन्हें खुद-काश्त किसानों का स्तर तथा विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते थे। इस प्रकार “पाही” का अर्थ उस व्यक्ति से था जो एक गाँव में काश्तकार हो तथा एक ही सामन्त के अधीन होता था तथा दूसरे सामन्त की जमीन पर खेती करता था। इस प्रकार ये किसान उस गाँव की जमीन को जोतते बोते थे। जहाँ उस गाँव में उनका स्थायी निवास नहीं होता था। इन किसानों को “स्वेच्छारी-किसान” समझा जाता था।<sup>28</sup>

इस प्रकार ये किसान जिस गाँव में खेती करते थे, उस गाँव से उनका कोई लगाव नहीं रहता था। यह वह स्थिति थी, जिसे अंग्रेजों ने यहाँ राज्य में मध्यकाल के समाप्त होते-होते देखी थी और मध्यकालीन बीकानेर राज्य में प्रचलित थी।<sup>29</sup> पर यह पाही काश्त किरायेदार के रूप में नहीं था। इस प्रकार पाही-काश्त का अपने स्वयं के गाँव में जो थोड़ा-खेत अगर होता था, उस पर उसके अधिकार खुद-काश्तकार के समान ही होते थे। पाही-काश्तकार को यह अधिकार प्राप्त था कि वह, जो स्वयं के गाँव की भूमि पर खेती करता था तो उसकी वह वसीयत भी करा सकता था।<sup>30</sup> उसे बेच भी सकता है तथा उसे रोहण या गिरवी रख सकता था तथा इसके साथ-साथ उसे हस्तान्तरित भी कर सकता था। लेकिन इसके साथ-साथ वह दूसरे गाँव के जर्मीदार या सामन्त की जमीन पर खेती करता है तो उसके स्वयं की जमीन पर जो अधिकार थे, वो दूसरे गाँव में खेती करने वाली जमीन पर नहीं मिलते थे। वह दूसरे गाँव की जमीन जिस पर जाकर वह खेती करता था उस जमीन की वह न तो वसीयत करा सकता था और न ही वह उसे बेच सकता था तथा न ही वह रोहण व गिरवी चढ़ा सकता था तथा इसके साथ-साथ उसे वह हस्तान्तरित भी नहीं कर सकता था।<sup>31</sup> इस प्रकार इन पाही-काश्तकारों की राज्य में दोहरी स्थिति होती थी- इनकी अपने स्वयं के गाँवों में, जहाँ के ये स्थायी निवासी होते थे, इनकी स्थिति खुद-काश्तकार के समान होती थी तथा दूसरे गाँवों में, जहाँ जाकर ये खेती करते थे, इनकी स्थिति पाही-काश्त की होती थी।<sup>32</sup>

इस प्रकार मध्यकालीन बीकानेर राज्य में पाही काश्तकारों के विभिन्न रूप मिलते हैं। सामान्यतः उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है<sup>33</sup> पहले वर्ग में खुद-काश्त आते हैं जो अपने स्वयं के गाँवों में स्थायी निवास करते थे और पड़ोसी गाँव में जाकर भी खेती करते थे। यह एक विशेष वर्ग होता था जिनकी हैसियत खुद-काश्तकार के समान ही होती थी।<sup>34</sup> दूसरे वर्ग में वे पाही-काश्तकार आते थे जो कि धार्मिक अनुदान में दी गई

“मदद-ए-माश” धारकों की “इनाम भूमि” को जोतते थे।<sup>35</sup> इस वर्ग के पाही-किसानों के पास, खुद-काशतकार के समान हल व बैल आदि साधन नहीं होते थे। वे केवल अपने परिश्रम के द्वारा ही खेती करते थे और उनके द्वारा परिश्रम का मूल्यांकन बँटाई के आधार पर किया जाता था।<sup>36</sup> इन पाही-किसानों को हल, बैल व बीज समाज के उच्च वर्ग जर्मीदार, महाजन या सामन्त, जिनकी जमीन को जोतते थे, से उधार उपलब्ध कराया जाता था। ऐसे पाही कृषक सुविधा की दृष्टि से एक स्थान से इसके स्थान पर जाने को तत्पर रहते थे। समकालीन कागद बहियों से यह संकेत मिलता है कि इन काशतकारों पर भू-राजस्व का निर्धारण बँटाई प्रणाली के आधार पर किया जाता था।<sup>37</sup> इस बँटाई प्रणाली में दो-तिहाई हिस्सा इन काशतकारों को मिलता था तथा एक तिहाई हिस्सा जिसकी जमीन होती थी उसको मिलता था। लेकिन कभी-कभी ये जर्मीदार इन पाही किसानों का शोषण भी करते थे राजस्व का जो भाग इन किसानों को निर्धारित किया जाता, वो उनको नहीं दिया जाता था। इस प्रकार कभी-कभी इन किसानों को अपने लिये निर्धारित भाग से कम भाग पर संतोष करना पड़ता था।<sup>38</sup> इन पाही किसानों के राजस्व के भाग के लिये जो बँटाई की जाती थी वो तीन प्रकार से की जाती थी। खेत बँटाई, लंक बँटाई तथा रास बँटाई।<sup>39</sup> खेत बँटाई प्रणाली के अन्तर्गत खड़ी हुई फसल के खेतों को बांट लिया जाता था तथा लंक बँटाई प्रणाली के अन्तर्गत फसल को काटकर जो लांक (अन्न व भूसा का सम्मिलित रूप) इकट्ठा किया जाता था उसको पाही-किसान एवं जर्मीदार के द्वारा आपस में बांट लिया जाता था। तीसरी प्रणाली रास बँटाई होती थी जिसके अन्तर्गत अनाज को भूसे से अलग कर अनाज को एक स्थान पर एकत्रित कर उसको आपस में बांट लिया जाता था जिसमें दो तिहाई हिस्सा पाही-किसान का होता था तथा एक तिहाई हिस्सा जर्मीदार या सामन्त का होता था।<sup>40</sup> लेकिन कभी-कभी इन जर्मीदारों या सामन्तों द्वारा उन पाही किसानों को फसल का आधा हिस्सा ही दिया जाता था जो कि इनके शोषण का एक कारण बना। लेकिन इन पाही किसानों के द्वारा शोषण को सहन करना उनकी मजबूरी होती थी क्योंकि इनके लिये खेती करने के अलावा आय का कोई साधन नहीं था।<sup>41</sup>

तीसरा वर्ग उन पाही-किसानों का होता था जिनके पास हल, बैल तथा अन्य कृषि करने के साधन, खुद काशतकार के समान होते थे।<sup>42</sup> लेकिन उनके पास अपनी स्वयं की भूमि बहुत ही सीमित होती थी जिनके कारण वे अपने कृषि साधनों का भरपूर उपयोग नहीं कर पाते थे। इस कारण वे पड़ोसी गांवों में जाकर जर्मीदार, जिनके पास अधिक भूमि होती थी, की भूमि पर खेती करते थे।<sup>43</sup> इस वर्ग के पाही-किसानों की स्थिति उपरोक्त पाही-किसानों की तुलना में अच्छी होती थी। ये पाही-किसान जिस गांव में खेती करने जाते थे उन गांवों में इनका स्वागत होता था। इन किसानों पर जो कर का निर्धारण किया जाता था वह बहुत ही रियासती दर से किया जाता था। ये किसान गैर-कृषि क्षेत्र को कृषि क्षेत्र में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।<sup>44</sup> इस वर्ग के

पाही-काशतकारों के पास चूंकि आवश्यक कृषि साधन होते थे। अतः उन्हें गांव में सम्मान पूर्वक छपरबन्दी (मकान बनाने) की अनुमति सामन्त या जर्मीदारों के द्वारा दी जाती थी।<sup>45</sup> इस प्रकार जो प्रथम श्रेणी के पाही-काशतकार होते थे उनकी सम्मान व आर्थिक दृष्टि से स्थिति निम्न कोटि की होती थी तथा तीसरी श्रेणी के जो पाही-काशतकार होते थे उनकी स्थिति सभी पाही-किसानों में उच्च होती थी।<sup>46</sup> इस प्रकार जिन पाही-काशतकारों के पास खेती के लिये खुद के साधन होते थे, वे ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। गांव का मुखिया जो कि सामन्त या जर्मीदार होता था, वो नयी जमीन को जोत के अन्तर्गत लाने के लिये इन पाही-काशतकारों को प्रोत्साहित करते थे।

ये पाही-काशतकार जिस गैर-कृषि को कृषि भूमि के अन्तर्गत लाकर खेती करते थे, उस भूमि पर इन पाही-किसानों को दो प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाती थी।<sup>47</sup> प्रथम तो इस नयी भूमि से जो राजस्व वसूल किया जाता था वह प्रत्येक वर्ष न लिया जाकर तीसरे या चौथे वर्ष वसूल किया जाता था तथा द्वितीय इस नयी भूमि पर जो लगान वसूल किया जाता था वो बहुत ही कम वसूल किया जाता था। इन पाही-किसानों को इस नयी भूमि पर अपनी जोत छोड़ने का अधिकार था, पर उसे बेचने या हस्तान्तरित करने का अधिकार नहीं था।<sup>48</sup> इस प्रकार ये सामन्त या जर्मीदार इन पाही-किसानों को गैर कृषि या बंजर भूमि को कृषि भूमि में लाने के लिये प्रोत्साहित करते थे।<sup>49</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में ये पाही-किसान खुद-काशत किसानों की भांति जमीन के मालिक नहीं होते थे परन्तु उनको कुछ स्थायी तथा लम्बी अवधि के लिये जोतने वाली जमीन पर अधिकार अवश्य प्राप्त हो जाते थे।<sup>50</sup> इन पाही-काशत किसानों के अधिकार में जोत के लिये केवल उतनी ही भूमि होती थी जितनी वह केवल अपने ही परिवार के श्रम का उपयोग करके खेती कर सकते थे। उनमें भाड़े का श्रम प्राप्त करके कृषि करने की सामर्थ्य नहीं होती थी। इस प्रकार इन पाही काशत-किसानों को अपने पड़ोसी क्षेत्रों में जहां भी भूमि जोतने के लिये मिलती वहीं जाकर खेती करने लग जाते थे। इन पाही-काशत किसानों के लिये भूमि उत्पादन का हिस्सा जो निर्धारित किया जाता था वो भी कभी-कभी इन सामन्तों या जर्मीदारों द्वारा पूरा नहीं दिया जाता था।<sup>51</sup> इस प्रकार इन पाही-काशत किसानों का तिहरा शोषण किया जाता था। खुद-काशत किसान, सामन्त या जर्मीदार तथा शासक इन तीनों वर्गों के द्वारा इन पाही-काशत किसानों का शोषण किया जाता था। अधिक जमीन पर खेती करने के बाद भी उपर्युक्त तीनों वर्गों को करों का भुगतान करने के बाद इन पाही-काशत किसानों के पास उतना ही अनाज शेष रह जाता था जिसमें ये किसान अपना तथा अपने परिवार का ही पेट पाल सकते थे। इस प्रकार इन किसानों का जीवन स्तर बहुत ही साधारण किस्म का होता था।<sup>52</sup> ये पाही काशत किसान रहन-सहन के लिये जो साधारण वस्तुएं होती थी, उनको भी आसानी से उपलब्ध नहीं कर पाते थे। लेकिन जिस वर्ष अकाल पड़ जाता था तो ये किसान महाजनों

से रुपये उधार लेकर करों का भुगतान करते थे। लेकिन कभी-कभी करों में सामन्त या जमींदार द्वारा कुछ छूट प्रदान कर दी जाती थी।<sup>53</sup>

### मुजारियान

मध्यकालीन बीकानेर राज्य के ग्रामीण समाज में किसानों का एक तीसरा वर्ग मुजारियान का रहता था। इन्हें मौसमी अंश हिस्सेदार श्रमिक भी कहा जाता था अर्थात् ये मौसम के अनुसार जिन फसलों का उत्पादन किया जाता था, उनमें श्रमिकों के रूप में हिस्सेदारी निभाते थे।<sup>54</sup> राज्य में 'मुजारियान' वे किसान होते थे जिनके अधिकार में अपनी स्वयं की भूमि या तो बिल्कुल भी नहीं होती थी अगर होती भी थी, तो बहुत ही सीमित। इन मुजारियान किसानों के अधिकार में अपनी स्वयं की जो भूमि होती थी, उस भूमि पर ये किसान अपना व अपने परिवार के सदस्यों के श्रम का उपयोग भी पर्याप्त तरीके से नहीं कर पाते थे अर्थात् श्रम का उपयोग करने के लिए यह भूमि कम पड़ती थी।<sup>55</sup>

इन 'मुजारियान' किसानों का अपनी स्वयं की भूमि पर, जो कि बहुत ही सीमित होती थी, तो कुछ अधिकार होते थे। वे अपनी इस भूमि की वसीयत करा सकते थे उसे रेहन या गिरवी भी चढ़ा सकते थे तथा ये इस स्वयं की भूमि को हस्तान्तरित भी कर सकते थे लेकिन ये किसान अपनी स्वयं की भूमि को तभी बेच सकते थे जब उस क्षेत्र का सामन्त या जमींदार इस भूमि को बेचने की अनुमति प्रदान कर देता था।<sup>56</sup> लेकिन बेचने की यह अनुमति तभी प्रदान की जाती थी जब उनको यह विश्वास होता था कि यह जमीन किसी खुद-काशत किसान, जमींदार या सामन्त को बेची जा रही है।<sup>57</sup> यह भूमि किसी 'पाही-काशत' किसान या 'मुजारियान' किसान को नहीं बेची जा सकती थी।<sup>58</sup> क्योंकि इन किसानों के साम्पत्तिक अधिकार इतने ही होते थे कि वे अपनी स्वयं की जमीन का उपयोग कर जीवन-निर्वाह कर सकते थे।<sup>59</sup> लेकिन 'पट्टा बहियों' से ज्ञात होता है कि राज्य के चौदहवें शासक महाराजा गजसिंह (1745 ई.-1787 ई.) ने कुछ साम्पत्तिक अधिकार इनको अवश्य प्रदान किये।<sup>60</sup> जिस कारण ये अपनी स्वयं की भूमि को किसी भी व्यक्ति को बेच सकते थे। लेकिन इन साम्पत्तिक अधिकारों को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राज्य के सत्रहवें शासक महाराजा सूरतसिंह (1787-1828 ई.) ने समाप्त कर दिया।<sup>61</sup>

इस प्रकार बीकानेर के ये 'मुजारियान' किसान अपना व अपने परिवार का पेट पालने के लिये अपनी स्वयं की भूमि पर खेती करने के अतिरिक्त, खुद-काशत किसानों तथा जमींदार व सामन्तों से किराये पर जमीन लेकर उस पर भी खेती करते थे। ये किसान इस किराये की जमीन पर अपनी स्वेच्छा से खेती करते थे इन किसानों को इस किराये की जमीन से कृषि दास के रूप में बांधा नहीं जा सकता था।<sup>62</sup> क्योंकि बीकानेर राज्य के शासक, राजपूताना के अन्य समकालीन शासकों से इस दृष्टि से उदार होते थे

तथा वे समय-समय पर राज्य के अधिकारियों से कृषकों की स्थिति का विवरण भी प्राप्त करते रहते थे। राज्य के चौदहवें शासक महाराजा गजसिंह (1745 ई.-1787 ई.) ने कृषकों की स्थिति का विवरण देने तथा कृषि श्रमिकों को कुछ साम्पत्तिक अधिकार प्रदान करने के आदेश अपने 'दीवान' को दिये।<sup>63</sup> इन साम्पत्तिक अधिकारों के अन्तर्गत ये 'मुजारियान-किसान' अपनी स्वयं की भूमि के तो मालिक होते थे लेकिन किराये की भूमि, जिस पर ये खेती करते थे, उस पर इनको साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।<sup>64</sup> इस प्रकार इन मुजारियान कृषकों को अपनी जोत बेचने का अधिकार प्राप्त नहीं था। लेकिन राज्य की 'पट्टा बहियों' से इस प्रकार के प्रमाण भी मिलते हैं कि एक बार जोत छोड़ देने के पश्चात् अगर ये 'मुजारा-कृषक' उसी भूमि पर अपनी जोत वापस प्राप्त करना चाहते हैं तो उनको यह अपनी जोत वापस प्राप्त हो सकती थी।<sup>65</sup> लेकिन शर्त यह होती थी कि उनको लिखित में यह गारण्टी देनी पड़ती थी कि उस भूमि को, जिसको ये वापस प्राप्त करते थे, कम से कम तीन वर्ष तक जोत करेंगे। तीन वर्ष से पहले उस भूमि को नहीं छोड़ सकते थे।<sup>66</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में ये मुजारियान किसान स्थायी रूप से निवास नहीं करते थे जहां भी इनको किराये की भूमि मिल जाती थी वहीं अस्थायी रूप से बस जाते थे जब इन किसानों को सामन्त या जमींदार द्वारा इस भूमि से बेदखल कर दिया जाता था तो ये कृषक राज्य में किसी दूसरे स्थान पर जाकर बस जाते थे इस प्रकार राज्य में ये मुजारियान किसान राज्य में जगह-जगह जाकर कृषि कार्य के द्वारा ही अपनी जीविका चलाते थे।<sup>67</sup> समकालीन 'पट्टा बहियों' से ज्ञात होता है कि मुजारियान लोगों की यह बस्ती जहां भी अस्थायी रूप से बस जाती थी वहीं पर अपने कुएं खोद लते थे। पर उन कुओं पर कोई स्वामित्व नहीं होता था। वे न तो कुओं को बेच सकते थे और न ही रेहन या गिरवी रख सकते थे।<sup>68</sup>

इस प्रकार पट्टों की शतों के अनुसार राज्य में मुजारियान कृषक दो प्रकार के होते थे।<sup>69</sup> एक तो अल्पकालीन ठेकेदार के रूप में होते थे। जो मूलतः अप्रवासी होते थे जो कि पड़ोसी राज्यों से अपनी जीविका का निर्वाह करने के लिए बीकानेर राज्य में आकर अस्थायी रूप से बस जाते थे। दूसरे दीर्घकालीन ठेकेदार के रूप में होते थे, जिनको कुछ भू-स्वत्व अधिकार प्राप्त होते थे जो कि मुख्यतः राज्य के ही किसान होते थे तथा कुछ जो कि पड़ोसी राज्यों से आते थे वो भी यहां स्थायी रूप से बस जाते थे।<sup>70</sup> ये मुजारियान किसान मुख्यतः निम्न जाति के ही होते थे। इन किसानों की राज्य में अलग बस्ती होती थी। इन किसानों को सवर्णों की बस्ती में नहीं बसने दिया जाता था अगर ये बस भी जाते थे तो उच्च जाति के लोग उनको गांव से बाहर निकाल देते थे।<sup>71</sup> ये मुजारियान कृषक ग्राम समुदाय के अंग नहीं होते थे लेकिन फिर भी ग्राम समुदाय के विभिन्न घरेलू कार्यों में इन मुजारियान कृषकों का सहयोग होता था। राज्य के सामन्त तथा जमींदार लोग इन कृषकों को पशुओं की देखभाल के लिये भी घर पर रख लेते

थे।<sup>72</sup> इन कृषकों की महिलाएं इनके घरेलू कार्यों में सहयोग दिया करती थी। इन कार्यों के बदले में इनको उचित पारिश्रमिक भी दिया जाता था। इस प्रकार राज्य के ये मुजारियान कृषक खेती करने के साथ-साथ सामन्तों व जमींदारों के घरेलू कार्यों में भी सहयोग दिया करते थे इस प्रकार ये किसान इन दो कार्यों से ही अपना जीवन-यापन किया करते थे।<sup>73</sup> लेकिन कभी-कभी किसी कारणवश इन किसानों को यह कार्य नहीं मिलता था तो इनका जीवन निर्वाह मुश्किल हो जाता था इस कारण से इन किसानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पलायन करने को मजबूर होना पड़ता था।<sup>74</sup>

राज्य की 'पट्टा बहियों' से ज्ञात होता है कि 1756 ई. में महाराजा गजसिंह के शासनकाल में चीरा पूगल से इन मुजारियान किसानों को अकाल के कारण उत्तरी क्षेत्र के चीरों नोहर व गंधीली में आकर अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ा।<sup>75</sup> क्योंकि राज्य में जब-जब अकाल पड़ता था तब-तब राज्य का उत्तरी क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र की तुलना में कम प्रभावित होता था क्योंकि इस क्षेत्र में पानी का धरातल पश्चिमी क्षेत्र की तुलना में कुछ ऊंचा होता था। इस कारण से इस क्षेत्र में चारे व अनाज की कमी प्रायः कम ही पड़ती थी लेकिन जब दो या तीन वर्ष लगातार अकाल पड़ता था तब यह क्षेत्र भी प्रभावित होता था।<sup>76</sup> इस प्रकार बीकानेर राज्य में ये मुजारियान किसान किसी एक स्थान के स्थायी निवासी न होकर अपना जीवन निर्वाह के लिये जगह-जगह भटकते रहते थे। हालांकि बीकानेर राज्य के चौदहवें शासक महाराजा गजसिंह (1745 ई.-1787 ई.) ने इनकी स्थिति में सुधार के लिये कुछ प्रयत्न अवश्य किये जैसे इनको गैर कृषि भूमि को कृषि भूमि में परिवर्तित करने के लिए कहा गया तथा उस भूमि पर उनका अधिकार मान लिया गया था।<sup>77</sup>

इस प्रकार बीकानेर राज्य में कृषकों के उपर्युक्त विभिन्न वर्गों के अतिरिक्त भूमिहीन श्रमिकों की एक बड़ी संख्या भी प्रत्येक गांव की जनसंख्या में सम्मिलित रहती थी। श्रमिकों का यह वर्ग स्पष्टतया स्वयं तो किसान नहीं होता था परन्तु ये अन्य कृषकों के साथ मिलकर कृषि श्रमिक जनसंख्या की रचना करते थे।<sup>78</sup> इन भूमिहीन श्रमिकों के पास अपनी स्वयं की भूमि या तो बिल्कुल नहीं होती थी अगर होती भी तो बहुत ही कम आधा या एक बीघा ही होती थी जिसके द्वारा इन श्रमिकों का जीवन-निर्वाह संभव नहीं हो पाता था।<sup>79</sup> अतः भूमिहीन श्रमिक अपना जीवन-यापन करने के लिये खुद काशत एवं पाही काशत या सामन्तों की जमीन पर श्रमिक के रूप में कृषि कार्य करते थे जिसकी मजदूरी के तौर उन्हें फसल कटने के समय उपज का एक निश्चित भाग मिलता था जैसे उत्तरी क्षेत्र व पूर्वी क्षेत्र जो अधिक उपजाऊ थे वहां इनको मजदूरी के तौर पर फसल का 1/6 भाग मिलता था तथा पश्चिमी क्षेत्र तो कम उपजाऊ होता था वहां पर इनको फसल का एक चौथाई भाग मिलता था।<sup>80</sup> इन श्रमिकों के पास अपने स्वयं के कृषि साधन जैसे हल, बैल आदि नहीं होते थे ये सभी साधन जिनकी ये खेती करते थे, उन्हें के होते थे इस प्रकार ये उस भूमि पर केवल परिश्रम ही करते थे।<sup>81</sup>

लेकिन कभी-कभी इन भूमिहीन श्रमिकों को कृषि भूमि की कुछ-कुछ छोटी-छोटी पट्टियां दे दी जाती थी इन पट्टियों पर ये कृषि करते थे जिन पर रियासती दर से भू-राजस्व वसूल किया जाता था। लेकिन कभी-कभी जब अकाल पड़ जाता था तब भू-राजस्व में इन्हें छूट भी प्रदान की जाती थी। इसके साथ ही फसल की बुआई व कटाई के समय आकस्मिक श्रमिकों के रूप में भी इनकी सेवाओं का खुद काशत एवं पाही काशत कृषकों द्वारा अपने खेत में प्रयोग किया जाता था।<sup>82</sup>

इस प्रकार राज्य के शासक वर्ग की भी हर सम्भव यही कोशिश होती थी कि इन श्रमिकों को कृषि के साथ जोड़ा जाए क्योंकि मध्यकालीन बीकानेर राज्य में भूमि पर्याप्त मात्रा में खाली पड़ी रहती थी।<sup>83</sup> यह भूमि अनुपजाऊ व ऊबड़-खाबड़ होती थी इस भूमि को कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित करने का काम भी इन्हीं श्रमिकों का होता था। प्रारम्भ में राज्य इन श्रमिकों जो कि भूमि को कृषि योग्य बनाते थे, से राजस्व की वसूली नहीं करता था अगर करता भी था तो बहुत ही कम। जिससे अधिक से अधिक श्रमिकों को खेती से जोड़ने का प्रयास किया गया इसके साथ ही राज्य का भी यह उद्देश्य होता था कि अनुपजाऊ व ऊबड़-खाबड़ जमीन को कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित किया जाए। इस प्रकार राज्य, सामन्त, जमींदार, खुद काशत व पाही-काशत किसान इन भूमिहीन श्रमिकों से अधिक से अधिक काम लेने की कोशिश करते थे।<sup>84</sup> इस प्रकार सभी परिस्थितियों में इन भूमिहीन श्रमिकों को अपने हाथ पैर की मेहनत से ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता था।

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मध्य कालीन बीकानेर राज्य में कृषकों की अनेक श्रेणियां थी।<sup>85</sup> जैसे (1) धनी किसान या खुद-काशत किसान जो कि मजदूरों के द्वारा खेती करवाते थे। (2) मध्यम श्रेणी के किसान जो कि अपने परिवार वालों तथा मजदूरों की सहायता से खेती करते थे। (3) साधारण किसान जो अपनी छोटी सी भूमि पर अकेले ही खेती करते थे। इस प्रकार सामान्यतया इस काल के किसानों को पांच भागों में बांटा जा सकता है<sup>86</sup>—(1) भू-मालिक किसान (2) धनी किसान (3) मध्यम किसान (4) गरीब किसान (5) सर्वहारा मजदूर किसान।

इस प्रकार से भू-मालिक किसान व धनी किसान खुद-काशत किसान कहलाते थे तथा मध्यम किसान व गरीब किसान पाही-काशत किसान कहलाते थे तथा सर्वहारा मजदूर किसान श्रमिक वर्ग कहलाता था। इस प्रकार जो भी हो भूमि से अन्न उत्पन्न करने वाला व्यक्ति किसान की श्रेणी में ही आता था।<sup>87</sup>

इस प्रकार से बीकानेर राज्य में किसानों के इस वर्ग में अनेक जातियां सम्मिलित थी।<sup>88</sup> अनेक राजपूत जातियां सिसोदिये, तंवर, भाटी, पंवार व नातरायत राजपूत आदि भी खेती करती थीं हालांकि इन राजपूत जातियों के कुछ लोग, जो कि शासक वर्ग से अलग होते थे, खेती-बाड़ी से ही अपना जीवन-यापन करते थे।

## सन्दर्भ

1. इरफान हबीब, दी पीजेन्ट इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982, पृ. 2
2. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 17
3. इरफान हबीब, दी पीजेन्ट इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982, पृ. 3
4. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 18
5. वही, पृ. 18
6. वही, पृ. 19
7. इरफान हबीब, दी पीजेन्ट इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982, पृ. 4
8. कैप्टेन पाउलेट, गजेटियर ऑफ दी बीकानेर स्टेट, 1932, पृ. 85-87
9. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्य कालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 363
10. वही, पृ. 363
11. कागदों की बही, नं. 8, वि.सं. 1839/1782 ई. माह सुद 6, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
12. वही
13. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्य कालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 363
14. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 221-222
15. कागदों की कही, नं. 4, वि.सं. 1827/1770 ई., मीगसर सुद 12, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
16. (1) फोर डिक्लेड्स ऑफ प्रोग्रेस ऑफ बीकानेर, पृ. 37, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर  
(2) मेजर के.डी. अर्सकिन, वेस्टर्न राजपूताना गजेटियर्स, स्टेटिकल्स, पृ. 14-15, रा.रा.अ. बीकानेर
17. वही
18. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 222-223
19. (1) दलपत विलास, पृ. 70-71  
(2) दयालदास री ख्यात (प्रकाशित), भाग 2, पृ. 38-41
20. परवाना बही, वि.सं. 1749/1692 ई., पृ. 41-44 माह बद 12, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
21. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 363
22. वही, पृ. 363
23. कागदों की बही, नं. 11, वि.सं. 1845/1788 ई. आषाढ बद 8, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
24. (1) दयालदास री ख्यात (प्रकाशित), भाग 2, पृ. 38-41  
(2) दलपत विलास, पृ. 72-75
25. इरफान हबीब, मुगल कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 35-36
26. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्य कालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 363
27. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 363
28. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 222-223
29. वही, पृ. 222-223
30. (1) फोर डिक्लेड्स ऑफ प्रोग्रेस ऑफ बीकानेर, पृ. 45, रा.रि.रा.अ. बीकानेर  
(2) मेजर के.डी. अर्सकिन, वेस्टर्न राजपूताना गजेटियर्स, स्टेटिकल्स, पृ. 14-15, रा.रा.अ. बीकानेर
31. कागदों की बही, नं. 5, वि.सं. 1827/1770 ई., मीगसर सुद 12, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
32. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 364
33. (1) दलपत विलास, पृ. 77-79  
(2) दयालदास री ख्यात (प्रकाशित), भाग 2, पृ. 42-43
34. वही
35. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 19-21
36. कैप्टेन पाउलेट, गजेटियर्स ऑफ दी बीकानेर स्टेट, 1932, पृ. 88-90
37. वही, पृ. 88-90
38. परवाना बही, नं. 8, वि.सं. 1749/1692 ई., पृ. 45-47, माह बद 6, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
39. इरफान हबीब, मुगल कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 40-41
40. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 224-225
41. कैप्टेन पाउलेट, गजेटियर्स ऑफ दी बीकानेर स्टेट, 1932, पृ. 90-91
42. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 364
43. ख्वाजा यासीन, भूराजस्व शब्द कोष, पृ. 5-6
44. इरफान हबीब, दी पीजेन्ट इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1982, पृ. 5-6
45. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 22-23
46. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 225-226
47. कागदों की बही, नं. 8, वि.सं. 1826/1769 ई., माह बद 8, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
48. ख्वाजा यासीन, भूराजस्व शब्द कोष, पृ. 7-8
49. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 226-227
50. वही, पृ. 226-227
51. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्य कालीन भारत, खण्ड 2, पृ. 364
52. परवाना बही, नं. 9, वि.सं. 1727/1670 ई., पृ. 48-49, माह बद 7, रा.रा.अ. बीकानेर
53. वही
54. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 364
55. ख्वाजा यासीन, पूर्वोक्त, पृ. 7-8
56. फोर डिक्लेड्स ऑफ प्रोग्रेस ऑफ बीकानेर, पृ. 48, रा.रा.अ. बीकानेर
57. वही
58. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 228-229
59. इरफान हबीब, मुगल कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 42-44
60. पट्टा बही, नं. 1, वि.सं. 1682/1625 ई., महा बद 9, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, बीकानेर रै



- पट्टा रै गांवा री बही, रा.रा.अ. बीकानेर
61. वही
  62. कैप्टेन पाउलेट, गजेटियर्स ऑफ दी बीकानेर स्टेट 1932, पृ. 92-93
  63. कागदों की बही, नं. 16, पृ. 31, कागद सावण सुदि 12, सं. 1857/12 अगस्त 1800 ई. रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  64. इरफान हबीब, मुगल कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 44-45
  65. पट्टा बही, नं. 4, वि.सं. 1827/1770 ई., आषाढ बंद 6, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  66. वही
  67. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 214-215
  68. पट्टा बही, नं. 6, वि.सं. 1817/1760 ई., पृ. 35-36, सावण सुदि 7, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  69. वही, पृ. 35-36
  70. वही, पृ. 38
  71. डब्ल्यू.एच. मोरलैण्ड, मुस्लिम कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 24
  72. कागदों की बही, नं. 8, वि.सं. 1857/1800 ई. ज्येष्ठ सुदि 4, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  73. वही
  74. कैप्टेन पाउलेट, गजेटियर्स ऑफ दी बीकानेर स्टेट 1932, पृ. 95
  75. पट्टा बही, नं. 8, वि.सं. 1827/1770 ई., पृ. 37, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  76. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 212
  77. कागदों की बही, नं. 6, वि.सं. 1807/1750 ई., सावण सुदि 5, रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  78. वही
  79. वही
  80. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, सोशियो इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, पृ. 94
  81. (1) फोर डिक्लेड्स ऑफ प्रोग्रेस ऑफ बीकानेर, पृ. 49, रा.रा.अ. बीकानेर  
(2) मेजर के.डी. अर्सकिन, वेस्टर्न राजपूताना गजेटियर्स स्टैटिकल्स, पृ. 17-18, रा.रा.अ. बीकानेर
  82. कागदों की बही, नं. 3, वि.सं. 1800/1753 ई. रामपुरिया रिकॉर्ड्स, रा.रा.अ. बीकानेर
  83. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, रेगिस्तानी क्षेत्र (बीकानेर राज्य) में कृषि योग्य भूमि व उसका वर्गीकरण, रा.हि.कां.प्रो., 1976 ई.
  84. अरफान हबीब, मुगल कालीन भारत की कृषि व्यवस्था, पृ. 47-48
  85. डॉ. जी.एस.एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 214
  86. इरफान हबीब, दडी पीजेन्ट इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन हिस्ट्रि कांग्रेस, 1982, पृ. 7-8
  87. ख्वाजा यासीन, भू-राजस्व शब्द कोष, पृ. 10-11
  88. बजरंग लाल लोहिया, राजस्थान की जातियां, पृ. 21-22

## बीकानेर राज्य में भूस्वामित्व अधिकारों की प्रकृति (1887 ई.-1947 ई.)

डॉ. मयंक गुप्ता

बीकानेर राज्य में कुल भूमि का ¼ भाग खालसा व ¾ भाग जागीरी क्षेत्र में था। इन दोनों क्षेत्रों में भूस्वामित्व अधिकारों की प्रकृति में काफी अन्तर था। प्रस्तुत शोधपत्र में बीकानेर राज्य के खालसा व जागीरी प्लेट में भूस्वामित्व अधिकारों की प्रकृति का मौलिक स्रोत सामग्री के आधार पर मूल्यांकन किया गया है।

### (I) खालसा क्षेत्रों में भूस्वामित्व अधिकारों की प्रकृति

1 **खातेदारी अधिकार** - बीकानेर राज्य में 1884ई. में हुए भूप्रबन्ध के पश्चात् बारानी क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य भागों के कृषकों को खातेदारी अधिकार दिये जाने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई।<sup>1</sup> इसमें खातेदार को भूमि पर खेती करने व अपने पास रखने का अधिकार तब तक होता था जब तक वह राजस्व चुकाता रहता था।<sup>2</sup> यद्यपि खातेदारी भूमि पर उसका अधिकार स्थाई होता था परन्तु वह उस भूमि को बेचने, हस्तान्तरित करने व गिरवी रखने का अधिकार नहीं रखता था।<sup>3</sup> खातेदार अपनी भूमि को स्वतंत्रतापूर्वक जोत सकता था अथवा उपकाशकार को किराए पर देकर उससे अतिरिक्त राजस्व भी वसूल कर सकता था।<sup>4</sup> उसे अपने खेत में लगे पेड़ काटने का अधिकार भी सशर्त दिया जाता था। जैसे हल, बैलगाड़ी, कृषि उपकरणों के निर्माण तथा आवास के निर्माण के लिए ही ऐसी अनुमति दी जाती थी।<sup>5</sup>

तद्विषयक स्रोत सामग्री से ज्ञात होता है कि निरन्तर अपने गांव में रहने के दौरान खातेदार अपनी भूमि नहीं छोड़ सकता था। यदि वह गांव छोड़ देता था तो तीन वर्षों तक तो भूमि उसके नाम रहती थी।<sup>6</sup> पर इस अवधि में कोई अन्य काशतकार उस भूमि पर बकाया राजस्व का भुगतान करके उसे जोत सकता था। तीन वर्ष तक मूल खातेदार के नहीं लौटने पर उसका अधिकार समाप्त हो जाता था। यह उल्लेखनीय है कि बीकानेर राज्य में सामान्यतः भूमि तीन-चार वर्षों तक काशत के फलस्वरूप उर्वरा शक्ति खो देती थी और इतने ही समय खाली छोड़ने पर ही यह पुनः उर्वर हो पाती थी।<sup>7</sup> ऐसी स्थिति में भी खातेदार को अपनी भूमि बदलने की अनुमति नहीं थी। यह व्यवस्था कृषकों के लिए काफी हानिकारक थी। अतः 1906 ई. में खातेदारों को ऐसी भूमि को दूसरी भूमि से चार वर्ष के लिए बदलने की अनुमति दी गई।<sup>8</sup> यहां यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि राज्य बंजर व बिना काशत भूमि को काशत क्षेत्र में शामिल करने के उद्देश्य से खातेदार या पेंशनधारी

सैनिकों जैसे गैर खातेदारों को ऐसी भूमि खातेदारी अधिकारों की शर्तों पर सौंप देता था।<sup>9</sup>

खातेदारी का अधिकार वंशानुगत था। खातेदार की मृत्यु के बाद भूमि उसके उत्तराधिकारी के नाम कर दी जाती थी। खातेदार के सन्तान न होने पर भूमि उसकी पत्नी को मिल जाती थी। परन्तु उसके पुनर्विवाह करने पर राज्य उस भूमि को अपने अधिकार में कर लेता था। अर्थात् कानून सम्मत उत्तराधिकारी के अभाव में ऐसी भूमि 'गैर मकबूजा' (अनाधिग्रहीत) के रूप में दर्ज कर ली जाती थी।<sup>10</sup>

**2. मौरूषी (कब्जे के) अधिकार** - कब्जे के अधिकार प्रदान करने से पूर्व काश्तकार को सिर्फ खातेदारी अधिकार प्राप्त थे, जिसमें उसे राजस्व भुगतान करने तक काश्त का अधिकार मात्र प्राप्त था। अतः अधिकारों के अभाव से कृषक न तो भूमि से स्थाई संबंध बना सका और न उसके विकास का माध्यम बन सका। लेकिन गंगनहर योजना के कारण पंजाबी काश्तकारों द्वारा बीकानेर राज्य में भूमि की मांग बढ़ गई। अतः भूमि की उचित व्यवस्था, मूल्य व भूराजस्व में वृद्धि के उद्देश्य से प्रस्तावित गंगनहर क्षेत्र (गंगानगर, करणपुर, पदमपुर, अनूपगढ. रायसिंह नगर तहसील) में 1914 ई. से कब्जे के अधिकार देने की नीति अपनाई गई।<sup>11</sup> राज्य के अन्य क्षेत्रों में यह अधिकार प्रदान करने की प्रक्रिया इसलिए नहीं अपनाई गई क्योंकि उन क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाओं के अभाव में कृषि अनिश्चित थी तथा भूमि की गुणवत्ता कम होने के कारण बाहरी लोगों में इसकी मांग कम थी। परन्तु यातायात के साधनों के विकास तथा पंजाबी काश्तकारों की बढ़ती रुचि के कारण 1941 ई. में राज्य के बारानी (वर्षा पर आधारित) क्षेत्रों में भी कब्जे के अधिकार देने की नीति प्रारंभ की गई।<sup>12</sup>

मौरूषी (कब्जे के) अधिकार खातेदारी अधिकार प्राप्त काश्तकारों को दिये गए। जिसके लिए उन्हें 'नजराना' नामक शुल्क का भुगतान करना पड़ता था।<sup>13</sup> इसके अन्तर्गत 1893 ई. के भूप्रबंध के समय से खातेदारी अधिकार प्राप्त किसानों को 'ए' श्रेणी का खातेदार माना गया। उन्हें कब्जे के अधिकार हेतु दो रू. प्रति बीघा की दर से 'नजराना' देना पड़ता था। वहीं 1893 ई. के बाद बने खातेदार 'बी' श्रेणी के थे और उन्हें पांच रू. प्रति बीघा 'नजराना' देना पड़ता था। साथ ही कृषि भूमि पर सिंचाई सुविधा उपलब्ध होने पर 'ए' व 'बी' श्रेणी के किसान से क्रमशः 8 व 20 रू अतिरिक्त 'नजराना' वसूल किया जाता था।<sup>14</sup>

तत्कालीन स्रोत सामग्री के अनुशीलन से यह तथ्य भी प्रकट होता है कि कब्जे के अधिकार के अन्तर्गत काश्तकार को भूमि विक्रय या गिरवी रखने के अधिकारों पर कुछ अंकुश भी लगाए गए, जिनका उद्देश्य भूमि को अकृषि हाथों में जाने से रोकना तथा यथा संभव गांव की सामाजिक संरचना सुरक्षित रखना था। अतः यह व्यवस्था की गई कि मौरूषी काश्तकार अपनी भूमि अपने गांव के किसी अन्य मौरूषी काश्तकार, खातेदार या अपनी जाति या धर्म के किसी व्यक्ति को तो बेच या गिरवी रख सकता था। परन्तु हस्तान्तरण के अन्य मामलों में राज्य सरकार की पूर्वानुमति आवश्यक थी।<sup>15</sup>

उल्लेखनीय है कि राज्य कब्जे की भूमि को सिंचाई सुविधाओं के विकास या अन्य आवश्यकताओं के लिए अन्य भूमि के बदले अधिग्रहीत कर सकता था।<sup>16</sup> स्रोत सामग्री से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से यह पता चलता है कि 1941 ई. में कुल 1449066 बीघा क्षेत्र में कब्जे के अधिकार प्रदान किए गए तथा इसके बदले राज्य को 'नजराने' के रूप में 5673753 रू. की आय हुई।<sup>17</sup>

**3. मालिकाना अधिकार** - भूमि पर मालिकाना अधिकार 1923 ई. में गंगनहर योजना के उपनिवेशन क्षेत्र में भूमि की बिक्री प्रारंभ करने के बाद प्रदान किये गये। ये अधिकार पुराने आबादकारों एवं नए क्रेताओं दोनों को दिए गए। इसके अन्तर्गत पुराने निवासियों, जिनके पास कब्जे के अधिकार थे, को 'नजराने' की राशि चुकाने के बाद नए उपनिवेशियों की तरह ही अधिकार दिए गए। कब्जेधारियों को मालिकाना अधिकार प्राप्त करने के लिए पांच रू. का अतिरिक्त भुगतान करना पड़ता था।<sup>18</sup> मालिकाना अधिकार प्राप्त काश्तकार को बिना किसी प्रतिबंध के अपनी भूमि बेचने, गिरवी रखने या हस्तान्तरित करने का अधिकार था।

**4. अस्थायी काश्त** - राज्य में कुछ भूमि काश्तकारों को अस्थायी काश्त के रूप में भी दी जाती थी। जिस पर काश्तकार का कोई अधिकार नहीं होता था तथा काश्त की अवधि पूरी होते ही उसका काश्त का अधिकार भी समाप्त हो जाता था।<sup>19</sup> यह उल्लेखनीय है कि अस्थायी काश्त की अवधि बारानी क्षेत्र के लिए चार वर्ष व नहरी क्षेत्र के लिए तीन वर्ष थी।<sup>20</sup> इस बात के उल्लेख भी मिलते हैं कि किसी खातेदार की जब्त भूमि को भी सरकार कई बार अस्थायी काश्त के रूप में दे देती थी। साथ ही अकाल की स्थिति में गंगनहर क्षेत्र में राज्य के अन्य भागों के अकाल पीड़ितों को भी अस्थायी काश्त हेतु भूमि दी जाती थी 1938-39 ई के अकाल के दौरान गंगनहर क्षेत्र में 10442 बीघा क्षेत्र अस्थायी काश्त के रूप में दिया गया।<sup>21</sup> इस कारण राज्य से अकाल पीड़ितों के पलायन पर काफी अंकुश लगा।

यदि अस्थायी काश्तकार उसी गांव में घर बनाकर रहने लगते थे तो वे अस्थायी काश्त भूमि को तहसीलदार की अनुमति से खातेदारी भूमि में दर्ज करवा सकते थे।<sup>22</sup> अस्थायी काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार प्राप्त किसानों की तरह ही भूराजस्व, पानी व फसल की दरें चुकानी पड़ती थी। लेकिन यहां यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि अस्थायी काश्तकारों को इन दरों के अतिरिक्त मालिकाना नामक शुल्क भी चुकाना पड़ता था। जो भूराजस्व पर छः आने प्रति रुपये की दर से लगाया जाता था।<sup>23</sup> तद्विषयक स्रोत सामग्री से यह तथ्य भी ज्ञात होता है कि 1930-31 में जहां मालिकाना शुल्क से राज्य को 9082 रू. की आय हुई 1939-40 में यह बढ़कर 175292 रू. हो गई।<sup>24</sup>

## (II) जागीरी क्षेत्रों में भूस्वामित्व के अधिकार

बीकानेर राज्य के जागीरी क्षेत्रों में कृषकों को खालसा क्षेत्रों की तरह वंशानुगत व स्थाई अधिकार प्राप्त नहीं थे। 1941 ई से पूर्व जागीरी क्षेत्रों में भूस्वामित्व अधिकारों

की प्रकृति के विषय में कोई वर्गीकरण नहीं था। व्यवहार में जागीरदार की इच्छा ही कृषक के भूमि से संबंध का आधार थी। अर्थात् कृषक की स्थिति अधिकारविहिन काश्तकार की थी।<sup>25</sup> इस स्थिति का मुख्य कारण जागीर क्षेत्रों में भूप्रबंध का न होना था। तत्कालीन स्रोत सामग्री से यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि भूस्वामित्व के अधिकार के अभाव के कारण जागीरी क्षेत्रों की जनसंख्या में भी निरन्तर कमी आ रही थी। 1891 ई में जागीर क्षेत्र की जनसंख्या 550728 थी जो 1931 ई. में 417777 रह गई।<sup>26</sup>

अतः जागीरी क्षेत्रों से जनसंख्या का पलायन रोकने, भूराजस्व की दरों व लागों को नियमित करने के उद्देश्य से 1942 ई. से राज्य के जागीरी क्षेत्रों में भूप्रबंध प्रारंभ किया गया। जिससे किसानों को कब्जे के अधिकार देकर भूमि से उनका स्थाई संबंध जोड़ा जा सके।<sup>27</sup> जागीरी क्षेत्रों में भूस्वामित्व के अधिकारों की स्वीकृति के संबंध में राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया क्योंकि -

1. कब्जे या स्वामित्व के अधिकार वंशानुगत थे अतः ये राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा ही प्रदान किए जा सकते थे।

2. जागीरदार ऐसे अधिकारों का प्रयोग तभी कर सकता था जब 'मोहर छाप चिट्ठी' में उसे ये अधिकार दिए जाए। लेकिन सामान्यतः 'मोहर छाप चिट्ठियों' में केवल किराए व कर का उल्लेख होता था। कब्जे व स्वामित्व के अधिकारों को स्वीकृति करने की शक्तियों का नहीं।

3. जागीरदार को भूहस्तान्तरण के अधिकार नहीं थे अतः वह अपने आसामियों को भी इन अधिकारों की स्वीकृति नहीं दे सकता था।<sup>28</sup>

जागीरी क्षेत्रों में भूस्वामित्व अधिकारों के अन्तर्गत बीस वर्ष से कम समय के कब्जे की काश्तकारी कृषक के नाम मान ली गई। परन्तु जागीरदार जब चाहे यह भूमि उससे ले सकता था। लेकिन बीस वर्ष से अधिक कब्जे की भूमि का खातेदारी अधिकार काश्तकार को दिया गया किन्तु मालिकाना हक जागीरदार के पास ही रहा। इसके अतिरिक्त कृषकों के खेतों में लगे पेड़ों को भी जागीरदार अपनी आवश्यकतानुसार काट सकता था।<sup>29</sup>

उल्लेखनीय है कि 1884 ई. से पूर्व राज्य में कृषकों को स्वामित्व के कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे, जिससे कृषक का भूमि से स्थाई संबंध स्थापित नहीं हो पाता था। वह उस भूमि पर धन व्यय करने से भी कतराता था, अतः वह कृषि के विकास का माध्यम नहीं बन सका। अतः राज्य ने प्रारंभ में खातेदारी अधिकार देने की नीति प्रारंभ की जिसमें कृषक स्वतंत्रतापूर्वक अपनी भूमि का उपयोग कर सकता था। यद्यपि वह भूमि को बेच, हस्तान्तरित या गिरवी नहीं रख सकता था। वहीं गंगनहर योजना के उपनिवेशन के फलस्वरूप बाहरी लोगों द्वारा भूमि की मांग बढ़ने के बावजूद राज्य को पर्याप्त कीमते नहीं मिल सकी अतः 1914 ई. से राज्य के नहरी क्षेत्रों में मौरुषी (कब्जे) व स्वामित्व

के अधिकार (जिस में वह भूमि को बेच या गिरवी रख सकता था।) प्रदान करके कृषक का भूमि से स्थाई संबंध जोड़ दिया गया, फलतः पंजाबी काश्तकारों ने उत्साहपूर्वक भूमि खरीद कर खेती करना प्रारंभ कर दिया। जिससे राज्य की भूराजस्व आय में भी वृद्धि हुई। यही नीति राज्य ने 1941 ई. से बारानी क्षेत्रों में भी लागू कर दी। राज्य अकृषि भूमि को कृषि योग्य बनाने व अकाल पीड़ितों का पलायन रोकने के उद्देश्य से अस्थाई काश्त का अधिकार देने की नीति भी अपनाता था।

यद्यपि जागीरी क्षेत्रों में 1941 ई. से पूर्व भूस्वामित्व अधिकार प्रदान नहीं किए जा सके जिससे जागीरी क्षेत्रों से लगातार काश्तकारों का पलायन होता रहा। साथ ही विभिन्न जागीरों में कृषक आन्दोलन भी होने लगे थे। अतः राज्य ने 1942 ई. से जागीरी क्षेत्रों में भी भूस्वामित्व अधिकार देने की नीति प्रारंभ की।

### सन्दर्भ

1. मुंशी सोहनलाल : तवारीख राजश्री, बीकानेर, 1890 ई. पृ. 235
2. एक्ट रैयतदारी, राजश्री बीकानेर, नं. 2, 1945 ई, पृ. 8, राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर
3. रिपोर्ट ऑफ बीकानेर बैंकिंग एन्क्वायरी कमेटी, 1930ई. पृ. 7, रा. रा. अ. बी.
4. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं.ए. 380-401, बंडल नं.5, 1918ई, रा.रा.अ.बी.
5. बीकानेर राजपत्र, 17.10.1923, रा. रा. अ. बी.
6. रिपोर्ट ऑन द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बीकानेर स्टेट, 1905-06ई, पृ.-10, रा.रा.अ.बी.
7. वही
8. रेवेन्यू एंड फाइनेंशियल डिपार्टमेंट बीकानेर, नोटिफिकेशन नं. 7, 13.03.1906 रा. रा. अ. बी.
9. रेवेन्यू डिपार्टमेंट, फाइल नं. ए. 257-72, बंडल नं. 11, 1924 ई., रा.रा.अ.बी.
10. रेवेन्यू कमिश्नर सदर, फाइल नं. 16, बंडल नं. 7, 1920 ई. रा.रा.अ.बी.
11. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. ए380-401, बंडल नं.5, 1918ई., रा.रा.अ.बी.
12. प्राइवेट सेक्रेट्री ऑफिस बीकानेर, फाइल नं. 642, बंडल नं. 469, 1944 ई, शार्दूल संग्रहालय, बीकानेर
13. ग्रांट ऑफ प्रोपराइटी एंड ऑक्सोपेन्सी राइट्स इन द बारानी एरिया ऑफ बीकानेर स्टेट, 1941 ई. पृ.1, रा.रा.अ.बी.
14. बीकानेर रेवेन्यू मिनिस्टर का रेवेन्यू कमिश्नर बीकानेर को लिखा पत्र नं. 2867/2930, 22.10.1926ई, रा. रा. अ. बी.
15. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल न.ए. 380-401, बंडल नं.5, 1918ई. रा.रा.अ.बी.
16. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल न. बी. 1891-97, बंडल नं. 81, 1941 ई., रा. रा., अ. बी.
17. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं.ए 1203, बंडल नं. 61, 1944 ई., रा.रा.अ.बी.
18. कोलोनाइजेशन डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. बी. 952-59, 1930 ई., रा.रा.अ.बी.
19. गवर्नमेंट ऑफ बीकानेर-आर्डर्स ऑन असेसमेंट रिपोर्ट ऑफ पोर्शंस ऑफ रायसिंहनगर एंड अनूपगढ़ तहसील, 1945ई. पृ. 12, रा.रा.अ.बी.

20. कोलोनाइजेशन डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. ए. 231-38, 1939ई. रा.रा.अ.बी.
21. रिपोर्ट ऑन फेमिन रिलीफ ऑपरेशन्स इन बीकानेर स्टेट, 1938-39ई. पृ. 9-10, रा.रा. अ.बी
22. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. ए. 257-72, बंडल नं. 11, 1924 ई. रा.रा.अ.बी.
23. रेवेन्यू कमिश्नर गंगानगर, फाइल नं. सी./65, बंडल नं.50, 1935 ई., रा.रा.अ.बी.
24. प्राइवेट सेक्रेट्री ऑफिस बीकानेर फाइल नं. 5799, बंडल नं. 115, 1941 ई., शार्दूल संग्रहालय बीकानेर
25. ग्रांट ऑफ प्रोपराइटी एंड ऑक्योपेन्सी राइट्स इन द बारानी एरिया ऑफ बीकानेर स्टेट, पृ. 9, रा. रा. अ. बी.
26. बीकानेर सेन्सस रिपोर्ट, 1931 ई. रा. रा. अ. बी
27. रेवेन्यू कमिश्नर सदर, फाइल नं. 21, बंडल नं. 83, 1941-42 ई., रा.रा.अ.बी.
28. रेवेन्यू डिपार्टमेंट बीकानेर, फाइल नं. ए-625-33, बंडल नं.61, 1944 ई., रा.रा.अ.बी.
29. चीस एंड नोबल्स डिपार्टमेंट, नोटिफिकेशन नं. 2, 26-2.1947, रा.रा.अ.बी.

## अलवर रियासत काल में कृषि के सिंचित साधनों का विकास

डॉ. बाबूलाल खटीक

अलवर की नरूका रियासत का उदय 1775 ई. में हुआ और इसका अस्तित्व 1948 ई. तक मत्स्य संघ के निर्माण तक रहा। राजस्थान में 19वीं सदी के मध्य तक कृषकों के प्रति राजाओं तथा जागीरदारों का दृष्टिकोण उदार रहता था। राजपूताना के अन्य राज्यों की तुलना में यहाँ खालसा क्षेत्र लगभग 86 प्रतिशत था। राज्य तथा जागीर की सम्पन्नता कृषकों के सम्पन्न होने पर ही निर्भर थी। अलवर रियासत में भी कृषि विकास हेतु समय-समय पर अस्थाई एवं स्थाई, नियमित बन्दोबस्त हुए तथा सिंचाई के साधनों का विकास हेतु राज्य द्वारा भी विशेष प्रयास किये गये।

अलवर रियासत मुख्य रूप से चार नदियों के बेसिन में बंटी हुई थी -

### रूपारेल नदी

थानागाजी के उदयनाथ पहाड़ी से निकलती है। यह नदी दक्षिण से उत्तर की ओर पहाड़ों और घने जंगलों से गुजरती हुई बारां में आकर पूर्व की ओर जाती है। इस स्थान से यह नदी पहाड़ी क्षेत्र को छोड़कर अलवर के मध्य में मैदानी इलाके में प्रवेश करती है, जो अलवर राज्य की सिंचाई के लिए बहुत उपयोगी थी। बारां के नीचे से 8 कि.मी. दूर अलवर की ओर जयसमंद झील बनायी गयी थी। यह अपने उद्गम स्थान से अलवर राज्य में 81 कि.मी. बहती हुई पूर्व की ओर भरतपुर में प्रवेश करती है। दोनों राज्य की सीमा पर इसके जल को रबी फसल की सिंचाई हेतु सीकरी बांध पर रोका गया था। इस नदी से अलवर राज्य की लगभग 1500 बीघा और भरतपुर राज्य की 40000 बीघा भूमि की सिंचाई होती थी।<sup>1</sup>

### साबी नदी

यह जयपुर राज्य में सेवर की पहाड़ी से निकलकर अलवर राज्य के पश्चिम में बानसूर से प्रवेश करती हुई राज्य की पश्चिमी सीमा रेखा पर 25 कि.मी. बहती है। यह सामान्यतः उत्तरी पूर्वी दिशा की ओर बहती हुई बानसूर, बहरोड़, मुण्डावर, किशनगढ़ और तिजारा तहसील में से गुजरकर 97 कि.मी. की दूरी तय करती है।<sup>2</sup> यह नदी चौड़ी और गहरी है लेकिन केवल बरसाती है। सिंचाई के लिए यह लाभकारी नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहावत प्रचलित है कि -

अकबर बांधी न बंधू, ना रेवाड़ी जाऊं।

कोट तला के नीकसू, साबी नाम कहाऊ।।<sup>3</sup>

इस राज्य में इसकी सहायक नदियां नाला सोहा, नाला गुना शानपुर, नाला माची, नाला हमीरपुर, नाला ईस्माईलपुर, नाला रसगण और अडवाल, नाला इन्देरी और नदी सोना इसमें मिलती है। इस नदी पर बांध बनाने की परियोजना 1923 ई. में महाराज जयसिंह ने और बाद में 1945 ई. में इस हेतु प्रयास किये गये लेकिन बालुई मिट्टी व बाढ़ के कारण प्रयास सफल नहीं हुए।<sup>4</sup>

### बाणगंगा

इस नदी का न तो यहाँ से उदय हुआ है और न ही इस राज्य से गुजरती थी लेकिन पूर्वी सीमा लाईन पर उकेरी गाँव को छूती हुई निकलती थी। टहला, अजबगढ़ एवं प्रतापगढ़ परगनों से राज्य की दक्षिण पश्चिम दिशा की ओर काफी नाले जयपुर की सीमा में बहते हैं जो इस नदी में जाकर मिल जाते हैं। इनमें प्रतापगढ़ और अजबगढ़ के नाले ग्रीष्मकाल में भी बहते रहते थे। थानागाजी और राजगढ़ तहसील के बाणगंगा में मिलने वाले नाले राज्य के सिंचाई के लिए बहुत लाभदायक थे।<sup>5</sup>

उत्तर-पूर्वी पहाड़ों से जो पानी बहता है उससे लिण्डवा नाला का उदय होता है। कुछ हिस्सों में इसका पाट चौड़ा है तथा पश्चिमी दिशा में 12 से 15 मील तक इसका बहाव रहता था। यह सिंचाई के लिए बहुत उपयोगी था लेकिन गर्मियों में इसका पानी सूख जाता था।<sup>6</sup>

### बाँध एवं झीलें

अलवर में कोई भी प्राकृतिक झील नहीं है जबकि इसमें लगभग 150 कृत्रिम झील, बाँध, बावड़ी और तालाब हैं। इनमें से कुछ बाँध या तालाब बहुत पुराने हैं तथा कहा जाता है कि राजगढ़ के निकट बाघोला बाँध का निर्माण गुर्जरों के द्वारा 145 ई. में करवाया गया था और राजगढ़ तहसील में ही बाँध तालाब का निर्माण 1700 वर्ष पूर्व किया गया था।<sup>7</sup>

अलवर राज्य में सिलीसेढ़ व देवती झील प्रमुख हैं। सिलीसेढ़ झील अलवर से 13 किमी दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह बिशनपुरा गाँव के पास स्थित है, जिसको सन् 1844 ई. में महाराजा बन्नेसिंह ने बनवाया जिसमें 8 लाख रुपये खर्च हुए। इस झील को दो पहाड़ों के बीच रूपारेल नदी की जलधारा पर 1000 फीट लम्बा और 40 फीट ऊँचा सुदृढ़ बाँध द्वारा बनवाया गया है।<sup>8</sup>

देवती झील (राम सागर) अलवर की राजगढ़ तहसील में राजपुर से 14 मील दूर पश्चिम में पहाड़ी के मध्य स्थित है तथा सिलीसेढ़ झील से कुछ छोटी है। यह प्रायः गर्मी में सूख जाती है। इस झील की पाल देवती के बड़गूजर राजा ईश्वरीसिंह की रानी के पिता बलदेव ने बनवायी थी।<sup>9</sup>

कुछ बाँध जैसे बाबरिया, अजबगढ़ के पास सोमसागर और अलवर किले में सलीम सागर मुगलकाल में बनवाये गये थे। अलवर राज्य के संस्थापक प्रतापसिंह ने दो प्रताप बाँध अलवर में और राजगढ़ में बनवाये थे। उसके उत्तराधिकारी बन्नेसिंह ने सिलीसेढ़ के अलावा बालेटा और तजारा बाँध बनवाये थे। इनलाकी और थोंसारी बाँध का निर्माण महाराजा बलवन्तसिंह और बख्तावरसिंह अलवर ने करवाया था। 1891 से 1900 ई. के दौरान जब राज्य के इन्जीनियर मैकडानोल्ड थे, तब पुराने बाँधों की मरम्मत और नये बाँधों का निर्माण किया था। सबसे अधिक बाँधों का निर्माण महाराजा जयसिंह के काल में किया गया, जिसमें हंस सरोवर और जयसमंद (1910 ई.) विजयसागर (1913 ई.) ट्रेनिंग बाँध (1922 ई.) और मंगलासर (1924 ई.) प्रमुख थे।<sup>10</sup>

### झरने

अलवर में चार महत्वपूर्ण झरने हैं जो नारायणीजी, पाण्डूपोल, भर्तृहरि और बनी तालवृक्ष में स्थित हैं। इसमें नारायणीजी का झरना सिंचाई के भी उपयोग में आता था। शेष प्राकृतिक रूप से बहते रहते हैं।<sup>11</sup>

### कुँए

सिंचाई के मुख्य साधन कुँए थे। कुँओं को चलाने के लिए अलवर में रहट काम में नहीं लिया जाता था, इसके लिए लाव, चडुस और चरखी का ही प्रयोग होता था। जहाँ पानी ढाने से काफी नजदीक होता था, वहाँ डेकली काम में ली जाती थी। इसमें से पानी निकालने के लिए त्रिशंकु लकड़ी की धुरी पर एक बल्ली होती थी, जिसके एक सिरे पर एक बाल्टी लटकी रहती थी और दूसरे सिरे पर वजन बंधा रहता था।<sup>12</sup> कुँओं को भी पानी की किस्म के अनुसार सात श्रेणियों में विभाजित किया गया था।<sup>13</sup>

1. सर्वोत्तम कुँआ मतवाला होता था, इसके पानी में क्षार और अम्ल, पैदावार के लिए उचित मात्रा में मिलते थे।
2. मलमला था, यद्यपि मतवाला से कुछ घटिया था लेकिन फसल के लिए ठीक था।
3. रूकाला था, जिसे मध्यम श्रेणी का कहा जाता था।
4. मीठा होता था, जिसमें खनिज लवण कम होते थे। इसकी कमी को खार या खारयुक्त मिट्टी के संयोग से पूरा किया जा सकता था। गोबर की खाद इसके लिए उपयुक्त थी।
5. खारा या नमकीन होता था। कृषि के लिए अच्छा नहीं था लेकिन अधिक वर्षा होने पर इसके पानी से फसल बहुत अच्छी होती थी।
6. तेलिया होता था जो सिंचाई के लिए और दूसरे कामों के लिए भी अनुपयुक्त होता था।

7. वज्र तेलिया था जो अधिक तैलीय और खारा होता था। ऐसे कुँए किसी भी काम के नहीं होते थे।

मलमला को छोड़कर बाकी सभी प्रकार के पानी में दूसरे प्रकार का पानी मिलाकर सुधार किया जा सकता है, जैसे मीठे और खारे पानी से क्रमवार सिंचाई करने से सर्वोत्तम फसल हो सकती है।

राजगढ़, थानागाजी, अलवर एवं बानसूर के पहाड़ी इलाकों में संथरा एवं पपरा कुँए बहुत अधिक थे। इनकी लागत पक्के कुँओं की तुलना में 200 रुपये से लेकर 600 रुपये तक कम आती थी। इनमें पानी की आवक पहाड़ी, नालों एवं झरनों से होती थी। इनका पानी सूख नहीं जाये, इसके लिए पानी की आपूर्ति को पर्याप्त बनाये रखने के लिए, नीचे चट्टानों में गन पाउडर से विस्फोट करके पानी की मात्रा बढ़ाई जाती थी। यह युक्ति खर्चीली एवं श्रमसाध्य होने के उपरान्त भी प्रायः असफल रहती थी।<sup>14</sup>

### कुँओं से सिंचित क्षेत्र

राजगढ़ और थानागाजी में कुँओं की सिंचाई से सबसे अधिक खेती होती थी। दोनों तहसीलों के कुल क्षेत्र का 2/5 भाग से लेकर 1/2 भाग तक कुँओं से सिंचित होता था और चाही भूमि की प्रथम श्रेणी से वर्ष में एक फसली या दुफसली, फसल प्राप्त की जाती थी। राजगढ़ और थानागाजी के बाद चाही भूमि क्रमशः गोविन्दगढ़, बानसूर, किशनगढ़, रामगढ़, लक्ष्मणगढ़ और कटूमर में थी। इनमें चाही भूमि का विस्तार कुल कृषि का 1/5 से लेकर 1/4 भाग तक था। अलवर और मण्डावर में यह 1/6 भाग था तथा तिजारा एवं बहरोड़ में इस भूमि का अनुपात सबसे कम लगभग 1/8 भाग था। तिजारा में जल का स्तर बहुत नीचे था और मिट्टी का स्वरूप बालुई होने के कारण कुँओं का निर्माण करना बहुत खर्चीला था। बहरोड़ कस्बे के चारों ओर बहुत बड़ा मैदानी क्षेत्र था, जो उपजाऊ और उत्कृष्ट था, लेकिन कुँओं का पानी नमकीन, खारा और तैलीय था।<sup>15</sup>

### कुँओं के विकास के लिए राज्य द्वारा अग्रिम

प्रथम नियमित बन्दोबस्त 1876 ई. से कुँओं और चाही क्षेत्र की वृद्धि हुई थी और इस आधार पर द्वितीय नियमित बन्दोबस्त 1896-98 में लगभग 2¼ लाख रुपये की जमा बढ़ा दी गई थी। कुँओं की मरम्मत और उनकी वृद्धि के लिए पिछले बन्दोबस्त से लेकर द्वितीय नियमित बन्दोबस्त के 23 वर्षों के दौरान राज्य ने 23 लाख रुपये अग्रिम दिये थे। यह अग्रिम राशि ब्याज से मुक्त थी और इसकी 3 से 5 वर्ष की अवधि में वसूल किया जाना था। 1 अप्रैल 1899 से 1 सितम्बर 1900 तक पड़ने वाले अकाल से निपटने के लिए प्रमुख रूप से कच्चे कुँओं का निर्माण एवं पुराने कुँओं को गहरा करने एवं उनकी मरम्मत के लिए 107000 रुपये अग्रिम दिये थे। सिंचाई के लिए बांधों का भी निर्माण किया था। बांधों की अपेक्षा कुँओं से सिंचित भूमि का क्षेत्र अधिक था। कुँओं के लिए

अग्रिम सहायता के रूप में दी जाने वाली राशि का वहाँ अधिक लाभ हुआ था, जहाँ पानी मीठा था और मूलधन की वसूली भी इस क्षेत्र से आसानी से हो गई थी। बढ़े हुए राजस्व के रूप में राज्य को भी लाभ प्राप्त हुआ था।<sup>16</sup>

राज्य के द्वारा पक्के कुँओं के निर्माण के लिए 500 रुपये की राशि दी जाती थी, जिससे 15 बीघा भूमि की सिंचाई होती थी। यह राशि कुछ ही वर्षों में चुका दी जाती थी और अगले बन्दोबस्त तक इस भूमि से 30 रुपये तक कर वृद्धि के रूप में प्राप्त किये जा सकते थे। राज्य को अपने ऋण पर 6 प्रतिशत लाभ होता था। ओडायर ने सुझाव दिया कि भविष्य में 30,000 से 40,000 रुपये तक की राशि प्रत्येक तहसील को उसकी आवश्यकतानुसार कुँओं के निर्माण के लिए तकावी ऋण दिया जाये।<sup>17</sup>

कुँओं के निर्माण के लिए अलवर राज्य की उदार नीति रही थी और इनके विकास के लिए राज्य द्वारा ऋण दिया जाता था। कैप्टन इम्पे ने सर्वप्रथम राज्य की ओर से किसानों को कुँओं का निर्माण और उनकी मरम्मत हेतु तकावी ऋण बिना ब्याज के देना प्रारम्भ किया था। इसके परिणाम बहुत ही लाभदायक रहे क्योंकि इसके कारण लोग अकाल और सूखे के समय होने वाली मुसीबतों से अपनी रक्षा करने में कुछ समर्थ हुए थे।<sup>18</sup>

10 वर्ष के समरी बन्दोबस्त की अवधि में (1862-1871 ई.) राज्य में कुँओं की संख्या 12604 से बढ़कर 16074 हो गई थी, जबकि नियमित बन्दोबस्त की अवधि I के दौरान (1872-75 ई.) कुँओं के निर्माण और मरम्मत के लिए 80,000 रुपये अग्रिम ऋण के रूप में दिये थे जिससे लगभग 300 नये कुँओं का निर्माण और 100 से भी अधिक पुराने कुँओं की मरम्मत की गई थी।<sup>19</sup>

द्वितीय नियमित बन्दोबस्त के प्रारम्भ तक (1896-98 ई.) पक्के कुँओं में सबसे अधिक वृद्धि तिजारा तहसील में 29 प्रतिशत और मुण्डावर में 12 प्रतिशत की हुई थी, लेकिन यहाँ कच्चे कुँओं में कमी हुई थी। बहरोड़ में 6 प्रतिशत, कटूमर में 8 प्रतिशत और राजगढ़ में 4 प्रतिशत की पक्के कुँओं में वृद्धि हुई। पूर्वी तहसीलों में पक्के कुँओं की वृद्धि कम हुई। अपने स्वयं के संसाधनों द्वारा कुँओं का निर्माण करना बहुत जोखिम भरा था क्योंकि नए कुँए खोदने पर उनका पानी खारा या कड़वा भी निकल सकता था। इसलिए लोग मुश्किल से ही अपनी धनराशि से कुँओं के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लेते थे।<sup>20</sup>

राज्य में कुँओं की वृद्धि की स्थिति का विवरण निम्न तालिका के अनुसार दिया गया है—<sup>21</sup>

वर्ष	पक्के कुँओं की संख्या	डेहरी व ढेकलियों की संख्या
1876-77	10,780	2,672
1901	16450	7066

1922-23	17535	3272
1933-34	16194	1953
1943-44	18468	3114

कृषि क्षेत्र के अधिकतर भाग की सिंचाई कुँओं के द्वारा की जाती थी। 19वीं शताब्दी से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक अलवर राज्य का कृषि क्षेत्र और उसका सिंचित भाग निम्न तालिका में दर्शाया गया है—<sup>22</sup>

वर्ष	कुल कृषि क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	कृषि क्षेत्र का सिंचित भाग (प्रतिशत में)
1876-77	3.40	23.3
1899-01	3.53	27.9
1922-23	3.49	27.0
1933-34	3.81	22.9
1943-44	4.09	23.9
1950-51	4.63	25.4

### डेहरी क्षेत्र

जल प्लावित भूमि को डहरी कहते हैं। 1900 ई. में डहरी क्षेत्र सभी प्रकार की कृषि का 9 प्रतिशत था। डहरी एरिया का सबसे बड़ा भाग 27 प्रतिशत रामगढ़ में और 20 प्रतिशत लक्ष्मणगढ़ में था। किशनगढ़, कठूमर और राजगढ़ में 10 प्रतिशत था तथा तिजारा, थानागाजी और अलवर में 7 से 8 प्रतिशत के बीच था। गोविन्दगढ़ में यह केवल 4 प्रतिशत था, जबकि मुण्डावर, बहरोड़ और बानसूर में व्यावहारिक रूप से डहरी क्षेत्र नहीं था। लेकिन कुछ क्षेत्रफल साबी एवं सहायक नदी-नालों के जल से प्लावित खातली भूमि का था।<sup>23</sup>

डहरी भूमि एवं चाही भूमि की खेती मुख्यतः वर्षा पर निर्भर रहती थी। अधिक मूसलाधार बारिश से पहाड़ी ढलानों से पानी तेजी से बहकर डहरी भूमि क्षेत्र को जल प्लावित कर देता था लेकिन इसके कारण कुँओं में पानी की आपूर्ति बढ़ जाती थी। अधिकतर प्रत्येक तहसील में 1/2 से 3/4 भाग की खेती बारानी (शुष्क) भूमि पर ही होती थी।<sup>24</sup>

द्वितीय नियमित बन्दोबस्त से अकाल के समय में अलवर राज्य परिषद् बांधों के निर्माण और उनकी मरम्मत पर जोर देती थी। बांधों की मरम्मत के लिए तहसीलदारों को अधिकार दिया गया कि वे अपने अधीन मजदूरों के दल या समूह की भर्ती कर, निर्माण कार्य को अपने निर्देशन में पूरा करायेंगे।<sup>25</sup> प्रशासनिक रूप से इस कार्य को करने को

लेकर सार्वजनिक निर्माण विभाग और राजस्व विभाग में विवाद था, जिसको राजा की सलाह से राज्य परिषद् ने अस्थाई रूप से यह निर्णय लिया कि पक्के बांधों का निर्माण सार्वजनिक निर्माण विभाग करायेंगा और मिट्टी के बांधों का निर्माण कराने के लिए तहसीलदार जिम्मेदार होगा।<sup>26</sup>

पिछले बन्दोबस्तों से लेकर 1900 ई. तक द्वितीय नियमित बन्दोबस्त के समय तक प्रत्येक तहसील में सिंचाई हेतु बांधों के निर्माण व उनकी मरम्मत के लिए राज्य द्वारा खर्च की गई राशि का विवरण निम्न प्रकार था :-

क्र.सं.	तहसील	राशि रु. में
1	किशनगढ़	43106
2	रामगढ़	88162
3	गोविन्दगढ़	-
4	लक्ष्मणगढ़	22626
5	तिजारा	100400
6	बहरोड़	-
7	मण्डावर	9603
8	कठूमर	14697
9	राजगढ़	168193
10	अलवर	69674
11	बानसूर	-
12	थानागाजी	33140
	कुल योग	549,403

कृषि एवं सिंचाई के विकास हेतु राज्य ने भविष्य के लिए यह नीति बनाई कि राज्य की आय का 2 प्रतिशत धन इस क्षेत्र में लगाया जाये। इस नीति के तहत परोक्ष रूप से सिंचित बांधों में सुधार, मिट्टी को समतल करना, कुँए के जलस्तर को ऊँचा उठाना, प्रजा एवं मवेशियों को पीने के पानी की आपूर्ति कराना एवं पड़ौसी राज्यों तथा सीमा पार जाने वाली नदी, नालों के पानी का समुचित उपयोग करने के लिए उनका रख-रखाव करना आदि कार्य किये जाते थे।<sup>27</sup>

### सन्दर्भ

1. अ- मायाराम- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 5  
ब- गहलोत जगदीशसिंह- जयपुर व अलवर राज्यों का इतिहास, पृ. 118
2. मायाराम- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 5
3. गहलोत जगदीशसिंह- जयपुर व अलवर राज्यों का इतिहास, पृ. 118
4. मायाराम- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 6
5. पाउलेट - गजेटियर अलवर, अनुवादक अनिल जोशी, पृ. 29

6. वही पृ. 29
7. मायाराम- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 7
8. अ- रा.रा. अभि. बीकानेर, क्रमांक 132, बस्ता-18/बण्डल-9/पृ. 36  
ब- श्यामलदास - वीर विनोद, जिल्द 4, पृ. 1357
9. रा.रा. अभि. बीकानेर, क्रमांक 132, बस्ता-18/बण्डल-9/पृ. 38
10. रा.रा. अभि. बीकानेर/बस्ता-23/फा.सं. 1212 आर/38/पृ. 2-7
11. मायाराम- राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर पृ. 7
12. रा.रा.अभि. अलवर/होतुसिंह/एसे0 रिपोर्ट किशनगढ़ तह0 अलवर स्टेट/1921/पृ. 29
13. जोशी अनिल - अनुवाद पाउलेट गजट, अलवर स्टेट/पृ. 90-91
14. रा.रा.अभि. अलवर/बस्ता 175/क्रमांक 9/नंदलाल टिक्कू एसे. रिपोर्ट, राजगढ़ और थानागाजी तह0/1923/पृ. 16-19
15. ओडायर एम.एफ. फाइनल सैटलमेन्ट रिपोर्ट अलवर स्टेट- 1900-01/पृ-7
16. वही - पृ. 10
17. वहीं - पृ. 11
18. ओडायर एम.एफ. एसे. रिपोर्ट किशनगढ़, रामगढ़, गोविन्दगढ़, और लक्ष्मणगढ़/अलवर राज्य- 1897-98/पृ. 10
19. पाउलेट पी. डब्ल्यू.-गजेटियर ऑफ अलवर स्टेट, पृ.90
20. ओडायर एम.एफ. - एसे. रिपोर्ट तिजारा, बहरोड़, मुण्डावर, राजगढ़, और कठूमर-अलवर राज्य-1898-99/पृ. 40
21. मायाराम - राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर/ पृ. 213
22. वहीं पृ. 211
23. ओडायर एम.एफ. - फाइनल एसे. रिपोर्ट अलवर स्टेट - 1900-01/पृ. 11
24. ओडायर एम.एफ. - एसे. रिपोर्ट किशनगढ़, रामगढ़, गोविन्दगढ़, और लक्ष्मणगढ़/अलवर राज्य- 1897-98/पृ. 10
25. रा.रा.अभि. बीकानेर-अलवर परिषद् का पो0 एजेन्ट अलवर को पत्र 7 दिस. 1902 अलवर रिकार्ड राज्य परिषद्/बस्ता-1/फाइल-15
26. रा.रा.अभि. बीकानेर/एस.आर./बस्ता-5/फाइल 71/ 16 दिस. 1902
27. ओडायर एम.एफ. - फाइनल सैटलमेन्ट रिपोर्ट अलवर स्टेट, 1900-01/पृ. 12

## महाराजा गंगासिंह का आपदा प्रबन्धन : बीकानेर राज्य में 'छप्पनिया काल' के विशेष संदर्भ में

डॉ. चन्द्रशेखर कच्छावा

महाराजा गंगासिंह के शासनकाल (1887-1943 ई.) में जो अकाल के समय आपदा प्रबन्धन किया गया उसकी न केवल राज्य में अपितु अंग्रेजी अधिकारियों में काफी चर्चा रही। क्योंकि उनमें से काफी स्थायी स्वरूप के उपाय थे। महकमा कौंसिल के दस्तावेजों से इस बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। अतः प्रस्तुत पत्र में महाराजा गंगासिंह के आपदा प्रबन्धन की कुशलता का आकलन एवं बीकानेर में पड़ने वाले 'छप्पनिया काल' जो 1899 (वि.सं. 1956) में पड़ा था, तब किये गये उपायों की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

### महाराजा गंगासिंह से पूर्व बीकानेर राज्य में अकाल और प्रबन्धन

सन् 1648 ई. में सम्पूर्ण राजपूताना में अकाल की स्थिति रही। सन् 1747 ई. में पश्चिमी राजपूताना में भयंकर अकाल की स्थिति रही।<sup>3</sup> सन् 1755-56 ई. के अकाल का विवरण एवं तत्कालीन महाराजा गजसिंह के द्वारा अकाल-राहत कार्यों में किले की दीवार बनवाकर पीड़ित लोगों को रोजगार प्रदान किया एवं शासन की ओर से भोजन वितरण की व्यवस्था की गई।<sup>4</sup>

सन् 1764, 1783-85, 1789, 1803, 1812-15, 1832-34, 1837-38, 1849, 1860 ई. में भी बीकानेर राज्य में अकाल की स्थिति का वर्णन मिलता है, किन्तु शासकों के द्वारा सदावृत्त खोलने के अलावा किसी विशिष्ट प्रकार की राहत का उल्लेख नहीं मिलता है।<sup>5</sup> राज्य के शासक और राजपरिवार पर होने वाला खर्च कई गुना रहता था एवं जन कल्याण हेतु खर्च अत्यधिक न्यून था।

### महाराजा गंगासिंह आपदा प्रबन्धन और 'छप्पनिया काल'

महाराजा गंगासिंह के राज्यारोहण के पश्चात् रीजेन्सी कौन्सिल के शासनकाल में सन् 1891-92 और 1896-97 ई. में दो भयंकर अकाल पड़े। सन् 1891-92 का अकाल कुछ तहसीलों तक ही सीमित था। तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट एस.सी. बेले ने राहत हेतु इस समय सक्रिय कार्यवाही की। लेकिन 1896-97 का अकाल पूरे राज्य में फैला हुआ था। भारत सरकार द्वारा निर्धारित नियमावली के अनुसार रीजेन्सी कौन्सिल ने राहत कार्य प्रारम्भ करवाये गये। सम्पूर्ण राज्य में 3 लाख रुपये राहत राशि के रूप में



खर्च किये गये।<sup>6</sup> अगस्त 1897 ई. में 17.30 इंच वर्षा हुई।<sup>7</sup> यह वर्षा औसत से कहीं अधिक थी। इस समय सरकार ने लोगों को बुआई के लिये सहायता प्रदान की तथा अगस्त के अन्त में राहत कार्य बन्द कर दिये।<sup>8</sup>

महाराजा गंगासिंह के पूर्ण राजत्व प्राप्ति के वर्ष 1898 ई. में वर्षा बहुत कम हुई तथा राज्य में मृत्यु-दर बहुत अधिक थी। आगामी वर्ष में जून, 1899 में वर्षा काफी हुई, लेकिन जुलाई, 1899 में वर्षा नहीं हुई। राज्य में लोगों द्वारा संग्रहित अनाज खाली हो गया, ग्रामीण क्षेत्रों में पानी व चारे की कमी हो गई। मानसून की असफलता से राज्य में औसत वर्षा 3.5 इंच रही, जबकि बीकानेर में मात्र 1.14 इंच वर्षा दर्ज की गई। इस कारण पूरे बीकानेर राज्य में खेती असफल रही एवं विशाल क्षेत्र में अकाल फैल गया। बीकानेर राज्य में पिछले चार वर्षों में यही स्थिति दिखाई देती है।<sup>9</sup> यह अकाल वि.सं. 1956 में पड़ा, इसलिये इसे 'छप्पनिया अकाल' के नाम से भी जाना जाता है। इस अकाल में सभी आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया इसलिए इस अकाल को 'त्रिकाल' की संज्ञा भी दी जाती है।<sup>10</sup> अकाल आयुक्त कर्नल जेम्स डनल्स स्मिथ ने अपने बीकानेर प्रवास के दौरान कहा कि "राजपूताना क्षेत्र में केवल बीकानेर ही एक ऐसा क्षेत्र था, जिसमें अकाल की छाया ज्यादा प्रबल थी, इस क्षेत्र में सबसे अधिक बर्बादी हुई।"<sup>11</sup>

परिणामस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का देशान्तर गमन पंजाब, मालवा तथा अन्य पड़ोसी राज्यों में हुआ।<sup>12</sup> कुल आबादी के 22.8 प्रतिशत लोग अपने पशुओं सहित पलायन कर गये।<sup>13</sup> जून, 1900 ई. के अन्त में राज्य में हैजा फैल गया। वह बहुत सीमित क्षेत्र में था, अगस्त 1900 ई. में हैजे का प्रकोप पुनः दिखाई देने लगा, इससे 93 लोग काल के ग्रास बन गये।<sup>14</sup> राज्य में पानी व घास के अभाव के कारण पशुओं का जीवन दूभर हो गया, 75 प्रतिशत मवेशी समाप्त हो गये।<sup>15</sup> सड़कों व यातायात के साधनों के अभाव के कारण खाद सामग्री एवं पशुओं के लिये चारा पानी राहत हेतु समय पर नहीं पहुंचाये जा सके।<sup>16</sup>

### (1) अकाल विभाग का स्थाई गठन

अकाल की विभीषिका में महाराजा गंगासिंह ने बहुत ही बुद्धिमानी से कार्य किया। 23 अगस्त, 1899 ई. को अकाल विभाग का गठन कर स्वयं महाराजा ने केन्द्रीय अकाल राहत अधिकारी का दायित्व ग्रहण किया। राहत कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व राजपूताना के अकाल आयुक्त कर्नल डनलप स्मिथ एवं इम्पीरियल सर्विस टूप के एच.बी.कोक्स से विचार-विमर्श किया। मेजर कोक्स की सलाह पर कैमल कोर (ऊँट सेना) को राहत शिविरों व ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य सामग्री पहुंचाने का दायित्व दिया।<sup>17</sup> कैमल कोर के कमांडिंग अधिकारी दीपसिंह को विशेष अकाल अधिकारी नियुक्त किया गया।<sup>18</sup>

### (2) राहत कार्यों का प्रारम्भ

23 अगस्त, 1899 ई. से राहत कार्य प्रारम्भ किये गये जो अक्टूबर, 1900 तक जारी रहे।<sup>19</sup> राहत कार्यों की योजना इस प्रकार बनाई गई की अकाल पीड़ितों को प्रभावी राहत पहुंचाते हुए राज्य को भी कुछ लाभ पहुंचे।<sup>20</sup> बीकानेर से भटिण्डा की तरफ रेल के विस्तार की योजना में ठेकेदारों को अकाल श्रमिकों को नियुक्ति देने के निर्देश दिये गये।<sup>21</sup> इस कार्य में 38876 लोगों को रेलवे द्वारा राहत दी गई।<sup>22</sup> समय के साथ अकाल की भीषणता बढ़ती गई और अधिक अकाल राहत कार्य खोले गये। सम्पूर्ण राज्य में कुल 9 सिंचाई, 2 रेलवे, 3 सड़कों व 9 अन्य राहत कार्य चल रहे थे। सभी राहत कार्य अकाल विश्राम के द्वारा चलाये जा रहे थे।<sup>23</sup>

### (3) राजस्व व ऋणों की वसूली स्थगित करना

कृषकों को मवेशी, हल व तकाबी ऋण दिये गये। 4.7 लाख रुपये का राजस्व स्थगित कर दिया गया।<sup>24</sup> सम्पूर्ण राहत कार्य में 8.5 लाख का व्यय किया गया। जिसका आधा हिस्सा बीकानेर राज्य के अग्रणी सेठों द्वारा दिया गया।<sup>25</sup>

### (4) राजपरिवारों द्वारा धन उपलब्ध कराना

अकाल के दौरान राज परिवार, सरकार एवं राज्य के अन्य अधिकारियों ने 43050 रुपये दिये।<sup>26</sup> 1 लाख 30 हजार रुपये ही सहायता भारतीय अकाल अनुदान राहत कोष द्वारा प्रदान की गई।<sup>27</sup> अनुदान के वितरण के लिये एक समिति का गठन किया गया था।<sup>28</sup> राज्य से पलायन कर गये लोगों को पुनः बुलाने के लिये सूबेदार गुरुबक्सिंह को दायित्व सौंपा गया। उसके प्रयासों से अनेक लोग पुनः अपने घर को लौट सके।

आगम का माह	स्थान से आगमन	मनुष्यों की संख्या
दिसम्बर, 1899	अजमेर	375
अप्रैल, 1900	दिल्ली	1000
मई, 1900	पंजाब	5874
जुलाई, 1900	पंजाब	6000

### (5) खेती करने हेतु प्रोत्साहन

जुलाई, 1899 में राज्य में कुछ वर्षा हुई। लोग राहत शिविरों को छोड़कर अपने खेतों में दिखाई देने लगे। 31 जुलाई, 1899 तक अधिकांश शिविर बन्द हो गये। सरकार की ओर से शिविर छोड़ने वाले सभी लोगों को एक सप्ताह का खाना दिया गया।<sup>29</sup>

### (6) राहत कार्यों के निरीक्षण की व्यवस्था

महाराजा गंगासिंह द्वारा अकाल के समय पर दी गई सहायता और व्यक्तिगत निरीक्षण के कारण ही पीड़ित लोगों को बड़ी राहत संभव हो सकी।<sup>30</sup> मार्च, 1900 में गवर्नर जनरल का एजेन्ट आर्थर मार्टिन्डेल ने निरीक्षण के दौरान बीकानेर के अकाल

प्रशासन को राजपूताना में सबसे अच्छे राज्य के रूप में वर्णित किया गया था।<sup>31</sup> तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने व्यक्तिगत रूप से महाराजा की प्रशंसा की इस कार्य के लिये महाराजा गंगासिंह को भारत सरकार ने 'केसरी-हिन्द' स्वर्ण पदक से सम्मानित किया।<sup>32</sup>

### (7) दैनिक मजदूरी का स्वरूप

अकाल राहत कार्यों में लोगों को मजदूरी अनाज के रूप में दी जाती थी।<sup>33</sup> मजदूरों को पुरुष, स्त्री एवं बच्चे तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था। राहत कार्य लोगों की आवश्यकता की पूर्ति एवं उपयोगिता की दृष्टि से प्रारम्भ किये गये थे। अतः ऐसी व्यवस्था की गई थी कि लोगों को अच्छी मजदूरी मिले तथा कार्य भी पूर्ण हो। पांच-पांच लोगों की टीम बनाकर भूमि कार्य (अर्थ-वर्क) या तालाब की खुदाई के कार्य दिये गये। तालाब की खुदाई में एक टीम को 10'x10'x10' का गड्ढा खोदना पड़ता था। इस कार्य के लिये 56 छिटांग अनाज मिलता था। कार्य पूर्ण न करने पर 1 से 5 छिटांग तक का दण्ड दिया जाता था। कमजोर व्यक्तियों पर यह नियम लागू नहीं होते थे। शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार लोगों को काम दिया जाता था।<sup>34</sup>

### (8) अस्थाई आवासों का निर्माण

अकाल के समय लोगों के रहने के लिये आश्रय स्थल बनाये गये। इन आश्रय स्थलों में छोटी-छोटी झोपड़ियां बनाकर गरीब लोगों को रखा गया। बीकानेर में इस प्रकार के चार आश्रय स्थल, दो बीकानेर, एक भीनासर एवं एक शिवबाड़ी में बनाया गया। इनका नियंत्रण राज्य सरकार के पास था। चूरू एवं राजगढ़ में भी इसी प्रकार के आश्रय-स्थल खोले गये जिनकी व्यवस्था स्थानीय परोपकारी संस्थाओं द्वारा की गई थी।<sup>35</sup> पर्दानशी महिलाओं को आश्रय स्थल में अलग से झोपड़ियां बनाकर दी गई थी। इन आश्रय स्थलों में 1,61,630 लोगों को राहत प्रदान की गई थी।<sup>36</sup> आश्रय स्थलों में सदाव्रत लंगर की व्यवस्था की गई थी। साथ ही मवेशियों की रक्षा हेतु भी चारा उपलब्ध कराया गया।

### (9) खाद्य वस्तुओं के मूल्यों को नियंत्रित करने के प्रयास

अकाल के समय फसल के असफल होने के कारण बीकानेर तथा आस-पास के क्षेत्रों में अनाज बहुत कीमती हो गया था। व्यापारियों के स्वामित्व में जितना अनाज था, वह लगभग समाप्त हो चुका था।<sup>37</sup> स्थानीय अनाज विक्रेताओं ने 1 रुपये का 3 सेर अनाज बेचा।<sup>38</sup> राज्य सरकार ने पंजाब और उत्तर-पश्चिम राज्यों से रेल एवं ऊँटों द्वारा अनाज का आयात किया गया।<sup>39</sup> इससे बाजार में इतना अनाज आ गया कि किसी भी समय अनाज खरीदा जा सकता था। अब अनाज के भाव 1 रुपये का 8 सेर आ गया था। महाराजा गंगासिंह ने गांवों तक अनाज पहुंचाने के लिये गंगा रिसाला की ऊँट गाड़ियों को काम में लिया था।<sup>40</sup>

### सकारात्मक परिणाम

- (1) कृषक गुवाड़ियों का वापस प्रदेश में लौटना प्रारम्भ हुआ।
- (2) पशुओं की मृत्युदर में कमी आई तथा उन्हें चारा उपलब्ध हुआ।
- (3) गांवों का पुनः बसना प्रारम्भ हुआ।
- (4) महाराजा गंगासिंह के प्रबन्धन की प्रशंसा हुई, उन्हें अंग्रेजों द्वारा 'केसर-हिन्द' की उपाधि से सम्मानित किया गया। सत्ता सम्भालते ही उनकी प्रतिष्ठा प्रजा में जम गई। उनकी योग्यता की चर्चा सर्वत्र होने लगी थी।
- (5) राजस्व एकत्र करने की स्थिति पुनः बहाल हुई।
- (6) व्यापारिक वर्ग में भी राज्य सरकार के प्रति विश्वास लौटा तथा बीकानेर राज्य की पैठ सम्पूर्ण राजपूताना में फैलने लगी।

'छप्पनिया अकाल' के समय के कार्यानुभव से प्रभावित होकर महाराजा गंगासिंह ने आगे भी स्थायी स्वरूप के कार्य किए। गंग नहर को लाने, कृषकों को अन्य राज्यों से लाकर बसाने, कृषि क्षेत्र में बढ़ोतरी करने, व्यापारियों से राज्य की योजनाओं हेतु सहायतार्थ धन प्राप्त करने जैसे जनहितार्थ के कार्यों को निरन्तर जारी रखा।

### निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मध्यकालीन सामन्तशाही राज्यों में निजी योग्यता और कुशलता ही शासकों की सफलता का मापदण्ड होता था। शासक की योग्यतानुसार ही शासनतंत्र भी तदनुकूल व्यवहार करता था। राज्य की साख के आधार पर ही धनश्रेष्ठी भी सदैव राज्य की सहायता के लिये तत्पर रहते थे। बीकानेर राज्य में महाराजा गंगासिंह को विकास की योजनाओं में लाखों रुपया सेठ-साहूकारों ने दिया था। महाराजा गंगासिंह के अकाल प्रबन्धन की कुशलता ने जनकल्याण के कार्यों को तीव्रता प्रदान की। समाज में धन सम्पन्न लोगों के मन में सेवा-भावना जागृत हुई। राहत कार्यों के परिणामस्वरूप मृत्युदर व निष्क्रमण में कमी दिखाई देती है। इस कुशल प्रबन्धन के कारण ही महाराजा गंगासिंह अपने समकालीनों में अग्रणी थे और अंग्रेजी शासन में उनकी योग्यता व बुद्धिमत्ता की चर्चा होती थी।

### संदर्भ

1. मो. हबीब एवं के. ए. नियाजी : कॉम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वोल्यूम-5, द्रष्टव्य - अलाउद्दीन खिजली सम्बन्धी अध्याय।
2. वही, द्रष्टव्य - मुहम्मद तुगलक सम्बन्धी अध्याय
3. कमला मालू : दि हिस्ट्री ऑफ फैमिन्स इन राजपूताना, सन् 1858-1900 ई., पृ. 7-12
4. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बीकानेर, 1972, पृ. 143
5. कमला मालू : पूर्व उद्धृत, पृ. 12-13
6. रिपोर्ट ऑफ दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी बीकानेर स्टेट, सन् 1894-45 एवं 1896, पृ.

- 15-19; अर्सकिन : राजपूताना गजेटियर, भाग-3ए, सन् 1909, पृ. 355
7. अर्सकिन : राजपूताना गजेटियर, भाग-3बी, दी वेस्टर्न राजपूताना स्टेट एण्ड बीकानेर एजेन्सी, सन् 1908, पृ. 84
8. रिपोर्ट ऑन दी पोलिटीकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी राजपूताना स्टेट्स, सन् 1899-1900, पृ. 91
9. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : दी हिस्ट्री ऑफ राजपूताना, भाग-5, पार्ट-3, बीकानेर, अजमेर, 1934, पृ. 504; अर्सकिन : राजपूताना गजेटियर, भाग-3ए, पृ. 354; फाइल रिपोर्ट ऑफ फेमिन रिलीफ ऑपरेशन इन राजपूताना ड्यूरिंग 1899-1900; राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, चूरू, 1970, पृ. 93
10. अकाल की तीव्रता के आधार पर इसे चार भागों में विभाजित किया जा सकता है- (1) केवल अन्न की कमी होने पर 'अन्न अकाल' (2) जल की केंतसाली होने पर 'जल अकाल' (3) चारे की केंतसाली होने पर 'तृणकाल' तथा (4) उपर्युक्त तीनों की कमी होने पर 'महाकाल' या 'त्रिकाल' कहा जाता है। राजस्थान में अकाल के लिये 'काल' एवं 'फेतसाली' शब्द का प्रयोग हुआ है। काल शब्द अकाल का ही अपभ्रंश है। किन्तु मरूभूमि में इसका उपयोग भयंकर अकाल के रूप में हुआ है। इस शब्द का प्रयोग मृत्यु के समरूप हो गया था। फेतसाली शब्द का उपयोग 'कमी' के रूप में किया गया है। भयंकर अकाल न होने पर कुछ वस्तुओं की कमी आ जाये तो उसे फेतसाली कहा गया था; कागद बही बीकानेर, क्रमांक 72, वि.सं. 1925-26/18, पृ. 83; कागद बही बीकानेर, क्रमांक 80, 81, वि.सं. 1934, पृ. 56, वि.सं. 1935, पृ. 61; सीताराम लालस : राजस्थानी शब्दकोष, प्रथम खण्ड, पृ. 480, 541
11. दि हाउस ऑफ बीकानेर बिंग्स ए नेरेटिव ऑफ दी एण्टीक्विटी लिंकेज एण्ड ट्रेडीशन, बीकानेर, 1933, पृ. 201
12. फ़ैमिन स्टिर्मस, फाइल नं. 9, बण्डल नं. 14, पृ. 1, महकमा खास, 1899, रा.रा.अ. बीकानेर
13. (i) फाइल रिपोर्ट ऑफ फेमिन रिलीफ ऑपरेशन इन राजपूताना ड्यूरिंग 1899-1900, पृ. 85-88; (ii) राजपूताना गजेटियर, भाग-3ए, पृ. 356
14. मन्थली फ़ैमिन स्टेटमेन्ट, फाइल नं. 23, बण्डल नं. 32, महकमा खास, 1900, बीकानेर, रा.रा.अ.बीकानेर
15. नोट ऑन इरीगेशन इन दी बीकानेर स्टेट (1905), पृ. 3
16. अकाल के समय बीकानेर राज्य में मात्र 27 मील लम्बी रेलवे लाईन थी।
17. रिपोर्ट ऑन दी पोलिटीकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी राजपूताना स्टेट फॉर 1899-1900, पृ. 91
18. मन्थली फ़ैमिन स्टेटमेन्ट, फाइल नं. 23, बण्डल नं. 32, महकमा खास, 1900, बीकानेर, रा.रा.अ.बीकानेर
19. फोर डिक्लेड्स ऑफ प्रोग्रेस इन बीकानेर, बीकानेर, 1937, पृ. 24
20. अर्सकिन : राजपूताना गजेटियर, भाग-3बी, पृ. 356
21. नोट्स बाय मेजर डनलप स्मिथ, फ़ैमिन कमिश्नर रिगार्डिंग ए ट्यूर थ्रू बीकानेर स्टेट डेटेड

- 16 दिसम्बर, 1899
22. डिपार्टमेन्ट ऑफ रेवेन्यू एण्ड एग्रीकल्चरल (फेमिन), फाइल नं. 23-1899, सीरियल नं. 11, प्रोसीडिंग्स नं. 5, पार्ट-बी, दिसम्बर, 1899, पृ. 3, रा.रा.अ.बीकानेर
23. प्रोग्रेस रिगार्डिंग फेमिन रिलीफ ऑपरेशन इन इण्डिया ड्यूरिंग 1899-1900, नं. 146-सी डेटेड 20 सितम्बर, 1899, पृ. 80, रा.अ. दिल्ली
24. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बीकानेर, पृ. 148
25. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : पूर्व उद्धृत, भाग-2, पृ. 506; मन्थली फ़ैमिन स्टेटमेन्ट, फाइल नं. 23, बण्डल नं. 32, महकमा खास, 1900, रा.रा.अ.बीकानेर
26. रिपोर्ट ऑन दि पोलिटीकल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि राजपूताना स्टेट्स फोर 1899-1900, पृ. 91
27. प्रोसीडिंग्स नं. 112, इंटरनल-ए, सितम्बर, 1900, फोरेन डिपार्टमेन्ट, रा.अ. नई दिल्ली
28. महकमा खास, बीकानेर, फाइल नं. 23, 1900, बण्डल नं. 32, नं. 708, दिनांक 31.5. 1900, रा.रा.अ.बीकानेर
29. प्रोसीडिंग्स नं. 112, इंटरनल-ए, सितम्बर, 1900, फोरेन डिपार्टमेन्ट, रा.अ. नई दिल्ली
30. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बीकानेर, 1972, पृ. 144
31. दि हाउस ऑफ बीकानेर, पृ. 201
32. फाइल नं. 137, 1901, बस्ता नं. 33, फ़ैमिन ऑफ संवत् 1958, पृ. 10, रा.रा.अ. बीकानेर
33. डिपार्टमेन्ट ऑफ रेवेन्यू एण्ड एग्रीकल्चरल ड्यूरिंग फेमिन, फाइल नं. 6, सीरियल नं. 33, प्रोसीडिंग्स नं. 14, पार्ट-बी, मई, 1900, पृ. 6, रा.अ. नई दिल्ली
34. वही, पृ. 5
35. फाइल नं. 6, प्रोसीडिंग्स नं. 34, मार्च, 1900, पार्ट-बी, सीरियल नं. 33, डिपार्टमेन्ट ऑफ रेवेन्यू एण्ड एग्रीकल्चरल (फेमिन), पृ. 3, रा.अ.नई दिल्ली
36. फाइल रिपोर्ट ऑफ फेमिन रिलीफ ऑपरेशन इन राजपूताना स्टेट ड्यूरिंग 1899-1900, पृ. 84
37. उस काल में बीकानेर राज्य के लोगों ने भुरट, लूंग की फली, मतीरे के बीज, तुम्बे के बीज, खेजड़ा की दाल, सांगरी, केर, फोग, खुम्बी, ग्वार व मोठ आदि निकालने के बाद शेष रहा फली का भूसा, लोहरम बेर की गुठली, सांगरी के सूखे हुए खोखे के बीज आदि खाकर गुजारा चलाया था - फ़ोम दि रिपोर्ट ऑन इकोनोमिक्स प्रोडक्ट टू दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया टू दी ए.जी.जी. राजपूताना, नं. 2324/152, दिनांक 5.9.1902, फाइल नं. 137 ऑफ 1901, बस्ता नं. 33, पृ. 40/1, रा.रा.अ.बीकानेर
38. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : पूर्व उद्धृत, भाग-2, पृ. 504
39. प्रोसीडिंग्स नं. 55, फोरेन डिपार्टमेन्ट इन्टरनल-ए, जनवरी, 1900, पृ. 10, रा.रा.अ. बीकानेर
40. गौरीशंकर हीराचंद ओझा : पूर्व उद्धृत, भाग-2, पृ. 505

## अलवर राज्य में पंचायत प्रशासन के विकास में महाराजा जयसिंह का योगदान

डॉ. रमेश चन्द्र खण्डूडी एवं डॉ. जगत सिंह मीणा

भारत में प्राचीनकाल से ही ग्रामीण स्वायत्त शासन की व्यवस्था रही है। वैदिक युग से लेकर मुगलोत्तर काल तक ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई रही है, जहाँ ग्रामीण जन स्वयं या कुछ स्थानीय राजकीय पदाधिकारियों की सहायता से ग्राम विकास, भू राजस्व व्यवस्था, दैनिक प्रशासन एवं विवादों का निस्तारण आदि कार्य किया करते थे। शासक वर्ग भी सामान्यतया ग्राम पंचायत के मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप करता था और उसके निर्णयों को मान्यता प्रदान करता था।

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में पूर्वस्थापित स्थानीय शासन संस्थाओं के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन आया। अंग्रेजों ने 19वीं शताब्दी के अन्त तक स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के पूर्ववर्ती ग्राम-अभिमुखी स्वरूप को नष्ट कर उन्हें साम्राज्यवादी एवं औपनिवेशिक हितों की पूर्ति करने वाली संस्थाओं के रूप में परिवर्तित कर दिया। जिनका उद्देश्य भारत पर अपनी प्रशासनिक एवं आर्थिक पकड़ को सुदृढ़ करना था। 20 वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भारतीय राजनीतिक जागृति के विस्तार के कारण ब्रिटिश शासक वर्ग ने स्वशासन की संस्थाओं के रूप में स्थानीय संस्थाओं को स्वीकार किया और उनमें जन सहभागिता के अवसर सुलभ करवाये। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण प्रगति 1919 ई. के भारत शासन अधिनियम मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार के द्वारा हुई जिसमें स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का विभाग प्रान्तों के निर्वाचित मंत्रियों के अधीन आ गया। इन सुधारों के क्रम में सर्वप्रथम 1919 ई. में बंगाल सरकार ने ग्राम पंचायत कानून पास किया एवं 1920 ई. तक प्रायः सभी प्रान्तों में पंचायत कानून पारित कर दिये गये।<sup>1</sup> ब्रिटिश भारत में पंचायत व्यवस्था में हुए इन महत्वपूर्ण परिवर्तनों का प्रभाव अलवर रियासत पर भी पड़ा।

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध नवजागरण की दृष्टि से प्रसिद्ध है। नवजागरण की इस लहर से अलवर रियासत भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। अलवर में इस समय महाराजा जयसिंह (1892 से 1937 ई.) का शासन था। अलवर में नवजागरण का श्रेय महाराजा जयसिंह को जाता है। वह एक योग्य, प्रबुद्ध, प्रगतिशील एवं जनहितैषी शासक थे। चूँकि ब्रिटिश पद्धति पर आधारित न्याय व्यवस्था जटिल, खर्चीली, विलम्बपूर्ण एवं ग्रामीण जन तक शीघ्र सुलभ नहीं थी, इसलिए महाराजा जयसिंह ने 1919 ई. के अधिनियम की पृष्ठभूमि में रियासत की बहुसंख्यक

ग्रामीण जनता को ग्रामीण स्तर पर शीघ्र एवं सस्ता न्याय सुलभ करवाने एवं पारस्परिक विवादों के निपटारे हेतु मई 1920 ई. में पंचायत अधिनियम पारित कर पंचायत बोर्ड स्थापित किये। इसमें पंचायतो को दीवानी फौजदारी एवं राजस्व अधिकार प्रदान किए गये।<sup>2</sup> साथ ही यह आशा की गयी कि पंचायत व्यवस्था न्यायिक एवं पुलिस व्यवस्था के कार्य निस्तारण में सहायक एवं उपयोगी सिद्ध होगी। पंचायत अधिनियम 1920 ई. में पंचायत बोर्ड के गठन, दीवानी, फौजदारी, राजस्व एवं जुर्माना सम्बंधी शक्तियों, वित्तीय संसाधन, आय, व्यय, कार्यप्रणाली, निगरानी व्यवस्था आदि का विवरण दिया गया।

पंचायत अधिनियम 1920 ई. के अनुसार तहसीलदार गांव के स्थानीय निवासियों को पंचायत बोर्ड के सदस्य के रूप में दो वर्ष के लिए मनोनीत करता था। पंचायत सदस्य अपने में से ही सरपंच का चुनाव करते थे। सरपंच पंचायत बैठक बुलाने एवं आयोजित करने के लिए उत्तरदायी था। पंचायत में सचिव सरकारी सदस्य होता था।<sup>3</sup>

पंचायतो को भू राजस्व, दीवानी तथा फौजदारी विवादों के निस्तारण हेतु अनेक अधिकार दिए गये। राजस्व के क्षेत्र में 50 रुपये तक के मामले, बकाया किरायों से सम्बन्धित मामले, पशुओं की घास चराई के मामले या विवाद, खड़ी फसल को हानि पहुंचाने के विवाद, पाला पूला, वृक्षों से सम्बन्धित विवाद पंचायतों के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते थे। दीवानी मामलों में 50 रुपये तक के मामले पंचायत के सम्मुख निस्तारण हेतु प्रस्तुत किए जाते थे। आपराधिक मामलों में शान्तिभंग, धोखाधड़ी, जानबूझ कर सामान्य प्रकार की पीड़ा पहुंचाने, विघ्न या आपराधिक शक्तियों के प्रयोग, उक्त अपराधों हेतु उकसाने आदि से सम्बन्धित मामले पंचायत में प्रस्तुत किए जाते थे। पंचायतों को 50 रुपये तक के जुर्माना लगाने की शक्ति प्राप्त थी। आवश्यक होने पर वह शिकायतकर्ता को सीधे 20 रुपये तक की राशि क्षतिपूर्ति के रूप में नगद दिलाने के आदेश प्रदान कर सकती थी।

पंचायत बोर्ड की स्थापना से रियासत की ग्रामीण जनता को भारी लाभ मिला। स्थापना के प्रथम वर्ष 1920-21 ई. में पंजीकृत 5914 दीवानी, आपराधिक एवं राजस्व मामलों में से 4625 का निस्तारण किया गया। लगभग 78 प्रतिशत मुकदमों का निस्तारण एक सराहनीय कार्य था। अकेले पंचायत बोर्ड कठूमर द्वारा 355, रामगढ़ द्वारा 276 और लक्ष्मणगढ़ बोर्ड द्वारा 436 मामले निपटारे गये।<sup>4</sup> आगामी वर्षों में पंचायत बोर्ड द्वारा निस्तारित मामलों में निरन्तर वृद्धि होती गयी। 1927-28 ई. में कुल दर्ज 8472 मामलों में 7774 का निस्तारण (लगभग 92 प्रतिशत) किया गया तथा 1928-29 ई. में कुलदर्ज 6779 मामलों में 5655 मामलों अर्थात् लगभग 83 प्रतिशत को निपटारा गया।<sup>5</sup> इतनी बड़ी संख्या में मुकदमों का निस्तारण महाराजा जयसिंह के योग्य नेतृत्व में पंचायत बोर्ड की लोकप्रियता एवं कार्यकुशलता का प्रमाण था। पंचायत बोर्ड न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध सुनवाई का अधिकार सम्बन्धित मुंसिफ न्यायाधीशों को दिया गया।

ग्रामवासियों को शीघ्र न्याय दिलवाने के लिए पंचायत व्यवस्था की कार्यप्रणाली में विधि सलाहकारों को मुकदमों में पैरवी करने की अनुमति नहीं थी। पंचायत प्रशासन का कार्य पंचायत सचिव द्वारा किया जाता था। उसकी सहायता हेतु गांव के शिक्षित व्यक्ति, अध्यापक आदि होते थे। नगरपालिका लिपिक को पारिश्रमिक देकर पंचायत के कामकाज में सहायता ली जाती थी। कुछ स्थानों पर लोगों ने स्वेच्छापूर्वक पंचायतों से सम्बन्धित लेखन कार्य किया।

पंचायत बोर्ड अधिनियम में पंचायतों के गठन एवं प्रशिक्षण का दायित्व दीवानी न्यायाधीश को दिया गया। ये पंचायतों के कामकाज का समय-समय पर निरीक्षण कर उन्हें उचित निर्देशन देते रहते थे। इससे पंचायतों के कामकाज में सुधार आया। पंचायतों के कार्य एवं गुणवत्ता में वृद्धि हेतु अनेक सुधारात्मक उपाय किए गये जिनमें पंचायतों के नियतकालिक निरीक्षण हेतु निरीक्षकों की नियुक्ति, बोर्ड के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले गांवों का चिन्हीकरण, योग्य सदस्यों की नियुक्ति, लेखा को व्यवस्थित करने हेतु आवश्यक निर्देश आदि सम्मिलित थे। महाराजा जयसिंह ने पंचायत व्यवस्था में इन सुधारों को लागू कर पंचायत प्रशासन को पहले राजस्व विभाग के अधीन कर दिया लेकिन बाद में इन्हें हाकिम पंचायत के स्वतन्त्र प्रभार के अधीन कर दिया गया।<sup>16</sup>

रियासत में पंचायत बोर्ड संस्थाओं के विकास के क्रम में एकरूपता नहीं थी। इनमें परिस्थितियों के अनुसार घटना-बढ़ना जारी रहा, 1920 ई. में पंचायत बोर्ड की स्थापना के समय इनकी संख्या 50 थी। 1920-21 ई. में इन संस्थाओं की आय संग्रहण में भारी कमी के कारण इनकी संख्या में कटौती कर 37 कर दी गयी, लेकिन शासन द्वारा किए गये प्रयासों एवं महत्वपूर्ण उपायों के फलस्वरूप वर्ष के अन्त में इनकी संख्या आर्थिक स्ववित्तपोषित के रूप में 54 तक पहुंच गयी। आगामी वर्ष 1921-22 ई. में इनकी संख्या में पुनः गिरावट आई और ये 54 से घटकर 47 तक रह गयी। राज्य के लिए आर्थिक भार वाली पंचायतों को समाप्त कर दिया गया। वर्ष 1921-22 ई. के अन्त में रामगढ़ व मातौर के बोर्ड आर्थिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ स्थिति में थे।<sup>17</sup>

आगामी वर्षों में विभिन्न सुधारात्मक उपायों से पंचायतों की वित्तीय स्थिति में निरन्तर सुधार होता गया और उनकी संख्या में पुनः वृद्धि होने लगी। वर्ष 1926-27 ई. के प्रारम्भ में पंचायत बोर्ड न्यायालयों की संख्या 54 थी जो वर्ष के अन्त में 85 तक पहुंच गयी।<sup>18</sup> वर्ष 1931-32 ई. तक पंचायत बोर्ड संख्या बढ़कर 1556 हो गयी।<sup>19</sup> पंचायत बोर्ड की यह रिकार्ड संख्या इनकी लोकप्रियता को स्पष्ट करती है, क्योंकि पंचायतों द्वारा जनता को स्थानीय स्तर पर सस्ता एवं सुलभ न्याय दिया जा रहा था। पंचायत बोर्ड द्वारा पुलिस एवं न्याय प्रशासन को भी बहुत सहयोग दिया गया पंचायत संस्थाओं का आय व्यय निरन्तर उतार-चढ़ाव युक्त रहता था।

अलवर रियासत में पंचायत संस्थाओं की सफलता, कार्यकुशलता एवं निरन्तर विकास के पीछे महाराजा जयसिंह द्वारा किए गये प्रयत्न सराहनीय थे। उन्होंने प्रशासनिक

सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर ग्राम पंचायतों को अधिक सुदृढ़ एवं प्रभावशाली बनाया। ग्रामीणजन अब अपने सामान्य प्रशासनिक एवं न्यायिक कार्यों को ग्राम स्तर पर ही निपटाने लगे। यह ग्राम स्वायत्ता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। महाराजा जयसिंह की इच्छा थी कि हर गांव में पंचायत हो जिससे ग्रामीण जनता आत्मनिर्भर रहे। उनमें प्रशासनिक जागृति आए एवं राजनीतिक चेतना का विकास हो। महाराजा जयसिंह जनकल्याणकारी प्रशासनिक नीतियों एवं उदारवादी दृष्टिकोण ने रियासत की जनता में अप्रत्यक्ष रूप से राजनैतिक चेतना एवं अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की। महाराजा जयसिंह के प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख ने ब्रिटिश प्रशासन को उनका विरोधी बना दिया। इसलिए उन्होंने 1932-33 ई. के मेव विद्रोह के बहाने जयसिंह पर कुशासन का आरोप लगाकर उन्हें 1933 ई. में राज्य से निर्वासित कर दिया। उनके निर्वासन काल में राज्य में स्वायत्तशासन को गहरा नुकसान पहुँचाते हुए उनके द्वारा स्थापित जनहितकारी एवं पुलिस व न्याय की दृष्टि से उपयोगी पंचायत बोर्ड संस्थाओं को ब्रिटिश शासन ने स्वार्थ एवं राष्ट्रीय चेतना के दमन की दृष्टि से समाप्त कर दिया। यद्यपि जनता द्वारा इनकी समाप्ति का तीव्र विरोध किया गया, लेकिन सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाराजा जयसिंह का शासनकाल अलवर रियासत के लिए पंचायत प्रशासन के विकास की दृष्टि से अविस्मरणीय समय था, ग्रामीण प्रशासन एवं ग्राम न्याय व्यवस्था को पंचायत अधिनियम द्वारा वैधानिक आधार प्रदान कर ग्राम स्वायत्त संस्थाओं का सशक्तीकरण किया गया, पंचायत बोर्ड न्यायालयों के माध्यम से ग्रामीण प्रजा के विभिन्न विवादों का ग्राम स्तर पर ही निस्तारण की व्यवस्था कर बहुसंख्यक निर्धन ग्रामीण जन की सेवा की गयी, महाराजा जयसिंह की यह प्रगतिशील एवं जनकल्याणकारी पंचायत व्यवस्था यद्यपि उनके निर्वासन के साथ ही ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा समाप्त कर दी गयी थी लेकिन इससे आम जन में राजनैतिक एवं सामाजिक चेतना का विस्तार हुआ जिससे रियासत में प्रजामण्डल आन्दोलन एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला।

### सन्दर्भ

1. सान्याल, भूपेन्द्र नाथ- भारत में पंचायती राज, दिल्ली 1964, पृ. 8
2. राज्य अभिलेखागार अलवर फाइल नं. 29 ए ब्रीफ सिनोप्सिस पृ. 9
3. मायाराम-डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, अलवर, 1968, पृ. 559,
4. अलवर एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, 1920-21, पृ. 23
5. अलवर एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, 1928-29, पृ. 65
6. मायाराम-पूर्वोक्त, पृ. 561
7. अलवर एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, 1921-22, पृ. 40
8. अलवर एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, 1926-27, पृ. 18
9. अलवर एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, 1931-32, पृ. 65

## राजस्थान की पेशेवर गायक जातियां

डॉ. (श्रीमती) अनिला पुरोहित एवं डॉ. (श्रीमती) इन्द्रा विश्णोई

मध्यकाल में राजस्थान में कई पेशेवर जातियां थी जो केवल गाने-बजाने का ही कार्य करती थी। यह उनका व्यवसाय भी रहा। उनके अपने यजमान होते थे, उन्हीं के यहां वंश परम्परा से शादी-ब्याह, उत्सव, त्यौहार पर गाने बजाने-नाचने का पुस्तैनी कार्य करते थे, जिसके एवज में उनका 'नेग' बंधा होता था। इन लोकधर्मी संगीतजीवियों की कुछ जातियों के कलाकारों का गायन-वादन शास्त्रीय संगीत के काफी निकट रहा है। इन जातीय कलाकारों को राजस्थान में संगीत कला को जन-जीवन में जीवन्त रखने का श्रेय है।<sup>1-4</sup> राजस्थान में अनेक ऐसी जातियां हैं जो पुस्तैनी ढंग से दूसरों के मनोरंजन के लिए गाने का काम करती हैं। और केवल गा-बजाकर ही अपना गुजारा करती हैं। इनमें कुछ प्रमुख जातियां इस प्रकार हैं- ढोली, मिरासी, लंगा, भवाई, कलावंत, भाट, राव, जोगी, कामड़, गंधर्व, भोपे, राणा तथा कालबेलिया प्रमुख हैं। राजस्थान की गायक जातियां आज भी अत्यंत दलित अवस्था में जीवन-यापन कर रही हैं। गावों की सामंती संस्कृति के कारण ये अब भी हीन भावना से ग्रस्त हैं लेकिन लोक गीतों की रक्षा और प्रचार-प्रसार में इन जातियों का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है।<sup>5-13</sup>

### ढोली (हिन्दू)

वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल ढोली अपना सम्बंध शिव एवं पार्वती से बिठाते हैं। वस्तुतः यह प्रयत्न अपनी जाति की प्राचीनता एवं श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये किया जाता है। ढोली अपना जन्म गंधर्वों से भी मानते हैं। ढोल बजाने के कारण ये कलाकार ढोली कहलाते हैं। विवाह शादी और पुत्र जन्मोत्सव आदि मांगलिक अवसरों पर गीत गाने वाली यह जाति साधारण-सा जीवन बिताती है। ब्राह्मण, वैश्य, सुनार, दर्जी, आदि जातियां इनकी यजमान हैं। ये लोग हारमोनियम और ढोल अथवा ढोलक के साथ बड़े अच्छे गीत गाते हैं।

परम्परा से गाने वाली इस गायक जाति के गायकों का लोक गीत गाने का अपना अलग ही ढंग है। गाने के उन तरीकों में एक और लौकिकता के दर्शन होते हैं तो कहीं-कहीं शास्त्रीयता भी सहज भाव से मिल जाती है। ढोलियों की स्त्रियां भी पुरूषों के साथ गाती हैं और वे 'ढोलणियां' कहलाती हैं। ढोलणियों के गीत लम्बे और सुरीले होते हैं। बाप, नोखा, दासोड़ी और खींदासर की ढोलणियां समस्त राजस्थान में श्रेष्ठ गायिकाएं मानी जाती हैं। ढोलणियां ढोल तथा ढोलक दोनों के साथ गाती हैं। नारी-चरित्र

को उद्घाटित करने वाले दीर्घकायी गीत रतजगों एवं अन्य मांगलिक अवसरों पर इनके द्वारा गाये जाते हैं।

ढोली जाति की अनेक खांपे हैं जिनमें भेट, कडवा, कालेट, जाडिया, गीला, देहड़ा, देसार, तेरपा, डंगी आदि प्रमुख हैं। ये लोग अपनी जाति के जिजमानों अथवा वृत्ति वालों के अतिरिक्त अन्यत्र मांगने नहीं जाते। जैसे अलग-अलग जातियों के अलग-अलग ढोली होते हैं और वे उनके वृत्ति वाले घर कहलाते हैं। ये गीतों के माध्यम से ही अपने जजमानों का यशोगान करते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् इन लोगों के रहन-सहन और वेश-भूषा तथा शिक्षा-दीक्षा आदि में पर्याप्त परिवर्तन आने लगा है। कुछ लोग अब नौकरी भी करने लग गये हैं।<sup>14-18</sup>

### ढोली (मुसलमान)

मुसलमान ढोली भी किसी समय हिन्दू ही थे, परन्तु मुसलमानों के आक्रमण के उपरान्त इस जाति के लोगों ने कारणवश मुसलमानी धर्म स्वीकार कर लिया। इनका रहन-सहन एवं गायन पद्धति हिन्दू ढोलियों की तरह ही है। ये लोग अपने आप को 'सुन्नी' कहते हैं। ढोला-मरवण, लखपत, कुरंजा, सपना, मूमल, अजवा आदि अनेक गीतों को इस जाति के लोग बड़े ही सरस ढंग से गाते हैं। मगरा क्षेत्र के ढोली पालीवालों के झोरावे बड़े ही करुण ढंग से गाते हैं, जिन्हें सुनकर आंखों से आंसू छलकने लगते हैं। इनका रहन-सहन सादा और वेश-भूषा हिन्दू ढोलियों की तरह ही रहती है। यह जाति अशिक्षित है, परन्तु गाने में बड़ी कुशल। रजवाड़ों में ढोलणों के गाने-बजाने के अनेक किस्से आज भी मशहूर हैं। मध्यकाल में कुछ ढोली मुसलमान बन गये। पेशेवर कलाकारों में ढोलियों का विशेष स्थान है। इनकी स्त्रियां भी नाचने-गाने में अपना विशेष स्थान रखती हैं। ये ढोलणियां कहलाती हैं। इनके गीत बड़े ही सरस और लम्बे होते हैं। मुसलमान ढोलियों की अनेक खांपे हैं। बीकानेर के लोग इन ढोलियों को 'दमामी' कहते हैं। बीकानेर के लोक में यह कहावत बड़ी प्रसिद्ध है कि 'ढोलियां रै अटै ब्याव तो गीतां री काई कमी', अर्थात् ढोलियों के घर पर शादी है तो गीतों की क्या कमी हो सकती है।

### ढाढी

ढोलियों की तरह ढाढी, हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में मिलते हैं। हिन्दू ढाढी केवल ढाढी ही कहलाते हैं, जबकि मुसलमान ढाढी मलानुर नाम से संबोधित किए जाते हैं। ये लोग अधिक पढ़े लिखे नहीं होते, परन्तु प्राचीन समय में ये लोग रणभूमि में राजाओं के साथ रहा करते थे और समर हँतु सैनिकों को अपनी सिन्धु राग के द्वारा प्रोत्साहित करते रहते थे। इनके गाने के तरीके को सिन्धु देना कहा जाता था। कोई-कोई ढाढी राज्याश्रित भी होता था। आज भी सिन्धु राग गाने के लिए यह जाति विशेषज्ञ मानी जाती है।

ढाढी जाति के लोग प्रायः अशिक्षित हैं। अपने पेशे से पेट नहीं भर पाने के कारण

कृषि, नौकरी एवं पशुपालन का कार्य भी करते हैं। इस जाति की अनेक खांपें हैं, जिनमें बावरा, सिहोल, बगड़वा, डेडण, चमगा, मालाणा आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ढाढियों की आवाज बड़ी ही वीर-रसोत्पादक होती है। ढोल और नगाड़ों के साथ इनका गायन चलता है। प्राचीन काल में ये रणवाद्य बजाने में बड़े कुशल माने जाते थे।

### मिरासी

पेशेवर गायकों में मिरासियों का अपना अलग स्थान है। इनके पूर्वज गौड़ ब्राह्मण थे किंतु अब ज्यादातर सुन्नी मुसलमान हैं। सारंगी इनका मुख्य वाद्य है। ये कलाकार पीढ़ी दर पीढ़ी गाना बजाना ही करते आये हैं। मारवाड़ क्षेत्र में इन कलाकारों की बहुलता है। भाटों की तरह ये भी वंशावली का बखान करते हैं। मिरासियों में नक्कारची, ताशे वाले और शहनाई वादक भी हैं। बनियें, ब्राह्मण, मेवाती, राजपूत, डंगी, पठान, सैयद, खान आदि इनके जजमान हैं। सामंती दौर में कुछ ठिकाणों में मिरासियों को जागीरें भी बख्शी गयीं।

मिरासियों को अलवर में मेवाती और शेखावटी में राणा नाम से जाना जाता है। मिरासी लोक कलाकारों की बाड़मेर और जैसलमेर के गांवों में काफी संख्या हैं। बीकानेर जिले में भी मिरासी हैं, मिरासियों को भारत के मध्यकालीन दरबार में खूब सम्मान मिला, ऐतिहासिक साहित्य में मिरासीयों को भारत में जागीरें देने का वर्णन भी मिलता है। सारंगी, हारमोनियम और ढोलक लेकर गाने वाली इस जाति के लोग ढोलियों से मिलते-जुलते हैं। ये लोग अपना आदि निवास अरब को बताते हैं और मुसलमान जाति को स्वीकारते हैं। इनका रहन-सहन, आचार-विचार मुसलमान ढोलियों सा है। कानोता, जोड़ा, कालेट आदि इस जाति की प्रसिद्ध खांपें हैं। ये लोग अपने वाद्य वृन्द के साथ बड़े सुन्दर ढंग से गीत प्रस्तुत करते हैं। बीकानेर के अतिरिक्त जोधपुर, नागौर, डीडवाना और जैसलमेर में इनके अधिक घर हैं। इनका पहनावा मुसलमानों-सा होता है और ढोलियों से ये अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। मिरासी लोक कलाकार कमायचा, खडताल, सारंगी, सुरमण्डल, मटका, मुरली, अलगोला एवं सुरनाई बजाकर लोक वाद्य यंत्रों एवं राजस्थान की संस्कृति को जीवित रखे हुए हैं वर्तमान में मांड गायकों की परम्परा को भी मिरासीयों ने ही जीवित रखा है।

### कलावंत और कव्वाल

कलावंत का सही रूप कलावंत हैं अर्थात् कलावान है। इनकी दो उपजातियां हैं: एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान। गौड़ ब्राह्मण और टॉक सुल्तान। मध्यकाल में कलावंतों की इसी जाति में तानसेन का जन्म हुआ था। इस जाति में आज तक गाना सीखने वाले के, तानसेन के नाम का डोरा बांधा जाता है। कहा जाता है कि कव्वालों का आविर्भाव भी कलावंतों से हुआ। अमीर खुसरों स्वयं संगीत के महान् विद्वान थे। उन्होंने सितार जैसा सुन्दर वाद्य यंत्र बनाया। उन्हीं के काल में मजालिसों में, सामूहिक रूप से सूफियों

की कव्वालियां शुरू हुई। कलावंतों के घराने में अधिकतर शास्त्रीय संगीत की परंपरा सुरक्षित रही। ये लोग अमीरों की नौकरी में रहें और ध्रुपद गाने में सिद्ध हस्त हुए। इसी जाति की उपजाति के वंशज-डंगर बंधु आज भी ध्रुपद शैली की गायकी के प्रसिद्ध गायक हैं। मध्यकाल में जहांगीर के दरबार में भी कलावंतों का वही सम्मान होता रहा जैसा अकबर के दरबार में होता था।

### भील

आदिवासी भील न केवल राजस्थान के उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर में वरन् बाड़मेर जिले में भी हैं। महाभारत में भीलों का वर्णन आता है। यह वर्ग धनुष-बाण के लिये जाना जाता है। लेकिन तीरन्दाजी के साथ-साथ इन्हें नृत्य व संगीत में भी महारथ हासिल है। बाड़मेर जिले के भील रावण हत्ये पर पाबूजी की फड तन्मय होकर बजाते व गाते हैं। इनके नृत्य एवं गीतों के प्रमुख विषय वीरता, प्रेम और भक्ति रस से पूर्ण होते हैं।

### जोगी

‘योगी’ शब्द का अपभ्रंश जोगी है। इनके जिजमान हिन्दू होते हैं और ये भगवा वस्त्र धारण करते हैं तथा इनका सम्प्रदाय गोरखनाथ है। इसी वजह से गोपी चंद, भरथरी, शिवजी का ब्यावला, सुल्तान न्याल दे के छन्दों को घर-घर जाकर सुनाते हैं। कई जोगी अधिक सम्पन्न होते हैं। परन्तु अधिकांशतः गर्दिश की जिन्दगी जी रहे हैं। जोधपुर, बाड़मेर, जालौर, बीकानेर क्षेत्र में जोगी अधिकांशतः मिलते हैं। जोधपुर में तो इनके मठ भी हैं।

### भाट

इनका पेशा रावों से मिलजा-जुलता है। किन्तु सामाजिक स्तर की दृष्टि से उनसे बढकर है। यही भाट अपने जिजमानों की हजारों वर्षों की पीढियों को बहियों में सुरक्षित रखते हैं। कहीं-कहीं ये लोग गाने का कार्य भी करते हैं। इनकी रीतियां, ब्राह्मणों से मिलती-जुलती हैं। यह जाति बहुत प्राचीन है। कुछ भाटों की रीतियां राजपूतों से मिलती हैं। विवाह के अवसर पर इन्हें इनाम मिलते हैं और जिजमान इनका बहुत सम्मान भी करते हैं। राणा मंगा भाट केवल रानियों की ही वंशावली रखा करते हैं। भाटों की एक जाति भाट चारण कहलाती है, इनके वैवाहिक सम्बंध न तो भाटों से होते हैं न चारणों से। ये अपनी जाति में ही विवाह करते हैं।

मध्यकाल में शासकों ने अपनी सांगीतिक अभिरूचि को बरकरार रखते हुए अनेक कहावतों को राज्याश्रम प्रदान किया। इनमें बहु-चर्चित अलाबन्दे और जाकिरूद्दीन डंगर के अतिरिक्त ऐसे कई ध्रुपद तथा ख्याल गायक, वीणा-सितार और सुरसिंगारवादक कलावंतों ने राज्याश्रय पाया। इन कलावंतों के अतिरिक्त अनेक अतिथि कलाकार भी

महाराणा से इनाम-इकरार पाते रहें। अनेक गायिकाओं और नर्तकियों ने शताब्दियों तक महाराणाओं के दरबार को और उनके समारोहों को अपने गान-कृत्य से आह्लादित किया। इन कलावन्तों ने दशहरा-दीपावली-होली जैसे राजकीय समारोहों पर आयोजित महफिलों में महाराणा व उनके दरबारियों को वर्षों तक रिझाया है- न केवल रिझाया है- अपनी विद्या का उन्मुक्त दान करते हुए उदयपुर के स्थानीय व्यक्तियों को भी इस कला में प्रशिक्षित कर निपुण बनाया।

महाराणा के देवलोक हो जाने पर राजमहलों में तथा नगर में तो गाने-बजाने का प्रतिषेध किया जाता था, परन्तु कलावंतों और भगतणों को 'महासती' नामक महाराणा श्मशान में जाकर महाराणा की स्वर्गस्थ आत्मा की शान्ति के लिये हाजरियां देनी पड़ी थी। मृत्यु की तिथि से 13 दिन तक यह क्रम जारी रहता था। महाराणा के प्रथम मासिक श्राद्ध में कलावंतों को भी महासती जाना पड़ता था। महाराणा सज्जन सिंह जी के प्रथम मासिक श्राद्ध पर इसी प्रकार कलावंत और कसबी लोग महासती गये थे। इस प्रकार वर्ष भर चलने वाले मासिक श्राद्धों के अवसर पर कलावंत व भगतण भी जाती थी तथा वे अपनी हाजिरी देते थे।

श्रावणी तीज, नवरात्र, दशहरा, दीपावली, चेत्री-नवरात्र, बसंत-पंचमी, होली और अक्षय-तृतीया पर भव्य राज दरबार का आयोजन होता, परगनों की आय महाराजा के सामने रखी जाती, पूजा-आरती, नजर-निछरावल होती, सबके अंत में कलावंतों की महफिल होना जरूरी था। इन सभी अवसरों पर कलावंत इनाम पाते थे। कलावंतों को प्रायः ड्योढ़ी पर गाना पड़ता था। महलों के अन्दर प्रवेश की स्वीकृति विशिष्ट कलावंतों को ही थी।

### मांगणियार

राजस्थान के पारम्परिक पेशेवर गायक वर्गों में राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्र में बसे मांगणियार अपनी विशिष्ट गायकी के लिये महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस वर्ग के लोग पश्चिमी राजस्थान के बाड़मेर, जालौर, जैसलमेर तथा राजस्थान की सीमा से सटे पाकिस्तान में आबाद है। ये भी मुसलमान हैं और ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इसका सम्बंध पहले ढोली जाति से था।

मांगणियार का अर्थ है-मांगने वाला। धीरे-धीरे प्रत्येक घर मांगने जाने से इनका दर्जा और भी नीचा माना जाने लगा। मांगणियार लोग सारंगी, हारमोनियम, ढोलक आदि पर बड़े सुन्दर ढंग से प्राचीन-गीतों को गाते हैं। बीकानेर के मगरा तहसील में इन लोगों के गायन को नाना अवसरों पर सुना जा सकता है। इनकी खांसे मुसलमान ढोलियों की तरह देहड़ा, वेद, बारणी, सोनलिया आदि हैं। इस जाति के लोग प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। इनका काम मांगना ही है। संभवतः मांगने से ही आजिविका चलाने के कारण इन्हें मांगणियार कहा जाता है।

ये खाली समय में मनोरंजन करते, इतिहास की कथायें, वीरता के गीत, श्रृंगार रस की बातें, झोरावे, दूहे, कविता आदि से ये लोगों का ज्ञान-वर्द्धन करते तथा प्रेरणा देते थे। प्रिय को प्रिया से मिलाना, प्रियतमा का सन्देश प्रियतम तक पहुंचाना, दो बिछड़े व रूठे दिलों को मिलाना, एक उदास मन को प्रफुल्लित करना इन मांगणियारों की विशेषता हैं। गायन, वादन एवं कविता पढ़ने में यह प्रवीण होते हैं। इनके कण्ठों में एक प्रकार की मधुरता है। वाणी एवं स्वर में सरसता व कसक है। बजाने गाने का ढंग अलग एवं अनोखा है। राजस्थान में मांड राग विशेष रूप से गाई जाती है। मांड रागों में बने झोरावे बहुत प्रसिद्ध हैं।

### पातर अथवा भगतिनें

समाज में इस प्रकार के वर्ग, जिसने गायन को अपने जीविकोपार्जन का साधन बनाने के साथ-साथ शरीर को भी साधन बनाया, इन्हें पातर, वेश्या आदि नामों से संबोधि त किया गया। इनके भाई जागरी कहलाये। इन्होंने भी सामन्ती युग में राजदरबारों की महफिलों और अपने स्थान पर लोक गीत, विशेष कर विलासिता पूर्ण गीत गाकर समाज को अपनी ओर आकर्षित किया। विवाह-शादी आदि उत्सवों पर 'तबायफ' के रूप में ये पातरियां-सारंगी, तबला, हारमोनियम आदि वाद्य यंत्रों के वादकों के संग आया करती थीं और अपने हावों-भावों और गानों से समाज का मनोरंजन करती थी। समाज का यह वर्ग आज धीरे-धीरे परिवर्तित होकर सभ्य समाज के साथ मिलता जा रहा है। उपासना के आधार पर- श्री हनुमान जी की उपासिकाएं 'भगतिन' नाम से तथा देवी की उपासिकाएं 'पातरुं' कहलाती हैं। इनमें से प्रथम अपना सम्बंध वैरागियों एवं द्वितीय राजपूतों से बताती हैं। मध्यकाल में जनाना ड्योढ़ी के बाहर गाने बजाने के लिए महिला कलाकारों का एक अलग संवर्ग था-भगत पातरुं का।

उत्सवों के अवसर पर आयोजित आम दरबारों में इनके नृत्य गान हुआ करते थे। राजस्थान की प्रायः सभी रियासतों के शासकों ने कलावंतों के साथ-साथ गायन वादन व नृत्य में निपुण महिलाओं को अपनी रियासत के संगीत प्रकाश में नियुक्त करने की परम्परा रखी। उदयपुर के अभिलेखों में इस प्रकार की महिलाओं पर किये गये व्यय को 'कसवी लोगां खाते' उप शीर्षक के अन्तर्गत नियोजित किया तथा इनका उल्लेख करते समय 'भगतण' शब्द का प्रयोग किया। परवर्ती समय में इन्हें 'तबायफ' भी कहा गया है। नवरात्रियों पर होने वाले नृत्य, गणगौर पर किया जाने वाला घूमर नृत्य, छोटी व बड़ी तीज, महाराज, कुमार या राजकुमारी के जन्म पर जनाना ड्योढ़ी में होने वाले समारोह विवाहोत्सव में जनाना-ड्योढ़ी के शिष्टाचारों के पालन में अथवा महाराणा की निकलने वाली प्रत्येक सवारी के साथ लवाजमे में, यहां तक कि मरणोपरांत महाराणा के उत्तराधिकारी के द्वारा किये जाने वाले श्राद्धादि के समय भी भगतणों की उपस्थिति को आवश्यक समझा जाता था- 'नगरा-निशान' की तरह वे भी राजकीय चिन्हों में समाहित कर ली गयी थीं।



## भांड

भांडों ने अपनी स्वांग कला से राजस्थान की विभिन्न प्राचीन रियासतों में आश्चर्यजनक कार्यों से अपने आश्रयदाताओं से इनाम-इकरार के साथ जमीन-जायदाद भी प्राप्त की है। 'बहरूपिया' कोई भी हो सकता है परन्तु 'भांड' सिर्फ भांड ही होता है जबकि बहरूपिया एक पेशेवर ही बना रहा। मूलरूप में भांडों का कार्य स्वांग लाने का था। स्वांग के अनुसार ही भाषा तथा अभिनय का पूरा ख्याल रखा जाता था। जोधपुर के महाराजा भीम सिंह ने रामा के पुत्र धनरूप को 'भांड' का खिताब दिया था। वर्तमान में 'भांड' शब्द का अर्थ बहुत ही निम्न तथा हेय बन गया है। धनरूप को जोधपुर के शासक द्वारा बाली में 'सोखर' नाम का गांव पुरस्कार में दिया गया था। इसी वंश के लोग जयपुर, किशनगढ़ तथा उदयपुर राज्यों में मिलते हैं। मध्यकाल में नगरचियों एवं ढोलियों की तरह भांडों की नियुक्ति भी संगीत प्रकाश में होती थी। वि. 1901 से वि. 1918 तक पीरो नामक एक भांड रियासत में नियुक्त था। पीरों को प्रतिमाह वेतन दिया जाता था जो कि एक कलाकार के समक्ष था। विवाह एवं अन्य हंसी के अवसरों पर भांड जाति के लोगों द्वारा भांडाई करके नेग के रूप में अपना नेगाचार लेने का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग स्वांग से ही अपनी आजीविकोपार्जन करते थे। ऐसे भांडों को यहां 'बहरूपियों' के नाम से जाना जाता था। जोधपुर के भांड सिर्फ नकल ही उतारा करते थे। जोधपुर का रामाभांड इसमें सिद्धहस्त था। उसके पुत्र धनरूप को महाराजा भीमसिंह ने 'भांड' का खिताब दिया था।

## राणा

मध्यकाल में रण में नगाड़ा बजाने वाले की कालांतर में 'राणा' कहलाने लगे। ये कलाकार नगाड़ा बजाने में सिद्धहस्त है और गायन के क्षेत्र में भी इन्होंने अपना सिक्का जमाया है। 'राणा' भी राजपूतों की तरह ही रीति-रिवाज अपनाते हैं। राणा जाति के कलाकार शहनाई भी बजाते हैं।

## भोपा

राजस्थान में भोपों की कई श्रेणियां हैं। भोपे देवी-देवताओं की स्तुति गा-बजाकर ही करते हैं। माता जी, भैरूजी, गोगाजी, पाबूजी, हडबूजी आदि के भोपे फड गायन ही करते हैं। भोपा-ये पेशेवर पुजारी होते हैं। इनका पेशा किसी भी मन्दिर में देवता के आगे नाचना होता है। ये अपने संरक्षकों के दरवाजे पर जाकर भी अपना पेशेवर गाना व नृत्य दिखाते हैं। नटबाजी का अतिरिक्त कार्य उन्हें अपनी रोजी रोटी को कायम रखने के लिये करना पड़ता है। ये अपनी कला में माहिर होते हैं। अपने देवता के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा होती है तथा वे अपने देवी-देवता की दैविक व चमत्कारी शक्ति में ही विश्वास करते हैं।

## माताजी का भोपा

ये भोपे करणीमाता तथा सीकर की जीणमाता की चमत्कारपूर्ण दैविक शक्ति में

आस्था रखते हैं। इन भोपों की विशेषता यह है कि दूल्हे की वेशभूषा पहनते हैं। अपने नट-करतबों को करते हुए अपनी जीभ में सुई तक घुसा लेते हैं। ये जीण माता एवं करणीमाता के मेलों के अवसर पर सामूहिक रूप से एकत्र होते हैं।

## भैरूजी का भोपा

ये भैरूजी के पुजारी होते हैं। इनकी वेशभूषा साधारण होती है। ये अपनी वेशभूषा पर बहुत-सारा तेल उड़ोले रहते हैं ताकि वे चिकने दिख सकें। ये अपना चेहरा राख से पोत लेते हैं। अपने सिर व चेहरे पर बहुत-सारा सिन्दूर लगाये रखते हैं। ये अपने हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं और 'मशक' नामक वाद्य मुंह से बजाते हैं। रावण हत्था इनका प्रमुख लोक वाद्य है। भोपी का सधा हुआ ऊंचा स्वर भोपे की शान है। रामदेवजी के भोपे तंदूर बजाते हैं। भैरूजी के भोपे कमर में घुंघरू बांधकर तथा हंटर से अपने ऊपर वार करते हैं।

## रावल

दीर्घ-काय गीत, बिड़द एवं परम्परानुगत ऐतिहासिक-प्रवादों को गाने वाले रावल, गायक-जातीयों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये लोग बड़े स्वाभिमान के साथ रहते हैं। रावल अलग-अलग जातियों से सम्बंधित होते हैं, जैसे राजपूतों के रावल, चारणों के रावल, भाटों के रावल। ये लोग गाने के कार्य के साथ-साथ रम्मत, ख्याल आदि खेलने का काम भी करते हैं। ये लोग हिन्दू होते हैं। इनकी रम्मतों में स्त्री का स्वांग भी पुरूष ही करते हैं। ये देवी के उपासक होते हैं।

## भवाई

यह एक नाचने वाली कौम है जो मेवाड में मिलती है। यह कौम भी रावलों की तरह है। राजपूत व जाटों से अलग भवाई होते हैं। इनके संबंध में यह कहा जाता है कि भाव करे सो भवाई। भवाई जाति के कलाकार घूम-घूम कर अपने जजमानों का मनोरंजन करते हैं। भवाई स्वांग भी करते हैं। भवाई कलाकार अनेक करतब करके दर्शकों का मन-मोह लेते हैं। आज हम जो भवाई नृत्य देखते हैं वह इस कला का अंश भर है। भवाई कलाकार अनेक करतब दिखाने में सक्षम होते हैं वे बाद्याजी और बीकाजी की नाटिकायें भी करते हैं।

## लंगा

लंगा जाति के लोग जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, जोधपुर तथा पाकिस्तान में रहते हैं। इनका जन्म स्थान मुलतान दूपाकिस्तान का लोकत नामक स्थान था। ये जैसलमेर के भाटी शासकों के साथ जैसलमेर में आये थे। ये युद्ध भूमि में वीरों को जोश दिलाने हेतु शहनाई बजाया करते थे। जैसलमेर में साके के समय भीम नामक लंगे ने शहनाई बजाकर दुश्मनों को भेद दिया था। तब से लंगे विश्वासी नहीं रहे थे। ये सब हिन्दू क्षत्रिय दराराजपूत थे। इनमें सोलंकी, भाटी, पंवार सभी खांपे हैं। संभवतः मातृ सत्ता परिवार

प्रणाली के समय यह जाति समूह बना हो। मध्ययुग में माता अलग वर्ण की और पिता अलग वर्ण का होता था। उस समय माता के वर्ण से कई नवीन जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग जैसलमेर के सीमावर्ती क्षेत्रों में रहते थे। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक इनके स्वतंत्र छोटे राज्य थे। इन्होंने अपने पूर्वज देवीदास के समय से गायन वादन सीखा था। ये मुगल बादशाह औरंगजेब के समय मुसलमान बने थे। आज भी ये लोग मुसलमान हैं मगर इनके रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान तथा वैवाहिक रीति-रिवाज हिन्दुओं जैसे हैं।

राजस्थान के मरूस्थलीय इलाकों में मुख्य रूप से रहने वाले लंगा कलाकार आज विश्वभर में अपनी गायकी की छाप छोड़ चुके हैं। चौहान राजपूत वाचक कलाकारों को संगीत विरासत में मिला है। इनकी गायकी में शास्त्रीय संगीत का ताना-बाना है। यही कारण है कि लंगों की गायकी देश विदेश में पंसद की जाती है। इनके पूर्वज देवीदास जी सुरणाई या शहनाई बजाया करते थे। बाद में इनके वंशजों ने सारंगी बजाना प्रारम्भ कर दिया। सारंगी लोकवाद्य बजाने वाले सारंगिया तथा सुरणाई/शहनाई बजाने वाले सुरणाई/ शहनाइया लंगा कहलाने लगे। ये दो भागों में विभाजित हैं।

**सुरणाइया लंगा**— इस खांप के लोग मोहनगढ, घाखी, बम्बारा आदि जैसलमेर के गावों में निवास करते हैं। ये लोग सुरणाई के अलावा मुरला द्धपूंगी जैसात्र सुषिर वाद्य तथा मोरचंग बजाते हैं। आजकल ये अलगोजा भी बजाने लगे हैं। ये केवल वादन का कार्य करते हैं, गाते नहीं हैं इन दोनों खांपों में परस्पर खान-पान का सम्बंध है मगर वैवाहिक सम्बंध नहीं है इनके रीति-रिवाज भी मुसलमानों जैसे ही हैं। इनकी वेश-भूषा सिन्धी मुसलमानों की तरह हैं। ये सफेद साफा व अजरख पहनते हैं।

**सारंगिया लंगा**— ये सारंगी वाद्य बजाने के कारण सारंगिया लंगा कहलाते हैं। ये अलगोजा, मोरचंग आदि बजाते हैं। इनकी वेश-भूषा हिन्दुओं के समान हैं। इनकी सध्वा स्त्रियां चूड़ा पहनती हैं। ये हिन्दू त्यौहार मनाते हैं। जोगमाया को मनाते हैं। ये अपने जजमानों तुंवर लंगा, तुंवर राजपूत व सिंधी परिवारों में ही मांगने जाते हैं। ये इनके विवाह, जन्म, मृत्यु भोज तथा सगाई रस्म आदि के अवसरों पर जाते हैं तथा गाते बजाते हैं। इन अवसरों पर अपने जजमानों से ऊंट, घोड़ा, रूपया, सोना-चांदी आदि इनाम पाते हैं। लंगे लोग गुरु शिष्य परम्परा के रूप में संगीत सिखने की परम्परा को अपनाते हैं। पिता के अच्छे गायक होने पर पुत्र पिता को ही अपना संगीत गुरु बनाता है। शिष्य बनाने के लिए एक समारोह आयोजित किया जाता है। जिसमें मित्र, रिश्तेदार सभी इक्के होते हैं। शिष्य के परिवार वाले दावत देते हैं। गुरु को ऊनी शाल भेंट दिया जाता है। इस प्रकार संगीत साधना करके अपने गुरु से शिष्य ज्ञान प्राप्त करता है यह ज्ञान कठिन प्रयास से प्राप्त होता है।

लंगा लोक कलाकार सारंगी व कमायचा के अलावा उस क्षेत्र के तकरीबन सभी लोक वाद्य यंत्र बजाना जानते हैं। इनकी भाषा सिंधी, उर्दू, राजस्थानी मिश्रित है तथा

इनके लोक गीत भी राजस्थानी भाषा के अलावा सिंधी में भी होते हैं। जिनको वे हृदयस्पर्शी संगीत से बांध देते हैं। इनके जिजमान केवल मुसलमान होते हैं। लंगा लोक कलाकार प्रातः काल में तरवा, लारवा, फुलाणी, कामां, दोपहर में सारंग, श्याम को श्याम कल्याण रागों को बड़ी कुशलतापूर्वक गीतों के साथ गाते हैं।

### सांसी-कंजर

यह जाति राजस्थान के कई भागों में पाई जाती है। इन जातियों का व्यवस्थित जीवन नहीं होता किन्तु गाना-बजाना इनके दैनिक जीवन का अंग है। इनकी स्त्रियां नाचती हैं। ये मुसलमान वेश्या होती हैं। इनका नाम कंजरी है। इस जाति के कलाकार अजमेर जिले में अधिक हैं। हाड़ौती क्षेत्र की कंजर बालायें चकरी नृत्य करती हैं। जो आज एक लोकप्रिय नृत्य बन गया है।

### कालबेलिया

कालबेलिया जाति भी पेशेवर लोक कलाकारों की श्रेणी में आती है। इस जाति के पुरुष पुंगी बजाकर सर्पों को पकड़ने का तथा नचाने का काम करते हैं, स्त्रियां नृत्य करती हैं। और गीत गाती हैं। इनके साथ में निपुणता से पुंगी, खंजरी, हारमोनियम व ढोलक बजाती है कालबेलिया जाति की ख्याति प्राप्त नृत्यांगना गुलाबो ने रूस में आयोजित भारत महोत्सव में नृत्य प्रदर्शन कर दूँढाड का गौरव बढ़ाया है। इसी जाति की सोबती और कमली भी अच्छी नृत्यांगनाएं हैं, उनके साथ गाने वाले गायक बड़े सुरीले होते हैं। मंच पर अग्नि प्रज्ज्वलित करना, सिर पर सात मटके रखकर थाली पर नृत्य करना, झुककर मुंह से रूमाल उठाना तथा नृत्य करते-करते बदन को एकदम दोहरा कर देना आदि रोमांचकारी कारनामे जब सुरीली आवाज में वाद्यों के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं तो दर्शन मंडली सम्मोहित हो जाती है इन पेशेवर कलाकारों के गीतों में राग और ताल के उन्नत प्रयोग मिलते हैं।<sup>19-28</sup>

### नट

प्राचीन भारत में नट विद्या का उल्लेख मिलता है। इसमें बुद्धि व कला का सामन्जस्य स्थापित कर व्यक्ति शारीरिक कौशल और कला का प्रदर्शन करता है वर्तमान समय में नट वर्ग में कई वर्ग पाये जाते हैं। एक वे जो रस्सी पर चलते हैं और दर्शकों को अंगुली मुंह में डालने के लिए मजबूर कर देते हैं। दूसरे वे जो कठपुतलियों का नाच कराकर जनता का न केवल मनोरंजन करते हैं वरन् नीति और ज्ञान की बातों का प्रसार भी करते हैं। तीसरे वे जो बहुरूपिये का रूप धारण कर अभिनय करते हैं। जोधपुर, बाड़मेर व जालौर में नटों की कुछ बस्तियां भी हैं वैसे अधिकांश नट मध्य भारत में हैं। पश्चिमी राजस्थान में लोक-कलाकारों के वर्ग बहुतायत से फैले हुए हैं। पारिवारिक उत्सवों में गाये जाने वाले लोकगीत एवं नृत्यों में भी इन लोक कलाकारों ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई हुई है। नट गीतों को भी सुन्दरता से गाते हैं। एक गायक

कलाकार के गुण इनमें विद्यमान है। गीतों का एक नमूना द्रष्टव्य है—

*मरूधरा देश में, निपजे तीन रत्न।*

*एक ढोला, दूजी मरवण, जीतो कसूमल रंग।।*

राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले के निम्बाहेड़ा के पास सज्जन खान का डेरा नटों की सबसे बड़ी बस्ती है। इसकी स्थापना सज्जन खान ने की थी। वे आज से चार सौ साल पहले पैदा हुए थे और अपने समय के विख्यात नट थे। नटों के अन्य गांव राजस्थान और मध्य प्रदेश की सीमा पर स्थित हैं। दखिनी नट बस नाम के ही नट हैं। इनके पास राजनटों वाली कला नहीं है वे भीख मांगने के लिए अश्लील नृत्य किया करते हैं। उनकी पत्नियां जीविका के लिए वेश्यावृत्ति भी करती हैं। अतः राजस्थान में इन गाने बजाने वाली जातियों को देखने से पता चलता है कि राजस्थान में अधिकतर जातियां क्षत्रिय वंश की हैं वेश्यों तथा ब्राह्मणों के वंश कम हैं। सामान्यतया सभी सम्बंधित भिन्न गाने वानी जातियों के भी भेद हैं। इसी तरह मुगल युग से आज तक की परिस्थिति से स्पष्ट है कि मुसलमान गायकों की जातियां भी मुख्य धर्म की विभिन्न धाराओं में बंटी हुई हैं। विशेष रूप में राजस्थान में ये जातियां अनेक भागों में विभक्त हैं।<sup>29-32</sup>

इसी प्रकार राजस्थान में अनेक गायक जातियां हैं, जिनका प्रमुख पेशा अथवा जीवन की कमाई गाना बजाना व लोगों का मनोरंजन करना है। पिछले दिनों की आर्थिक-प्रगति, औद्योगिक विकास और जनवाद की स्थापना के कारण ये गायक जातियां, अपने सच्चे स्वरूप को खोती जा रही हैं लेकिन गांवों में उनका आज भी मुख्य स्थान है क्योंकि वहां सामन्ती संस्कारों को अभी पूरी पराजय नहीं मिली है।

अतः राजस्थान में आज भी पेशवर गायकों की संख्या पचास हजार से अधिक है। राणा, दमामी, लंगा, मांगणियार, ढाढी, मिरासी, नागरची आदि कई जातियां हैं। जो गांवों में बिखरी पड़ी है। इन गायकों द्वारा अनेकानेक गीत राजस्थान के इस कोने से उस कोने तक गाये जाते हैं तथा ये गीत एक से एक लोकप्रिय हैं।

### संदर्भ ग्रंथ

1. प्रताप सिंह चौधरी, राजस्थान संगीत और संगीतकार, पृ. 12
2. मनोहर प्रभाकर, राजस्थानी साहित्य और संस्कृति, पृ. 106
3. डी.आर.आहूजा, राजस्थान लोक संस्कृति और साहित्य, पृ. 109
4. मनोहर प्रभाकर, राजस्थानी साहित्य और संस्कृति, पृ. 107
5. डॉ. श्रीलाल मोहता, मरू संस्कृति कोश, पृ. 100-101
6. डॉ. श्रीलाल मोहता, मरू संस्कृति कोश, पृ. 100
7. मोहनलाल गुप्ता, राजस्थान ज्ञान-कोश, पृ. 365
8. सुनीता श्रीमाली, राजस्थान में बाड़मेर जिले की लोक संगीत परम्परा (शोध प्रबन्ध), पृ. 46
9. 'वैचारिकी' जनवरी 1972, पृ. 109

10. डॉ. व्यास, गहलोट : राजस्थान की जातियों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पृ. 62
11. मनोहर प्रभाकर, राजस्थानी साहित्य और संस्कृति, पृ. 108-109
12. डॉ. रामनाथ, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, पृ. 28
13. सुनीता श्रीमाली, राजस्थान में बाड़मेर जिले की लोक संगीत परम्परा (शोध प्रबन्ध), पृ. 43
14. सुनीता श्रीमाली, राजस्थान में बाड़मेर जिले की लोक संगीत परम्परा (शोध प्रबन्ध), पृष्ठ संख्या 53
15. डॉ. महेन्द्र भानावत, लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियां, पृ. 106
16. डॉ. कौमुदी बर्दे, राजस्थान के दरबारी संगीतज्ञ, पृ. 6
17. हकीकत बहीड़ा भाग प्रथम, पृ. 32
18. हकीकत बहीड़ा भाग प्रथम, पृ. 59
19. डॉ. दत्ता क्षीरसागर, राजस्थान के संगीतज्ञ एवं उनकी साधना, पृ. 68-69
20. प्रताप सिंह चौधरी, राजस्थान संगीत और संगीतकार, पृ. 142
21. 'वैचारिकी' जनवरी 1972, पृ. 108
22. नन्दकिशोर शर्मा, जैसलमेर का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 202
23. 'वैचारिकी' जनवरी 1972, पृ. 109
24. डॉ. दत्ता क्षीरसागर, राजस्थान के संगीतज्ञ एवं उनकी साधना, पृ. 18
25. डॉ. कौमुदी बर्दे, राजस्थान के दरबारी संगीतज्ञ, पृ. 102,
26. प्रताप सिंह चौधरी, राजस्थान संगीत और संगीतकार, पृ. 143
27. डॉ. कौमुदी बर्दे, राजस्थान के दरबारी संगीतज्ञ, पृ. 49
28. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड, तीसरा हिस्सा, 395
29. मोहनलाल गुप्ता, राजस्थान ज्ञान कोश, पृ.
30. 'वैचारिकी' जनवरी 1972, पृ. 109
31. नन्दकिशोर शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 193-194
32. वही

## मेवाड़ के लोक कलाओं में बदलते सामाजिक मूल्य

डॉ. मीनाक्षी बोहरा (शर्मा)

‘लोक की कला’ या लोक में प्रचलित कला अथवा लोकमानस की कलात्मक अभिव्यक्ति आदि लोक कला के विभिन्न पक्ष हो सकते हैं।<sup>1</sup> लोक कलाएं लोकजीवन की आस्थावान संस्कृतिपरक सुभाषिनियाँ हैं। ये पीढ़ी दर पीढ़ी जीवानान्तरित होती हुई निरन्त चेतनोन्मुखी बनी रहती हैं। इसलिए इनमें सदाबहार सादगी और उत्कृलता बनी रहती हैं। जनजीवन से परे कोई कला नहीं होती। लोक कला किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं होकर समूह की थाती है। इनके साथ मानव जीवन के राग-रंग, त्यौहार-उत्सव, संस्कृति सरोकार, आस्था-अनुष्ठान, रंजन-अनुरंजन के अनेकानेक पक्ष उदघाटित हुए मिलते हैं, जिनके रहते मनुष्य अपने अभावों कष्टों कठिनाइयों, नाउम्मीदों व विसंगतियों में भी आशा और उम्मीदों की जीवनेच्छाओं को सरस किये रहता है।

लोक संस्कृति के रूप न केवल अपने भीतर विकास की मौक्तिक व स्वायत्त अवधारणा वहन करते हैं, बल्कि उनकी इन लोक अवधारणाओं पर बाह्य सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा जब भी कोई प्रहार होता है, तो उसका चिन्ह उसके लिए प्रतिक्रिया भी लोक संस्कृति में दिखलाई पड़ती है।<sup>2</sup> भारत जैसे देश में लोक संस्कृति अभी भी जीवंत है। लोक परम्परा अपनी लोच बनाये रखती है व साथ-साथ नये तत्वों को भी आत्मसात करती है। लोक परम्पराओं में समकालीन वस्तुओं के नये प्रतीक भी लिये जा रहे हैं<sup>3</sup> उदाहरण दूरबीन, रेल आदि एक अवधी लोकगीत में महिला रेलगाड़ी को सौतन बताती है, क्योंकि वह उसके पति को दूर ले जाती है।

20 वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में विकासशील देशों में जीवन्त लोक संस्कृति की धाराएँ आधुनिक शक्तियों से अंतर्क्रिया कर रही हैं। वैज्ञानिक प्रगति, द्रुतगामी तकनीकी विकास, यंत्रवाद, बौद्धिकता और व्यक्तिवाद के प्रसार तथा महानगरीय सभ्यता के बढ़ते प्रभावों के कारण जो सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसने हमारे मानवीय संबंधों, पारिवारिक रिश्तों, धार्मिक अनुष्ठानों जीविकोपार्जन के साधनों और रहन सहन के तौर तरीकों में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर दिया। जिससे पारम्परिक मूल्य लुप्त होने लगे और नये मूल्य आकार ग्रहण करने लगे।

आधुनिकीकरण के प्रारम्भिक युग में जिस प्रकार का विरोध लोक जीवन शैली का था, वैसा वातावरण अब नहीं है। बदली भौतिक विचारात्मक स्थितियों में यह संभव है कि लोक संस्कृति को विकास हेतु नये मार्ग मिल सके।<sup>4</sup> सब कलाओं में लोक

कलाएँ आजकल बड़ी चर्चा का विषय बनी हुई हैं। कोई भी सभा, समारोह, उत्सव हो, उसका लोक कलात्मक रूप रंग आवश्यक हो जाता है।<sup>5</sup> लोक कला का क्षेत्र मंदिर, घर का आंगन या रंगमंच ही नहीं रहा। वह उद्योग और व्यवसाय में भी प्रवेश कर गई है। अब धार्मिक विश्वासों व प्रतीकों का स्थान वैज्ञानिक दृष्टिकोण व उसके सम्बद्ध प्रतीक होने लगे हैं।<sup>6</sup>

आज नृत्य, गान, नाट्य जैसी लोककलाएँ अपने-अपने छोटे-मोटे क्षेत्र से बाहर आकर विशेष सम्मान भाजन बन रही हैं। आज उनका विस्तार हुआ है। वे अपनी देहरी से देश-देशान्तर में छलांगी हैं। लोक कलाकारों की आज प्रतिष्ठा बढ़ रही है। वस्तुतः यह युग ही लोक-कलाओं के प्रति आकर्षण का है। अब अमेरिकी इण्डियनों की कला का भद्दी और आदिम मानकर उपेक्षित नहीं किया जाता, आज यह कला संयुक्त राजय में लोकप्रियता के नये शिखर पर आरूढ़ होती जा रही है। लोक कलाओं के प्रति विश्व में ही एक नई अभिरूचि आधुनिक काल में जागृत हुई है। उसे आज उभार कर ऊपर लाया जा रहा है। लोक-कलाओं में पुर्नजागरण हो रहा है। लोक-कलाओं के प्रति आकर्षण में उनका आर्थिक मूल्य बढ़ा दिया है और उनका व्यवसाय भी चल पड़ा है। किंतु इससे लोक कला की आत्मा का ह्यास भी हुआ है, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं।<sup>7</sup>

लोक कलाओं का स्वरूप बदलता जा रहा है। ये अपनी वास्तविकता से दूर जाती हुई प्रतीत होती हैं। लोक कलाओं का दायरा बढ़ने से सांस्कृतिक मेलजोल के सरोकार बढ़े। लोककलाओं को क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होने लगा। विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों व परम्पराओं के प्रभाव ने इन लोककलाओं की स्वतंत्र अपनी व्यैक्तिक पहचान के आधारों को झाकझोरा।<sup>8</sup> जो जमीन इनको जकड़ी हुई थी।

उसकी जड़े जब जर्जरायमान हुई जा रही हैं। एक ठहराव, अलगाव और टूटन की अजीब स्थिति ने ऐसे संक्रमण को जन्म दे दिया है। जिससे लोककलाओं के साथ जो अनुष्ठान, आस्थाएँ, उत्सव और यजमान आजीविका से जुड़े हुए थे, झकझोर दिये गये हैं। संक्रमण की यह स्थिति कहीं-कहीं अतिक्रमण तक पहुंच गई है। कई कला विधाएँ इतनी बदल गई हैं कि वे पहचानी ही नहीं जा रही हैं। कई नकलची असलची बन बैठी और जो असी है उनकी स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण हो चुकी है। आज वे यह कहते हुए सुनाई देते हैं कि आज असली कला जो समझने वाला कोई नहीं रहा है।<sup>9</sup>

सही-गलत का अहसास किसी को नहीं रह गया है। फिर भी ये विधाएँ गतिमान हैं।

### भवाई कला

भवाई नाम से उस नृत्य की पहचान दी जाती है, जिसमें सिर पर एक के ऊपर एक दस-बारह मटके रखकर नाचा जाता है। मूलतः भवाई एक जाति है जो अपनी कठिन क्रियाओं द्वारा बड़े रोचक संवादों में बड़ा सशक्त अनुरंजन देती है।<sup>10</sup> इस जाति के

कलाकार अपने-अपने यजमानों के लिए प्रदर्शन करते हैं। हालांकि इसे सभी वर्ग देखते हैं। भवाई वर्ग के यजमान रावला राजपूत, मेघवाल, सालवी, रावत, जाट, कीर, तेली और भील समाज के लोग होते हैं। भवाई जाति के लोगों की सर्वाधिक संख्या मेवाड़ में चित्तौड़गढ़ जिले में बताई जाती है।

इस जाति के लोग अपने यजमानों से जुड़े होते हैं और अपने यजमानों को मनोरंजन करना ही इनका प्रमुख व्यवसाय रहा है। हालांकि अब वे यजमानों के अलावा देवस्थानों रूप से ही अपनी प्रस्तुति देने लगे हैं। ये कलाकार बड़े विनोदी, वाचाल और व्यंग्यक होते हैं। अपने नाट्यभिनय में यह अच्छे-अच्छे को हास्य का पात्र बना देते हैं। यजमानी में चूक होने पर किसी न किसी माध्यम से अपने रंग प्रदर्शन द्वारा बदला लेने में यह माहिर होते हैं। यहीं कारण है कि लोग भवाई को अपने गांव में आया देखकर उसकी अच्छी खातिरदारी करते हैं और नेग चार देकर बिना प्रदर्शन ही विदा कर देते हैं क्योंकि उन्हें प्रदर्शन द्वारा हास्य का पात्र बनाये जाने का डर रहता है।<sup>11</sup>

भवाई कलाकार बिना रिटेक व रिर्सल के उपरान्त भी सैकड़ों दर्शकों के सामने वाक पट्टा व हाजिर जवाबी के द्वारा जीवन्त अभिनय करते हैं। भवाई कला में राजा हरिश्चन्द्र, अमरसिंह राठौड़, तेजाजी महाराज, राजा भर्तृहरि, रानी पिंगला आदि अनेक धार्मिक और ऐतिहासिक प्रसंगों का मंचन किया जाता है। जो मनोरंजन तो है ही, साथ ही भारतीय इतिहास की धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक झलक भी हैं भवाई में नारी पात्र का मंचन आज भी पुरुष पात्र द्वारा ही किया जाता है। इस मंचन में नगाड़े, हारमोनियम, मंजीरा एवं तबला प्रमुख वाद्य यंत्र होते हैं। ये स्वांग आज भी ग्रामीणों में खासे लोकप्रिय हैं यद्यपि वर्तमान परिदृश्य में भवाई कला में प्रस्तुतिकरण का तरीका भी बदला है। मनोरंजन के लिहाज से पहले धार्मिक भक्ति एवं विरह गीतों पर नृत्य किया जाता था किंतु अब लोगों की फरमाइश पर फिल्मों के लेटेस्ट फास्ट एवं फूहड़ गानों से भी परहेज नहीं किया जाता है और तो और फरमाइश का दर्शकों का तरीका भी काफी रोमांचकारी एवं प्रतिस्पर्द्धा होता है। इस कारण आजकल के अभिनय गहराई नहीं है। जो पहले हुआ करती थी।<sup>12</sup>

भवाई नृत्य, भवाई लोगों का एक नृत्य है, जिसमें सिर पर मटके रखकर नाचने के साथ-साथ कई कठिन क्रियाओं का प्रदर्शन होता है। जब दयाराम ने कला मण्डल में पहली बार अपने सिर पर मटके रखकर नाच दिखाया तो कला मण्डल के संस्थापक देवीलाल सामर ने उसका नाम भवाई दे दिया और दयाराम को जो जाति से भील था, भवाई कलाकार के रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। भवाई के रूप में कला मण्डल के मंच से दयाराम ऐसा चल निकला कि न केवल अपने देश में अपितु विदेशों में तो उसे और भी जादुई कलाकार के रूप में आश्चर्यजनित दृष्टि से देखा गया। खूब-खूब सहारा गया। इसका आलम यह रहा कि आज भवाई कलाकारों की बहार हर कहीं देखने को मिल रही हैं। इस भवाई में महिलाएँ भी उतर आई हैं। स्कूलों में भी लड़के-लड़कियों

की भवाई प्रस्तुतियाँ विशेष उत्सव समारोहों पर देखने को मिल जाती हैं। भवाई नाच को लेकर कई मण्डलियाँ ही खुल पड़ी हैं जो यंत्र तंत्र, मेलों तथा अन्य समारोहों में अपना कमाल दिखाती हैं।<sup>13</sup>

### घूमर

पारम्परिक तौर पर गणगौर पर किये जाने वाले घूमर नृत्य में मुख्यतः एक सौ साठ कलियों तक का घेर घूमेरदार घाघरा पहना जाता है और गज-गज भर तक का घुघट रहता था। परंतु आधुनिकता की होड़ में घुघट हटा लिया जाता है व यहाँ परिधानों का फैशन चल पड़ा है तथा नर्तकियाँ बिना घुघट के नृत्य करती हैं व चेहरे पर मेकअप किया जाने लगा है।<sup>14</sup>

### गवरी

भीलों में प्रचलित गवरी नृत्यानुष्ठान उदयपुर खण्ड के झीलों का मेरू-नाट्य है। इसका कथानक शिव को केन्द्र बनाकर संगठित किया है। शिव तथा भस्मासुर का प्रतीक राईबूड़िया, मोहिनी तथा पार्वती की प्रतिमूर्ति दोनों राईया कुटकड़िया तथा पाटभोना में पांच गंवरी के प्रमुख नायक होते हैं जो मांची कहलाते हैं। गवरी में जो दृश्य अभिनीत किये जाते हैं वे खेल, भाव अथवा सांग के नाम से पुकारे जाते हैं। कुड़कड़िया इस नाट्य का सूत्रधार होता है जो प्रत्येक खेल में पूर्व उसकी संक्षिप्त कथा सुनाता है। इसे इस खेल का झामटड़ा सुनाना कहते हैं। इससे आने वाले खेल तथा उसकी कथा की जानकारी दर्शकों को पहले से ही हो जाती है। गवरी के मूल में नृत्य को प्रधानता रही है। इस कारण इसे 'गवरी का नाच' भी कहते हैं। जब यह नृत्य अपने विकास की मंजिल को पहुंच गया, तब इसमें नाना स्वांग स्वरूपों की रचना आरम्भ हुई। इसके आधार पर कथा तत्व का गठन हुआ और गीति तत्व ने जोर पकड़ा। गांव का चौराहा अथवा खुला आंगन की गंवरी का रंगमंच होता है। भाद्र महीने से प्रारम्भ होकर पूरे सवा महीने तक प्रतिदिन प्रातः 5.00 से 6.00 बजे तक, जहाँ-जहाँ गवरी वाले गांव की बहन बेटिया ब्याही हुई होती हैं। इसके प्रदर्शन आयोजित किये जाते हैं।<sup>16</sup> गवरी में अभिनेताओं की संख्या 40-50 से लगाकर 90-100 तक देखने को मिलती है। भारतवर्ष में कहीं ऐसा नाट्य देखने को नहीं मिलेगा, जो इतनी लम्बी अवधि तक इतने बड़े समूह के साथ विविध गाँवों में इतने सुव्यवस्थित ढंग से दिन भर प्रदर्शित होता होता हो। युग-बोध के बदलते हुए परिवेश के साथ-साथ इनमें अनेक उतार-चढ़ाव तथा आवर्तन परिवर्तन हुए। गवरी में गीत-तत्वों का समावेश ओर विकास भी इसी क्रम में हुआ। समय के साथ-साथ गवरी का स्वरूप भी प्रभावित होता गया। यह पारम्परिक-धार्मिक अनुष्ठान अपने-अपने आंचलिक परिवेश से बाहर भी सांस्कृतिक मंचों पर प्रस्तुत होने लगा है। इससे उसके सांस्कृतिक सरोकार प्रभावित होने लगे। गवरी के नाम पर गैर भीलों की प्रस्तुति गवरी ही अधिक लगती है। भीली सांस्कृतिक का यह रास अपने स्वरूप में

हास-विलास ही अधिक हो गया है। पहले मेवाड़-वागड़ के पूरे इलाके में गवरी होती थी अब उससे बागड़ छूटता जा रहा है। वहाँ भीली संस्कृति का यह सर्वांग सुन्दर स्वरूप अपने प्रतीक रूप में रहकर स्वागोत्सव ही जैसे रह गया है। अब वहाँ न पूरी गवरी परिलक्षित होती है और न वैसा धार्मिक आचरण ही देखने को मिलता है। कहीं-कहीं गवरी का जुड़ाव गैर के साथ व गवरी का पात्र बूड़िया हेत व पतलूनधारी अंग्रेज के रूप में दिखलाई पड़ता है। कहीं जगह गवरी के पात्र बुड़िया व राई स्वांग ही बचे हैं जो दीवाली के दूसरे दिन नाचते ठुमकते घर-घर रामाश्यामा करते चलते हैं। अब गवरी के खेल्ये नौकरी करने लगे हैं व कई राजनीति में आने लगे हैं। समाज सुधार और शिक्षित सभ्य कहलाने के नाम पर भी कई जगह गवरी का प्रदर्शन बंद होता देखा गया जो अब पिछड़ेपन में गिना जाने लगा है।<sup>17</sup>

### मांडण

मांगलिक पर्वों पर, धार्मिक-गतिविधियों में पूजा स्थलों की शुद्धि के लिए मांडे जाने वाले मांडणों के समय के साथ परिवर्तन होता गया, इसका विकास होता गया। भौतिक बदलावों के कारण लुप्त हो रहे मांडणों को नया आयाम दिया जाने लगा। मांडणों को अब कैनवास पर भी मांडा जाने लगा तथा इसके लिए पारम्परिक मांडणों में उपयोग लिये जाने वाले लाल गेरू गौबर-मिट्टी, पीली मिट्टी घोल से केनवास को पोलकर उस पर उजाले सफेद रंग से मांडणों को मांडा जाता है। इन मांडणों की विशेषता यह कि श्री गणेश जी के माथे का तिलक, मुकुट उस पर लगा हुआ मयूर पंख सूपड़े जैसे कान, गले के आभूषण, दंत-सूंड और बहु-भुजाओं में लिए अस्त्र-शस्त्र आदि मांडणों के ढंग में ही है। कई मांडणों में ऑयल, एक्रेलिक जैसे मिक्स मिडियम रंगों का प्रयोग भी किया जाता है। यद्यपि आजकल मांडणों में कलात्मक स्वरूप की अधिकता है। परंतु अभी भी लक्ष्मी को घर आमंत्रित करने की मूल भावना स्त्रियों के मन में विद्यमान है और वे पारम्परिक मांडणों से अपने घर-आँगन को सजाती हैं।<sup>18</sup>

यद्यपि आंचल विशेष की कलाओं का विस्तार विश्व स्तर पर हुआ, फिर भी बाहरी प्रभाव के कारण गड़बड़ा गई है। आजादी के बाद जो कुछ बदलाव आया उसका इन कलाओं पर बहुत असर पड़ा। इनके यजमान उठे गये। कलाकारों का रहन-सहन, खान-पान और जीवनयापन के तौर तरीकों का स्वरूप बिल्कुल बदल गया। इससे कई कलाएँ लुप्त होने लगीं। मेवाड़ का एक मात्र रासधारी खेल जिसमें राम का वनवासगम नृत्याभिनीत होता था, सदैव के लिए समाप्त हो गया। भवाईयों का यह पारम्परिक कलाबाजियों वाला रात-रात भर चलने वाला चमत्कारी खेले अब भवाईयों के पास भी नहीं रहा। सामूहिक गान-नाच की सुन्दर परम्परा भी गई। अब रेडियों टी.वी. व सिनेमा के कारण भी कला-संस्कृति विकृत स्वरूप लेने लगी। आधुनिकता की चकाचौंध के कई परम्पराएँ लुप्त होती गईं। दीपावली में घुड़लिया गीतों के माध्यम से दी जाने वाली बध्णों की परम्परा अब लुप्त होती जा रही है। इसमें दीपावली के दस-पन्द्रह दिन पूर्व ये

ही छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ रात्रि के समय घुड़लिया गीत के माध्यम से बधाईयाँ और बदले में अनाज प्राप्त करते थे।<sup>19</sup> बहुरूपीकला, कच्ची घोड़ी नाचने वाले कावड़ बांचने वाले कावड़िया भाट, बगड़ावत की गाथा, देवनारायण का संपूर्ण पढ़ गाने वाले आदि कलाकारों का लोप हो गया है। गांवों में ख्याल तमाशे करने वाले कई सशक्त ख्याल दल भी टूट चुके हैं। चैनराम उस्ताद का अब अट्टालीवाला मंचीय तुराक लगी खेल देखने को नहीं मिलता। इन कलाओं की निरन्तरता नहीं रहने के अनेक कारण रहे हैं। कई कलावंत जातियों ने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित अपनी इन पारम्परिक धरोहर से नाता तोड़ लिया है। इसके अलावा इन कलाओं ने समय के बदलाव को स्वीकार न करते हुए उन्हीं परम्पराओं को जारी रखा जो आज के परिप्रेक्ष्य में निरर्थक व अनुपयोगी हो चुके थे। कठपुतली प्रदर्शन कला भी इसी कारण निष्क्रिय हो रही थी। लोक-कला मण्डल के कलाकारों ने समय के बदलाव को आत्मसात करते हुए बुखारेस्ट में कठपुतलियों के अंतर्राष्ट्रीय समारोह में पहला पुरस्कार प्राप्त करके सारी दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया।<sup>20</sup> अतः लोक कलाकारों की उपयोगिता व प्राणवत्ता तभी संभव है, जब वह सामयिक जीवन चक्र के साथ अपनी सार्थकता को जोड़े रखती है।

### लोक गीतों में बदलाव सामाजिक मूल्य

‘लोक गीतों’ की गंगोत्री आदिम युग से निरन्तर गतिमान है। सृष्टि के आदिकाल में सामाजिक चेतना के साथ लोकगीत का उदय हुआ, जिसका संबंध जनजीवन से था। धीरे-धीरे- मानव में ज्ञान का विकास हुए और उसने जयबद्ध वाणी में सुख दुख की कहानी कहना प्रारम्भिक यह लयबद्ध वाणी लोक कंठ का आश्रय पाकर लोक गीत बनी। मानव में संगठन व सामाजिकता की भावना के उदय के साथ लोक गीतों का भी विकास हुआ।<sup>21</sup> लोक गीतों ऐतिहासिक परम्परा के पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाह के साथ समयकालीन समान की अनेकानेक स्थितियों को प्रतिबिम्बित भी करते हैं। लोकगीतों में बदलते हुए जीवन मूल्यों को आत्मसात करने की अद्भुत क्षमता है। लोक जीवन व लोक साहित्य के बीच अपना समुचा जीवन समर्पित करने वाले कैरियर एलविन ने लिखा है, “लोकगीत अथवा लोक कथा अजायबघर की वस्तु नहीं, उसमें नई पीढ़ियों के साथ-साथ नये परिवेश और नये संघर्ष जुड़ते रहते हैं।<sup>22</sup>

आज का जीवन विज्ञान से प्रभावित है। अतः बोलचाल, रहन-सहन तथा अन्यान्य जीवनधर्मी पक्षों में इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में गीतों का इससे प्रभावित होना भी स्वाभाविक है-

“बना टिक रॉकेट कटवायेंगे।  
तेरी शादी चन्द्रलोक रचवायेंगे।  
भारत में बनडी मंगावेंगे।  
तेरी जोड़ी वही सजावेंगे।  
जापानी केमरा मंगावेंगे।

तेरी फोटो से बगस मंगायेगे।  
तेरी बनडी वही सजायेगे।

मनुष्य परिवर्तन की ओर शीघ्र आकृष्ट होता है। अतः नई सभ्यता, रहन-सहन एवं भाषा आदि को आत्मसात कर लेना उसके लिए सहज सम्भव है। जमाने की हवा ने रहन-सहन के ढंग को भी प्रभावित किया है-

“टाई भी पेरे बन्नो, बुसट भी पेरे”  
अन पेरे सा बे तंग तंग पेण्ट  
बनों तो म्हारों वेग्यो जण्टरमेण्ट।  
लक्स सूं नावे बन्नो, पोडर लगावे  
अन लगावै वो तो सेण्ट। बनो तो.....  
मादल भी भूल्यो ने ढोल भी भूल्यो  
अबै बजावै वो सा बैण्डा बनो तो म्हारों.....  
गाम भी भूल्यो सा गलियां भी भूल्यो  
चालों नी चालां इंग्लैण्ड। बनो तो म्हारों.....।”

इससे से भी स्पष्ट होता है कि बदलते हुए सामाजिक जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति लोक गीतों में मिलती है। अंग्रेजी भाषा, शैली एवं रहन-सहन का लोक-गीतों में बढ़ता प्रभाव यहां की संस्कृति, संस्कार और सरोकारों के बदलते मूल्यों का सूचक है।

लोक गीतों में शहरीकरण तथा आधुनिकता का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। लोकगीतों में अंग्रेजियत व आधुनिकता एवं फिल्मीपन का रंग कुछ इस तरह दिखलाई पड़ता है-

“ई छोरा छोरी फेरा में बोल गया रे।  
गजब किया छोरा गजब किया रे।  
मेरे सामने वाली खड़की में  
इक चांद सी बनड़ी रहती है  
मेरे सामने वाली खडकी में  
इस फूल सा बनडा रहता है।”<sup>24</sup>

लोक गीतों के परिवर्तन में आधुनिक मीडिया व जनसंचार माध्यम की अहम भूमिका है। इनके माध्यम से लोकगीतों का एक जगह से दूसरी जगह पहुंचना बहुत ही आसान हो गया है। इस तरह मीडिया के माध्यम से लोक गीतों में परिवर्तन की धारा सतत ही प्रवाहमान हो उठती है। आजकल ज्यादातर गायन, वाइन के साथ पसन्द किया जाने लगा है। लोक गीतों में संचार माध्यमों के प्रतीकों का जिक्र कुछ इस तरह से होने लगा है-

“बन्ने ने किया टेलीफोन बन्नी के लिए  
कैसे तो आउ तेरे पास शादी के लिए

कहो तो गाडी भेजूं कहो तो मोटर भेजूं  
या फिर भेजू ऐरोप्लेन आने के लिए। बन्ने ने.....  
गाडी तो देर लगाती मोटर भी रूक-रूक जाती  
सबसे भला है ऐरोप्लेन आने के लिए। बन्ने ने.....  
कहो तो बाबा भेजूं या फर मैं चाचा भेजूं  
या भेजूं कोई अपना फ्रेंड लाने के लिए। बन्ने ने.....  
बाबा को खांसी आती, चाचा को छीके आती।  
सबसे भला है तेरा फ्रेंड लाने के लिए। बन्ने ने.....’<sup>25</sup>

परिवर्तन के इस दौर में बन्ना लोकगीत भी अछूते नहीं रहे हैं। इन गीतों का नायक बना युवा है, अतः उनमें युगानुरूप बदलती युवा शक्ति की जीवन शैली, उसकी इच्छा, आंकाक्षाओं तथा सामाजिक सांस्कृतिक सरोकारों की बड़ी क्रमवत झांकी मिलती है। पारम्परिक लीक से हटकर अब माईडियर, बुफेडिनर तथा हनीमून की संस्कृति का प्रभाव भी इन पर पड़ा है। प्राचीन लोकगीतों के अनुसार जो पुरुष यज्ञोपवीत धारण कर ब्रह्मचर्य एवं उत्तम विद्यावान हो सुन्दर वस्त्र किये हुए पूर्ण युवा होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, वही अतिशय शोभायुक्त और मंगलकारी होता है लोकजीवन में राम और कृष्ण के शौर्य और शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतिमान नायक हैं। प्राचीन काल का वर वेदपाठी, ब्रह्मचारी है। जो वधु जानकी पाने के लिए कोई भी धनुष तोड़ने को उद्यत है-

“बाबा जी के बाग में रे हरियाला बन्ना  
बैठा बांचे वेद मेरा हरियाला बन्ना  
तोड़ो धनुष ब्याहो जानकी रे हरियाले बन्ना।”<sup>27</sup>

वैदिक पौराणिक युग की युवा शक्ति की यह छवि मध्यकाल तक आते-आते आमूलचुल बदल जाती है। इस काल में बन्ना गीत किसी मुगल हरम में जन्मे नवाबजादे की छवि प्रस्तुत करते हैं। यह बन्ना दुल्हा तो है पर नवाब उमराव सूबेदार हैं। इस युग में बन्नों की तरजीब शाही थी। इस युग के गीतों पर मुस्लिम संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव झलकता है।

बन्ना हमारा बरेली वाला उसी ने गजरा घुमा के मारा  
शीश बने के सेहरा सोहे लडियों पै जादू बन्नी ने डाला।

इस कालखण्ड के बन्ना गीत अतर गुलाब से सराबोर, ‘अजब-बहार’ से बाग-बाग है। मीनाकारी ओर हीरे जवाहरत से दमक रहे हैं, मुबारकबादी से गुंज रहे हैं।<sup>28</sup> देश में अंग्रेज और अंग्रेजियत का प्रभाव बन्ने की इस छवि में परिवर्तन लाया। स्वातन्त्रपूर्ण और स्वतन्त्रता के बाद बन्ना गीतों में युवा मन की हलचल, आंकाक्षाएं और नये-नये रूझान बिम्बित होते हैं। आर्य समाज, स्वतंत्रता आन्दोलन और राष्ट्रीय चेतना युवा शक्ति को एक बहुत थोड़े से समय के लिए स्वदेशी और सांस्कृतिक धज देती है-

“बन्ना मेरा भारत का उजियाला  
बन्ना मेरा गुरुकुल में पढ़ने वाला।”

लोक गीतों में बन्ने की स्वदेशी छवि को प्रोत्साहन दिया जाता है-

“हुकम गांधी का निभा प्यार बन्ने  
सो प्यारे बन्ने पहनो सुदेशी चीरों  
विदेशी को वापिस करो प्यारे बन्ने, हुकम.....  
सो प्यारे बन्ने पहनो स्वदेशी झंगा  
विदेशी की होली जला प्यारे बन्ने। हुकम.....<sup>29</sup>

इस काल के गीतों में युवा शक्ति अंग्रेजी राज के साथ आई सुख-सुविधा की शृंगार सज्जा की वस्तुओं के प्रति आकर्षित होती है

“लगा के चश्मा पहन के सैन्डल बो देखों बन्ना टहल रहा है।  
बाहर से आये बन्ने के ताउ ताई से पूछा बन्ना कहाँ है?  
बता के उगली वो हस के बोलो वो देखें बना टहल रहा है।”

बन्ना कॉलेज में पढ़ता है कि कॉलेज के पास बन्नी से मिलती है, अंग्रेजी भाषा बोलता है-दोस्त को फ्रेंड, चपाती को ब्रेड और बड़ो को मिस्टर कहता है।<sup>30</sup> आज मेरा बन्ना कॉलेज में पढ़ने जाता है। माँ को मदर बाप को फादर बहिन को सिस्टर कहता है अरे हाँ कि मेरा बन्ना बन्नी को डीयर कहता है आज। बन्ना गीतों के अतिरिक्त लोकगीतों में समय के साथ-साथ हुआ परिवर्तन दिखाई देता है। राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों के चिन्ह भी लोकगीतों में दृश्यमान होते हैं-

पैला चांद रो रिपियों चालतों हो अबे चाले कागज रो नोट  
जमाना में दोस नहीं।  
पैला सासू सूँ बउवां डरपती ही अबे सासू जी आप।  
जमाना में दोस नहीं।<sup>31</sup>

लोकगीत सदैव ऐतिहासिक चेतना और युग प्रदान रहे हैं। इन्होंने आंचलिक लोकतत्वों को अपनाया है। वहीं प्रदेशीय और राष्ट्रीय चेतना को भी आत्मसात करने में आगे रहे हैं। लोकगीतों में स्वतंत्रता के लिए मर मिटने का विद्रोही स्वयं हमेशा गूँजा है। चाहे घटना विदेशियों के आक्रमण और लूटपाट की हो, विदेशी जाति के जुल्मी की हो या अपने ही देश के शासकों द्वारा डाले जाने वाले अत्याचारों की हो, सबका ब्यौरा और उस पर जनप्रतिक्रिया लोकगीतों में सुरक्षित मिलेगी।

“मोटा-मोटा ओदा ऊपर विदेशियां रा थाणा जी  
गोरा नीं पर भूरा है ये आधा नीं पर काण जी  
आडा पड़ग्या आडा पड़ग्या यांसू हार

म्हा सूँ उटे ने अतरो भार स्याणा राणा जी।  
नींद उड़ाओ झटपट जागो अब हो जाओ होशियार जी  
सला करो सेयत ने सौपों, राज काज रो भारजी  
झुकग्यो देखो, झुकग्यो देखो यो अंग्रेजी नार  
होग्यो जाणे गीली गार, स्याणा राणाजी।<sup>32</sup>

बिजौलिया का किसान आन्दोलन अपनी तरह का जन आन्दोलन था। इस जन आन्दोलन को यहां के महिला वर्ग की ओर से खुला समर्थन था। जनसंघर्ष से विमुख कायर पुरुषों को संबोधित कर लिये गये गीतों की पंक्तियों इसी तथ्य को उजागर करती हैं-

“तू हाल सभा में हाल म्हारा ढोला जी  
तू खाग्यो घर को माल म्हारा ढोला जी।  
लो हाथां में चुडलो घाल म्हारा ढोला जी।।  
माथे बांधों राखड़ी, नाका पहनों नथड़ी।  
नैणां में सूरमों सार, म्हारां ढोला जी।  
हाथां मेहंदी राचणी, पगल्या नेवर बाजणी।  
थे चालो जनानी चाल, म्हारा ढोला जी।  
तोप बन्दुकां म्हें झेलां, नीचों माथो नहीं मेलां।  
लो वन्दे मातरम् ढाल, म्हारा ढोला जी।<sup>33</sup>

वस्तुतः स्पष्ट है कि अरसे से मेवाड़ को लोक संगीत भी परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। लोक मानस से जुड़ी इस विद्या ने लोकमान्य से ही मूल वे तदनन्तर परिवर्तित स्वरूप धारण किया है।

### संदर्भ

1. श्रीराम शर्मा- लोक साहित्य: सिद्धान्त और प्रयोग, पृ. 332
2. पीयूष दईया- लोक, पृ. 346
3. वही, पृ. 364
4. वही, पृ. 364
5. महेन्द्र भानावत-लोक कलाओं का आजादीकरण, पृ. 246
6. महेन्द्र भानावत-लोक कलाओं- मूल्य व संदर्भ, अध्याय, पृ. 34
7. वही, पृ. 47 एवं 48
8. महेन्द्र भानावत-पूर्वोक्त-, पृ. 255
9. वही, पृ. 247
10. वही, पृ. 256
11. वही, पृ. 256
12. दैनिक भास्कर- उदयपुर 31 मई 2002, पृ. 12
13. देवीलाल सामर-लोकधर्मी प्रदर्शन कलाएं, पृ. 147



14. लेख महेन्द्र भानावत-स्वतंत्र भारत के पचास वर्ष- भाग-2, संपादक- भालचन्द्र गोस्वामी प्रखर, पृ. 170
15. दैनिक भास्कर- उदयपुर, 4 नवम्बर 2002
16. महेन्द्र भानावत- उदयपुर केक आदिवासी, पृ. 157
17. वही, पृ. 176 व 177
18. राजस्थान पत्रिका- उदयपुर 30 अक्टूबर, 2002 पृ. 4
19. दैनिक भास्कर- उदयपुर 3-4 नवम्बर, 2002
20. भालचन्द्र गोस्वामी प्रखर भाग-2, स्वतंत्र भारत के पचार वर्ष, पृ. 168
21. डॉ. श्रीराम शर्मा- पूर्वोक्त- पृ. 46
22. कपिल तिवारी-चौमासा, वर्ष 18, अंक 56, जुलाई-अक्टूबर 2001, पृ. 73
23. रंगायन-जन-दिस. 1988 ( भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर) पृ. 57
24. वही, पृ. 58 से 60
25. रंगायन-जन-मार्च, 1991, पृ. 32-33
26. वही, पृ. 23
27. वही, पृ. 25
28. वही, पृ. 28,29
29. वही, पृ. 30
30. वही, पृ. 31
31. महेन्द्र भानावत- लेख - बदलतो सरूप-राजस्थानी लोगीत संगीतरो।''
32. सम्पादक- डॉ. देव कोठारी एवं ललित पाण्डे- स्वतंत्रता आंदोलन में मेवाड़ का योगदान, पृ. 210
33. कोठारी, पाण्डे-पूर्वोक्त, पृ. 211

## SUMMARY / सारांश

### **Life Among the Sahariya of Rajasthan (Socio-Economic Aspects)**

**Dr. Kumud Sharma**

Indian society is generally associated with the unique caste system, which implies endogamous social categories within an overall social order that is ranked and based upon religious principles. Out of the total 27.5 million people, there are 4,2 million Scheduled Tribes in Rajasthan. Majority of tribal in Rajasthan are concentrated in the southern region and distributed between three main groups, the Bhils, the Minas and the Girasia. The Bhil and Mina are well-known, whereas Girasia, Sahariya, Kathodi and Damor are little known outside southern Rajasthan. Sahariya Tribe is among the earliest primitive tribe in the state of Rajasthan with its highest concentration in Gwalior District of M.P.

Sahariya Tribe is the only primitive tribe of the Rajasthan state, residing in the Shahabad and Kushanganj Panchayat Samitis of Baran District. The name Sahariya is said to be derived from the Arabian word 'Sehara' or 'wilderness'. The Muslim rulers found them residing in the jungle, and gave them their present name 'Sahr' which means 'Jungle'. Accordingly they came to be called 'Sahariya' meaning residents of jungle. Even in the absence of genuine historical accounts it may be stated that the Sahariyas have been one of the earliest settlers in Rajasthan. In the state of Madhya Pradesh they are spread across 21 district with the highest concentration apparently found in and around the Gwalior District, approximately 3.5 lakh Sahariyas estimated to reside in the Gwalior and Chambal region in north Madhya Pradesh.

The Sahariya live in weak infrastructural and remote areas, not well connected through road and bridge network even now. Lack of exposure to modern life and historic exploitation by landlords

who paid them less wages has left Sahariya extremely primitive and backward. In the last one decade there has been some interest and efforts towards 'Sahariyas' development. After the emergency period, the state government has constituted 'Sahariya Innovative Project' whose office is in Shahabad. There are a large number of NGO's working for the upliftment of Sahariyas, prominent among them being, ASSEFA, SANKALP, Adim Jati Sangh, Jok Jumbish and DPIP. Most of them have produced successful results in one area or the other.

\* \* \* \* \*

## **Governance of Traditional Rainwater Harvesting Technology : A Study of Common Property Resource Management in Alwar, Rajasthan**

**Anushree Singh**

Technically, rainwater harvesting, means the catching, collecting and storing rainfall waters before they rush off and disappear beyond reach of a particular society's area of habitation and surroundings.

In the semi-arid and arid (Marushthali) parts of Rajasthan, people developed covered wells for drinking water purposes (saving from evaporation and dusts and sands in these windy areas), while there had to be deep and wide open talaabs for bathing, washing and animal stock watering purposes. The large raised embankments of these talaabs were shaded by growing huge leafy shady trees in rows to reduce evaporation. Agriculture in dry parts of India, like Rajasthan was mostly rain fed and seasonal, consuming cereals for humans, and fodder for animals. The villages were cast divided units and water system had its own hierarchical governance. Still, social norms ensured that everyone had access to water. Groundwater resources were hard to get, and was not exploited on any sizeable scale; only deep wells, sourcing ground water, could exploit the aquifers, while ordinary wells all over unlined and has ordinary, surface wells few feet down the ground floor. Most of these structure were built by local people under the guidance of local water experts, available locally. Traditionally, these experts

did not charge any fees for their consultancy. Common people, mostly landless and some poor peasants of the community, provided labour, while the money and some grains and jaggery, which were the village produce required for the workers, were provided by the wealthy villagers as well as by the officials of the local rulers. Since the entire community participated and got involved everybody for generations were obliged to help in repairs and maintenance of these structures over time.

Revival of traditional water harvesting practices, Alwar,  
Rajasthan

TBS identified water in 1985 as one of the most pervading and challenging problems in rural India. Delving deep into the problem, they happened to discover how significantly ancient Indian people had ingeniously solved the problem of water scarcity which was almost a regular feature of their life world. They found rainwater harvesting could be managed on a small scale or village community level involving the local residents themselves without much monetary expenses. This indigenous technique, however had been generally lost during last two centuries. TBS, therefore, undertook the task of reviving the knowledge of rain water harvesting with help of community participation for coping up with the prevailing problem of water scarcity in Gopalpura village in 1985.

TBS was a non government organisation founded by some professors and students of Jaipur University in 1975, to help people of the slums who got affected by a fire which took place in the slum area near Jaipur University. Rajendra Singh was drawn towards the J.P. Movement in 1975 and joined the youth organisation, Sangharsh Vahini. In 1986, the region was struck with drought. In Gopalpura village, he observed that Mahangu Patel who owned 200 bighas of land was not dependent on agriculture for his income, three of his sons used to pull rickshaw in Ahmedabad city. Rajendra Singh was trained with class struggle oriented politics, who had deliberately chosen one of the poorest rural pockets as his karmabhumi (field of action) in search of the antim jan (the last person in the economic hierarchy), was witnessing the sahaj judav (spontaneous and easy social connections) between various castes and classes in the village society. He was stunned to see the warm social interaction between Mahangu Patel (one of the 'bigger' landowners) and Nathi Balayan (a scheduled caste woman). Insights gained through numerous such

incidents and interactions apparently convinced Rajendra Singh develop an inclusive model for the upliftment of people. In his opinion, villagers need to strengthen their mutual bonds which traditionally knit various caste groups into mutually interdependent and cohesive village communities. This was, Nathi Balayan and Mahangu Patel became the guiding stars for Rajendra Singh's team for the construction of RWHS (Madhu Kishwar, Munshi).

On the basis of field work the techniques used by the local hydro-experts appear to be quite 'simple' in the era of complex science. An in-depth discussion of knowledge and technology of these systems, however, reveals that these systems embody a complex array of experiential knowledge, which often is undocumented. Village experts are known differently in different local languages or dialects. In Rajasthan they are known as Gajdhars. Usually they selected the proper sites for such constructions, preparing first the outline of the possible rainwater runoff flow slopes or directions into the dugouts for holding water. The sites were selected on basis of their estimation by observing the area of incoming water from sloped area. The slope of the area was checked by a hollow iron rod containing sater in it which gave the approximate slope of the area. In the present era of modern science, the site for Johad construction is selected using toposheets of different scales made by the scientists of the Geological Survey of India. The interaction of scientists with the Gajdhars of the village conducted during TBS's training programmes helped people in developing the knowledge of using toposheets. This requires a training of almost 15-20 days. During this training, one is acquainted with the basics of geography and geology. Interestingly, only local Gajdhars are selected for these trainings, which presumably reveal that some amount of experiential knowledge is required for understanding the modern scientific instruments.

A Johad as noted is an indigenously built rainwater impoundment in Rajasthan, anciently built to supply water for domestic water-needs as well for irrigation, production of crops and rearing of animal stocks. It is a sizeable dugout or ditch, usually elongated in shape as shown in figure below. The site selection was done by the villagers in the Gram Sabha meetings. Actual water fill part in a Johad is termed Jal-Bharao (water-fill) area of simply Bharao area. It is laterally embanked or dyked to hold the rain or

runoff water into the Bharao and disallow or check any outflow of water from the area on its own. Such dyke is termed Paal. It is generally non-masonry, made of mud-cake or excavated materials from the ditch. If masonry is used, bricks, lime, surkhi, cement or stone/rock pieces and bentonite clays are assembled from outside and constructed by experienced masons. By their own estimation and capabilities, the villagers used to make estimation of the barrage whose top breadth used to be half of bottom breadth of the barrage. Although earlier, people used no specific tools for such measurements, and the estimations were made by Gajdhar's own experience and cognition, in recent times they use simple measurement tapes. (Unpublished memo)

\* \* \* \* \*

## **Violence against Women - Prohibition of Widow Remarriage in Rajasthan**

**Dr. Sambodh Goswami**

The practice of child marriage as well as that of prohibition or remarriage of widows, developed under the presence of peculiar social conditions and exercised a powerful influence on the social status of the castes in India in general and Rajasthan in particular.

It is significant to note that amongst the Brahmans, the Rajputs, the Mahajans and the Kayasthas of Rajputana (present day Rajasthan), widow remarriage (be it that of child widow) was strictly forbidden. According to the Census of 1911, the castes in which the proportion of widowers was the highest were the Gola Purabs, Kayasthas, Mahajans and Brahmans in the Rajputana and the Mahajans, the Jats, the Brahmans and the Gujars in Ajmer-Merwara. In the Table A, mentioned below, the castes which had the largest proportion of widows have been mentioned. It is evident from this Table, that in the Rajputana and Ajmer-Merwara the Brahmans, the Rajputs, and the Mahajans, among whom the prohibition against widow-remarriage was strict, the number of child widows was the highest. Of the other castes in the Rajputana with a proportion of over 200 widows, it is noticeable that the Sadhus and Bairagis were devotee castes, and the Darogas, Chakars, and Gola Purabs were the hand-maiden castes. Of the two remaining

ones, the Kayasthas forbade widow remarriage, and the Kayam Khanis were Rajputs converted to Muslim faith, who had retained most of the Hindu customs; and evidently the Rajput prejudice against widow-remarriage lingered among them. In this connection it is curious to note that the Meos or Mewatis, the other large Rajput tribes converted to Islam, had a very low proportion of widows, only 136 per 1000.

A child widow often faced (or may face) tremendous torture at the hands of the family members. She was cursed and blamed for the death of her husband and was looked down upon as inauspicious for the family. Discrimination was made between restriction imposed upon the child widow and child widower. Child widower was married off again while child widow was expected to spend all her life in penance and was at the mercy of her family-members. In the medieval times, some of them were compelled to commit sati can be equated with forcing her to commit suicide. Thus, a child widow was forced to lead a life facing deep-rooted stigma, frustrations and hatred as also to tolerate silently physical, social, economic and emotional hardships and exploitation at the hands of even the family members, who indulged into different types of oppression, violence of could even sexually abuse the child wife, child mother or child widow.

These are some of the ways through which a child wife of a child mother or a child widow can be harassed. As she is not mature enough to protest the sexual onslaughts of her in-laws, therefore she is forced to accept it, as her destiny.

As we all know, that the system of pre-natal marriage or baby marriage was in vogue in certain communities of Rajasthan and the plight of the girl child whose betrothal ceremony was performed when she was in the womb and who lost her husband or fiancée when she came out in this world was really miserable. It is significant to note that the Brahmans, the Rajputs and the Mahajans had the highest number of child-widows in the society of Rajputana, according to the Census of 1911. In Rajputana, the practice of *naata* or *karewa* (re-marriage) was prevalent amongst certain Hindu castes like the Sodhias, the Bishnois, the Malis, the Patwas, the Thatharsa or the Kanasaras, the Pinjaras, the Gadris, the Bandharas, the Chitaras, the Bhanchas, the Keers, the Kalals, the Lohars, the Ghanchis, the Suthar Seesotra Khatis, the Darogas (Ravana

Rajputs), the Mers or Cheetas, the Rebaris, the Bhadbhunjas, the Baridars, the Beldars, the Mogiyas, the Dhadis, the Bhats, the Pitalyas, the Jogis (the Kalbeliya Jogis and the Nath Jogis), the Ramawat Sadhus, the Meghwals, the Raigars, the Khateeks, the Kolis of the Koris, the Ganwariyas, the Teergars, the Mehars, the Nats, the Bavris, the Thoris, the Kanjars, the Dediya, the Dhnkas, the Gurda or the Gurudas, the Harijans, the Meenas and the Bhils. While amongst the Muslim castes, *naata* or *karewa* was prevalent amongst the Saiyyads, the Shekhs, the Makranis, the Sindhi Muslims, the Chadwas, the Gadits, the Kheradi or the Kharradi, the Bhishtis, the Neelgars, the Jalali Fakirs, the Chhopas, the Silawats, the Bhatyars, the Bhadbhunjas and the Julahas.

Among the Jats, a widow was permitted to marry anyone outside the prohibited degrees of relationship. In some parts of the country, marriage with the deceased husband's younger brother was allowed but this was prohibited among the most important subdivisions such as the Sinsinwar, the Khuntela, the Saboria and the Chahar. The panchas (i.e village elder men) were informed and the widow after changing bangles entered her new husband's home.

Among the Gujars, the widow could marry her deceased husband's younger brother or even his elder brother which was very rare among the Hindus. If she married some one else, *jhagra* or *zagda* (compensation) was paid to the deceased husband's relatives. Amongst the Kumhars, a widow could marry, whom she pleased, outside the prohibited degrees of relationship. The form of ceremony usually followed, was taking off the vessel of water from the widow's head by the bridegroom. The woman then used to put on the bracelets, which the man gave her and then entered his house. A widow was supposed to marry her deceased husband's younger brother, amongst the Bhils. If she objected, the younger brother was entitled to have *zagda* from the man who contracted *nata* or *natra* with the widow. The bridegroom gave the woman bracelets and provided a feast to his relatives and members of the tribe.

Amongst the Charmakars a widow was expected to marry her deceased husband's younger brother but was not bound to do so. If she married any other man - who used to be outside the prohibited degrees of relationship - *zagda* was usually paid to the deceased husband's relatives. The panchas were informed and new bangles were given to the widow by the bridegroom. Widows were

allowed to contract naata or natra amongst them. They could marry their deceased husband's younger brother but were not obliged to do so. The husband gave the widow a new suit of clothes and white lac bracelets and took her home on Saturday night after dining at her parent's house and paying the reet money.

\* \* \* \* \*

## Social and Cultural Role of

### Ancient town Pushkar

**Sobhagya Gopyal & Lata Agarwal**

Pushkar Lake : Legend has it that this lake was created by the falling of a lotus from the hands of Lord Brahma and a dip in its waters cleanses all the sins and provides salvation. Encircled by some five hundred odd temples, the lake has 52 ghats, and water around each of these ghats is believed to possess special powers like Naga Kund for fertility and Roop tirth for beauty and charm. Other important ghats include Gau Ghat, Brahma Ghat and Warah Ghat. Pushkar lake is semi-circular lake around which there are 52 Ghats. The depth of the lake is fifteen metre approximately. The lake is a holy place and is known as the king of the Tirthas. There are four holy places of the Hindus in India (i.e. Badri Narayana, Jagannathpuri, Rameshwaram, and Dwarikapuri) but the bath at Pushkar is thought to be more important than at any other place. the holy dip in this lake on Kartika Purnima is thought to be salvation giving.

The town does not mean merely the massing of population and building, but it should be a socially integrated unit with cultural heritage. Actually, the ancient towns and cities of Rajasthan were such units and glorious tradition. In very early times, when the number of towns was limited, people were not so actually advanced with the growth and development of towns in early medieval period under the Rajput rulers, people began to participate in different types of social activities which actually led to the cultural growth. Some literary evidence are helpful to knowledge of social condition such as dress, food, drinks, ornaments, recreation and amusements of the people who lived in very early times.

The dress and ornaments as shown on the figures of terracottas, and sculptures found in ancient cities are mostly identical

with what were used by men in a particular period, because the images are mostly depicted in an anthropomorphic fashion. From the study of sculpture, it is known that men put on a short dhoti, jacket, and turban, while women were girdle, so skirt and sari like garment at Rajasthan. For covering the upper parts of the body, they used the close fitting garment like brassiere and dupatta such as a head-dress of women is actually a peculiar thing at Rajasthan.

The female dress consisted of pleated skirt, pleated bodice and sari, which are called the Langha, Kanchali and Odhani respectively. Even after the seventh century A.D. the usual dress must have been the upper garment (adhavasana) and the lower garment (uttariya). Besides, men used head-cover with Jihavas at the back in the cities of Sapadalaksha. Women put on saris and also Kurpasakas, a short of bodice. Diddharshi mention the soft clothes such as brihatika Pravara, Rallaka, Devamsuka, Chinamsuka and Pattamsuka used by people. From the archaeological excavation it is known that women anklets, necklaces, ear-pendants, beads and girdles. Gold was rarely used and most of the ornaments were made of clay, bronze, copper, iron, shell glass, lead, bone and different kinds of coloured stones were utilised for preparing ornaments.

We know about food and drinks of the people of ancient cities from different sources. The northern Rajasthan prove that this area was more fertile in the past than that of present. The people cultivated rice and wheat which were used for eating purpose. Wheat, rice, pulses, barley, jowar, miller, oli, ghee, spices and meat were the main articles of food. Betel chewing was common, onion and garlic were avoided by respectable function. Under the growing influence of Jainism and Vaishnavism after the eighth century A.D. Vegetarianism became popular. Among the vegetarians we find the use of milk products, sweet and numerous vegetarian dishes.

In ancient cities and towns, people but entertained themselves in various ways, when the number of ancient cities and towns increased, people began to enjoy themselves by different kinds of entertainments and recreations, as know to us from inscription and literary works. Dancing music and dramatic performances were very popular in ancient cities and towns. Different kinds of games were played by the people for recreation in cities and towns. The game of hide and seek seems to have been quite popular among

boys and girls. Another game probably played was mushtidyutan. It was a game of old and even played mostly by girls and boys. Another favourite amusement was wrestling. Gambling with dice was also common. Fair and Festival : Ekadashi, Shivaratri, Mahachaturdashi of Sravan, eclipses-lunar as well as solar and others were the sacred days of the year on which fasts were observed and gifts were made by the people in cities and towns. Fairs were also held in ancient cities and towns where people assembled from far and wide. They not only served the purpose of trade and commerce but they used to promote the natural social contact among the people in different ways.

The only Brahma Temple in India is a famous pilgrimage of the Hindus. The present structure was built in the 14th century; but the temple is believed to be 2000 years old. Mainly built of marble and stone slabs in southern style, the temple has a distinct pediment and a bird motif. The temple sanctum holds the four faced image of Brahma. Rooms around and marvel at a beautiful carved turtle, hundreds of silver coins embedded on the walls and the floor, carved marble gateways and silver doors. Pushkar is one of the holy places of pilgrimage and a bath in the lake and worship at the temple of Brahma is said to give on salvation. It is celebrated on Kartika Purnima and camel fair is held near the Pushkar lake. The chief fair of Pushkar falls in Kartika Sudhi 11th to 15th. Other fairs of Devras and Rishis are held mostly in the month of Shravan and Bhadon at different places of Pushkar.

The festival at Pushkar goes for a whole week and attracts great crowds, particularly from Rajasthan. It is mainly a camel fair and camels are brought from all over to be sold. The beautifully attired men and women, and the singing and dancing are an added attraction. The small sleepy village of Pushkar is suddenly transformed into fairyland, full of colour and music, which is enhanced by the brightest fullmoon night of the year when Jal Puja (worship of water) takes place. In memory of deceased relatives, hundreds of lamps are set afloat after the evening prayers, making the lake look a twinkling galaxy of stars. On the main day of the fair, the fullmoon day. People bath in the holy Pushkar lake and then worship at the temple of Brahma. The town explodes with colourful crowd of hundreds of thousands of pilgrims and herds of camels, cows, buffaloes and horses. The great Pushkar Fair is one of the

world's most dazzling traditional gatherings. Come and capture the vibrancy of the entire state of Rajasthan in one place.

\* \* \* \* \*

## Advertising and Rajasthan

**Dr. Ankan Garg**

Advertising is a powerful communication force and a vital marketing tool-helping to sell goods, Service, Images and Ideas (or ideals) through channels of information and persuasion. The word 'advertising' has been derived from the Latin word 'Adverto' which means to attract people's attention to an item. Advertising is one of the largest generators of revenue in the world economy. Yet, a large number of people remain ignorant about the purpose of advertising. The use of advertising for non business purposes is increasing in relative importance. The purpose of advertising can be described broadly as that of selling a product or an idea to a prospective customer or a mass of them.

Rajasthan is roughly the shape of a diamond, with the Great Thar Desert at its heart. Among the various states of India, Rajasthan occupies a unique place for its colourful and varied topography, extraordinary scenic beauty, forts, places, monuments, temples, rich variegated wildlife, placid lakes, lush green parks, vast expanses of golden desert stretches, sand dunes but above all is the rich cultural heritage this state owns. Rajasthan is a land of multifaceted splendour and myriad hues. Its beauty and diversity has attracted people from every part of the world.

Regarding the advertisement - Rajasthan, a glorious land of kingdoms. Has been an attraction point for many movies and advertisements. There is rich and varied folk culture from villages which is often depicted and is symbolic of the state. We can see so many advertisements been shot at the land of Rajasthan with the flavor of folk culture. There dresses, vehicles, appearance, language, geography, customs, pets, lifestyle and many more brackets the eyes of a creative human to frame all these.

Among the array of advertisements been shot on this glorious land, an example 'Fevicol Commercial' by Piyush Pandey is enough popular. In which we see a bus going heavily crowded. People on

roof of bus, hanging on gagte, windows rear bumper and roof ladder. There swaying body due to bumpy roads, even though pleasure faced. The secret of that pleasure reveals when bus passes and we see the bus panel bearing the advertisement of fevicol. Mention first and second advertisement depicts the strength of fevicol in a humorous way. Another 'Beds', 'Tear Drops' print Ad and many more work has been done on the theme of Rajasthan.

\* \* \* \* \*

## **Development of Rajasthani Art and Culture: Through a Specific Glance over Blue Pottery**

**Dr. Geeta Singh**

The Jaipur blue pottery, made of fuller's earth, is glazed and low-fired. Some of this pottery is semi-transparent and mostly decorated with animal and bird motifs. The range of items is mostly decorative such as ashtrays, vases, coasters and boxes. Apart from the usual urns, jars, pots and vases, you can now find tea sets, cups and saucers, plates and glasses, jugs, ashtrays and napkin rings. The colour palette is restricted to blue and green from the oxides of cobalt and copper but white, yellow and brown have emerged too. The common motifs are inspired from Mughal era. Blue pottery is an art form from Persia and was introduced in Rajasthan under the patronage of Maharaja Ram Singh. Blue pottery is new art form with a fascinating recipe of distinctive materials like the ground quartz stone. The color scheme are also peculiar like, blue (oxide of cobalt), green (oxide of copper) and the external white. Some of the pottery is semi-translucent and lately is been experimented with other colors such as, yellow, dark blue and brown. The conventional floral or arabesque, handmade patterns and the animal figure patterns are the prominent designs. The various articles shaped out are mostly the traditional ones like surahis or pots of different shapes and size for multiple use, ashtray, tiles, flower pots, lamp shades, jars various accessories or interior items are the forte of this art of pottery.

### **The Art of Blue Pottery**

The use of blue glaze on pottery made from Multanimitti, or Fuller's earth, is essentially an imported technique, first developed by enterprising Mongol artisans who combined Chinese glazing

technology with Persian decorative arts. This technique traveled south to India with early Muslim potentates in the 14th century. During its infancy, it was strictly used to make tiles to decorate mosques, tombs and palaces in Central Asia.

### **The Art Gradually Flourished in India**

Later, the Mughals began using them in India, in a bid to mimic their beloved structures from beyond the mountains in Samarkand. Gradually the blue glaze technique broke free of its status as an architectural accessory, and Kashmiri potters took to it with a vengeance. From there, the technique rolled down to the plains of Delhi and in the 17th century wound its way to Jaipur. The rulers of Jaipur were exceptionally partial to blue-glazed ware, and many a cool marble hall in Rambagh Palace has as its centerpiece a bubbling fountain lined with ravishing blue tiles. These tiles were also used extensively in the building of the splendid city of Jaipur but surprisingly, they disappeared soon after.

### **The Foremost Art of Tile Making**

The revival of tile-making began in the late 19th century, and Jaipur became the centre of a thriving new industry producing blueware. The traditional Persian designs have now been adapted to please a more sophisticated clientele. Apart from the predictable urns, jars, pots and vases, you'll now find tea sets, cups and saucers, plates and glasses, jugs, ashtrays and even napkin rings. You can spot blue pottery being made at Sanganer, not far from Jaipur, and also within the city at Kripal Kumbh, Shiva Marg. The color palette is restricted to blue derived from the oxide of cobalt, green from the oxide of copper and white, though other non-conventional colors such as yellow and brown have jumped into the fray too.

FORHEX (Federation of Rajasthan Handicrafts Exporters) deals in promoting Handicraft & Textile Exports. This definitely shows the kind of demand that Indian handicrafts, especially Rajasthani crafts, has in the world market. The sector of handicraft industry is also important for the economic development of the country and particular states. Rajasthani handicraft industry has high potential for earnings export and foreign exchange for the country. Federation of Rajasthan Handicraft Exporters is a body dedicated to the Handicraft and Textile sector of Rajasthan established in the year 2001. The federation is known for its active

promotion of the textile and handicraft items and the respective associated areas at State, National as well as International level. It has rich salt deposits at Sambhar and copper mines at Khetri and Dariba. The service sector comprise industries like tourism and real estate. Because of its natural beauty and great history, Rajasthan also has a flourishing tourism industry. Many old and neglected palaces and forts in Rajasthan have been converted into heritage hotels. The palaces of Jaipur, lakes of Udaipur, temples of Bikaner and desert forts of Jaisalmer are the favorite spots for tourists, both Indian and foreign. Mount Abu is the only hill station of this state. The famous Thar Desert is also located here.

On the basis of the above analysis, it can be said that Rajasthan has been attracting attention of the tourists for many centuries. The whole state is famous for its artistic and cultural heritage and blue pottery hence; the tourists not only enjoy in the different historical and cultural places but they also like to stay here to satisfy their longing desires. They enjoy Rajasthani music and they also like to play role in dancing by mingling with the native dancers. The paper is an attempt to present a real picture of artistic and cultural heritage of the state of Rajasthan.

\* \* \* \* \*

## **Showcasing History - Tourism in Rajasthan : Some Aspects**

**Dr. Dinesh Bhargava & Sourabh Sharma**

Rajasthan has always been one of the popular tourist destinations in India. Owing to its 'bounteous heritage which includes not just breathtakingly beautiful architecture, rich traditions and diverse cultures, but also mesmerizing and scenic landscapes', the state witnesses influx of both domestic and foreign tourists in large numbers. The state is known for its diversity in terms of natural resources, cultural heritage, historical as well as archaeological wonders and rare wild life. The forts and palaces, heritage hotels, colorful fairs and festivals, local art and handicrafts, etc. has been a unique selling proposition for tourists coming to the state. The desert environment in the western part of the state is also a major attraction for visitors, particularly the foreign tourist.

Four decades ago, tourist in Rajasthan was small industry that was largely confined to the elite foreign tourists and domestic pilgrim traffic. Tourist arrivals were restricted to a few thousand tourists annually and were primarily recorded in select places such as Jaipur, the state capital, Udaipur and Jodhpur (for foreign tourist) and the pilgrim centres of Ajmer, Pushkar and Nathdwara (for domestic tourist). The employment in the sector and the sector's contribution to the state economy, as well as employment potential were limited.

Tourism in Rajasthan extends almost the entire state, though tourist activity is concentrated around six main cities, which serve as 'tourist hubs' for places of tourist attraction in and around these 'hubs'. These tourist 'hub' cities are Jaipur, Jodhpur, Jaisalmer, Bikaner, Udaipur and Mount Abu. Almost every tourist (with the possible exception of pilgrim traffic) who visits Rajasthan would visit one or more of these 'tourist hub' locations as part of his/her tourist itinerary. Each of these hubs usually form part of a Tourist Circuit. For example Jaipur is a part of the popular 'Golden Triangle' circuit (Delhi-Agra-Jaipur) that is very popular with the foreign tourists.

Similarly, Jodhpur, Bikaner and Jaisalmer form the popular 'Desert Circuit' of Rajasthan, whereas, Udaipur is the entry point into south Rajasthan and forms the hub for tourist activity in the Mewar region of the state. Mount Abu, the only hill station in Rajasthan, is largely a stand alone tourist destination for domestic tourists (especially from Gujarat but also Western India).

There are nine tourist circuits as identified by Rajasthan Department of Tourism, based on their geography, attractions and coverage by independent / group tourists:

Desert Circuit: Jodhpur-Jaisalmer-Bikaner.

Mewar Circuit: Udaipur-Rajsamand-Chittaurgarh-Bhilwara.

Vagad Circuit: Durgapur-Banswara.

Dhundhar Circuit: Jaipur-Dausa-Tonk.

Godwar Circuit: Sirohi-Pali-Jalore.

Merwara-Marwar Circuit: Ajmer-Nagaur.

Griji-Mewar Circuit: Alwar-Bharatpur-Karauli-Dholpur-Sawai Madhopur.



Shekhawati Circuit: Sikar-Jhunjhunun-Churu.

Hadoti Circuit: Kota-Bundi-Jhalawar.

During the formation of tourist circuits in Rajasthan, government agencies at the centre and state level worked together to publicize certain visual images as icons of Rajput culture. These included historical places like the Hawa Mahal, Amer Fort, Jantar Mantar at Jaipur, Lake Palace, City Palace at Udaipur, Living Fortress, Havelis at Jaisalmer and Ummaid Bhawan Palace at Jodhpur.

It was said that these towns contain exquisite examples of a unique architectural style and ensembles of buildings of great aesthetic quality and unsurpassed craftsmanship. They possess a palpable medieval aura that hardly ever fails to catch the attention of the outside world and attract an increasing number of tourists to the state. Thus the process was consciously inclined towards a few princely states to be 'the most representative of royal past'.

\* \* \* \* \*

## **Depiction of Muslims as 'Others' in Medieval India: Comparative Analysis of Two Rajasthani Texts**

**Anoop Singh**

Otherness originated mainly from warfare and violence arising out of wars. Violence in itself was closely related to state formation and its preservation in medieval India and elsewhere. It was an integral part of state's policy against its internal rivals and external enemies who desired to shatter its fortunes in power and prosperity.

In this paper, I will try to present that otherness of medieval Indian history from two Rajasthani texts—Hammir Mahakavya and Kanhadade Prabandha.

Hammir Mahakavya which was written around 1400 also expressed the same ambiguity of Indian history regarding the notions of 'self' and 'other'. In Hammir Mahakavya, Saka is the mostly used term for Muslims along with Yavana and mlecchas. Even where Nayachandra Suri has provided us with genealogies of Chauhan rulers, he failed to hide his feeling of otherness for invading Muslim

groups and it could not be because of his abhorrence of violence because he has described the violence used by Hammira Deva and his forces in praising terms. Politics was blended with religion to preach otherness against new Muslims who otherwise seem to be innocent in this regard. Ratipal, Ranmal, Jahar and Bhojraj deserted Hammir Deva and became 'other' for him but acknowledged by the besieging group as their own. When Muhammad Shah performed jahar, Hammir Deva addressed him in most intimate terms as one who sustained Kshatriya values.

In Kanhadade Prabandha same otherness was preached against Muslim invaders. Ulugh Khan returned after the Gujarat victory laden with spoils and idol of Lord Somanatha. That was an appropriate moment for Padmanabha to express his or Kanhadade's hatred towards Muslims. He put words of condemnation in the mouths of the divine women Ganga and Gauri. Both divine women who were the wives of Lord Shiva according to Hindu mythology beseeched help of Kanhadade in that situation. They made a promise of blessing for the hero of Padmanabha that he would be absolved of his sins if he liberated Lord Shiva. But for the other party, Ganga and Gauri were made to declare, "Whoever will get the Lord freed, he will be absolved from his sins.... You liberate our Lord, destroy the Mughal mlecchas, and earn great renown." Elsewhere Ram Singh Raut asked for bira from Satal Deva so that he could destroy the camp of mlecchas. Muslims were depicted as demons (asuras) who desecrated the drinking water of the fort with the help of a person named, Bhail. Yavana, mleccha and asuras were the words that described the 'other' in Indian context and has the connotation of the word barbarian which was used in other cultures.

Padmanabha assimilated Allauddin Khalji in his notion of 'self' because how Satal Deva, his hero, could have been defeated by a person other than the incarnation of Lord Shiva himself. In another instance, Padmanabha showed inclination towards accepting one of the daughters of Sultan Alauddin into the conception of 'self' but in the end he found it impossible without deteriorating the standing head of Viramde, the son of Kanhadade. He ended the episode by showing that even the lifeless head of Viramde turned his face away from that princess, when it was taken to her. Here we can see that the rejection was complete and Viramde upheld the ethos of his

lineage even after his death. In fact in both Hammir Mahakavya and Kanhadade Prabandha others were decided by political needs. Romila Thapar observes, "Mleccha as a term of exclusion also carried within it the possibility of assimilation, in this case the process by which the norms of the sub-culture find their way in varying degrees into the cultural mainstream. But Romila Thapar is right in a limited sense. In this term only an effort to solve internal otherness of Hindu socio-religious structure could be perceived. In other words, only the mlecchas of Hindu socio-religious structure were assimilated to an extent. Brajadulal Chattopadhyaya speaks about the heterogeneity of 'self' but represented Muslims as 'big other'. One of the reasons for this otherness in mediaval India was that the contact with the foreigners was a social taboo. India alone could not be blamed for it, because it was the same position with many other societies of the world.

\* \* \* \* \*

## **Influence of Sufism on the Mughal Princesses in the Reign of Shah Jahan**

**Dr. Shahanshah**

In this article influence of Sufism has been shown on Mughal Princesses in the reign of Mughal Emperor Shah Jahan. First of all the tremendous influence of Sufi saint Mian Meer (Mulla Jev so called) has been on the Prince Dara Shukoh, son of Shah Jahan who was the disciple of Mian Meer of Lahore who was his spiritual mentor and Dara Shukoh under his guidance achieved some manzils stages in the mystical exercises in the journey of the Soul. Reference has been made to the book 'Hasanat-ul-Arafein' of Dara Shukoh with emphasis to show his influence on Nadira Begam, his wife besides himself. When she died in Dysentery in Gujrat while Dara Shukoh was in flight after his defeats by his brother, Aurangzeb. According to her will his wife Nadira Bano Begam was buried in the complex of the grave yard for the redemption of sin and place in Paradise on favour and blessing of Mian Meer, the sufi saint of Lahore. Reference has also been made to Lahorenama, Lahore, Pakistan. The other account in this context has been written of Jahan Ara Begam and her treatise 'Munis-ul-Arwah' in Persian on sufism by her. The book, 'Munis-ul-Arwah' which is a Persian

manuscript and preserved in Shibli Academy in Azamgarh in U.P. It is a biography of Khawaja Muin-ud-din Chishti Ajmeri and shows her spiritual relation with Khawaja, while she was on a visit to the tomb Khawaja Muin-ud-din. 'Munis-ul-Arwah' was written by her in Persian and it was Caligraphed by Aquil Khan, the Caligraphist by her orders. It is a valuable book to show sufi influence on the Princess Jahan Ara Begam. When Jahan Ara Begam died she was buried in the compound of Hazrat Nizamuddin-Auliya as she was devotee to Khawaja Nizamuddin Auliya of chishtiya order. Her own verses in Persian have been inscribed on the tomb-stone.

\* \* \* \* \*

## **Festive Jaipur in Foreign Travelogues of 19th Century**

**Nidhi Sharma**

The ubiquitous pink color of Jaipur city turned the place as a major tourist spot in nineteenth and twentieth century. Its popularity as a well planned city with modern amenities has spread world wide courtsey, many travelogues written over the years by the foreign tourists. This Native State presented a kaleidoscopic vision of the festive life to the visitors. Some of the visitors witnessed festival being celebrated in the city and they recorded them in detail in their travelogues. Some such travelogues include Louis Roussel's India and its Native States which mentions in detail the Ganesh Festival and the royal processions. He mentions a market with international products which is an amazing feature of the said event. Israfel in his work Ivory Apes and Peacocks found the celebration of Holi in a quite despicable manner. Walter Del Mar witnessed a calmer and a more soothing Spring festival which he mentions in his work India of Today. G.A. Mathews had the honor of attending the dushera durbar of the Maharaja Sawai Madho Singh II along with the Resident. The event left him spellbound. A detailed account of this special event was scribed by him in his work Diary of an Indian Tour. Ian Macolm captures the opulence of the Sun festival being celebrated in Jaipur in Indian Pictures and Problems.

The travelogues discussed in the paper are a part of creative literature-visual elements in the representation of contemporary

events-ways in which they define the contours of history. These accounts provide us a peep into the cultural heritage of the city. Streets filled with a riot of colors, excitement rose to the level of frenzy, people and the royalty participated with equal zest and zeal. These writers painted the varied and brilliant hues of this native life and scenery. These travelers marveled at the theatrical like appearance of the city. In the words of Maclom, 'The Rajputs revel in the birthright of color which is their heritage.'

\* \* \* \* \*

## **Mughals and Rajputs: Integration of Heterogeneous Nobility**

**Dr. Tarun Pratap Yadav**

Mughals realized that there could be no Indian empire without Rajput participation and no social or political synthesis without their intelligent and active co-operation. The new body politic must consist of Hindus and Muslims, and must contribute to the grandiose plans of the empire. Of course there is no denying the fact that Akbar was an imperialist by nature, but he was a prudent statesman too. He used both conciliation and force to achieve his objective. Probably, he was influenced by the consideration that the alliance with Rajputs would serve as an effective counterpoise to the self seeking Muslim aristocrats.

Rajputs in general secured for Mughals the goodwill of Hindus. Religious toleration was another approach which Mughals (except Aurangzeb) adopted with a view to winning over the Rajputs in particular and Hindus in general. The latter were allowed perfect freedom of worship and religion. Pilgrimage tax and Jaziya were abolished and efforts were made to draw the Hindus and Muslims together, by encouraging inter-marriages. Akbar took interest in their social reforms by discouraging many Hindu rite and customs, such as early marriages and sati, which he did not like. His policy of conciliation and friendship turned the Rajputs from foes to friends. They became firm supporters of the Mughal Empire and within a short time brought almost all Rajputana under the Mughal Rule.

\* \* \* \* \*

## **Social Evils during the British Rule and Contemporary Letters, Journals of Arya Samaj Advocating Feminist Reforms : A Retrospect**

**Dr. Meghna Sharma**

The beginning of journalism in Arya Samaj dates back to a time when public life in India was in its infant stage. The journals of Arya Samaj focused attention of the people of India on various issues related with social, religious, cultural and national aspects, in that wave of awareness and reformation, which was apparent in the later half of the nineteenth century. The Golden Age of the Arya Journalism was that, when journals like Arya Darpan, Bharat Sudasha, Pravartak, Desh Hiteshi, Arya-vinay, Aryavarta, Arya Siddhant, Ved Prakash and Suddharm Pracharak etc. paved way for the multifarious development of nation by reforming the Indian society.

The First Era of Arya Journalism (1875-1900 AD) witnessed publication of Desh Hiteshi from Ajmer, whose publication started in the life time Swami Dayanand himself. Munshi Munnalal Sharma published its first edition in the year 1882. It not only attracted attention towards the problems of child marriage and widow remarriage but also expressed views against child marriage by means of poetry and articles like 'Deshdasha' by Pt. Pratapnarayan Mishra.

Propkarinin Sabha, the successor institution of Swami Dayanand, decided to publish its journal namely Propkari, for the purpose of publishing its tendencies and propagate the activities, which were directly or indirectly related with the progress of the nation, among the masses, Paropkari is being published even today.

The period from 1900 to 1947 is considered to be The Second Era of Arya Journalism. Arya Samaj, Ajmer established Shri Madhyand Orphanage in the year 1895 AD. The institution started publishing its monthly journal 'Anath-Rakshak' from 1903. The ideal sentence of this journal itself seems to indicate towards feminist reforms.

Though Arya Pratinidhi Sabha, Rajasthan was established in

the year 1888, its journal 'Arya-Martand' started getting published from 13 February 1923 i.e. after 35 years of the establishment of Arya Pratinidhi Sabha. Its became the flag-carrier of the religious, cultural and social activities of Arya-Samaj.

The Third Era of Arya-Journalism (1947-1980) witnessed publications of journals and newspapers like Savita, Arya-Parivaar, Arya Premi and Ved-Marg. An Anti Caste Discrimination Arya Parivaar Union was established in the year 1945, under the chairmanship of Pt. Ganga Prasad. It started publishing its quarterly journal 'Antarjatiya Vivah Patrika'. Later it was renamed as 'Arya-Parivaar' which started getting published from June 1950, under the editorship of Acharya Bhadrāsena. in accordance with its objective, of publishing articles, it also gave introduction of young girls and boys who were interested in intercaste marriages.

### **Journals Directly Related with Feminist Reforms:**

Arya Samaj played a historical role in the all round development of women in India. Arya Samaj started working since nineteenth century, for bringing multifaceted awareness among women. Accordingly, many such letters and journals were published whose basic objective was, the progress of women. Smt. Hardevi, the wife of Arya leader Barrister Roshanlal, started publishing 'Bharat-Bhangini' a monthly journal from Prayag which later started getting published from Lahore. Smt. Bhagyawati Kshatriya started publishing 'Banita Hiteshi' in the year 1892 from Ranchi. Smt. Bhagyawati, the editor of this journal was the sister of Thakur Gadadhar Singh, a contemporary writer of Bhartendu Harischandra. In 1913, Swami Raghuvēer Sharan Dublis of Bhaskar Press Merrut published 'Bharat Mahila'. Editor Sunitidevi was a Brahamcharini.

A monthly journal 'Arya Mahila' was published from Kashi in 1918. Many significant letters and journals were also published by academic institution of girls, conducted by the Arya Samaj. Girls' College Jalandhar published 'Panchal Pandita' in 1897 under the editorship of Lala Devaraj. From the same college, a magazine namely 'Bharati' was published under the editorship of Pantid Sanraram in the year 1920. Again in 1922, this college published another monthly journal namely 'Jalvidsakha' (short for of Jalandhar Vidhyalala Sakha). A montly journal namely 'Tyoti' was published in 1920, by Kanya Gurukul, Dehradun Kumari Vidhyapeeth Seth being

the editor. For the purpose of improving the condition of widows, a monthly magazine called 'Vidhwa-Bandhu' was published from Lahore in 1926, by Widow REmarriage Help Society conducted by Sir Gangaram Trust Society. Another magazine namely 'Vidhwa-Hiteshi' was also publihsed from Lahore itself.

We cannot forget taking the names of some other women focused magazines in the history of Arya Journalism. They are-'Arya Vanita' (1902) and 'Mahila Sansar' (1911 AD).

The achievements of Arya Samaj in educational field were praiseworthy. Even Jawahar Lal Nehru who was usually critical of religious bodies, admitted-"The Arya Samaj has done very good work in the spread of education both among boys and girls in improving the condition of women and raising the status and standards of the depressed classes."

The work of the Arya Samaj in spreading education among the women of India is the best example of what Swami Dayanand wished to do to save the Hindu Society from degeneration.

The Educated Arya Folk and their Efforts in Spreading the cause of Social Reform through Letters and Articles:

The Delhi session of Hindu Mahasabha was held on 13th to 15th March 1926 under the chairmanship of Raja Narendra Nath. He, by mentioning 'Yatra Naryastu Poojyante'... of Manu, asked Hindus-"Tel me how can you follow the orders of Manu by forcibly keeping yur daughters and sisters illiterate, in widowhood and under veil (Purdah)." Pandit Madan Mohan Malviya, making a leer on the orthodox said that, "each reformist step which has the possibilities of strengthening Hindu community, is displeasing to the Pandas and Purohits (i.e. Hindu priests). Tell me what is the maresty of Sanatan-Dharma (i.e. the traditional region) in keeping child widows under widowhood and not attempting to let them free off this kind of a sinful life?"

Articles like 'Rishi Dayanand Aur Stri Samaj' and 'Striyon ki Samaj men kya Swantatrata Honi Chahiye?' by PAndit Harish Chandra Sharma, a minister of Arya Samaj Jaipur, also indicated towards the problems of women and the necessity of feminist reforms.

## **Kalibangan and the Indus Valley Civilization: A Visit to the Hoary**

**Vikram Singh Deol**

Kalibangan, an ancient site of the Indus valley civilization is in northern Rajasthan in northwestern India. The site contains both pre-Harappan and Harappan remains, and therein can be seen the transition between the two cultures. Although the pre-Harappan culture worked copper and produced pottery, it had no writing system, and its ruins lack the orderly layout and use of baked brick that is found in the later Harappan sites. The Harappan remains include a cemetery and a fortified citadel. Kalibangan is a town located on the left or southern banks of the Ghaggar (Ghaggar-Hakra River), identified by some scholars with Sarasvati River in Tehsil Pilibangan, between Suratgarh and Hanumangarh in Hanumangarh district, Rajasthan, 205 km. from Bikaner. It is also identified as being established in the triangle of land at the confluence of Drishdvathi and Sarasvati Rivers. Kalibangan is distinguished by its unique fire altars and "world's earliest attested ploughed field".

The excavation unexpectedly brought to light a two-fold sequence of cultures, of which the upper one (Kalibangan I) belongs to the Harappan, showing the characteristic grid layout of a metropolis and the lower one (Kalibangan II) was formerly called pre-Harappan but now it is called "Early Harappan or antecedent Harappan". Other nearby sites belonging to IVC include Balu, Haryana, Kunal, Haryana, Banawali etc. Traces of pre-Harappan culture have been found only at the lower levels of the western mound. According to archaeological evidence, the Indus Valley culture existed at the site from the proto-Harappan age (3500 BC - 25 BC) to the Harappan age (2500 BC - 1550 BC). This earlier phase is labelled Kalibangan-I (KLB-I) or Period-I. Similarly of pottery relates Kalibangan-I with the Sothi culture because this type of pottery was first discovered at Sothi village in North Western India.

The most distinctive feature of KLB-II or Harappan phase was settlement in two parts, one citadel and another lower town, as in other Harappan towns, which was absent in KLB-I. At Kalibangan, fire Vedic altars have been discovered, similar to those found at Lothal which S.R. Rao thinks could have served no other

purpose than a ritualistic one. B.B. Lal wrote: "Well-regulated streets (were) oriented almost invariably along with the cardinal directions, thus forming a grid-iron pattern. (At Kalibangan) even the widths of these streets were in a set ratio, i.e. if the narrowest lane was one unit in width, the other streets were twice, thrice and so on. (...) Such a town-planning was unknown in contemporary West Asia. Like town planning, housing also followed the common pattern of other Harappan cities. Due to grid-pattern of town planning like a chess board, all houses opened out to at least two or three roads or lanes. Each house had a courtyard and 6-7 rooms on three sides, with a well in some houses. One house had stairs for going to the roof. Houses were built of 30 x 15 x 7.5 cm mud bricks (same as those used in second structural phase of fort wall). Burnt bricks were used in drains, wells, bathing platforms and door-sills, besides fire-altar. Floors of rooms were built of thrashed fine mud, sometimes laid with mud bricks or terracotta cakes. One house had floors built of burnt tiles decorated with geometrical designs.

Some early Kalibangan pottery has close resemblance to the pottery of the Hakra were in Cholistan, to other Early Harappan pottery from the Indus Valley Civilization and to the pottery of the Integration Era.

A number of seals have been found dating to this phase. Most noteworthy is a cylindrical seal, depicting a female figure between two male figures, fighting or threatening with spears. There is also a mixed person bull observing.

\* \* \* \* \*

### **Thus Speaketh the Stones : Philosophical Underpinnings of Buddhist Architecture in Rajasthan**

**Dr. Neekee Chaturvedi**

Rajasthan has yielded specimens of Buddhist architecture of various hues and shades indicating also multiple untapped latent possibilities. The initial argument for the case of Rajasthan as a Buddhist centre emanates from the clear evidence of Asokan influence over the region from Bairat. The rise of Buddhism is more or less placed in the sixth century B.C. The royal patronage extended

by the Mauryan kings greatly facilitated its spread. The Mauryan period is also an important watermark for the history of Indian art as the earliest material remains of art that have been yielded belong to this period. The underlying reason for this though lies in the extensive use of a more durable medium like stone.

Rajasthan has been an important centre of cultural heritage. Some of the prominent Buddhist sites shall be surveyed with a view to search for pointers towards the development of Buddhism in the region. Two of these sites Bairat and Kholvi have yielded prominent Buddhist structures and are indispensable for understanding presence of Buddhism in Rajasthan.

Bairat is a famous site and is well acknowledged within academic disciplines as well. Kholvi is an outstanding site with a large number of cave complexes in and around itself yet its full significance does not seem to have been recognized. The third site is Bhandarej which can only be assumed to have been a great Buddhist centre as the Buddhist relics are scanty. There are similar scattered remains found from here and there in Rajasthan and a few sporadic literary references. An effort has been made to examine the potential of such data.

Bairat is located to the north of Jaipur. It is 52 miles from Jaipur, on the Jaipur-Delhi route. This place was first visited by Cunningham and later by Carlleyle, Bhandarkar and Dayaram Sahni. The significant structures at the site include a circular temple, monastery and numerous remnants of Asokan pillars. The circular temple is on a lower platform and has a circumambulatory path. It is made of fire-baked bricks and believed to be contemporaneous with Asokan Pillars. Dayaram Sahni has regarded it as the oldest structural temple and one of those which furnished models for the numerous rock-cut temples of Western and Eastern India. The monastery is considered to be very elaborate accompanied with cells being large enough to accommodate just a single monk or nun, is situated on the upper platform. Many portable antiquities like pottery jars, lamp etc. have also been recovered, which could have been used by the monastic inhabitants.

Before Rajasthan emerged as a major tourist attraction, centuries ago some of its parts provided refuge to Buddhist monks in search of eternal peace. The sole witnesses of their presence

are in some archaeological sites in Jhalawar. The archaeological finds from this region do not find corroboration in any literary source yet the impact of Buddhism can be deeply felt in this region. The three Buddhist cave-complexes point towards a large extension.

The evidence garnered from Kholvi is very important. They were first visited and reported by Dr. Impey (1854) and later by Cunningham (1972). Around 50 caves have been found here. Many lively statues contained in them bring to life the existence of Buddhism and the practice of Buddhism as if they are projecting the past for the present. A stone chaitya has also been found from Kholvi. These are relatively later finds from Rajasthan. The rock-cut shrine of Kholvi is one of its kind in Rajasthan. According to Cunningham "...another equally striking peculiarity about these topes is the possession of an excavated chamber for the reception of a statue.

These chambers are invariably pierced to the centre of the tope, so that the enshrined statues of Buddha occupy the very same position in these modern chaityas, which the relics of Buddha filled in the ancient stupas as Asoka. They are, in fact, no longer stupas, but real temples, which differ only in their form from the common structural shrines of the Buddhists.

Bhandarej is situated 65 kilometers from Jaipur and 12 kilometers from Dausa district headquarters. Bhandarej is situated on a 50 feet higher mound in comparison to its nearby areas. Many scattered evidences of Buddhism have been discovered from Rajasthan and Bhandarej is one of them. Some relics of railing of a vedika belonging to a stupa were discovered from the north of the Bhandan Mata temple. Presence of the ruins of a vedika makes Bhandarej the third stupa site of Jaipur region. Apart from this Aghapur and Lalsot are other important places in the Jaipur region, which have produced the relics of Buddhist stupa. Bhandarej could have emerged as a major Buddhist site but due to habitation and delayed and insufficient efforts (too little too late), have nullified that possibility and certainly several invaluable evidences have been lost irretrievably.

\* \* \* \* \*

## प्राचीन राजवंश, सूर्यवंश के पौराणिक संदर्भ (वंशावलियों के संदर्भ से)

डॉ. सूरजमल राव

भारतीय इतिहास में राजवंशों का विशेष महत्व रहा है। ऋग्वेद कालीन सभा एवं समितियों से उत्तरोत्तर राज्य का स्वरूप निर्धारण होने लगता है, जहां राजवंश वर्ण व्यवस्था में राज्य का अधिकार पूर्ण कर्तव्य प्राप्त करते हैं। पुराणाशास्त्र इन राजवंशों के उद्भव एवं कालान्तर में होने वाले संवर्द्धन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, इसलिए पुराणाशास्त्र 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुद्बुधयेत्' इतिहास जानने हेतु पुराणाशास्त्र वेदों को भी समझने का सहायक उपक्रम माना गया है। वंश मन्वन्तर एवं वंशानुचरित में पुराणाचार्यों ने भारत में शासक रही जातियां और उनके वंशों का वर्णन और यशोगान इस संदर्भ में हुआ है कि उन्होंने इस भूमण्डल के कल्याणार्थ सद्कार्य कर संस्कृति के क्षरण को अवरुद्ध किया था। वेदकालीन साहित्य एवं समाज के अध्ययन से यह तथ्य उजागर होते हैं कि वैवस्वत मनु परम्परानुसार राजवंशों की 95 पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है। इन राजवंशों की 36 पीढ़ियां समाप्त होने पर वैदिक मन्त्रों का निर्माण एवं संकलन प्रारम्भ हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में अनेक राजवंशों ने भारतखण्ड पर शासन किया था।

भारत के प्राचीन राजवंशों के संदर्भ में वंश पुराण परम्परा में व्यापकता से प्रमाण मिलते हैं, क्योंकि सृष्टि सृजन की प्रक्रिया पुराणगत विषय माना गया है और अन्य पुराणों के सदृश्य ब्रह्म पुराण में भगवान विष्णु की वंश परम्परा और वंशावली प्राप्त होती है। पुराणों की विषयवस्तु और उसकी प्रकृति के अनुसार प्रथम राजस, तामस और सात्त्विक पुराण में बांटा वही दूसरा विभाजन वर्ण्य विषय की दृष्टि से किया गया है और कुछ में साहित्यिक सामग्री भी उपलब्ध होती है। किन्हीं पुराण में साम्प्रदायिक विषयों की अधिक चर्चा होती है तो किन्हीं में तीर्थ और व्रत। वर्ण्य विषय की आलोचनात्मक अध्ययनोपरान्त आधुनिक पुराणों को छः खण्डों में विभाजित किया है। जिसमें चतुर्थ वर्ग में उन पुराणों को रखा जिसमें कलियुग के राजाओं का वर्णन इतिहास की दृष्टि से विशेष रूप से किया गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक पुराणों की गणना में ब्रह्माण्डपुराण एवं वायु पुराण को रखा गया है।

प्राचीन भारत में प्रमुख राजवंशों के पौराणिक संदर्भ जानने के साथ उस समाज व्यवस्था को भी जानना अति आवश्यक है जहां वर्ण व्यवस्था का स्वरूप स्थापित था, जातीय व्यवस्था को जो कठोर स्वरूप बाद में विकसित हुआ प्राचीन काल में वैसा नहीं था जैसा कि कहा गया है। जिन ऋषियों ने वेदों की ऋचाओं की रचना की थी, इन प्रवर ऋषियों में से कई क्षत्रिय सम्राट भी थे। जैसे मान्धाता, अम्बरीश, युवनाश्व, त्रसदस्यु, पुरूकुत्स आदि सूर्यवंशी सम्राट सुनाकमत्र ओर अजामिध आदि चन्द्रवंशीय सम्राट।

प्रवराध्याम से यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक काल में बहुत से क्षत्रिय ब्राह्मण हो गये, क्योंकि उस युग में जाति प्रथा के बन्धन इतने कठोर नहीं थे। पुरूकुत्स भी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, परन्तु बाद में ब्राह्मण होकर अंगीरस समुदाय में जा मिले, मुद्गल चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे, किन्तु अब उनके वंशज ब्राह्मण हो गये। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में मनु आदि पुरुष माने गये यही सृष्टि का वह आदि पुरुष से जिससे सभी मनुष्य जाति का उद्भव हुआ, पुराण वाङ्मय में इसे विरात या विराज कहा गया है।

ब्रह्माण्ड पुराण में इस वंश का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मा द्वारा रूद्र, धर्म, मनस्, रूचि तथा आकृति नामक पांच कर्ताओं की रचना की गई और इसके साथ भृगु का आख्यान आता है, यहां ब्रह्मा का शरीर विभाजन एवं शतरूपा का उद्भव करने के वृत्तान्त प्राप्त होता है। यह वही शतरूपा है, जिसके कठोर तपश्चर्या के प्रतिफलन 'स्वाम्भूव मनु' उसे पति रूप में प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही प्रियव्रत तथा उत्थापपाद पुत्र तथा आकृति तथा प्रसूति कन्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। आकृति ने यम और दक्षिणा को जन्म दिया, ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि यह यज्ञ ही यम था, जिसने मनुष्य लोक में देवों के मध्य याम नाम से जाना गया, इसी प्रकार दक्ष और प्रजापति से इस वंश में चौबीस कन्या का जन्म होता है, कालान्तर में प्रथम मनु, स्वरोचित मनु, उत्तम मनु, तामस मनु, रैवत पंचम मनु, चक्षुष मनु, वैवस्वत मनु का जन्म होता है जो सूर्यवंश का आदि पुरुष माना जाता है और ब्रह्माण्ड पुराण में इसके नौ पुत्रों का वर्णन आता है। विष्णु पुराण में इसी सूर्य के प्रपौत्र रूप में इक्ष्वाकु को माना गया है। जिससे अयोध्या एवं मिथिला के राजवंशों का प्रारम्भ माना गया है।

अयोध्या के इक्ष्वाकु राजवंश में राजा विकुक्षि (शशाद) से लेकर (92) बौराणवें शासक वृहद्वल का वर्णन आता है, जिसमें इक्सठवें (61) शासक के रूप में पुरुषोत्तम राम का नाम आता है। इसी के समानान्तर मिथिला के सूर्यवंश की वंशावली चलती है, जिसमें प्रथम शासक निमि से लेकर चौपनवें शासक कृति का उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में मनुपुत्र इक्ष्वाकु को सौ पुत्रों वाला बताया गया है, उन सौ पुत्रों में विकुक्षि निमि तथा दण्ड नामक तीन पुत्र श्रेष्ठ माने गये हैं। राजवंशों के पौराणिक संदर्भों को लेकर विदेशी विद्यवान श्री एफ.ई. पार्जीटर ने महत्वपूर्ण कार्य किया, उन्होंने अपने ग्रंथ में मनु पुत्रों के सात नाम इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति नरिष्यंत, प्राशु नाभागोदिष्ट, कुरुष, वृषध्र दिये। जिसका आधार ब्रह्माण्डपुराण के अतिरिक्त विष्णु एवं वायु पुराण में इन के नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। सूर्यवंश के अन्य राजाओं में हरिशचन्द्र रोहित, हरित का वर्णन प्राप्त होता है, कालान्तर में इक्ष्वाकु पुत्र वशिष्ठ से शापित होने के कारण तथा विदेह का अरणी के तीनपर्वी मंथन से मिथि का जन्म होता है, इस प्रकार जन्म होने के कारण जनक नाम प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में उदावसू प्रथम शासक से लेकर कृतिनाम राजा तक की वंशावली प्राप्त होती है, इसके पश्चात् वृषध, राजा का वर्णन प्राप्त होता है जो सूर्यवंशी था, च्वन ऋषि की गौ हत्या करने के कारण

इसने शुद्रत्व को धारण किया। साथ ही करुष से सूर्यवंश का विस्तार भी होता है, ब्रह्माण्ड पुराण में करुष के पुत्रों को कारुष कहा गया है। जो संग्राम में अजय रहते थे, उनकी वीरता का वर्णन प्राप्त होता है। करुषश्च तु कारुषाः क्षत्रिया युद्ध दुर्दमन मनुपुत्र नाभोदिष्ट की वंशावली में नाभोदिष्ट से लेकर प्रभति तक सत्ताईस राजाओं का उल्लेख मिलता है। जनमेजय नामक राजा का नामोल्लेख इसी कुल में प्राप्त होता है। एक अन्य पुत्र शर्याति का वर्णन भी प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में इनके एक पुत्र आनर्त तथा एक पुत्री सुकन्या तथा कुशस्थली राजधानी का वर्णन प्राप्त होता है।

भारत के प्राचीन राजवंशों में सूर्यवंश का विशेष महत्व रहा है, सृष्टि सृजन प्रक्रिया ब्रह्मा से लेकर मनु और विस्वान मनु सूर्य वंश का आदि पुरुष है, पुराणों में इसके सात और अन्य संदर्भों में नौ पुत्र माने गये, आधुनिक इतिहासकार इनकी संख्या दस बतलाते हैं। पौराणिक वंशावलियां भाटों वंश परम्परा की आदि स्रोत है। यहां विविध पुराणों में लेकर वंशों का एक पक्षिय विवरण प्राप्त है। पर फिर भी इनकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। सूर्यवंश हमारी वंश परम्परा का आधार माना गया है। यह राजा इक्ष्वाकु से प्रारम्भ होता है, जो वैवस्तु मनु के बड़े पुत्र थे। आधुनिक इतिहासकार इसका प्रारम्भ मनु से करते हैं और ब्रह्माण्ड पुराण में राजा वृद्धबल से आगे 29 राजाओं का और उल्लेख करते हैं, जिसमें अन्तिम शासक सुमित्र का उल्लेख आता है। आधुनिक इतिहासकार सूर्यवंश से निसृत इक्कीस राजवंशों का उल्लेख करते हैं जिसमें सूर्यवंश, निमिबंध, निकुम्भवंश, गोहिलवंश, गहलोटवंश, राठौड़वंश, गौतमवंश, मौर्यवंश, परमारवंश, चावड़वंश, डोडवंश, कुशवाहवंश, परिहारवंश, बड़गुजरवंश, सिरकारवंश, गौडवंश, चौहानवंश, बैसवंश, दाहिमावंश, दाहियावंश एवं दीक्षितवंश इन वंशों के आदिपुरुष, गौत्र, प्रवर में भिन्नता है, इतिहासकारों में मतैक्य का भी पूर्ण अभाव है, पर यहां पौराणिक संदर्भों के साथ सूर्यवंश और उनके पूर्ववर्ती वंशजों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

\* \* \* \* \*

## आमेर नरेश सवाई जयसिंह के समय की वकील रिपोर्ट

डॉ. इन्दु आसोपा

वकीर अरबी भाषा का शब्द है तथा मध्यकालीन समयकालीन शासक के प्रतिनिधि के रूप में मुगलशाही दरबार तथा अन्य राज्यों के राजदरबार में नियुक्त होता था। इन वकील रिपोर्टों में वकील का नाम रिपोर्ट के प्रारम्भ में तथा रिपोर्ट के पीछे लिखा हुआ मिलता है। लिखने वाले वकील का नाम व मोहर रिपोर्ट के लिफाफे व इसकी पट्टी पर भी लाख की सील के साथ लिखा पाया जाता था। रिपोर्ट की तारीख रिपोर्ट के अन्त में दी जाती थी।

दरबार की कार्यवाही अखबार नवीस, वाक्या नवास एवं स्या नवीस द्वारा लिखी जाती थी, वकील इस कार्यवाही को सीधे अपने मालिक को आवश्यकतानुसार बगैर किसी प्रकार की कांट छंट कर लिख कर भेजते थे, इनके द्वारा लिखी गई ये रिपोर्ट वकील रिपोर्ट कहलाती थी। अधिकांश वकील पद पर कायस्थ परिवार के सदस्य चुने जाते थे। वकील रिपोर्ट क्रमांक 139, 119 जो कि 6 जनवरी 1712 व 20 मार्च 1712 की है उनमें देवली साचोली परगना सवाई जयसिंह को तनख्वाह में दिया गया। इसी प्रकार 6 व 7 जनवरी 1712 ई. की भी कई परगने महाराजा राजा सवाई जयसिंह को दिए गए तथा उनके लिए शीघ्र ही परवाना जारी कर दिए जाने की संभावना का उल्लेख भी मिलता है।

वकील रिपोर्ट क्रमांक 139, 119 जो कि 6 जनवरी 1712 व 20 मार्च 1712 की है उनमें देवली साचोली परगना सवाई जयसिंह को तनख्वाह में दिया गया। इसी प्रकार 6 व 7 जनवरी 1712 ई. को भी कई परगने महाराजा राजा सवाईसिंह को दिए गए तथा उनके लिए शीघ्र ही परवाना जारी कर दिए जाने की संभावना का उल्लेख भी मिलता है। पत्र संख्या 139 में पंचौली जगजीवन दास ने महाराजा जयसिंह को सूचना देते हुए लिखा है कि उत्तराधिकार युद्ध में जहांशाह और रफीउसशाह मारे गये और जहां बादशाह विजयी हो गए गद्दी पर बैठा तथा वह (वकील) नवाब के माध्यम से बादशाह से मिलने गया तथा महाराज के लिए मिर्जाराजा की उपाधि तथा सात हजारी मनसब स्वीकृत किये जाने का निवेदन किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नया बादशाह नये सिरे से उपाधि और मनसब दिया करता था ऐसी तत्कालीन प्रथा थी।

वकीन रिपोर्ट क्रमांक 103 में महाराज अजीतसिंह को सोरठ की फौजदारी स्वीकृत की गई है। महाराजा जयसिंह को अहमदाबाद खोरा की फौजदारी स्वीकृत की गई है। महाराजा व उनके बेटे को दिए जाने वाले इजाफा से सम्बन्धित आदेश प्रतीक्षारत है। बिरादरी की तलब के संबंध में हिदायतुल्ला को इन पर निवेदन करने का आदेश दिया गया है और परगना पावत और परगना मौजाबाद जो महाराजा अजीतसिंह व जयसिंह के पास थे दबाव के चिन्हित किए गए हैं। इसी प्रकार अहमदाबाद गुहार का परगना महाराज सवाई जयसिंह को व सोरठ का परगना राजा अजीतसिंह को भी प्रदान किया गया। इसी प्रकार राजाओं को सेना रखने की तथा उनकी तनख्वाह देने के लिए भी परगने देने का प्रावधान हुआ करता था। 3 जनवरी 1712 की वकीन रिपोर्ट में बनेड़ा व उन्नियारा के परगने महाराजा सवाई जयसिंह को सेना की तनख्वाह में प्रदान किए गए थे। जिसकी सूचना वकील महोदय ने महाराजा को देते हुए बधाई भी दी है।

आज के राजस्थान के सेवा अधिनियम कहते हैं कि अवकाश को अधिकार नहीं समझा जा सकता। किसी भी कर्मचारी को सरकार कृपा करके अवकाश स्वीकार करती है। ऐसा ही व्यवहार हमें वकील रिपोर्ट क्रमांक 84 में जो केशवराव द्वारा महाराजा सवाई जयसिंह को लिखी गई है, में बाई साहिबा के विवाह पर महाराजा साहब तथा राव



बुधसिंह द्वारा छुट्टी के लिए जो अर्जदास्त बादशाह को भेजी गई है उसके मन्जूर होने की कम संभावनाएं हैं फिर भी लेखक उन दोनों की छुट्टियों के स्वीकृत होने के लिए अपना प्रयास जारी रखने तथा अपनी ओर से कोई कोर कसर नहीं आने देना, ऐसा उल्लेख करता है। आज की तरह उस समय में जासूस व गुप्तचर विभाग हुआ करते थे और जासूसों व गुप्तचरों को केद कर लिया जाता था। तथा उनकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली जाती थी। जहांदारशाह के लिए जासूसी करने वाले हकीब सलीम को भी जासूसी के लिए केद में डाल दिया गया था। और उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया था। ये उल्लेख पत्र 150 व 151 में आता है। पत्र संख्या 185 व 6 में उल्लेख आया है कि इस सप्ताह में कोई अर्जदास्त नहीं पहुंची तथा वकील ने लिखा है बराबर डाक भेजता रहा है। और उसको (डाक) अपनी ओर से मिरधा को सौंप देता है। डाक क्यों नहीं पहुंचती, इसके बारे में मिरधा से ताकीद की जाएगी। यहां डाक के संबंध में मिरधा से क्यों ताकीद की जाएगी, इसका कोई पता नहीं चलता है। पर मिरधा शब्द जो है वह उस समय की डाक व्यवस्था पर प्रकाश डालने और शोध करने के लिए काफी है। इसके बारे में अन्वेषण करने पर पता लगता है कि 2 रिपोर्ट मजमूई हालात व इन्तिजाम राज मारवाड़ सन् 1883-84 ई. के पृष्ठ 607 के अनुसार बादशाही वक्त में डाक चौकी मुकरर हुई और घोड़ों पर डाक आया जाया करती थी। ये घोड़े अक्सर जागीरदारों के होते थे। मुगलों के वक्त में डाक चौकी करीब 10 कोस के फासले से होती थी। उस चौकी पर जो सरकारी ओहदेदार डाक का रहता था वह मिरधा कहलाता था। उसी से मारवाड़ में मिरधा शब्द पैदा हुआ है। जो राजकीय डाक के दारोगा या कासीदों के अफसर के वासते बोला जाता है। मिरधा अमूमन कौम जाट के होते थे और बहुत से कासीद अपने साथ रखते थे। ये लोग दूर-दूर तक डाक ले जाया करते थे। लाहौर से बीकानेर होकर डाक 6 दिन में तथा दिल्ली होकर 8 दिन में जोधपुर पहुंचती थी। यह डाक मिरधों के कारण मिरधा डाक कहलाती थी तथा जगह-जगह इसका मिरधा डाक कहलाने लगी।

तत्कालीन व्यापार और पैसों का लेन देन अधिकांशतः हुंडियां द्वारा हुआ करता था। इस प्रकार की हुंडियां जारी होने, पहुंचने एवं मंगवाने के उल्लेख जगह-जगह पर वकील रिपोर्ट में प्राप्त होते हैं। 40,000 रु. की एक हुंडी सवाई जयसिंह द्वारा तत्कालीन वकील पंचोली जगजीवनदास को भेजी गई थी। जिसका पहुंचा जाना उसने स्वीकृत किया है। 5 जनवरी 1712 के पत्र में परगने की प्राप्ति के लिए 25,000 रु. की हुंडी शीघ्र भिजवाने जाने का उल्लेख आया है। सेना रखने, सवार बढ़ाने और सशर्त सवारों के वेतन के लिए अनुदान मिला करता था। 80 लाख और 1 करोड़ 44 लाख का जिक्र 5 फरवरी 1712 के पत्र में आया है। सम्राट लोग आनन्द मनाने के लिए जीवन के दुखों व झंझटों से कुछ दिन दूर रहने के लिए कश्मीर में जाया करते थे। ऐसा उल्लेख पंचोली जगजीवनदास ने अपने पत्र दिनांक 21 जनवरी 1712 में किया है।

\*\*\*\*\*

## राजस्थान में नाथ योगियों का प्रभाव

डॉ. रमाकान्त मिश्र

राजमहल से लेकर जन सामान्य में नाथ योग समान रूप से लोकप्रिय रहा, विशेषकर राजस्थान में नाथ योगियों का विशेष प्रभाव रहा है तथा उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक चेतना को भी प्रभावित किया। नाथ साहित्य भारत की सभी भाषाओं में मिलता है। रमते जोगियों की बानी हर समाज के लोगों की जीभ पर आज भी उतनी ही प्रगाढ़ श्रद्धा तथा विश्वास के साथ है, जो पूर्व में थी। यह मिश्रित भाषा शैली मध्यकाल की काव्य भाषा बन चुकी थी।

योगियों का विश्वास साधना मार्ग तथा अनुभवजन्य ज्ञान पर ज्यादा था। नाथ साहित्य में साधानापरक साहित्य अधिक मिलता है। नाथ योगियों की साधना आज विश्व भर में हठ साधना के रूप में लोकप्रिय है। हठ साधना का आधार शरीर क्रिया व जैव रासायनिक क्रिया में है। केवल ज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं है। जब तक पिण्ड (शरीर) शुद्ध तथा निरोग न हो। देह सिद्ध (शुद्ध पिण्ड) के बिना आत्म स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता। अभ्यास करने से ही सफलता प्राप्त होती है। बिना अभ्यास से कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। इस मूल मंत्र का प्रचार योगियों ने किया। योगियों ने शरीर के महत्व को स्वीकार किया। राजस्थान में नाथ योगियों का उल्लेख 8वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी पर्यन्त मिलता है। नाथ सम्प्रदाय विशेषकर 'शैव' है। राजस्थानी भाषा में भी योग ग्रन्थ लिखे गये। अभी इन पर शोधकार्य होना शेष है। तभी नाथ साहित्य का पूर्ण रूप सामने आयेगा।

राजस्थान के राजपरिवारों ने भी नाथ योगियों के प्रति प्रगाढ़ विश्वास तथा समर्पण भाव रखा तथा अनेक आसनों (मठों) की स्थापना करवायी। इनका विवरण राजपरिवार के शिलालेखों, बही आदि से पता चलता है। मेवाड़ में एकलिंग मंदिर के महन्त तथा गुरु पद पर भी नाथ योगी ही रहा करते थे। गांव-गांव में नाथ आसन (मठ) स्थापित कर हठ साधना का प्रचार करते थे, जो धीरे-धीरे जन सामान्य को भी प्रभावित करने लगे। यही प्रभाव राजस्थान के लगभग सभी राजपरिवारों का रहा। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने नाथ सम्प्रदाय एवं साधना को सर्वाधिक सम्मान तथा महत्व दिया, अपना सम्पूर्ण जीवन नाथ परम्परा को समर्पित कर, जोधपुर को नाथ योगियों का प्रमुख स्थान बना दिया था। नाथ साहित्य को एकत्रित कर पुनः लिखवाकर, संरक्षित करने के लिए पुस्तक प्रकाश की स्थापना जोधपुर किले में की जो बाद में मानसिंह पुस्तक प्रकाश कहलाया। हठयोग तथा नाथ सम्प्रदाय साहित्य की अनुपम तथा शोध कार्य के लिए प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार अलवर जिले में जन्मे स्वामी चरणदास की यौगिक साधना के चमत्कार एवं भविष्यवाणी मुगलकाल में काफी चर्चित थी। उनकी लिखित पुस्तक 'अष्टांगयोग' जो

हिन्दी, राजस्थानी, ब्रज भाषा मिश्रित साधुकड़ी भाषा में है। जो साधना, प्रभाव तथा जन सामान्य की भाषा शैली है। इसी प्रकार जालौर का सम्बन्ध जालन्धरनाथ, अलवर का भर्तृहरि ने साधना स्थली बनाया था। रामदेवरा भी नाथ साधना से प्रभावित रहा था। नाथ साधना से प्रभाव हिन्दू, बौद्ध, जैन सहित मुस्लिम भी प्रभावित रहे हैं। कह सकते हैं धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक समरसता तथा सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष ही नाथ सम्प्रदाय एवं योगियों का कार्य रहा है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में योगियों एवं योग साधना का वर्णन किया है।

\*\*\*\*\*

## पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में सिंचाई व्यवस्था : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. राकेश कुमार यादव

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान की ऐतिहासिक जानकारी की सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसमें साहित्य, सिक्के, शिल्पांकन, शिलालेख एवं दानपत्रों का उल्लेख किया जा सकता है। साहित्यिक कृतियों में प्रसंगवश राजाओं के वर्णन मिलते हैं जिनमें प्रधानतया व्यक्ति विशेष को दी गई है। शिलालेखों के लेखन में भी आश्रित कवियों ने इतिहास को गौण बनाकर काव्य को प्रधान विषय चुना है इन प्रमुख स्रोतों में राजस्थान का इतिहास विविध रियासतों तथा उनके शासकों को केन्द्रित कर प्रस्तुत किया गया है। विडम्बना यह है कि इन सभी स्रोतों में सिंचाई व्यवस्था के विषय में समुचित जानकारी का अभाव है। इतिहास के मूल स्रोतों में यत्र-तत्र कई ऐसे ऐतिहासिक तथ्य छिपे पड़े हैं, जिनकी सहायता से सिंचाई व्यवस्था का एक आरेख खींचा जा सकता है।

वापी, कूप एवं अरहट के साक्ष्य मिलते हैं। वापी निर्माण के साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि इनमें सामाजिक-धार्मिक भावना का ही अधिक महत्व रहा होगा, किन्तु इसके सिंचाई के रूप में गौण महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। मौर्यकाल में ही अर्थशास्त्र से कंधों से सिंचाई का उल्लेख मिलता है। वापी में सीढ़ियां होती हैं, जिनकी सहायता से पानी को सतह तक पहुंचाया जा सकता है, जो सिंचाई के उपर्युक्त स्वरूप के प्रबल प्रमाण है। अभिलेखों से एवं शिल्पांकन से प्राप्त अरहट के साक्ष्यों से पक्के कुओं के निर्माण की पुष्टि होती है। अरहट पानी निकालने वाले पहिए या यंत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। अरघट्ट के पहिए पर बाल्टियां चक्रिय क्रम में लगी होती हैं जिनकी सहायता से पानी निकाला जाता है। दानपत्रों में एवं भूमि की सीमा निश्चित करने में अरहट के उल्लेख से प्रदर्शित होता है कि इसका मूल्य अधिक होता था तथा यह साधारण कृषक की पहुंच से बाहर था। इसके स्वामी बहुधा सामन्त, मंत्री, सेठ-साहूकार

और राजा ही होते थे। अरहट को स्थापित करने के लिए पक्के कुओं की आवश्यकता होती है। अतः कूप निर्माण की इससे पुष्टि होती है। धार्मिक-सामाजिक उद्देश्य होने के बावजूद भी यह सिंचाई की एक प्रमुख तकनीक है तथा इससे अरहट के महत्व की भी पुष्टि होती है।

\*\*\*\*\*

## ज्योतिष और तंत्रकला का भारतीय कला इतिहास में योगदान एवं महत्व

डॉ. सविता शर्मा

कला और तंत्र के अन्तःसम्बन्ध की दृष्टि से कमल का प्रतीक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तंत्र में यह प्रतीक शक्ति सिद्धान्त का सूचक है। सारनाथ का अशोक स्तम्भ इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है। इस विलक्षण स्तम्भ में भारत के सांस्कृतिक प्रतीकों की आकृतियां स्पष्ट रूप से परिलक्षित हैं। सारनाथ स्तम्भ के दण्ड भाग पर अश्व, सिंह, गज और वृषभ आकृतियां उत्कीर्ण हैं। भारत का राष्ट्रीय चिह्न बना यह शिल्प भारतीय कला के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ है। प्राचीन भारतीय स्थापत्य विशेषतः मंदिरों के निर्माण में ज्योतिष के अंग वास्तुशास्त्र का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। मंदिरों के निर्माण के समय उसके सभी अंग वास्तु पुरुष के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। वास्तु पुरुष ईश्वर या सर्वोच्च शक्ति है जो ब्रह्माण्ड स्वरूप है। ऐलोरा का कैलाश मंदिर भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। ताजमहल की योजना भी हिन्दू मंदिरों की पंचरत्न योजना पर आधारित है। इसके अतिरिक्त इसके निर्माण में कमल, धतूरे, नारियल, त्रिशूल आदि अनेक भारतीय मांगलिक प्रतीक चिह्नों का प्रयोग किया गया है। कोणार्क का सूर्य मंदिर, सांची स्तूप आदि स्थापत्य और वास्तु के सुन्दर समन्वय और सामंजस्य का परिणाम है। भारतीय वास्तुकला के समानान्तर ही भारतीय मूर्ति कला में भी तंत्र का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। विशेषतः शैव तथा शाक्त धर्मों से सम्बद्ध मूर्तिशिल्पों में क्योंकि दोनों ही धर्मों का उद्गम कामोपासना से हुआ है। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा आदि स्थानों की खुदाई से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं वे तंत्र की प्रतीक हैं। भारत के विभिन्न भागों में नवग्रह के अनेक समूह हैं, जिनमें ग्रहों की पुराणों में निर्दिष्ट आकृतियों के अनुरूप रूपाकार सृजित किए गए हैं। तांत्रिक रूपाकार पहाड़ी शैली के चित्रों का भी प्रमुख विषय रहे हैं। ये तांत्रिक रूपाकार हमारी प्राचीन उपलब्धि है जिन्हें आधुनिक भारतीय चित्रकारों ने पुनराविष्कार कर सृजन के नए आयाम विकसित किये।

तांत्रिक कला में प्रयुक्त वर्ग, वृत्त, आयत आदि विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों का मनोवैज्ञानिक आधार है। ये आधार प्राचीन यंत्र तथा आधुनिक कला दोनों में प्रयुक्त हुए

हैं। वास्तुशिल्पीय संरचनाओं में तो ये मुख्य आधार हैं, इनके बिना किसी सुनियोजित वास्तु शिल्प की कल्पना संभव नहीं है। ये आकार सार्वभौमिक हैं तथा हमारे अवचेतन मन के तांत्रिक आविष्कार भी हैं तभी पूरे विश्व की कला में किसी न किसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कला में इन आकारों के प्रयोग के पीछे केवल मात्र यह कारण नहीं है कि ये आकार रहस्य अथवा कौतुहल जगाते हैं बल्कि इसलिए भी है कि ये विराट की व्याख्या हैं।

भारत के अनेक चित्रकारों जिनमें रज़ा, बीरेन दे, पी.टी. रेड्डी, स्वामीनाथन, जी.आर. संतोष, के.सी.एस. पन्निकर, एस.बी. पलसीकर आदि चित्रकारों ने इन तांत्रिक रूपाकारों को अपनी कला में शामिल किया है। इन चित्रकारों ने अपनी कला में तंत्र के प्रयोग द्वारा न केवल कला में भारतीयता की पहचान को बनाए रखा अपितु भारत के समृद्ध सांस्कृतिक प्रतीकों को चित्रकला की नई भाषा और नए मुहावरों से समझने की चेष्टा भी की जिससे तंत्र व कला दोनों समृद्ध हुए।

रज़ा के चित्रों में वर्तुल और बिन्दु प्रेक्षक को भारतीय धर्म दर्शन और संस्कृति की गहराइयों तक ले जाते हैं। आज रज़ा की कला वैश्विक स्तर पर महत्वपूर्ण है तो उनके बिन्दु कुण्डलिनी और तमशून्य जैसे अनूठे चित्रों के कारण, जिनमें तांत्रिक रूपाकार चित्रों का केन्द्रीय आधार है।

तांत्रिक रूपाकारों के कला में प्रयोग से तंत्र व कला दोनों का सौन्दर्यात्मक रूप निखरा है। इन चित्रों से भले ही तंत्र साधना में कोई सहायता न मिली हो, किन्तु भारतीय कला साधना और कला के विकास में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। निःसन्देह इससे हमारे आध्यात्मिक बोध की अभिव्यक्ति को भी सशक्त आधार मिला है, क्योंकि इन चित्रों में भारतीय तंत्र व ज्योतिष के साथ-साथ भारतीय धर्म दर्शन और संस्कृति की गौरवपूर्ण झांकी भी देखी जा सकती है। ज्योतिष और तंत्र कला का भारतीय कला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण योगदान यह भी है कि ज्योतिष व तंत्र ने पश्चिम की आंधी के बीच भारतीयता का परचम फहराए रखा है। वस्तुतः ज्योतिष व तंत्र भारत के सांस्कृतिक प्रतीक हैं, जो भारतीय संस्कृति का भी अविभाज्य अंग है, अतः यह कहा जाना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि आजादी के बाद के अनेक चित्रकारों ने अपनी कला में तांत्रिक रूपाकारों का प्रयोग करके भारतीयता के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

कला का आश्रय पाकर ही ज्योतिष और तंत्र की कलात्मक अभिव्यक्ति संभव हो सकी है। इसके समानान्तर भारतीय कला इतनी समृद्ध और वैभवशाली हो गई है कि उसका आलोक विश्व भर में फैल गया। आज भारतीय कला विश्व भर में समादृत है तो उसमें भारतीय ज्योतिष व तंत्र का अतुलनीय योगदान है।

\* \* \* \* \*

## मध्यकालीन राजपुताना एवं मीरां से सम्बन्धित पुरातात्विक स्रोत सामग्री

डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत

जिस समय मीरां राणाजी से ब्याहकर मेवाड़ आई थी उस समय तक मेवाड़ में श्री कृष्ण भक्ति के प्रसार के कोई पुरातात्विक साक्ष्य अथवा चिह्न उपलब्ध नहीं होते हैं। पुरातत्ववेत्ताओं की मान्यता है कि मीरां के समय तक मेवाड़ में कृष्ण भक्ति का विकास नहीं हुआ था। कृष्ण भक्ति का विकास मेवाड़ में बाद के समय में ही देखने को मिलता है। उस समय तक मेवाड़ में जिन देवताओं की पूजा प्रचलित थी उनमें सूर्य, शक्ति, शिव तथा विष्णु का विशेष स्थान था। मेवाड़ राजवंश शैव था तथा वे स्वयं को सूर्य का वंशज बताते हैं। शिव की लिंग रूप में, शक्ति को कालिका के रूप में, विष्णु को वाराह रूप में तथा सूर्य की मूर्ति रूप में पूजा होती थी।

तत्कालीन मेवाड़ की धार्मिक स्थिति सामाजिक मान्यताओं तथा राजनीति का अवलोकन करें तो मीरां का कृष्ण भक्त होना कुछ आश्चर्यजनक है। इसे प्रामाणिक तौर पर कहा जा सकता है कि मीरां का कृष्ण भक्त होना व्यक्तिगत आस्था का परिणाम न होकर सामाजिक, राजनैतिक तथा व्यक्तिगत जरूरत का परिणाम था। मीरां का समय धार्मिक आडंबरों, सामाजिक कुरीतियों तथा राजनीतिक अवसरवादिता का युग था। स्त्रियों की दशा अच्छी न थी। सती प्रथा का आमतौर पर प्रचलन था। राजकीय संग्रहालय, उदयपुर में एक सती स्तंभ मिलता है। यह सती स्तंभ सम्वत् 1471 का है। एक पुरुष योद्धा इस स्तंभ पर अंकित किया गया है, जो तीव्र गति से दौड़ते हुए घोड़े पर बैठा हुआ है एवं उसके हाथ में एक भारी भाला है। उसकी आंखों से रौष टपक रहा है। इस पुरुष के नीचे नागरी लिपि में खुदे हुए लेख में बताया गया है कि आषाढ़ वदि 14 सम्वत् 1471 को नाथीबाई सती हुई जिसका पति कोई राठौड़ राजपूत लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। इस सती का पति चूंकि लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ था अतः उसे वीरसती कहा गया। इसी प्रकार बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में भी सती स्तंभ मिले हैं, जिनका सम्बन्ध मंडला जी तथा सवाई सिंह की मृत्यु से है। मंडला जी राव बीकाजी के चाचा थे। यह सती स्तंभ विक्रम संवत् 1505 का है एवं सारुण्डा, बीकानेर से प्राप्त हुआ था। दूसरा सती स्तंभ कुछ बाद विक्रम संवत् 1747 का है एवं भांडासर मंदिर, बीकानेर से प्राप्त हुआ था। राजपूताने के कोने-कोने में ऐसे अनेक सती स्तंभ मिल जाएंगे। इन सती स्तंभों का वही समय है, जब मीरां का प्रादुर्भाव हुआ था। कुंवर भोजराज की मृत्यु के बाद मीरां को भी सती होने के लिए प्रेरित किया गया किन्तु मीरां ने सती होने से साफ इनकार कर दिया।

सती होने से इनकार करने के पीछे मीरां का तर्क था कि वह किसी कुंवर को

नहीं वरन् कृष्ण को अपना पति मानती है। कृष्ण अजर अमर है एवं न कभी कृष्ण मरेंगे, न मीरां विधवा होगी एवं न ही वह सती होगी। मालवा स्थित चंदेरी दुर्ग में भी एक सती स्तम्भ एवं छतरी मिलती है। यह सती स्तम्भ बैजू बावरा की समाधि के ठीक निकट स्थित है। आक्रमणकारियों द्वारा चंदेरी दुर्ग पर आक्रमण के साथ ही दुर्ग की राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' अथवा सामुहिक सती उत्सव का आयोजन किया था। उसी की स्मृति स्वरूप यह स्मारक निर्मित किया गया। इन सती स्तम्भों से इस निष्कर्ष तक पहुंचना आसान है कि उस पूरे प्रदेश अर्थात् पश्चिम-मध्य भारत जिसमें मेवाड़, मारवाड़, मालवा एवं गुजरात के प्रदेश आते हैं की राजपूत जातियों में सती प्रथा का प्रचलन आम था एवं उसे गौरवान्वित किया जाता था। इस प्रथा को अंध विश्वास के सहारे और अधिक सुदृढ़ एवं स्थायी बना दिया गया था जैसा कि चंदेरी दुर्ग के सती स्तम्भ से पता चलता है कि। इस दुर्ग में जो सती स्तम्भ बना हुआ है उसमें मुख्य रूप से तीन प्रकार के चित्रों को उत्कीर्ण किया गया है। सबसे नीचे स्थित चित्र में राजपूत स्त्रियों को सती होते हुए दिखाया गया है, उसके ऊपर युद्ध का दृश्य उत्कीर्ण है एवं सबसे ऊपर राजपूत योद्धों को उनकी स्त्रियों के साथ स्वर्ग में शिवलिंग की आराधना करते हुए दिखाया गया है। अर्थात् इस प्रकार का अंध- विश्वास सृजित किया जाता था कि योद्धा में मरकर तथा स्त्रियां सती होकर स्वर्ग में जाती हैं। सारांश यही है कि मीरां जिस योद्धा जाति से संबंधित थी वह रूढ़ियों अंध- विश्वासों एवं सती प्रथा जैसी बुराइयों से ग्रस्त थी। साथ ही साथ उस पूरे प्रदेश में अंध- विश्वासों का बोलबाला था व स्त्रियों की हालत अच्छी न थी, मीरां ने इन्हीं अंध- विश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष का ऐलान किया था।

मीरां की कर्मस्थली चित्तौड़गढ़ दुर्ग में ही स्थित श्मशानघाट के ठीक बगल में महासती स्थल अवस्थित है, जहां स्त्रियों को उनके पति साथ सती किया जाता था। मेवाड़ महाराणाओं के सांस्कृतिक मोर्चे पर पराजय के साक्षी इस महासती स्थल अथवा जौहर कुण्ड के ठीक पास में कीर्ति स्तम्भ बना हुआ है। जौहर एवं सती प्रथा के पीछे निश्चित राजनीतिक उद्देश्य विद्यमान थे। राजपूताने की राजनीति एवं राजनीतिक षडयंत्रों में अपने सामंत पतियों के साथ-साथ उनकी स्त्रियों की भी विशेष भूमिका रहती थी। उस समय मेवाड़ केन्द्रीय शक्ति होने के कारण उन घटनाओं और षडयंत्रों का केन्द्र माना जाता था। सामंत अथवा कुंवरों की मृत्यु पश्चात् उसकी स्त्री को सती करके उसके तथा उसके परिवारवालों के राजनीतिक हस्तक्षेप से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त कर ली जाती थी।

अनुमान किया जा सकता है कि चित्तौड़ दुर्ग में मीरां किस वातावरण में रह रही होगी। सती होने से इनकार करने एवं कृष्ण भक्ति को अंगीकार कर उन्होंने किस नैतिक साहस का परिचय दिया होगा। मीरां के ससुराल वाले शैव मतानुयायी एवं पीहर वाले वैष्णव मतानुयायी थे। अगर मीरां कृष्ण भक्त न होकर शैव अथवा वैष्णव मतानुयायी होती तो स्वयं के सती न होने का उनके पास एक भी तर्क नहीं रहता परन्तु कृष्ण भक्त

बनकर वह कह सकती थी कि 'मारो मन मगन स्याम लोग कह्यो भटकी।' कथा तो यह भी प्रचलित है कि शिव की पूर्वपत्नी 'सती' स्वयं अपने पिता के हवनकुंड में जलकर सती हो गई थी।

चित्तौड़ दुर्ग में मीरां का निवास स्थल महाराणा महल में स्थित युवराज का महल था। मीरां की लोकप्रियता के कारण वहां के स्थानीय लोगों ने मीरां के निवास स्थलों को मीरां महल ही नाम दे दिया। महाराणा महल वस्तुतः अनेक महलों से मिलकर बना है। इनमें सूरज गोखरा कंवरपदे का महल एवं जनाना महल प्रमुख हैं। मीरां महल सहित अन्य सभी महल पत्थरों की सुदृढ़ दीवारों से बने हैं जो मध्यकालीन राजपूत स्थापत्य की विशिष्ट झलक प्रदान करते हैं।

महलों की बाह्य दीवारों को विभिन्न अलंकरणों द्वारा सुसज्जित किया गया था। इस महाराणा महल में मीरां के परदादिया ससुर कुंभा के समय अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए एवं उसे कलात्मक स्वरूप प्रदान किया गया। मीरां के समय तक यह महल काफी विस्तृत हो चुका था एवं इसका राजसी वैभव लगातार बढ़ता जा रहा था। इस समय राजपूताने का प्रत्येक राजघराना मेवाड़ की राजनीति में अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। देश में किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव तथा गुजरात, मालवा एवं राजपूताने के केन्द्र में स्थित होने के कारण मेवाड़ की शक्ति एवं प्रभाव बढ़ता जा रहा था। चित्तौड़ दुर्ग में हुए अधिकांश निर्माण कार्य इसी समय के हैं जो उस समय मेवाड़ राज्य के बढ़ते प्रभाव की सूचना देते हैं। राजपूताने का प्रत्येक महत्वाकांक्षी राजवंश मेवाड़ की गद्दी पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। महाराणा विक्रमादित्य द्वारा मीरां का उत्पीड़न इसी राजनीति का परिणाम था।

महाराणा महल में प्रवेश हेतु पूर्व में बड़ी पोल एवं त्रिपोलिया दरवाजे से होकर दक्षिण में स्थित खुले प्रांगण से होते हुए दरीखाने तक पहुंचा जाता था। यही दरीखाना मध्यकालीन मेवाड़ तथा राजपूताने की संसद थी जहां उत्सव-समारोह में मेवाड़ के प्रमुख जागीरदार आकर बैठा करते थे। मीरां महल तथा अन्य आवासीय परिसरों में प्रवेश हेतु यहीं से छोटे-छोटे प्रदेश द्वार बने हुए थे जहां महाराणा के सम्बन्धियों के अलावा अन्य जागीरदारों का प्रवेश वर्जित था। मीरां महल पोलनुमा कमरों की कतार एवं एक बड़ी दीवार से दरीखाने से पृथक होता था।

महाराणा महल तथा मीरां महल के विस्तृत पुरातात्विक सर्वेक्षण से हमें मीरां के जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारियां मिलती हैं। मीरां महल, महाराणा महल में मीरां के प्रभाव का द्योतक है। महाराणा महल में मीरां का रहना न केवल हाड़ा सामंतों के लिए असुविधाजनक था वरन् हाड़ाओं के भाणज महाराणा विक्रमादित्य के लिए भी कुढ़न का कारण था। महाराणा महल में मीरां ही एक ऐसा मंचा थी जो राठौड़ सामंतों को मेवाड़ की राजनीति में सीधे हस्तक्षेप का अवसर प्रदान करती थी। ऐसे में बनवीर की यह पूरी-पूरी कोशिश थी कि मीरां के लिए ऐसी स्थिति पैदा कर दे कि या तो वह स्वेच्छ से चित्तौड़

छोड़ दे अथवा उसे विष देकर मार डाला जाए।

मीरां महल के पीछे दुर्ग की दीवार दिखाई देती है जिसके एक तरफ विशाल बुर्ज बना हुआ है। इस बुर्ज पर पहरेदार आठों प्रहर पहरेदारी करते थे। किसी भी सैनिक हलचल की सूचना महाराणा महल तथा युवराज के महल को तुरन्त मिल जाती थी। सामने दरीखाना था जो दिन के समय राजनैतिक हलचल का केन्द्र बिन्दु था। इस प्रकार मीरां महल में अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण किसी भी राजनीतिक हलचल एवं सैनिक योजनाओं व राजनीतिक षडयंत्रों के निकट सम्पर्क में थी। महाराणा महल तथा युवराज के महलों में कुछ छोटे-छोटे मंदिर भी थे। युवराज, महाराणा, युवराणी अथवा महारानी अपनी व्यक्तिगत आस्था के अनुरूप इन मंदिरों में मूर्तियां स्थापित एवं प्रतिस्थापित करते थे। सार्वजनिक मंदिरों में भी राजनैतिक उद्देश्यों से मूर्तियां स्थापित एवं राजनीतिक दृष्टि से फायदा नहीं होने की सूरत में पूर्व स्थापित मूर्ति को प्रतिस्थापित करके अन्य मूर्ति स्थापित कर दी जाती थी।

जहां तक चित्तौड़ दुर्ग का प्रश्न है, कुछ किस्मत वाले धानी-मानी अथवा राजनैतिक व धार्मिक दृष्टि से प्रभावशाली लोग ही इसमें प्रवेश पा सकते थे। इनमें से भी महाराणा महल में केवल चंद लोग ही प्रवेश पाते थे। महल के आंतरिक भागों में तो केवल प्रभावशाली सामंत व सगे-सम्बन्धी ही जा सकते थे। इस आधार पर मीरां का जनता से वास्तविक सम्पर्क दुर्ग त्यागने के बाद ही स्थापित हुआ। इससे पहले तक लोगों का मीरां से परिचय तो था किन्तु प्यार का विकास बाद में ही हुआ। इससे पहले मीरां की चर्चा केवल चित्तौड़ दुर्ग में पनघटों तथा मंदिरों तक ही सीमित थी।

मेड़ता स्थित मीरां मंदिर जिसे निज मंदिर कहा जाता है अब पुरातात्विक दृष्टि से अनुपयोगी वस्तु रह गया है। नवीनीकरण के नाम पर समस्त पुरातात्विक साक्ष्य नष्ट कर दिए गए हैं एवं उनके स्थान पर सफेद मार्बल जड़ दी गई है। इस मंदिर के पीछे दूदा महल है। राव दूदा मीरां के दादा थे। इस दूदा महल में वर्तमान में एक सरकारी स्कूल चलता है। कमरों के निर्माण की प्रक्रिया में पुरातात्विक साक्ष्यों को बतौर ईंट-पत्थर चुनाई के काम में ले लिया गया है। सौभाग्य से मेड़ता के मीरां महल आज भी उपेक्षित किन्तु जीवित हैं। मीरां की लोकप्रियता के कारण मेड़ता की स्थानीय जनता जिन्हें मीरां महल कहती है, वस्तुतः वह मेड़ता के सामंत का छोटा मोटा महल था। चित्तौड़ दुर्ग के विशाल महलों की तुलना में मेड़ता का यह महल साधारण प्रतीत होता है। इससे मीरां के ससुराल पक्ष एवं पीहर पक्ष वालों की हैसियत में विशाल अंतर की कल्पना की जा सकती है। इस महल के पीछे तालाब तथा पनघट बना हुआ है। इस तालाब में आज भी बहुत सारे कमल-दल खिलते हैं। पनघट से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह महल मेड़ता का केन्द्र बिन्दु था। मेवाड़ के सफेद पत्थरों के विपरीत यह महल स्थानीय लाल पत्थरों से बना है। महलों की बनावट में भी कुछ भेद है। महल के बाहर एक खंडहरनुमा मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं तथा इसके पास ही पोल एवं दरीखाना स्थित है। चित्तौड़ के

विशाल महलों की तुलना में मेड़ता का यह महल भले ही साधारण प्रतीत होता हो किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि जिस समय इन महलों का निर्माण हुआ था, साधारण जनता घास-फूस तथा गारे-मिट्टी के घरों में रहा करती थी। मीरां चाहे कुड़की रहीं हो बाजोली रहीं हो अथवा मेड़ता उसका निवास स्थल इससे अधिक भव्य नहीं रहा होगा। जहां तक मेड़ता का प्रश्न है, मेवाड़ की तुलना में सूखा प्रदेश है किन्तु यह मारवाड़ राज्य के श्रेष्ठतम प्रदेशों में से एक था। इसके विपरीत चित्तौड़गढ़ तालाबों व झरनों का अत्यन्त हरा-भरा नगर था, जहां वर्षा के दिनों में मूसलाधार वर्षा होती थी एवं आसपास के घने जंगलों में खतरनाक जंगली जानवर विचरण किया करते थे। मीरां का व्यक्तित्व निर्माण इसी हरे-भरे प्रदेश में हुआ था। इस प्रदेश का चप्पा-चप्पा मीरां की मधुर स्मृतियों से भरा पड़ा है।

चित्तौड़ दुर्ग के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि महलों की अपेक्षा मंदिरों व स्मारकों में मूर्ति शिल्प का उत्कृष्ट नमूना अधिक देखने को मिलता है। इसका कारण साफ था कि मंदिर व स्मारक सार्वजनिक स्थल पर हुआ करते थे। जहां प्रजाजनों का आवागमन लगा रहता था। अतः मीरां द्वारा मंदिर परिसर में अपनी गतिविधियों को बढ़ाना लोक के साथ सम्पर्क बढ़ाने तथा प्रजाजनों से सीधे सम्पर्क में आने की रणनीति का हिस्सा था। निःसंदेह प्रजाजनों के साथ मंदिर परिसर में ईश्वर की आराधना उसे लोकप्रिय बना रही थी। इस प्रकार मंदिरों महलों एवं शिलालेखों के अध्ययन से मीरां के जीवन एवं समाज से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं।

\* \* \* \* \*

## आम्बेर-जयपुर की मंदिर स्थापत्य कला के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक निहितार्थ : श्री गोविन्द देव जी मंदिर

योगेश कुमार मिश्रा

गोविन्द देव जी का मंदिर अपनी कला और विशालता के कारण भी सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण आमेर के कच्छवाहा राजा मानसिंह ने करवाया था। यह मंदिर लाल चितीदार पत्थर का बना है। मंदिर का प्रधान द्वार पूर्व की ओर है तथा दो अन्य द्वार उत्तर व दक्षिण दिशा की ओर हैं। तीनों द्वारों का आकार तो बराबर है, परन्तु प्रकार में भिन्नता है। तीनों द्वारों से आरम्भ होने वाली बाहरी जगमोहन, भीतर के प्रधान जगमोहन से मिलकर एकाकार हो जाते हैं। इसी जगमोहन के बायीं ओर की दीवार पर एक शिलालेख लगा है। इस जगमोहन की छत चार कमानीदार पत्थरों के सहारे बनायी गई है। कमानी के ऊपर का भाग पाटा नहीं गया है वरन् उसके ऊपर गोलाकार अन्तराल

छोड़ दिया गया है जिससे मन्दिर की सुन्दरता बढ़ गई है। यह अन्तराल इतना बड़ा है जितना कि मंदिर की दूसरी मंजिल के लिए अपेक्षित था। मध्य में जगमोहन और देव विग्रह के आसन के भीतरी द्वार के बीच में उतना ही स्थान छूटा हुआ है जितना की बाह्य पूर्वी द्वार और मध्य जगमोहन के बीच में है। इस प्रकार एकरूपता बनाये रखने का ध्यान कारीगरों का बराबर रहा है।

इस मंदिर की सबसे बड़ी विशेषता इसके मण्डप में है। इसके खण्ड आपस में इस सुधराई के साथ हुए हैं कि जिससे मंदिर के जगमोहन की शोभी द्विगुणित हो जाती है। इसकी छत चार आरों से बनाई गई है। गुम्बद को इस प्रकार बनाया गया है कि इसकी ऊंचाई गोलाई निखरते ही बनती है। मंदिर के सभी खण्डों का संतुलन स्थिर रखने का प्रयास बड़ी चतुराई से किया गया है। इसके निर्माताओं ने इसकी सजावट पर विशेष ध्यान दिया है। एक एक पत्थर इतनी सुघड़ता से गढ़ा गया है कि वह कहीं से भी मुड़ा हुआ नहीं है। बाहरी सजावट में जयपुर की शैली का पूरा निर्वाह दिखाई पड़ता है।

मध्यकाल के जितने मंदिर सामने हैं, उनमें इस मंदिर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके निर्माताओं (कारिगरों) की पूरी सूची इसकी भीत पर अंकित है। वैसे तो मंदिर के भीतर और बाहर कुल मिलाकर चार शिलालेख हैं जिनमें से दो बहुत महत्वपूर्ण हैं जिनके द्वारा राजा मानसिंह एवं मंदिर के शिल्पियों का पूरा परिचय मिल जाता है। मंदिरों के विभिन्न स्थानों पर कलाकारों ने पशु, पक्षी, पुष्पलता, पौराणिक दृश्यों और लोक कथाओं का प्रदर्शन कर सामाजिक चित्रण उपस्थित किया है तथा तरुणियों एवं कामोत्तेजक प्रसंगों के द्वारा दुष्टों के आसुरी कर्मों को दिखाया है। भक्तों के सामने देवों के प्रणय चरित्र का चित्रण मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। मंदिर का स्थापत्य तथा शिल्प धार्मिक भावना का संचार करते हैं।

क्षेत्र की अर्थव्यवस्था में भी मंदिरों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मंदिरों के पास पर्याप्त भूमि सदैव से रही है। उन्हें प्राचीन समय में सामन्तों, व्यापारियों, राजाओं व सामान्य जनो से भी पुष्कल दान मिला करता था। इससे मंदिर अपने धन को किसानों को ऋण देकर महाजन का काम भी करते थे। मंदिरों के दैनिक कर्मकाण्ड से पुजारी, पंडित, संगीतज्ञ, नर्तकी, देवदासी, अध्यापक, फूलमाला वाले, दर्जी, मुनीम आदि अनेक व्यक्तियों की जीविका चलती थी।

आमेर-जयपुर क्षेत्र में हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय गाणपत्य, शाक्त, शैव, बौद्ध, वैष्णव आमत्यों के भिन्न-भिन्न वर्गों के अनुयायी तथा जैन, सिख, मुस्लिम, ईसाई एवं ब्रह्म समाज आदि के अनुयायी बसते हैं पर इस क्षेत्र में वैष्णव सम्प्रदाय का ही अधिक प्रभाव है। यहां राधा-कृष्ण के अनेक मंदिर हैं। मंदिर केवल पूजागृह ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र भी हैं। मंदिरों की स्थापना तथा निर्माण से केवल वातावरण ही परिवर्तित नहीं होता, बल्कि आसपास की धार्मिक प्रवृत्तियों के जागरण से भी सहायता मिलती है। नगर में जिस क्षेत्र में मंदिर होता है, उस क्षेत्र में बसी जनता की

धार्मिक गतिविधि वहीं केन्द्रित हो जाती है। मंदिरों में कथा वार्ता, भजन, संकीर्तन, प्रवचन एवं दैनिक पाठ होते हैं। इससे लोगों को शिक्षा मिलती है व कुछ क्षण ईश्वर का नाम लेकर आत्मिक शान्ति मिलती है। मंदिरों में यज्ञ, हवन होने से वातावरण में भी शुद्धता बनी रहती है।

आमेर-जयपुर क्षेत्र मंदिरों का क्षेत्र है। यहां के वैष्णव मंदिर जहां वृन्दावन की होड़ करते हैं, वहीं जैन मंदिरों का महत्व भी कम नहीं है। जयपुर नगर एवं उसके उपनगरों में स्थित ये मंदिर चैत्यालय अधिकांशतः विशाल एवं कलापूर्ण हैं। जैन मंदिरों की अधिकता के कारण जयपुर जैनपुरी के रूप में एक तीर्थ-स्थान बन गया है।

हिन्दू मंदिर उत्तर भारतीय मंदिर वास्तुकला पर ही आधारित है। यहां मंदिरों का स्थापत्य यज्ञवेदी से आरम्भ होता है और मंदिर के शिखर शिखा पर समाप्त होता है। सवाई जयसिंह ने तो जयपुर नगर की स्थापना ही स्थापत्य कला के सिद्धान्तों के आधार पर की थी इसलिए उनकी भावना का प्रतिपादन नगर में मंदिरों के रूप में आवश्यक ही था। नगर की स्थापना के साथ आरम्भ में जो मंदिर यहां बने वे परम्परागत शिखरान्त शैली के ही हैं। धीरे-धीरे मंदिर हवेलियों और महलों के जैसे बनने लगे। कई मंदिर आज भी राजपूत गढ़ और हवेली की स्थापत्य शैली का सम्मिश्रण हैं। महाराजा रामसिंह के समय मंदिरों को काफी ऊंचाई पर बनाया गया। इनमें विशाल सीढ़ियों से प्रवेश की व्यवस्था थी। मंदिर परिसर में पाठशाला, पुस्तकालय, रसोड़ा, कोठरियों और मंदिर के अधिकारियों के आवासों का निर्माण किया गया।

वास्तव में भारतीय मंदिर स्थापत्य कला की कुछ आधारभूत विशिष्ट विशेषताएं हैं। इनमें निरन्तरता अथवा अविच्छिन्नता, धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता, अभिव्यक्ति की प्रधानता, प्रतीकात्मकता, समन्वय की प्रवृत्ति, राष्ट्रीय एकता का प्रकटीकरण, अलंकरण की प्रधानता, सर्वांगीण तथा सार्वभौमिकता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता का उल्लेख मुख्य रूप से किया जा सकता है।

\* \* \* \* \*

## राजस्थान की मूर्तिकला में प्रदर्शित सुर-सुन्दरियां

डॉ. शिखा

नारी जिसके बिना सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती। नारी जो अलग-अलग रूपों में अपना कर्तव्य निभाती है। नारी के विविध रूपों को राजस्थान की मूर्तिकला में अत्यन्त खूबसूरती के साथ अंकित किया गया है। चाहे वह सुर-सुन्दरियों की आकर्षक मुद्रायें हो या फिर उनके विभिन्न क्रियाकलाप। सुर-सुन्दरियों के विविध रूपों को इस प्रकार से प्रदर्शित किया गया है जिसमें सबसे पहले है-

शुभांगिनी (पैर से कांटा निकालती)-शुभांगिनी का अंकन जगत के अम्बिका

मंदिर के जंघा भाग पर हुआ है। इसमें नायिका का बायां हाथ सिर के ऊपर ओर अपने दायें हाथ से बायें पैर के तलवे में चुभे कांटे को निकालते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस तरह का अंकन बुढ़ादीत के सूर्य मंदिर, हर्षनाथ मंदिर, ओसियां के महावीर मंदिर तथा नागदा के सास मंदिर पर है।

दर्पणा-दर्पण में अपना चेहरा देखकर, श्रृंगार करने की क्रिया को दर्पणा कहा गया है। ' भारतीय शिल्पसंहिता ' के अनुसार नायिका के बायें हाथ में दर्पण है और दाहिना हाथ माथे पर बायां पैर सीधा और दाहिना बायीं ओर मुड़ा है। जगत के अम्बिका मंदिर, मेनाल के महानालेश्वर मंदिर, बिजोलिया के उण्डेश्वर महादेव मंदिर, आभानेरी के हर्षतमाता मंदिर, देलवाड़ा के विमलवसही मंदिर और किराडू के सोमेश्वर मंदिर पर दर्पणा को प्रदर्शित किया गया है।

पत्रलेखा- ' भारतीय शिल्पसंहिता ' के अनुसार उसके हाथ में लेखनी है, ताड़पत्र धारण करके लेखन करती है तथा उसके ललाट में चन्द्र की रेखा है, ऐसी सदा विस्तारवाली। पत्रलेखा का अंकन आहड़ के मीरा मंदिर पर हुआ है। जिसमें नायिका के बायें हाथ में ताड़पत्र एवं दायें हाथ में लेखनी है जिससे वह लिख रही है। मेनाल के महानालेश्वर मंदिर पर भी इसका अंकन है।

नूपुरवादिका- बिजोलिया के उण्डेश्वर महादेव मंदिर पर उत्कीर्ण नूपुरवादिका जिसने अपने दायें पैर को ऊपर उठाकर उसको बायें पैर पर टिकाया हुआ है और अपने दोनों हाथों में पकड़े नूपुर को दायें पैर में पहन रही है। इस प्रकार का अंकन मेनाल के महानालेश्वर मंदिर, किराडू के सोमेश्वर मंदिर पर भी है। आहड़ के मीरा मंदिर, नागदा के सास मंदिर, देलवाड़ा के विमलवसही मंदिर पर प्रदर्शित नूपुरवादिका की आकृति छेटी है।

सद्यस्नाता-तुरन्त स्नान कर निकली नायिका जो अपने बालों को निचोड़ती हुई प्रदर्शित की जाती है वो सद्यस्नाता कहलाती है। सद्यस्नाता का अंकन बिजोलिया के उण्डेश्वर महादेव मंदिर, मेनाल के महानालेश्वर मंदिर, झालावाड़ के सूर्य मंदिर और किराडू के सोमेश्वर मंदिर पर हुआ है।

केशगुम्फिनी-अपने केशों को संवारती नायिका का अंकन जगत के अम्बिका मंदिर पर देखने को मिलता है।

चंवर धारिणी-हाथों में चंवर लिये नायिका चंवर धारिणी कहलाती है। देवी-देवताओं तथा राजसी लोगों के अलग-बगल अपने हाथों में चंवर लिये नायिका का प्रदर्शन हुआ है। मेनाल के महानालेश्वर मंदिर, आभानेरी के हर्षतमाता मंदिर, नागदा के सास मंदिर, देलवाड़ा के विमलवसही मंदिर, चित्तौड़ के कालिका माता मंदिर तथा समिद्धेश्वर मंदिर पर हुआ है।

अलस्या-अलस्या का अंकन जगत के अम्बिका मंदिर पर हुआ है जिसमें

नायिका अपने दोनों हाथों को पीछे ले जाकर अंगड़ाई लेते प्रदर्शित है। इस प्रकार का प्रदर्शन देलवाड़ा के विमलवसही मंदिर, मेनाल के महानालेश्वर मंदिर, झालावाड़ के सूर्य मंदिर, बिजोलिया के उण्डेश्वर मंदिर, नागदा के सास-बहू मंदिर पर हुआ है।

आम्रलुम्बिनी-आहड़ के मीरा मंदिर के जंघा भाग पर प्रदर्शित सुर-सुन्दरी जिसके दोनों हाथों में आम्रलुंबी है तथा वह कमलदल पर खड़ी स्त्री आकृति के दायीं ओर आम्रलुंबी तोड़ रहे कपि का अंकन है, जो अत्यन्त आकर्षक है।

सनाल कमल लिये नायिका-आहड़ के मीरा मंदिर के जंघा पर उत्कीर्ण सुर-सुन्दरी जिसके दायें हाथ में सनाल कमल तथा अपने बायें हाथ में दुपट्टा पकड़े हुये हैं। इस तरह का प्रदर्शन किराडू के सोमेश्वर मंदिर, झालावाड़ के सूर्य मंदिर तथा जगत के अम्बिका मंदिर पर भी हुआ है।

वस्त्रधारिणी-बिजोलिया के उण्डेश्वर महादेव मंदिर की वेदिका पर अंकित नायिका अपने दोनों हाथों से वस्त्र को ऊपर की ओर खींच रही है। इसके अलावा वस्त्रधारिणी का अंकन आहड़ के मीरा मंदिर, नागदा के सास मंदिर, झालावाड़ के सूर्य मंदिर, किराडू के सोमेश्वर मंदिर पर हुआ है। इसके अतिरिक्त कंदुकक्रीड़ा करते हुए नायिका का अंकन बहुमंदिर नागदा पर है। साथ ही नायिका का मनुहार करते हुए नायक का अंकन आभानेरी के हर्षतमाता मंदिर पर है। सुर-सुन्दरियों को विभिन्न प्रकार के वाद्ययंत्रों को बजाते हुए, गाते एवं नाचते हुए मंदिरों पर प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार राजस्थान की मूर्तिकला में प्रदर्शित सुर-सुन्दरियों की विभिन्न प्रकार की आकर्षक मुद्रायें अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

\* \* \* \* \*

## जटवाड़ा-काठेठ प्रांत का भरतपुर जाट राज्य के अभ्युदय की पृष्ठभूमि में सामाजिक विशेष कारणों का अवलोकन

गौरवदीप करौला

भौगोलिक विशेष प्रदेश की संस्कृति का जाग्रत होना ही किसी भी राज्य की दार्शनिक आध्यात्मिक व्याख्या हो सकती है, जिसका निर्धारण वहां रहने वाला आम जनमानस अपने समक्ष प्रस्तुत प्राकृतिक विशेष या बाह्य चुनौतियों का प्रत्युत्तर देते हुए एक विलग राज्य की सांस्कृतिक स्थापना के दरम्यान करता है। किन्हीं भी नवीन राज्यों के अभ्युदय व अस्त होने में भी यही प्रक्रिया प्रभावी होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में विश्व इतिहास के अन्तर्गत यूनानी व भारतीय परिप्रेक्ष्य में आर्य संस्कृति ने विश्व व भारत (सिन्धु+आर्य संस्कृतियों का संकुल योगदान) को पर्याप्त प्रेरित किया है जिसकी

सफलता उसके आपसी सामाजिक संगठन विश्वास व बन्धुत्व के कारण ही सुफलित हो सकी।

इसी सामाजिक विशेष करण स्वरूप ही 18वीं शताब्दी में राजनैतिक पटल पर भरतपुर जाट राज्य का अभ्युदय हुआ। जिसके अभ्युदय में निम्नलिखित बिन्दु सहायक हो सकते हैं—जाटों का काठेठ प्रांत में एकत्रित होना। जटवाड़ा शब्द से उक्त क्षेत्र का सम्बोधित होना। कृषक समाज की सामाजिक जाति विरादरी, डूंग-पाल व रीति रिवाजों का होना। जाटों का विभिन्न खांपों, कबिलों, गोत्रों में वैवाहिक सम्बन्ध होना। जाटों में सामाजिक लोकतांत्रिक गणतंत्रात्मक पंचायत व्यवस्था का होना। प्रत्येक जाट का सामाजिक स्तर बराबर होना। जाटों का प्रगतिशील होना। संघर्षी, अक्खड़शील होना। विभिन्न पंचायती सर्वप्रमुखों का अपने युवा जाट प्रतिभाशाली नेता को हर तरह से पृष्ठपोषण देना। प्रत्येक जाट नेता द्वारा अपने समाज व बुजुर्गों के लोकहितार्थ अनुदेशों की पालना करना। मुसलमान के प्रतिरोध स्वरूप जाट विद्रोही नेता गोकुला का बलिदान तत्कालीन कारण बना। जाटों की इस दीर्घ संघर्षी स्वरूप को देखते हुए दिल्ली व जयपुर नरेशों ने एक सहयोगी मित्र के रूप में भरतपुर जाट राज्य की वैधानिक स्थायित्वा को स्वीकारा।

\*\*\*\*\*

## राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा और मूर्तिकला

मुकेश कुमार शर्मा

राजस्थान राज्य का नाम स्वयं एक सांस्कृतिक एकता का सूचक है, जो युगयुगान्तर से भारतीय परम्परा से जुड़ा रहा है। प्राचीन काल से यह क्षेत्र हमारे देश की समृद्ध इकाइयों का अंग था, जिसमें अन्तरवेद, सौवीर, मरुकान्तर, लाट, गुर्जर आदि भूभाग की सीमाएं सम्मिलित थी। अंग्रेजों ने अपनी शासकीय सुविधा और राजनीतिक स्वार्थ के अनुसार इन भूभागों की क्षीरण प्रायः सीमाओं को मरुस्थलीय क्षेत्र में सम्मिलित कर राजपूत राज्यों के भागों को मान्यता देकर इसका नाम राजपूताना रख दिया। स्वतंत्रता के बाद विलय प्रक्रियाओं के अन्तर्गत इसका नामकरण, हर्षकालीन शासकीय व्यवस्था के आधार पर, राजस्थान कर दिया गया।

ऐसे राजस्थान की सांस्कृतिक समीक्षा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में करना एक अपेक्षित विषय है। स्मरण रहे कि संस्कृति की संवा में उन मानवीय और आध्यात्मिक पक्षों का समीकरण आवश्यक है, इस परिप्रेक्ष्य में राजस्थान के मानवीय और सांस्कृतिक जीवन से यहां का इतिहास कितना घनिष्ठ रहा है उसका समुचित चित्रण करना प्रासंगिक होगा। यहां का इतिहास केवल तिथि-क्रम से जुड़ा हुआ नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध उन पौर्वापर्य विचारों के इतिहास से है, जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं व

संस्कारों का रोचक दर्शन है। ऐसी स्थिति में वह मुख्यतः जन इतिहास बन जाता है, जिसमें समाज की रचनात्मक शक्ति आदर्श, आचार-विचार तथा दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक जीवन का युगयुगान्तर का प्राणवान लेखा-जोखा रहता है। राजस्थान की बाहरी जगत् के सम्पर्क की कहानी बड़ी प्राचीन है, जो विदेशी खोपड़ियों तथा विविध आकार व स्वरूप के भाण्डों से सिद्ध है। कालीबंगा व आहड़ से प्राप्त श्रृंगवान आकृतियों, मुहरों, बर्तनों, धूपदानों आदि से स्पष्ट है कि राजस्थान बाहरी सभ्यताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध साधे हुए था और आदान-प्रदान की व्यवस्था से सांस्कृतिक समन्वय की पूर्ण सम्भावना थी।

भारतीय एव्य दिखाई देता है। इसी काल में राजस्थान की संस्कृति का बीजारोपण हुआ जिसमें मौलिक एकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रच्छन्न एवं अप्रच्छन्न रूप के विकास की प्रक्रियाएं आरम्भ हुई। राजस्थान की धरती संस्कृतिगर्भा है। यद्यपि राजस्थान के विभिन्न प्राचीन स्थलों के उत्खनन से प्रत्यग ऐतिहासिक एवं परवर्ती काल के ऐसे सांस्कृतिक एवं कलावशेष प्रकाश में आये हैं। ऐसी दशा में कालीबंगा से आयताकार, वर्तुलाकार तथा अंडाकार अनेक अग्निवेदियों की सम्प्राप्ति विचारणीय है। उनसे बैल तथा बारहसिंघे की हड्डियां भी प्राप्त हुई हैं, सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र में होने के कारण आरम्भिक मूर्तिकला के उद्भव एवं विकास में पूर्वी राजस्थान ( भरतपुर क्षेत्र) ने विशिष्ट भूमिका निभायी।

\*\*\*\*\*

## जाट शासक सूरजमल द्वारा सामाजिक

### एवं सांस्कृतिक कार्य

देवेन्द्र सिंह सोलंकी एवं पुष्पलता सोलंकी

जाट सूरजमल कला प्रेमी, कला मर्मज्ञ व कला संरक्षक थे। इन्होंने 18वीं शताब्दी के मध्य में हिन्दू वास्तुकला, शिल्पकला तथा स्थापत्य शैली को प्रोत्साहित करके जीवन्त रखा था पहले तो बदन सिंह ने बाद में सूरजमल ने इस क्षेत्र में बहुत ही योगदान किया। बृजभाषा साहित्य में भरतपुर ही ऐसा राज्य था जिसने इसे संरक्षण प्रदान किया था। सूरजमल की स्वयं की इसमें विशेष रुचि थी। इस कारण से ही उसके समय में साहित्य के क्षेत्र में सबसे ज्यादा उन्नति हुई। इसके समय पर ना केवल बृजभाषा साहित्य को संरक्षण मिला बल्कि जैन साहित्य, फारसी साहित्य, उर्दू साहित्य तथा अन्य भाषा के साहित्य का विकास हुआ। इस समय पर प्रचलित संस्कृत साहित्य के नाटकों के बृजभाषा काव्य में अनुवाद करके भाषा व साहित्य को समृद्धि प्रदान की गई। इस समय पर सूदन जो कि सूरजमल के दरबार में प्रमुख थे उन्होंने काव्य ग्रंथ सुजान चरित्र की रचना की थी। इनकी आजीविका का प्रबंध सूरजमल ने किया था। इसके अलावा



सोमनाथ माथुर चतुर्वेदी, शिवराम, कृष्ण कवि आदि महान् साहित्यकारों को प्रश्रय दिया। कवि देव भी सूरजमल के दरबार में थे और सम्भव है कि सुजान विनोद नामक ग्रंथ की रचना सूरजमल के लिए ही की थी।

वास्तुकला तथा स्थापत्य कला के क्षेत्र में सूरजमल का विशेष स्थान है। इन्होंने भरतपुर के आस-पास लोक संरक्षण की दृष्टि से डीग, कुम्हेर, वेर, भरतपुर, किशनगढ़, रामगढ़ (वर्तमान अलीगढ़) में मैदानी पुख्ता दुर्गों, राज्य के ज्यादातर स्थानों पर सीमान्त भागों में कच्ची तथा पक्की गढ़ियों का निर्माण करवाया था। इसके अलावा भवनों व हवेलियों, छतरियों, अति सुन्दर तथा विशाल बाग-बगीचों का भी निर्माण करवाया। बांधों, नहरों, जलाशयों व सरोवरों, देवालियों, मस्जिदों या यादगारों, मंडियों, नगरों, कस्बों तथा सड़कों आदि का निर्माण तथा विकास किया। इस समय अलग-अलग स्थानों से वास्तुकारों ने जाट राज्य में संरक्षण प्राप्त किया तथा रोजगार पाकर कार्य किया। सूरजमल ने भरतपुर के अलावा अलवर दुर्ग में दो महल बनवाये जिसे सूरजमहल कहा जाता है। उसने यहां के दरवाजों का नाम भी बदला तथा उनका नाम सूरजपोल, चांदपोल, लक्ष्मणपोल तथा रामपोल रखा। सूरजमल ने बृज क्षेत्रीय तीर्थों के विकास में भी योगदान किया। शासकों के अलावा धर्म संरक्षिका ठकुरानियों तथा राजसरदारों, सेठ साहूकारों ने बृज प्रदेश के तीर्थ स्थलों के विकास में पर्याप्त अभिरुचि दिखाई। यहां पर इन्होंने अनेक नवीन भवन, भव्य व आकर्षक निर्माण करवाये व प्राचीन स्मृति स्थलों, मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया। गोवर्धन पर सूरजमल की विशेष रुचि थी इस कारण उसने गोवर्धन का सर्वांगीण विकास किया। यहां पर कुसुम सरोवर सूरजमल द्वारा ही बनवाया गया।

डीग दुर्ग तथा उद्यान के निर्माण में शुरूआती जाट शासकों ने विशेष लगाव दिखाया तथा यहां पर डीग दुर्ग का निर्माण करवाया। बदन सिंह और सूरजमल ने इस दुर्ग के निर्माण में सर्वाधिक योगदान दिया। इस स्थान की स्थापत्यकला, सांस्कृतिक एवं लोकजीवन का आचार्य सोमनाथ सूदन, अखेराम, उदयराम, मीरतकी आदि देशस्थ साहित्यकारों ने इसका विवरण दिया है। सूरजमल ने इसके बाद सबसे सुदृढ़ दुर्ग भरतपुर में बनवाया जिसे लोहागढ़ के नाम से भी जाना जाता है। यह दुर्ग बहुत ही सुन्दर है तथा सुरक्षा की दृष्टि से बहुत सुदृढ़ है। बाद में सूरजमल ने अपनी राजधानी डीग से बदल कर भरतपुर की थी तथा यहीं पर निवास किया करता था। यह दुर्ग अजेय दुर्ग कहलाता था जिसको कोई भी नहीं जीत पाया था। भरतपुर दुर्ग सूरजमल द्वारा बनवाई गई महान कृति है।

सूरजमल ने अपने समय में अनेक हिन्दू मंदिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार करवाया तथा गोवर्धन में हरिदेव जी मंदिर का पुनःनिर्माण करवाया। अनेक जलाशयों का भी पुनः निर्माण करवाया था। राधाकुण्ड गोवर्धन के प्रायः बीच में सड़क के किनारे स्थित 'कुसुम सरोवर' जो पवित्र जलाशय था का पुनःनिर्माण कार्य करवाया था। उसके पुरोहित रूपराम कटारी ने बरसाना में अनेक मंदिर, भवन आदि का निर्माण किया और बाग आदि

लगाकर उसे सुन्दर कस्बे के रूप में विकसित किया। सूरजमल की पत्नी रानी किशोरी ने गोवर्धन में मानसी गंगा के तट पर महल और किशोरी श्यामजी का मंदिर बनवाया था तथा वृन्दावन में यमुना किनारे कुंज और किशोरी घाट का निर्माण करवाया था। गोवर्धन का सर्वांगीण विकास इसी की देन है। सूरजमल ने डीग में गिरधारी जी का मंदिर निर्माण करवाया। इसके अलावा डीग में ही जलमहल, गुलाब बाग, लक्ष्मण महाराज का मंदिर निर्माण करवाया। सूरजमल ने बाबा लशकर आलीशाह की दरगाह का निर्माण भरतपुर में करवाया जो इस बात का प्रमाण है कि सूरजमल एक साम्प्रदायिक सद्भाव वाला व्यक्ति था।

\* \* \* \* \*

## खेतड़ी ठिकाणा और स्वामी विवेकानन्द :

### एक अध्ययन

नरेन्द्र कुमार सैनी

स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक काल में अज्ञेयता बनाये विभिन्न नामों से भ्रमण किया करते थे। उनका विवेकानन्द नाम राजस्थान की ही देन है। इससे पहले स्वामीजी अपना परिचय 'विविदिषानन्द' नाम से दिया करते थे। यह सत्य उनके पुराने पत्रों से भी प्रमाणित होता है। यह बात शायद बहुत कम लोग जानते होंगे कि स्वामीजी का सर्वजन विदित विवेकानन्द नाम रखने वाले राजा अजीतसिंह ही थे। एक दिन स्वामीजी के साथ राजा बैठे हुए थे। उन्होंने हसंते-हंसते कहा महाराज आपका नाम बड़ा कठिन है। बिना टीकाकार की सहायता से साधारण लोगों की समझ में उसका मतलब नहीं आ सकता, उच्चारण करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त अब तो आपका विविदिषाकाल (विविदिषा का अर्थ है जानने की इच्छा) भी समाप्त हो चुका है। स्वामीजी ने राजाजी के युक्तियुक्त परामर्श को सुनकर कहा 'आप किस नाम को पसन्द करते हैं? राजा ने कहा, 'मेरी समझ से आपके योग्य नाम है, 'विवेकानन्द'। स्वामीजी ने परमानुरक्त राजा जी की इच्छा के अनुसार उसी दिन से अपना नाम विवेकानन्द रख लिया। यह नाम कितना प्रसिद्ध हुआ। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस घटना से यह जानने में सुगमता होगी कि स्वामीजी का राजा पर कितना प्रेम था और राजा भी उनका कितना प्रेम पूर्ण आदर करते थे।

एक दिन स्वामीजी को एक गूढ़ पुस्तक के एक-एक पृष्ठ को दस बारह सैकण्ड में पढ़ते-उलटते देखकर राजा अजीतसिंह आश्चर्यचकित हुए और उत्सुकता से पूछ बैठे 'स्वामी जी आप इतनी जल्दी कैसे पृष्ठ उलट देते हैं, क्या इतनी जल्दी समूचा पृष्ठ पढ़ लेते हैं।' स्वामी जी ने कहा राजन आपने देखा होगा कि बालक पहले एक-एक अक्षर को ध्यान से देखकर उच्चारण करता है। तत्पश्चात् इन अक्षरों को जोड़-जोड़कर

उच्चारण करता है। तत्पश्चात् इन शब्दों का क्रमशः बार-बार उच्चारण करता हुआ पूरा वाक्य पढ़ता है। धीरे-धीरे अभ्यस्त होने पर उसकी दृष्टि पूरे वाक्य पर पड़ने लगती है और फिर वह उस वाक्य के भाव को ग्रहण करने लगता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में भाव ग्रहण करने की शक्ति का विकास होता है वह पूरे अनुच्छेद के भाव को एक साथ ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार और अधिक विकास होने पर वह पूरे पृष्ठ को एक साथ पढ़ सकता है तथा उसका भाव ग्रहण कर सकता है। इसमें कोई विलक्षणता नहीं है केवल अभ्यास, ब्रह्मचर्य और एकाग्रता से संभव है। इन तीनों की सहायता से कोई भी ऐसा अभ्यास कर सकता है। यदि आप चाहें तो भी प्रयास करें, शीघ्र ही आपको जल्दी पढ़ने का अभ्यास हो जायेगा।

स्वामी विवेकानन्द और राजा अजीतसिंह का प्रथम सान्निध्य लगभग पांच माह रहा। वे मात्र शास्त्र चर्चा ही करते थे ऐसा नहीं बल्कि उनका समय अन्यान्य गतिविधियों में भी बीतता था जिसमें उल्लेखनीय दृश्यावलोकन, घुड़सवारी, विभिन्न दार्शनिक एवं कला विषयों पर चर्चा, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, ज्योतिष में ज्ञानार्जन एवं प्रयोग तथा खगोलविद्या का व्यवहारिक ज्ञान एक शक्तिशाली दूरबीन से करना तथा संगीत का रसास्वादन करना। अन्तिम दोनों गतिविधियों के प्रति बेबीशंकर शर्मा लिखते हैं कि 'कहा जाता है कि कभी-कभी शिक्षक एवं शिष्य खगोलीय विद्याध्ययन में इतने तल्लीन हो जाते थे कि वे कई रात दूरबीन पर जमे रहते थे और राजस्थान के रहस्यपूर्ण अंधकार में स्वच्छ आकाश का सूक्ष्म परीक्षण किया करते थे। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि स्वामी जी एक अच्छे गायक थे एवं महाराज अपने समय के राजपूताना में वीणा वादक थे। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ये दोनों आत्माएं संगीत के आधार पर एक दूसरे से भेंट करती थी। जब स्वामीजी गाते थे, तब महाराज वीणा अथवा हारमोनियम पर संगत करते थे, यह भूलकर कि वे राजा हैं। लोगों ने राजयोग एवं भक्तियोग दोनों में समन्वय पाया। प्रायः महाराज स्वामीजी के साथ भोजन करते थे और घंटों उनके साथ रहते थे।

स्वामी विवेकानन्द की दूसरी खेतड़ी यात्रा मूलतः नवजात शिशु राजकुमार जयसिंह को आशीर्वाद देने हेतु जन्मोत्सव समारोह में सम्मिलित होना था, किन्तु नियति का प्रच्छन्न उद्देश्य कुछ और ही था। 21 फरवरी, 1893 को आलालसिंगा पेरूमल को लिखे गये पत्र से पता चला कि स्वामीजी मद्रास में हैं और विदेश यात्रा के लिए आवश्यक साधन न जुट पाने से चिंता में हैं। यह समाचार पाते ही राजा अजीतसिंह ने अपने सेवक मुंशी जगमोहन लाल को स्वामीजी को ले आने के लिए अविलम्ब मद्रास भेजा। स्वामीजी अमेरिका जाने के लिए वित्त नियोजन में व्यस्त थे अतः उन्होंने खेतड़ी जाने में असमर्थता प्रकट की किन्तु मुंशी जगमोहन लाल ने एक न सुनी और आग्रह पूर्वक अनुरोध किया, 'अधिक नहीं तो मात्र एक दिन के लिए राजकुमार को आशीर्वाद देने चलना ही होगा, अन्यथा राजा अजीतसिंह को मानसिक कष्ट होगा, उनकी यह मान्यता है कि आप ही की मंगलकामना से उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है।' मुंशी जी ने यह

आश्वासन भी दिया कि विदेश यात्रा की सम्पूर्ण व्यवस्था राजा अजीतसिंह स्वयं कर देंगे और अंततोगत्वा वह सब जो भविष्य के गर्भ में छिपा था उजागर हुआ। स्वामीजी इस आग्रह को टाल न सके और मुंशीजी के साथ प्रस्थानित होकर खेतड़ी पहुंचे। स्वामीजी 21 अप्रैल 1893 से 10 मई 1893 ई. के मध्य खेतड़ी में रहे तथा राजकुमार के जन्मोत्सव में शामिल हुए।

अब स्वामीजी ने बम्बई जाने की इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि अमेरिका जाने के लिए प्रबंध करना आवश्यक है। अमेरिका के शिकागो में 'सर्व धर्म परिषद्' का सम्मेलन होने वाला था, उसमें भारत वर्ष की ओर से सम्मिलित होने के लिए स्वामी जी जा रहे थे। राजा अजीतसिंह ने स्वामीजी की विदेश यात्रा के उद्देश्य के महत्व को समझते थे और उन्हें अधिक ठहराना उचित नहीं समझा। जयपुर तक राजा स्वयं स्वामीजी को छोड़ने आये। वहां से उन्होंने मुंशी जगमोहन लाल को स्वामीजी की अमेरिका यात्रा के लिए उचित प्रबंध कर देने का आदेश देकर बम्बई भेजा। मुंशीजी ने राजा की आज्ञा के अनुसार, उपयोगी कपड़े जिनमें उनका 'शाही लिबास' बढिया रेशम के गेरूआ रंग का अकलखा और उसी रेशम का गेरूआ साफा उनके लिए बनवाया गया तथा अन्य सामग्री एकत्रित की गयी। 31 मई को बंबई बंदरगाह से रवाना होने वाले 'पेनिन्सुला' जहाज की प्रथम श्रेणी का एक टिकट खरीद दिया। स्वामीजी की संकोच अभिव्यक्ति का प्रतिवाद करते हुए मुंशी जगमोहन लाल ने कहा, 'आप सनातन धर्म के प्रतिनिधि और खेतड़ी नरेश के गुरुदेव सर्वधर्म परिषद में जा रहे हैं इसकी शोभा होगी।'

अमेरिका में स्वामीजी के सात भाषण हुए। अमेरिका से स्वामीजी तथा अजीतसिंह के मध्य नियमित रूप से पत्र व्यवहार जारी था। एक पत्र में स्वामी विवेकानन्द ने राजा को लिखा कि 'भारत के दरिद्रों की दुर्दशा यहां की सभी बुराइयों की जड़ है। इनका उपकार करना हो तो इन्हें शिक्षित किया जाए। उनका कहना था कि यदि भारत के संन्यासी लोगों को धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ गणित, भूगोल, ज्योतिष आदि की शिक्षा दें तो दरिद्रों का उद्धार होगा।' इसी दौरान प्रसिद्ध लोक सेवा परायण संस्था रामकृष्ण मिशन के कार्य की नींव खेतड़ी में डाली गयी। स्वामीजी की प्रेरणा से राजा अजीतसिंह ने खेतड़ी में हाईस्कूल की स्थापना की उसमें विद्यार्थियों के लिए भोजन की भी व्यवस्था की तथा असमर्थ विद्यार्थियों को पुस्तकों आदि की सहायता देने के लिए फण्ड खोला। इसके अलावा अन्य पाठशालाएं, एक संस्कृत पाठशाला, औषधालय आदि भी खुलवाये।

शिकागो में आयोजित सर्वधर्म परिषद में सनातन धर्म के प्रतिनिधित्व ने स्वामी विवेकानन्द को 11 सितम्बर 1893 को विश्व विख्यात बना दिया। इसके बाद पुनः भारत लौटने पर उन्हें राष्ट्रव्यापी सम्मान मिला। मद्रास के विक्टोरिया हॉल में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ। इस सभा में खेतड़ी नरेश द्वारा भेजा गया अभिनन्दन पत्र मुंशी जगमोहन लाल द्वारा पढ़ा गया। यहीं पर मुंशी जी ने राजा अजीतसिंह की ओर

स्वामीजी को खेतड़ी पधारने का निमंत्रण दिया। तत्पश्चात् राजा अजीतसिंह ने स्वयं कलकत्ता जाकर स्वामीजी से खेतड़ी आने का सादर अनुरोध किया। राजा के सप्रेम अनुरोध को सम्मानित करने स्वामी विवेकानन्द 12 दिसम्बर, 1897 ई. को खेतड़ी पधारे। राजा अजीतसिंह ने खेतड़ी से 25 कि.मी. दूर बवाई आकर स्वामीजी की अगुवानी की और 6 घोंड़ों की बग्घी में, अपने निजी स्थान पर स्वामीजी को बैठाकर, अभिनन्दन, उत्साह भरे मार्ग से खेतड़ी लेकर आये। खेतड़ी प्रजा का उल्लास दोगुना हो गया—प्रथम तो उनके राजा अजीतसिंह ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंती में सम्मानित होकर निर्विघ्न विलायत यात्रा से लौटे थे और दूसरे उनके राजा के आध्यात्मिक गुरु स्वामी विवेकानन्द भी विश्व विख्यात होकर आ रहे थे। खेतड़ी निवासियों ने स्वागत में विभिन्न प्रकार से हर्ष, उल्लास, भक्ति आदि प्रकट किये। खेतड़ी कस्बे को दीपावली की तरह सजाया गया। भोपालगढ़ किले की प्राचीर पर तथा कस्बे में दीपक जलाये गये। राजा अजीतसिंह और स्वामी विवेकानन्द के अभिनन्दन के लिए खेतड़ी हाईस्कूल में सभा का आयोजन हुआ। जिसमें स्वामीजी का राजा तथा कई सभा-समितियों की ओर से अभिनन्दन किया गया। भारत प्रसिद्ध रामकृष्ण मिशन की ओर से स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने राजा अजीतसिंह को अभिनन्दन पत्र प्रदान किया तथा आभार प्रकट करते हुए धन्यवाद पूर्वक कहा, 'भारत वर्ष की उन्नति के लिए जो थोड़ा बहुत मैंने किया है, वह कभी न होता यदि राजा अजीतसिंह मुझे न मिलते।' उपस्थित नवयुवकों को पाश्चात्य आदर्श के मोह को त्यागकर प्राच्य आदर्शों में निष्ठा रखने का आह्वान करते हुए उन्होंने आगे कहा, 'पाश्चात्य आदर्श है भोग और प्राच्य आदर्श है त्याग। देश में हर बड़े काम त्याग और तपस्या से ही होंगे।' स्वामीजी अध्यापकों को सम्बोधित करते हुए बोले, 'शिक्षा का उद्देश्य है अपने हृदय में पहले से विद्यमान ईश्वरत्व को प्रकाशित करना। प्रत्येक बालक अनन्त ईश्वरीय शक्ति का आधार है, इस बात पर दृढ़ विश्वास स्थापित करना होगा। अध्यापकों को समझना होगा कि इन बालकों के हृदय में जो ईश्वरत्व सुसुप्तावस्था में विद्यमान है उसे जागृत करने का हमें प्रयत्न करना है। बालक स्वयं कुछ सोचना सीखें, इसके लिए उन्हें उत्साहित करना चाहिए। इस भौतिक चिन्तन का अभाव ही भारत की वर्तमान दुरावस्था का एक कारण है। इस प्रकार की यदि उन्हें शिक्षा दी जाए तो वे मनुष्य होंगे और अपने जीवन की अनेक कठिनाइयों को हल करने में स्वयं समर्थ होंगे।'

इस बार अधिक समय तक ठहरने का स्वामी जी को अवकाश न था। इसलिए खेतड़ी से विदा होकर वे जयपुर चले गये। राजा अजीतसिंह स्वयं उन्हें विदा करने उनके साथ जयपुर तक गये। राजा ने स्वामी विवेकानन्द की माताजी को एक सौ रुपये मासिक की सहायता देने की स्थायी व्यवस्था की थी। यह सहायता राजा और स्वामी जी के देहान्त के पश्चात् भी खेतड़ी राज के खजाने से माताजी के देहान्त तक निरन्तर जारी रही। इस प्रकार से राजपूताने के छोटे से ठिकाने के अधिपति ने भारत के नये विचारों का

स्वागत किया, सहानुभूति दिखाई तथा सहायता पहुंचायी। खेतड़ी नहीं बल्कि भारत को गौरवान्वित किया।

\* \* \* \* \*

## राजस्थान में सूफी परम्परा का विकास

डॉ. शैहला वाजिद

राजस्थान में इस्लाम का प्रचार संतों और फकीरों के माध्यम से हुआ। इन सूफी संतों ने इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों और बड़े सरल तरीके से लोगों को समझाया और अपने नैतिक आचरण से लोगों को प्रभावित किया। इस सूफी मतवालयम्बियों ने समाज में ऊंच नीच के व्याप्त भेदभावों को दूर कर एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राजस्थान भारत का एक ऐसा क्षेत्र है जहां सूफी मत की नींव ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती द्वारा रखी गई और बाद में सूफी मत सम्पूर्ण भारत वर्ष में फूला फला। 13वीं सदी का काल राजस्थान में सूफी मत का स्वर्ण काल रहा है। राजस्थान के अजमेर, नागौर, कोटा, झालावाड़, हिण्डोन आदि राजस्थान की सूफी परम्परा के प्रमुख केन्द्र रहे हैं।

भारत के प्रमुख सूफी सिलसिलों यथा चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्शबंदी, शतारी, मदारी, मलंग, कलंदर आदि इन सिलसिलों का राजस्थान में भी काफी प्रचार प्रसार हुआ। राजस्थान में इन सूफी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में केवल मौलिक अन्तर ही दिखाई दिए। वास्तव में सूफियों के सिद्धान्त बहुत कुछ व्यक्तिगत आध्यात्मिक और रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित हैं। अतएव एक ही सूफी सम्प्रदाय के कई मत मतान्तर हो गए। सर्वाधिक प्रसिद्धि चिश्ती सूफियों को प्राप्त हुई। ख्वाजा साहब के साथ जो जमात भारत आई उसमें काजी हमीदुद्दीन भी आए। ख्वाजा साहब से पहले एक सूफी सैयद हुसैन खिंगसवार तशरीफ ला चुके थे जो 597 हिजरी में शहीद हुए और वे शहाबुद्दी गोरी के रिसालदार थे। उनको राजपूतों द्वारा कत्ल कर दिया गया। ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के साथ-साथ काजी हमीदुद्दीन नागौरी, सूफी हमीदुद्दीन नागौरी, शेख कबीर चिश्ती, ख्वाजा हुसैन नागौरी, आदम शाह साहब जयपुर, मोलाना जियाउद्दीन साहब जयपुर, हजरत जमाल शाह साहब दौसा, खाटू के बाबा इस्हाक आदि संतों द्वारा राजस्थान में सूफी मत के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजस्थान में चिश्ती सिलसिले के विकास और उसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण ख्वाजा गरीब नवाज की नूरानी शख्सियत थी। राजस्थान में चिश्ती सम्प्रदाय के विकास का श्रेय ख्वाजा मोईनुद्दीन हसन चिश्ती के साथ सूफी हमीदुद्दीन नागौरी, हमीदुद्दीन गागरोनी (मिट्टेवली शाह गागरोन), फखरुद्दीन चिश्ती (सरवाड़), काजी चल फिरशाह (चिचौड़), मौलाना जियाउद्दीन साहब (जयपुर), शेख कबीर चिश्ती, हजरत कमालुद्दीन नागौरी, हजरत शेख ईस्माईल हसन सालार नागौरी (र.अ.), ख्वाजा

हुसैन नागौरी, दीवानशाह साहब (कपासन), हजरत इमरत रसूल शाह (उदयपुर), हजरत कमालुद्दीन, झाडूशाह साहब व मिस्कीन शाह साहब जयपुर आदि ने चिश्ती पंथ का राजस्थान में प्रचार-प्रसार किया।

बाबा फरीद के उपरान्त चिश्ती सम्प्रदाय निजामी और साबरी दो उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गये। ये सन्त मानव सेवा को अपना परम कर्तव्य मानते थे। चिश्ती संतों द्वारा सम्पूर्ण राजस्थान में अपना मुकाम कायम कर प्रेम, भाईचारा व साम्प्रदायिक सद्भाव का संदेश दिया। इन संतों ने सहिष्णुता पूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार से आपसी भाई-चारा, प्रेम व सांस्कृतिक समन्वय स्थापित कर राजस्थान की धरती को पवित्र बना दिया।

राजस्थान में फलने फूलने वाला सूफियों का द्वितीय महत्वपूर्ण सम्प्रदाय सुहरावर्दी है। इसके प्रणेता शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी है। इनका काल 1124 से 1234 ई. है। इनका दृष्टिकोण काफी उदार था। इनके द्वारा 'आदाब अल मुरीदीन' व 'अवारिफुल मारिफु' नामक पुस्तकें लिखी गई थी। भारत में इस धर्म के प्रवर्तक वहाउद्दीन जकरिया थे। ये बड़े मृदु स्वभाव के थे इसलिए उन्होंने देवदूत नाम पाया। सुहरावर्दी सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले को गुरु के आदेश से अपने सभी पापों के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसके बाद 5 कलमे पढ़ने के लिए कहा जाता है और धर्म पर पूरी तरह ईमान लाने के लिए कहा जाता है। नमाज तथा रोजा रखने पर जोर दिया जाता है। सुहरावर्दी संतों ने बादशाहों से सम्बन्ध स्थापित किये जिससे जनता को काफी लाभ पहुंचा। ये सूफी अपने परिवार के पालन पोषण का ध्यान रखते थे। राजस्थान में सुहरावर्दी मत का प्रचार प्रसार का श्रेय बहाउद्दीन जकारिया मुल्तानी के शिष्य शेख मुहम्मद अता (काजी हमीदुद्दीन नागौरी) को दिया जाता है। वे हदीस के ज्ञाता व शरीयत व तरीकत को जानने वाले थे। इनके शिष्यों में मुश्किल से चार नाम गिनाए जा सकते हैं-1. शेख अहमद नहरवानी (जुलाहे), 2. शेख एनुद्दीन (कसाई), 3. शेख शाही रसनताब (रस्सी बांटने वाला), 4. शेख महमूद मुईनुद्दुज (लोमवस्त्र सीने वाला)। इनके बाद इनके पुत्रों, पौत्रों और शिष्यों द्वारा इस मत का प्रचार-प्रसार राजस्थान में हुआ। वास्तव में सुहरावर्दी संतों को राजस्थान में चिश्ती संतों की भांति प्रसिद्धि व प्रचार नहीं मिला।

राजस्थान की मरु भूमि में चिश्ती सिलसिले के अतिरिक्त नक़्शबंदी, कादरी, शत्तारी, कालन्दरी, मज्ज़ूब, सुहागिया आदि संतों के द्वारा अपने-अपने मत का प्रसार किया गया है।

नक़्शबंदी सिलसिला-हिन्दुस्तान का एक और बड़ा सिलसिला नक़्शबंदी है। इसके संस्थापक, हजरत शेख बहाउद्दीन नक़्शबंदी (791 हिजरी) है। हिन्दुस्तान में यह सिलसिला ख्वाजा बाकी बिल्लाह (1603 ई.) के माध्यम से पहुंचा जिनकी दरगाह पुरानी दिल्ली में सदर बाजार से पहले ईदगाह रोड पर स्थित है। इनके प्रसिद्ध खलीफा शेख अहमद सरहिन्दी मजद्दीद अल्सफानी (1664 ई.) और शेख अब्दुल हक दहेलवी

(1624 ई.) है। नक़्शबंदी सिलसिले के काफी संत हमें इस मरुभूमि में देखने को मिलते हैं। नक़्शबंदी बुजुर्गों द्वारा राजस्थान में कई जगह अपनी खानखाहे स्थापित की गई। इस सम्प्रदाय के विस्तार में मुस्लिम संतों के साथ-साथ हिन्दू संतों ने भी काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया। हजरत अब्दुल हलीमशाह साहब हजरत नेक नाम शाह, हजरत चुप शाह साहब, हजरत मोहम्मद अली शेर खां साहब, हिन्दू संतों में आचार्य प्रवर चक्र बंधन, महात्मा श्री रामचन्द्र जी, डॉ. चन्द्र गुप्त, हजरत महात्मा श्री कृष्ण स्वरूप साहब आदि।

शत्तारी सिलसिला-सूफियों का एक सिलसिला शत्तारी भी है जो ईरान में इश्किया और रोम में विस्तामिया कहलाता है। हिन्दुस्तान में इसके संस्थापक शाह अब्दुल्लाह शत्तारी (980 हिजरी) है। ये शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के पुत्रों में से थे। इस सम्प्रदाय वालों में और मैं एक हूँ का सिद्धान्त मानते थे। इस सम्प्रदाय में फना व बका की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। राजस्थान में अकबर के काल में इस सम्प्रदाय का उदय हुआ। यहां इस सम्प्रदाय के प्रमुख संत शेख सादुल्लाह थे जो अपने समय के संत हुए हैं जो शेख जहूर हाजी हमिद् हुजूर के शिष्य थे। इनकी खानखाह बयाना के किले में स्थित है जहां हर धर्म जाति के लोग आते हैं। इनके अलावा और भी कई संत हुए हैं। जिनके द्वारा शत्तारी सिलसिले को राजस्थान प्रचार-प्रसार हुआ।

कादरिया सिलसिला-कादरिया सिलसिले ने भी हिन्दुस्तान में विशेषकर दक्कन में अधिक कार्य किया। इस सिलसिले का सम्बन्ध गौस ए आजम शेख अब्दुल कादिर जिलानी र.अ. (561 हिजरी) से है। जिनका मजार बगदाद में है। ये सिलसिला शरीअत ओर तरीकत दोनों से परिपूर्ण था। जिन्न व शगल (इबादत में लीन होना) समाज का सुधार और आध्यात्मिक प्रशिक्षण इस सिलसिले की विशेषता थी। कादरी सम्प्रदाय में संगीत निषिद्ध था पर इसके एक उपसंप्रदाय नक़्शाही में 'हाल' की दशा उत्पन्न करने के लिए संगीत का आश्रय लिया गया। इस सम्प्रदाय वाले टोपी में गुलाब का फूल लगाये रहते हैं। इस सम्प्रदाय वाले हरी पगड़ी बांधते हैं। इस सम्प्रदाय में परमात्मा के स्मरण करने के चार तरीके बनाए गए हैं-1. यकजरबी, 2. दूजरबी, 3. सेजरबी, 4. चहार जरबी।

कादरी सम्प्रदाय के बाद में दो उपसम्प्रदाय हो गये-1. रजाकिया-शाह अब्दुल रज्जाक 2. वहाबिया-शहजादा अब्दुल वहाब। शाह कुमैस भारत में कादरी सम्प्रदाय के प्रथम प्रचारकों में माने जाते हैं। राजस्थान के नागौर में एक खानकाह है जो कादरी संत सैयद अब्दुल वहाब नागौरी द्वारा स्थापित की गई। नागौर में ही एक संत शेख नाज मोहम्मद अब्बासी के शिष्य तीन दरवेश हुए। मीर सैयद इस्माईल बिन, सैयद सैफुद्दीन अब्दुल वहाब द्वारा इस सिलसिले का राजस्थान में काफी प्रचार हुआ।

\*\*\*\*\*

## भील मीणा जाति का इतिहास

### राजस्थान के संदर्भ में

गोपाल लाल मीना एवं ज्ञानेश्वर मीना

राजस्थान में मीणा व भील जनजातियों का आदिकाल से निवास स्थान रहा है। इतिहास में ज्ञानके पर इनके शौर्य व साहस के प्रमाण मिलते हैं। मध्यकाल से पूर्व छोटी-छोटी रियासतों व जागीरों पर इनका आधिपत्य था और कहीं गमेती की भूमिका में रहे थे। इस जाति के लोग स्वतंत्रता प्रेमी रहे हैं। राजपूतों के उदय ने इनके इतिहास व संस्कृति का बड़ी निर्ममता के साथ विनाश कर दिया। फलतः इनके पुरातन गौरवपूर्ण इतिहास का बहुत कम अंश सुरक्षित रह पाया है।

प्राचीन राजस्थान में कई स्थानों पर भील एवं मीणा लोगों का शासन था जिन्हें राजपूतों ने पराजित किया और अपना शासन स्थापित किया। जब यह लोग हार गये तो उनको पहाड़ी एवं जंगलों में शरण लेनी पड़ी और तभी से वे इस प्रकार के दुर्गम स्थानों में रहते हैं। जहां आवागमन के साधनों का अभाव है। इसलिए ही वे शेष लोगों से अलग-थलग पड़ गये हैं।

मीणों के किले-राव सारस्वत ने मीणा इतिहास में लिखा है। आजमगढ़ का किला निश्चित रूप से मीणों का रहा है। पुरातत्व विभाग का सूचना पट्ट भी इस तथ्य को स्पष्ट करता है। यह किला सैनिक दृष्टि से उपयोग के लिए बनाया गया होगा, किले के अन्दर एक जलाशय और दो-तीन पक्के भवन हैं। इसी तरह हथरोई का किला भी मूल रूप से मीणा राजाओं द्वारा निर्मित किया होगा, यह केवल एक छोटी-सी टेकरी पर बनी गढ़ी है। इसके पास एक शिव मंदिर है। जो अति प्राचीन है। नाहर गढ़ के भव्य दुर्ग के पीछे मीणों की प्राचीन बस्ती है। पहले यहां मीणा रहते थे लेकिन अब यह स्थान वीरान है। जमवारामगढ़ का किला भी मूल रूप से मीणों का था। वहां राव मेदा के प्राचीन महलों को आज भी मीणा समाज के लोग बड़ी रुचि से देखते हैं। सवाई माधोपुर से 6 मील दूर स्थित रणथम्भौर का किला 'टादू खांप के मीणा द्वारा बनाया गया था। हम्मीर की सेना में सीहरा वंश के मीणा बड़ी बहादुरी से लड़े थे। इसलिए संभव है कि मीणों की इस भूमि में बना यह दुर्ग भी मूल रूप से अनेक दुर्गों के समान ही मीणा का रहा होगा। जयपुर से पांच किलोमीटर की दूरी पर परकोटों से घिरी हुई एक बस्ती 'खोह' यहां मंदिर, बावड़ियां और महल है। यही खोह कभी चांदा की राजधानी थी यहां मीणों का राज चलता था। ग्यारहवीं शताब्दी में यहां आलणसिंह नाम का राजा राज करता था। मीणों के इस राज्य पर कछावों ने अपना अधिकारी करने के लिए छल, कपट से काम लिया। खोह में आज भी मीणा राजाओं के समय के महल, इमारतें आदि हैं। खोह के आसपास चांदा मीणों के कई गांव आज भी हैं। मांची में सीहरा वंश का मीणा राजा

रावनाथू सीहरा राज करता था। वह बड़ा बहादुर था। उसकी बहादुरी के किस्से आज भी आदिवासी भील-मीणा के लोक गीतों में और लोक गाथाओं में सुनने को मिलते हैं। कर्नल टॉड की मान्यता है कि दूलहराय मांची के पास मीणों से युद्ध करते समय मारा गया था-अजमेर के चौहान राजा की पुत्री मारुणी के साथ विवाह करके लौटते समय दुलहराय को ग्यारह हजार मीणों ने घेर लिया था उसे मार दिया था।

हाड़ौती में हाड़ा चौहान राज्य करते थे, इसलिए कोटा, बून्दी और झालावाड़ जिले के इस क्षेत्र को 'हाड़ौती' नाम दिया गया है। यहां भील-मीणों के राज्य सर्वोच्च सोपान पर थे। किन्तु बून्दी के मूल राज्य पर हाड़ों ने अधिकार कर लिया था। बून्दी में हाड़ा देवा ने मीणों का वह राज्य छीनकर चौहानों के राज्य की नींव डाली। कहा जाता है कि आसलपुर का ध्वस्त नगर और अकेलगढ़ का पुराना किला भीलों का ही था। बून्दी के चौहान राजाओं ने इस क्षेत्र के भील-मीणों के राज्यों को समाप्त कर दिया। हाड़ौती में राजपूतों ने कोट्या नामक भील को मारकर कोटा नगर बसाया। झालावाड़ जिले के मनोहर थाना प्रान्त में भीलों का राज्य चलता था, यहां पर भील राजा चक्रसेन राज्य करता था। महाराव भीमसिंह ने चक्रसेन को पराजित किया। किशनगंज के क्षेत्र में बना भंवरगढ़ का किला मीणों का था। 'जला' नामक मीणों के बसाये हुए जालौर में भी मीणों का प्रभुत्व रहा है। बाँस्या या बासना को मारकर जगमाल ने बाँसवाड़ा नगर बसाया। डूंगरपुर के स्वतंत्र आदिवासी राजा डूंगरिया के नशे में मारकर डूंगरिया के पाल या ग्राम पर कब्जा कर लिया गया जो डूंगरपुर नगर बना। जहाजपुर (जिला-भीलवाड़ा) का क्षेत्र भील-मीणा के साहस के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहां मीणा का दमन करने के लिए मीणों की ही एक मजबूत सेना तैयार की गई थी। खैराड़ की मीणों के असीम शौर्य और पराक्रम की कहानियां आज भी लोग याद करते हैं। बनास के दोनों ओर प्रांतों को ही खैराड़ नाम से जाना जाता है।

उदयपुर-डूंगरपुर मार्ग पर भील-मीणों की 17 चौकियां थी। आसपुर तहसील में सोम और माही नदियों के बीच 'कटारा' क्षेत्र में मीणे बड़े ताकतवर रहे हैं। यहां के मीणा की पाल में उसके गमेती (मुखिया) की आज्ञा के बिना राजपुरुष भी प्रवेश नहीं पा सकते थे। राज्य का लगान वसूल करके भी गमेती ही भेजते थे। घने जंगलों में घिरा हुआ वह क्षेत्र वागड़ के स्वाभिमानी मीणों की स्वच्छन्द विहारस्थली रही है।

भील-मीणा और अंग्रेज-मुगल सत्ता के पतन के बाद भील-मीणा के होंसले फिर बुलंद हो गये। सन् 1872 में जहाजपुर के मीणा की लूटपाट से आतंकित होकर अंग्रेजों ने उस क्षेत्र को प्रशासकीय दृष्टि से अलग कर दिया और एक विशेष अधिकारी की वहां नियुक्ति की गई। लेकिन इस विशेष अधिकारी (सुपरिंटेंडेंट ऑफ मीणा डिस्ट्रिक्ट्स) ने मेवाड़, बून्दी, जयपुर के राजाओं और दरबारों की सेना की सहायता से मीणों को कुचलने का कार्य आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि मीणों ने लूटमार बंद कर दी और खेती करके अपना गुजारा करने लगे। सन 1855 में खैरग के मीणों का

सामना करने के लिए अंग्रेजों ने जयपुर अजमेर बूंदी, मेवाड़ की सरहदों पर छावनी की व्यवस्था की और रियासती थाने तैनात किये। 1857 की क्रान्ति में भील-मीणों ने भी सहयोग दिया। मेवात के मेवों ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत की और तीस यूरोपियनों को कैद कर लिया। अंग्रेजों ने बरार के रावत भारमल को 'राव' ककरा के रावत उमा को 'राव', दवेर के ठाकुर हीरा को 'राव' का खिताब देकर अपनी क्रूर नीति का इस्तेमाल किया। इस तरह अंग्रेजों ने अपनी बुद्धिमानी से सामंतों, राजा, महाराजाओं की तरह भील-मीणों को भी शांत किया जो भील-मीणे फिर भी शांत नहीं हुए, उन्हें बागी या डाकू कहकर कठोर से कठोर दण्ड दिया।

\*\*\*\*

## राजस्थान के रियासत कालीन आर्थिक प्रबन्धन में जनानी ड्योढ़ी की भूमिका, दौलत सिंह नरूका

राजपूताना की रियासतों में जनानी ड्योढ़ी की महिलाओं का अपना स्थान था। राजमाता (माजी साहिबा), महारानी, रानी, पासवान, पड़दायत, खवास और पातरों आदि की अन्तःपुर में अपनी सरकार होती थी। जनानी ड्योढ़ी की इन महिलाओं को शासकों द्वारा जागीर प्रदान की जाती थी। जागीर प्रदान करना शासक की इच्छा पर निर्भर अवश्य था, लेकिन प्रदान की गई जागीर के कार्यों में शासक सामान्यतः हस्तक्षेप नहीं करते थे।

राजघरानों में जनानी ड्योढ़ी आर्थिक दृष्टि से समाज के अन्य महिला वर्गों से काफी सुदृढ़ एवं व्यवस्थित थी। नरेश की माता राजमाता कहलाती थी। जनाना ड्योढ़ी में राजमाता का सम्मानित स्थान होता था। नरेश द्वारा राजमाता को खर्च के लिये जागीर दी जाती थी जिसकी आमदनी से राजमाता स्वयं के खर्च करना, धार्मिक कार्यों के लिये धन खर्च करना, निर्माण कार्य करवाना, जनकल्याण कार्य करती थी।

राजमाता के बाद पटरानी का स्थान होता था। पटरानी का सम्मान अन्य रानियों से अधिक होता था तथा उसे जागीर का पट्टा भी बड़ा प्राप्त होता था। नरेश द्वारा रानियों को जागीर प्रदान करने, किसी जनानी महफिल में बैठने के क्रम, कोठारों से गहना, वस्त्र, अन्न की प्राप्ति के समय एवं गढ़ से सवारी से भी यह स्पष्ट हो जाता था कि कौन सी रानी किस पद एवं सम्मान की अधिकारिणी है। राजा के कई रानियों होती थी जिन्हें भी उनके निजी खर्च के लिये जागीरें दी जाती थी। राजकुमारियों को जिन्हें बाईसा भी कहा जाता था उन्हें भी जागीरें प्रदान की जाती थी। राजमाता, पटरानी, रानियों और बाइयों के अलावा खवास, पासवान, पड़दायत, पातरों को भी जागीरें व गांव के पट्टे दिये जाते थे।

राज्य द्वारा प्राप्त जागीर पर इन महिलाओं का पूरा अधिकार होता था। जागीर के

प्रबंध के लिये इनके अपने कामदार, विल्लेदार एवं गुमाश्ता आदि होते थे। व्यक्तिगत खर्च के लिये प्राप्त जागीरों को हाथ खर्च की जागीर की संज्ञा दी जाती थी। इन जागीरों के प्रबंध के लिये कामदार शासक की अपेक्षा रानी माजी या जिनको जागीर मिलती थी उनके प्रति उत्तरदायी होते थे। माजी, रानियां तथा पड़दायतें अपने कामदारों को परवाने भेजती थी और हुक्म देती थी।

इन्हें अपने जागीरी क्षेत्र में हुक्म जारी करने के साथ ही मोहर लगाने का अधिकार प्राप्त था। अपने जागीर क्षेत्र में होने वाले वैवाहिक आदि विवादों में हस्तक्षेप करने का भी इन्हें अधिकार प्राप्त था। इस सम्बन्ध में इन्हें शासक से खास रूकका प्राप्त होता था। राज्य और बाहर की घटनाओं की जानकारी के लिये इनके अपने अधिकारी नियुक्त होते थे। अपने कामदारों को राजमाता, महारानी, रानियां, पड़दायतें आदि अपनी जागीर की आय से वेतन देती थी। कामदार जागीरों की आय-व्यय का पूरा ब्यौरा उन्हें देते थे, जनानी ड्योढ़ी की 27 महिलाओं के पास जागीर गांवों की आय-व्यय का पूरा रिकार्ड रहता था।

व्यक्तिगत खर्चों के अलावा प्राप्त आय को ये महिलाएं जन लोककल्याण हेतु, पूजा-पाठ, कुओं-तालाबों और देवस्थान, मंदिर निर्माण आदि कार्यों में भी खर्च कर सकती थी। पासवान गुलाबराय ने कुंजबिहारी जी का मंदिर बनवाया। मानसिंह की महारानी तीजा भटियाणी ने ठाकुरजी का मंदिर वि.सं. 1905 में बनवाया तथा तालाब पदमसर के ऊपर श्रीनाथजी का मंदिर बनवाया। धानमंडी के अन्दर नाथजी का मंदिर रानी तुंवर द्वारा करवाया गया। रानियां देवस्थानों पर खर्च करती थीं तथा त्यौहारों पर मंदिरों में भेंट एवं प्रसाद भेजती थी। महाराजा भीमसिंह की महारानी देरावर भटियाणी द्वारा वि.सं. 1851 में देवस्थानों पर 88 रुपये त्यौहारों पर भेंट किये गये।

धार्मिक कार्यों के लिये ये महिलायें तुलादान भी करती थी। सन् 1708 में महाराजा जसवन्तसिंह की रानी देवड़ी ने सूरसागर के बगीचे में तुलादान किया। वि.सं. 1720 में इनकी हाडी रानी द्वारा 'राईका बाग' बनवाया गया तथा हाड़ीपुरा बसाया गया। कल्याण सागर नामक तालाब (वर्तमान में रातानाडा) भी इनके द्वारा बनवाया गया। महाराजा अभयसिंह (1724-49) की रानी बड़ी तुंवर ने शहर के गोल नामक स्थान पर झालरा बनवाया, जिसकी लागत रुपये 42000 आयी। पासवान गुलाबराय ने गुलाब सागर तालाब बनवाया तथा एक अन्य तालाब तेजसागर बनवाया। पड़दायत मगराज द्वारा बाड़ी की घाटी में तालाब एवं नागौरी दरवाजे के बाहर बावड़ी करवाई गई। पड़दायत लछराय ने भी बावड़ी बनवायी तथा बाग लगवाया।

बूंदी में नागर सागर कुण्ड युगम पहले गंगा सागर और यमुना सागर के नाम से जाना जाता था। इन्हें रामसिंह की रानी चन्द्रभान कंवर ने बनवाया था। अपनी जागीर में से दान स्वरूप जमीन देने का भी इन्हें अधिकार प्राप्त था। उदाहरणार्थ बाजी जैसलमेरी कोटा के रामसिंह की द्वितीय रानी थी, ये रामस्नेही सम्प्रदाय को मानती थी, दीक्षा लेने

के बाद इन्होंने महन्त श्री दलसुद राम को अपनी जागीर में बुलाया और उन्हें अपनी जागीर से 25 बीघे जमीन दान दे दी। मंदिरों के निर्माण के लिये सेठ साहूकारों से कर्ज लेने का भी इन्हें अधिकार प्राप्त था। कोटा के रामसिंह की पटरानी राणावत जी ने मंदिर निर्माण के लिये साहा पानाचन्द उत्तमचन्द से लगभग 38133 रुपये 1 रुपये सैकड़े सूद के हिसाब से कर्ज लिया था और अपने जागीरी गांव करनवास व कुराढ़ की आय तनख कर दी थी। प्राकृतिक आपदा के समय ये अपने जागीर की रैयत के लिये खाने का इन्तजाम करती थी ताकि गांव वीरान न हो जाये। अंग्रेजों के संरक्षण में आने के बाद इन्हें वार्षिक भत्ता मिलने लगा और इनके हाथों से जागीरें छीन ली गई। धीरे-धीरे इनका जागीरों से क्षेत्राधिकार कम होने लगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि रियासत कालीन राजस्थान में जनानी ड्योढ़ी की भूमिका आर्थिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण थी।

\*\*\*\*\*

## सीकर ठिकाने में किसान आन्दोलन (1922-1938)

मीना भास्कर

राजस्थान के अन्य राज्यों के किसानों की भांति जयपुर राज्य के किसानों की स्थिति भी बड़ी दयनीय थी। लगान, लाग-बाग तथा करों का भार अधिक था। कृषक जागीरदारों के आतंक, अत्याचार और शोषण से उत्पीड़ित थे। इनमें अधिकांश कृषक जाट थे। सीकर ठिकाने में बढ़ी हुई लगान दर, विविध प्रकार की लाग-बाग तथा बेगार प्रथा के विरुद्ध किसानों का असंतोष उस समय एक व्यापक आन्दोलन के रूप में फूट पड़ा जब सीकर के शासक माधोसिंह की मृत्यु के बाद नए रावराजा ठाकुर कल्याणसिंह ने 1922 ई. में 25 से 50 प्रतिशत तक अधिक लगान वसूल करना प्रारम्भ कर दिया। किसानों ने संगठित होकर इसका विरोध किया। कल्याणसिंह ने उन पर अत्याचार किये। उनका कहना था कि पूर्व ठाकुर के दाह संस्कार, मृत्युभोज तथा स्वयं के तलवारबंधाई समारोह में अधिक व्यय होने के कारण भूमि कर में वृद्धि करना आवश्यक हो गया है। उसने किसानों को आश्वासन दिया था कि अगले वर्ष उनसे ली जा रही लागों में छूट दे दी जायेगी। मगर अगले वर्ष रावराजा ने अपने वचन का पालन नहीं किया। जिसके कारण किसानों ने लगान देना बंद कर दिया।

20 जनवरी 1934 को सीकर में प्रजापति जाट महायज्ञ का आयोजन किया गया। मास्टर चन्द्रभान, चौधरी हरूसिंह तथा ठाकुर देशराज, चौधरी देवीसिंह आदि ने सक्रिय भाग लिया। इनकी गतिविधि को रोकने के लिए चन्द्रभान सिंह जो कि आयोजन के मंत्री थे, उनको गिरफ्तार कर लिया। इससे किसानों में अशांति फैल गई और लगभग 200 जाटों ने जयपुर सरकार को ठिकाने की दमन नीति के विरुद्ध ज्ञापन दिया। इससे रुष्ट होकर ठिकाने ने पृथ्वीसिंह, चौधरी हरूसिंह, चौधरी तेजसिंह समेत 18 नेताओं को

गिरफ्तार कर लिया तथा स्त्रियों के साथ मारपीट की। इसके विरोध में जाटों ने सभा की। इस सभा के मुख्य नेताओं, जिनमें गणपतसिंह, जीवनसिंह, राधामल प्रमुख थे, को गिरफ्तार कर लिया गया।

20 जनवरी, 1934 ई. को सिहोट के ठाकुर मानसिंह ने 200 हथियारबंद व्यक्तियों को साथ लेकर सोतिया का बास नामक गांव पर हमला कर वृद्धों, बालकों, महिलाओं सभी को बेरहमी से पिटाई की और महिलाओं के कपड़े फाड़कर उन्हें सबके सामने गंगा घुमाया गया। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र 'दैनिक लोकमान्य' में इस घटना के विरोध में लेख लिखे गये।

सोतिया का बास में महिलाओं के साथ किये गये दुर्व्यवहार के विरोध में 25 अप्रैल, 1934 ई. को कटराथल नामक स्थान पर सरदार हरलालसिंह की पत्नी श्रीमती किशोरी देवी की अध्यक्षता में एक विशाल महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें लगभग 10,000 जाट महिलाओं ने भाग लिया। ठाकुर देशराज की धर्मपत्नी श्रीमती उत्तमादेवी इस सम्मेलन की संयोजिका थी। अन्य महिलाओं में श्रीमती दुर्गादेवी शर्मा, श्रीमती फूला देवी, श्रीमती रमादेवी आदि थी। यह महिला सभा इस इलाके में प्रथम व अनूठी घटना थी। सम्मेलन में प्रस्ताव पारित कर महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार के लिए सिहोट ठाकुर को दण्डित करने की मांग की गई। अब जाट पंचायत में अधिक मजबूती पैदा हो गयी और किसानों ने लगान देने से मना कर दिया। इस पर राव राजा ने किसानों पर अत्याचार किये।

देश-विदेश में इन अत्याचारों की खबरें फैल जाने के बाद जयपुर सरकार ने एक अंग्रेज अफसर डब्ल्यू.टी. वैब को सीकर ठिकाने का सीनियर अधिकारी बनाकर भेजा। 29 मई 1934 को सीकर किसान पंचायत के मंत्री देवीसिंह के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल वैब से मिला। वैब ने ठिकाने व किसानों के बीच समझौता करवा दिया। यह समझौता किसानों के लिए भारी सफलता थी। मगर इस समझौते का भी सीकर ठिकाने के द्वारा कभी पालन नहीं किया गया।

सीकर जिले के खुडी गांव में 22 मार्च, 1935 ई. को जाटों की एक बारात दूल्हे को घोड़ी पर बैठाकर राजपूत क्षेत्र से गुजर रही थी, तब राजपूतों ने इसे परम्परा के विपरीत मानकर इसका विरोध किया। दोनों जाति के लोगों के बीच सशस्त्र झगड़ा हुआ। जिसमें एक जाट मारा गया। इसके बाद 27 मार्च, 1935 ई. को ठिकाने के विशेष अधिकारी वैब द्वारा भी धरने पर बैठे जाटों पर लाठीचार्ज करवाया जिसमें चार जाट मारे गये एवं लगभग सैकड़ों घायल हुए। इसके बाद एक समझदार राजपूत ने अपने कंधे पर बैठाकर दूल्हे से तोरण मारने की रस्म अदा करवाई। यहां उसने जाटों को यह कहकर खुश कर दिया कि ठाकुर का कंधा घोड़ी से बड़ा है और राजपूतों को यह कहकर कि घोड़ी पर बैठकर तो तोरण मारने ही नहीं दिया न! खुडी गांव में तब से प्रचलित है कि 'घोड़ी बड़ी क ठाकुर को खुंवौ बडौ' (घोड़ी बड़ी या ठाकुर का कंधा)।

खण्डवा से प्रकाशित समाचार-पत्र 'कर्मवीर' में इस बर्बर अत्याचार की तीव्र निन्द की गई। महात्मा गांधी ने भी 'हरिजन' समाचार-पत्र में एक लेख द्वारा इस काण्ड की आलोचना की। खुडी कांड के बाद जाटों पर अत्याचार किए गये और उनका दमन करने के लिए कुछ कठोर कदम उठाये। 10 अप्रैल 1935 को जयपुर सरकार ने प्रमुख नेताओं को वहां से निष्कासित कर सीकरवाटी जाट पंचायत और जाट किसान सभा को अवैधानिक संस्थाएं घोषित कर लोगों को इनमें भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अब जाट गांवों में संगठित होने लगे। तथा आक्रोश स्वरूप 15 गांवों के किसानों ने राजस्व भुगतान न करने का निर्णय लिया। यद्यपि ठिकाना अनेक गांवों से बलपूर्वक राजस्व वसूल करने में सफल रहा मगर कूदन गांव में ठिकाने के कर्मचारियों को भारी विरोध का सामना करना पड़ा।

किसानों के लगान-बहिष्कार आन्दोलन का दमन करने के लिए ठिकाने के विशेष अधिकारी वैब ने जयपुर से सशस्त्र पुलिस की टोली मंगवा ली और 25 अप्रैल, 1935 ई. को कूदन गांव पर धावा बोल दिया जिसमें पुलिस की गोली से चार किसान शहीद और सैकड़ों घायल हो गए। गांव को लूट कर उजाड़ा दिया गया। कूदन गांव के हत्याकाण्ड की भी 'हाउस ऑफ कामंस' में चर्चा हुई। इसके बाद वैब द्वारा गोठड़ा भूकरान, पलथाना, कटराथल, कनलाऊ, राजास, भैरूपुरा आदि गांवों में भी पुलिस ने लगान वसूली के नाम पर अत्याचार किए। पलथाना के किसान नेता हरूसिंह बुरड़क ने लगान देने से मना कर दिया। हरूसिंह व अन्य जाट नेताओं को गिरफ्तार कर उन्हें अपमानित किया गया। इस प्रकार पुलिस ने लगान वसूली के नाम पर तबाही मचा दी, अनेक घरों को लूटा, स्त्रियों को बइज्जत किया, तथा किसानों द्वारा संचालित सभी विद्यालयों को अनिवार्य रूप से बन्द कर दिया। बाहरी लोगों, यहां तक की सर छोटूराम को भी सीकर में प्रवेश नहीं करने दिया। कूदन काण्ड व सीकर के गांवों में होने वाले अत्याचारों की चर्चा देश में फैल गयी। वैब के अत्याचारों के विरोध में 26 मई, 1935 ई. को सम्पूर्ण भारत में 'सीकर दिवस' मनाया गया। जून में 'हाउस ऑफ कामंस' में सीकर की गूज पहुंच गई। खूड़ी-काण्ड से शुरू हुआ यह संग्राम किसानों की जीत में बदल गया। किसानों की मूल शिकायतें दूर कर दी गयीं। बकाया लगान माफ हो गये और भूमि बंदोबस्त के निर्देश दे दिये गये।

सीकर के किसानों ने 12 जुलाई, 1935 को जयपुर राज्य कौन्सिल के उपाध्यक्ष के समक्ष विशाल प्रदर्शन किया जिसमें भारी संख्या में स्त्रियों ने भी भाग लिया। पुलिस ने इस प्रदर्शन को तितर-बितर कर दिया। 1934-35 के राजस्व का भुगतान तो किसानों ने स्वेच्छा से निजामत कार्यालय में कर दिया था, किन्तु वर्ष 1935-36 की राजस्व वसूली ठिकाने स्वयं मनमाने तरीकों से करने लगे। मार्च 1936 में आन्दोलन पुनः प्रारम्भ हो गया था। लेकिन 1938 के आरम्भ तक किसान शान्त बने रहे। इस समय जयपुर राज्य प्रजामण्डल ने किसान आन्दोलन को समर्थन दिया व सहयोग करना प्रारम्भ कर

दिया। 8-9 मार्च, 1938 को इसके प्रथम अधिवेशन में ठिकानों के सन्दर्भ में प्रस्ताव पास कर किसानों की सहानुभूति प्राप्त कर ली।

सितम्बर 1938 में सीकर के किसानों ने पुनः संघर्ष आरम्भ कर दिया। इस संघर्ष को आगे बढ़ाने, जाटों में एकता एवं संघर्ष की भावना विकसित करने एवं बाहर से जन समर्थन जुटाने के उद्देश्य से 'जाट क्षत्रिय किसान पंचायत' का वार्षिक जलसा 11-12 सितम्बर 1938 को गोठड़ा नामक गांव में आयोजित किया। इस जलसे में 10-11 हजार के मध्य जाटों, 500 स्त्रियों एवं अन्य जातियों ने भाग लिया। 1938 के बाद भी छोटे पैमाने पर कुछ आन्दोलन हुए परन्तु उनका कोई विशेष महत्व नहीं था। किसानों की न्यायसंगत मांगे मान लेने के बाद सीकर के दीर्घकालीन किसान संघर्ष का अन्त मार्च, 1947 में जयपुर में हीरालाल शास्त्री के नेतृत्व में लोकप्रिय सरकार के गठन हो जाने के साथ ही हुआ।

\* \* \* \* \*

## महर्षि दयानन्द के पत्रों में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक चिन्तन

सुनीता स्वामी

आधुनिक भारत के निर्माताओं में महर्षि दयानन्द का सर्वोत्तम स्थान है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन काल में जो पत्राचार हुए उस विषय में उनके प्रमुख शिष्य महात्मा मुंशीराम जो कालान्तर में स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए उन्होंने अत्यधिक अध्यवसाय कर एक एक पत्र को ढूंढकर ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार भाग-1 शीर्षक से उन्हें प्रकाशित किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखे गये पत्रों एवं विज्ञापनों का आलोक बहुत विस्तृत साहित्य को प्राप्त कर चुका है। वर्तमान में इनके चार विशाल पत्रों एवं विज्ञापनों के संग्रह हैं, जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को लिखे गये उपलब्ध पत्रों एवं विज्ञापनों की संख्या लगभग 574 है एवं स्वामी दयानन्द को जिन व्यक्तियों ने पत्र एवं विज्ञापन लिखे जिनकी संख्या लगभग 462 है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्यक्तिगत पत्र व्यवहार उनके भक्तों, प्रशंसकों और चरित्र लेखकों के लिये ही नहीं अपितु सर्व साधारण के लिये भी एक उपयोगी और उत्सुकता का विषय रहा है।

इसमें अत्यन्त उपयोगी पत्रों को भी उन्होंने रखा तथा कुछ उन्होंने अंग्रेजी के पत्र भी लिखवाये थे उनके पत्र राजस्थान के महाराजाओं जिनमें उदयपुर, जोधपुर, मसूदा, भिनाय इत्यादि तो थे ही इसके अतिरिक्त थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापक मैडम



ब्लॉवट्स्की एवं कर्नल अल्कोट को भी उन्होंने पत्र लिखे। उनके पत्रों का संवाद केशवचन्द्र सेन से, तत्कालीन मराठी चिन्तक के.एम. केलकर जैसे विद्वान से तथा महान् क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा से था। इन पत्रों के द्वारा हमें स्वामी दयानन्द के विचारों को समझने में अधिक लाभ होता है।

उन्होंने पत्रों में एक ही विचार को नहीं लिखा, अपितु पत्रों के द्वारा उन्होंने मूर्तिपूजा, वेदभाष्य, शिक्षा, शुद्धिकरण, राजनीति, गोरक्षा, राजधर्म, गृहस्थ चर्चा एवं व्याकरण की शिक्षा के दृष्टिकोण से भी उन्होंने अपने पत्रों को तिथिवार लिखा।

दयानन्द सरस्वती संस्कृत और आर्य भाषा के पण्डित थे। गुजराती, उनकी मातृभाषा थी, उर्दू व अंग्रेजी से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, परन्तु उनके सभी पत्र इन पांच भाषाओं में मिलते हैं। संवत् 1930 में कोलकता से आकर उन्होंने आर्य भाषा बोलना प्रारम्भ कर दिया और आर्य भाषा के पत्र उस समय से प्रारम्भ हो गये। जो लोग संस्कृत तथा आर्य भाषा नहीं जानते थे फिर वे उत्तर अंग्रेजी या उर्दू में अनूदित हो जाया करते थे। मेडम ब्लॉवट्स्की व कर्नल अल्कोट के पत्र अंग्रेजी में अनुवाद करके भेजे जाते थे। गुजराती भाषा का एक ही पत्र संग्रह में देखने को मिला है संभवतः गुजराती भाषा में ही लिखने में विवाद पैदा हुआ है।

\*\*\*\*\*

## राजस्थान का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पर्यटक स्थल-भटनेर दुर्ग

डॉ. रतन कुमार स्वामी एवं डॉ. तौफिक हुसैन

उत्तरी सीमा का प्रहरी तथा इस क्षेत्र के गौरव भटनेर के किले का निर्माण राजा भूपत भाटी (295-338 ई.) ने अपने पिता के शासन काल में युवराज पद पर रहते हुए अपने पिता राजा भाटी (279-295) के आदेश से सन् 286 ई. में कैकेय नामक वास्तुकार की देखरेख में सरस्वती नदी (घग्घर) के बाएं किनारे पर किया और राजा भाटी के नाम पर उसका नाम भाटीनेर रखा, जिसे अब भटनेर (हनुमानगढ़) के नाम से जाना जाता है। भाटियों की वीरता और पराक्रम का साक्षी भटनेर का प्राचीन किला बीकानेर से 144 मील उत्तर पूर्व में हनुमानगढ़ टाउन (राजस्थान) में स्थित है। मरुस्थल से घिरा होने के कारण इस दुर्ग को धान्वन दुर्ग की श्रेणी में रखा जाता है। यह किला 52 बीघा भूमि पर स्थित है, जिसकी दीवारें 90 डिग्री के कोण के प्रारूप में बनायी गई है। किले में 52 बुर्ज और 6 हजार 380 कंगूरे सुरक्षा की दृष्टि से बनाये गये थे, जिससे सम्पूर्ण दीवारों की सुरक्षा और आत्मरक्षा के लिए दुश्मनों पर आक्रमण किया जा सके। किले का निर्माण पक्की ईंटों और चूने से हुआ है। किले के निर्माण पर 4 करोड़ 6 लाख

13 हजार 300 रुपये खर्च हुए। प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा ने ऐतिहासिक प्रमाणों व तथ्यों के विवेचन के आधार पर इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि तुर्ककालीन ऐतिहासिक तबरहिन्द (हिन्दुस्तान का प्रवेश द्वार) भटनेर ही था।

**भटनेर दुर्ग की स्थापत्य कला**-किले के चारों ओर पक्की ईंटों से निर्मित परकोटे के भीतर निम्नलिखित प्रमुख इमारतों के अवशेष मिलते हैं।

1. प्रधान प्रवेश द्वार-किले में प्रवेश के प्रधान प्रवेश द्वार अभी भी विद्यमान है, जिसमें संगमरमर के उपयोग के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगत होते हैं।

2. हनुमानजी का मंदिर-प्रधान प्रवेश द्वार हेतु ठीक सामने हनुमानजी का मंदिर है, जिसका निर्माण सूरतसिंह ने किले पर आधिपत्य के उपलक्ष्य में करवाया। क्योंकि उस दिन मंगलवार था।

3. दूसरा प्रवेश द्वार-किले के दूसरे प्रवेश द्वार पर वि.सं. 1665 (1608 ई.) का फारसी लिपि का एक संक्षिप्त लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार राव मनोहर कछवाहा ने शाही आज्ञा से वहां पर मनोहरपाल दरवाजा बनाया।

4. तीसरा प्रवेश द्वार-किले के तीसरे प्रवेश द्वार पर पत्थर का एक अभिलेख है, जिसके ऊपर वि.सं. 1677 (1620 ई.) खुदा हुआ है तथा नीचे राजा के साथ छः स्त्री आकृतियां बनी हुई हैं। संभवतः ये आकृतियां बीकानेर के राजा दलपतसिंह और उसकी रानियों की हैं जो दलपतसिंह की मृत्यु के अनन्तर भटनेर में सती हुई थी।

5. शिवजी का मंदिर-किले के ऊंचे मध्य भाग में एक शिवजी का मंदिर है, जिसे वि.सं. 966 में निर्मित किया गया।

6. 16वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का मंदिर-किले के भीतर सोलहवें तीर्थंकर का एक जैन मंदिर है। इस जैन मंदिर में तीन धर्माचार्यों की करीब डेढ़ हजार वर्ष पुरानी मूर्तियां स्थापित हैं। जैन मंदिर का स्थापना वर्ष संवत् 966 (सन् 907 ई.) अंकित है। इस प्रतिमा की दूसरी बार प्राण प्रतिष्ठा किये जाने पर संवत् 1452 (सन् 1395 ई.) अंकित है, इसके अलावा भगवान् ऋषभदेव की एक प्रतिमा और एक खण्डित प्रतिमा है। मंदिर में स्थापित तीन मूर्तियों की पीठ पर क्रमशः वि.सं. 1506 मार्गशीर्ष सुदि 10 (ई.सन् 1449, 25 नवम्बर), 1559 मार्गशीर्ष बदि 5 (ई.सन् 1502), 21 अक्टूबर) और 1595 माघ वदि 2 (ई.सन् 1539, 6 जनवरी) के लेख खुदे हुए हैं। जिससे उक्त मूर्तियों की स्थापना के सन्दर्भ में जानकारी मिलती है।

भटनेर के दुर्ग के सामरिक महत्व का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि तैमूर ने अपनी आत्मकथा तुजुक-ए-तैमूरी में लिखा है कि उसने इतना मजबूत व सुरक्षित किला पूरे हिन्दुस्तान में नहीं देखा।

**भटनेर के दुर्ग की शिल्पकला**-घग्घर के आसपास का प्रदेश प्राचीन काल में बीकानेर राज्य का सबसे सम्पन्न भाग था, अतः शिल्पकला का विकास भी यहां अधिक

हुआ, पत्थर की कमी के कारण यहां मिट्टी को पकाकर बड़ी सुन्दर मूर्तियां बनाई जाती थी। इस दुर्ग से चित्रित घूसर मृदभाण्ड (पी.जी. डब्ल्यू.) परम्परा एवं रंगमहल मृदभाण्ड परम्परा के उपकरण मिलते हैं, जो कला की दृष्टि से अपने आप में विशिष्ट माने जाते हैं। किले के भीतर एक टीले के नीचे 15 फुट की गहराई में पक्की हुई मिट्टी के बने स्तम्भ के दो शिरो भाग पाये गये हैं, जिनके भीतर किनारे पर एक सीढ़ी शंकू आकृति की मीनार बनी हुई है। भीतर के तीसरे द्वार के निकट दो भाग में टूटी हुई पक्की मिट्टी की चौकी मिली है, जो उसी समय की बनी है, जिस समय के उपरोक्त शिरोभाग है। मध्य द्वार के निकट लाल पत्थर का बना द्वार स्तम्भ है। जिनके ऊपर तीन चतुष्कोण पटरियां बनी हैं, जिनमें से दो पर मनुष्य की आकृतियां और तीसरे पर सूर्य की बैठी मूर्ति बनी है, जो हाथ में दो कमल पुष्प लिये हुए हैं। इस किले में अनेक भवन व महल थे जो अब लगभग नष्ट हो चुके हैं।

**भटनेर दुर्ग के ऐतिहासिक महत्व**-भटनेर का दुर्ग भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इस दुर्ग का सर्वाधिक महत्व दिल्ली-मुल्तान मार्ग पर स्थित होने के कारण था। मध्य एशिया, सिन्ध, काबुल के व्यापारी मुल्तान से भटनेर होते हुए दिल्ली एवं आगरा आते-जाते थे। घग्घर के पानी ने सदैव भटनेर के महत्व को बनाये रखा। यह स्थल जांगल प्रदेश का एकमात्र स्थल था, जहां बारह मासी नदी (घग्घर) बहती थी, अतः यहां हर साल भर फसलें हुआ करती थी तथा भटनेर के शासक इसी समृद्धि का लाभ उठाते थे, इसी कारण भटनेर ने युद्ध की विभीषिका को झेला। इसी दुर्ग का इतिहास तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है, जब यदुवंशी राजा भाटी ने गजनी से आकर 279 ई. में लाहौर में अपना साम्राज्य स्थापित किया। राजा भाटी का लड़का भूपत भाटी गजनी के शासक धुन्ध से पराजित हो गया ऐसी स्थिति में उसे लाहौर छोड़कर घग्घर नदी के तट पर अपने ही बनाये गए भटनेर के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। इस दुर्ग के आसपास घना जंगल था, जिसे लाखी जंगल कहा जाता था।

राजा भाटी ने अपने जीवनकाल में राजाज्ञा निकालकर व्यवस्था दी कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी और उनके सात छोटे भाइयों, आठों की संतानें एवं वंशज भाटी कहलायेंगे और उन्हें अन्तिम यदुवंशी शासक माना जायेगा। इस प्रकार 295 ई. से नए भाटी वंश का शुभारम्भ भटनेर से हुआ। सन् 338 ई. में राजा भूपत भाटी की मृत्यु के पश्चात् उत्तराव भाटी, भीम भाटी, सत्तराव भाटी, खेमकरण भाटी, नरपत भाटी क्रमशः शासक बने। सन् 1001 ई. और 1022 में मोहम्मद गजनवी ने भटनेर पर अधिकार करके यहां के भाटी राजा और उनके राजपरिवार के सदस्यों को मुसलमान बनाया। जिन्हें भट्टी मुसलमान जाति के नाम से जाना गया। 1191 में मोहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच लड़े गये तराइन के प्रथम युद्ध से पहले तुर्कों ने भटनेर पर अधिकार कर लिया था। तराइन का प्रथम युद्ध जीतने के पश्चात् पृथ्वीराज चौहान की सेना ने 13 महीनों तक भटनेर के किले को घेरा लगाकर उसे तुर्कों से मुक्त करवाया। दिल्ली के सुल्तान

इल्तुतमिश के शासनकाल में इख्तियारुदीन करकखां एतगीन भटनेर का शहना रहा। रजिया ने इख्तियारुदीन अल्लुतुनिया को भटनेर का मुक्ता नियुक्त करके उसे एक बड़ा मलिक बना दिया, उसके साथ शादी कर ली। तत्पश्चात् इन दोनों ने भटनेर से सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए कूच कर दिया। 1240 ई. में मलिक अल्लुतुनिया के मारे जाने के पश्चात् सुल्तान अलाउद्दीन महसूदशाह ने इख्तियारुदीन तुगरिलखां को तबरहिन्द का मुक्ता नियुक्त किया। सुल्तान नासिरुद्दीन महसूदशाह के शासन काल में शेरखां भटनेर का मुक्ता बना उसने भटनेर के किले की मरम्मत करवायी। शेरखां के पश्चात् इरसलानखां भटनेर का मुक्ता नियुक्त किया गया। बलबन ने शेरखां को जहर देकर मरवा दिया। शेरखां की मृत्यु के पश्चात् बलबन ने अपने लड़के महमूद, जो मुल्तान का सूबेदार था के अधीन भटनेर कर दिया। मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में मलिक गयासुद्दीन खताब को तबरहिन्द का इक्ता प्रदान किया गया। फिरोज तुगलक ने 1360 में तबरहिन्द इक्ता भैरूजी भाटी को दे दिया। इसके पश्चात् नासिरुद्दीन मुहमद तुगलक के शासनकाल में दुल्लीचन्द भाटी तबरहिन्द का मुक्ता बना।

1398 में तैमूर ने भटनेर पर आक्रमण कर दुल्लीचन्द भाटी को बंदी बना लिया। तैमूर द्वारा भटनेर पर आक्रमण किये जाने पर वहां की मुस्लिम महिलाओं ने अपने को जौहर की ज्वाला में समर्पित कर दिया और 9 नवम्बर 1398 को तैमूर ने भटनेर पर अधिकार कर लिया। 1399 में तैमूर के भारत से चले जाने के पश्चात् चिगतखां को भटनेर का इक्ता प्रदान किया गया, तदनन्तर भटनेर पर भाटियों, जौहियों व चाहिलों का अधिकार रहा। इसके पश्चात् सैयदों का इस किले पर अधिकार रहा। सैयदों के पश्चात् इस किले का इतिहास स्पष्ट नहीं है।

बीकानेर के शासक जैतसिंह ने भटनेर के शासक शाहू चायल से 1527 ई. में यह किला छीन लिया, इस प्रकार भटनेर पर राठौड़ों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस समय भटनेर का दुर्गाध्यक्ष खेतसी था। हुमायूँ के भाई कामरान ने खेतसी को पराजित कर दिया, इसके पश्चात् भटनेर पर चायलों का अधिकार स्थापित हो गया। अकबर के शासनकाल में भटनेर में शाही थाना स्थापित किया गया। 1560 में अकबर ने बहरमखां को देश निकाला दे दिया तब उसे कुछ समय के लिए भटनेर में रखा गया, इसके पश्चात् भटनेर दुर्ग पर रायसिंह, दलपतसिंह आदि का अधिकार रहा। इसके बाद भटनेर पर अधिकार करने के लिए भाटियों और जौहियों में दीर्घकाल तक संघर्ष चला और उसके स्वामित्व में परिवर्तन होता रहा। अन्ततः बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह ने 1805 में अमरसिंह सुराणा के नेतृत्व में पांच महीनों के लगातार घेरे के बाद जाप्ताखां भट्टी से भटनेर छीन लिया और इस दुर्ग पर बीकानेर का अधिकार हो गया। बीकानेर की सेना का भटनेर पर मंगलवार के दिन अधिकार हुआ था, इसलिए महाराजा सूरतसिंह ने भटनेर का नाम बदल कर हनुमानगढ़ रख दिया।

**भटनेर को पर्यटन की दृष्टि से विकसित करने के सुझाव**-भटनेर का व्यापक

## राजगढ़ क्षेत्र का चित्रांकन परिवेश

डॉ. डी.सी. चौबे

प्रचार-प्रसार नहीं होने, स्थानीय लोगों का दुर्ग के प्रति उपेक्षित व्यवहार होने, सरकार की निष्क्रियता तथा पर्यटन विभाग के उपेक्षित व्यवहार के कारण यह ऐतिहासिक धरोहर पर्यटन स्थल के रूप में विकसित नहीं हो सका। इस स्थल को पर्यटन की दृष्टि से निम्न प्रकार विकसित किया जा सकता है—

1. सर्वप्रथम स्थानीय लोगों को इस धरोहर के संरक्षण के लिए संघर्ष करना होगा तथा सरकार तक इस धरोहर के संरक्षण की आवाज पहुंचानी होगी, जिससे सरकार को बाध्य होकर इस दुर्ग के प्रति उपेक्षित रवैया त्यागना पड़ेगा।
2. सरकार को इस धरोहर के संरक्षण के लिए आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराने होंगे। यहां रुकने के लिस आवासीय तथा खानपान की सुविधा उपलब्ध करानी होगी। इसके लिए सरकार निजी भागीदारी का सहारा भी ले सकती है।
3. इस दुर्ग को संरक्षित करने व पर्यटन की दृष्टि से विकसित करने के लिये पर्यटन विभाग को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। यहां पर्यटन विभाग का कार्यालय स्थापित करना होगा। पर्यटक गाइडों की नियुक्ति करनी होगी। आकर्षक विज्ञापनों के माध्यम से दुर्ग का प्रचार-प्रसार करना होगा तथा पर्यटन टूर पैकेज में दुर्ग का नाम रखना होगा। पर्यटन मानचित्र में भटनेर दुर्ग को प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शित करना होगा।
4. दुर्ग में एक संग्रहालय स्थापित किया जाना चाहिए, जिसमें इस दुर्ग से संबंधित पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक महत्वपूर्ण जानकारियों को प्रदर्शित किया जा सकता है।
5. यदि इस दुर्ग को हैरिटेज होटल में परिवर्तित कर दिया जाये तो ऐसी स्थिति में इस दुर्ग के मूल स्वरूप को संरक्षित रखते हुए कुछ नूतन इमारतों का निर्माण होगा। इससे न केवल इसका संरक्षण संभव होगा अपितु राज्य के आर्थिक विकास में भी सहायक होगा।
6. स्थानीय प्रशासन को स्थानीय लोगों में इस दुर्ग के संरक्षण के लिये चेतना पैदा करनी होगी, जिससे इस स्थल को प्रदूषण मुक्त पर्यटक स्थल के रूप में विकसित किया जा सके।

**निष्कर्ष**—इस प्रकार भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाली इस शाही विरासत का यथाशीघ्र संरक्षण किया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो यह जर्जर इमारत जल्दी ही विलुप्त हो जाएगी और ऐसी दशा में इस दुर्ग से जुड़ा ऐतिहासिक गौरव और सांस्कृतिक वैभव केवल इतिहास के पन्नों में सिमटकर रह जाएगा।

\*\*\*\*\*

1770 में रावराजा प्रतापसिंहजी ने व्याघ्रराज की पहाड़ी पर राजगढ़ महल दुर्ग का निर्माण कर नगर को बसाया था। 1775 में इन्होंने बाला किला को जीतकर इसे अपने राज्य में मिला लिया। उनके राज्य में शिवकुमार और डालूराम नामक चित्रकार जयपुर से मुगल शैली के चित्रों के साथ पधारे। शिवकुमार तो जयपुर चले गये पर डालूराम ने रुककर राजगढ़ महल में शीश महल बनवा कर इसमें राजकीय चित्रशाला स्थापित की। शीशमहल के ज्यादातर भित्तिचित्र डालूराम द्वारा बनवाये गये। राजगढ़ शीशमहल के कई नयनाभिराम चित्र जयपुर और अलवर संग्रहालयों में विद्यमान हैं। शेष चित्र विनाश के कगार पर हैं। अगर हम अलवर चित्रशाला की बात करें तो उसकी शुरुआत राजगढ़ के शीशमहल के चित्रशाला से होती है। अलवर शैली के चित्र यदा-कदा ही चर्चित होते हैं कारण कि अलवर कभी भी मेवाड़, मारवाड़ या ढूंढार की तरह कोई महत्वपूर्ण राज्य नहीं रहा है। पर इन चित्रों की विशेषताओं, शैली और विषय एवं विकास पर अध्ययन किया जाना चाहिए।

राजगढ़ के शीशमहल की जड़ाई के साथ-साथ आलियों एवं दीवारों पर भित्तिचित्रण किया गया है। जालियों से नीचे की दीवार लगभग चित्रों और बेल-बूटों से आवेष्टित है। इन भित्तिचित्रों में कृष्ण-चरित्र, राम-चरित्र, नायिकाएं, दरबार, संगीत-समागम के चित्र हैं। अन्य जो चित्र बने हुए हैं उनमें रामलीला, गोवर्धन धारण, गौचारण, हिण्डौला, वेणी-गुन्थन, दुग्ध-दोहन, राम का धनुष भंग, राजतिलक आदि प्रमुख हैं। इस चित्रशाला के चित्रों में धनुषभंग और राम के राजतिलक का चित्र काफी बड़े आकार के हैं। राजगढ़ के चित्रों में नायिकाएं, अंगड़ाई लेती हुई, कांटा निकालती हुई, श्रृंगार करती हुई, तबला, सितार, सारंगी आदि बजाती हुई अत्यन्त मनोहारी दिखती हैं। महाराव प्रतापसिंह एवं बख्तावरसिंह के दरबारों का चित्रण भी हुआ है। सजावटी बेल-बूटों और फूल पत्तियों के विभिन्न चित्रकारी में रंगों की चटकता, रेखाओं का मिलन और अंगों का अंकन लयात्मक है। चित्रकारी अत्यन्त संजीदगी से की गई है। राजगढ़ के चित्रों का रंग गहरे बादामी अजंता से अनुप्राणित है। चित्रांकन के रंगों में हल्का नीला, हरा, सुनहरी जादुई प्रभाव छोड़ते हैं।

सेवा करती दासियों का चित्र भी मनोहारी है। राजपरिवार एवं दरबार अंकन में सामंती वैभव एवं ठसक है। प्रकृति चित्रण भी मनोहारी है। इन चित्रों में राजपूती स्थापत्य, केले के गाछ, ब्रज का सतरंगी परिवेश, हाथी-घोड़ों की सवारी, सेवकों की कार्यशैली का प्रभाव अजंता के चित्रों की तरह है। राग-रागिनी का चित्र भी प्रभावोत्पादक है। राजगढ़ स्थित महाराज प्रताप की छतरी में युद्ध, शिकार, दशहरा, राम-रावण युद्ध और

झांकी के कई अभिराम चित्र हैं। इस छतरी में एक हृष्ट-पुष्ट विशालाक्षी नायिका के चित्र का अंकन हुआ है। तालवृक्ष की छतरी में लेटी हुई नायिका का अभिराम चित्र अंकित है। टहला में स्थित छतरी में भी कई धार्मिक एवं लोकजीवन के चित्र अंकित हैं।

राजगढ़ तहसील में टहला में पुलिस थाना के पिछवाड़े टहला में 1832 ई. की बनी एक छतरी है जिसमें सुन्दर भित्तिचित्र हैं, जो अत्यधिक कलात्मक एवं सूक्ष्म कारीगरी से युक्त है। इसमें शास्त्रानुसार दशावतार का चित्रण है। इन चित्रों में परशु, कल्कि, वराह, नृसिंह आदि चित्र बने हुए हैं। रंग चटकदार है। टहला के छतरी में समुद्रमंथन, कृष्ण-लीला दृश्य, युद्ध का दृश्य, देवी का परिवार, राजतिलक आदि का अंकन किया गया है। इन दृश्यों को सुन्दर बनाने के लिए बीच-बीच में बेलबूटों का चित्र अंकित है। टहला की छतरी में अलवर चित्रकला की विकसित अवस्था का दिग्दर्शन होता है। नारायणपुर में तालवृक्ष पर युद्ध का दृश्य अंकित है। नारायणपुर में शेखावतों की छतरियों में दशहरे पर चौगान पूजा और कृष्णलीला का चित्र अंकित है। राजगढ़ कस्बे में रावराजा प्रतापसिंह की सुन्दर छतरी है। इस छतरी में पशु पक्षियों का सुन्दर चित्रांकन है अलवर के संस्थापक रावराजा प्रतापसिंह का काले घोड़े पर बैठा हुआ सुन्दर चित्रांकन है। इसमें दशहरे के समय का राम-रावण युद्ध का दृश्य है। पालकी में जाती हुई राज-परिवार की महिलाओं का चित्र है। यहां पर अजंता की तर्ज पर भरे-पूरे शरीर की विशालाक्षी सुन्दर महिला का चित्रांकन है। छतरी बेल-बूटेदार से भी सुसज्जित है। चित्रों के रख रखाव की आवश्यकता है। चित्र अब धूमिल हो रहे हैं।

\*\*\*\*\*

## राजस्थान के संग्रहालयों में संग्रहीत 'भक्तामर स्तोत्र' की सचित्र पोथियां

श्री धर्मपाल मीणा

'भक्तामर स्तोत्र' मूलतः संस्कृत भाषा में निबद्ध एक धार्मिक काव्य ग्रन्थ है। 'भक्तामर स्तोत्र' जैनाचार्य मानतुंग द्वारा रचित एक अमर भक्ति रचना है जिसमें तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव की स्तुति की गई है। (स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्) इसका प्रत्येक श्लोक भक्ति रस के अद्भुत संयोजन से विशिष्ट चमत्कारी प्रभाव रखता है। लाखों जैन बंधु प्रतिदिन अत्यन्त भक्ति भावपूर्वक इस स्तोत्र का पाठ करते हुए भगवान आदिनाथ की स्तुति एवं भक्ति करके अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं।

'भक्तामर स्तोत्र' का असली नाम 'आदिनाथ स्तोत्र' है। इसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की भक्तिभाव पूर्ण स्तुति की गई है। इसके प्रारम्भ में 'भक्तामर' शब्द का प्रयोग होने से इस स्तोत्र का नाम भी 'भक्तामर स्तोत्र' प्रसिद्ध हो गया। स्तोत्र का छन्द

वसन्तलिका है, जो संस्कृत साहित्य में मधुर एवं श्रेष्ठ माना जाता है। इस स्तोत्र की रचना सर्वप्रथम प्राप्त तथ्यों के अनुसार 7वीं शती में किसी समय हुई। जैन स्तोत्रों में सर्वाधिक प्रसिद्ध आवैर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मान्य है। आचार्य मानतुंग जन्मतः ब्राह्मण थे। बाद में श्वेताम्बर दीक्षा धारण की। उनके शरीर में भयंकर रोग हो गया था। जो एक दिगम्बर साधु ने ठीक किया। इसलिए उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। ऐसा कहा जाता है कि राजा द्वारा भक्त मानतुंगाचार्य को 48 कोठरियों में बन्द कर लोहे की बेड़ियों से बांध दिया था। मानतुंगाचार्य ने प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए 48 श्लोकों की रचना की। एक-एक श्लोक की रचना के एक-एक बन्धन टूटता गया व कोठरियों के ताले भी भक्ति के चमत्कार से टूट गये और मानतुंगाचार्य बन्धन मुक्त हो गये। श्वेताम्बर परम्परा में 44 बन्धन व 44 श्लोकों का प्रचलन है। वस्तुतः भक्त हृदय की उन भावनाओं का जिनमें वह श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में विभोर होकर स्तुति की, उसे लिपिबद्ध किया गया है। जिसे 'भक्तामर स्तोत्र' के नाम से जाना जाता है। प्रस्तुत स्तोत्र सजीव, भक्तिमय, हृदयग्राही होने के कारण 7वीं शती से 19वीं शती तक अर्थात् एक हजार वर्षों से भी ज्यादा की दीर्घ अवधि तक अनेक जैनाचार्यों और अन्य लेखकों द्वारा यह रचना अनेक रूपों तथा विविध भाषाओं में निर्मित एवं अनूदित होती रही। आकर्षक, सरस व सहज बोधगम्य कथानक प्रस्तुत करने के अभिप्राय से कुछ प्रतियों के पत्रों पर मूल पाठ के साथ-साथ सम्बन्धित चित्र भी अंकित हुए हैं।

'भक्तामर स्तोत्र' की लोकप्रियता का यह ज्वलंत उदाहरण है कि इसकी कई स्वर्णाक्षरी और सचित्र प्रतियां भी जैन भण्डारों में प्राप्त हैं। इनमें से सचित्र प्रतियां तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 15वीं शती से 19वीं शती तक की 5 सचित्र प्रतियों के चित्र राजस्थान के सर्वेक्षण से प्राप्त हुए, इन सचित्र प्रतियों में 44 से 52 तक चित्र बने हुए हैं। इन प्रतियों के मूल पाठ संस्कृत व प्राकृत भाषा में हैं। संस्कृत भाषा के मूल पाठ के साथ संस्कृत टीका, हिन्दी पदानुवाद, प्रत्येक श्लोक मंत्र विधि, प्रत्येक श्लोक का मंत्र, प्रत्येक श्लोक की पूजा, प्रत्येक मंत्र द्वारा प्राप्त फल की कथा आदि का लेखन प्रायः सभी प्रतियों में किया गया है। चित्रांकन की दृष्टि से सभी प्रतियों का निजत्व भिन्न है। पूर्वकालीन प्रतियों की तुलना में यह उत्तरकालीन प्रतियों में परिमार्जित होता चला गया। बाद की प्रतियां तो इतनी सजीव एवं कलात्मक हैं कि वह भारतीय चित्रकला के इतिहास के स्वर्णिम उदाहरण कहे जा सकते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन प्रतियों में मूल रूप से स्तुति की है जिसमें श्लोक संख्या 1 और 2 में लक्ष्य को निश्चय से प्राप्त करने का ध्येय, श्लोक संख्या 3 में साध की लघुता, श्लोक संख्या 4 से 7 में साधक का परमात्मा से सम्बन्ध, श्लोक संख्या 8 में सम्बन्ध के बाद साधक की स्थिति, श्लोक संख्या 9 में आराधना में समस्त दुःख दूर होना बताया है। श्लोक 10 से 37 तक में परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण, श्लोक 38 से 47 तक विविध भय, श्लोक संख्या 48 में स्तोत्र करने का फलितार्थ आदि श्लोकों के भावों को चित्रकारों ने अपने चित्रों में

चित्रित किया है। इन चित्रों में मुगल कलम जैसी सुकुमारता, मनमोहकता व सुरुचिता प्रकट होती है। पृष्ठभूमि में धुंधले रंगों का प्रयोग व चित्रों में आकृतियों में भीड़-भाड़ भी कुछ चित्रों में है। चित्रों में विषयगत आकृतियों का अंकन है। सौन्दर्य की दृष्टि से किसी प्रकार का अंकन नहीं किया गया है। इन चित्रों में स्त्री आकृतियों के चित्रण का पूर्णतः अभाव है। भगवान आदिनाथ सम्मुख मुद्रा में गोल चेहरा, कर्ण स्पर्श करते नेत्र, कन्धों को स्पर्श करते कर्ण, अत्यधिक विशाल उठे हुए वक्ष, क्षीण कटि, जिनका प्रायः पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए अंकन किया गया है। अन्य आकृतियों में सुन्दर-सुगठित शरीर, एक चरमीय मुखाकृति, सुकोमल गलमुच्छा एवं मूँछों का अंकन किया गया है।

उपर्युक्त सभी पोथियों में चित्रों की शैलीगत विशेषताओं में विविधता है, फिर भी भक्ति भावना उनकी मूल अभिव्यक्ति के रूप में अवश्य सभी चित्रों में समायी हुई है। 15वीं शती से 19वीं शती तक के लम्बे समय में इन चित्रों का अंकन हुआ, पर कलाकारों की यह विशेषता रही है कि उन सभी ने भक्तामर स्तोत्र के मूल श्लोकों के भावों को ही चित्रण का विषय बनाया, अपनी तरफ से कुछ अलग जोड़ने का प्रयास नहीं किया। बस समय के प्रभाव व कलाकार की सृजन शक्ति से इन चित्रों के अनेक रूप उत्पन्न हो गये हैं क्योंकि इनकी मूल विशेषता भक्ति आराधना रही है। विस्तृत श्लोक शब्दों को चुन-चुन कर चित्तेरों द्वारा विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पहलुओं को दर्शाने वाले चित्रों का विन्यास किया गया है। इन चित्रों को देखने मात्र से ही अन्तर्मन में तीर्थकर भक्ति के पुष्प अंकुरित हो उठते हैं।

\*\*\*\*\*

## राजस्थान की लोक संस्कृति में लोक देवताओं का योगदान (रामदेवजी के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. सुमन ढाका एवं आर.एल. सहरिया

भारतीय इतिहास में मध्यकाल संघर्ष का युग रहा है और यह संघर्ष हिन्दू एवं मुस्लिम दो विरोधी संस्कृतियों में हुआ। इस संघर्ष का राजस्थान भी एक केन्द्र रहा। यहाँ भी इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू धर्म के सामने एक चुनौती पैदा हुई। राजस्थान में मुसलमानों द्वारा मूर्तियों को तोड़ना, मंदिरों को अपवित्र व नष्ट करना, गो वध करना तथा हिन्दूओं को बलात् इस्लाम धर्म में दीक्षित करना आदि अनेक ऐसी बातें थी जिनके कारण समय के अनुरूप धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन तथा सुधार की आवश्यकता महसूस हुई। मलेच्छ तथा अन्त्यज समझी जाने वाली नीची जातियों को समाज में उचित स्थान दिलाने, स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने एवं समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने एवं धर्म तथा गौ की रक्षा के साथ स्थानीय जनता की रक्षा करना भी ऐसी धार्मिक संघर्ष के युग में आवश्यक हो गया था। ऐसे समय में कुछ ऐसे व्यक्ति जनता के सामने

आये जिन्होंने अपने शौर्य पूर्ण कृत्य, त्याग, वचनपालन तथा स्थानीय जनता व गौ-वंश की रक्षा हेतु खुद के प्राण न्यौछावर कर दिये। अछूत समझे जाने वाली जातियों को गले लगाकर लोक-देवता का स्थान प्राप्त किया। भौगोलिक रूप से राजस्थान का क्षेत्र मध्यकाल में विभिन्न खण्डों में विभक्त था किन्तु यहां के लोक-देवताओं तथा सन्तों ने अनेको मत, प्रणालियों, धाराओं एवं सम्प्रदायों ने इस प्रदेश को एक सूत्र में जोड़ रखा था। लोकमत तथा सन्तमत की दृष्टि से इतनी समृद्धता देश के इसी भू-भाग पर केन्द्रित होती है। लोक-वाणी (सन्तवाणी) ने लोक स्तर पर एकात्मकता स्थापित की। भारत में जब राजनीतिक एकता नहीं थी, तब लोक-देवताओं ने सांस्कृतिक एकता को बनाये रखा। लोक-देवताओं ने मध्यकाल की चुनौतियों का सृजनात्मक उत्तर दिया।

राजस्थानी लोक सांस्कृतिक मूल्यों का ही प्रभाव है कि यहाँ प्रतिदिन लोक-विश्वास के केन्द्र के रूप में किसी चबूतरे, किसी गांव, ढाणी या खेडे में किसी न किसी लोक देवी-देवताओं की मूर्ति आत्मीयता के साथ पूजते हुए देखी जा सकती है। इन लोक-देवी-देवताओं की स्मृति में मेले भरते हैं जहाँ हर जाति का व्यक्ति दर्शन हेतु जाकर “वसुधैव कुटुम्बकम्” का परिचय देता है। इन लोक-देवताओं की स्तुति में जहाँ अनेक भजन, गीत, पवाड़े आदि रचे गये, वहीं इनके त्यागमय जीवन से प्रेरणा लेकर राजस्थानी जनता ने भी सदाचारिता, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता, त्याग आदि मूल्य ग्रहण किये। राजस्थान में लोकदेवताओं के प्रति आस्था-श्रद्धा प्रचलित खेतीहर तथा निम्न जातियों में सत्संग, भजन, उपासना, रात्रि-जागरण आदि से धार्मिक जीवन में एक नव किरण प्रस्फुटित होने लगी जिसके फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम सन्तों एवं विचारकों ने आम-जन की धार्मिक आस्थाओं का सहारा लेकर दोनों संस्कृतियों (हिन्दू व मुस्लिम) के संघर्ष को समन्वय में बदलने की कौशिश की। राजस्थान के लोक-देवताओं में गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी, रामदेवजी, महाजी, मांगलियाजी, हरभूजी आदि प्रमुख हैं।

बाबा रामदेवजी का जन्म तैवर वंशीय अजमालजी एवं मेणादे के यहाँ हुआ था। बचपन में ही पराक्रम का परिचय देते हुए इन्होंने पोकरण में भैरव नामक क्रूर व्यक्ति का दमन कर अराजकता तथा आतंक को खत्म किया। इनका विवाह अमरकोट के दलजी सोढा की कन्या नेतलदे से हुआ था। कालान्तर में अपनी भतीजी को दहेज में भेट कर देने पर इन्होंने रामदेवरा (रूपेचा) गाँव बसाया और वहाँ भाद्रपद शुक्ल एकादशी 1458 ई. को जीवित समाधि ले ली। इनके मुख्य स्थान रामदेवरा में प्रतिवर्ष भाद्रपद मास में प्रवेश का सबसे विशाल मेला आयोजित होता है।

हिन्दू जहाँ इन्हें श्रीकृष्ण का अवतार मानकर आराधना करते हैं, वहीं मुसलमान “रामसा-पीर” के रूप में पूजते हैं। रामदेवजी के प्रतीक चिह्ने के रूप में गाँवों में प्रायः वृक्ष के नीचे चबूतरे पर खुले ताक में पगलिये (चरण चिन्ह) मिलते हैं। वृक्ष पर उनके पगलियों से युक्त श्वेत ध्वजा फहराई जाती है। इनका पूजा स्थान ‘थान’ कहलाता है। रामदेवजी का फूल लोग गलते में पहनते हैं। रामदेवजी वीर होने के साथ-साथ समाज

सुधारक भी थे। इन्होंने मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा में अविश्वास जताते हुए जाति-प्रथा का कड़ा विरोध किया। रामदेवजी ने विदेशी आक्रान्ताओं से हमारी सांस्कृतिक, धार्मिक, भौतिक एवं मानवीय सम्पदा की सुरक्षा, परोपकार व परमार्थ के कार्य, आध्यात्मिक व्यक्तित्व व प्रकृतिमय वातावरण की सुश्रवा कर सुदृढ़ समाज का निर्माण किया। इन्होंने अश्वधन, पशुधन, गौधन की सुरक्षा व विकास, दुष्टों का दमन कर उन्हें सद्मार्ग प्रदान किया। मध्यकालीन सांस्कृतिक-संक्रमण युग में रामदेवजी ने समाज के दलित व महिलावर्ग को उचित स्थान व महत्ता प्रदान कर समता का पाठ पढ़ाया, जिससे दलित-जातियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने से बचाकर हमारी सांस्कृतिक विरासत को अभिन्न बना पुनः सुसमृद्ध किया। इस्लाम व हिन्दू धर्म में आपसी सामंजस्य के प्रयास कर राष्ट्रीय एकता व सर्वधर्म सद्भाव की प्रेरणा प्रदान की जो आज के युग में भी प्रासंगिक है। रामदेवजी ने ब्राह्मणों के किलष्ट कर्मकाण्डों में अश्रद्धा व्यक्त करते हुए अलख व अल्ला को एक मानते हुए इन्होंने दोनों सम्प्रदायों में सौहार्द की भावना जागृत की।

रामदेवजी दुष्चरित्रों के स्थान पर मानवीय प्रेम व सद्भाव का, समादर का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनके एक हाथ में 'शस्त्र' और दूसरे हाथ में 'वीणा' है अर्थात् उनके साथ शक्ति व सरस्वती दोनों साथ-साथ रहती हैं। उनके जीवन के तत्व दर्शन में हमें मानवतावादी धर्म, साम्प्रदायिक एकता, राष्ट्रीय एकता, विश्व शान्ति, लोक-जीवन की महत्ता, सभी धर्मों के प्रति सम्मादर भाव, समन्वय की भावना, पर्यायवरण चेतना, आध्यात्मिक एवं कर्म भक्ति, उपासना की महत्ता, आचार दर्शन व युद्ध प्रेम, राष्ट्रीय निर्माण का चिन्तन व अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का चिन्तन आज के युग में रामदेवजी की उपादेयता को सिद्ध करता है। ऐसे अद्वितीय महान चैतन्य लोक-देवता, संतो व सुधारकों की आज न केवल भारतवर्ष अपितु समग्र विश्व को आवश्यकता है ताकि वर्तमान प्रदूषित देश व विश्व जगत अपनी अनेकानेक समस्याओं से परियुक्त होकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के उच्चादर्श के साथ 'जीओ और जीने दो' के मूलमंत्र का अहसास करके 'सर्वे भवन्तु सुखिन्' एवम् वसुधैवकुटुम्बकम् कथन पुनः चरितार्थ हो सके।

\*\*\*\*\*

## कोटा में केसर खां और डोकर खां के मकबरों की ऐतिहासिकता

ज़ाहिदा शबनम

केसर खां-डोकर खां का ऐतिहासिक मकबरा कोटा शहर में किशोर सागर (बड़ा तालाब) के किनारे पर तथा गीता भवन के पास हजीरा कब्रिस्तान में एक ऊंचे टीले पर स्थित है। केसर खां और डोकर खां जो आपस में भाई-भाई थे, मालवा के रहने

वाले थे। यह अपने समय के योद्धा और कुशल सैनिक थे। इन्होंने सन् 1546 ई. में कोटा पर अचानक आक्रमण कर कोटा पर अधिकार किया था। उस समय कोटा-बूंदी राज्य के अधीन एक जागीर का हिस्सा था और यहां पर जैतसिंह का वंशज बीरमदेव हाडा शासन करता था। बीरमदेव अक्सर बूंदी राज्य की सेवा में रहता था और अपने छोटे भाई कान्हा को कोटा की शासन व्यवस्था हेतु छोड़ जाया करता था। कान्हा आलसी और प्रमादी प्रवृत्ति का था। जब पठानों ने कोटा पर आक्रमण किया जो बेखबर कान्हा पठानों की फौज का मुकाबला नहीं कर सका और कोटा छोड़कर भाग गया। पठानों ने कोटा पर अधिकार करके यहां पर 26 वर्षों तक शासन किया। पठानों ने अपने शासनकाल में किसी सुन्दर इमारत का निर्माण किया हो इसके कोई प्रमाण तो नहीं मिलते परन्तु इस समय कोटा शहर में स्थित तीन मस्जिदें प्रथम अहेदियों की मस्जिद जो गढ़ के समीप स्थित है, द्वितीय वार्ड पाटनपोल में देपोल में स्थित पठानों की मसिजद जो वर्तमान में अंसारिनयान समाज की मस्जिद कहलाती है, तृतीय चन्द्रघटा वार्ड के मस्जिद पाडा में स्थित बीबा जौहरा की मस्जिद केसर खां और डोकर खां की बनवाई हुई मानी जाती है। कोटा हाथ से निकल जाने के पश्चात् राजभ्रष्ट बीरमदेव इधर उधर मारा मारा फिरता रहा। उसकी धर्मपत्नी कैथून अपने पिता के पास दिन काट रही थी। केसर खां और डोकर खां निरंकुश रूपेण कोटा पर राज्य कर रहे थे।

**बीरमदेव द्वारा पुनः पठानों से कोटा छीनने की कल्पित कहानी**-इतिहासकार कर्नल जेम्स ने दोनों पठानों से कोटा वापिस छीनने की बड़ी मनोरंजक कहानी लिखी है। इसी कहानी का वर्णन कोटा राज्य के इतिहास लेखक डॉ. मथुरालाल शर्मा ने भी अपनी पुस्तक कोटा राज्य का इतिहास भाग प्रथम में वर्णित किया है। कैथून में बैठी हुई बीरम की रानी को अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने की चिन्ता बनी रहती थी। जब होली का त्यौहार निकट आया तो उसने एक युक्ति सोची। केसर खां और डोकर खां को उसने कहला भेजा कि मैं अपनी युवती दासियों के साथ आपसे होली खेलने के लिए कोटा आना चाहती हूं। इस बात को सुनकर विलासी पठान फूले नहीं समाये। इधर बीरम की रानी तैयारी की। 300 राजपूत युवकों को डोली में बिठाया और बीरम को भी शस्त्रों से सज्जित करके प्रधान मयाने में बिठाकर कोटा के लिए विदा किया। पठान समझे कि बीरम की रानी अपनी दासियों सहित होली खेलने के लिए आ गई। सब डोले महल में घुसा लिये गये, परन्तु ज्योंही केसर खां उनका स्वागत करने के लिए महल में घुसा कि बीरम के नेतृत्व में सब सैनिक उस पर टूट पड़े और उसको मार डाला। इस प्रकार राजमहल पर अधिकार स्थापित कर लिया और कोटा पुनः हाडों के हाथ में आ गया। बीरम के बाद उसका पुत्र डूंगरसिंह कोटा की गद्दी पर बैठा, जिसको हटाकर राव सूरजमल ने कोटा को बूंदी राज्य में मिला लिया। यह रानी पद्मिनी की कहानी से मिलती है। डॉ. मथुरालाल शर्मा ने लिखा है कि उपरोक्त कहानी कपोल कल्पित मालूम होती है। जो पठान इतने वीर और चतुर थे कि इन्होंने कई पीढ़ियों से जमे हुए राजवंश के

हाथ से कोटा छीन लिया, वे रानी के भुलावे में नहीं पड़ सकते थे। उनको यह कैसे विश्वास हो सकता था कि एक राजपूत महिला स्वतः ही पठानों के साथ होली खेलने को तैयार हो जाएगी। यदि वास्तव में ऐसा कहलाया गया होता तो रानी वास्तविक युक्ति भी छिपी नहीं रह सकती थी। जब 300 सैनिक मयानों में छिपाकर महलों में घुसाये गये थे तो यह बात सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को याद होगी। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं से और विशेषकर राजपूतों से यह आशा नहीं की जाती कि यह बात छिपी रहे। इसके अतिरिक्त जब चारों ओर के इलाके पर और गढ़ पर पठानों का राज्य था तो 300 राजपूत धोखे से गढ़ में घुस जाने के बाद भी जीवित कैसे निकल सकते थे। ऐसा लगता है कि यह कथा उन भाट लोगों की गढ़ी हुई जो पुराने इतिहास को तो भूल चुके थे, परन्तु साथ ही केसर खां के मकबरे को नहीं भुला सकते थे और हाडों ने उससे कोटा वापिस कैसे छीना, इसका भी कोई रोचक कारण बताना चाहते थे। प्रत्यक्ष ही मालूम होता है कि इस कथा की रचना पद्मिनी की कहानी को सामने रखकर की गयी है, जो राजपूतों के इतिहास में ऐतिहासिक बन चुकी है। वास्तविक राव सुर्जन ने पठानों से छीना तो कोटा वास्तव में कोटा पुनः हाडाओं के हाथ में आसानी से नहीं आया था। इसके लिए बड़ी तैयारी करनी पड़ी थी और दोनों पक्षों ने घोर युद्ध किया था। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में बूंदी के राज्य वंश में राव सुर्जन हाडा बड़ा प्रतापी शासक हुआ। इसने बूंदी राज्य की विलीन प्रतिष्ठा और मर्यादा फिर से स्थापित की और बूंदी राज्य को उन्नत किया गया। राव सुर्जन मुगल बादशाह अकबर का समकालीन था और रणथम्भोर के किले का स्वामी भी। जब अकबर रणथम्भोर का किला नहीं जीत सका था तब उसको राज सुर्जन से संधि करनी पड़ी थी। संधि के तहत सुर्जन ने अकबर की अधीनता स्वीकार की। उसी समय अकबर ने सुर्जन को गोंडवाना विजय करने का आदेश दिया। सुर्जन ने अपनी शक्तिबल से गोंडवाना पर विजय प्राप्त की तथा वहां के शासक को अकबर के दरबार में पेश किया। सुर्जन हाडा की बहादुरी से अकबर काफी प्रसन्न हुआ, उसने सुर्जन को राज राजा की पदवी से अलंकृत किया और अपने दरबार का सबसे बड़ा पांच हजारी मनसबदार बनाया। बाद में अकबर ने सुर्जन को चुनार व बनारस का हाकिम नियुक्त किया और बनारस के साथ 26 परगने भी दिये। राज सुर्जन ने बनारस में रहते हुए अनेक सुन्दर महल व गंगा के किनारे पर घाटों का निर्माण करवाया। राव सुर्जन का देहान्त भी बनारस में ही हुआ।

### कोटा पर चढ़ाई की तैयारी

बूंदी से अले हुए प्रदेशों को पुनः अपने राज्य में मिलान हेतु राज सुर्जन ने एक विपुल सेना तैयार की। इस सेना में उसके लगभग 20 जागीरदार भाई और कितने ही अन्य राजपूत सरदार शामिल थे। उधर केसर खां और डोकर खां ने भी सामना करने के लिए सेना तैयार की। इन दोनों सेनाओं की भदाना नामक गांव से 2 मील पूर्व की ओर मुठभेड़ हुई। स्मरण रहे भदाना गांव कोटा में स्टेशन के समीप स्थित है। राज सुर्जन के

सेनापति भाई मानसिंह ने केसर खां पर धावा बोला और उसका सिर काट डाला। भाई के वध से उत्तेजित होकर डोकर खां ने मानसिंह पर घोर आक्रमण किया और उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। कहते हैं कि सिर कट जाने पर भी मानसिंह कुछ क्षण के लिए लड़ता रहा। तब गनौली का जागीरदार रामसिंह मानसिंह की अप्रतिम वीरता की प्रशंसा करता डोकर खां पर झपटा और घमासान युद्ध होने लगा। डोकर खां का भतीजा मेहराब खां बड़ी वीरता के साथ लड़ा। एक हाडा वीर ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया तो रुंड लड़ता रहा। तब बलकर्ण नामक राजपूत योद्धा ने उसके रुंड के दो टुकड़े किये। इसके बाद युद्ध और भी भयंकर रूप से होने लगा। गुलाम नबी नामक मुसलमान ने तक कर दो बाण राज सुर्जन के मारे और पठान वीर प्राणों का लोभ तजकर अपूर्व साहस के साथ लड़ने लगे। इस हमले में गुलाम नबी और रहीम नामक दो मुसलमान वीर मारे गये।

तीन मुख्य मुसलमान सैनिकों के मारे जाने से पठानों के पैर छूट गये और वे रणक्षेत्र को छोड़कर कोटा नगर की ओर भागने लगे। हाडाओं ने भागते हुए पठानों का उल्ला के साथ पीछा किया। शहर के अन्दर फिर घमासान युद्ध हुआ। डोकर खां का भाई सैलारगाजी उस समय असाध्य रोग से ग्रस्त था तो भी उसने वीरत्व के कर्तव्य को निभाया और बड़े पराक्रम के साथ हाडाओं की सेना से लड़ा। काफी समय तक लड़ाई होती रही। तक कीर्तिसिंह नामक राजपूत ने उस पर तलवार का प्रहार किया और वह धराशायी हुआ। महाकवि सूर्यमल्ल ने लिखा है कि जिस स्थान पर सैलार गाजी वीर गति को प्राप्त हुआ वह दरवाजा सालारगाजी कहलाने लगा। इतिहास लेखक ठाकुर लक्ष्मणदान ने लिखा है कि सालारगाजी जैतसिंह का सैनिक था जिसने भीलों के विरुद्ध लड़ते हुए अपने स्वामी की सेना में प्राण त्यागे थे। वर्तमान में गढ़ में स्थित सैलारगाजी दरवाजा उसी वीर का स्मारक है। यह पता नहीं कि दोनों लेखकों ने ये बातें किन आधार पर लिखी हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में किसका कथन सही और प्रामाणिक है। इसी युद्ध में डोकरखां भी मारा गया। तब पठान पराजित हुए और कोटा 26 वर्ष तक पठानों के अधिकार में रहकर पुनः हाडाओं के अधिकार में आया। राज सुर्जन की सेना के अनेक वीर रत्न भदाना और कोटा के युद्ध में मारे गये, परन्तु हाडाओं के हाथ से गया हुआ हाडाओं का राज्य राज सुर्जन के उत्साह और साहस के कारण वापिस आ गया। यह उसके लिए यश और कीर्ति की बात थी। कोटा पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् राव सुर्जन ने यहां की शासन व्यवस्था चलाने हेतु अपने पुत्र भोज को यहां का राजा नियुक्त किया। राव सुर्जन की मृत्यु के पश्चात् राज भोज बूंदी का शासक बना तब उसने पुत्र हृदयनारायण को कोटा का राजा बनाया। हृदयनारायण ने कोटा पर 15 वर्ष तक राज्य किया।

## पश्चिमी राजस्थानी चित्रण परम्परा के प्रारम्भिक आधार

डॉ. (श्रीमती) माधुरी शर्मा पंचोली

पश्चिमी राजस्थान में कला की एक सम्पन्न परम्परा रही है तथा प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला की पृष्ठभूमि में इनका विशेष महत्व बनता है। ईस्वी पूर्व के कुछ राजस्थानी सिक्कों पर उत्कीर्ण मुद्राओं में मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत, नदी आदि के जो धार्मिक चिह्न मिलते हैं, उनसे वहां की चित्रकला की प्राचीनता स्पष्ट होती है। वीर संवत् 84 का दली गांव का शिलालेख तथा ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्यमिका (नगरी) के दो शिलालेख तथा उसके परिवर्तित रूप जो हमें गुप्त लिपि और कुटिल लिपि में देखने को मिलते हैं यह बताते हैं कि इस प्रदेश में कला की समृद्ध परम्परा रही है। वैराट, रंगमहल तथा आहड़ से उत्खनित सामग्री पर रेखांकन एवं अलंकरण कार्य से इनकी पुष्टि हो जाती है, पश्चिमी राजस्थान में प्रारम्भ में गांधार शैली का प्रभाव वहां के स्थानीय मूर्तिशिल्प पर दिखलाई देता है, गंगानगर क्षेत्र में प्राप्त मृण्मूर्तियाँ, मंडोर के तोरण द्वार तथा पाली एवं भीनमाल की विष्णु प्रतिमाओं, किराडू व घटियाले से प्राप्त मूर्ति शिल्पों आदि के आधार पर यहां की कला में विकास के विविध चरण स्पष्ट होते हैं।

भारत में सातवीं सदी में प्रचलित कला शैलियों में देव, यक्ष एवं नाग शैली के आधार स्पष्ट करते हुए 17वीं सदी के तिब्बतियन बौद्ध कला इतिहासकार लामा तारानाथ ने बताया कि पूर्वी क्षेत्र में देव शैली, मध्य क्षेत्र में नाग शैली व पश्चिमी क्षेत्र में यक्ष शैली का बाहुल्य रहा है। पश्चिमी क्षेत्र में प्रचलित यक्ष शैली के अन्तर्गत उन्होंने राजस्थान, मालवा एवं गुजरात क्षेत्र निर्धारित करते हुए इस शैली के संस्थापक चित्रकार शृंगधर को बताया, जो मरुदेश के राजा शील के राज्याश्रय में था। मरुदेश के इस राजा शील को मण्डोर के राजा शिलुक माना गया है। इस शैली की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करते हुए तारानाथ ने लिखा है कि यह शास्त्रीय अजन्ता शैली से भिन्न थी तथा इसमें अंग-प्रत्यंगों के लावण्यपूर्ण मोड़ तथा आंख, नाक, कान आदि के नुकीले रूपों का विशेष रूप से नवीनीकरण हुआ है।

नागौर में निर्मित वि.सं. 915 के प्राकृतग्रंथ 'धर्मोपदेशमालावृत्ति' में चित्र सूत्रकथा और चित्रसभा के साहित्यिक सन्दर्भों से नागौर क्षेत्र की उत्कृष्ट यक्ष-कला परम्परा के उदाहरण मिलते हैं। इसमें एक यक्ष द्वारा प्रतिवर्ष इस क्षेत्र में चित्रकारों को आमंत्रित कर चित्रण प्रतियोगिता आयोजित कराने का उल्लेख मिलता है और जब कोई चित्रकार चित्र ठीक नहीं बनाता तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में चित्रण की एक सुदृढ़ परम्परा विद्यमान थी। साथ ही इन उल्लेखों से मारुदेश के

चित्रकार शृंगधर की यक्ष कला परम्परा से प्राप्त आधार की भी प्रामाणिकता बनती है। इसके साथ ही तत्कालीन शिल्पियों के प्रामाणिक उल्लेखों से भी यह परम्परा स्पष्ट बनती है। वि.सं. 743 (686) के नगर (जि. टोंक) के अभिलेख में चार सूत्रधारों के भीनमाल से आने का उल्लेख है तथा बसन्तगढ़ के वि.सं. 744 के अभिलेख के अनुसार सूत्रधार शिल्पी शिवनाग द्वारा तीर्थंकर की धातु प्रतिमा के निर्माण का उल्लेख मिलता है जो पिण्डवाड़ा में है। कला की दृष्टि से यह बड़ी रोचक तिथियुक्त शिल्पकृति है।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त जैन दर्शन एवं समाज ने भी पश्चिमी राजस्थान प्राचीन कला पद्धतियों एवं कलारूपों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आठवीं सदी के हरिभद्रसूरी (700-778 ई.) द्वारा रचित जैन प्राकृत ग्रंथ 'समराश्चकहा', उद्योतनसूरीकृत 'कुवलयमालाकहा' (778 ई.) सिद्धार्थिकृत उपमितिभव प्रपंच कथा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। पश्चिमी राजस्थान में उक्त प्राकृत ग्रंथों के अनुरूप चित्रकला की एक ठोस परम्परा रही है। इस प्रकार साहित्यिक सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आठवीं सदी से पूर्व ही पश्चिमी राजस्थान में चित्रकला की अपनी निजी परम्परा का विकास हो चुका था। भीनमाल, जालौर, बसन्तगढ़, नागौर एवं चित्तौड़ उस काल में कला के महत्वपूर्ण केन्द्र थे, जिनमें आचार्य चित्रकार शृंगधर की विशेष भूमिका रही। इस काल के चित्र प्रायः नष्ट हो गये हैं फिर भी जैसलमेर भण्डार में सुरक्षित सचित्र ग्रंथ 'दशवैकालिकसूत्र चूर्णी' एवं 'औधनियुक्ति' 1060 ई. के कामदेव, लक्ष्मी, हाथी तथा अन्य अलंकारिक कला अभिप्रायों से तत्कालीन प्रतिहार कला परम्परा की एक झलक देखने को मिलती है। पश्चिमी राजस्थान के प्राचीनतम तिथियुक्त चित्रों की शृंखला उपर्युक्त सचित्र ग्रंथों से ही प्रारम्भ हो जाती है। इस युग में ही खरतरगच्छ मुनि जिनदत्तसूरी ने सचित्र ग्रंथों का निर्माण को विशेष प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप अनेक जैन सचित्र ग्रंथों का निर्माण हुआ। पश्चिमी राजस्थान की चित्रकला का तत्कालीन क्रमिक विकास निम्न सचित्र ग्रंथों से दिखाई देता है—

1. औधनियुक्ति 1060 ई., 2. दशवैकालिक सूत्र 1060 ई., 3. ज्ञानसूत्र 1130 ई., 4. पंचाशिका प्रकरणवृत्ति पाली 1150 ई., 5. उपदेशमाला प्रकरण वृत्ति, अजमेर 1156 ई., 6. द्रव्याश्रय महाकाव्य जालौर 1255 ई., 7. पांडव चरित्र, नागौर 1468 ई., 8. कल्पसूत्र भीनमाल 1507 ई., 9. कल्पसूत्र नागौर 1551 ई., 10. कालकाचार्य सूत्रकला नागौर 1552 ई.। उक्त सचित्र ग्रंथों की चैत्रिक विशेषताओं में सवा चश्मी तथा दो चश्मी चेहरे, गरुड़नासिका, परवल वाली आंख, घुमावदार लम्बी अंगुलियां, लाल पीले रंगों का प्राचुर्य, गुडीदार जनसम्प्रदाय, चौकड़ीदार अलंकरण का बाहुल्य, चेहरों की लड़कन आदि उल्लेखनीय है। इन चित्रों में रंग योजना भी चमकीली है। पीले, हरे व लाल हिंगलू रंग का विशेष प्रयोग है।

कालान्तर में उक्त चेहरों के बाहर अंकित नेत्र भी धीरे-धीरे अदृश्य होते गये और जैन चित्रकला के परम्परागत अभिप्रायों एवं कलारूपों का स्थानीय राजपूत या राजस्थानी



शैलियों में क्रमशः समावेश होने लगा व अन्य प्रभावों से अनेक स्थानीय परिवर्तन आने लगे जिसके फलस्वरूप, उत्तराध्ययनसूत्र, 1591 ई., भागवत जोधपुर 1161 ई., रागमाला बीकानेर 1605 ई., रासपंचाध्यायी बीकानेर लगभग 1610 ई., वीरजी द्वारा चित्रित पाली रागमाला 1623 ई. एवं उपदेश, मालावती 1634 ई. से पश्चिमी राजस्थानी चित्रण परम्परा के भिन्न-भिन्न स्वरूप विकसित होते देखे जा सकते हैं जिसमें एक ओर स्थानीय प्रभाव यहां के चित्रों में अधिक दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप पश्चिमी राजस्थान में जोधपुर एवं बीकानेर की चित्र शैलियां विकसित हुई तथा जोधपुर के राठौड़ शासकों द्वारा ही स्थापित किशनगढ़ में किशनगढ़ शैली और जैसलमेर, नागौर, घाणेरव, सावर, अजमेर, सोजत आदि उपशैलियां राजस्थानी चित्रकला में अपना मौलिक स्थान बनाती है।

\* \* \* \* \*

## क्या 1615 की मेवाड़-मुगल संधि महाराणा अमरसिंह की भूल थी?

डॉ. दिनेश मांडोत

1615 ई. की मेवाड़-मुगल संधि ने एक सदी से चले आ रहे मुगलों से संघर्ष का अन्त कर दिया। यह जहांगीर की राजनीतिक विजय और खुर्रम की व्यक्तिगत विजय थी। परन्तु मेवाड़ के साथ मुगलों ने जो संधि की, वह अन्य राजपूत शासकों के साथ की गई संधियों से भिन्न है। जहां अन्य राजपूत शासकों को मुगल दरबार में उपस्थित रहना आवश्यक था, वहां राणा के लिए यह आवश्यक नहीं था, सिर्फ उसका युवराज ही राणा का प्रतिनिधित्व कर दिल्ली में रहता था। राणा को मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करने पड़े, जैसा कि अन्य राजपूत शासकों ने किए थे। यह संधि राणा के लिए विशेष सुविधाओं की संधि ही नहीं थी बल्कि यह जहांगीर और उसके पुत्र खुर्रम की कूटनीतिज्ञता व दया का स्पष्ट प्रमाण है।<sup>6</sup> मेवाड़ मुगल संधि ने मुगलों को राजपूतों की ओर से निःशंक बना दिया था। परन्तु मेवाड़ के शासकों के लिए यह संधि पोषक नहीं बन सकी।

1615 ई. की मुगल-मेवाड़ संधि के साथ-साथ मुगल प्रभाव का मेवाड़ में प्रवेश हुआ। राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक और आर्थिक जीवन में राजपूत व मुगलों का समन्वित रूप उदित हुआ। एक अरसे तक लगातार युद्धों के कारण सामन्तों का मेवाड़ की राजनीति पर अधिक प्रभाव होने लगा। उदयसिंह का संकटकाल में चित्तौड़ छोड़कर उदयपुर चले जाना सामन्ती प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। प्रशासन के क्षेत्र में भी कई परिवर्तन हुए। शासन की पुरानी सभा के सलाहकार अब न रहे परन्तु उनके सैनिक सलाहकार के पद ज्यों के त्यों बने रहे, कुछ नये सैनिक पद निर्मित किए गए।

एकलिंग प्रशस्ति में उल्लेखित 'दुर्गाधिराज' 'स्कन्धवार' नए पद थे जो लगातार युद्ध की आवश्यकता के कारण निर्मित किए गए। अमरसिंह के काल के बाद सैनिक व नागरिक प्रशासन पुनः विभाजित किया गया। नागरिक प्रशासन 6 भागों में विभाजित था। पदाधिकारियों के नामकरण हिन्दू ढंग से होते रहे परन्तु पदों के कार्य मुगल प्रभाव से परिपूर्ण थे।

सर टॉमस रो ने जो उस समय मुगल दरबार में उपस्थित था, लिखा है कि 'बादशाह ने मेवाड़ के राणा को आपस के समझौते से अधीन किया था, न कि बल से। ....उसको अधीन करने से बादशाह की आय में कोई वृद्धि नहीं हुई किन्तु उसको उल्टा बहुत कुछ देना पड़ा था।'

विलियम इरविन ने लेटर मुगल्स में लिखा है—मेवाड़ के राणा, जोधपुर व आम्बेर के बड़े राजाओं की भांति मुसलमानों की सैन्य कार्यवाही में कभी भी सेवार्थ स्वयं नहीं गये। सिसोदिया मुगल बादशाहों को बेटी ब्याहने में अपना अपमान समझते थे। इसलिए उन्होंने इस अपमान का टीका कभी अपने सिर पर नहीं लगने दिया।

सर जे.एन. सरकार ने लिखा है कि उपर्युक्त रियायत केवल मेवाड़ के राजाओं के लिए ही हुई थी, जिससे अन्य राजाओं के समान न तो उनकी बादशाही दरबार में उपस्थित होना पड़ता था और न शाही सेना में नौकरी देना। उनके लिए यह आज्ञा थी कि वे अपने किसी प्रतिनिधि, छोटे भाई, कुंवर या किसी वेतनभोगी सेवक को भेज दिया करे। मुगल सेना में सिसोदियों की सेना जोधपुर, आम्बेर वालों की अपेक्षा बहुत ही थोड़ी रहती थी। अनेक इतिहासकारों ने इस संधि को स्वीकार करने में राणा अमरसिंह की कटु आलोचना की। उनका कहना कि अमरसिंह में अपने पिता प्रताप जैसा साहस नहीं था और न उन जैसा मनोबल। उसने प्रताप द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा के लिये किये कार्यों को शून्य कर दिया। यदि अमरसिंह में साहस होता तो वह इस संघर्ष को जारी रख सकता था।

डॉ. बेनीप्रसाद का कहना है कि यह ठीक है कि अमरसिंह में प्रताप जितना साहस भले ही न हो, फिर भी उसने जो सैन्य संचालन किया, अकबर के समय जिस ढंग से उसने युद्ध किया, उससे प्रतीत होता है कि वह युद्ध से घबराता नहीं था और न ही अपने ऐशो-आराम में व्यस्त रहता था। मेवाड़ की आर्थिक दशा दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। सारा उपजाऊ भाग मुगलों के अधीन था। खाद्य सामग्री, सैनिक सामग्री कम होती जा रही थी। उधर मुगल शासन अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। मुगल साम्राज्य विश्व का एक सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था। प्रारम्भ से ही यह युद्ध असमान शक्तियों के बीच था। अमरसिंह चाहता तो कुछ समय के लिए और लड़ सकता था किन्तु मेवाड़ के लिए अधिक समय तक स्वतंत्र रहना सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में ऐसी उदार शर्तों को न मानना एक भयंकर भूल होती। इस संधि के कारण मेवाड़ को केवल नाम मात्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। महाराणा का मुगल दरबार में जाना आवश्यक न था और न मेवाड़ से कोई डोला मुगल हरम को भेजा जाना जरूरी था। ये

शर्ते मेवाड़ के सम्मान के अनुरूप थी। अस्तु इस अवसर को न खोकर अमरसिंह ने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। यद्यपि इस संघर्ष से अमरसिंह को आत्मग्लानि हुई, शेष जीवनकाल में वह महलों से बाहर न निकला व सारा शासन कार्य करण करने लगा था।

\*\*\*\*\*

## राजतंत्र व ब्रिटिश नीतियों के विरुद्ध बीकानेर के छात्र आन्दोलन - 19वीं सदी के सर्दभ में

जगदीश नारायण ओझा

अंग्रेजों के शासन काल में राजस्थान की रियासतों में छात्रों ने शासकों की निरंकुशता और पिछड़ेपन को चुनौती देते हुए छात्रों में नवजागरण का संचार किया। बीकानेर रियासत में प्रत्यक्ष रूप से गाँधी टोपी तथा वंदे मातरम बोलने पर सजा दी जाती थी। लेकिन भयरहित छात्रों ने सरकार से लोहा लिया तथा खादी व गाँधी टोपी को अपना अस्त्र बनाया। तत्कालीन विद्यार्थी गाँधी टोपी पहनकर कक्षा में पहुँचता तब अध्यापक और प्राध्यापक चौंक जाते थे। क्योंकि बीकानेर महाराजा की आज्ञा के विरुद्ध कोई भी प्रशासनिक अधिकारी जोखिम नहीं उठाता था। इस प्रकार निजी विद्यालयों को सरकारी सहायता बंद कर दी जाती थी तथा राजनीतिक दलों के गलियारों में आलोचना का विशय तथा मुद्दा बन जाता था।

राजस्थान की देशी रियासतों में बीकानेर की स्थिति विभिन्न रियासतों से पृथक थी। क्योंकि यहाँ की जनता को अंग्रेजी हुकुमत के साथ स्थानीय प्रशासन के अत्याचार भी सहन करने पड़ते थे। बीकानेर रियासत के अन्य नागरिकों को यह भ्रम था कि यहाँ पूर्ण स्वतंत्रता विद्यमान है। लेकिन यह सब धोखा था। क्योंकि रियासत में राजनीतिक दल, प्रजामण्डल, प्रजापरिषद, शोभायात्रा, अखबार पर प्रशासन का पूर्ण नियंत्रण था तथा आजादी व स्वतंत्रता की बात करने वालों को कुचल दिया जाता था तथा जय हिंद के नारे पर बीकानेर सरकार द्वारा रोक थी। एक तरफ सरकार राष्ट्रीय नेताओं से विभिन्न मंचों पर वार्तालाप कर रही थी दूसरी ओर रियासत में मनमाना अत्याचार जारी था। कॉलेज के विद्यार्थियों को हड़ताल, रेली व भाषण की आजादी नहीं थी। छात्रों को कठोर अनुशासन में रखा जाता था तथा कॉलेज हमेशा के लिए बंद कर दिया जाएगा आदि धमकियाँ दी जाती थी। इस प्रकार न केवल छात्र बल्कि व्यापारी व किसान भी कठोर अनुशासन से दुखी थे।

छात्र आंदोलनों में मुख्य रूप से रामपुरिया स्कूल के चंपालालजी उपाध्याय, डूंगर महाविद्यालय के शिवलाल, अर्जुनसिंह तथा अध्यक्ष लक्ष्मीचंद गोयल, किसनसिंह मोहता आदि ने अहम भूमिका निभाई। बीकानेर में स्वतंत्रता आंदोलन की 1942 में

प्रजापरिषद की स्थापना के साथ गति तेज हुई रघुवर दयाल गोयल, दऊदयाल आचार्य, रावतमल कोचर, रामनारायण शर्मा, चंपालाल उपाध्याय, गंगादास कौशिक जैसे युवाओं ने छात्र आंदोलनों का नेतृत्व किया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के सत्याग्रह, बहिष्कार व कांग्रेस के कार्यक्रमों से बीकानेर के छात्रों में जागृति उत्पन्न हुई। तत्कालीन महाराजा गंगासिंह अपनी रियासत में ऐसी घटनाओं को प्रशासन के माध्यम से कुचलने का प्रयास किया लेकिन बीकानेर के विद्यार्थी अपने आत्म-सम्मान के लिए उठ गए।

छात्रों ने अपने भविष्य को अब राष्ट्र आंदोलन के साथ जोड़ दिया था। सीताराम पुत्र दुर्गादत्त अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर बनारस में कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय भूमिका होने के कारण इन्हें बनारस जेल में रहना पड़ा। प्रजापरिषद की स्थापना के पश्चात् छात्रों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जाग उठी थी। इसके अलावा छात्र संघ डूंगर महाविद्यालय तथा रामपुरिया महाविद्यालय के छात्रों का संपर्क राष्ट्र स्तर के नेताओं के साथ हुआ। विभिन्न संस्थाओं से पत्र व्यवहार और सामग्री राज्यों में आने लगी। छात्र संगठन आंदोलन के लिए निडर होकर सड़कों पर अंग्रेजी नीतियों व शासकों की नीतियों के विरुद्ध लोकतंत्र की कामना करने लगे।

छात्रों के आंदोलन व प्रशासन के दमन की सूचना राष्ट्र नेताओं को पहुँच जाती थी। पंडित जवाहर लाल नेहरू 1945 में जब जोधपुर आए। उस समय छात्र संगठनों को नेहरू जी ने संबोधित किया। प्रथम मिटिंग जसवंत कॉलेज और दूसरी मीटिंग दरबार हाई स्कूल में रखी गई। इस समय बीकानेर छात्र कासीराम ने सक्रियता से 26 जनवरी में भाग लेता था तथा 26 जनवरी का उत्सव मनाने में अग्रणीय भूमिका निभाता था। इस प्रकार राजस्थान में स्वतंत्रता आंदोलन में छात्र संगठनों में राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रिय सहयोग दिया। यद्यपि बीकानेर रियासत के महाराजा गंगासिंह तथा सार्दुलसिंह अंग्रेजी नीतियों के प्रबल पोषक थे लेकिन युवा शक्ति ने क्षेत्रीयता को छोड़कर राष्ट्रीयता का सूत्रपात किया तथा स्कूलों तथा कॉलेजों में राजनितिक अधिकारों के प्रति जागरूक होने का आह्वान किया।

इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से प्रेरित होकर न केवल बीकानेर में बल्कि राजपूताने में अपनी ऊर्जा का समकालीन शासकों, प्रशासनिक इकाइयों व अंग्रेजों को अपनी शक्ति का परिचय दिया। महाराजा के काल में संघ बनाना, जुलुस निकालना, गाँधी व नेहरू का नाम लेने पर कठोर यातना दी जाती थी। ऐसी स्थिति में छात्रों ने राज्य स्तर व राष्ट्र स्तर के देशभक्तों से संपर्क स्थापित कर बीकानेर रियासत में हो रहे अत्याचारों का गुप्त रूप से पत्रों के द्वारा कांग्रेस के नेताओं को अवगत करवाया अंततः सरदार बल्लभ भाई पटेल ने बीकानेर रियासत को राजस्थान में सम्मिलित कर भारत का अभिन्न अंग बनाया।

\*\*\*\*\*

## राजपुताना में मरहटों का एक अल्पज्ञात युद्ध

डॉ. राघवेन्द्रसिंह मनोहर

महाराजा सवाई जयसिंह के शासनकाल से ही राजपुताना में मरहटों की गतिविधियां और सक्रियता बहुत बढ़ गई थी। राजपुताना के राज्यों की अर्न्तकलह और उत्तराधिकार के लिए पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण मरहटों का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता जा रहा था जिसे रोकने के लिए सवाई जयसिंह ने 1734 ई. में हुरड़ा सम्मेलन आयोजित किया था। उनके उत्तराधिकारियों सवाई ईश्वरीसिंह तथा माधवसिंह प्रथम के मध्य राजमहल तथा बगरू के युद्धों में भी मरहटों ने सक्रिय भूमिका निभाई। महाराजा सवाई प्रतापसिंह के शासनकाल में विक्रम संवत् 1843 (जुलाई 1787 ई.) में जयपुर रियासत तथा मरहटों के बीच तूंगा का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा गया जिसमें मरहटों की पराजय हुई।

सवाई प्रतापसिंह के समय कछवाहों की खंगारोत उपशाखा के एक प्रमुख संस्थान बोराज में ठाकुर सकतसिंह के शासनकाल में खंगारोतों तथा मरहटों के बीच बोराज में एक भीषण युद्ध लड़ा गया। यह युद्ध माह बदि 14 विक्रम संवत् 1843 (फरवरी 1787 ई.) में तूंगा की प्रसिद्ध लड़ाई से 6 माह पूर्व लड़ा गया जब बोराज पर मरहटों ने हमला किया। मरहटों के इस आक्रमण का प्रमुख महादजी सिंधिया का सेनानायक रायजी पटेल था जिसका बोराज और निकटवर्ती ठिकानों के खंगारोत वीरों ने जबरदस्त प्रतिरोध किया। इस बोराज युद्ध के नायक ठाकुर सकतसिंह के छोटे भाई (शिवदानसिंह के पुत्र) जवानसिंह सीतारामपुरा थे जिन्होंने इस युद्ध में मरहटों का संहार करते हुए अप्रतिम वीरता प्रदर्शित की तथा अन्य अनेक खंगारोत योद्धाओं के साथ लड़ते हुए काम आये। बोराज में गढ़ के सामने एक बड़े चबूतरे पर सफेद संगमरमर की शिला पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है जिसमें जवानसिंह के अपनी मिसल (सैनिक टुकड़ी) सहित वीरगति पाने का उल्लेख है। यथा-

बोराज के किले के सामने एक बड़े विशाल चबूतरे पर सफेद संगमरमर की शिला स्थापित है जिस पर 17 सैनिक शस्त्र धारण किये हुए उत्कीर्ण है। उनके आगे हाथ में भाला लिए घुड़सवार की आकृति उत्कीर्ण है।

- (1) राज्य श्री जवानसंघजी श्री स्योदानसंघ गजसिंघोत घांप घंगारोत वैर
- (2) सलोत सथान वोरजि रायजी पटेल सू कज्जियो हुयो जी में कामि
- (3) आया मिती महा बदी 14 संवत 1843 का मिसल सहित कामि
- (4) आया त्यां की देवली

बोराज के इस युद्ध में जवानसिंह द्वारा प्रदर्शित अद्भुत वीरता और पराक्रम पर डिंगल के एक महत्वपूर्ण काव्य जवानरासो की रचना हुई है। डिंगल के इस महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक काव्य में बोराज युद्ध की तिथि, युद्ध की प्रमुख घटनाओं लड़ाई में भाग लेने वाले कछवाहा, राठौड़, पंवार, धाभाई, गौड़ तथा अन्य योद्धाओं, महादजी सिंधिया के सेनानायक रायजी पटेल की गतिविधि सहित अनेक बातों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। यथा-

उक्त बोराज युद्ध की तिथि के सम्बन्ध में जवानरासो का यह उल्लेख कितना महत्वपूर्ण है-

*माह बदि तिथि चवदसि मुदै, उण दिन मंगलवार।*

*थठियो जुध बोराचि थहे, जवान पटल गुजार।।*

*बाखाण करूं जस ज्वन वीर, रिण रचे जेण विधि धुरंधीर।*

*मंगल सुदि चवदसि माहा मास, जुध रचे समत तैयाल जास।।*

जवानरासो में इस युद्ध में लड़ते हुए वीरगति पाने वाले योद्धाओं, काली कंकाली द्वारा रक्तपान मुण्डमाला धारण किए हुए शिव तथा युद्ध में मृत्यु को प्राप्त करने वाले वीरों का अप्सराओं द्वारा वरण का भी वर्णन किया गया है।

बोराज के समीप खंगारोतों के एक अन्य ठिकाने हिरणोदा में उपलब्ध एक स्मारक शिलालेख से भी जवान रासो में वर्णित इस युद्ध की प्रामाणिकता पर प्रकाश पड़ता है। उक्त शिलालेख के अनुसार हिरणोदा के ठाकुर गुमानसिंह ने युद्ध के तीसरे दिन वृहस्पतिवार को रायजी पटेल की मरहटा सेना से मुकाबला करते हुए वीरगति प्राप्त की। इस शिलालेख में बोराज के किले पर लड़े गये इस युद्ध को साके की संज्ञा दी गई है।

\*\*\*\*\*

## List of Members

### Founder Members

Late Dr. A.L. Srivastva  
 Late Dr. S.P. Srivastva  
 Late Shri R.S. Kapur  
 Shri L.P. Vaisya  
 Late Dr. M.S. Jain  
 Late Rao Narayan Singh Of Masooda

Late Shri N.R. Khadgawat  
 Late Dr. Dasharatha Sharma  
 Late Shri N.N. Acharya  
 Late Prof. G.N. Sharma  
 Late Dr. R.P. Vyas

### Patrons

Shri G.C. Kanungo, Managing Director, Alcobex Ltd., Jodhpur  
 Shri S.R. Mehta, Mehta Vanaspati Products, Chittorgarh  
 Shri Hemendra Singh, Banera, District Bhilwara  
 Dr. S.S. Bhandawat, Bhandawat Foundation, Manak Chowk, Jodhpur  
 Dr. Nagendra Singh, Justice, International Court Of Justice, The Hague  
 United Books Traders, Ratanada, Jodhpur

### Life Members

The Bank Of Rajasthan(Ltd.), Jaipur  
 Shri K.K. Purohit, Jodhpur  
 Dr. Manohar Singh Ranawat, Natnagar Sodh Sansthan, Sitamau  
 Professor Mananori Sato, Faculty Of Economics, Asia University, Tokyo-Iso-(Japan)  
 Professor D.C. Shukla, Parijat-c-38, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur  
 Shri Om Prakash Mohta House, 29-Srand Road, Calcutta  
 Shri Mullapudi Timmrugaru, Tanuka {Andhra Pradesh}  
 Shri Prasanna Mal Mohnot, 67, Mahaveer Nagar, Pali  
 Shri C.P. Mathur, E-27, Chanakya Place (I), Pankha Rad, New Delhi-110059  
 Shri Sajjan Singh Ranawat, Udaipur  
 Dr. V.K. Trivedi, 26, Shanti Nagar, Sirohi  
 Dr. Arvind Parihar, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur  
 Dr. B.L. Upmanyu, Lecuter In History, SD Govt. College, Beawar  
 Dr. Girish Nath Mathur, I Gh 41, Gayatri Nagar, Hiran Magri, Sector-5, Udaipur  
 Dr. Ishwar Singh Ranawat, Research Officer, Pratapsodh Pratisthan, Udaipur  
 Dr. J.K. Ojha, Near Post Office, Kanore, Udaipur  
 Dr. M.R. Choudhary, Dept. Of History, JNV University, Jodhpur  
 Dr. Manorama Upadhyaya, 128, Nehru Park, E Road, Sardarpura, Jodhpur  
 Prof. Meena Gaur, 19-Gokul Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur  
 Dr. Mohabat Singh Rathore, Research Office, Pratap Sodh Pratisthan, Udaipur  
 Dr. Mrs. Shashi Arora, Head, Dept. Of History, Govt. College, Kota  
 Dr. N.K. Upadhyay, Lecturer In History, Govt. College Ajmer, Ajmer  
 Dr. Pramila Singhvi, Pranjali, Sector 3, Hiran Margi, Udaipur  
 Dr. S.C. Agarwal, 99, Shatri Nagar, Ajmer  
 Prof. S.K. Purohit, Behind Bannath Temple, Sukhanand ki Bagechi, Siwanchi Gate, Jodhpur  
 Prof. S.P. Vyas, Asop ki Pole, Near Juni Mandi, Jodhpur  
 Dr. S.S. Bais, C-217, Krishna Nagar, Pali Road, Jodhpur  
 Prof. Vinita Parihar, B-16, Shatri Nagar, Jodhpur  
 Dr. Mrs. Digvijay Bhatnagar, E 27, University Qtrs., Durga Nursury Road, Udaipur  
 Dr. Mrs. Usha Purohit, Lecturer In History, Mahila Mahavidyalaya, Jodhpur  
 Mr. C.S. Sharma, Lecturer In History, Govt. College, Sheoganj  
 Mr. Dinesh Rathi, Hariom Bhawan, Bada Bas, Mathania, Jodhpur  
 Mr. F.K. Kapil, Secretary, Jaya Kapil Poort Nyas, Pakon Ka Bas, Jodhpur  
 Dr. Raju Ram, V & P Rarod, Via Asop, Jodhpur  
 Mrs. Kamla Jain, 26, Sharda Nagar, Near Bohra Ganesh Temple, Udaipur

Mrs. Pawan Maru, C/O Manish Agency, Kala Khet, Mandsoore, Mandsoore (M.P.)  
 Mrs. Shashi Kala, C-71, Dharam Narayan Ka Hatha, Paota, Jodhpur  
 Prof. G.S.L. Devra, 10 G 8, 'Parijat', SFS Mahaver Nagar, Extn.III, Kota  
 Prof. V.K. Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur  
 Prof. Nilima Vashishtha, 195-B, Univrsity Marg, Bapu Nagar, Jaipur  
 Dr. Usha Shah, Govt. College Pali, Pali-Marwar  
 Dr. Shobhagya Goyal, C/O Ram Goyal, Advocate, H.M. Mohalla, Ghaseti Bazar, Ajmer  
 Dr. Hukum Chand Jain, 19, Basant Vihar Special, Kota  
 Prof. K.G. Sharma, Deptt. Of History, University Of Rajasthan, Jaipur  
 Mrs. Tara Jain, W/O U.C. Jain, G-34, Shastri Nagar, Jodhpur  
 Dr. Seema Garg, Opp. 107, Vallabhbari, Kota  
 Dr. Usha Vyas, 1 Gha Sabarmati Clny., Kota  
 Mrs. Nidhi Sharma, D-299, Ktps, Sakatpura, Kota  
 Mrs. Seema Gupta, A-9, Gayatri Vihar, Police Line, Kota  
 Dr. Karuna Joshi, 150, Pwd Quarter, New Colony, Dungarpur  
 Dr. Shankar Goyal, 41, Sardar Club Scheme, Jodhpur  
 Dr. Anila Purohit, 'Kamla Kunj', 5th D/76, Hudgo, J.N.Vyas Colony, Bikaner  
 Dr. Meghna Sharma Paliwal, Asst.Prof. Deptt. Of History, Maharaja Ganga Singh University, Bikaner  
 Dr. Neelam Sharma, Near Water Works, Old City, Kishangarh  
 Dr. Satish Kumar Trigunayat, B 48 A, Jawahar Nagar, Bharatpur  
 Dr. Pushpa Dullar, 52- Arvind Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Basasthali  
 Ms. Urmila Parihar D/O Shri Mool Chand, Behind Adarsh Vidya Mandir, Sheoganj, Sirohi  
 Dr. Alok Kumar Gupta, Lecturer In History, R-398, Padam Vilas, Bharatpur-321001  
 Dr. Sharda Sharma, E-47, Khaturia Colony, Bikaner  
 Dr. Meenakshi Sharma, Shri Ram Swaroop Bohra, 12- Inder Nagar, Sunderwas, Udaipur  
 Ms Iti Mograkaran Singh Mogra, C/O Phool Chand Mehta, 382/B, Ashok Nagar, Moksh Marg, Udaipur  
 Dr. Neelam Gaur, Near Govt. Hospital, Von Girls College, Hanumangarh Town  
 Dr. Anita Kwadia, Meera Girls College, Udaipur  
 Ms Pratibha, A-342, Chandvardai Nagar, Ajmer  
 Dr.(Mrs.) Nirmal Kashyap, House No. 30, Type III, MD university, Rohtak  
 Dr. Sushila Shaktawat, 21 Ghati magri, Penariyon ki Madri, Holi Chowk, Udaipur  
 Avinash Parek, Savitri Villa, Kishan Hostel, Sardarsaher, Churu  
 Dr. Aashish Chouhan, Aashish Sadan, Godon Ka Chowk, Jodhpur  
 Ms Shikha Choudhary Charan Singh Girls Hostel, Tilak Nagar, Bikaner  
 Dr. Anju Suthar, 3/46, New Officer's Colony, Opp. Police Line, Barmer  
 Mahendra Chudhary, Stadium Road, Nehru Nagar, Barmer  
 G.S. Gupta, 4/267, Malviya Nagar, Jaipur-302017  
 Dr. Dinesh Bhargava, R-399, Padam Villa, 1 G.P. Office, Bharatpur-321001  
 Sowrabh Sharma, 8-Bapuji Marg, opp.State Motor Garge, 22-Gogam, Jaipur-01  
 Kailash Songara, 2 Sa 35, UIT Colony, Pratap Nagar, Jodhpur  
 Om Prakash Bhati, D-137, Kirti Nagar, P.Mandore Mandi, Jodhpur  
 Dr. Aruna Soni, 'Aashirwad', Near Ladnun Bus Stand, Naya Bas, Sujangarh  
 Dr. Mukesh Harsha, Harsho ka Chowk, Bikaner  
 Dr. Mahendra Purohit, Joshiwada, Bikaner  
 Dr. V.N. Singh, South Extn. Pawanpuri, Bikaner  
 Rajshekhhar Purohit, 3/18, Mukta Prasad Nagar, Bikaner  
 Dr. Jagdish Narayan Ojha, Barah Guward Ka Chowk, Nahtaniyo ki Saray Ke Pas, Bikaner  
 Mrs. Champa Agarwal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh  
 Dr. Prabhat Swami, N.M.P.G. College, Hanumangarh  
 Gyarsi Swami, Vill.Tedi via Jaswantgarh, T.Ladanun, Nagaur  
 Dr. Nayna Acharya, 72-Amarnath Bhawan, opp. M.G. Hospital, Jodhpur  
 Mrs. Sonal Purohit, C/o Sunil Bora, Near Tapi Baori, Nathawaton Ki Gali, Jodhpur  
 Dr. Nidhi Srivastava, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh  
 Dr. Vikram Singh Gundoj, 160, Teacher's Colony, Chopasani, Jodhpur  
 Mrs. Santosh Vyas, Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh  
 Ms. Asha Bhargava, Vice-Principal, Sona Devi Sethia Girls' College, Sujangarh

Dr. Anju Jain, w/o Jatan Kumar Jain, Mertawari, Nagaur  
 Mrs. Darshana Joshi, Rai Bahadur Gali, Daga Chowk, Bikaner  
 Dr. Pradeep Singh Rathore, Govt. College Dhorimanna, Barmer  
 Ms Rashmi Meena, Asst. Prof., Department of History, JNV University, Jodhpur  
 Nand Kishore Bhutra, Jaiselmerion ki Gali, Navchowkiya, Jodhpur  
 Dr. T.V.Vyas, Nathawaton ki Bari, Near Nyon-ka-Bar, Navchowkiya, Jodhpur  
 Dr. Anil Purohit, 21/143, Chopasni Housing Board, Jodhpur  
 Dr. Sadhna Meghwal, W/o Dr. B.R. Meghwal, IPS, JH-7, Bhaghat ki Kothi Extn. Scheme, Jodhpur  
 Dr. Sajjan Poswal, 97-A, Gali No. 3, Krishna Nagar, Bajrang Nagar, Kota  
 Vijesh Gandhi, Foz-ka-Bada, Dungarpur-314001  
 Ms Anuradha Srivastava, Govt. Girls College Pali, Pali  
 Rajni Sharma, C-211, Gautam Marg, Hanuman Nagar, Jaipur  
 Dr. Pushpa Sharma, 1262/12, Near Durga Temple, Shastri Nagar, Krukshetra  
 Dr. Ramji Lal Kohli, Aman Vihar, Behind Gas Godam, Dausa  
 Dr. Sunita Mehta, C/o Rakesh Mehta, C-3, Sir Pratap Colony, 5-Batti Circle, Ratanada, Jodhpur  
 Ms Nirmala Meena  
 Savita Choudhary  
 Reenu Meena, 85, Bhagwati Nagar 1st, Kartarpura, Jaipur  
 Dr. Preeti Sharma, 4, Vivekanand Niwas, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali  
 Dr. Sulekha Shekhawat, opp. Khuchaman College, 13 Venkatesh Nagar, Kuchaman City  
 Dr. Neekee Chaturvedi, 3-Da-14, Jawahar Nagar, Jaipur-302004  
 Dr. Manju Gupta, 24/59, Swarn Path, Mansarowar, Jaipur  
 Dr.(Mrs.) Vibha Upadhyaya, B-38, Prabhu Marg, Tilak Nagar, Jaipur-04  
 Mrs. Bindu Tiwari, Deptt. Of History, SD Govt. College, Beawar  
 Dr. D.P. Goswami, 131, Shastri Nagar, Beawar Road, Ajmer  
 Mrs. Minakshi Deviratam, 2, Virendra Nagar, Near Mandore, Jodhpur  
 Dr. Ravindra Tailor, 79-B, Munot Nagar, Out Side Nehru Gate, Beawar  
 Virendra Sharma, 54-A, Jawahar Nagar, Near Glass Factory, Tonk Road, Jaipur  
 Dr. Anita Surana, D-19-B, Meera Marg, Bani Park, Jaipur-302016  
 Dr. Anuradha Mathur, C/o Mukesh Bhargav, F/5, Gandhi Nagar, UIT Colony, Ajmer-305001  
 Dr. Smita Mishra, 284- Arya Nagar, Scheme No.1, Alwar-301001  
 Dr. Rakesh Kumar Sharma, E-327, Ambedkar Nagar, Alwar-301001  
 Dr. Satyendra Sharma, H-30, Shastri Nagar, Meerut City(U.P.)  
 Mrs. Meera Ambesh, D-79, Hasan Khan Mewat Nagar, Alwar-301001  
 Dr. Tafiique Hussain, E-26, Civil Line, Shriganganagar-355001  
 Surendra D.Soni, Lecturer in History, C/o Prem Khandelwal, Advocate, Shiv Mandir, Naya Bas, Churu 331001  
 Dr. Jyotsana Vyas, Plot no. 150, Patrakar Colony, NPH Road, Jodhpur  
 Dr. B.N.Benjamin, 934, Faith Cottage, 9th D Road, Sardarpura, Jodhpur  
 Yogwati Pareek, 2243-A, Sec-3, Faridabad-121004  
 Dr. Alpanas Dubhashe, III, Ganga Nagar, AB Road, Dewas (M.P.)  
 Rajesh Panwar, C/o Ambica cosmetics, Shop No. 271, Ganpati Plaza, KEM Road, Bikaner  
 Sushil Kumar Moyal, Near Ramdeo Temple, Otside Jassusar Gate, Bikaner  
 Gopal Krishna Vyas, Near Samta Bhawan, Chabli Ghati, Bikaner  
 Dr. K.R. Motsara, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria  
 Dr. Tamanna Singh, Kamla Sadan, Sir Chotu Ram Marg, Maharaja Jhujarmal Nagar, Hanumangarh Road, Sangaria  
 Dr. Shilpa Mehta, R-4, AbhayBagh, Sardarpura, Udaipur  
 Dr. Ambika Dhaka, H.No. 67, Bajrang Niwas, Near Durgapura Ral. Station, Jaipur  
 Rakesh Kumar Yadava, VPO- Sirohe, The. Khetri, Jhunjunu  
 Dr. Pranay Dev, 2 D 23, Housing Board Colony, Jhalawar  
 Sunita Sawmi, Swami Mohalla, Inside Jasussar Gate, Bikaner  
 Sharmila Swami, 6 B 04, JNV Colony, Bikaner

Dr. Suman Dhakha, 224, Dr. Rajendra Prasad Nagar, Near Rani Sati Nagar, 200 Feet Bypass, Ajmer Road, Jaipur  
 Dr. Archana Kalra, 56, Pratap Nagar Colony, Near Glass Factory, Tonk Road Jaipur  
 Shri Harphool Singh, H.No. 67, Bajrang Vihar, Near Durgapura Rly. Station, Jaipur  
 Dr. Rahul Tripathi, 94/4, Agarwal Farm, Mansarovar, Jaipur  
 Meena Bhaskar, VPO- Ghassu via Khudi Badi, Sikar  
 Sukharam, C/o H.R. Choudhary, 23, Lavkus Nagar 1st, Tonk Fatak, Jaipur  
 Dr. Kulwant Singh Shekhawat, A-17, Marudhar Vihar, Khatipura, Jaipur  
 Mahendra Jalwaniya, 23/29, Chopasani Housing Board, Jodhpur  
 Dr. Vishnu Prasad Sharma, Plot no.4, Patel Nagar, Gopalpura Bypass, Jaipur  
 Dr. Vidhi Sharma, 7, Janakpuri II Exetension, Imli Fhatak, Jaipur  
 Smt. Rekha Jorwal, ARG-40, Near Collector Residence, Alwar  
 Dr. Rakhi Yadav, B-2/493, Chitrakoot Scheme, Jaipur  
 Jayantilal Khandelwal, 634 B, Brkat Nagar, Tonk Fhatak, Jaipur  
 Dr. Sangeeta Sharma, B-141, Kirti Nagar, Near Gopalpura Bypass, Jaipur  
 Dr. Anuradha Rathore, A-5, Shastri Nagar, Opp. SBI, Jaipur  
 Rajesh Arya, Plot no.-147, Shripuram Colony, Gurjar ki Thadi, New Sanganer Road, Jaipur  
 Dr. Alok Kumar Chaturvedi, 82/139, Near Giri Marg, Mansarovar, Jaipur  
 Dr. Gyaneshwar Meena, Ganesh Colony, Udai Mode, Gangapur City, Swaimadhoper-322201  
 Rajeshwari Devi Rathore, HH's Flat No. 5, C Scheme, Tilak Marg, Jaipur  
 Mrs. Sarika Kaul, 408, Ground Floor Lane No. 2 Raja Park, Jaipur - 302004  
 Dr. Ankan Garg, 41/6 Near Varun Parth, Mansarovar, Jaipur - 302020  
 Dr. Geeta Singh, 44, Vardhaman Nagar-B, 200 Feet Bypass, Ajmer Road, Jaipur  
 Ms Twinkle Sharma, Lecturer History, Govt. Lohiya College,  
 Dr. Kalpana Sharma, 2 CH 14, Sector 5, Shanti Nagar, Hiran Magri, Udaipur  
 Kamal Singh Kothari, Kothari Sadan, Chacha Nehru Marg, Behind The Fort, Churu-331001  
 Dr. Tarun Pratap Yadav, 307, Pragati Nagar, Nagla Battu Road, Meerut  
 Dr. Amrita Choudhary, E-205, Shiv Park, Amba Bari, Jaipur  
 Dr. Jeewan Singh Kharakwal, 18, Prem Nagar, C Block, Near Arihant Vatike, Roop Sagar Road, Udaipur  
 Rahul Pareek, Ward No.13, Cheta Kheri, Chhapar, Churu  
 Dr. Madan Lal Meena, Bagwala Kuwan, P.Hasampur, T.Neem-ka-Thana, Sikar  
 Dr. Vineet Godhal, Agrasena Colony, Opp. BPRV Mandir, Near Power House, Delhi Darwaja, Kotputli, Jaipur  
 Bhagwan Singh Sekhawat, 70-71 Shiv Shakti Nagar, Out Side Mahamandir 3rd Pole, Paota, Jodhpur  
 Bhawani Singh Rajpurohit, In Side Siwanchi Gate, Jodhpur  
 Dr. Suresh Kumar Choudhary, A-4, Krishna Nagar, New Pali Road, Jodhpur  
 Bharat Deora, III /B, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur  
 Lalit Kumar Panwar, III/F-19, Sector-2, University Staff Colony, Residency Road, Jodhpur

## Members

Dr. Shahan Shah, H.No. 4 Cha 37, Vigyan Nagar, Kota  
 Ms Sarita Choudhary, C/o F.S. Poonia, 10/C, Mahaveer Colony, Ratanada, Jodhpur  
 Rajesh Babu, ANM Training Centre, T B Hospital, Etawah-206001  
 Sunil Dutt, V.Bhagwri Kalan, P Guwana, T. Behror, Alwar  
 Sarjeet Singh, VPO Moi Purani, T.Buhana, Jhunjhunu  
 Achala Ram Choudhary, K D College, Gudamalani, Barmer-344031  
 Mukesh Kumar Sharma, V.Alisar, via Kaladera, Chomu  
 Dr. Rashmi Agrawal, Adarsh Nagar, Mangal Bhawan, Nthdwara-313301  
 Ms Monika Sharma, 18/3, Khirmi Gate, Aligarh-202001  
 Urmila Sharma, H. No. 23, New Modern Complex, Bhuwana, Udaipur  
 Dr. Yasoda Meena, ARG 29, Sajjan Vilas, Station Road, Alwar  
 Daleep Kumar, 12, Prajapati Nagar, New Sanganer Road, Opp. Patel Marg, MASarovar, Jaipur  
 Deepak Choudhary, A-58,59, Hawa Sarak Nandpuri Colony, Jaipur

Dr. Anshul Sharma, D-2, Ganesh Marg, Bapu Nagar, Jaipur  
 Dr. Kumud Sharma, A-71, Kirti Nagar, Tonk Road, Jaipur  
 Dr. Asha Bagotia, 32/46, HIG, Housing Board, Pratap Nagar, Sanganer, Jaipur  
 Ghanshyam Lotan, 4/174, Jawahar Nagar, Jaipur  
 DAulat Singh Naruka, 1/39, Malviya Nagar Jaipur  
 Dr. Komal Kant Sharma, 232/31, SFS, Pratap Nagar, Jaipur  
 Aditi Sharma, E-223, Ram Nagar Extn., Hawa Sarak, Sodala, Jaipur  
 Dr.T.C.Bairwa, 22, Mahaveer Nagar II, Durgapura, Jaipur  
 Dr. RAdha Kishan, P.No. 551, Barkat Nagar, Tonk Fatak, Jaipur  
 Dr. Sunita Meena, N-1/11, LIC Flats, Sec.6, Vidya Nagar, Jaipur  
 Manoj Kumar Nayak, H.No.195, Pratap Nagar, Agra Road, Jaipur  
 Dharmpal Meena, 32, Shiv Gorkesh Nagar, Model Town, Malviya Nagar, Jaipur  
 Sh Ranveer Singh Kharra, VPO Bharni, Near Bus Stand, Via Srimadhapur, Rajasthan  
 Sh Ramakant Gautam, 4/19, Jatawada Khurd, ManTown, Swaimadhapur-322001  
 Sh Kamal Singh, VPO Shimla, The. Khetri, Dis. Jhunjunu  
 Sh Mukesh Kumar Khoda, V. Meenawala, P.Panchayanwala, Aadhagela ki Dhani, Near B N School, Karni Palace Road, Jaipur  
 Dr. Anju Sharma, 1/19, Near Shivanand Marg, Malviya Nagar, Jaipur  
 Sh Shiv Kumar Bhagar, 70/133-140, Patel Marg, Mansarovar, Jaipur  
 Dharam Raj Meena, Room No. 226, Meena Hostel, Jhalana Dungari, Jaipur  
 Dr. Govind Shankar Sharma, A-6, Saraswati Colony, Tonk Fatak, Jaipur  
 Mukesh Kumar Meena, Room No. 225, Meena Hostel, Jhalana Dungari, Jaipur  
 Suresh Kumar Meena, Room No. 51, DBN Hostel, University of Rajasthan, Jaipur  
 Dr. Dushyant, 43-17-05, Swaranapath, Mansarovar, Jaipur  
 Dr. Nathulal Gurjar, S-271, Shopping Centre, Jagdamba Marg, 80 Feet Road, Mahesh Nagar, Jaipur  
 Dr. Veenu Pant, 34/47, Kiran Path, Mansarovar, Jaipur  
 Meenakshi Tyagi, 2/182, SFS, Agrawal Farm, Mansarovar, Jaipur  
 Prof.N.K. Sharma, Deptt. Of History, JNVU, Jodhpur  
 Dr. (Mrs.)Kamlesh Tiwari, No. 1st, Mahaveer Nagar, Tonk Road, Jaipur  
 Dr. Kailash Chandra Gurjar, B-38, Prabhu Nagar, Tilak Nagar, Jaipur  
 Smt. Suman Chouhary, B-84, Guru Jhambheshwar Narag B, Gandhi Path, Vaishali Nagar, Jaipur  
 Dr. Rajesh Kumar Dhabhi, 48, Adarsh Krishna Nagar, Kartarpura, Jaipur  
 Rashmi Gurjar, 48, Adarsh Krishna Nagar, Kartarpura, Jaipur  
 Bharat Samrat, 41, Rajeev Colony, Ward No. 15, N H -08, The. Behror, Dis. Alwar  
 Dr. Bhawani Singh Gurjar, 41, Ganesh Nagar, Moti Dungari, Jaipur  
 Dr. Rajendra Kumar Sharma, B-339, Janta Colony, Jaipur  
 Santosh Bangar, 112, Mozi Colony, Opp. Saras Dairy, JLG Marg, Malviya Nagar, Jaipur  
 Dr. Chiranji Lal Singh, 912, F-2, Barkat Nagar, Near Kishan Marg, Tonk Road, Jaipur  
 Dr. Sanjeev Kumar, V & P Bakara, Dist. Jhunjunu  
 Ruby Singh Thakur, 1319, Durga Bhawan, Chanakya Marg, Subhash Chowk, Jaipur  
 Dr. Nishi Sinha, F-6, Ram Path, New Sanganer Road, Shyam Nagar Extn., Jaipur  
 Veerendra Singh Choudhary, AA-5, Jai Ambey Nagar, Gopalpura Turn, Tonk Road, Jaipur  
 Dr.(Mrs.) Parneet Jaggi, 1-A-16, Sukhariya Nagar, SriGanga Nagar  
 Vikram Singh Deol, Chalk 3E Chotti, Prabhu Dayal Ki Dhani, P. Natwala, D. Sri Ganganagar  
 Dr. Madan Lal Sharma, L-6-B, Mahatma Gandhi Marg, Rajasthan University Campur, Jaipur  
 Dr. Jyotsana Vashistha, Maharani Girls' College Quarter, Rajasthan University, Jaipur  
 Dr. Pushpalata Sharma, H. No. 3060, Moti Singh Bhomion ka Rasta, 5th Gross, Johari Bazar, Jaipur  
 Dr. Mamta Rokana, 165, Gayatri Nagar - I, MaharaniFarm, Durgapura, Jaipur  
 Vidyanand Yadav, P. Khetari, Distt. Jhunjunu  
 Mehara Ram, Room No. 52, DBN Hostel, University of Rajasthan, Jaipur  
 Bharat Deora, B-53, Anita Colony, Bajaj Nagar, Jaipur  
 Lalita Bhimwal, 59, LAv Kush Colony, Kherda, Swaimadhapur  
 Dr. Vijay Kumari, 54-Jai Jawan III, JLN Marg, Jaipur  
 Dr. Jyotsana Srivastava, 1 F 34 A, Malviya Nagar, Jaipur

Lalit Panwar, 3/359, Saket Nagar, P. Beawar, Ajmer  
 Suresh Kumar Meena, Amar Garh Parvat Colony, Hanuman Ji Ki Bagichi, Transport Nagar, Jaipur  
 Ramesh Chandra Meena, 40, Rohini Nagar, Goner Road, Jagatpura, Jaipur  
 Prabhu Dayal Meena, VPO Patan, Tehsil- Bassi, Jaipur  
 Dr. Nidhi Mehta, L-9-A, University Campus, Jaipur  
 Brij Raj Meena, E-614, Lal Kothi Yojna, New Vidhan Sabha, Jaipur  
 Ajeet Singh Choudhary, 51, Mansarovar Exn.Colony, Near Lia C M School, Kartarpura, Jaipur  
 Raj Kumar, A-22, Janakpuri, Imali Phatak, Jaipur  
 Dr. Sangeeta Nagarwal, 59, Lav Kush Nagar, Barkat Nagar, Jaipur  
 Suman Lata, 51, Sitaram Colony, Ram Nagar, Sodala, Jaipur  
 Ashok Bharadwaj, 139, Maa Kripa Krishana Vihar, Behind GRP SP Office, Kundan Nagar, Ajmer  
 Dr. Prem Kala Kalani, A-24, Nu-Lite Colony, Bhagawati Villa, Tonk Road, Jaipur  
 Tapasa Dubey, Plot No. 200, Shanti Nagar, Gopal Pura Bypass, Jaipur  
 Dr. Govind Singh Meena, 410, XB Scheme, Jaipur  
 Kishore Kumar Meena, C-39, Lajpat Marg, C-Scheme, Jaipur  
 Dr. Ram Chandra Rundala, C/0 Rupa Motors, NH - 8, Bypass Road, Shahpura, Jaipur  
 Dr. Ekta Shrimali, A-101, Ridhiraj Residency, Near gurjar Hostel, Vijay Path, Tilak Nagar, Jaipur  
 Dr. Mukesh Kumar Sharma, Pansari Ki Dukan, Main Market, Khetri, Jhunjunu  
 Dr. Snehlata, 30/27/12, Varun Path, Mansarovar, Jaipur  
 Ranbir Singh, Dundlod House, Hawa Sarak, Jaipur  
 Dr. Sudha Sharma, 4-Ya-2, Nadanam, Jawahar Nagar, Jaipur  
 Divya Sharma, 25, Mohan Nagar, Panchawala Kanta, Sirsi Road, Jaipur  
 Ms Zahida Shabnam, C-257, Hans Marg, Malviya Nagar, Jaipur  
 Dr. Sambodh Goswami, F-208, Mithila Path, Shyam Nagar, Sodala, Jaipur  
 Dr. Kamal Nayan, P-51, Madhuvan west, Kishan Marg, Tonk Road, Jaipur  
 Ram Singh Gurjar, V. Puran Nagar, P.Chimanpura, T. Kotputli, Jaipur  
 JaiSingh Barhat, V. Dearajsar, P. Loonch, T. Ratangarh, Churu  
 Dr. Pramila Poonia, C-8, University Campus, University of Rajasthan, Jaipur  
 Ritika Kumari Meena, D- 9/62, Chitrakut Yojna, Ajmer  
 Dr. Madhu Kanta Sharma, A-6, Saraswati Colony, Tonk Fatak, Jaipur  
 Tamesh Ram, Sri Satya Sai PG College for Women, Sector -02, Jawahar Nagar, Jaipur  
 Bhairu Shyam, Sri Satya Sai PG College for Women, Sector -02, Jawahar Nagar, Jaipur  
 Dr. Kamlesh Kumar Sarasar, Near Manda Hostel, Raj Garh, Alwar  
 Ritu Raj, DBN Hostel, University of Rajasthan, Jaipur  
 Dr. Kanupriya Kumawat, 61 A, Gayatri Nagar, Maharani Farm, Jaipur  
 Rahis Khan, AA-20, Azad Marg, Rana Colony, Shatri Nagar, Jaipur  
 Dr. Sahid Ahmed, C-136, Sector - B, Vidhyadhar Nagar, Jaipur  
 Dr. Sugandha, F-43, Sunder Marg, C-Scheme, Jaipur  
 Prerna Singh Lawania, L-34, Income Tax Colony, Durgapura, Tonk Road, Jaipur  
 Ms Lata Gawdia, E-482, Murlipura Scheme, Jaipur  
 Dr. Ramakant Mishra, TR-23, University of Rajasthan, Jaipur  
 Satyaveer Singh Rathii, V. Kirarodh, P. Paragpura, T. Kotputli, Jaipur  
 Subhash Chand Yadav, V & P. Paragpura, T. Kotputli, Jaipur  
 Gauravdeep Karola, Uphaar Garments, Dalal Bazar, Bharatpur  
 Prof. Brij Kishore Sharma, Deptt. Of History, VMOU, Kota  
 Dr. Devaram, Govt. Bangar College Pali, Pali  
 Dr. Shilpi Gupta, Banasthali Vidyapeet, Banasthali  
 Dr. Uma Sharma,  
 Ms Fazeela Shah Nawaz, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Dr. Abdul Salam, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Rajkumar Jangid, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Ms Shabinoor Fatima, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Ms Ghausia Parveen, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Pramod Kumar Deptt. Of History, AMU, Aligarh

Ms Shamreen Iram, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Ms Sobiya Riaz, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Ms Farhat Kamal, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Dr. Jibrail, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Dr. Rajendra Kumar, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Dr. Chandra Shekhar, Deptt. Of History, AMU, Aligarh  
 Nitin Goyal, District Archives Alwar, Alwar  
 Dr. Kumar Ram Krishna, B-176, 3rd Floor, Jawahar Park, Devli Road, Khanpur, New Delhi-110080  
 Bhanwar Singh  
 Dr. Mayank Gupta, Hanuman Mandir Gali, Jail Wall, Bikaner  
 Madhulika Sankrantya, Dhanuwanti Publication, Post-Ratangarh, Churu-331022  
 Phoola Ram,  
 Dr. Somesh Kumar Singh,  
 Bhanwar Ram Detha,  
 Deepali Kumari,  
 Prempal Yadav,  
 Ranjeet Singh Panwar, Plol - 25, Bhuvneshwari, Bajari Mandi Road, Panchyawala, Jaipur 302032  
 Abhimanyu Singh Arha, 'Kalyan' 88, Bhagat ki Koti Ext. Pali Road, Jodhpur - 342001  
 Dr. Manoj Kumar Sinsinwar, C-1, Dev Nagar, jone Road, Jaipur  
 Namami Sankar Aacharya, Joshi Vada, Kota Gate, Bikaner - 334001  
 Dr. Indra Bisnoi, 25, Civil Line, Bikaner - 334001  
 Dr. Dharm Chand Chouby, 3/76 Neb Ext., Alwar-301001  
 Dr. Babu Lal Khatik, A-210 Vaishali Nagar, Near Delhi Road, Alwar - 301001  
 Vinod Kumar Meena, R.N. - 28, Raman Hostel, Rajasthan University-302004  
 Neelam Sharma, 170, Vivek Vihar, Jagatpura, Jaipur - 302025  
 Kailesh Kumar Khorwal, P.N. 42, Sajni Colony C+II Kartar Pura, Jaipur  
 Anoop Singh, V.P. O. Kharbala, Teh- Hansi, Distt- Hisar, Haryana - 125042  
 Hari Parsad Agarwal, Agarwal Colony, Ward No. 06, Behror, Alwar -301701  
 Prof. Shiv Kumar Bhanot, IB- 25, J.N. Vyas Colony, Bikaner - 334003  
 Miss Kanika Bhanot, IB- 25, J.N. Vyas Colony, Bikaner - 334003  
 Dr. Charvi Manch, 21- Kishna Nagar, Near Sirsi Road, Vaishali Nagar, Jaipur - 302001  
 Dr. Sushila Saraswat, C-42, Shree Nidhi apartment ITAT -301, Tarun Mong, Tilak Nagar Jaipur - 302004  
 Miss Dimple Prajapat, 16/70 C.H.B., Jodhpur - 342001  
 Miss Anuradha Tak, 21/288 C.H.B., Jodhpur - 342001  
 Dr. Sunita Poonia, 1/397, Housing Board, Jhunjhunu- 333001  
 Parmeshwar Lal Barwal, Ward No- 1, Jatabass, Bagar (J.I.N.) - 333023  
 Mohan Lal Meena, D-98, Anand Vihar Rly Colony, Jagatpura, Jaipur - 302025  
 Anuraj Chouhan, 204, "Savitri Nagar", 4-C, Jamnapuri Murliputa Scheme, Jaipur - 302039  
 Gopal Lal Meena, Karamchari Colony, Gangapur City, Sawai Madhopur-322201  
 Abhishek Kumar Meena, C-198 Model Town, Muluiya Nagar, Jaipur - 302017  
 Ratan Meena, Govt. College, Ajmer  
 Mohan Lal Sharma, Pansari House No. 02, Indoriya Shop Seth G.B. Podar College Nawalgarh, Jhunjhunu - 333042  
 Partap Singh, C-7/79, Bal Nagar, Kartarpura, Jaipur  
 Dr. Bhawani Shankar Sahrma, 76/III/S, Civil - Lines, Churu - 331001  
 Dr. Kiran Shekhawat, Plot No. 181 H.B., B.J.S. Colony Poato C Road, Jodhpur  
 Narendra Kumar Saini, Bhaang Mohalla, Kl. No. 21, Chhawani, Neemkathana, Sikar  
 Dr. Geeta Sharma, 333, Tagare Nagar, Ajmer Road, Jaipur  
 Dr. Ananta Malhu, 4/84 SFS Mansarovar, Jaipur - 302020  
 Lal Chand Meena, Ward No. 15 Mansarovar Colony Nagar Palika, Neemkathana, Sikar - 332713  
 Dr. Shubhash Chandra, Rastriya Sanskrit Sansthan, Triveni Nagar, Jaipur - 302018  
 Indira, Vaya-Kalwar, Tehsil-Amer, Jaipur - 303706  
 Dr. Sunita Mehta, C-3, Sir Partap Colony, 5 - Batti, Ratanada, Jodhpur - 324001  
 Sanjeev Kumar Goutam, C-374, Mahesh Nagar, Jaipur - 302015

Dr. Aruna Gogania, C-374, Mahesh Nagar, Jaipur- 302015  
 Ram Singh Sain, 30 - A, Mansingh Pura, Toke Road, behind Honda Showroom, Jaipur - 302015  
 Dr. S.C. Mishra, A-307 Triveni Nagar, Gopal Pura Bypass, Jaipur - 302018  
 Dr. Santosh Yadav, 25/22 Kaveri Path, Mansarovar, Jaipur - 302001  
 Shukveer Kaur, Dhani 4 'A' Chhoji Padampur Road, P.O. Sahuwala, Sriganganagar - 335001  
 Vikash Choudhary, 79-Patal Nager, Jhotwara, Jaipur - 302012  
 Hitesh Kumar Saini, Opp. Govt. Hospital, Harsoar Road, Vpo. Bansur, Alwar - 301402  
 Meenu Kumari Meena, Thikarya Mal Ki Dhani, Vaya Bhankrota Sanganer, Jaipur - 302026  
 Dr. Tanuja Singh, L-2-A, Rajasthan University Campus, Jaipur - 302004  
 Dr. Vasumati Sharma, 8th, Artizen Colony Masuria, Jodhpur  
 Sumran Singh, Kalu Bharti P.G. Ginu College, Nadhu - 321602  
 Ashok Deep Pingolia, A-37 B. Shyam Nita Mandal Nagar Road No. 4, Sikar Road, Jaipur - 302013  
 Dr. Rajesh Kumar, ICHR, 35 Ferozesh Road, New Delhi  
 Dr. Shehla Wajid, 3 Ga 19 Housing Board, Shastri Nagar, Jaipur  
 Rajbala, Lakshmi Bai Hostel, Rajasthan University, Jaipur  
 Sonal Meena, Vill Alai, Post Moonpur, Teh. Rajgarh, Alwar - 301408  
 Tanu Mishra, Plot No. 170 Sector No. 4, Near Pani ki Tanki, Vidyahar Nagar, Jaipur - 302023  
 Dr. Shanta Rani Sharma, 402/III, Kirti APT, Mayur Vihar Ext, Delhi  
 Devendea Singh Solanki, 37, IInd Floor, Ram Vihar Colony, Budh Singhpura Scheme, Sanganer, Jaipur - 302029  
 Pushplata Solanki, 37, IInd Floor, Ram Vihar Colony, Budh Singhpura Scheme, Sanganer, Jaipur - 302029  
 Dr. Nitin Choudhary, 38, Shivaji Park, Alwar - 301001  
 Anita Sharma, H.N. 2466, Choubey Blawal Nahar Garl Road Jaipur - 302001  
 Shashi Morolia, H-9, Station Road, Jhunjhunu - 333001  
 Dr. Beena Jain, Deptt. Of Drawing & Painting, URO Rajasthan, Jaipur  
 Shweta Yadav, 2-C, Sanjay Colony, R.P.A. Road Nehru Nagar, Opp. Pink City School, Jaipur - 302016  
 Kavita Nunia, Morolia Mansion, A-9, Station Road, Jhunjhunu - 333001  
 Yogita Sharma, A-9, Station Road, Jhunjhunu - 333001  
 Patti Rony, Jaiav Mohalla, Bharatpur  
 Dr. Phool Singh Sahaleni, 95, Ambeoler, Alwar  
 Neelam, 12, Kalvara House, Topkhane Ka Rasta, Chamdpole Bazar, Jaipur - 302001  
 Dr. Nidhi Jain, Lecturer, S.S.G. Pareek College, Jaipur  
 Dr. Babulal Sethi, Director, Trilok Institute of Higher Education and Research, Kota  
 Smt. Premlata, 5th, Shri Ram Hospital, Opp. Hanwant School, Pal Road, Jodhpur  
 Rakesh Ramawat, Khatrion Ka Mohalla Jatabass, V/P Bhawi, Bilara Distt., Jodhpur - 342605  
 Dr. Archana Joshi, 26, Kesari Singh Nagar, Bundi  
 Ashif Husain, Behind Talkies, Chhotisadari, Pratapgarh - 312604  
 Dr. Suraj Mal Rao, E-9, University Colony, Optt. Maya Misthan, Ashok Nagar, Udaipur - 313001  
 Dinesh Kumar Sharma, 42, Hisar Road, Bhattu Mandi, Fatehabad - 125053  
 Dr. Vijay Singh Mavai, Sainik Vidyapeeth, Ranthambhore, Swaimndhopur  
 Dr. Tej Singh Mavia, Sainik Vidyapeeth, Ranthambhore, Swaimadhopur  
 Dr. Suwa Lal Sharma, Indra Prasth Colony, Shahpura, Jaipur - 303103  
 Dr. Lata Agarwal, 90/11 Anand Nagar, Vaishali Nagar, Ajmer  
 Dr. Murari Lal Sharma, Agrasena Colony, Behind Om Traders Kotputli, Jaipur - 303108  
 Dr. Rasmi Upadhyaya, 1/572, Shastri Nagar, G.T. Road, Aligarh - 202001  
 Dr. Aneesh Iqbal Sabir, CAS, AMU, Aligarh -202002  
 Asalam Sher, Shibli Hospital, MM Hall AMU, Aligarh - 202002  
 Smt. Indu Arya, P.N. 147 ShriPuram Colony Guiar Ki Thadi, Jaipur - 302019  
 Shriram Barkodiya, P.N. - 75 Deep Vihar Colony Sirasi Road Panchaural, Jaipur - 302034  
 Dr. Laxmi Narayan Meena, Plot no. 79, Krishna Vihar, Near Bank Colony, Gopal Pura Baipass, Jaipur - 302015

Om Prakash Saini, P. No. 3 Katariay Puri Ram Nagar Sodala, Jaipur - 302019  
 Abhilasha Kumari, Govt. Lohia College, Churu  
 Ashok Kumar Jat, Room No. 3, H.J. Bhabha Hostel, Jaipur  
 Vikram Dariya, R. No. 3, Bhabha Hostel,  
 Rajendra Kumar Meena, P. No. 12, Ganesh Vihar Jamdoli, Agra Road, Jaipur -302031  
 Dr. Sanjay Kumar, Near The Pandey Nursery, Pushkar, Ajmer - 305022  
 Dr. Vibhuti Jain, Sabot Colony, Agra  
 Gulshan Zobair, Room No. 03 P.G. Hostel, S.N. Hall, AMU, Aligarh - 202002  
 Nishat Qaiyoom, Room No. 19, Moin Hostel, S.N. Hall, Aligarh - 202002  
 Dinesh Mandot, Ramganj, Nai Basti, Near Govt. Girls Sec. School, Ajmer - 305001  
 Dr. Kamlesh Sharma, E-C-2, Rangwani Scheme, Kota - 324005  
 Dr. Shikha, 1000, Apolo Niwas, Part I, P.O. Basttali Vidyapeeth, Tonk - 101022  
 Kanak, Aagar 155, Banasthali Vidyapeeth, Tonk - 101022  
 Lalita, Aagar -318, Banasthali Vidyapeeth, Newai, Tonk  
 Naiyer Azam, Regional Instruction of Education, (R.I.A.) NCERT, Ajmer  
 Salim Ansari, Room No. 42, Aftar Hospital, Aftal Hall, AMU, Aligarh - 202002  
 Dr. Harphool Singh Arya, 33 A Mansinghpure Tork Road, Jaipur - 302015  
 Ashok Gadi, Village Post Dabla, Jaislamer - 345001  
 Dr. Parwaz Nazir, Department of History, A.M.U., Aligarh - 202002  
 Chandrakant Gautam, 51/25, Partap Naga, Anganer, Jaipur  
 N.K. Chaturvedi, Sutor A - 338, Saraswati Nagar, Jodhpur - 342005  
 Dr. R.K. Dubey, H. No. 68, Nehiyar Varanasi - 221202  
 Dr. Shri Phool Meena, F-102 Benesh Nagar, Jaipur  
 Dr. Hussain Raza Khan, 69-B, Road No.5, Near Masjid, 22 Godam Behind Geejgar House  
 Havoa Sarak, Jaipur  
 Naushad Alam, Warsi Clinic, Kashane Waris, Medical College Road, Aligarh -202002  
 Udai Singh Deora, 124 Adarsh Nagar, Sirohi - 307001  
 Jitendra Kr. Marothia, 243/2 Jawalar Nagar, Ajmer - 305001  
 Pankaj Gour, UIT Quarter Partap Nagar, Mayo Link Road, Ajmer - 305001  
 Dr. Raghvendra Singh Manohar, 34, Sawai Sadan, Jobner Bagh, Pareek College Road,  
 Jaipur- 302006  
 Dr. Har Lal Singh Meena, Principal, Govt. College Baran, Baran - 325205  
 Dr. Ram Singh Chouhan, L-9-F Rajasthan University Campus, Jaipur - 302004  
 Dr. Smita Misra, B.S.R. Govt. College, Alwar  
 Smt. Meena Ambish, B.S.R. Govt. College, Alwar  
 Pooja Negi, 30, Mithila Vihar, Jagatpura, Jaipur - 302025  
 Ms. Kanchan Lawaniya, S.N. Hall, AMU, Aligarh  
 Dr. MR Gadheer, Govt. College Barmer, Barmer  
 Neeraj Kumar Jangid, Vpo- Thikariya, Sikrai, Dausa - 303509  
 Purshottam Kumar, 26, Bhagwati Nagar II, Kartarpura, Jaipur - 202006  
 Meenaksi Maurya, 16, Ambedakar Nagar, Jaipur - 302006  
 Rao Ganpat Singh, Kanakgarh, V. & P.O. Chitalwana Via Sanchores - 343041  
 Hansmukh Seth, Dept. of Archaeology, Rajasthan Vidyapeeth University, Udaipur - 313001  
 K.P. Singh, Dept. of Archaeology, Rajasthan Vidyapeeth University, Udaipur - 313001  
 Dr. Jagat Sing Meera, V.P.O. Dhinawara, Teh. Rajgarh, Alwar - 301414  
 Narendra KVM Arsharma, J-19, Apano Ghar, Shalimar, Alwar - 301001  
 Dr. Vijay Laxmi Bhargav, 119, Alka Puri, Alwar  
 Pinki Yadav, B.S.R. Govt. College, Alwar  
 Ghanshyam Deora, 102/72, Patel Marg, Mansarovar, Jaipur - 302020  
 Ankit Kumar, 102/72, Patel Marg, Mansarovar, Jaipur - 302020  
 Shyam Prakash, 28, Soni Ka Bagh, Behind Alka Theatre, Sikar Road, Jaipur - 302023  
 Dr. Makarand Bhatt, 79, Sanjay Colony, Nehru Nagar, Jaipur - 302016  
 Rajesh Kaushik, E-59, Shastri Nagar, Jaipur - 302016  
 Garima Mathur, Naya Bass, Manak Chok, Opp. Krishna Kunj, Jodhpur - 342001  
 Bal Krishna Parashar, V/P Parita, Via Wazirpur, Teh. Karauli, Karauli - 322219  
 Shital Parsad Mahendra, SRP Govt. College, Bandikui  
 Dr. Bindu Bhasin, 5, Daga Quarters, Rani Bazar, Bikaner - 334001  
 Dr. K.L. Mathur, Deptt. Of History, JNV University, Jodhpur

Dr. Ramesh Chandra Khanduri, 2, Veer sawarkar Nagar, Alwar - 301001  
 Kavita Dadheech, T-13, Shastri Nagar, Ajmer  
 Sunita Sharma, VPO Alisar, Via Kaladera, The. Chomu, Jaipur -303801  
 Mota Ram Bhadu, 36-V.A.C., Hans Marg, Malviya Nagar, Jaipur - 302017  
 Seema Verma, 857, Barkat Nagar, Tonk Phatak, Jaipur - 302015  
 Dr. Yasvir Singh, Deptt. Of History, JVMGRR College, Charkhi Dadri, Bhiwani, Haryana -  
 127306  
 Dr. Sadhana Rastogi, C-36, Hari Magar, Malviya Nagar, Jaipur - 302017  
 Dr. Veena Bansal, 15 - Nagpal Colony, Sriganganagar  
 Vandana Bissa, 5 old post office, Laxmi Nagar, Jodhpur  
 Dr. Santosh Aseri, II/7 Medical College Campus, Shashtri Nagar, Jodhpur  
 Dr. Surayya Khanam, Ganga Pol Hospital, Char Darwaza Road, Ganga Pol, Jaipur  
 Dr. I.U. Khan, L-6-E, Rajasthan University Campus, Jaipur - 302004  
 Charan Singh, V.Mori, P.Mehrajatuwas, The. Khetri, Jhunjhunu  
 Dr. Jagrati Upadhyaya, 128, Sardarpura E Road, Nehru Park, Jodhpur  
 Rajeev Ranjan, SNKP Govt. College, Neem Ka Thana  
 Himanshu Gaden, Karni Colony, Rawla Dhanda, Mukampura, Rani, Pali - 306115  
 Yaqub Ali Khan, VMOU, Kota  
 Suresh Chandra Jangid, 1476, Harchand Lala Ka Rasta, Subhas Chowk, Jaipur - 302002  
 Dr. Vinod Kumar Singh, 193, Avas Vikas Colony, Sasnigate, Aligarh - 202001  
 Surender Singh Arya, Ward No. 19, Naga Ji ka Gour, V.P.O. Kotputli, Jaipur - 303108  
 Dr. Narayan Singh Rao, Maharaja Ganga Singh University, Jaislmer Road, NH. - 15,  
 Bikaner - 334004  
 Ravindra Kumar Meena, VIP Alipur Baswa, Dausa - 303315  
 Dr. Ashok Kumar, 2/103 VishnuPuri, Aligarh - 211002  
 Dr. M.K. Pundhir, 2/103 VishnuPuri, Aligarh - 202001  
 Anushree Singh, 10, Salumati Hostel, JNU, New Delhi - 110067  
 Aayusih Singh, 182, Gangas Agra 'B' Colony, Vaishali Nagar Jaipur - 302021  
 Teekaram Meena, D.B.N. Hostel, Room No. 39, Rajasthan University, Jaipur  
 Mahip Kumar Meena, Room No. 108 Meena Hostel Jahalam Dongri, Jaipur - 302004  
 Shar Singh Meena, Plot- 11, Pauar Vihar, Near C.B.I. Phatak, Jagatpura, Jaipur - 302025  
 Hans Raj Alwar, Indra Colony Manoharpur, Jaipur - 303104  
 Dr. Rup Narayan Aswal, Indira Colony Manoharpur, Jaipur - 303104  
 Chatur Bhoj Yadav, Dhani - Tandawali, V & P. Bidra, via Shahpura, Jaipur - 303103  
 Sapna Yadav, 268 Adarsh Colony, Daudpur Alwar - 301001  
 Ashok Nimesh, 103, Keshav Vihar, Gopalpura Bypass, Mansarovar Link Road, Jaipur -  
 302018  
 Mamta Yadav, 54 A Nandpuri, Sodala, Jaipur  
 Dr. Savita Sharma, C- 368, Pradhan Marg, Malviya Nagar, Jaipur - 302017  
 Dr. Indu Asopa, 37 Gandhi Nagar, Behind Lal Ghar Palace, Bikaner - 334001  
 Rita Chandravanshi, 73, Hari Bagh, Rajbhavan Road, Civil Lines, Jaipur - 302006  
 Yogesh Kumar Mishra, V. & P.O. Kaladera, The. Chomu, Jaipur - 303801  
 Ashok Kumar Saini, Plot No. 60, Model Town, Meera Marg, New Sanganer Road, Mansarovar,  
 Jaipur  
 Dr. Omshree Rathore, 4/46 Saket Nagar, Udaipur Road, Beawar  
 Surendra Kumar Sharma, UI / 4A, Budh Vihar Pahase - I, New Delhi - 110086  
 Sumeshta, ICHR, 35, Ferozeshah Road, New Delhi - 110001  
 Dr. Sanjeev Chouhan, 8/49E/14E, Vidhya Nagar, New Kausalpur, Agra  
 Dr. P.R. Arya, 9/350, Chopasni Housing Board, Jodhpur  
 Prof. Sobhag Mathur, Opp. Nehru Park Main Gate, Sardarpura, Jodhpur  
 Mangal Chand Meena, P. No. S-26, Majesty Building, Flat No. 104, Krishna Marg, Shyam  
 Nagar, Jaipur  
 Dr. Jagdish Chand Khatik, 10-E-61, Tilak Nagar, Bhilwara-311001  
 Jitendra Kumar Meena, 147 Tapti Hostel, JNU, New Delhi-110067  
 Prof. Preeti Sodhi, Deptt. Of Punjabi, Janta College, Kartarpur  
 Prof. Jiwan Sodhi, Deptt. Of Fine Arts, BBK DAV College for Women, Amritsar-143001  
 Madhulika Sankrantya, Dhanuwanti Publication, Post-Ratangarh, Churu-331022